श्रीहरिः

विषय-सूची

छप गयी # गीता-डायरी सन् १९३३ की # छप गयी

मूल्य केवल ।) सजिल्द ।-)

आपको मालूम होगा, पिछली साल डायरी चूक गयी थी। कई प्रेमियोंके आग्रहसे दुबारा छापी गयी थी, वह भी तुरन्त बिक गयी। उसके बाद आर्डर देनेकी मनहाई की गयी थी, फिर भी माँग अधिक होनेके कारण तीसरी बार छापी गयी, इतनेपर भी हमारा अनुमान है कि कई सज्जनोंको डायरी नहीं मिली होगी, इसीसे गीता-डायरीकी उपयोगिताका पता आपको लग गया होगा। अब इस साल केवल १२००० डायरियाँ छापी गयी हैं जिन सज्जनोंको मँगानेकी आवश्यकता हो, वे जल्दी आर्डर देनेकी कृपा करें। संस्करण चुक जानेसे दुबारा छपनेकी आशा कम है।

हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला तिथियोंके साथ-साथ संक्षेपसे त्योहार भी छापे गये हैं। साथमें सम्पूर्ण गीता १८ अध्याय है। डायरीके साथ-साथ ही गीता मुफ्तमें मिल जाती है। आरम्भके ३२ पेजोंमें कई अति उपयोगी विषय भी छापे गये हैं। अन्तमें बहुत-से याददाश्तके पन्ने सादे लगा दिये गये हैं। यह सबके लिये एक उपयोगी डायरी है। समय-समयपर अनेक विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओंने इसकी जीसे प्रशंसा की है।

कल्याणके ग्राहकोंको विशेष सुभीता

६ सजिल्द डायरियोंके दाम १॥।=) पै०)॥ डाकखर्च ।।≡) कुल रु० २।।-)॥ होते हैं जिसके बदले २=) लिया जायगा। ७ अजिल्द डायरियोंके दाम १।।।) पै० -) डाकखर्च ।।≡) कुल रु० २।।) होते हैं जिसके बदले २-) लिये जायँगे। यह रियायत मनीआर्डरसे पेशगी रुपये भेजनेवालोंके साथ ही होगी। रियायती मूल्यमें वी० पी० नहीं भेजी जायगी।

एक अजिल्द डायरीके लिये रजिस्ट्री और डाकखर्चसहित ।।-) और एक सजिल्द डायरीके लिये ।।=) तथा दो अजिल्दके लिये ॥।=) और दो सजिल्दके लिये १-) भेजना चाहिये।

बिना रजिस्ट्री, पैकेट खो जानेका डर रहता है। १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

बुकसेलरोंको सूचना

अजिल्द-सजिल्द कम-से-कम २५० डायरियाँ एक साथ लेनेवालोंका नाम, पता डायरीपर छाप दिया जायगा। इससे उनको डायरियाँ बिकनेमें मदद मिलेगी। बुकसेलर लोग कृपाकर आर्डर शीघ्र भेजें।

ईश्वर

महामना मालवीयजीने इस पुस्तकमें ईश्वरके स्वरूपका और धर्मका वेदशास्त्रसम्मत बहुत ही सुन्दर निरूपण किया है। इस पुस्तकको मन लगाकर पढ़नेसे मनुष्यको ईश्वरका ज्ञान और धर्मका तत्त्व उपलब्ध करनेमें बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। मूल्य केवल -)।

पता-गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याणकी पुरानी फाइल और विशेषांक

१ तृतीय वर्षकी फाइल भक्तांकसहित मू० ४≡) सजिल्द ५)
२ चतुर्थ वर्षकी फाइल गीतांकसहित मू० ४≡) ,, ५।≈)
३ भगवन्नामांक पृष्ठ११०रङ्ग-विरङ्गे ४१ चित्र ॥।≡) ,, १≡)
४ गीतांक पृष्ठ ५००से अधिक रङ्ग-विरङ्गे १७० चित्र मूल्य २॥≡) सजिल्द ३।)
५ रामायणांक पृष्ठ ५१२ तिरंगे-एकरंगे १६७ चित्र मूल्य २॥≡) सजिल्द ३।)
७ कृष्णाङ्क पृष्ठ ५२३ रंग-विरंगे १०७ चित्र, मूल्य २॥≡) सजिल्द ३।)
७ ईश्वराङ्क सपरिशिष्टाङ्क पृष्ठ ६१८ मूल्य ३) सजिल्द ३॥-)

व्यवस्थापक-कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

सुन्दर सस्ते धार्मिक दर्शनीय चित्र

कागजका साइज १८ इञ्च चौड़ा, २२ इञ्च लम्बा

विश्व-विमोहन श्रीकृष्णका (तिरंगा) बड़ा चित्र, मूल्य ।=)

ब्लाक-साइज १५॥ इञ्च चौड़ा, १९॥ इञ्च लम्बा ।

इतने बड़े रंगीन चित्र हिन्दुस्तानके छपे हुए प्रायः बहुत कम मिलते हैं । एक मँगानेपर मूल्य, डाकव्यय, पैकिंगसहित ॥।≥) लगता है, २ का १।-) ३ का १॥) [तीनमें १=॥।) सैकड़ा कमीशन दी गयी है] ६ लेनेसे २५% कमीशन और १२ लेनेसे ५०% कमीशन दी जायगी । डाकखर्च आदि ग्राहकका लगेगा । इकट्ठे मँगानेमें सुभीता रहेगा ।

१५×२० इञ्चके बड़े रंगीन चित्र, दाम प्रत्येकका =)॥ मात्र

श्रीचैतन्यका हरिनाम-संकीर्त्तन-बढ़िया आर्टपेपरपर ११॥ × १३॥ इञ्चके ब्लाकसे छापा गया है, कीर्तनका बड़ा सुन्दर छपा हुआ चित्र है ।

श्रीराम-चतुष्टय-११॥ × १४॥ इञ्चके ब्लाकसे बढ़िया आर्टपेपरपर बहुत सुन्दर सीधा छपा हुआ चित्र है ।

श्रीनन्दनन्दन-यह भी ११॥ × १४॥ इञ्चके बड़े ब्लाकसे बढ़िया आर्टपेपरपर छपा हुआ सुन्दर सीधा चित्र है ।

कमीशन ६ लेनेसे २५%, १२ लेनेसे ५०%, पैकिंग, डाकखर्च आदि अलग ।

कागजका साइज १० इञ्च चौड़ा, १५ इञ्च लम्बा

(छोटे ब्लाकोंसे ही केवल बड़े कागजपर बार्डर लगाकर छापे हैं)

सुनहरी चित्र, दाम -)॥ प्रति चित्र

युगलछवि	तन्मयता

बहुरंगा चित्र, दाम -) प्रति चित्र

कौशल्या-नारायण	मुरली-मनोहर	श्रीशेषशायी भगवान् विष्णु	पवन-कुमार
अहल्योद्धार	गोपीकुमार	देवदेव भगवान् महादेव	श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु
भक्त-मनचोर	जगद्गुरु श्रीकृष्ण	शिवजीकी विचित्र बरात	राम जटायु (दोरंगा))॥।
वृन्दावन-विहारी	कौरव-सभामें विराट् रूप	शिव-परिछन	रामसियाकी जोरी, सादा)॥।
गोपाल-कृष्ण	श्रीकृष्णार्जुन	ध्रुव-नारायण	कर नवनीत लिये ,,)॥

कागजका साइज ७॥×१० इञ्च

सुनहरी चित्र, दाम -)। प्रति चित्र

श्रीरामपञ्चायतन	चरणपादुका-पूजन	वेणुधर
श्रीराम-सीता पुष्पवाटिकामें	बँधे नटवर	बाबा भोलेनाथ

बहुरंगे चित्र, दाम प्रत्येकके)॥।

श्रीरामचतुष्टय (भगवान् श्रीरामरूपमें)	परशुराम-राम	श्रीसीताजीके गहने	भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
सदा प्रसन्न राम	श्रीसीताराम	सुबेल-पर्वतपर श्रीरामकी झाँकी	आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र
कमललोचन राम	कौशल्या-भरत	सीताजीकी अग्नि-परीक्षा	जगमोहन
श्रीरामावतार	श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीका गंगा पार होना	मारुति-प्रभाव	गोपीकुमार
भगवान् श्रीरामकी बाल-लीला	श्रीरामके चरणोंमें भरत	श्रीसीताजीकी गोदमें लव-कुश	व्रज-नव-युवराज
भगवान् श्रीराम और काकभुशुण्डि	कैकेयीकी क्षमा-याचना	वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण	मोहन
अहल्योद्धार	अनसूया-सीता	विश्व-विमोहन श्रीकृष्ण	भक्त-भावन भगवान् श्रीकृष्ण
	श्रीराम-प्रतिज्ञा	श्रीश्यामसुन्दर	साधु-रक्षक श्रीकृष्ण (वसुदेव-देवकीको कारागारमें दर्शन)
	राम-शबरी	श्रीनन्दनन्दन	

दर्शन-भिक्षा
तृणावर्त-उद्धार
श्रीकृष्ण-कलेवा
वात्सल्य
माखन-प्रेमी बालकृष्ण
गो-सेवक श्रीकृष्ण
गो-प्रेमी श्रीकृष्ण
भव-सागरसे उद्धारक भगवान् श्रीकृष्ण
बकासुर-उद्धार
अघासुर-उद्धार
कृष्ण-सखा-सह वन-भोजन
राम-श्यामकी मथुरा-यात्रा
बन्धन-मुक्तकारी भगवान् श्रीकृष्ण
सेवक श्रीकृष्ण

जगत्-पूज्य श्रीकृष्णकी अग्रपूजा
शिशुपाल-उद्धार
समदर्शी श्रीकृष्ण
शान्ति-दूत श्रीकृष्ण
सारथि श्रीकृष्ण
मोह-नाशक श्रीकृष्ण
भक्त-प्रतिज्ञा-रक्षक श्रीकृष्ण
अश्व-परिचर्या
जयद्रथ-वध
संहार-लीला
श्रीकृष्णका अर्जुनको पुनः ज्ञानोपदेश
नृग-उद्धार
परमधाम-गमन
श्रीविष्णु
भगवान् मत्स्यरूपमें

भगवान् कूर्मरूपमें
भगवान् वराहरूपमें
भगवान् श्रीनृसिंहदेवकी गोदमें भक्त प्रह्लाद
भगवान् वामनरूपमें
भगवान् परशुरामरूपमें
भगवान् बुद्धरूपमें
भगवान् कल्किरूपमें
भगवान् ब्रह्मारूपमें
भगवान् श्रीविष्णुरूपमें
भगवान् श्रीशिवरूपमें
भगवान् दत्तात्रयरूपमें
भगवान् सूर्यरूपमें
भगवान् गणपतिरूपमें
भगवान् अग्निरूपमें
भगवान् शक्तिरूपमें
श्रीगायत्री देवी

दास भक्त हनुमान्जी
विश्वासी भक्त ध्रुव
गुरु द्रोणाचार्य
भीष्मपितामह
अर्जुन शस्त्रागारमें
दानवीर कर्ण
अजामिल-उद्धार
सुआ पढ़ावत गणिका तारी
प्रेमी भक्त सूरदासजी
गोस्वामी तुलसीदासजी
मीरा (कीर्तन)
मीराबाई (जहरका प्याला)
प्रेमी भक्त रसखान
ऋषि-आश्रम

कागजका साइज ७॥×१० एकरंगे चित्र, दाम प्रत्येकका)॥

आदर्श वैश्य नन्दजी
शिशु-लीला
शकटासुर-उद्धार
नल-कूबर-कृत स्तुति
नवनीत-वितरण
वन-भोजन
कालियनागपर कृपा
जिज्ञासु भक्त उद्धव
श्रीकृष्ण-द्रौपदी
फल-पत्र-भोजी श्रीकृष्ण
धर्म-तत्त्वज्ञ श्रीकृष्ण
भक्त-भजनकारी श्रीकृष्ण

उत्तरा-गर्भ-रक्षक श्रीकृष्ण
योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण
योगेश्वर श्रीकृष्ण
भगवान्की शरणागतिसे सबका उद्धार
भगवान् विभूतिमें
भक्तोद्धारक भगवान्
विश्वामित्रकी राम-भिक्षा
अहल्योद्धार
सोहे राम-सियाकी जोरी
श्रीराम और केवट
दावानल

गोवर्धन-धारण
श्रीकृष्ण-सुदामाकी गुरु-सेवा
श्रीलाडलीलालजी
कुवलयापीड-उद्धार
कंस-उद्धार
भगवान् श्रीकृष्ण और सुतीक्ष्णका प्रेमोन्माद
राम-विलाप
शरणागत भक्त विभीषण
सीता-वनवास
रामायण-शिक्षा
सीताका पाताल-प्रवेश

देवर्षि नारदको व्याध (वाल्मीकि) बाँध रहा है
चक्रिक भीलको भगवद्दर्शन
भक्त सुधन्वा
श्रीश्रीनित्यानन्द हरिदासका नाम-वितरण
शरणागत भक्त सूरदासजी
परम भक्तिमती मीराबाई
सन्त-तुकाराम
मालीसे (फूल-फूलमें भगवान्)

बहुरंगे चित्र, कागजका साइज ५×७॥ इञ्च, दाम प्रत्येकका)॥

नृसिंह भगवान् | विष्णु भगवान् | शेषशायी | व्रज-नव-युवराज

विशेष सुभीता

१०×१५ साइजके सुनहरे, रंगीन और सादे २२ चित्रोंकी कीमत १।≈)।, पैकिंग -)।।।, डाकखर्च ।≋) सब जोड़कर १।।।≋) होते हैं, जिनके १।≋) लिये जायँगे।

७॥×१० के सुनहरे और रंगीन ६६ चित्रोंकी कीमत ४।।।-)।, पैकिंग ≋), डाकखर्च ।।≈) सब जोड़कर ५।।≈)। होते हैं, जिनके ३॥) लिये जायँगे।

७॥×१० साइजके सादे ४२ चित्रोंकी कीमत १।-), पैकिंग -)॥, डाकखर्च ।-)॥ सब जोड़कर १।।।) होते हैं, जिनके १।-) लिये जायँगे।

कमीशन-नियम

१०×१५ और ७॥×१० साइजके सेट न लेकर खुदरा और बिक्रीके लिये एक साथ लेनेपर एक दर्जनसे १०० तक २५) सैकड़ा, १०० चित्रोंसे २५० तक ३७॥) सैकड़ा और २५० से ऊपर ५०) सैकड़ा कमीशन दिया जायगा। इसमें डाकखर्च ग्राहकका लगेगा। इससे ज्यादा कमीशनके लिये लिखा-पढ़ी न करें।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
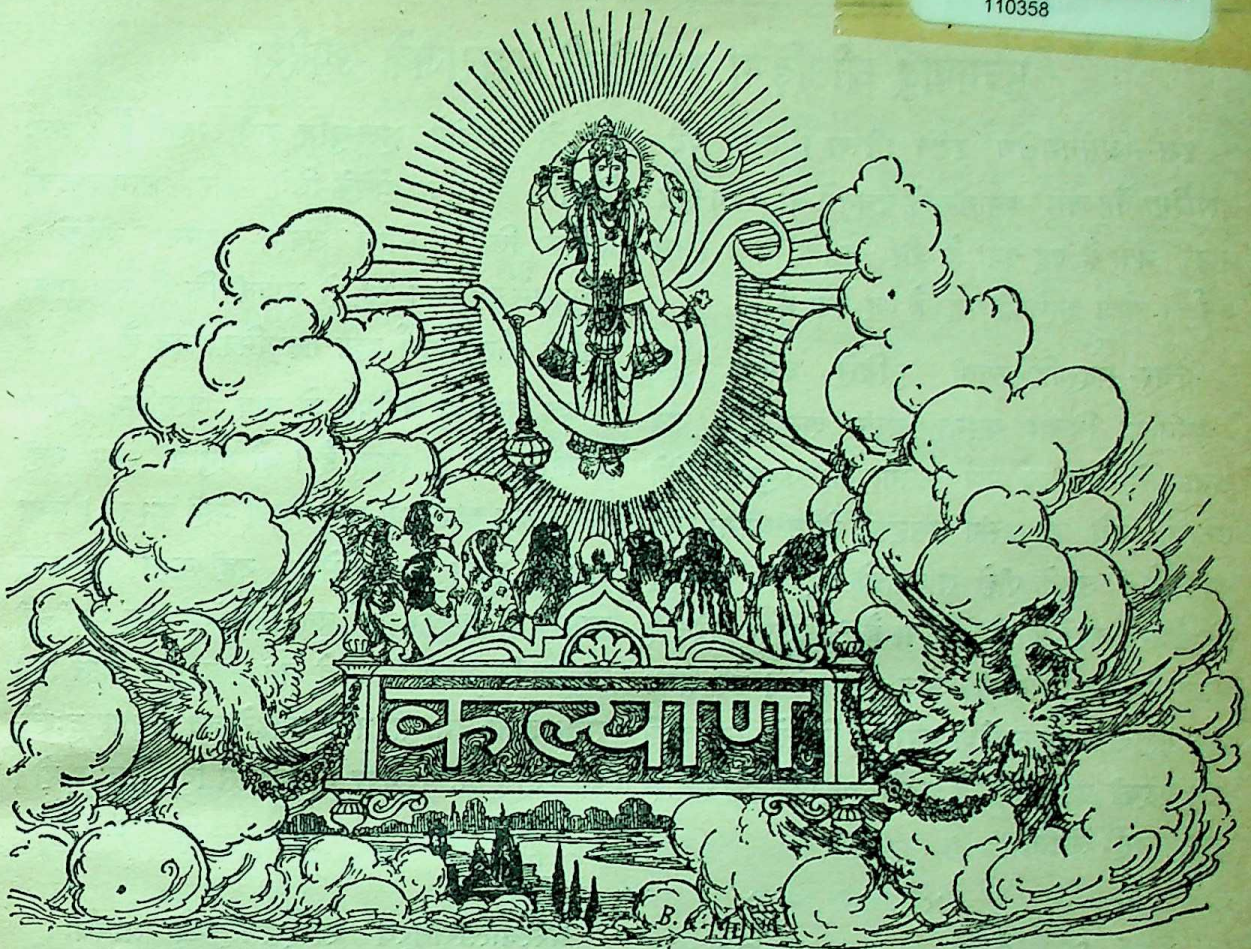
कल्याण

स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुह्य बलेन यस्याश्चेतः कथं शरणमेषि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७ | गोरखपुर, आश्विन १९८९ अक्टूबर १९३२ | संख्या ३ पूर्ण संख्या ७५

नन्दनन्दन

चाहे तू योग करि भ्रकुटी मध्य ध्यान धरि,
चाहे नाम-रूप मिथ्या जानिकै निहारि ले ।
निर्गुन निर्भय निराकार ज्योति व्याप रही,
ऐसो तत्त्वज्ञान निज मनमें तू धारि ले ॥
नारायन अपनेको आप ही बखान करि,
'मोतें वह भिन्न नहीं' या बिधि पुकारि ले ।
जौ लौं तोहि नन्दको कुमार नाहिं दृष्टि परयो,
तब लौं तू बैठि भले ब्रह्मको बिचारि ले ॥

—नारायण स्वामी

पूज्यपाद श्रीउड़िया स्वामीजी महाराजके उपदेश

प्रश्न–'*असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा । ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्*' इस गीताके वचनमें जो असंग शस्त्र माना गया है वह क्या है और उसके पीछे जिस मार्गकी खोज करनेको कहा है वह क्या है ?

उत्तर–सदसद्विवेकवती बुद्धिसे आत्मा और अनात्माका विचार करना असंग शस्त्र है । जब अनात्मासे आत्माकी पूर्ण असंगताका अनुभव होने लगे तो उसे ही असंग शस्त्रद्वारा छेदन करना कहा जाता है । उसके पीछे साधकको यह प्रश्न होता है कि ईश्वर कहाँ है और कैसा है ? इसपर विचार करना ही 'उस मार्गकी' खोज करना है । उस समय गुरु महावाक्यका उपदेश करते हैं जिससे साधकको उस पदकी प्राप्ति होती है जहाँसे वह फिर इस संसार-चक्रमें नहीं लौटता ।

× × ×

प्रश्न–पूर्ण ज्ञाननिष्ठा कब समझनी चाहिये ?

उत्तर–जब सम्पूर्ण प्रपञ्च गन्धर्वनगरवत् अथवा आकाशकुसुमवत् मालूम होने लगे और कोई भी चमकीला विषय अपनी ओर आकर्षित न कर सके ।

× × ×

प्रश्न–निस्सन्देह ज्ञान (श्रवण-मननजन्य ज्ञान) हो जानेपर असंगताके अभ्यासकी आवश्यकता क्यों है ?

उत्तर–परमार्थतत्त्वका ज्ञान हो जानेपर भी दीर्घ-कालीन अभ्यासके कारण चित्तमें बैठी हुई विषयोंकी प्रीति दूर नहीं होती—विषयोंका आकर्षण बना ही रहता है । उसे दूर करनेके लिये असंगताके अभ्यास-की आवश्यकता है, क्योंकि बिना अभ्यासके आत्मा-नन्दकी दृढ़ता नहीं होती और बिना आत्मानन्दकी दृढ़ताके विषयोंमें सुख-बुद्धि बनी रहती है । अतः विषयोंसे उपराम होनेके लिये और आत्मानन्दकी प्राप्तिके लिये अभ्यास अवश्य करना चाहिये । अभ्याससे यह बात दृढ़ हो जायगी कि मैं चराचरका द्रष्टा हूँ और सम्पूर्ण दृश्य मरुभूमिका जल है ।

दृढ़ ज्ञान हो जानेपर जो भाव जागृतिमें रहता है वही स्वप्नमें भी रहता है । जो मनुष्य मांस नहीं खाता, वह स्वप्नमें भी मांस-भक्षण नहीं करता । सच्चा ब्रह्मचारी स्वप्नमें भी स्त्री-सेवन नहीं करता । परन्तु ऊपरसे ही ज्ञानकी बातें बनानेवालोंपर जब थोड़ी-सी भी आपत्ति आती है तो वे सब ज्ञान भूल जाते हैं । सच्चा ज्ञानी तभी समझना चाहिये जब सिरपर दुःखों-का पहाड़ टूट पड़नेपर भी निष्ठासे विचलित न हो ।

× × ×

प्रश्न–

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
(गीता ३ । १८)

इस श्लोकमें आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मामें सन्तुष्ट इन तीन विशेषणोंका प्रयोग हुआ है । इनमें क्या अन्तर है ?

उत्तर–आत्मानन्दमें डूब जाना आत्मरति है । आत्मरति हो जानेपर भी विषयोंमें प्रेम हो सकता है; जैसे ध्रुव-प्रह्लादादिने भगवत्प्राप्तिके पीछे भी राज्य-भोग किया । इसलिये आत्मतृप्त विशेषणका प्रयोग किया गया है अर्थात् जिस समय आत्माके सिवा और किसी वस्तुकी इच्छा न रहे तभी समझना चाहिये कि साधकको कुछ कर्तव्य नहीं है । आत्मतृप्त ही आत्मामें सन्तुष्ट कहा जाता है ।

× × ×

प्रश्न—आत्मक्रीडा और आत्ममिथुन क्या है ?

उत्तर—आत्मा-सम्बन्धी कथनोपकथनका नाम आत्मक्रीडा है तथा आत्मचिन्तनको आत्ममिथुन कहते हैं।

× × ×

प्रश्न—जगत्से असंगताका अनुभव हो जानेपर यदि जगत्की सत्ता बनी भी रहे तो क्या हानि है ?

उत्तर—असंगताका निश्चय हो जानेपर भी यदि जगत्की सत्यता बनी रही तो उसमें आसक्ति हो जाना बहुत सम्भव है, क्योंकि बिना असत्यताके निश्चयके जगत्में रमणीय-बुद्धि दूर नहीं होती। इसलिये उसकी असत्यताका बोध भी परमावश्यक है।

अमूल्य शिक्षा

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्रोंसे संग्रहीत)

अपने आत्माके समान सब जगह सुख-दुःखको समान देखना तथा सब जगह आत्माको परमेश्वरमें एकीभावसे प्रत्यक्षकी भाँति देखना बहुत ऊँचा ज्ञान है।

चिन्तनमात्रका अभाव करते-करते अभाव करनेवाली वृत्ति भी शान्त हो जाय, कोई भी स्फुरणा शेष न रहे तथा एक अर्थमात्र वस्तु ही शेष रह जाय, यह बहुत अच्छी उपरामताका लक्षण है।

श्रीनारायणदेवके प्रेममें ऐसी निमग्नता हो कि शरीर और संसारकी सुधि ही न रहे, यह बहुत ऊँची भक्ति है।

नेति-नेतिके अभ्याससे 'नेति-नेति' रूप निषेध करनेवाले संस्कारका भी शान्त आत्मामें या परमात्मामें शान्त हो जानेके समान ध्यानकी ऊँची स्थिति और क्या होगी ?

परमेश्वरका हर समय स्मरण न करना और उसका गुणानुवाद सुननेके लिये समय न मिलना बहुत बड़े शोकका विषय है।

मनुष्यमें दोष देखकर उससे घृणा या द्वेष नहीं करना चाहिये। घृणा या द्वेष करना हो तो मनुष्यके अन्दर रहनेवाले दोषरूपी विकारोंसे करना चाहिये। जैसे किसी मनुष्यके प्लेग हो जानेपर उसके घरवाले लोग प्लेगके भयसे उसके पास जाना नहीं चाहते, परन्तु उसको प्लेगकी बीमारीसे बचाना अवश्य चाहते हैं, इसके लिये अपनेको बचाते हुए यथासाध्य चेष्टा भी पूरी तरहसे करते हैं, क्योंकि वह उनका प्यारा है। इसी प्रकार जिस मनुष्यमें चोरी, जारी आदि दोषरूपी रोग हों, उसको अपना प्यारा बन्धु समझकर उसके साथ घृणा या द्वेष न कर उसके रोगसे बचते हुए उसे रोगमुक्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

भगवान् बड़े ही सुहृद् और दयालु हैं, वह बिना ही कारण हित करनेवाले और अपने प्रेमीको प्राणोंके समान प्रिय समझनेवाले हैं। जो मनुष्य इस तत्त्वको जान जाता है, उसको भगवान्के दर्शन बिना एक पलके लिये भी कल नहीं पड़ती। भगवान् भी अपने भक्तके लिये सब कुछ छोड़ सकते हैं, पर उस प्रेमी भक्तको एक क्षणके लिये भी नहीं त्याग सकते।

मृत्युको हर समय याद रखना और समस्त संसारको तथा शरीरको क्षणभंगुर समझना चाहिये। साथ ही भगवान्के नामका जप और ध्यानका बहुत तेज अभ्यास करना चाहिये। जो ऐसा करता है, वह परिणाममें परम आनन्दको प्राप्त होता है।

मनुष्य-जन्म सिर्फ पेट भरनेके लिये ही नहीं मिला है। कीट, पतङ्ग, कुत्ते, सूअर, गदहे और गौवें भी पेट भरनेके लिये उम्रभर चेष्टा करते ही रहते हैं। यदि उन्हींकी भाँति जन्म बिताया तो मनुष्य-जीवन व्यर्थ है। जिनके लिये शरीर और संसारमें सत्ता नहीं है, वही जीवन्मुक्त हैं, उन्हींका मनुष्य-जन्म सफल हुआ है।

जो समय भगवद्भजनके बिना जाता है वह धूलिमें मिल जाता है। जो मनुष्य समयकी कीमत समझता होगा, वह एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खो सकता। भजनसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, तब शरीर और संसारमें वासना और आसक्ति दूर होती है, इसके बाद संसारकी सत्ता ही मिट जाती है। एक परमात्म-सत्ता ही रह जाती है।

संसार स्वप्नवत् है। मृगतृष्णाके जलके समान है, इसप्रकार समझना ही वैराग्य है। वैराग्यके बिना संसारसे मन नहीं हटता और इससे मन हटे बिना उसका परमात्मामें लगना बहुत ही कठिन है, अतएव संसारकी स्थितिपर विचार कर इसके असली स्वरूपको समझना और वैराग्यको बढ़ाना चाहिये।

भगवान् हर जगह हाजिर हैं, परन्तु अपनी मायासे छिपे हुए हैं। बिना भजनके न तो कोई उनको जान सकता है और न विश्वास कर सकता है। भजनसे हृदयके स्वच्छ होनेपर ही भगवान्‌की पहचान होती है। भगवान् प्रत्यक्ष हैं, परन्तु लोग उन्हें मायाके पर्देके कारण देख नहीं पाते।

शरीरसे प्रेम हटाना चाहिये। एक दिन तो इस शरीरको छोड़ना ही पड़ेगा, फिर इसमें प्रेम करके मोहमें पड़ना कोई बुद्धिमानी नहीं है। समय बीत रहा है, बीता हुआ समय फिर नहीं मिलता, इससे एक क्षण भी व्यर्थ न गँवाकर शरीर तथा शरीरके भोगोंसे प्रेम हटाकर परमेश्वरमें प्रेम करना चाहिये।

जब निरन्तर भजन होने लगेगा, तब आप ही निरन्तर ध्यान होगा। भजन ही ध्यानका आधार है। अतएव भजनको खूब बढ़ाना चाहिये। भजनके सिवा संसारमें उद्धारका और कोई उपाय नहीं है। भजनको बहुत ही कीमती चीज समझना चाहिये। जबतक मनुष्य भजनको बहुत दामी नहीं समझता, तबतक उससे निरन्तर भजन होना कठिन है। रुपये, भोग, शरीर जो कुछ भी हैं, भगवान्‌का भजन इन सभीसे अत्यन्त उत्तम है। यह दृढ़ धारणा होनेसे ही निरन्तर भजन हो सकता है।

मनकी मनहीमें रही

(लेखक—पं० श्रीगंगाविष्णु पाण्डेय, विद्याभूषण 'विष्णु')

हम यों करिहैं हम त्यों करिहैं, यह बात हजारन बार कही।
नित लाख विचार किये मनमें कबहूँ न कहे कर राह गही॥
'कवि विष्णु' समैपर चूकि गये कुसमैपर होत न बात चही।
अब हाथ पसारि चले जगते सबरी मनकी मनहीमें रही॥

कल्याण

मनुष्य-जीवनका ध्येय है परम कल्याण अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति ! मुक्तिका मार्ग वही बतला सकते हैं जो मुक्त हो चुके हैं । भगवान्के परम धाम-का पथ उन्हींको ज्ञात है जो भगवत्कृपासे वहाँ पहुँच चुके हैं । इसीलिये मोक्ष या भगवत्प्राप्तिके इच्छुक साधकजन तत्त्वज्ञानी, भगवत्प्राप्त महापुरुषोंकी खोजकर उनकी शरण लेते हैं और उनके बतलाये हुए मार्गपर चलकर भगवान्के धामतक पहुँचनेका यत्न करते हैं ।

× × ×

ऐसे ही तत्त्वज्ञानी भगवत्प्राप्त महात्मागण 'सद्गुरु' कहलाते हैं। गुरु उसे कहते हैं, जिससे मनुष्य किसी ऐसी नयी बातको सीखे, जिसको वह नहीं जानता । इस नाते मनुष्य सभीको गुरु मान सकता है । अवधूतने इसी दृष्टिसे चौबीस गुरु बनाये थे । परन्तु सद्गुरु इन सारे गुरुओंसे विलक्षण होता है । वह सत्-परमात्माके पथको जानता है, इसीसे मनुष्य उस सद्गुरुको परम गुरु मानकर सब कुछ उसके चरणोंपर न्योछावर कर देता है क्योंकि वह उस सद्गुरुसे ऐसी चीज़ पाता है, जिसके सामने संसारकी सभी चीज़ें, सभी स्थितियाँ बहुत ही कम कीमतकी और अत्यन्त तुच्छ हैं ।

× × ×

सद्गुरु ही गोविन्दको मिलाता है, सद्गुरु ही शिष्यके दुःखोंको अशेष हरण करता है, इसीलिये शिष्यकी दृष्टिमें सद्गुरु ईश्वरसे बढ़कर सेव्य है । इसीसे शास्त्रों और सन्तोंने सद्गुरुकी अपार महिमा गायी है और गुरु-शरणागतिके बिना भगवान्की प्राप्तिको अति दुर्लभ—असम्भव कहा है । बात भी बिल्कुल ठीक है; अनुभवी मार्गप्रदर्शक गुरु ही शिष्यको मायाके दुर्गम पथसे पार कर लक्ष्य स्थानपर ले जानेमें समर्थ है । ऐसे समर्थ गुरुकी जितनी पूजा हो, जितना सम्मान हो, जितनी भक्ति की जाय, उतनी ही थोड़ी है; क्योंकि ऐसे गुरुका बदला तो कभी चुकाया ही नहीं जा सकता । ऐसे गुरुका द्रोही नरकगामी न हो तो दूसरा कौन होगा ? और ऐसे सद्गुरुकी शरण न लेनेवालेसे बढ़कर मूर्ख और मन्दभागी भी और कौन होगा ?

× × ×

तत्त्वज्ञानी गुरुके बिना परमात्माका तत्त्व कौन बतलावे ? इसीलिये गुरुकी आवश्यकता है और गुरु-सेवाका महत्त्व है । यही गुरु-भक्तिका रहस्य है । परन्तु ऐसे सद्गुरु सभी नहीं बन सकते । लोगोंके जीवनको लेकर खेलना साधारण बात नहीं है । यह बहुत ऊँचे अधिकारकी बात है । वस्तुतः परमात्माके रहस्यको सम्यक् प्रकार जाननेवाले महापुरुष ही सद्गुरु-पदपर प्रतिष्ठित हो सकते हैं, इसीसे श्रुतिने 'श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ' गुरुके समीप जाकर उनसे ज्ञान सीखनेकी आज्ञा दी है । जो स्वयं अन्धा है वह दूसरे अन्धेको मार्ग कैसे दिखला सकता है ? वह तो खुद गड़हेमें गिरेगा और जिन्होंने अपनी लाठी उसे पकड़ा रक्खी है, उनको भी गिरावेगा । आज भारतवर्षमें यही हो रहा है । भोगविलासमें लगे हुए लोग, इन्द्रिय-विषयोंमें आसक्त मनुष्य परमार्थपथके प्रदर्शक गुरु बन गये हैं, इसका परिणाम घोर नरकाग्निमें आहुति पड़ने और उसके अधिकाधिक प्रज्वलित होनेके अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

× × ×

निष्काम कर्म, भक्ति और ज्ञान—ये तीन ही

भगवत्प्राप्तिके प्रधान मार्ग हैं। योग तीनोंमें साथ है, इसीसे ये कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग कहलाते हैं। भक्तिको भगवद्-कर्ममें सम्मिलित करनेपर कर्मयोग और ज्ञानयोग ये दो ही निष्ठाएँ रह जाती हैं। इन मार्गोंसे चलकर परमात्माका साक्षात्कार किये हुए पुरुष यथार्थ कर्मयोगी, भक्त और ज्ञानी हैं, इसी प्रकारके तरे हुए महापुरुष संसार-सागरमें गोता खाते हुए जीवोंको तारनेमें समर्थ होते हैं। जबतक विषयोंमें राग रहता है, तबतक मनुष्य वस्तुतः न तो निष्काम कर्मका आचरण कर सकता है, न भक्त हो सकता है और न ज्ञान-मार्गपर ही चल सकता है। राग या आसक्तिसे ही कामना उत्पन्न होती है, कामनावाला मनुष्य निष्काम नहीं हो सकता। विषयोंका प्रेमी या विषयासक्त मनुष्य ईश्वरमें अनन्य प्रेम कभी नहीं कर सकता। इसी प्रकार विषयासक्त पुरुष अद्वैत परमात्म-तत्त्वका साक्षात्कार नहीं कर सकता। तीनों ही मार्गोंके लिये सबसे पहले विषय-वैराग्यकी अत्यन्त आवश्यकता है। वैराग्यकी भित्तिपर ही निष्काम कर्म, भक्ति और ज्ञानकी सुन्दर सुदृढ़ इमारत खड़ी हो सकती है। दिखलानेके लिये किये जानेवाले विषय-वैराग्यहीन कर्मयोग, भक्ति और ज्ञानसे तो प्रायः पतन ही होता है। वैराग्य ही परमार्थ-साधनका प्राण है।

× × ×

स्वरूपसे विषयोंको छोड़कर कठिन संयम और नियमोंका पालन करते हुए भी मनुष्य जब विषयोंके वशमें हो जाता है, बड़े-बड़े साधु-महात्माओंको भी जब कामिनी-काञ्चनसे और मान-बड़ाईसे सर्वथा पिण्ड छुड़ानेमें बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, तब उन लोगोंके पतन होनेमें क्या आश्चर्य है जो रात-दिन भोगोंमें रचे-पचे रहते हैं, धन कमाते हैं, सञ्चय करते हैं, भेंट लेते हैं, परिवारके झमेलोंमें बुरी तरह उलझे रहते हैं, राजाओंका-सा ठाट-बाट रखते हैं, माल-मलीदा खाते हैं, इत्र-फुलेल लगाते हैं, गहनों-कपड़ोंसे दिन-रात शरीर सजानेमें लगे रहते हैं, नाटक-सीनेमा देखते हैं, वेश्याओंके नाच-मुजरे सुनते हैं, शृंगारके ग्रन्थ और गन्दे उपन्यास पढ़ते हैं, राजसी-ठाटसे काश्मीर और नैनीतालकी सैर करते हैं, स्वयं भगवान् बनकर सेवक-सेविकाओंसे पैर पुजवाते हैं, खुशामदियोंसे घिरे रहते हैं और अभिमानके नशेमें चूर रहते हैं।

× × ×

परमात्माको प्राप्त करनेकी आशासे ऐसे मोह-जाल-समावृत, विलास-विभ्रम-रत, अनेकचित्तविभ्रान्त, स्वेच्छाचारी, काम-भोगपरायण लोगोंको गुरु मानना या गुरु बनाना और श्रीगोविन्दको छोड़कर गोविन्दकी प्राप्तिके लिये इनकी पूजा करना वस्तुतः मोह ही है। ऐसे लोगोंसे परमार्थकी आशा ही क्योंकर की जा सकती है? जो भगवान्‌के नामपर भोगोंकी सेवामें लगे हुए हैं, जिनके हृदयमें नन्दनन्दनकी जगह धन और पार्थिव रूप बसा हुआ है, वे माया-मोहित प्राणी लोगोंको मायासे मुक्त कैसे कर सकते हैं? ईश्वरके नाते तो प्राणीमात्रको ही प्रणाम करना धर्म है परन्तु सद्‌गुरु समझकर परमात्माको प्राप्त करनेकी आशासे ऐसे लोगोंके पैर पूजने और इनसे कानोंमें मन्त्र फुँकवानेमें सिवा हानिके तनिक भी लाभ नहीं है।

× × ×

कानमें मन्त्र फूँकनेसे ही उद्धार नहीं हो जाता। उद्धार होता है दो उपायोंसे—सद्‌गुरु-प्रदत्त मन्त्रके सम्यक् विधिवत् अनुष्ठानसे अथवा भगवत्कृपाप्राप्त शक्तिसम्पन्न सद्‌गुरुकी तपःशक्तिसे। सम्भवतः इन्हीं दोनों कारणोंसे ईश्वरस्वरूप, तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषोंसे मन्त्र ग्रहण करनेकी प्रथा चली होगी, जो इस

दृष्टिसे वस्तुतः बहुत ही लाभकारी थी; परन्तु आज ऐसे सद्गुरुओंका प्रायः अभाव है। आज गली-गलीमें डोलनेवाले लाखों गुरुओंमें बहुत ही थोड़े ऐसे सच्चे सद्गुरु होंगे। ऐसी स्थितिमें कान फुँकवाने और केवल जिस किसीको गुरु माननेसे ही उद्धार हो जायगा, ऐसी धारणा रखनेवाले मनुष्य बहुत अंशमें ठगे ही जाते हैं। क्योंकि न तो मन्त्रदान करनेवाले लोग स्वयं मन्त्रमें या मन्त्रके देवतामें श्रद्धा रखते हैं; (रखते होते तो वे उसीके परायण होकर रहते) न शिष्यगण साधन करनेका श्रम उठाना चाहते हैं और न मन्त्रदाताओंमें ही वह शक्ति है कि जिसके प्रभावसे मन्त्र देते ही अपने आप शिष्यका उद्धार हो जाय।

× × ×

एक बातसे तो बहुत ही सावधान रहना चाहिये। हिन्दू-स्त्रियोंके लिये पुरुष-जातिमें दो ही ऐसे गुरु हो सकते हैं जिनके चरण-स्पर्श करनेका उसे अधिकार है; एक विवाहित पति और दूसरे समस्त विश्वके पति ईश्वरोंके भी ईश्वर परमेश्वर। इन दोको छोड़कर, वे सन्मार्गकी शिक्षा तो किसी भी योग्यतम चरित्रवान् वैराग्यसम्पन्न पुरुषसे ले सकती हैं परन्तु किसीके चरण-स्पर्श करने या किसीसे कानमें मन्त्र फुँकवानेकी आवश्यकता नहीं है, चाहे कोई वास्तविक महात्मा या महापुरुष ही क्यों न हो। चरण-स्पर्श करने या मन्त्र-ग्रहण करनेसे बढ़कर लाभ सच्चे महापुरुषकी शास्त्र-सम्मत निर्दोष आज्ञापालनसे ही हो जायगा। इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं। सच्चे महापुरुषकी आज्ञा निर्दोष ही होगी और सच्चा महापुरुष भी उसीको समझना चाहिये जिसकी आज्ञा विषयोंमें फँसानेवाली और पापमयी न हो। मन्त्रदानका अर्थ मार्ग बतलाना ही है, कान फूँकना नहीं।

गुरु या मार्गदर्शककी जरूरत तो सबको रहती ही है, इससे अपने मनमें किसीको गुरु माननेमें आपत्ति नहीं परन्तु आजके बिगड़े जमानेमें किसीके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़नेके पहले, आत्मसमर्पण करनेके पूर्व कुछ समय-तक, परीक्षाके भावसे नहीं, किन्तु साधनाके भावसे उसके बताये हुए साधनको और उसके संगको करके देखे। यदि दैवीसम्पत्तिमें वृद्धि हो या कम-से-कम आसुरीसम्पत्तिके भाव न बढ़ें तो ठीक है, यदि उसके संगसे आसुरी-सम्पत्ति बढ़े, काम या लोभकी जागृति हो तो सावधान हो जाय। जो गुरु प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रीतिसे धन या स्त्रीकी माँग करे, उससे तो जरूर ही सावधान हो जाय।

× × ×

भारतवर्षमें आज भी सच्चे साधुओंका और ईश्वर-प्राप्त महापुरुषोंका अभाव नहीं है। तीव्र उत्कण्ठाके साथ सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापी भगवान्से ऐसे सद्गुरुकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। यदि आपकी अभिलाषा सच्ची और तीव्र होगी तो सच्चे सन्त अवश्य ही मिलेंगे। अधिक क्या, स्वयं भगवान्को सन्त बनकर आपको उपदेश प्रदान करनेके लिये आना पड़ेगा।

× × ×

ईश्वरका सतत स्मरण, अपने अन्दर सद्गुणोंकी वृद्धि और भोगोंसे वैराग्य, इन तीन बातोंको बढ़ाते रहिये। ईश्वरके राज्यमें अन्याय नहीं होता। यदि आपकी सच्ची साधना होगी तो आपकी स्थितिके अनुसार आपको सद्गुरु अवश्य मिल जायँगे।

× × ×

गुरुमें भक्ति और श्रद्धा अवश्य करनी चाहिये। जो गुरुका भक्त नहीं होगा, वह भगवान्का भक्त कैसे होगा। परन्तु इस गुरु-भक्तिका आरम्भ गुरुजनोंकी—माता-पिताकी भक्तिसे करना चाहिये। जो माता-

पिताको नहीं मानता वह गुरु और भगवान्‌को सहजमें नहीं मानेगा । प्रह्लादका उदाहरण देकर माता-पिताकी आज्ञा न माननेका समर्थन करना सहज है परन्तु प्रह्लाद बनना बड़ा ही कठिन है। प्रह्लाद या भरतके लिये पिता-माताकी आज्ञाका उल्लंघन करना धर्म था, परन्तु विषयानुरागी, स्वार्थी, जिद्दी, लोभी और क्रोधी मनुष्यका वैसा करने जाना पतनके स्रोतमें ही बहना है ।

× × ×

जो मनुष्य सदाचारी है, दैवी-सम्पदाको बढ़ानेमें सदा तत्पर है, माता-पिता-गुरुजनोंका आज्ञाकारी है, सदा सत्य बोलता है, क्रोध नहीं करता, ब्रह्मचर्यका पालन करता है, संयमी है, तपस्वी है, स्वधर्मपरायण है, दुखी-दीनप्राणियोंकी सेवामें तन, मन, धनसे लगा रहता है, दया और प्रेमसे जिसका हृदय छलकता है, जो दूसरोंकी भलाईके लिये स्वार्थका त्याग प्रसन्नतासे करता है, परार्थमें ही स्वार्थ समझता है, पराई स्त्रीको माता समझता है, भोग-विषयोंमें अनासक्त है और आठोंपहर यथासाध्य भगवान्‌का स्मरण करता है तथा प्राणीमात्रमें परमात्माको देखकर सबका सम्मान करता है । वही पुरुष यथार्थ आत्मोन्नति कर रहा है । ऐसे पुरुषका संग सदा ही मंगलकारक है, चाहे वह मुक्त न हो । ऐसे पुरुषको गुरु माननेमें या उससे सत्-शिक्षा और सत्परामर्श लेनेमें सदा ही लाभ है । वह मुक्त होगा तो मुक्तिधामतक पहुँचा देगा । अन्यथा, जहाँतक पहुँचा है वहाँतक तो आगे बढ़ाकर ले ही जायगा । "शिव"

भजनकी आवश्यकता

जो सबसे बढ़कर प्रियतम हो, जो प्राणोंका आधार हो, जो जीवनका एकमात्र अवलम्बन हो, जिसकी स्मृति और मिलनकी आशा ही जीवनमें प्रतिपल चेतना प्रदान करती हो, उसे क्षणभरके लिये भी कैसे भुलाया जा सकता है? कोई कहे कि दिन-रातमें दो घण्टे भले ही उसे स्मरण कर लिया करो, शेष बाईस घण्टे घरके दूसरे आवश्यक कामोंमें खर्च किया करो, तो ऐसा करना उस प्रेमीके लिये कैसे सम्भव हो सकता है? उसे कितने ही घण्टे कुछ भी काम क्यों न करना पड़े, वह करेगा अपने प्रियतमका स्मरण करते हुए ही। उसे वह क्षणभरके लिये भी अपने हृदय-मन्दिरसे अलग नहीं कर सकता। हृदयमें उसकी झाँकी सदा खुली रहेगी, वह उसके दर्शन करता हुआ ही यन्त्रकी भाँति शरीरसे कार्य करता रहेगा। ऐसे अनन्यचेता सतत और नित्य चिन्तनमें लगे रहनेवाले प्रेमीको भगवान् नित्य प्राप्त ही रहते हैं, वे उसकी अन्तर्दृष्टिसे कभी ओझल हो ही नहीं सकते। इसी स्थितिको प्राप्त भक्त सूरदासने कहा था—

हाथ छुड़ाये जात हौ निबल जानिकै मोहिं ।
हिरदै तें जब जाहुगे सबल बदौंगो तोहिं ॥

इसी तन्मयतामें लीन गोपियाँ प्रतिक्षण प्रत्येक कार्य करते समय प्रियतम श्यामसुन्दरके गुणगान करती हुई आँसू बहाया करती थीं। भाग्यशालिनी व्रजाङ्गनाओंकी बड़ाई करते हुए भागवतकार भगवान् व्यास कहते हैं—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितो क्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

उन श्रीकृष्णमें चित्तको अनुरक्त रखनेवाली व्रजवनिताओंको धन्य है जो गौ दूहने, दही मथन करने, घर लीपते, झूला झूलते, रोते हुए बालकोंको लोरी देते, झाड़ू देते, चौका लगाते तथा विश्राम करते सब समय सर्वदा पवित्र कीर्ति भगवान

श्रीकृष्णको अपने सामने देखकर नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बहाती हुई गद्गद् स्वरसे उनका गुण गाया करती हैं।

भगवान्‌को याद रखनेका उपदेश, घण्टे-दो-घण्टे या अधिक नियमित कालके लिये नाम-जपकी आज्ञा, इतनी संख्या पूरी करनेपर सिद्धि हो जायगी, इस लोभसे संख्यायुक्त जप या संख्याकी गणनासे जप हो जाता है, यों भूल रह जाना सम्भव है इसलिये संख्याका अवधि बाँधकर जप करना चाहिये यह आदेश तो उन आरम्भिक साधकोंके लिये है जो भगवान्‌के प्रेमी नहीं हैं; न करनेकी अपेक्षा ऐसा करना बहुत उत्तम है। प्रेम प्राप्त होनेपर यह कहना नहीं पड़ता कि अमुक समयतक अमुक संख्यासे उन्हें याद किया करो। संख्या या समयका हिसाब कौन रक्खे ? जब एक क्षणभरके लिये स्मृति चित्तसे नहीं हटती, तब हिसाब-किताबकी बात ही कहाँ रह जाती है? श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामको सीताका सन्देश सुनाते हुए श्रीहनूमान्‌जी कहते हैं कि 'प्रभो! सीता प्राण-त्याग करना चाहती हैं, परन्तु प्राण निकल नहीं पाते' सीताजीने कहा है—

नाम पाहरू दिवसनिसि ध्यान तुम्हार कपाट।
× × × × प्राण जाहि केहि बाट॥

प्राण कैद हो गये। आठों पहर आपके ध्यानके किंवाड़ लगे रहते हैं। आपका ध्यान कभी छूटता नहीं, आपकी श्याम-तमाल माधुरी-मूर्ति कभी मनके नेत्रोंसे परे होती ही नहीं। यदि कभी किंवाड़ खोले भी जायँ तो बाहर रात-दिन पहरा लगता है। पहरेदार कौन है ? रामनाम, क्षणभरके लिये राम-नाम लेनेसे जिह्वा विराम नहीं लेती। प्राण कैसे निकलें? ऐसी स्थितिमें क्या सीताको इस उपदेशकी अपेक्षा थी कि तुम अशोकवाटिकामें अकेली रहती हो, समय बहुत मिलता है, इसके सिवा राक्षसियोंका डर रहता है, इसलिये कुछ देर रामको याद कर लिया करो। यह उपदेश या तो अभक्तोंके लिये है या प्रेमहीन रँगरूटोंके लिये।

प्रेमीजनोंको तो अपने प्रेमास्पदका नाम इतना प्यारा होता है कि स्वयं तो वे उसे कभी भूल ही नहीं सकते; दूसरेको कभी भूले-भटके उच्चारण करते सुन लेते हैं, तो उसकी चरण-धूलि लेने दौड़ते हैं। प्रियतमका नाम लेनेवाला, प्रियतमका गुण गानेवाला, प्रियतमका प्रेमी, हृदयसे आदरका पात्र, प्रेमका पात्र न हो तो कौन होगा ? प्रियतमका चिह्न ही हृदयमें हर्ष पैदा कर देता है। गोपियाँ श्याम मेघोंको देखकर श्रीकृष्णका स्मरण करती हुई मेघोंका दीर्घजीवन मनाती हैं।* भरतजी श्रीरामके पदचिह्न और कुशशय्याके तृणोंको देखकर वहाँकी धूलिको और तृणोंको सिर-माथेपर चढ़ाने लगते हैं,† श्रीराम सीताके वस्त्रको हृदयसे लगाते हैं,‡ महामुनि वशिष्ठ § और भरतजी× गुहको अपने रामका प्रिय सखा समझकर उसपर रामके सदृश स्नेह और प्रेम दिखलाते हैं। सीता-सन्देश सुनानेवाले हनूमान्‌के प्रति श्रीराम और श्रीरामका आगमन-संवाद सुनानेवाले हनूमान्‌के प्रति श्रीभरत ऐसी कृतज्ञता प्रकट करते हैं कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। दोनों ही अपनेको हनूमान्‌का चिरऋणी घोषित करते हैं—

---

* श्यामघन जीवत रहौ सदाय।
तुम्ह देखत घनश्याम हमारे मनमन्दिर प्रगटाय॥

† कुस-साथरी निहारि सुहाई।
कीन्ह प्रणाम प्रदक्षिण जाई॥
चरन-रेख-रज आँखिन लाई।
बनै न कहत प्रीति अधिकाई॥

‡ पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।

§ रामसखा ऋषि बरबस भेंटे।
जनु महि लुटत सनेह समेटे॥
यहि सम निपट नीच कोउ नाहीं।
बड़ बशिष्ठ सम को जगमाहीं॥

× भेंटे भरत ताहि अति प्रीती।
लोग सिहाहिं प्रेमकी रीती॥

श्रीरामके वचन—

सुनु कपि तोहिं समान उपकारी।
नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा।
सन्मुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहिं उऋण मैं नाहीं।
देखेउ कर बिचार मनमाहीं॥

श्रीभरतके वचन—

नाहिंन उऋण तात मैं तोहीं।
अब प्रभुचरित सुनावहु मोहीं॥
यह सन्देश सरिस जगमाहीं।
करि विचार देखा कछु नाहीं॥

भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश लेकर जब उद्धवजी व्रजको पधारे, तब श्रीकृष्णके-से वेषमें देखकर गोपियोंने उन्हें घेर लिया और यह जानकर कि यह भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश लेकर आये हैं, गोपियोंके हर्षका पार न रहा—

तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं
सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः ।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने
विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः ॥

और उन्होंने विनयावनत होकर प्रेमभरी लज्जापूर्ण दृष्टिसे और मधुर वचनोंसे उनका सत्कार किया।

जबतक भगवान् हमारे परम प्रेमास्पद नहीं हैं, तभीतक उनके स्मरण-चिन्तनका अभ्यास करना है, जिस शुभ घड़ीमें हम अपने-आपको उनके चरणोंपर न्योछावर कर देंगे, मन उनके मनमें मिला देंगे, फिर तो हर घड़ी हमें उन्हींकी प्राणाधिक प्रिय छबि दिखलायी देगी; फिर गोपियोंकी भाँति कविवर 'देव' की भाषामें हम भी यह कह सकेंगे—

जौ न जीमें प्रेम तो कीजै व्रत नेम, जब
कंजमुख भूलै तब संजम बिसेखिये।
आस नहीं पीकी, तब आसन ही बाँधियत,
सासनकै साँसन को मूँदि पति पेखिये॥
नखतें सिखालों सब श्याममयी बाम भई
बाहर औ भीतर न दूजो देव लेखिये।
योग करि मिलैं जो वियोग होइ व्रजपतिकौ,
जो न हरि होय, तौ ध्यान धरि देखिये॥

योग कहते हैं अप्राप्तकी प्राप्तिको, प्राप्तिके अभावको कहते हैं वियोग। यहाँ प्राणप्यारे नन्दनन्दनका नित्य संयोग है, फिर योग किसलिये साधें? वियोग ही नहीं, तब योग कैसा?

परन्तु यह शुभ स्थिति हरएकको नसीब नहीं होती। भगवान्के प्रेमको प्राप्त करना सहज बात नहीं। प्रेम मुँहकी चीज़ नहीं; प्रेमकी बातें बनानेवाले बहुत मिल सकते हैं पर प्रेमके पथपर कोई वीर ही चल सकता है। जबतक जगत्के भोगोंमें आसक्ति है, शरीरके आरामकी चिन्ता है, यश-कीर्त्तिका मोह है, तबतक प्रेमके पन्थकी ओर निहारना भी मना है। प्रेमके मार्गपर वही वीर चल सकता है, जिसने वैराग्यके दावानलमें विषयासक्तिको सदाके लिये जला डाला हो। प्रेमिका मीरा कहती है—

चुनरीके किये टूक ओढ़ लई लोई।
मोती मूँगे उतार बनमाला पोई॥

प्रेमके पथपर वही पग रख सकता है जो प्रेममार्गके काँटोंको फूलोंकी शय्या, प्रेमास्पदके किये हुए तिरस्कारको पुरस्कार, महान् विपत्तिको सुख-सम्पत्ति, अपमानको सम्मान और अयशको यश समझता है। उसका पथ ही उलटा होता है, वह कोई ऐसा घृणित कार्य नहीं करता, जिससे उसका अपमान, तिरस्कार हो या विपत्ति आवे, तथापि वह अपमान, तिरस्कार और विपत्तिको प्रेमास्पदके मिलनका मार्ग समझकर उनका स्वागत करता है, उनसे चिपट रहता है। प्रेमपन्थियोंको प्रेमियोंके निम्नलिखित शब्द याद रखने चाहिये—

नारायण घाटी कठिन जहाँ प्रेमको धाम।
विकल मूर्छा सिसकिबो, ये मगके विश्राम॥
सीस काटिकै भुइँ धरै, ऊपर राखे पाव।
इश्कचमनके बीचमें, ऐसा हो तो आव॥

सिर काटौ छेदौ हिया टूक-टूक करि देहु ।
पै याके बदले विहँसि वाह वाहकी लेहु ॥
पीया चाहै प्रेमरस राखा चाहै मान ।
एक म्यानमें दो खडग देखी सुनी न कान ॥
प्रेमपन्थ अति ही कठिन सबपै निबहत नाहिं ।
चढ़के मोम-तुरङ्ग पै चलिबो पावक माहिं ॥
नारायण प्रीतम निकट सोई पहुँचनहार ।
गेंद बनावे सीसकी खेलै बीच बजार ॥
ब्रह्मादिकके भोग सब विषसम लागत ताहि ।
नारायण ब्रजचन्दकी लगन लगी है जाहि ॥

ऐसे प्रेमी भक्त सीस उतारकर मरते नहीं। सीस उतारे फिरते हैं परन्तु प्यारेके लिये जीवन रखते हैं। मर जाय तो प्यारेको दुःख हो। इसलिये जीते हुए ही मर जाते हैं अथवा मरकर भी जीते हैं। जिनकी ऐसी स्थिति हो गयी है, उनको धन्य है, उनके पिता-माताको धन्य है, उनके देशको धन्य है। उन्हींका जन्म सफल होता है। ऐसा करनेपर जब उन्हें प्रियतम मिल जाता है, जब प्रियतमके साथ घुल-मिलकर वे अपने आपको खो देते हैं, तब तो वे प्रियतमका स्वरूप ही बन जाते हैं—

'तू तू करते तू भयो मुझमें रही न हूँ'

× × × ×

जब 'मैं' था तब 'हरि' नहीं, अब 'हरि' है 'मैं' नाहिं।
प्रेमगली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं ॥

इसी स्थितिको प्राप्त करना मनुष्य-जीवनका ध्येय है। इसीके लिये भगवान्ने गीतामें आज्ञा दी है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

इस सुखरहित और अनित्य मनुष्य-शरीरको पाकर तू निरन्तर मेरा भजन कर। भजनसे ही उपर्युक्त स्थिति प्राप्त हो सकती है। जबतक प्रेम न हो तबतक श्रद्धाके साथ कुछ नियम बनाकर ही भगवान्का भजन अवश्य करना चाहिये। भजन करते-करते ज्यों-ज्यों अन्तःकरणका मल नष्ट होगा, त्यों-ही-त्यों अन्तःकरण शुद्ध होगा और भगवान्के प्रति प्रेम बढ़ता रहेगा। परन्तु यह 'अटल सिद्धान्त' सदा स्मरण रखना चाहिये कि—

बारि मथै बरु होइ घृत, सिकताते बरु तेल ।
बिनु हरिभजन न भव तरहिं, यह सिद्धान्त अपेल ॥

हनुमानप्रसाद पोद्दार

ईश्वर कहाँ नहीं है ?

(लेखक—पं० श्रीविद्याधरजी शास्त्री एम० ए०)
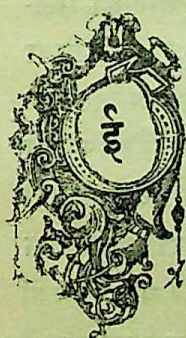
ईश्वरकी सत्ताका प्रश्न आधुनिक नहीं है, अनादिकालसे सत् और असत्का प्रश्न-विचार संसारमें नवीनता लाता रहा है। बात यह है कि इस निश्चय और अनिश्चयके मन्थनमें ही पुनीत दर्शन-नवनीतका आविर्भाव होता है।

ईश्वरके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह केवल निर्गुण निराकार अथवा चेतनमात्र ही हो। उसको किसी एक नियमितरूपमें बद्ध करना उसकी परम शक्तिका सर्वथा तिरस्कार करना है। ईश्वर ही परमाणुरूप, ईश्वर ही प्रकृतिरूप और ईश्वर ही आनन्दरूप है। यदि कोई दर्शनकार सृष्टिकी उत्पत्ति परमाणु और प्रकृतिमें ही देखता है तो ईश्वरवादीको उसके विरुद्ध बोलनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'—सिद्धान्त जब अटल हो चुका तो फिर प्रकृति परमात्म-सत्तासे भिन्न कैसे हो सकती है ? वह भी परमात्माका ही एक रूप है। वह महान् शक्ति, जिसके द्वारा इस विश्वका सञ्चालन हो रहा है, चाहे अदृष्ट हो, चाहे कर्म हो और चाहे मैटर (matter) हो, चेतन और सर्वशक्तिमान् है और वही ईश्वर है। इसके साथ ही जो शंख, चक्र, गदाधारी आदि विभूतिमें ईश्वर नहीं मानते वे भी पूरी भूल करते हैं। ईश्वर इस रूपमें नहीं है—इसको सिद्ध करनेका साहस कोई कैसे कर सकता है ? मनुष्यकी तरह उसमें इच्छा आदि

प्रतीत होती है इसीसे ईश्वरका ईश्वरत्व नष्ट नहीं होता। मनुष्य भी तो उसी व्यापक सत्ताका एक अंग है। इस व्यापक सत्तामें यदि कहींपर सांसारिक प्रवृत्ति-सी प्रतीत होती हो तो उसे अपनी संकुचित बुद्धिकी कसौटीपर कसकर दूषित बतानेका अल्पज्ञको अधिकार नहीं है। वर्तमान मस्तिष्ककी सबसे बुरी स्थिति यही है कि यह अपनी शक्ति और अपनी परिधिके आगेकी बातको माननेके लिये तैयार ही नहीं होता। आधुनिक शिक्षित समाज ईश्वरीय लीलाको अपने विकृत समाजकी दशामें ही नियमित मानकर उसका अन्यत्र अनुभव नहीं करता। उसकी दृष्टिमें सामाजिक तारतम्यसे उत्पन्न मानवीय दीनतामें ईश्वर-सत्ताका भान नहीं होता। वह सोचता है कि यदि ईश्वर होता तो समाजकी यह दशा नहीं होती। उसकी इस संकुचित बुद्धिका कारण यही है कि उसमें व्यापक-दृष्टिका अभाव है। उसने जीवनको केवल पचास-साठ वर्षोंमें ही सीमित मान रक्खा है। यदि वह सृष्टिकी अनन्तता पर ध्यान देकर और जीवनके अपरिमेय भविष्यपर विश्वास रखता हुआ क्षणिक सुख-दुःखकी आलोचना-करता तो अनन्त शक्तिको प्राप्त करनेवाले जीवकी इन मात्रा-स्पर्शवाली बातोंपर विचलित नहीं होता। सृष्टिमें दुखी सदा दुखी नहीं रहता। दुःख व्यक्तिगत ही नहीं होता, वह एक सर्वसाधारण सत्ता है और अन्यान्य ऋतुओंकी तरह वह भी आकर चला जाता है। महती सभ्यताओंको नष्ट करनेवाली सृष्टिकी परिस्थिति भी अपनी विशेषतासे पूर्ण होती है। वह परिस्थिति केवल विनाशकारी ही नहीं होती, उसके द्वारा भविष्य जीवनके लिये परमोज्ज्वल अभ्युदयकारी उदाहरण स्थापित हुआ करते हैं। इस अनन्त ब्रह्माण्डके अनन्त पदार्थोंमें न जाने किस उद्देश्यसे वह क्या कर रहा है। इसपर [illegible]ी तरहके निर्णयपर पहुँचना हमारी शक्तिसे बहिर्भूत है और यही कारण है कि हमारे परम तत्त्ववेत्ता महर्षियोंने अन्तमें इस विषयपर–'नेति-नेति कहि वेद पुकारा' कहकर ही मौन धारण कर लिया।

यदि हमारी कुभावनाओंके साफल्यमें विघ्न होता है तो इससे हम ईश्वरको दोषी नहीं ठहरा सकते। वह सर्वज्ञानमय है, वह हमारी अपेक्षा हमारे सुख-दुःखकी आवश्यकताका अधिक ज्ञाता है।

'ईश्वरके भयके कारण मानव-हृदय दुर्बल हो रहा है और ईश्वरके नामपर पुरोहितोंने समाजमें भयङ्कर अनाचार फैला रक्खा है'–इस सिद्धान्तको माननेवाले नहीं जानते कि ईश्वरसत्तामें अविश्वास होनेसे ही सर्वाधिक सामाजिक ह्रास हुआ करता है। अहंकारकी मात्रासे उन्मत्त देश कुछ ही समयमें इन्द्रियोंके इतने दास हो जायँगे और अपनी-अपनी शक्तिपर इतना विश्वास करेंगे कि वे अपने सिद्धान्तसे अतिरिक्त सिद्धान्तको माननेवाले प्राणियोंको सर्वथा नष्टप्राय कर देंगे और कर रहे हैं। ईश्वर-भयसे ही यह प्रबल इन्द्रियग्राम कुछ-कुछ शिथिल रहता है, अन्यथा मनुष्य मनुष्य-से विशेष भयभीत नहीं होता। आजकल कुछ मनुष्य अपने बुद्धिबलसे एक दूसरेको धोका देकर मनुष्यकी शैतानी प्रवृत्तिका सबसे अधिक विस्तार कर रहे हैं। मनुष्यको ही अपने दुःखका मूल-कारण मानकर मनुष्य मनुष्यका परम शत्रु बन जाता है और इस तरह वहाँ राक्षसी सृष्टि उत्पन्न होती है। रही यह बात कि पुरोहितोंने अनाचार फैला रक्खा है, सो इसमें ईश्वरका कोई दोष नहीं, यह हमारी अशिक्षाका फल है और ईश्वरमें हमारा अविश्वास ही इस अधीनताका मूल-कारण है। यदि हमको यह विश्वास होता कि परमपिता सर्वव्यापक है और वह निरन्तर हमारे साथ है तो हम उसका स्मरण किसी दूसरेकी सहायतासे नहीं करते। ईश्वरकी सत्तामें विश्वास रखना ईश्वर-सम्बन्धी गुणोंके विजयमें विश्वास रखना है। जो ईश्वरको नहीं मानते, उनके हृदयमें यह शंका लगी ही रहती है कि

शैतानी प्रवृत्तिकी ही अन्तमें विजय न हो जावे। दूसरी ओर ईश्वरके भक्तोंको इसका पूर्ण विश्वास है, वह जगन्नियन्ता सत्यका सदा उद्धार करेगा। इसलिये कष्ट सहकर भी सत्यका अवलम्बन करना उनके जीवनका ध्येय हो जाता है। अतएव हमारा कर्तव्य है कि हम यह दृढ़ विश्वास रक्खें कि वह परमात्मा किसी-न-किसी रूपमें हमसे अवश्य आकर मिलेगा। हमारे माता-पिता, हमारे मित्र और प्रकृतिके अन्यान्य पदार्थ जब हमारी सहायता करते हैं उस समय परमात्मा ही हमारी सहायता करता है! यदि माता-पिताके हृदयमें हमारे लिये सद्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं तो उन भावनाओंका उत्पन्न करनेवाला भी वही है। हम यदि अच्छे कार्य करते हैं तो हमारा प्रेरक भी वही है। 'ईश्वर नहीं है' इस प्रश्नको उठाकर आँखमिचौनीके खेलको खिलाकर अपनी खोज करानेवाला भी वही जगन्नियन्ता जगदाधार है। अतः प्रिय पाठक! सर्वत्र उसकी शक्ति और उसकी प्रत्यक्ष प्रेरणाको देखकर अब आप ही बतावें कि वह कहाँ नहीं है?

बौद्ध-धर्ममें ईश्वर-भाव

(लेखक—श्रीगङ्गाचरणलालजी खन्ना)

छ लोग बौद्ध-धर्मको ईश्वर-विहीन धर्म मानते हैं। हम ईश्वरका जो अर्थ समझते हैं, उस हिसाबसे यह कथन सच भी कहा जा सकता है और नहीं भी। हम यह मान लेते हैं कि बौद्ध-धर्ममें ऐसी दैवी शक्तिको नहीं माना गया है जो मनुष्योंसे पृथक् रहकर जैसे जी चाहे वैसे ही उनके कामोंमें दखल देती हो। लेकिन इस धर्मने एक सर्वमहान् तथाताको माना है जिसके व्यक्ति-स्वरूपकी कल्पना करना व्यर्थ है क्योंकि शान्त मनुष्यको अनन्तकी महिमाका ज्ञान असम्भव है।

सच बात यह है कि मनुष्यकी सत्ता बन्धन-युक्त है जिसके कारण वह दुःख और क्लेशसे व्याकुल होकर शान्तिकी ओर पुकारता है। वह अमर जीवनके लिये भटकता है। सिद्धार्थ गौतमको इसीकी खोज थी और हर एक व्यक्ति अपने आत्मिक विकासके अनुसार इसी परम शान्ति और महा-सुखके लिये भटकता है। जन्मसे मृत्यु और मृत्युसे जन्मतक बार-बार इसी तरह दौड़ते हुए हम इस परम लक्ष्यकी ओर बढ़ते हैं। इसे सच या झूठ कहना हमारे वशकी बात नहीं है। मनुष्यमें बुद्धि और हृदय नामकी दो शक्तियाँ हैं। इन्हींके वशमें होकर हमारी यह यात्रा चलती रहती है। बुद्धि तर्कके हथियारसे इस रहस्यको पैरोंके नीचे दबाकर विजयनी बनना चाहती है। पर कुछ समय बाद यह दुर्ग अजेय मालूम होने लगता है और बुद्धि थककर रह जाती है। हम सोचते हैं कि कोरे तर्क-वितर्कसे इस रहस्यका भेद पाना अशक्य है। पर जब बुद्धि अपने घमण्डसे हृदयकी खोजको भी दबाना चाहती है तभी अशान्तिका ज्वालामुखी फूट पड़ता है। जो बात तर्कके हाथ नहीं आयी, वही क्या श्रद्धाके लिये भी अगम्य है?

राजकुमार सिद्धार्थको उपनिषदोंके रहस्यवादका ज्ञान था। ऋषियोंकी शुद्ध परम्पराको वे भूले नहीं थे। लोग उन्हें 'तथागत' कहते थे। अपनेसे पहले ऋषियोंकी तरह उन्होंने सूखे बुद्धिवादको त्यागकर ध्यान और समाधिसे तत्त्वको जाननेकी कोशिश की। भगवान्के समस्त जीवनमें यही भाव ओतप्रोत है। उन्हें सब जगह हम ध्यानमें डूबा हुआ पाते हैं। सम्भवतः क्रासले ईसाइयोंको जो आनन्द मिलता है, भगवान्की लीलासे कृष्णके अनुयायी जिस सुखको पाते हैं, रामके पवित्र चरित्रसे जो आनन्द उनके भक्तोंको प्राप्त होता [illegible] वही सुख, वही आनन्द बौद्धोंको भगवान्की [illegible] समाधि-मुद्रासे प्राप्त होता है। जड़ बन्धनोंसे ऊपर

उठकर अपने आपको अनन्त निस्सीम सत्तामें विलीन करनेके लिये ध्यानके सिवा दूसरा मार्ग नहीं है।

ध्यानके द्वारा साक्षात्कार करनेवाला सन्त उस आदमीसे बहुत ऊँचा दर्जा रखता है जिसने सिर्फ अक्की दौड़ लगायी है। सन्तकी उड़ान ऊँची होती है, बहुधा वह बन्धनसे परे चला जाता है। वहाँ पहुँचकर जो कुछ उसके मुँहसे निकलता है, उसका अर्थ समझनेमें हमें होशियारी रखनेकी जरूरत है। उसका अनुभव शब्दोंकी कैदमें नहीं आना चाहता। जिसका सन्तको प्रत्यक्ष होता है, वह तत्त्व उसकी स्वयं समझमें आनेवाली चीजसे बहुत बड़ा है। उसकी समझ थोड़ी और दर्शन महान् होता है। उसके दर्शनका नमूना उसकी जिन्दगीमें कुछ-कुछ मिलता है लेकिन उसके शब्द उसे पूरी तरह अदा नहीं कर पाते। उसके शब्दोंमें सङ्गति नहीं होती, इसीलिये पीछे आनेवाले भीरु भक्त उसके शब्दोंका मनमाना अर्थ करके दुनियामें मिथ्या विश्वासोंका बोझ बढ़ाते हैं।

मैं इस बातको नहीं मान सकता कि बुद्ध भगवान्ने अपने गम्भीर ध्यानमें असली तत्त्वका जैसा दर्शन किया, वह पुराने ऋषि और सन्तोंके दर्शनसे कुछ अलग था। पर शाक्य मुनिमें एक बात औरोंसे भिन्न पायी जाती है। उन्होंने जान लिया था कि कोरी बुद्धिके बलपर तत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता और जो लोग लिखे वाक्योंसे या दलीलोंसे तत्त्वके बारेमें सन्तोष मानकर बैठ जाते हैं उनमें जिज्ञासुकी सचाई नहीं होती। इसलिये शब्दोंकी कैदमें असलियतको जकड़नेका उन्होंने विरोध किया। उन्होंने सदा यही कहा कि अपने जीवनके रास्तेसे उस झाँकीको देखनेका यत्न करो। उनके भक्त अनेक बार यह चाहते कि कुछ [illegible] या संकेत भगवान् बतावें जिससे हमारा [illegible] कुछ शान्त हो, पर उनकी इस नासमझीपर भगवान्ने सदा ही एक मुस्कराहटके साथ हँस दिया और वे कह देते—'अगर सचाईको जानना चाहते हो, तो उसमें घुसकर खुद अपना रास्ता बनाओ। अगर दुनियाको समझनेकी तुममें सच्ची चाह है तो अपने भीतर ही तलाश करो।'

भगवान्के जीते-जी और उनके कुछ सदियों बादतक उनके भक्तलोग धैर्य और लगनसे उनके बताये रास्तेपर स्वयं चलते रहे। उस राहसे उन्होंने भी उस तत्त्वको देखा जिससे शंकाएँ मिट जाती हैं। लेकिन वक्त गुज़रनेसे असली ज्योति फीकी पड़ गयी, और बुद्ध-धर्ममें ही कुछ लोग हुए जिन्होंने भगवान्के मौनका अर्थ यह लगाया कि वे ईश्वर या परम तत्त्वकी हस्तीसे इन्कार करते थे। उन्होंने भुला दिया कि मौनकी भाषाका अर्थ 'हाँ-नहीं' कुछ नहीं है। मौनके माने हैं तत्त्वकी अनिर्वचनीयता। खुद देखो और अनुभव करो। पर इन लोगोंकी इन्कारीने बुद्ध-धर्मको सिर्फ नीति-धर्मका रूप दे दिया।

पहली शताब्दीमें अश्वघोषने इसके विरुद्ध आवाज़ उठायी। उसने बुद्धि और हृदयका मेल करके अनत्ता [अनात्मा] और निर्वाणका अर्थ समझाया। दुःखपूर्ण संसारसे तारनेको उन्होंने महायान पन्थ चलाया जिसपर चलकर सब निर्वाण प्राप्त कर सकें। महायानकी तीन मुख्य शिक्षाएँ हैं—

(१) भूततथाताका सिद्धान्त।

(२) धर्मकाय, सम्भोग और निर्माणकाय—इस त्रिकायका सिद्धान्त।

(३) बुद्ध अमिताभकी करुणासे निर्वाणकी प्राप्ति।

भूततथाता बौद्ध-धर्मका ईश्वर है। 'तथाता' ही परिवर्तनशील दृश्य संसार, नाना पदार्थ और व्यक्तियोंका तथात्व या सच्चा स्वरूप है जो सबमें व्याप्त रहता हुआ भी स्वयं एकरस और सनातन है। इसे इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकतीं। यह प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय नहीं है।

त्रिकायका सिद्धान्त दृश्य पदार्थोंकी एकताका सिद्धान्त है। सांसारिक स्थितिका कारण निर्माण-काय है। संसारमें जन्म लेकर या निर्माणकायमें आकर सुख-दुःखका भोग करते ही बनता है। सम्भोगकायको निर्माणकायसे जुदा नहीं किया जा सकता। इन दोनोंका सञ्चालन धर्मकायसे होता है। इसीलिये धर्मकी शरणमें जानेसे सम्भोग और निर्माणसे छूटकर निर्वाण प्राप्त होता है। धर्म कोई पन्थ या मत नहीं है। धर्म ब्रह्माण्डकी मौलिक-शक्ति है जिसके अनुशासनसे कर्मका विधान चलता है। धर्मकायका शुद्ध रूप 'भूततथाता' है।

बहुतोंको इससे आश्चर्य हो सकता है कि बौद्ध-धर्ममें भी भगवान्की करुणासे निर्वाणकी प्राप्ति मानी गयी है। पर यह सच बात है। हाँ, महायान-धर्म सिखाता है कि भगवान्की करुणामें विश्वास रख-कर निर्वाण पानेके लिये दान, धर्म, पुरुषार्थ, धैर्य, शान्ति आदि गुणोंमें श्रद्धा होना आवश्यक है।

मुझे जिस धर्मसे शान्ति मिलती है उसके कुछ सिद्धान्त ऊपर दिखाये हैं। जिन लोगोंका विश्वास दृढ़ है कि अन्तिम तत्त्व इस दृश्य नश्वर संसारसे परे ध्रुव सत्ता है उनको जब बुद्ध भगवान्के उप-देशोंसे शान्ति प्राप्त होती है तब यह इस बातमें प्रमाण है कि बुद्धधर्ममें परम तत्त्वके अस्तित्वको माना गया है। मेरे विचारसे इस तरहके किसी सबूतकी ज़रूरत नहीं है क्योंकि परम तत्त्व कहने-सुननेकी बात नहीं, वह स्वयं अनुभवमें लानेके लिये है। वहाँ भाषा मौन है और कर्म एक है—

बुद्धं शरणं गच्छामि।

ईश्वर और उसकी उपासना

(लेखक-श्रीवृन्दावनदासजी बी० ए०, एल-एल० बी०)

एक धार्मिक पुरुष परब्रह्म परमात्मासे जाग्रत् सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। वह उस ईश्वरसे, उस परमात्मासे जिसका कि उसकी आत्मा एक सूक्ष्मतम भाग है, जहाँतक सम्भव हो सके एक सचेतन सम्बन्ध स्थिर करनेकी चिन्तामें रहता है। मनुष्यकी इस आवश्यकताकी पूर्ति उपासनाके द्वारा होती है। जब तत्त्वदर्शी महर्षि वेदव्यास लोक-कल्याणके लिये महाभारत और ब्रह्मसूत्रोंकी रचना कर चुके और उन्हें इसपर भी शान्ति-लाभ न हुआ तो देवर्षि नारदने उन्हें ईश्वरका गुणानुवाद गान करनेकी सम्मति दी। उनके परामर्शके अनुसार व्यासजीने श्रीमद्भागवतमें ईश्वरका गुणगान किया और ऐसा करनेसे उन्होंने वह मानसिक शान्ति प्राप्त की जिसके लिये कि वे लालायित थे और जिसको अद्यावधि प्राप्त नहीं कर सके थे।

परमेश्वरके प्रति प्रेमकी अभिव्यञ्जनाको, सम्मान-के प्रदर्शनको, उससे सम्मिलनकी अभिलाषा प्रकट करनेको, परमात्मासे आत्माकी एकता अनुभव करनेको उपासना कहते हैं। उपासनाके अनेकों रूप हैं। ईश्वरकी पूर्णताके गुणानुवादको, उसकी विशाल शक्तियोंके स्मरणको, उसकी शक्तिशालिनी मायाके अनुभव करनेको, उसके दर्शनोंकी उत्कट लालसाको उपासना कह सकते हैं। उपासकोंकी मनोवृत्तियों अथवा उनकी बुद्धिके विकासके अनुसार विभिन्न प्रकारकी उपासनाएँ होती हैं। चाहे वह कृषक हो अथवा दर्शन-शास्त्र-विशारद, सबमें एक ही उत्कट इच्छा विद्यमान है और वह है ब्रह्मको प्राप्त करनेकी। विभिन्न-भावव्यञ्जनाओंका कारण है मनुष्योंके मानसिक विचारोंकी और बुद्धिकी विषमता। परन्तु लक्ष्य सबका एक ही है।

सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, अखिलेशकी पूजा नहीं की जा सकती। कारण उसका कोई रूप नहीं है अतः अचिन्त्य है। किसी पदार्थकी उपासनाके लिये उसके अस्तित्वकी आवश्यकता है जिससे उस-पर चित्तकी वृत्तियाँ ठहर सकें और भाव-विकार

उत्पन्न हो सकें। ईश्वर सगुण ब्रह्मके रूपमें पूजाकी वस्तु है जिसतक हमारी प्रार्थना एवं आराधना पहुँच सकती है और जिसका मनन भी किया जा सकता है। एक ही ईश्वरके अनेकों नाम रखकर लोग उसकी पूजा करते हैं। मनुष्य उसीको शिव, विष्णु, महादेव, नारायण, दुर्गा, लक्ष्मी, गणेश, इन्द्र, अग्नि, सरस्वती तथा अनेकों अवतार राम, कृष्ण, बुद्ध आदिकी संज्ञा देकर उसकी आराधना करते हैं। किसी रूपमें अथवा आकारमें सही, पूजा होती है एक ईश्वरकी ही।

इस विषयको भलीभाँति समझनेसे एक बहुत बड़ी गुत्थी सुलझ जाती है। लोग कहते हैं कहीं शिवको ईश्वर माना जाता है कहीं विष्णुको; कहीं इस पुराणको मान्य लिखा है कहीं उसको। परन्तु समझनेकी आवश्यकता है कि शिव और विष्णु एक ही ईश्वरके दो नाम हैं और भिन्न-भिन्न पुराण भिन्न-भिन्न देवताओंके नामसे केवल ईश्वरका ही गुणगान कर रहे हैं।

उपासक अपनी इच्छाके अनुसार एक कल्पित वस्तुको ईश्वर मानकर उसकी उपासना कर रहा है और उसीका मनन कर रहा है। वह ईश्वरका आकार अपनी रुचिके अनुसार गढ़ता है। परन्तु वह इसप्रकार प्रतिमाकी पूजा कदापि नहीं कर रहा है वरं उस ईश्वरकी अर्चना कर रहा है जो उस प्रतिमाके भीतर है अथवा वह प्रतिमा जिसकी केवल प्रतिनिधिमात्र है। स्त्री अपने पतिसे प्रेम करती है न कि उसके वस्त्रोंसे। ठीक इसी प्रकार उपासकका आशय ईश्वरसे प्रेम करनेका है न कि प्रतिमासे। जिसप्रकार वस्त्र पहननेवालेके कारण प्रिय हैं ठीक उसी प्रकार प्रतिमा भी ईश्वरके ही कारण सम्मानकी वस्तु है। एक उपासक ईश्वरको प्रेमकी मूर्ति समझकर, दूसरा उसको सौन्दर्यका समूह मानकर और तीसरा उसको शक्ति-[?]जानकर उसकी उपासना करता है। हम तुच्छ जीव ईश्वरकी महत्ताको कहाँतक समझ सकते हैं?

उपर्युक्त वर्णनको पढ़कर यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि मत-मतान्तरोंके परस्पर कलह नितान्त हास्यास्पद हैं। सब एक ही ईश्वरकी उपासना कर रहे हैं। भेद है केवल भिन्न-भिन्न नामोंका जिनको उपासकोंकी भिन्न रुचिने उत्पन्न किया है। इस भेदका कारण है उपासकोंकी रुचि-विभिन्नता न कि उपास्यदेव ईश्वरकी। भगवान् कहते हैं—

'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।'
....।
'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥'
(गीता १२। ३, ४)

जो अप्रत्यक्ष रूप, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, (सबके मूलमें रहनेवाले) अचल और ध्रुव तथा अक्षर (ब्रह्म) की उपासना करते हैं, वे सब प्राणियोंके हितमें प्रीति करनेवाले मुझ निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं—

'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥'
(गीता १२। ५, ६, ७)

अव्यक्तमें आसक्त चित्तवालोंको अधिक क्लेश होते हैं क्योंकि देहधारी (व्यक्त) मनुष्योंको अव्यक्त उपासनाकी गति दुःखसे प्राप्त होती है अर्थात् निर्गुण-पदकी प्राप्ति देहाभिमानी पुरुषोंको कठिनतासे होती है। परन्तु जो मुझमें सब कर्मोंको समर्पण करके मुझको ही लयस्थान समझ अद्वैत बुद्धिसे मेरे ही ध्यानमें प्रवृत्त होकर मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, हे पार्थ! मुझमें चित्त लगानेवाले उन लोगोंका इस मृत्युरूपी संसारसागरसे मैं थोड़े ही कालमें उद्धार कर देता हूँ।

भक्तकी बात

(लेखक—स्वामी श्रीभोलेबाबाजी)

(१) संसार दुःखका भण्डार, निस्सार है,भगवद्-भजन ही सार है, जिसने ईश्वरकी शरण ली, उसका बेड़ा निश्चय होता पार है, जो ईश्वरसे विमुख हुआ, वह जन्मता-मरता बारम्बार है !

(२) भगवान्‌के अर्चनसे, भगवन्नामके जपसे, भगवन्मूर्तिके ध्यानसे, भगवद्गुण-कीर्तनसे, हरिके स्मरणसे, भगवत्‌की पुण्यकथाके श्रवणसे, भगवान्‌की वन्दना करनेसे, शिवके सेवनसे, भगवत्‌के चरणोदक-का पान करनेसे, भगवान्‌को निवेदन किया हुआ भोजन करनेसे, भगवान्‌को सब कर्म अर्पण करनेसे, ईश्वरको आत्म-निवेदन करनेसे, भक्तोंके पुण्य संसर्गसे, पुण्यतीर्थके सेवन करनेसे मनुष्योंकी भगवान्‌में भक्ति उत्पन्न होती है ।

(३) जहाँ श्रीहरिका पूजन और शंकरका स्मरण नहीं होता, वहाँ नित्य ही मनुष्य अपना सिर पीटते रहते हैं, इसमें संशय नहीं है और जहाँ ये दोनों होते हैं, वहाँ सदा शान्ति निवास करती है ।

(४) तभीतक जन्म-मरणरूप संसार है, जब-तक मुक्ति नहीं होती और विश्वनाथमें प्रीति हुए विना करोड़ों जन्मोंमें भी मुक्ति होना सम्भव नहीं ।

(५) जिनके चित्त काम-क्रोधसे अन्धे हो रहे हैं, जो अज्ञानी और संशय-आत्मा हैं, उनमें ब्रह्माण्ड-को पवित्र करनेवाला प्रेम होना दुर्लभ है ।

(६) जो विषयोंमें दोष देखता है और जगन्नाथ-में सुख, शान्ति और कल्याण देखता है, वह संसार-समुद्रसे शीघ्र ही पार हो जाता है ।

(७) उत्तम कुलमें जन्म, यज्ञ-सूत्र, विद्या और दीक्षा निष्फल ही हैं, यदि मनुष्यकी आदि अव्यय पुरुष विष्णुमें भक्ति न हो ।

(८) भक्तोंका हृदय-क्षेत्र मुकुन्द भगवान्‌का प्रिय मन्दिर है । भक्तोंके हृदयमें भगवान् लीला और विनोद करते हैं ।

(९) भगवत्‌की महिमा भागवतमें—भक्तमें दिन-रात भासती है । सत्शास्त्रका शुद्ध व्याख्यान भक्तका कर्म है ।

(१०) ईश्वर दुर्विज्ञेय है, भक्तके देहद्वारा प्रकाशित होता है, इसलिये सुभक्तोंका संग मुक्तिका देनेवाला है ।

(११) भक्तको अपना-पराया नहीं होता, समस्त वसुधा उसका कुटुम्ब है, क्योंकि सबमें वह एक अपने आत्मा महाविष्णुको ही देखता है ।

(१२) धनसे क्लेश, मद, हिंसा उत्पन्न होती है और धर्मकी भी हानि होती है, इसलिये भक्त भवेश्वरसे धन नहीं माँगता, केवल भक्ति ही माँगता है ।

(१३) देह दुःखमय, दीनतामय, अशुद्ध और विनश्वर है, ऐसा समझकर भक्त जनार्दनसे देहके सुखके लिये प्रार्थना नहीं करता, ईश्वरकी भक्तिके लिये ही प्रार्थना करता है ।

(१४) कामसे वीर्य, धर्म, बुद्धि और सत्य सभी-का नाश होता है, इसलिये भक्त सर्व कामनाओंको त्यागकर भगवच्चरणोंमे ही प्रीति करता है ।

(१५) भोग-सुखकी तो बात ही क्या है, सच्चा भक्त दुर्लभ कैवल्य-पदकी भी वाञ्छा नहीं करता किन्तु भगवच्चरणाम्बुजकी दृढ भक्ति ही चाहता है ।

(१६) भक्त सर्वदा इसप्रकार भगवत्से प्रार्थना करता है—हे भगवन् ! मेरी वाणी सर्वदा आपके पवित्र नामका कीर्तन करे, मेरे हाथ निरन्तर आपके पाद-कमलोंका सेवन करें, मेरे श्रोत्र नित्य आपके कथामृतका पान करें, मेरा मन आपके शान्तिमय चरणोंका ही सदा स्मरण करे, मेरे हृदयाकाशमें कोटि सूर्यसम प्रभावाले आप निवास करें, हे जनार्दन ! जब मेरा चित्त आपके चरणोंसे विमुख हो तब हे दयासागर ! उसे अपने चरणोंमें ही लगा लीजिये। हे महेश्वर ! मैं सदा आपका ही ध्यान करूँ, आपको ही सर्वत्र देखूँ, आपको ही नमस्कार करूँ, ऐसा कीजिये। हे जगत्-बन्धो ! आपको नमस्कार है। हे परमात्मन् ! आपको नमस्कार है। हे विश्वेश्वर ! आपको नमस्कार है। हे देवादिदेव, हे परिपूर्णस्वरूप ! आपको नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है।

(१७) ब्रह्म ही केवल सत्य है, जगत् मिथ्या है, ब्रह्म ही मैं हूँ, मैं ही ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान मुक्तिका देनेवाला है।

(१८) ध्यानसे निर्मल अन्तःकरणमें वैराग्य और ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिये नित्य शुद्ध और निर्मल मनकी अपेक्षा है। चाहे सगुण साकारका ध्यान करे, चाहे निर्गुण निराकारका ध्यान करे, अपने इष्टदेवको परिच्छिन्न कभी न समझे।

(१९) मनको निर्विषय करके परम अद्वय महाशम्भु देवका निरन्तर ध्यान करे।

(२०) ऊपर पूर्ण है, नीचे पूर्ण है, मध्य पूर्ण है, सदात्मक है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है, पुरुष है, ब्रह्म है, विष्णु है, सर्वगत है, विभु है, अज है, सत्य है, ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, सनातन है, निराकार है, निराधार है, निरालम्ब है, निराश्रय है, अविभक्त है, अखण्ड है, निष्कल है, निरंशक है, एकरूप है, सदा शान्त है, निर्भेद है, सुस्थिर है, सम है, धूम-रहित अग्निके समान है, सर्वतेजोमय परम देव है, भा-रूप है, पूर्ण चैतन्य है, स्वप्रकाश है, चिदात्मक है, आनन्द है, परमानन्द है, पूर्णानन्द है, महाशिव है, भूमानन्द, सदानन्द, परानन्द, परात्पर है। ऐसे ध्यानसे सत्य-परावर ब्रह्मका साक्षात्कार होते ही सब कर्म छूट जाते हैं और समस्त बन्धन टूट जाते हैं।

(२१) सुख-दुःखमें जिसके मुखकी प्रभा नित्य एक-सी रहती है, जो आत्मामें ही तृप्त है, आत्मामें ही सन्तुष्ट है, आत्मामें ही क्रीडा करता है, आत्मामें ही रति करता है, निन्दा सुनकर जिसके मनमें क्षोभ नहीं आता और प्रशंसा सुनकर जो हर्षित नहीं होता, वही भक्त है, वही जीवन्मुक्त है, वही महात्मा है, वही सेवनीय और पूजनीय है।

(२२) जो जाग्रत्-अवस्थामें सुप्तके समान बर्तता है, सब दोषोंसे निर्मुक्त है, मरनेकी जिसको चिन्ता नहीं, जीनेकी इच्छा नहीं, जो जगत्में जड नहीं देखता किन्तु सर्व चिन्मय देखता है, सदा ही जिसको ब्रह्मभाव है, वह भक्त जीवन्मुक्त वसुधाको पवित्र करनेवाला है। ब्रह्मादि देवता भी उसको नमस्कार करते हैं।

(२३) जो सब तजता है, हरि भजता है, वह बिना इच्छा किये हुए भी मुक्त ही है, इसमें संशय नहीं है।

दार्शनिक विचारोंका केन्द्र ईश्वर

(लेखक —म० श्रीरघुवराचार्यजी वेदान्त-केसरी न्यायमीमांसोपाध्याय तर्कवेदान्ततीर्थ वेदान्त-शिरोमणि, दर्शननिधि)

(ईश्वरांकसे आगे)

इस विषयका स्पष्टीकरण प्रत्येक दर्शनसे उद्धृत किये गये निम्न प्रमाणोंसे पूर्णतया व्यक्त होता है।

दार्शनिक-मूर्धन्य कुमारिल भट्टने श्लोकवार्तिकमें लिखा है कि—

> धर्मे प्रमीयमाणे तु वेदेन करणात्मना।
> इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति॥

अर्थात् वेदसे धर्मका निर्णय करनेमें वास्तविक इतिकर्तव्यता-भागको मीमांसाशास्त्र पूर्ण करता है। यहाँपर धर्म शब्दसे यज्ञ और परमपुरुषार्थ (दुःखका अत्यन्ताभाव) साधक पुण्यातिशय यह दोनों लिये जाते हैं। कारण कि 'यज्ञेन यज्ञमजयन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' इस वेदवाक्यमें यज्ञको भी धर्म शब्दसे कहा गया है। और 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः,' (१।१) इस वैशेषिक-सूत्रके अनुसार परमपुरुषार्थ मोक्षकी सिद्धि जिससे हो वह धर्म है, यह स्पष्ट होता है। उस मोक्षकी सिद्धि परमात्मरूपके यथार्थ ज्ञानसे होती है। यही उत्तर-मीमांसाकार भगवान् द्वैपायनका सिद्धान्त है। अतः पूर्व-मीमांसाकार महर्षि जैमिनि अपने गुरु द्वैपायन-मुनिके सिद्धान्तके पोषक हैं, विघातक नहीं। उन्होंने ईश्वर-तत्त्वके वास्तविक ज्ञान होनेके लिये अन्तःकरणकी शुद्धि होना परमावश्यक जानकर कर्मोंके स्वरूपका निर्णय करते हुए उसके अनुष्ठानसे चित्त निर्मल होता है इसका पूर्व-मीमांसामें उपदेश दिया है। ईश्वरास्तित्वके निषेधमें उनका तात्पर्य कदापि नहीं हो सकता। कारण कि, कर्म और उपासना ये दोनों ईश्वरप्रीतिके उत्पादक हैं। इन दोनोंको एककार्य-सम्पादकता है इसीलिये कर्म और उपासनाके प्रतिपादक पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा-शास्त्रकी एकवाक्यता भी पूर्वाचार्योंने स्पष्ट ही बतलायी है। अभिप्राय यह कि जैसे वेदान्तका तात्पर्य ईश्वररूपमें है वैसे ही पूर्वमीमांसाका तात्पर्य भी यज्ञादि कर्मद्वारा आराधित परमात्मामें ही है। ईश्वरका विशेष विवेचन तो पूर्वमीमांसामें इसलिये नहीं है कि वह ईश्वरोपासनाके पूर्व साधन-कर्मोंको उद्देश्य करके ही प्रवृत्त होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पूर्वोत्तरमीमांसाका मुख्य तात्पर्य ईश्वरमें है। जिसप्रकार मीमांसा-द्वयका एक तात्पर्य है ठीक इसी प्रकार न्याय और वैशेषिक इन दोनों दर्शनोंका भी एक ईश्वर-तत्त्वमें तात्पर्य है। अतएव दोनों दर्शनोंके सिद्धान्तोंको एकरूपसे समस्त विद्वान् जानते और मानते हैं। षोडशपदार्थवादी महर्षि गौतम और सप्तपदार्थवादी महर्षि कणादने जगत्का नियन्ता और धर्माधर्मका प्रेरक ईश्वरको माना है। इन दर्शनोंके प्रखर विद्वान् नैयायिक-शिरोमणि उदयनाचार्यने तो ईश्वरको उद्देश्य करके 'कुसुमाञ्जलि' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ ही बनाया है। जिसमें ईश्वर-तत्त्व-सम्बन्धी समस्त शंकाओंका समाधान बड़ी विद्वत्ताके साथ किया गया है। वे आरम्भमें ही लिखते हैं—

> स्वर्गापवर्गयोर्द्वारमामनन्ति मनीषिणः।
> यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते॥

अर्थात् जिस ईश्वरकी उपासनाको विद्वान् स्वर्ग और मोक्षका मार्ग बतलाते हैं उस परमात्माका मैं इस ग्रन्थमें निरूपण करता हूँ। इससे ईश्वर-मनन ही एकमात्र मोक्षका हेतु है यह सिद्ध होता है। आगे चलकर आचार्य लिखते हैं—

'इह यद्यपि यं कमपि पुरुषार्थमर्थयमानाः शुद्धबुद्धस्वभाव इत्यौपनिषदाः, आदिविद्वान् सिद्ध इति कापिलाः, क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय सम्प्रदायप्रवर्तकोऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जलाः, लोकवेदविरुद्धैरपि निर्लेपः स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपताः, शिव इति शैवाः, पुरुषोत्तम इति वैष्णवाः, पितामह इति पौराणिकाः, यज्ञपुरुष इति याज्ञिकाः, निरावरण इति दिगम्बराः, उपास्यत्वेन देशित इति मीमांसकाः, यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिकाः, लोकव्यवहारसिद्ध इति चार्वाकाः, किम्बहुना कारवोऽपि यं विश्वकर्मेत्युपासते तस्मिन्नेवं जातिगोत्रप्रवरचरणकुलधर्मादिवदासंसारं प्रसिद्धानुभावे भगवति सन्देह एव कुतः? किं निरूपणीयं तथापि,

> न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक्।
> उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता॥

श्रुतो हि भगवान् बहुशः श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेष्विदानीं मन्तव्यो भवति श्रोतव्यो मन्तव्य इति श्रुतेः ।

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥

इति स्मृतेश्च (न्या० कु० प्र० स्त०)

इस आवश्यकीय प्रबन्धसे आचार्यने न्यायशास्त्रका 'सर्वस्व' ईश्वरको माना है । 'यं कमपि' इस प्रतीकको लेकर विद्वद्वर श्रीवर्धमान लिखते हैं—

'यं कमपि मोक्षादिकं स्वाभिमतं पुरुषार्थमर्थयमाना यमीश्वरमुपासते मननविषयीकुर्वन्ति औपनिषदा इत्यादौ सर्वत्र सम्बन्धः ।'

अर्थात् अपने अभिलषित मोक्षादि किसी भी पुरुषार्थकी कामनावाले जिस ईश्वरका मनन करते हैं । 'भगवति सन्देह एव कुतः ?' इस वाक्यसे दर्शनशास्त्रका परमतत्त्व ईश्वरको सिद्ध किया है । पञ्चमस्तवकमें स्वग्रन्थ-प्रतिपाद्य ईश्वरसे इसप्रकार प्रार्थना की है—

इत्येवं श्रुतिनीतिसंप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः ।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः ।

इसप्रकार श्रुति और न्यायरूप प्रभूत जलसे बारम्बार आक्षालित होनेपर भी जिनके हृदयमें ईश्वरके माननेके लिये स्थान नहीं है वे वस्तुतः पाषाणहृदय हैं, किन्तु हे कारुणिक ! इसप्रकार ईश्वरतत्त्वमें प्रतिकूल विचारवालोंको भी किसी समय आप कृपया पालन करें अर्थात् शंका-कलंकसे विमुक्त करें ।

इसी प्रकार—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ।
(४ । १ । १९)

तथा—

तत्कारितत्वादहेतुः । (४ । १ । २१)

इन न्यायसूत्रोंके वात्स्यायन-भाष्यमें और उद्योतकराचार्य-विरचित न्याय-वार्तिकमें सर्वसत्ताधीश्वर ईश्वरको ही कर्म-फल-प्रदाता और जगत्-कारण माना है ।

इस द्वितीय सूत्रके वार्तिकमें केवल कर्मवादी मीमांसकैकदेशी और केवल प्रधानकारणतावादी सांख्यके मतोंका पूर्णतया समाधान करते हुए 'अथैकमितर अतिशेते ? योऽतिशेते स ईश्वरो नेतर इति' इत्यादि वाक्योंसे एक ईश्वरका ऐश्वर्य सर्वोत्कृष्ट सिद्ध किया है । ईश्वर पुरुषके कर्मोंकी अपेक्षा करके जिस कर्मका जिस समय जैसा परिपाककाल है उस समय वैसा ही उसका विनियोग करता है । जो कोई ईश्वरको कर्मानपेक्ष-कारण मानते हैं, उनके मतमें अनिर्मोक्षत्वादि दोष आ सकते हैं । कर्मसापेक्ष ईश्वरकी कारणता माननेपर एक भी दोष नहीं आता ।

तात्पर्य यह है कि कोई कालको और कोई प्रकृतिको जगत्का निमित्तकारण मानते हैं किन्तु ये दोनों मत ठीक नहीं हैं । कारण कि परमाणुओंके अचेतन होनेके कारण बुद्धिमान् चेतन ही उनका अधिष्ठाता हो सकता है । जैसे बढ़ईके अचेतन समस्त उपकरण अपनी प्रवृत्तिके लिये केवल बढ़ईकी ही अपेक्षा रखते हैं अन्यकी नहीं । अतः जगत्का उपादानकारण परमाणु और निमित्तकारण ईश्वर है ।

यहाँपर यह आशंका हो सकती है कि लोकमें जो कोई कार्यका कर्त्ता होता है वह हेयोपादेयरूप कुछ उद्देश्य रखता है किन्तु ईश्वरको दुःख न होनेके कारण हेय कुछ नहीं और पूर्णकाम होनेके कारण उपादेय भी कुछ नहीं; इस स्थितिमें जगत्-कर्त्ता ईश्वर कैसे हो सकता है ? क्रीडाके लिये जगत्की रचना करता है यह भी युक्त नहीं 'क्रीडा हि नाम रत्यर्थं भवति विना क्रीडया रतिमविन्दतां न च रत्यर्थी भगवान् दुःखाभावादिति' (न्याय-वार्तिक) 'किसी प्रीति-विशेषके लिये क्रीडा होती है, ईश्वरको दुःखके न होनेसे सार्वदिक प्रीति है । अतः क्रीडाके लिये भी जगत्कर्तृत्व ईश्वरमें युक्त नहीं है । अपना माहात्म्य प्रकाशित करना, यह भी प्रयोजन ठीक नहीं । ईश्वरको अपने महत्त्व प्रकाशित करनेकी आकांक्षा नहीं हो सकती । इससे भी ईश्वरमें कोई अतिशय नहीं प्राप्त होता । अतः ईश्वर जगत्-कर्त्ता नहीं है ।' इस लम्बी शंकाका समाधान न्यायवार्तिकमें केवल यही किया गया है । 'तत्स्वाभाव्यात्प्रवर्त्तत इत्यदुष्टम्' जैसे भूमि आदि तत्त्व अपने स्वभावसे धारणादि क्रिया करते हैं वैसे ही ईश्वर भी अपने स्वभावसे ही जगत्की रचनामें प्रवृत्त होता है । यह प्रवृत्ति-स्वभाववाला तत्त्व है ।

अब शंका यह होती है कि यदि ईश्वर प्रवृत्ति-स्वभाव है तो सर्वदा प्रवृत्ति ही करता रहेगा । तब सांख्य-दर्शनके प्रधानसे इसमें क्या विशिष्टता हुई । इसका

उत्तर यह है कि ईश्वर बुद्धिपूर्वक प्रवर्तक है, अतः जैसे-जैसे कारण उपलब्ध होते जायँगे, ईश्वर उसी प्रकार कार्य करता जायगा। प्रत्येक कार्यकी धर्माधर्मादिरूप कारण-सामग्रीका भी कार्यनिर्माणमें ईश्वर उपयोग लेता है। अतः उपर्युक्त दोष नहीं है।

इसी प्रकार बद्ध और मुक्त इन दो प्रकारके आत्माओंमेंसे ईश्वर एक भी नहीं है। क्योंकि दुःख-परतन्त्र ही बद्ध माना जाता है। वही उत्तरकालमें दुःखका अत्यन्ताभाव हो जानेपर मुक्त कहा जाता है। हमारे ईश्वरमें कदाचित् भी बद्धकी सम्भावना नहीं। अतएव उसको मुक्त भी नहीं कह सकते। वह तो इन दोनों प्रकारोंसे रहित है और जगत्का निमित्तकारण है।

इसी प्रकार आगे चलकर इसी सूत्रके अन्तिम वार्तिकमें—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरः प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥
यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति॥

अज्ञ जीवात्मा अपने सुख-दुःखके नियन्त्रणमें असमर्थ है, उसका नियामक ईश्वर है, उसकी प्रेरणासे वह स्वर्गमें या गड्ढेमें भी जा सकता है। जब वह परम पुरुष प्रवृत्ति-परायण होता है तब यह जगत् भी चेष्टित होता है और वह शान्त होता है तब जगत् भी स्वकारणमें लीन होकर चेष्टारहित हो जाता है।

इन दो श्रुतियोंका प्रमाण देते हुए ईश्वर-प्रेरणया सब कार्यकी सिद्धि बतलायी है। इसलिये न्यायदर्शन और वैशेषिकदर्शन इन दोनों दर्शनोंका भी प्रतिपाद्य ईश्वर ही है।

सांख्य और योग ये दोनों दर्शन प्रधानकारणवादी होनेके कारण एक ही माने जाते हैं। इन दोनों दर्शनोंका भी तात्पर्य ईश्वरके अस्तित्वमें पूर्णतया है। कारण कि योगदर्शनमें शीघ्र समाधि-सिद्धिके कारणोंका निर्देश करते हुए महर्षि पतञ्जलि यह सूत्र लिखते हैं 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (१।१।२३) इसका वेदव्यास-भाष्य इसप्रकार है—

'प्रणिधानाद्भक्तिविशेषात् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानादपि योगिनः आसन्नतमः समाधिलाभः फलश्च भवति इति'

—भक्तिविशेषसे प्रसन्न ईश्वर अपने सत्सङ्कल्पसे उस योगीके ऊपर अनुग्रह करते हैं, इससे अति शीघ्रतासे उसको समाधिलाभ होता है। इसके पश्चात् महर्षि वेदव्यासजीने यह शंका उठायी कि—

'अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति'

—अर्थात् प्रधान और पुरुषसे भिन्न यह ईश्वर कौन है? इस भाष्यका अवतरण करते हुए विज्ञानभिक्षुने योगवार्तिकमें कहा है कि प्रधान और पुरुषसे भिन्न ईश्वरका क्या लक्षण है? इस प्रश्नके उत्तरमें महर्षि पतञ्जलिने यह लिखा है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
(१।१।२४)

अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और वासनासे असम्बद्ध (रहित) पुरुषविशेष ही ईश्वर है। 'पुरुषविशेष ही ईश्वर है' इस कथनसे ईश्वरका पुरुषमें अन्तर्भाव किया गया। क्लेशादिसे जो सर्वदा रहित है वह ईश्वर है। सिद्ध जीवको कदाचित् क्लेशसम्बन्ध हो सकता है। अतः उससे व्यावृत्ति हुई। यहाँपर यह शंका होती है कि 'यदि क्लेशादिरहित ही ईश्वर मान लिया जावे तो कैवल्यज्ञानप्राप्त हिरण्यगर्भादि भी ईश्वर कहे जा सकते हैं। क्योंकि पञ्चशिखाचार्यका एक वचन है—

आद्यस्तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्।
कृच्छ्रक्षयात्तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्॥

अर्थात् प्रथम मोक्ष ज्ञानसे, दूसरा रागके नाशसे और तीसरा दुःखके नाशसे माना गया है। पञ्चशिखाचार्यके कथनानुसार ज्ञान भी केवल और मोक्षपदसे कहा जाता है। इसका समाधान वेदव्यासजी इसप्रकार करते हैं—

ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ता ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य।

अर्थात् हिरण्यगर्भादि महात्मा पूर्वावस्थामें वर्त्तमान प्राकृतिक बन्धको नाश करके मुक्त हुए हैं। सार्वदिक क्लेशशून्य नहीं हैं और ईश्वर तो सर्वदा क्लेशादिरूप बन्धत्रयसे रहित है। इसमें श्रुति प्रमाण भी है—

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः।
कर्मात्मा पुरुषो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते।'

अतः प्रकृति और पुरुषसे ईश्वर भिन्न है। इसीका साधक महर्षि पराशरका विष्णुपुराणमें वचन है कि—

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ॥

ईश्वरने अपनी इच्छासे उन तत्त्वोंमें प्रविष्ट होकर उनको क्षुभित किया। इस विषयमें प्रमाणभूत अनेक वेद-वाक्य हैं, वे सब वेदान्तप्रकरणमें लिखे जायँगे। इसी प्रकार—

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।
(यो०द० १।१।२६)

इस सूत्रमें भी यह स्पष्ट किया गया है कि वह ईश्वर पूर्वकालीन ब्रह्मादि देवोंका भी पिता है, क्योंकि ब्रह्मादि देव द्विपरार्द्धादिकालसे परिच्छिन्न हैं और यह अनन्तकालसे भी अपरिच्छिन्न है।

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'
(श्वेता०)

इसप्रकार योगदर्शन तो ईश्वरकी महिमासे ही पूर्ण है।

इसीके अनुसार सांख्यमें भी ईश्वरका कहीं खण्डन न होनेसे ईश्वरांशमें पूर्ण प्रामाण्य मानना चाहिये।

कुछ लोग 'ईश्वरासिद्धेः' (सां० द० १।९२) इस सूत्रको ईश्वरनिषेधमें प्रमाणभूत मानते हैं। किन्तु यह केवल उनका भ्रम है। इस सूत्रके ऊपर विज्ञानभिक्षुने अपने भाष्यमें इसप्रकार कहा है—

ननु तथापि ईश्वरप्रत्यक्षेऽव्याप्तिः। तस्य नित्यत्वेन सन्निकर्षाजन्यत्वादिति—तत्राह ईश्वरासिद्धेः—ईश्वरे प्रमाणाभावान्न दोष इत्यनुवर्तते। अयञ्चेश्वरप्रतिषेधः ऐकदेशिनां प्रौढिवादेनैवेति प्रागेव प्रतिपादितम्। अन्यथा हीश्वराभावादित्येवोच्येत। ईश्वराभ्युपगमे तु सन्निकर्षजन्यजातीयत्वमेव प्रत्यक्षलक्षणं विवक्षितम्।

पूर्वमें प्रत्यक्ष-प्रमाणका लक्षण उपक्रान्त है। शंका हुई कि ईश्वर-प्रत्यक्षमें प्रत्यक्षका लक्षण नहीं जायगा। क्योंकि ईश्वर-प्रत्यक्ष नित्य है, किसी सन्निकर्षसे उत्पन्न नहीं होता। इस आशंकापर सूत्रका उत्थान है। समाधान यह है कि ईश्वरमें प्रमाण न होनेसे प्रत्यक्ष लक्षणकी अव्याप्ति नहीं है। किन्तु यह ईश्वर-प्रतिषेध एकदेशी विद्वान्‌का प्रौढिवाद मात्र है, यह हमने आरम्भभाष्यमें स्पष्ट उपपादन किया है। यदि वास्तविक ईश्वरनिषेध ही इस सूत्रसे अभिलषित होता तो 'ईश्वराभावात्' ईश्वरका अभाव है ऐसी ही सूत्ररचना की जाती। तात्पर्य यह है कि ईश्वरका अभाव है यह न कहकर 'ईश्वरकी असिद्धि है' यह कथन वादीके प्रति प्रौढिवादमात्र है। इसके आगे जो सूत्र हैं वे सब इससे समाहित समझने चाहिये। कथञ्चित् इस सूत्रका ईश्वर-निषेधमें तात्पर्य मान भी लिया जावे तो भी सांख्यके सर्वोत्तम विद्वान् विज्ञानभिक्षु आरम्भभाष्यमें

'ब्रह्ममीमांसाया ईश्वर एव मुख्यो विषयः।'

—इत्यादि ग्रन्थसे यह सिद्ध करते हैं कि—'प्रबल प्रमाणसे समर्थित होनेपर दुर्बल प्रमाणका बाध समझा जाता है, ब्रह्ममीमांसाका तो ईश्वर ही मुख्य विषय उपक्रमादि षड्विध लिङ्ग-तात्पर्यसे सिद्ध हो चुका है। अतः ईश्वरांशमें उसका बाध किया जाय तो समग्र वेदान्तदर्शनका अप्रामाण्य निर्विवाद सिद्ध होगा। अतएव इसका ईश्वर-स्वरूप सिद्धिरूप मुख्यार्थमें किसी प्रकार बाध नहीं कहा जा सकता। किन्तु सांख्यशास्त्रका पुरुषार्थ और उसका साधन प्रकृति-पुरुषविवेक ही मुख्य विषय है, अन्य नहीं। इस अवस्थामें ईश्वर-प्रतिषेधांशका बाध किया जाय तो भी इस शास्त्रका अप्रामाण्य नहीं होता। क्योंकि—

'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' (शाबरभाष्य)

—'शब्दसे जिसका असकृत् बोध हुआ करता है वही उस शब्दका अर्थ माना जाता है और उसीमें उसका प्रामाण्य माना जाता है। तात्पर्य यह निकला कि 'सांख्यदर्शनके ईश्वरासाधक होनेपर भी उस अंशमें वह दुर्बल माना जायगा। लेख बढ़ जानेके भयसे यहाँ अधिक विचार नहीं किया गया। अधिक जिज्ञासुओंको कुसुमाञ्जलि आदि ग्रन्थ पढ़ने चाहिये। इस उपर्युक्त कथनसे दर्शनका मुख्य विषय ईश्वर ही सिद्ध होता है। अब आगे वेदान्तदर्शनमें ईश्वरका कौन-सा स्थान है यह लिखा जाता है।

वेदान्तदर्शनके विषयमें कुछ प्रस्तावके रूपमें प्रथम मीमांसाप्रकरणमें लिखा गया है। वह 'मीमांसाशास्त्रप्रतिपाद्य भी ईश्वर ही है' इस अंशमें दृष्टान्तरूपसे दिग्दर्शनमात्र है। अब यहाँपर विशेष स्थल निर्देश किये जाते हैं।

वेदान्तका दूसरा नाम 'ब्रह्ममीमांसा' है। यह दर्शन वेदके उत्तरभाग उपनिषदोंके अर्थ निर्णय करनेके लिये

प्रवृत्त है। इस दर्शनका जो सिद्धान्त है वही वेदोंका भी सिद्धान्त माना जाता है। इस दर्शनमें ईश्वरके स्वरूप गुण और वैभवका उत्कर्ष ही प्रतिपादन किया है। इस दर्शनकी विशालता शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, रामानन्दाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य और निम्बार्काचार्य आदि साम्प्रदायिक आचार्योंके भाष्य और टीकाओंसे और भी बढ़ गयी है। इतना इस दर्शनका परिचय कराकर मैं अपने प्रकृत विषयपर आता हूँ।

ब्रह्ममीमांसा अर्थात् ईश्वर-मीमांसा यह इसका अन्वर्थ (अर्थानुगुण) ही नाम है।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (१।१।१)

इस सूत्रमें ब्रह्मपदसे ईश्वर ही लिया गया है। यद्यपि 'अद्वैतवादमें माया-शबलित ब्रह्मको ईश्वर कहा गया है। और शुद्ध ब्रह्म उससे परे माना जाता है। वह न जगत्‌का कारण है न कार्य है। मायाप्रतिबिम्बित चैतन्य ही जगत्-कारण है, इत्यादि प्रतिपादित है। किन्तु हमारे इस लेखका नायक तो वही ईश्वर है जिससे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं। जिसका स्वरूप और लक्षण वेदान्तके द्वितीय सूत्र (जन्माद्यस्य यतः) में वर्णित है। अर्थात् जो शुद्ध ब्रह्म है, वही ईश्वर शब्दसे यहाँ ग्रहण किया गया है। क्योंकि—

'ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं जन्माद्यस्य यत इति'

इस शांकरभाष्यकी भामती टीकामें किस ब्रह्मकी जिज्ञासा प्रथम सूत्रसे की गयी, ब्रह्म शब्द विप्रत्वजातिका भी वाचक है जैसे ब्रह्महत्या, यहाँपर ब्रह्म शब्द वेदका भी वाचक है, जैसे ब्रह्मोज्झम्' और ब्रह्म शब्द परमात्माका भी वाचक है, जैसे ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इस वाक्यमें है। इस शंकाका समाधान करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि—

'यतो ब्रह्म जिज्ञासां प्रतिज्ञाय तज्ज्ञापनाय परमात्मलक्षणं प्रणयति ततोऽवगच्छामः परमात्मजिज्ञासैवेयं न विप्रत्वजात्यादिजिज्ञासेत्यर्थः'

अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासाकी प्रतिज्ञा करके उसके व्यक्त करनेके लिये 'जन्माद्यस्य' इस सूत्रसे परमात्माका लक्षण करते हैं, इससे जाना जाता है कि प्रकृत सूत्रमें परमात्माकी ही जिज्ञासा की गयी है, ब्राह्मणादिकी नहीं। इस उपर्युक्त ग्रन्थसे परमात्मा पदसे बोधित 'ईश्वर' ही वेदान्तका प्रतिपाद्य है। माया-कल्पित ईश्वर नहीं, यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार श्रीरामानुजभाष्यमें—

'सर्वत्र बृहत्त्वगुणयोगेन हि ब्रह्मशब्दः बृहत्त्वश्च स्वरूपेण गुणैश्च यत्रानवधिकातिशयं सोऽस्य मुख्योऽर्थः। स च सर्वेश्वर एव'

अर्थात् बृहत्त्वगुणके सम्बन्धसे सब जगह ब्रह्म शब्दका प्रयोग ऋषियोंने किया है। वह बृहत्त्व स्वरूप और गुणसे लिया जाता है। स्वरूप और गुण ये दोनों जिस धर्मीमें निरतिशयता (पराकाष्ठा) को प्राप्त हुए हों वह ब्रह्म शब्दका मुख्य अर्थ है। ऐसा तत्त्व एकमात्र 'सर्वेश्वर भगवान् ही हैं' यह कहकर ईश्वरको ही निज मतका आधार माना है।

इसी अर्थमें अपना तात्पर्य व्यक्त करते हुए श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी भी आनन्दभाष्यमें लिखते हैं कि—

'ब्रह्मशब्दश्च महापुरुषादिपदवेदनीयनिरस्ताखिलदोषमनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणं भगवन्तं श्रीराममेवाह। सामान्यवाचकानां पदानां विशेषार्थे पर्यवसानात्'

अर्थात् ब्रह्म शब्द महापुरुष-पदसे कहे जानेवाले हेय दोषोंसे रहित और कल्याणगुणसागर भगवान् श्रीरामका ही वाचक है। क्योंकि सामान्य अर्थको कहनेवाले शब्दोंका विशेष अर्थमें ही पर्यवसान होता है। जैसे 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यहाँपर पशु पदसे 'छागो वा मन्त्रवर्णात्। (पू० मी० ६।८।३०) इस न्यायसे छाग (बकरा) रूप पुरुष-पशुका ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिये। इतने लेखसे वेदान्त-दर्शनका उपक्रम बताया गया। इससे अग्रिम सूत्रोंसे श्रुतियोंका अर्थ निर्णय करते हुए 'प्रकृति तथा परमाणु जगत्‌का कारण नहीं हो सकते और ईश्वर ही जगत्‌का कारण हो सकता है' इसका पूर्णतया उपपादन किया है। 'फलमत उपपत्तेः' (ब्र० सू० ३) इस सूत्रसे कर्म जड है, क्षणप्रध्वंसी है, उससे फल-प्राप्ति नहीं हो सकती, यह कहते हुए ईश्वरसे ही सब फलोंकी सिद्धि बतलायी है। 'आत्मान्नादो वसुदानः' (बृ० ४।४।२४) यह श्रुति इस अर्थमें प्रमाण है। इसी प्रकार—

'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' (ब्र० सू० ४।१।३)

इस सूत्रके आनन्दभाष्यकी समाप्तिमें भाष्यकार लिखते हैं कि—

'तस्मादुपासकेनात्मतया ब्रह्मोपासनीयम्'

अर्थात् उपासकको अपने अन्तर्यामी आत्मस्वरूपसे ही ब्रह्मका उपासना करनी चाहिये।

इसप्रकार समस्त वेदान्तदर्शनके आदि, मध्य और अन्तमें एक परमतत्त्व ईश्वरका ही निरूपण ज्ञात होता है। अतएव श्रुतिमें यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि—

तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

अर्थात् उसी एक ईश्वरकी उपासनाद्वारा ज्ञान प्राप्त करनेसे संसार-बन्धनसे मुक्त हो सकता है, अन्य कोई मार्ग मुक्त होनेका नहीं है।

अन्तमें मेरे इस लेखका संक्षिप्त सारांश यह है कि समस्त दर्शनशास्त्रोंका प्रतिपाद्य तत्त्व, ध्येय और ज्ञेय एक ईश्वर है। इसी ईश्वरकी सत्ता, गुण और विभूति वर्णन-कर दार्शनिक विचार कृतकृत्य होता है। यदि दार्शनिक विचारोंमेंसे एक ईश्वर-सम्बन्धी विचार निकाल लिया जाय तो दर्शनशास्त्र सर्वथा तुच्छ प्रतीत होने लगेंगे। अतः ईश्वरतत्त्वमें ही सबका पर्यवसान है। इसी प्रकार अन्य शास्त्र भी ईश्वरके स्वरूप, गुण और वैभवका प्रतिपादन कर स्वांशमें सफल होते हैं।

तीर्थ-रेणु

(गंगातीरनिवासी एक परमहंस महात्माके उपदेश)

मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य है शाश्वत शान्ति। मनुष्यकी सर्वोच्च आकांक्षा है निरन्तर सुख। मनुष्यकी उत्कट इच्छा है, सर्व प्राणियोंके प्रति प्रेम। मनुष्यकी वासना है सबसे बड़ा बनना। मनुष्यके भाव हैं, मैं ही सर्वमान्य हूँ।

मूर्ख लोग इन भावोंके वशीभूत होकर इनकी प्राप्तिके लिये उलटे उपाय करते हैं। शान्तिकी इच्छासे वे एक स्थानसे दूसरे स्थानमें भटकते फिरते हैं। यहाँसे वहाँ दौड़ते रहते हैं। इससे शान्तिलाभके स्थानमें वे और भी अशान्त बन जाते हैं।

* * *

सुखकी इच्छासे वे भाँति-भाँतिके संसारी पदार्थोंको इकट्ठा करते हैं, अच्छी-अच्छी खाने-पहननेकी सामग्रियाँ जुटाते हैं, इससे सुखके स्थानमें और भी अधिक दुखी बनते हैं। प्रेम करनेकी इच्छासे मानी और धनी लोगोंकी खुशामद करते हैं, उनकी कृपाके इच्छुक रहते हैं। इससे वे प्रेमका यथार्थ रूप न समझकर खुशामदी बन जाते हैं और परमुखापेक्षी बनकर अच्छे लोगोंकी दृष्टिमें अपनेको नीचे गिरा देते हैं।

'सबसे बड़ा' बननेकी इच्छासे वे इशारेसे, वाक्य-से, चेष्टासे, आप ही अपनी प्रशंसा करते रहते हैं। अपने सद्विचारोंका ही ढिंढोरा पीटते फिरते हैं, फिर चाहे उन विचारोंके अनुसार काम एक भी न कर सकें। इससे उनकी आत्म-प्रशंसा सुननेकी आदत बन जाती है और स्वार्थी संसारी लोग उनके मुँहपर उनकी झूठी प्रशंसा करके उनकी सभी वस्तुएँ ठग लेते हैं एवं उन्हें पतित बना देते हैं। इससे बड़े बननेके स्थानमें वे बहुत ही क्षुद्र प्रकृतिके बन जाते हैं। सर्वमान्य बननेके भावमें दूसरे सभी उच्च पुरुषोंको हेय और तुच्छ समझने लगते हैं, इससे वे सर्वमान्य न बनकर निन्दनीय बन जाते हैं। अज्ञानके कारण वे पूर्वकी ओरके लक्ष्यको भूलकर उसकी प्राप्तिके निमित्त पश्चिमकी ओर जाते हैं।

उक्त भाव प्रत्येक प्राणीके जन्मसिद्ध अधिकार हैं, किन्तु उनके यथार्थ उपाय ये हैं—

(१) शान्ति अपने अन्दर ही है, इसलिये बाहर न भटककर आत्मान्वेषणमें ही सर्वदा तत्पर रहना चाहिये।

(२) सुखका एकमात्र उपाय है त्याग। जो जितना भी अधिक त्यागमय जीवन बना सकेगा वह उतना ही अधिक सुखी बन सकेगा।

(३) प्रेम-प्राप्तिका उपाय है अपनेको प्राणि-मात्रका दास समझना। जो अपनेको श्रेष्ठ मानता है वह प्रेमतत्त्वको समझ ही नहीं सकता।

(४) बड़े बननेका उपाय है—किसीको छोटा न समझना। धनी और गरीबमें भेदभाव न करना।

(५) सर्वमान्य एक आत्मा ही है। आत्मज्ञान होनेपर ही मनुष्य सर्वमान्य, सर्वश्रेष्ठ और सर्वान्तर्यामी बन सकता है।

शान्तिकी इच्छा रखनेवालेको यही उपाय उपयोगी हो सकते हैं।

* * *

असलमें वैराग्य तो विषयोंमें दोष-दृष्टि देखनेसे होता है। वह धीरे-धीरे ही हुआ करता है। 'मुझे वैराग्य नहीं हो रहा है' ये विचार भी वैराग्यके ही चिह्न हैं। मनका तो काम ही है सदा ऊहापोह करते रहना। जैसे जठराग्नि सदा पचाती ही रहती है। यदि उसमें भोजन डालना बन्द कर दो तो वह भीतर-के मलको ही पचावेगी, फिर रक्त, मांस आदि धातुओं-को। जब कुछ भी नहीं मिलेगा तब शान्त हो जायगी। मन बिना कुछ सोचे रह ही नहीं सकता। भगवान्‌की ओर जानेसे बहुत डरता है; क्योंकि वहाँ जाते ही इसकी मृत्यु हो जायगी। अपनी मृत्युको कौन चाहेगा ? जब इसे अमरत्वका ज्ञान हो जायगा और भगवत्-रसका यथार्थ चसका लग जायगा, तब यह मरनेसे न डरेगा। तब मृत्युको ही यथार्थ जीवन समझेगा। तुम एक यह 'दृढ़ निश्चय कर लो' कि मेरे सोचनेसे कुछ भी नहीं होता। आजतक कितनी बातें सोचीं, कितनी स्कीमें बनायीं, उनमेंसे कितनी पूरी हुईं। दिनभरके ही लिये जो सोचते हैं वही पूरी नहीं होने पाती तो आगेकी सोचना मूर्खता है। इसी भावको दृढ़ करो। मन तो बिना सोचे रहेगा ही नहीं। उसे सोचने दो। जब कभी याद आ जाय उसके ऊपर खूब हँसो और कह दो—'तेरा सोचना सब व्यर्थ है।' उसी समय सोच लो मैंने यह स्वप्न देखा। इन विचारोंको जाग्रतके स्वप्न समझा करो। वास्तवमें ये हैं भी स्वप्न ही।

* * *

जबतक मनमें संसारी संकल्प उठ रहे हैं तबतक वैराग्य कहाँ ? वैराग्य तो इसका नाम है—

'एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥'

जबतक कर्म निर्मूल नहीं होते, तबतक वैराग्य कहाँ ?

यह कुछ किताबी विद्याकी बातें थोड़े ही हैं, कितनी भी पुस्तकें पढ़ लो, वैराग्य नहीं आता। यह तो अनुभवकी चीज़ है। जबतक पशु-पक्षियोंकी तरह बिल्कुल नंगे होकर बीन-बीनकर दाना न चुगोगे तबतक वैराग्य नहीं आ सकता।

* * *

चैतन्यदेव जब बीमार हो गये तो पुरीमें उनके शिष्योंने बहुत आग्रह किया कि एक रूईका गद्दा और एक छोटा-सा तकिया बनवा दें। तब आपने नाराज होकर कहा—'फिर पैर दबानेको एक स्त्री

भी रखनी पड़ेगी।' अन्तमें बहुत आग्रह करनेपर आपने केलेके पत्तोंका गद्दा बिछाना स्वीकार किया।

* * *

ऐसा न होता तो बुद्धदेव राज-पाट क्यों छोड़ते। घरपर रहकर जैसी चाहते, साधना कर सकते थे। उन्होंने तो साधनाके अनन्तर भी यह नियम भिक्षुओंके लिये बनाया था कि कोई भी भिक्षु नया वस्त्र कभी न पहिने। पुराने चिथड़ोंसे ही अंग ढक ले। इससे जब बीमारी होने लगी और भिक्षुओंमें असन्तोष फैला, तब आपने एक वैद्यके बहुत आग्रहसे नये वस्त्रकी अनुमति प्रदान की।

* * *

चैतन्यदेवने भी छः बातें बतायी हैं—(१) सुस्वादु भोजन मत करो, (२) सुन्दर वस्त्र मत पहिनो, (३) सबको मान दो, (४) स्वयं अमानी बनो, (५) भिक्षापर निर्वाह करो, (६) स्त्री तथा विषयोंका भूलकर भी संसर्ग मत करो।

* * *

त्यागके लिये बड़ी ही तत्परता और धैर्यकी आवश्यकता है। संसारकी क्षुद्र-से-क्षुद्र वस्तु हमें बड़े जोरोंसे अपनी ओर खींच रही है। त्यागका ढोंग रचना आसान है; किन्तु उसे यथावत् निभा लेना अत्यन्त ही दुस्तर है। भगवत्कृपा हो तभी निभ सकता है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

* * *

पतंगा जागता नहीं कि ज्योतिके समीप जायँगे तो जल जायँगे। मछली बिना जाने ही गोलीको निगल जाती है और उसमें फँस जाती है। कबूतर जालको नहीं देखता है, केवल चारेके लिये जाता है और अकस्मात् फँस जाता है। मृग सुरीली तान सुनकर ही आता है, उसे क्या पता कि पकड़ा जाऊँगा।

किन्तु मनुष्य यह जानता हुआ भी कि इन विषयोंसे दुःख ही होगा, उन्हें नहीं छोड़ता। मोहकी महिमाको तो देखो। जैसे शूकरी विष्ठाके ऊपर जल्दीसे टूटती है, वैसे ही हम स्वादिष्ठ पदार्थको देखते ही उसके ऊपर टूट पड़ते हैं।

* * *

चाहे और कोई काम निःस्वार्थ भावके बिना हो भी जाय, किन्तु प्रेमकी प्राप्ति तो बिल्कुल निःस्वार्थ बने बिना हो ही नहीं सकती। असलमें हमलोगोंमें प्रेम है ही नहीं; कुछ-कुछ आँखोंका लिहाज है। एक-दूसरेसे संकोच-सा करते हैं। किसीसे भी सच्चा प्रेम हो जाय तो फिर कहना ही क्या ?

प्रेम चाहे जिससे भी हो, हो सच्चा। आप देखते ही नहीं, जिन रुपयोंको लोग प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते हैं, कंजूस लोग जिनके पीछे जानतक दे देते हैं, वेश्यागामी उन रुपयोंको तुच्छ समझकर बात-की-बातमें उड़ा देते हैं। इतना त्याग तो इन्द्रियजन्य विषयोंसे प्रेम करनेमें है। यदि सच्चा प्रेम किया जाय तब तो किसी भी चीजमें ममत्व रह ही नहीं सकता।

* * *

जो लोग हमें एक पैसा देनेमें भी हिचकते हैं वे ही किसी प्रेमीके लिये लाखों रुपये बात-की-बातमें उड़ा देते हैं, किन्तु जो स्वार्थ-बुद्धि रखकर काम करते हैं, उन्हें प्रेम प्राप्त नहीं होता। जिस स्वार्थके लिये वे करते हैं, उसी स्वार्थकी सिद्धि उन्हें हो जाया करती है। जो नामकी इच्छासे किसी संस्थाको

दान देते हैं, उनका नाम हो जाता है, दानका फल उन्हें इतना ही मिलता है। जो प्रतिष्ठाके लिये या भोगोंके भोगनेकी ही इच्छासे कीर्तन-भजन करते हैं, उन्हें भोग भी मिल जाते हैं। प्रेमका स्वांग रचकर जो अपना स्वार्थ गाँठना चाहते हैं, उनका वही स्वार्थ सिद्ध हो जाता है। भगवान् तो कल्पतरु हैं, जो जिस इच्छासे उन्हें भजेगा, उसकी वही इच्छा पूरी होगी—

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी॥

(प्रेषक—श्रीइन्द्र ब्रह्मचारीजी)

तुलसीकृत रामायणमें करुणारस

(लेखक—श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा एम० ए०, एल-एल० बी०)

('कल्याण' वर्ष ५ संख्या ९ से आगे)

(२)

करुणारस-सम्बन्धी चरित्र तथा घटनाएँ

हम यह देख चुके हैं कि पाश्चात्य नाट्यकला-सम्बन्धी करुणारसका सिद्धान्त तुलसीदासजीके अयोध्या-काण्डसे कहाँतक लागू होता है, परन्तु हमारा वह अवलोकन यवन-पण्डित अरस्तू (aristotle) के सिद्धान्तपर निर्भर था, अतः बहुत साधारण था। अब प्रस्तुत लेखमें विस्तृत विवेचना की जा रही है। ब्रेडले (Bradley) महोदयका कथन है कि 'A tragedy is in story of exceptional calamity, leading to the death of a man in high estate.' [दुःखान्त-नाटक एक ऐसी असाधारण विपत्तिकी कहानी होती है जिसमें किसी उच्च पदवाले मनुष्यकी मृत्युका समावेश हुआ करता है] इस विचार-दृष्टिसे महाराज दशरथकी मृत्यु अयोध्या-राज्यमें एक ऐसी बड़ी हलचल पैदा कर देती है जिसे दुःखान्त-नाटककी पराकाष्ठा ही कहनी चाहिये। परन्तु तुलसीदासजीकी कल्पना इसके विरुद्ध है। प्रथम तो तुलसीदासजी हमारे ध्यानको केवल एक ही व्यक्तिमें केन्द्रित नहीं करते, द्वितीय वह केवल मृत्युको ही जीवनकी महत्तम करुणाजनक घटना नहीं खयाल करते। दुःखान्त-नाटकका रचयिता जिन भावोंको व्यक्त करता है वह विशेषतः (१) करुणा (२) भय एवं सशंकता (३) रहस्यपूर्णता और (४) मानवी विवशताके परिचायक होते हैं। परन्तु दुःखान्त-नाटकका कोई उत्तम रचयिता करुणाको घृणाकी अवस्थामें नहीं आने देता। वह सदैव इस बातका प्रयत्न करता है कि हम यह कभी भूलने न पावें कि संसारमें 'कर्मप्रधान' रूपी नीतिका राज्य है, जिसमें यद्यपि बुराई, रोगके कीटाणुके समान प्रविष्ट होकर भयानक उथल-पुथल पैदा करनेकी कोशिश करती है, फिर भी विश्वकी विराट् रोग-नाशक शक्ति इस बातका भरसक प्रयत्न करती है कि वह विषको दूरकर स्वास्थ्यकी पुनः स्थापना करे। तुलसीदासजीका विचार ठीक ऐसा ही है। उनकी धारणा नवीन चिकित्सा-सिद्धान्तके समान यह थी कि नैतिक क्षोभ प्रकृतिकी वह चेष्टा है जिसके द्वारा वह मानसिक अथवा सामाजिक शरीरको रोगोंसे मुक्त कर सर्वथा शुद्ध कर देती है। केवल उपर्युक्त सिद्धान्तोंको अपनी दृष्टिमें रखते हुए, तुलसीदासजी अपनी कलामें स्वतन्त्र हैं अर्थात् वह दुःखान्त-कविताके उन कृत्रिम सिद्धान्तोंको नहीं मानते जो पाश्चात्य जगत्‌में प्रचलित हैं। हमें अयोध्याकाण्डमें एक चरितनायकके स्थानमें अनेक चरितनायक दीखते हैं। प्रारम्भमें महाराज दशरथ हमें दुःखान्त-कविताके चरितनायकके रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं जिनके बाह्य एवं आन्तरिक परिस्थितियोंके चित्रणमें पाश्चात्य जगत्‌के दुःखान्त-कविता-सम्बन्धी सभी सिद्धान्तोंका समावेश हो जाता है। वह एक साम्राज्यके सम्राट् हैं और उनकी मृत्युके सम्बन्धमें तुलसीदासजी ठीक ही लिखते हैं कि यदि दिनेश अपने समयसे पहले 'अथवैं' तो संसार क्लेश क्यों न पावे ! उनके अपने उत्तराधिकारीको नियत किये बिना तथा कैकेयीको

दो वरदान देकर मर जानेमें अनेक भयानक सम्भावनाएँ बीजरूपसे विद्यमान थीं। अयोध्याके वायुमण्डलमें जिस अन्धकारपूर्ण भय एवं सशंकताकी विद्यमानता थी, उसको कविने इसप्रकार व्यक्त किया है—

घोर जन्तु सम सब नरनारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी॥
घर मसान परिजन जनु भूता। ....यमदूता॥

दशरथजीकी मृत्यु दुःखान्त-कविताके बाह्य एवं आन्तरिक सिद्धान्तोंकी पूर्ति करती है।

उपर्युक्त बाह्य सिद्धान्तोंकी दृष्टिसे दुःखान्त-कविताके चरितनायककी पीड़ाओंका कारण ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जिनपर उसका कोई अधिकार नहीं, फिर चाहे वे आधिदैविक हों, आधिभौतिक हों अथवा अन्य जनोंद्वारा उत्पन्न हुई हों। इससे हममें करुणाका सञ्चार होता है, इस विचार-दृष्टिसे दशरथजीकी मृत्युसे अधिक और कौन-सी करुणाजनक दुःखान्त-घटना हो सकती है जब कि उन-जैसे सम्राट्की मृत्युका कारण वह षड्यन्त्र हो जिसे कैकेयी और मन्थराने देवताओंद्वारा प्रेरित सरस्वतीकी प्रेरणासे रचा था? अब रही आधिभौतिक आकस्मिक घटनाओंकी बात, सो वैसी छोटी-छोटी-सी घटनाएँ भी बड़े-बड़े विप्लवोंका कारण बन जाती हैं। क्या हम इस बातको भूल सकते हैं कि केवल एक रूमालके अकस्मात् ही गिर जानेसे अथेलो (Othelo) नामी नाटककी घटनाओंपर कितना बड़ा प्रभाव पड़ा? रामायणमें भी महाराज दशरथका करुणाजनक अन्त कुछ ऐसी ही आकस्मिक घटनापर निर्भर है। आह, वह घटना भी कितनी साधारण है कि राजा 'सुभाय मुकर कर लीन्हा' के कथनानुसार एक दिन दर्पण उठा लेते हैं, जब अपने कानोंके समीप सफेद बाल देखकर उनके दिलमें रामको राज-पाट सौंपनेका ख़याल पैदा होता है, वह धर्म एवं प्रेमके आवेशमें, जिसे वशिष्ठजीने और भी उत्तेजित कर दिया था, इतना बेसुध हो जाते हैं कि उन्हें महारानी कैकेयीसे सम्मति लेना अथवा भरतजीका बुला लेना विस्मृत हो जाता है। परन्तु राजाकी इन्हीं दो भूलोंपर मन्थराके कुटिल एवं ईर्ष्यापूर्ण मस्तिष्कने सारा बखेड़ा खड़ा कर दिया और कैकेयीको कौशल्याके षड्यन्त्रसे सूचितकर उपर्युक्त भूलोंका चित्रण ऐसे कालिमापूर्ण शब्दोंमें किया कि कैकेयी भी काँप उठी। परन्तु इस बहिरंग दुःखान्त-कविताके सिद्धान्त-निरूपणसे हमारे दिलमें भय, दुःख अथवा करुणा भले ही उत्पन्न हों, पर हमें कोई विशेष शिक्षा नहीं मिलती। हम महाकवि शेक्सपियरके कथनानुसार * यह अनुभव करते हैं कि मानो मानवी-जीवन एक करुणा और लाचारीका जीवन है अथवा महाकवि रवीन्द्रके शब्दोंमें † यह अनुभव करते हैं कि विश्वकी रचना हमारे प्रतिकूल है और हम बिल्कुल लाचार हैं।

इसी कारण प्रायः सभी दुःखान्त-कविताओंके रचयिता उन कविताओंके आन्तरिक सिद्धान्तकी ओर हमारा ध्यान विशेषतया आकर्षित करते हैं और अपने चरितनायकके दुःखान्त-जीवनको उसीकी किसी-न-किसी चारित्रिक त्रुटिपर अवलम्बित करते हैं। उदाहरणार्थ महाकवि शेक्सपियरके चरितनायकोंमें मैकवेथ (Macveth) के दुःखान्त-जीवनका कारण उसके चरित्रमें राजैषणाका बीजरूपसे होना ही था और इसी प्रकार अथेलो (Othello) के पतनका कारण उसकी ईर्ष्याका अविकसित रूप ही कहा जा सकता है। दशरथमें भी केवल यही त्रुटि थी कि वह हृदयके शासक होनेके बजाय हृदयके शासनमें रहते थे। वह कैकेयीपर आसक्त थे और रामको भी बहुत चाहते थे। रामको युवराज बनाकर अपनी हार्दिक इच्छाकी पूर्ति इतनी शीघ्रताके साथ करना चाहते थे कि वह आवेगवश कैकेयीसे सम्मति लेना अथवा भरतका बुलाना ही भूल गये। कौशल्याको भी लग्नके ठीक समयका पता न था जिससे विदित होता है कि उससे भी दशरथने कोई सलाह न ली थी। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि कुशल कवि दुःखान्त-कविताके इस अंगको इतना कटु नहीं बनाता कि हम चरितनायकसे ही घृणा करने लगें। एक करुणा ही दुःखान्त-कविताके सौन्दर्यकी मूल है और उसीको प्रत्येक दशामें स्थिर रहना चाहिये। कौन ऐसा होगा जो दशरथकी उस तनिक-सी त्रुटिको क्षमाकी दृष्टिसे न देखेगा? मैं तो यह कहूँगा कि यहाँ तुलसीदासजी शेक्सपियरसे बढ़ गये हैं, क्योंकि हमारे हृदयमें दशरथकी अपेक्षा मैकवेथ और अथेलोके प्रति घृणाका अंश अधिक उत्पन्न हो जाता है—केवल 'हैमलेट' (Hamlet) तुलसीदासजीके आदर्शके निकट पहुँचता, यदि वह अपनी कोमल एवं निरपराध प्रेमिकाके प्रति अकारण ही कटु व्यवहारका प्रदर्शन न करता। यद्यपि तुलसीदासजी दशरथकी उपर्युक्त त्रुटिकी ओर हमारा ध्यान उस

* 'The pity of it all, I ago.'
† 'In an alien arrangement of things.'

सम्भाषणमें भी दिलानेसे नहीं चूकते जो भरतने कैकेयीसे किया था, फिर भी वह हमारे ध्यानको अधिकतर कैकेयी-की दुष्टतापर ही केन्द्रीभूत करते हैं। यदि चरितनायककी त्रुटियाँ, नाटककी घटनाओं और उसके दुःखान्तक परिणामों-का श्रृंखलाबद्ध एवं तार्किक वर्णन हो जाय तो दुःखान्त-कविताके अध्ययनसे जो 'न जानन जोग' रहस्यका भाव हमारे हृदयमें विश्वके प्रति उत्पन्न होता है वह सर्वथा विलुप्त ही हो जाय। अतः तुलसीदासजी हमें इस बातका अवकाश ही नहीं देते कि हम महाकवि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) के शब्दोंमें उस आक्षेप-के पात्र बनें जो उसने इसप्रकार प्रकट किये हैं कि वैज्ञानिक अपनी माताकी समाधिका भी अन्वेषण करनेसे नहीं चूकता।* हमें दुःखान्त-कविता पढ़नेके पश्चात् ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जगत् रहस्यमय है और उसमें कहीं तो दुष्टताके दूरीकरणके लिये दुष्टताकी ही आवश्यकता प्रतीत होती है और कहीं संसाररूपी चक्कीके दोनों पाटोंके बीच भले-बुरे दोनों ही पिसते दीखते हैं। इसी कारण जब दशरथजी अपने ही कर्मोंद्वारा रामको राज्यच्युत देखते हैं तो अनायास ही कह उठते हैं—

'और करे अपराध कोउ और पाव फलभोग।
अति विचित्र भगवन्त गति को जग जाने जोग॥'

साधारण दुःखान्त नाटकके रचयिताके लिये तो इतना ही पर्याप्त है परन्तु तुलसीदासजी महाकाव्य (Epic) के रचयिता भी हैं और उन्होंने नाटक और महाकाव्यका एकीकरण करके साहित्य-संसारमें वह काम किया है जो किसी अन्य कविसे नहीं बन पड़ा। अब महाकाव्यका उद्देश्य ही यह है कि वह विश्वके रहस्यका उद्घाटन करे, और 'नहिं जानन जोग' बातोंको 'जानन जोग' बना दे। यह देखनेकी बात है कि तुलसीदासजी उपर्युक्त दोनों पारस्परिक विरोधी सिद्धान्तोंको किसप्रकार निभाते हैं। वह उस करुण दृश्यमें जो दशरथजीकी मृत्युके पूर्व अथवा उसके पश्चात् अयोध्यापुरीमें दृष्टिगोचर होता है, उस रहस्य-को ज्यों-का-त्यों बना रहने देते हैं। वह पहले-पहल उस रहस्यका किञ्चित् उद्घाटन उस समय प्रारम्भ करते हैं जब निषाद महाराज रामकी दशापर शोक प्रकट करता है और लक्ष्मणजी यों कहते हैं—

को काहू कर दुख सुख दाता। निज कृत कर्म भोग सुन भ्राता॥

परन्तु यह भी स्मरण रहे कि यह उत्तर भी ठीक नहीं है और एक नीतिज्ञका दिया हुआ है। वास्तविक उत्तर तो यह है कि महाकाव्यकी दृष्टिसे राम अलिप्त, जीवन्मुक्त, मर्यादापुरुषोत्तम एवं विष्णुके अवतार हैं और उनके काम 'लीलामय' हैं, कर्मवश नहीं। तुलसीदासजी स्वयं ही कहते हैं कि—

जस काछिय तस चाहिय नाचा।

जिससे उपर्युक्त कथनकी ही पुष्टि होती है। परन्तु साथ ही वह एक कुशल कविके समान इस दार्शनिक सिद्धान्तपर आवश्यकतासे अधिक जोर नहीं देते कि कहीं हमारे हृदयसे करुणाका भाव ही न चला जाय।

सारांश यह है कि महाराज दशरथकी मृत्यु ऐसी परिस्थितियोंमें हुई जिनमें बहिरंग तथा अन्तरंग दोनों प्रकारकी दुःखान्त-कविताओंका व्यक्तिकरण होता है और विश्वकी रहस्यमयताका भाव भी स्थिर रहता है। शोककी बात यह है कि जब महाराज दशरथ, रामजीके विजयी होनेके पश्चात् दिव्य लोकसे उनके मिलनेके हेतु आते हैं तब भी उनके हृदयकी भावपूर्णता बनी ही रहती है, यद्यपि उनका स्थूल शरीर बहुत समय पूर्व विलुप्त हो चुका था। उस समय उनका पुत्र-स्नेह इतना अधिक जागृत हुआ था कि भगवान् रामको अपनी आवतारिक स्थितिसे काम लेना पड़ा और उन्हें एक कुशल मानसिक चिकित्सककी भाँति कुछ कड़ी ओषधिका प्रयोग कटु शब्दोंके रूपमें करना पड़ा।* केवल तभी दशरथजीकी आत्माको स्वस्थ होनेका अवसर प्राप्त हुआ। यही स्वास्थ्य-लाभ विश्वकी सम्पूर्ण रचनाका उद्देश्य है। दुःखका मानसिक चिकित्सामें वही स्थान है जो किसी काँटेका दूसरे काँटेके निकालनेमें होता है।

यद्यपि अधिक व्याख्या यथासमय की ही जायगी, फिर भी इस एक बातका उल्लेख यहाँ कर देना आवश्यक है। दुःखान्त-कविताके बाह्य एवं आन्तरिक रूपोंका विश्लेषण प्रायः दो प्रकारसे होता है। एक ओर तो नायकके हृदयमें ही बुरी और भली भावनाओंका संघर्षण होता है और दूसरी ओर उसी नायक तथा उसके किसी विरोधीके

*'Peep and botanize over mother's grave.'

* तुलसीदासजीने तो केवल कृपादृष्टिसे ही वहाँ भी ज्ञान उत्पन्न करा दिया है।

चरित्रोंमें भी रगड़ जारी रहती है। यहाँ बाह्य संघर्षणका रूप यह है कि एक ओर तो कैकेयीका दृढ़ दुराग्रह है और दूसरी ओर कोमल प्रेमी राजा अपने सत्यसे उस समयतक नहीं डिगता जबतक उसका मानसिक स्वास्थ्य निर्बल नहीं हो जाता। मेरी समझमें निम्नलिखित चौपाइयोंतक दशरथजीका मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहा है, उसके उपरान्त वह मानसिक सन्निपातकी दशामें पड़ गये हैं—

तोर कलंक मोर पछिताऊ। मुयेहु मेटि नहिं जाइहि काऊ॥
अब तोहिं नीक लागि कर सोई। लोचन ओट बैठ मुख गोई॥

क्या इसमें एक राजाकी दृढ़ता नहीं है?

जौलौं जियों कहौं कर जोरी। तौलौं जनि कछु कहसि बहोरी॥
फिर पछतैहसि अन्त अभागी। मारेसि गाय नाहरू लागी॥

भविष्यका कितना सत्य एवं तार्किक निरूपण है! परन्तु अन्ततः सन्निपातकी ही विजय होती है, जिसका प्रारम्भ निम्नलिखित दोहेसे ही हो गया है—

परेउ राउ कहि कोटि बिधि काहे करसि निदान।
कपट चतुर नहिं कहति कछु जागत मनहुँ मसान॥

बहुधा अनुदार समालोचकगण इस बातपर तीव्र आक्षेप करते हैं कि तुलसीदासजीने महाराज दशरथके मुखसे उपर्युक्त दोहेके बाद ऐसे शब्द कहलाये हैं जिनसे दशरथजीपर प्रतिज्ञा-भंगका दोष लग सकता है और उस दोषसे तुलसीदासजी भी बच नहीं सकते। कौन उदार पुरुष ऐसा होगा जो किसी सन्निपातग्रसित रोगीको प्रलापों-की कड़ी समालोचना करे? तुलसीदासजीके सामने महा-राज दशरथकी मृत्युकी ऐतिहासिक घटना तलवार या खंजरद्वारा नहीं घटित हुई थी, प्रत्युत उनसे अधिक काट करनेवाले उस असीम दुःखके कारण हुई थी जो रामजीके वनवासवाले वरदानका परिणाम था। तुलसीदासकी दुःखान्त-काव्य रचनाका कमाल यह है कि उन्होंने नाटकीय कौशलके साथ महाराज दशरथके मानसिक सन्निपातका वर्णन अत्यन्त मार्मिक शब्दोंमें किया है जिसका प्रारम्भ निम्न चौपाईसे होता है—

राम राम रटि बिकल भुवालू। जनु बिनु पंख बिहंग बिहालू॥

दशरथके आन्तरिक भावोंके संघर्षणका वर्णन ऐसे करुणाजनक शब्दोंमें हुआ है कि आँसुओंको निछावर किये बिना रहा नहीं जा सकता। (क्रमशः)

महात्मा कनकदास

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

भक्त-वत्सल भगवान्‌की जिसपर कृपा होती है, वही भक्त भक्तिसे अनुराग उत्पन्न करता है। संसारके नानाविध झंझटों-में फँसकर मनुष्य कभी-कभी ऐसा क्षमताहीन हो जाता है कि उसे आगे-का सुमार्ग नहीं सूझता और दुःखके झकझोरोंसे व्याकुल होकर वह अन्तमें ईश्वर-विश्वास खो बैठता है। यह भूल है, भारी भूल है और हद दर्जेकी अधीरता है।

प्रत्येक मनुष्यको यह बात हर्गिज नहीं भूलनी चाहिये कि भक्तिके मार्गमें नुकीले काँटे हैं और वह मार्ग बिना विश्वास और अन्तरकी दृढ़ताके तय नहीं किया जा सकता। कठिनाईको पार करना ही मनुष्यका लक्ष्य है—कर्त्तव्य है। स्वामी रामतीर्थका कहना है कि बाधाओं, कष्टों और द्वैत-भावोंको भी बल और शक्तिका उद्गम बनाओ। इसी तरह महात्मा स्परजियनका कहना है कि बहुत-से मनुष्योंके जीवन बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंके ही कारण महान् हुए हैं।

ऊँचा पद पाकर क्या मनुष्य सुखी हो सकता है? राजगद्दी मिल जाय, अधिकार मिल जायँ, दासदासी मिल जायँ, धन मिल जाय और भोगने-की सारी वस्तुएँ मिल जायँ, फिर मनुष्यको किस बातकी इच्छा रह सकती है? संसारमें जो सुखकी तलाश की जाती है, वह ऐसे ही सुखकी की जाती है। ऐसे सुखको पाकर तो मनुष्यको सुख मानना

चाहिये और शान्ति प्राप्त हुई समझनी चाहिये। पर हम रात-दिन संसारमें देखते हैं कि ऐसा नहीं होता। मनुष्य भोगैश्वर्यकी सारी वस्तुएँ पाकर भी एक ऐसी गुप्त वस्तुकी तलाशमें रहता है, जिससे उसको चिर सुखकी प्राप्ति होनेकी पूरी आशा रहती है। अगर उसके जिगरको चीरकर देखा जाय तो उसके अन्दर एक ऐसी लालसा छिपी हुई मिलेगी जो उसको भगवान्‌की शरणमें ले जानेका इशारा करती होगी। वास्तवमें वही शान्तिका स्थान है जिसमें मनुष्य-प्राणीको नित्य शान्ति प्राप्त होती है। इसीकी खोज सबका हृदय करता रहता है। आज हम इसी पथके पथिक महात्मा कनकदासका हाल आपको सुनायँगे।

धारवाड़-जिलेमें बाड़ नामका एक गाँव है, इसी गाँवमें सन्त कनकदास रहते थे। आपका असली नाम वीरनायक था। जैसा आपका नाम था वैसा ही काम भी आप करते थे। धर्मवीर, युद्धवीर, भक्तवीर, दानवीर आदि कई तरहके वीर होते हैं, पर इनमेंसे इस समय तो आप सिर्फ युद्धवीर थे और शिकारीका धन्धा करते थे, जिस धन्धेको मनुष्य श्रेष्ठ समझकर करने लगता है, उसकी पूरी कोशिश रहती है कि मैं किस तरह इसमें ज्यादा-से-ज्यादा उन्नति कर दिखाऊँ! इसी तरह वीरनायकने भी निशाना लगानेका इतना अच्छा अभ्यास कर लिया था कि उस समय उनकी जोड़का निशानेबाज़ वहाँ कोई नज़र नहीं आता था। आपका बाण अचूक जाता था और निशानेको बेध ही देता था। चित्रकल नामक राजाके यहाँ आप नौकर थे। नौकरी अच्छी बजाते थे, इससे राजा खुश था। यहाँतक खुश हुआ कि आपको सेनापतिके पदपर पहुँचा दिया। थोड़े दिनोंके बाद देखते-ही-देखते यह हुआ कि आप धन-दौलत और मान-मर्यादाके स्वामी बन गये। राजाके बाद दूसरा नम्बर आपहीका था। अब क्या चाहिये ? मनुष्य यही चाहता है कि मुझे ऊँचा पद मिले, अधिकार मिले, धन मिले, मान मिले और स्त्री-पुत्रादि प्राप्त हों। पर नहीं, इसके सिवा वह कुछ और भी चाहता है, पर क्या चाहता है, इस बातको वह जानता नहीं। हाँ, एक दिन ऐसा आता है जब उसकी वह इच्छा बलवती हो जाती है और वह संसारकी मोह-माया और धन-पुत्रादि सबको छोड़कर भगवान्‌की शरणमें चला जाता है, जहाँ उसे पूर्ण शान्ति मिलती है और सुखका अनुभव होता है। यही जीवनका लक्ष्य है। पर बिरला ही भाग्यशाली इस लक्ष्यतक पहुँच सकता है, अधिकांश अभागे मनुष्य तो इस आशाको अपने अन्दर छिपाये हुए ही मौतके मुँहमें चले जाते हैं।

प्रभु-कृपापात्र कनकदासजीके जीवनमें भी ऐसा ही परिवर्तन हुआ। एक बार आप युद्ध कर रहे थे। युद्ध करते-करते आपको विचार आया कि 'क्या जीवनका यही उद्देश्य है कि मनुष्य एक दूसरेको मारकर अपने स्वार्थकी सिद्धि करे?' यह तो मनुष्य-जीवनकी नीचता ही है। यह जीवन ही क्या, यह तो पशु-जीवन है, यह विचार आते ही युद्धके प्रति आपके चित्तमें तिरस्कार उत्पन्न हो गया। अन्तर्मुखी वृत्ति करते ही अन्दरसे आवाज़ आयी कि 'भैया! ऐसी पापकी गठरी क्यों बाँधता है। इस तमाम दुनियाकी मायाको छोड़ दे और इकतारा तथा भिक्षापात्र हाथमें लेकर दास बन जा, तभी तेरा जीवन सफल होगा।'

सत्यवीरोंका लक्षण ही यह होता है कि वे जीवनमें एकदम परिवर्तन करके सत्य-मार्गपर अग्रसर होने लगते हैं। वीरनायक कनकदासने भी अन्तरकी आवाज़ सुनते ही घर-बार छोड़ दिया और यात्राके लिये निकल पड़े।

जब विजयनगरमें पहुँचे तो वहाँ आपको सद्गुरुजी मिल गये, जिनका नाम वादिराज स्वामी था। गुरुजीसे वहाँ आपने माध्व-सम्प्रदायकी दीक्षा ली और तभीसे आप भक्तके नामसे प्रसिद्ध हुए।

दक्षिणमें वादिराज स्वामी एक असाधारण

विद्वान् और धर्मशील साधु हो गये हैं। सन्त कनकदास इन्हींके शिष्य बने। यद्यपि कनकदास छोटी जातिके थे, तो भी वादिराजने इसकी कुछ भी परवा नहीं की और वे उनपर पूर्ण कृपा रखने लगे। कनकदास भी क्षमाशील, कष्टसहिष्णु और साधु-स्वभावके भक्त थे। उन्होंने गुरुकी तन, मनसे खूब सेवा की। वादिराज इनकी सेवासे बहुत प्रसन्न रहने लगे।

एक दिनका ज़िक्र है कि वादिराज स्वामीने ब्राह्मणोंको एक-एक केला दिया और कहा कि 'आज एकादशी है, ऐसे स्थानपर जाकर इस केलेको खाओ कि जहाँ कोई देख न सके।'

कनकदासजीके हिस्सेमें भी एक केला आया। सन्ध्या-समय सब ब्राह्मण वादिराजके पास एकत्र हुए। कनकदास मौजूद ही थे। वादिराजने सबसे पूछा कि किस-किसने कौन-कौन-सा एकान्त स्थान तलाश किया। सबने अपने-अपने एकान्त स्थान बतलाये, पर कनकदासकी तरफ जब गुरुजीने देखा तो उनके हाथमें केला ज्यों-का-त्यों मौजूद था। गुरुजीने इशारा किया कि 'यह क्यों?' कनकदास बोले—'महाराज ! मैं तो जहाँ जाता हूँ, वहीं वासुदेव भगवान् मौजूद मिलते हैं, कोई भी ऐसा स्थान नहीं, जहाँ उनका वास न हो। फिर एकान्त स्थान मिल ही कहाँ सकता है? इसीलिये मैं केला हाथमें लिये ज्यों-का-त्यों बैठा हूँ।'

यह उत्तर सुनकर गुरुजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा कि अब शिष्य कनकदास सच्चा भक्त बन गया है; क्योंकि सर्वत्र ईश्वरका अस्तित्व इसके ध्यानमें पूरे तौरपर आ गया है। सन्त कनकदास भारतमें खूब प्रसिद्ध हुए।

ईश्वर

(लेखक—पं० श्रीदेवराजजी सिद्धान्तालङ्कार विद्यावाचस्पति)

ईश्वरीय सत्ताकी आवश्यकता

विश्वमें बहुत-सी ऐसी रचनाएँ हैं जो मनुष्यकी कृतिसे बाहर हैं। उन रचनाओंमें मनुष्यका अधिकार नहीं है। मनुष्य उनको बना नहीं सकता। जिसको मनुष्य बना नहीं सकता उसको अपना कहनेका भी मनुष्यको अधिकार नहीं है। बनी हुई चीजोंको ही उलट-फेरकर घड़घड़ाकर नया रूप देना ही मनुष्य जानता है। परन्तु जिन चीजोंको वह नया रूप देता है उनकी मौलिक वस्तुको वह नहीं बना सकता।

मनुष्य रूपान्तर करता है, परन्तु विश्वमें जितना भी रूपान्तर हो रहा है वह सब रूपान्तर मनुष्य ही कर रहा हो ऐसा नहीं है। मनुष्य जितना रूपान्तर कर रहा है उसका क्षेत्र बहुत थोड़ा है। जो रूपान्तर मनुष्यके क्षेत्रसे बाहर है उसका क्षेत्र बहुत अधिक है। जिस रूपान्तरको मनुष्य नहीं करता और उस रूपान्तरके रूपान्तर होनेमें कोई सन्देह नहीं, तो प्रश्न उठता है कि वह रूपान्तर कौन करता है? वह कैसे होता है? उसका क्या कारण है?

ईश्वरीय सत्ताका स्वरूप

रूपान्तर होनेके लिये शक्ति चाहिये। बिना शक्तिके रूपान्तर हो ही नहीं सकता। विश्वके ऐसे सूक्ष्म अवयवमें जो उच्चतम शक्ति-सम्पन्न सूक्ष्म-दर्शक यन्त्रसे दृश्य है अथवा उससे भी परे है, रूपान्तर हो रहा है। रूपान्तरकी क्रमिक धाराके आधारपर ही स्थूल पदार्थोंमें भी रूपान्तर दृष्टिगोचर हो रहा है। रूपान्तर विभिन्न अवयव संस्थानके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

रूपान्तर होनेके लिये केवल शक्तिकी ही आवश्यकता नहीं प्रत्युत वह शक्ति जिस द्रव्यपर कार्य कर सके उस द्रव्यकी भी आवश्यकता है। बिना शक्ति और द्रव्यके कोई भी रचना नहीं हो सकती। कोई भी रचना एक विशेष रूप है। जब उस रचनाके घटक अवयवोंमें अथवा

द्रव्यमें अवयव-संस्थान बदलता है तब रूपान्तर उपस्थित होता है। इसप्रकार कोई भी रूपान्तर शक्ति और द्रव्यके सम्बन्धका परिणाम है। विश्वरचनाका एक-एक रूप शक्ति और द्रव्यकी ओर तथा उनके सम्बन्धकी ओर प्रतिक्षण निर्देश कर रहा है। शक्ति और द्रव्यमेंसे यदि कोई एक क्षणके लिये भी न रहे वा इनका सम्बन्ध-विच्छेद एक क्षणको भी हो जाय तो उसी क्षण विश्वका लोप हो जाय। परन्तु विश्वके बाहर इनमेंसे कोई जाय भी कहाँ? कहीं नहीं जा सकता। इनका सम्बन्ध-विच्छेद ही नहीं हो सकता। इन दोनोंको मिलकर ही रहना है। इन दोनोंके मिलकर ही रहनेसे विश्वमें किसी-न-किसी रूपकी विद्यमानता हर समय बनी ही रहेगी। विश्वका प्रत्येक रूप शक्ति और द्रव्यके मेलके अतिरिक्त कुछ नहीं है। शक्ति और द्रव्यकी समष्टि ही ईश्वरीय सत्ताका स्वरूप है। इससे अतिरिक्त ईश्वरीय सत्ताका कुछ भी स्वरूप नहीं है। इसप्रकार सम्पूर्ण जगत् ईश्वरीय सत्ताके स्वरूपसे भिन्न कुछ नहीं है। यह सब ईश्वरीय सत्ता है।

ईश्वरीय सत्तामें चेतनता वा चेतन ईश्वरीय सत्ता

ईश्वरीय सत्ता चेतन है इसका यह अर्थ है कि विश्वकी प्रत्येक रचनाके साथ ज्ञानका सम्बन्ध है। प्रत्येक रचनाके पीछे एक ऐसा ज्ञान विद्यमान है जिस ज्ञानके आधारपर वह रचना अपना स्वरूप रखती है।

मनुष्य एक मकानकी रचना करता है। वह मकान स्थूलरूपमें आनेके पहले मनुष्यके मस्तिष्कमें ज्ञानरूपमें विद्यमान होता है। यदि मनुष्यके मस्तिष्कमें ज्ञानरूपमें मकान विद्यमान न हो तो मकानका स्थूल रूप कभी भी हमें दृष्टिगोचर न हो, इससे यह परिणाम निकलता है कि किसी स्थूल रचनासे पहले उस रचनाका ज्ञानरूपमें भाव विद्यमान होना चाहिये, जिसप्रकार स्थूल रचनासे पहले उस रचनाका ज्ञानरूपमें भाव विद्यमान होना आवश्यक है, उसी प्रकार सूक्ष्म रचनाके पहले भी उस रचनाका ज्ञानरूपमें विद्यमान होना आवश्यक है। स्थूल रचना और सूक्ष्म रचनामें केवल आपेक्षिक भाव विद्यमान है। कोई भी रचना किसी अन्य रचनाकी अपेक्षा स्थूल और सूक्ष्म कही जा सकती है। अतः साधारण नियम यह निकलता है कि किसी भी रचनाके पहले उस रचनाका ज्ञानरूपमें भाव विद्यमान होना आवश्यक है। विश्व-रचनामें क्रमिक धाराका नियम विद्यमान है। इस क्रमिक धाराके नियमसे रचना-क्रम प्रतीत होता है। रचना-क्रमके साथ पूर्ववर्ती ज्ञान-क्रम वा ज्ञानकी क्रमिक धारा होनी भी आवश्यक है। इस धारावाही ज्ञानात्मक रूपमें जैसे-जैसे शक्तिके कारण द्रव्य भरता जाता है वैसे-वैसे रचना-क्रम प्रकट होता जाता है। इसप्रकार किसी भी रचनाका रूप वही है जो उस रचनाके ज्ञानका रूप है। रचना और ज्ञान पृथक्-पृथक् नहीं हैं। मनुष्यकी बुद्धिमें किसी भी रचनाका जो रूप भासता है वह रूप ज्ञान ही है, जिसके आधारपर वह रचना विद्यमान है। बुद्धिमें मकानका रूप वा ज्ञान तो रहता है पर मकान नहीं। इससे स्पष्ट है कि रचनासे भिन्न ज्ञान इससे पूर्व भी स्वतन्त्ररूपसे विद्यमान है और पीछे भी विद्यमान है। रचना बीचमें वह क्षणिक और कल्पित रूप है जिस रूपमें द्रव्य और शक्तिकी धारा बह रही है। द्रव्य और शक्ति परस्पर साहचर्य-सम्बन्धसे रहते हैं। इनके साथ ही ज्ञान भी साहचर्य-सम्बन्धसे रहता है। द्रव्य और शक्तिको किसी-न-किसी रूपमें रहना है, परन्तु जिस रूपमें भी रहना है वह रूप ज्ञानमें विद्यमान है। ज्ञानको भी कहीं रहना है। वह द्रव्यके आश्रित शक्तिके साथ साहचर्य-सम्बन्धसे रहता है। ज्ञान, शक्ति और द्रव्य ये तीनों विविध रूपोंमें इस विश्वरूपमें विद्यमान हैं।

रूपान्तर होनेमें रूपकी वा उसी रूपमें विद्यमान द्रव्यकी अन्तर्हित शक्ति तो कारण है ही, इसमें कुछ सन्देह नहीं, परन्तु एक रूपकी अपनी शक्ति भी दूसरे रूपके रूपान्तर करनेमें प्रत्यक्ष ही कारण देखी जाती है। यहाँपर एक रूप रूपान्तर होनेके लिये दूसरे रूपके प्रभावको ग्रहण करता है। दूसरे रूपके प्रभावको ग्रहण करनेके लिये जो योग्यता किसी रूपमें होती है उस योग्यताको अनुभवशीलता कहते हैं। वह अनुभवशीलता ही चेतना वा जीवनका सूचक है। जहाँ अनुभवशीलता है वहाँ जीवन है, जहाँ जीवन है वहाँ अनुभवशीलता है। कोई भी रूप अपनी परिस्थितिके प्रभावको ग्रहण करनेके लिये योग्य होता है। भिन्न रूपोंके अन्दर इस प्रभावको ग्रहण करनेकी योग्यताकी मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। किसी रूपमें अपने रूपको कायम रखनेके लिये जितनी ही अधिक सामर्थ्य है वा अपने ऊपर दूसरोंके प्रभावको प्रतीकार करनेकी जितनी अधिक सामर्थ्य है उतना ही

अधिक उस रूपमें जीवन है। यह जीवन प्रत्येक रूपमें है। ऐसा कोई रूप नहीं जिसमें जीवन नहीं। यदि प्रत्येक रूपमें जीवन न हो तो उस रूपकी स्थिति न हो। प्रत्येक रूपकी स्थिति और विद्यमानता ही उसमें जीवनको बतला रही है। कोई भी रूप, शक्ति और द्रव्यके संघटनसे अतिरिक्त कुछ नहीं है इसलिये जीवन भी शक्ति और द्रव्यके विशेष संघटनमें विद्यमान होनेसे उनसे भिन्न कुछ नहीं। चूँकि शक्ति और द्रव्य भी किसी-न-किसी रूपमें ही रहते हैं अतः जीवन भी उनके साथ सदा वर्तमान है। शक्ति और द्रव्यके परस्पर घात-प्रतिघातसे रूपोंके अन्दर जीवनकी मात्रामें तरतमता आ जाती है। चाहे कोई रूप कितने ही दीर्घकालतक वा कितने ही अल्पकालतक अपनी सत्ता वा जीवन रखता हो परन्तु जीवन अवश्य रखता है अतः प्रत्येक रूप वा रचनाका मूल स्रोत वा ईश्वरीय सत्ता चेतन है वा जीवन रखती है। चेतनता ईश्वरीय सत्ताका धर्म है जो प्रत्येक रूपमें प्रकट होता है। नित्य ईश्वरीय सत्तामें उसकी चेतनता धर्म नित्य होनेसे ईश्वरीय सत्ता नित्य चेतन है।

जड-चेतन-भाव

विश्वमें ईश्वरीय सत्ताका प्रत्येक रूप अपना जीवन रखता है परन्तु बहुत कम ऐसे रूप हैं जो अपनेसे भिन्न दूसरे रूपके अस्तित्वको पहचानते हैं। जो रूप अपनेसे भिन्न दूसरे रूपके अस्तित्वको पहचानते हैं उनमें अनुभवशीलता विकसित हुई होती है। उनमें चेतनता प्रसुप्तावस्थासे जागृतावस्थामें आयी होती है। ये रूप एक दूसरेके रूपके अस्तित्वको पहचानते हुए एक दूसरेसे अपने प्रयोजन सिद्ध करनेमें उद्यत होते हैं। अपने प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये आवश्यक है कि उनमें आकांक्षा हो और इच्छाशक्ति हो। आकांक्षा बताती है कि उनमें एक ऐसा धर्म उत्पन्न हो जाता है कि वे अपनी गर्ज़को पूरा करनेके लिये अशनको ग्रहण करनेके लिये उद्यत होते हैं। अशनको ग्रहण करनेके लिये जो उद्यम है उसीको अशिति कहते हैं। अशितिमें जो उद्यमका भाव है वह एक प्रकारके बलका भी निर्देश करता है जो बल इच्छाशक्ति वा प्राणका बल है। इसप्रकार अपने अशनको ग्रहण करनेका भाव उस रूपमें मनके विकासका बोध कराता है। और अशनको ग्रहण करनेका बल उस रूपमें प्राणके विकासको दिखाता है। मन और प्राणके विकासके अनन्तर अपनेसे भिन्न रूपको अपने अन्दर मिला लेनेके लिये जो श्रम, चेष्टा वा प्रवृत्ति है वह उसमें स्वतन्त्र वाग्-व्यापारको सूचित करती है। इसप्रकार जब रूपमें मन, प्राण, वाक्‌का विकास हो चुकता है तब उस रूपकी स्वतन्त्र सत्ता बन जाती है। विश्वात्मक ईश्वरीय सत्तामें ही ये स्वतन्त्र रूप उसी प्रकार कार्य करते हैं जिसप्रकार इस विश्वमें ईश्वरीय सत्ता स्वतन्त्ररूपसे काम करती है।

मन, प्राण, वाक्‌का इसप्रकारका विकास जबतक रूपोंमें नहीं होता तबतक रूप स्वतन्त्र जीवन नहीं रखते। उनका जीवन विश्व-जीवनके साथ एक होता है। जबतक रूपोंका जीवन स्वतन्त्र जीवन नहीं होता, विश्व-जीवनके साथ एक रहता है, तबतक रूप चेतन नहीं कहलाते, जड कहलाते हैं। जब काल-क्रमसे उनका जीवन स्वतन्त्र जीवन बन जाता है तब वे जड नहीं कहलाते, चेतन कहलाते हैं। चेतनको प्राणी वा जीव और जडको अप्राणी वा निर्जीव भी कह देते हैं। इसप्रकार जड-चेतन-भाव वा सजीव-निर्जीव-भाव विश्वचैतन्यका वा ईश्वरीय सत्ताका ही विकास होनेसे ईश्वरीय सत्तासे भिन्न नहीं है, प्रत्युत ईश्वरीय सत्ता ही है।

इन्द्रिय-विकास

रूपोंमें पारस्परिक प्रभावोंके कारण एक ही परिस्थितिमें लगातार रहनेसे विशेष-विशेष प्रकारके प्रभावोंको ग्रहण करनेकी आदत हो जाती है और उस आदतको प्रकट करनेके लिये रूपोंमें भिन्न-भिन्न प्रभावके कारण प्रभावोंकी विभिन्न प्रकारकी धाराएँ एक-एक मार्गसे बहने लगती हैं। एक मार्गसे एक प्रकारकी धारा लगातार बहनेसे काल-क्रमसे उस प्रकारकी धाराके लिये वह मार्ग नियत हो जाता है। मार्ग नियत हो जानेसे कभी भी किसी भी रूपका उस प्रकारका प्रभाव, जिसप्रकारके प्रभावको लेकर वह मार्ग बना है, उसी मार्गसे गृहीत होता है। विशेष-विशेष प्रकारके प्रभावोंको ग्रहण करनेके लिये विशेष-विशेष मार्गोंका तैयार होना ही इन्द्रिय-विकास कहलाता है। दीर्घकालतक एक ही प्रकारके प्रभावमें रहनेसे रूपमें ऐन्द्रियिक भाव उत्पन्न होता है। ऐन्द्रियिक भावके उत्पन्न होनेसे जीवन ऐन्द्रियिक होता है और जबतक

ऐन्द्रियिक भाव उत्पन्न नहीं होता तबतक जीवन अनैन्द्रियिक रहता है।

अहंभावकी उत्पत्ति

सब-के-सब ऐन्द्रियिक-भाव समान बल नहीं रखते। परिस्थितिके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारके ऐन्द्रियिक भावोंके लिये भिन्न-भिन्न मात्रामें समय लगते रहनेसे कुछ ऐन्द्रियिक-भाव प्रबल हो जाते हैं और कुछ निर्बल हो जाते हैं। प्रबल ऐन्द्रियिक भाव ही प्राणीमें विशेष-विशेष रुचिके द्योतक हैं। भिन्न-भिन्न प्रकारकी रुचिके कारण ही प्राणियोंमें विभिन्न प्रकारका जाति-विभाग हो गया है। रुचि-भेदसे होनेवाला जाति-भेद बतलाता है कि ऐन्द्रियिक भावोंमें चुनाव हो गया है। दीर्घकालतक एक परिस्थितिमें रहना इस चुनावका कारण है। इसी प्रकार धीरे-धीरे यह चुनाव ही व्यक्तियों और जातियोंके चुनावको सूचित करता है। व्यक्तियों और जातियोंके चुनावमें विशेष-विशेष ऐन्द्रियिक भावोंका क्रमशः प्रबल होते जाना कारण है।

प्रबल हुए ऐन्द्रियिक भाव जब एक ही परिस्थितिमें लगातार रहनेसे प्रबलतर हो जाते हैं तब उन प्रबल भावोंसे प्रबलतर भाव चुनावमें आ जाते हैं। प्रबल भावोंके कारण प्राणीमें चेतनताका स्वरूप ऐसा जागृत होता है कि वे प्रबल भाव ही उस प्राणीके पथ-दर्शक होते हैं। परन्तु इन प्रबल भावोंको प्रकट करनेके लिये प्राणीके प्राणमें जो गति होती है, जो धक्का लगता है उसके कारण एक प्रकारका स्वर प्रकट होता है। यह स्वर अस्पष्ट होता है अर्थात् इसमें व्यञ्जनके न होनेसे यह अव्यक्त और अस्पष्ट होता है। परन्तु जैसे-जैसे भावोंमें चुनाव होकर प्रबलतर भाव शेष रहने लगते हैं और कम प्रबल भाव लुप्त होने लगते हैं तो उन भावोंकी प्रबलता और स्पष्टताके कारण उनके प्रकाशके लिये जो ध्वनि निकलती है वह स्पष्ट हो जाती है। स्पष्ट ध्वनिमें व्यञ्जनोंका प्रकाश हो जाता है। व्यञ्जनोंके प्रकाशके कारण ही ध्वनिकी स्पष्टता और व्यक्तता है। ध्वनिकी स्पष्टता और व्यक्तताकी तर-तमता ही भावोंकी प्रबलतामें तरतमताका द्योतक है। जो प्राणी अपनी वाणीमें जितने अधिक व्यञ्जन बोलते हैं उन प्राणियोंकी वाणी उतनी अधिक प्रस्फुटित होती है। वाणीकी प्रस्फुटितता भावोंकी प्रस्फुटितता वा प्रबलताको सूचित करती है। इसप्रकार भावोंसे भाषाका विकास हो जाता है।

भाषाका विकास हो चुकनेके बाद प्राणियोंको भिन्न-भिन्न रूपोंके द्वारा साक्षात् ऐन्द्रियिक भाव ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। प्राणी जिन भावोंको भाषामें प्रकाशित करता है उन भावोंका स्वरूप भाषा बन जाती है। भाषामें ही उन भावोंका स्वरूप बन जानेसे भाषा-द्वारा ही उन भावोंका अंकन वैसा होने लगता है जैसा पहले भावोंका अंकन भावोंद्वारा वा भिन्न रूपोंद्वारा हुआ करता था। भावोंद्वारा भावोंका अंकन वा भाषाद्वारा भावोंका अंकन इनमें कुछ अन्तर नहीं। क्योंकि भाषा भावोंका ही रूप है। जिस समय भावोंका अंकन भावोंद्वारा होता है उस समय वे भाव ही उन बाह्य रूपोंका काम देते हैं जिन बाह्य रूपोंका प्रभाव प्राणीके मनपर हुआ करता था। भाव प्राणीके मनका ही स्वरूप होनेसे अपना फिर प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये प्राणीके मनको उनकी पृथक् सत्ताका अनुभव होने लगता है। प्राणी यह समझता है कि मेरे ये भाव हैं वा मैं इन भावोंवाला व्यक्ति हूँ। इसप्रकार वह प्राणी अपने ही अन्दर अपनेसे भिन्न इन भावोंकी पृथक् सत्ताको अनुभव करता है। जिस समय अपने ही अन्दर अपनेसे भिन्न भावोंकी पृथक् सत्ताको प्राणी अनुभव करता है उस समय उसके मनको यह बोध होता है कि मैं इन भावोंवाला हूँ वा इनको जानता हूँ। इन भावोंवाला मैं हूँ वा इनको मैं जानता हूँ ऐसे बोधका उदय ही प्राणीके मनमें अहंभाव उदय करता है। मनोगत इस अहंभावके उदयसे ही प्राणी मनुष्य-श्रेणीमें गिना जाता है वा वह मनुष्य कहलाता है अथवा ईश्वरीय सत्ताका मनुष्यरूपमें विकास समझा जाता है।

अन्तर्दृष्टि और उसका फल

धीरे-धीरे काल-क्रमसे भावोंमेंसे प्रबलतम भावोंका चुनाव हो जाता है। शेष भाव हीनतम बल होकर लुप्त-प्राय हो जाते हैं। लुप्त होना नष्ट हो जाना नहीं है किन्तु अन्तर्लीन होना है। ईश्वरीय सत्ता ज्ञानात्मक है, उसीमें उन भावोंका तिरोभाव हो जाता है। प्रबलतम भावोंके चुनावसे मनुष्यकी मानसिक वृत्तिका प्रवाह बहिर्मुख होना बन्द हो जाता है। मनोवर्ती प्रबलतम भाव ही विश्वके विभिन्न रूपोंकी भाँति मनमें प्रकाशित होते हैं। प्रत्येक प्रबलतम भाव अपने सहवर्ती अन्तर्लीन भावोंका उद्भावक होता है। अन्तर्लीन भावोंके उद्भावकोंद्वारा

निरन्तर दीर्घकालतक ईश्वरीय ज्ञानमय अन्तर्जगत्में विचरनेसे अन्तर्दृष्टि प्रबल और स्थिर हो जाती है। प्रबल और स्थिर अन्तर्दृष्टिके कारण मनुष्य ऋषि-कोटिको पहुँचता है। इस अन्तर्दृष्टिके कारण ही वह ऋषि ज्ञानमयी ईश्वरीय सत्ताका साक्षात् दर्शन करता है वा ब्रह्मका प्रत्यक्ष करता है वा ब्रह्मको उपलब्ध करता है।

मोक्ष

इसी अन्तर्दृष्टिके द्वारा ब्रह्म वा वेद अथवा ज्ञानमयी ईश्वरीय सत्तामें निरन्तर रमण करता हुआ मनुष्य भौतिक सम्बन्धोंसे वा बन्धनोंसे छूट जाता है। उसका अहंभाव टूट जाता है और वह फिर शुद्ध ईश्वरीय सत्ताके रूपमें हो जाता है वा ईश्वरीय सत्तामें उसका लय हो जाता है। जबतक ईश्वरीय सत्तामें उसका लय नहीं होता वा सर्व प्रकारके उन बन्धनोंका उच्छेद नहीं होता जो उसके स्वरूपको बनाये हुए हैं तबतक वह नाना प्रकारके विभिन्न रूपोंकी परिस्थितिमें रहता हुआ उनसे सम्बन्ध स्थिर करता हुआ काल-क्रमसे विभिन्न रूपोंको ग्रहण करता रहता है।

प्रत्येक रूप जो भी कुछ इस द्यावा-पृथिवीमें विद्यमान है और द्यावा-पृथिवी स्वयं भी सब अपना एक विशेष जीवन रखते हैं। उनकी सत्ता उस-उस रूपमें एक विशेष कालतक विद्यमान है। परिवर्तनशीलताके नियममें चक्कर काटते हुए सब-के-सब रूप उसी ईश्वरीय सत्तामेंसे उद्भूत होते और काल-क्रमसे उसीमें लीन होते रहते हैं। इसप्रकार इस विश्वमें केवल एक पूर्णज्ञानमयी सत्ता है, एक सत्य है और वह ईश्वर है, उससे भिन्न कुछ नहीं है। जो कुछ यह भेद प्रतीत होता है वह अवास्तविक है, असत्य है।

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[भाग ६ सं० १२ पृष्ठ १३५६ से आगे]

६०१—भौतिक विज्ञानमें पूर्वाकर्षणशक्ति एक पारिभाषिक शब्द है। यद्यपि शक्तिराशि सञ्चित होती है, परन्तु उसमें प्रवाह नहीं होता। चुम्बकसे सम्बन्ध होनेके पश्चात् ही पूर्वाकर्षणशक्तिके द्वारा विद्युत्-प्रवाह होने लगता है। इसी प्रकारसे मानसिक शक्तिको जो अव्यवहित तथा विभिन्न अनावश्यक सांसारिक विषयोंमें विच्छिन्न होती है, आध्यात्मिक प्रयोजनमें उचित मार्गसे प्रवाहित करना चाहिये।

६०२—यदि दर्पण स्वच्छ न हो तो मुखाकृति उसमें स्पष्ट न दीख पड़ेगी। इसी प्रकार यदि मनरूपी दर्पण काम-क्रोधादि षड् विकारोंके मलसे मलिन है तो मनमें ब्रह्मका प्रतिबिम्ब नहीं दिखलायी देगा। जब यह पूर्ण स्वच्छ, पूर्ण सात्त्विक हो जाता है तभी इसमें ब्रह्मानुभवकी योग्यता आती है।

६०३—जिसप्रकार विशेष-विशेष प्रकारके विचारके लिये मस्तिष्कमें विभिन्न विभाग होते हैं उसी प्रकार मानसिक शरीरमें विभिन्न कटिबन्ध होते हैं।

६०४—मनको वशमें करनेके लिये तुम्हें सात प्रकारके प्रयत्न करने पड़ेंगे—

(१) कामना, वासना और तृष्णासे अलग होना होगा।

(२) भावनाओंको वशीभूत करना होगा तथा क्रोध और बेचैनीसे बचनेके लिये मनोरागको दबाना होगा।

(३) स्वयं मनका निरोध करना होगा, जिससे विचार शान्त और स्थिर रह सके।

(४) मनके द्वारा स्नायुओंपर अधिकार करना होगा जिससे वे यथासम्भव कम-से-कम उत्तेजित हों।

(५) अभिमान छोड़ना पड़ेगा। अभिमान मनको दृढ़ करता है, यह मनका बीज है। जब तुम निरभिमान हो जाओगे तो दूसरोंकी आलोचनाएँ, निन्दा और तिरस्कारका तुम्हारे ऊपर कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा।

(६) निष्ठुरताके साथ अपनी समस्त आसक्तियोंको नष्ट कर देना पड़ेगा।

(७) समस्त अभिलाषाओंका त्याग करना पड़ेगा।

६०५–क्षमा, धैर्य, सन्तोष, दया, विश्वप्रेम, उदासीनता तथा निरभिमानताके अभ्यासके द्वारा तुम अशुभ भावनाओं-को पार कर सकते हो! अशुभ वासनाओंकी निवृत्तिके पश्चात् भी असन्तोषकी सूक्ष्म क्रिया बच रहती है। तुम्हें इस तुच्छ बाधाको दूर हटाना चाहिये, क्योंकि योगयुक्त होनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषके लिये यह बड़ा दोष है।

६०६–बुद्धि क्रोधरूपी बादलसे आच्छादित हो जाती है। जब तुम रुष्ट हो जानेके विचारको भी विस्मृत कर देते हो तब भी क्रोध तुम्हारे मनमें उतरकर मँडराया करता है। इसका प्रभाव कुछ ही समयतक रहता है। परन्तु यदि तुम डाह, ईर्ष्या, द्वेषके विचारोंको एक ही समय बारम्बार अनेकों बार लाते रहते हो तो उसका प्रभाव बहुत देरतक बना रहता है। रोषात्मक विचारोंका बार-बार चिन्तन करनेसे द्वेषकी मात्रा बढ़ जाती है। बार-बारके क्रोधसे केवल बुरे विचार भी बढ़कर दृढ़ द्वेषमें परिणत हो जाते हैं। जब मन अत्यन्त क्षुब्ध होता है तो तुम किसी पुस्तकके एक अवतरणको स्पष्टतः नहीं समझ सकते। तुम ठीक-ठीक और स्पष्ट रीतिसे विचार नहीं कर सकते, तुम शान्तचित्तसे पत्र नहीं लिख सकते। क्रोध मस्तिष्क, स्नायुजाल और रक्तको दूषित कर देता है।

६०७–पक्षपात मस्तिष्क और मनको निश्चेष्ट बना देता है, इससे मनमें ठीक-ठीक कम्पन नहीं होता। पक्ष-पाती मनुष्य वास्तविकरूपेण चिन्तन नहीं कर सकता। पक्षपात मनुष्यके भौतिक शरीरपर व्रणके समान है जिससे मनुष्यकी इच्छाशक्ति द्रवित हो घटती जाती है। अपने विचार उदार रक्खो। प्रत्येक दर्शन और प्रत्येक धर्मके प्रति अपने हृदयमें स्थान रक्खो। मनुष्यकी योग्यता, स्वभाव तथा विकासावस्थाके अनुसार विशेष राष्ट्रमें विशेष धर्म अनुकूल होता है। सभी सम्प्रदाय और समाज अपने-अपने उपयोगी उद्देश्यको लेकर काम करते हैं। पक्षपात केवल युक्तिरहित तुच्छता है। तुम्हें प्रयत्न और शुद्ध विचारके द्वारा इसे दूर करना चाहिये।

६०८–(१) अपने मानसक्षेत्रको शुद्ध करो, प्रियतमके आसीन होनेके लिये आसन तैयार करो। इहलौकिक विचारोंको हटा दो जिससे तुम्हारा मानसक्षेत्र प्रभुके सिंहासनके योग्य हो सके।

(२) हजारों कामनाओंने तुम्हारे हृदयको खाई बना रक्खी है, लाखों अभिलाषाएँ और उद्देश्य भरे पड़े हैं, जबतक प्रभुके राज्य (अपने हृदय) से इन्हें दूर नहीं करते, तबतक उसके बैठानेके लिये तुम स्थान कैसे तैयार कर सकते हो?

(३) तुम स्त्री, पुत्र धनका त्याग कर सकते हो। परन्तु अभिलाषा, नाम और यशका त्याग करना बहुत कठिन है। यशकी अभिलाषा योगमें महान् विघ्न है। यह मायाका अत्यन्त शक्तिशाली अस्त्र है जिसके द्वारा वह सांसारिक पुरुषोंका नाश करती है।

६०९–योगी आत्मसंयम और आत्मशासनके द्वारा एक ही समय दो स्थानोंमें काम करना सीखता है। अर्थात् उसी समय अपने शरीरसे निकलकर वह भौतिक क्षेत्रमें काम करता है। इसलिये वह लिखते या बातचीत करते समय अपने सूक्ष्म शरीरसे दूसरा ही काम करता रहता है। जब योगीकी ऐसी बात है तो फिर पूर्ण ज्ञानीकी बात क्या, जो अपने स्वरूपमें स्थित है। वह ब्रह्मदृष्टिमें रत हो अपने मन और शरीरको यन्त्रवत् व्यवहार करते समय काममें लगाता है। उसे द्विविध चेतना प्राप्त है। उसे (ब्रह्मभावना) परमार्थके साथ-साथ जगत्‌भावना (व्यवहार) का भी ज्ञान रहता है। जगत्‌को वह अपने भीतर ही स्वप्नके समान देखता है। ईश्वर या सगुण ब्रह्मको निर्गुण ब्रह्मकी पूर्ण भावना होती है। यही उसका स्वरूप-लक्षण है। उसी समय उसे पूर्ण विश्व-चेतना होती है। वह जानता है कि प्रत्येक मनमें क्या हो रहा है। ज्ञानी पुरुष सदा समाधिमें रहता है। राजयोगी-के समान ज्ञानीको समाधिस्थ और असमाधिस्थ-जैसी विभिन्न अवस्था नहीं होती।

६१०–सुप्त-दशामें मन सूक्ष्मावस्थामें रहता है, वृत्तियाँ भी सूक्ष्मावस्थाको प्राप्त होती हैं; परन्तु अद्वैत (वेदान्त) निष्ठामें मन नहीं रहता, जगत् नहीं रहता। जगत् ब्रह्ममें निमग्न हो जाता है। (माण्डूक्योपनिषद् २।१)

६११–यौगिक-समाधिमें ध्येय रह जाता है। ध्येय ध्यानके विषयको कहते हैं। वेदान्तिक-समाधिमें 'केवल अस्ति' रह जाता है।

६१२–भाषाएँ विभिन्न होती हैं, पर विचार एक होता है। सब मनुष्योंमें मानसिक आकृति एक-ही सी होती है। वाणी (ध्वनि) के चार रूप या भाव होते हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। वैखरी साधारण बातचीत (भाषा) को कहते हैं। यह विभिन्न देशोंमें विभिन्न प्रकारकी होती है, परन्तु परा, पश्यन्ती और मध्यमा (सर्वत्र) एक और समानरूपसे रहती हैं। परा अभेदवाणी (ध्वनि) है जो ब्रह्ममें सुप्त रहती है। देवताओंकी भाषा, मानसिक भूमि-की भाषा एक होती है, उसे ही मध्यमा कहते हैं। कारण-शरीरका चक्राकार कम्पन पश्यन्ती कहलाती है, वही तुम्हारा यथार्थ नाम है। जब तुम अपने कारण-शरीरके द्वारा क्रियाशील होते हो, जब तुम अन्तर्दृष्टया कारण-शरीरके नेत्रोंसे अथवा दिव्य-दृष्टिसे देखते हो तब तुम पश्यन्ती ध्वनि (वाणी) को, जो तुम्हारा वास्तविक नाम है, सुन सकते हो।

६१३–ऐन्द्रिय विषयों तथा सांसारिक वासनाओंसे असन्तोष होनेसे आत्मज्ञानकी उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है, उस उत्कट इच्छासे अमूर्त भावना आती है और अमूर्त भावनासे मन एकाग्र होता है, चित्तकी एकाग्रतासे ध्यान होता है और ध्यानसे समाधि (अर्थात् आत्मानुभव) की प्राप्ति होती है। बिना असन्तोष (वैराग्य) के कुछ भी सम्भव नहीं है।

६१४–राजयोगी त्रिकुटि (अग्निचक्रमें–दोनों भौंओंके बीच) में मनको जमाता है जो जाग्रदवस्थामें मनके रहनेका स्थान है। यदि तुम मनको इस देशमें एकाग्र करो तो तुम मनको आसानीसे वशमें कर सकते हो। अभ्यास करते समय बहुत ही शीघ्र यहाँतक कि एक दिनके अभ्यास-में ही कुछ मनुष्योंको इस देशमें प्रकाश दीख पड़ता है। जो विराट्‌का ध्यान करना चाहते हैं तथा जो संसारकी सहायता करना चाहते हैं उन्हें मनकी एकाग्रताके लिये इस देशको चुनना चाहिये। भक्त या साधकको भावना तथा अनुभवके आधारभूत स्थान हृदयमें मनको जमाना चाहिये। जो हृदयमें मनको केन्द्रीभूत करता है उसे अपार आनन्द प्राप्त होता है। जो स्वयमेव कुछ प्राप्त करनेकी अभिलाषा करते हैं उन्हें हृदयमें ही मनको एकाग्र करना चाहिये।

निर्गुण ध्यानमें, या तो त्रिकुटिमें अथवा सहस्र-पद्ममें तुम्हें मनको केन्द्रीभूत करना चाहिये। वेदान्ती भी हृदय-में ही मनको एकाग्र करते हैं।

६१५–जिसप्रकार भौतिक शरीर ठोस, द्रव तथा वायवीय पदार्थोंसे बना है वैसे ही मन भी विभिन्न कम्पन-चक्रोंके द्वारा घनीभूत हुए नाना प्रकारके सूक्ष्म द्रव्योंसे बना है। राजयोगी गम्भीर साधनाके द्वारा मनके विभिन्न स्तरोंके बीच होकर निकलता है।

६१६–वृत्तियाँ अर्थात् मनके आकार अविद्याके कार्य होते हैं, जब ज्ञानके द्वारा अविद्याका नाश होता है तो वृत्तियोंका ब्रह्ममें लय हो जाता है। जिसप्रकार कि जल जलती हुई कड़ाहीमें डालनेसे उस कड़ाहीमें ही सूख जाता है।

६१७–सिद्धियोंके निदर्शनके एक ही आघातसे सारा बाह्य अनुभवात्मक जगत् एक साथ ही अवसानको प्राप्त हो जाता है और इस जगत्-जैसी वस्तुकी स्मृति या भावना अथवा जगत्‌में संकुचित आत्मव्यक्तित्वकी भावना पुरुषको पूर्णरूपसे छोड़ देती है।

६१८–अविद्याका स्थान मनुष्यके मनमें रहता है। प्रत्यय-शक्तिके स्वभावके अनुसार ही आनुभविक ज्ञानकी व्याख्या हो सकती है। श्रीशंकर अविद्याको इसप्रकार समझाते हैं–यह नैसर्गिक होती है, यह हमारे मानसिक क्रियाओंमें अन्तर्हित होती है। यह मिथ्या ज्ञानपर अवलम्बित होती है। ज्ञान एक मानसिक परिणाम होता है। यह नित्य प्रत्ययरूप होता है और मिथ्याज्ञानके रूपमें रहता है।

'सारे जीव–मानव अस्तित्व—जो वस्तुतः अभावरूप हैं वे (जीवन और मृत्युके सारे समवायके साथ) केवल मन-की विषयाकार प्रवृत्तिके परिणामरूप होते हैं और कुछ भी नहीं।' सारे अनुभव द्वैतरूप होते हैं जो प्रमाता और प्रमेयसे बनी केवल कल्पनाएँ हैं। मनसे अलग अविद्या कोई वस्तु नहीं, मनोनाशके साथ सब कुछ नष्ट हो जाता है। मनकी क्रियाओंसे ही सारे दृश्य उपस्थित होते हैं।

६१९–अविद्या उपाधियों (गुणों, सीमित संयोगों) के द्वारा काम करती है। अविद्याके द्वारा चाही हुई सारी प्रधान सामग्रियोंसे आत्माकी उपाधिकी रचना होती है। मन एक उपाधि है, बुद्धि एक उपाधि है और अहंकार भी एक उपाधि है। (क्रमशः)

विपत्तिमें सहायता

(लेखक—गोस्वामी श्रीलक्ष्मणाचार्यजी वाणीभूषण)

[सच्ची घटना]

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई।
तदपि कहे बिन रहा न कोई॥
(गो० तुलसीदासजी)
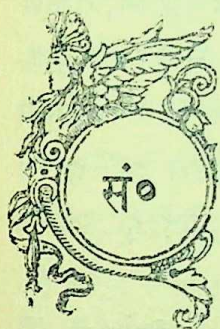
सं० १९५० की घटना है। वैशाखका महीना था, कुछ यात्री माहिष्मती-से श्रीजगदीशजी जा रहे थे। मैं पहलेसे ही प्रवासमें था। चोली महेश्वरसे मैं भी इस दलके साथ हो गया, विद्यार्थी व्रजलाल मेरे साथ था। हमलोग नर्मदाके तटपर घूमते हुए दक्षिणकी ओर मध्यप्रदेशके सघन वनमें चले गये। हमारे साथी बड़े सज्जन थे। पं० रामनारायणजी मुख्य पथ-प्रदर्शक थे। सबका सामान ढोनेके लिये एक मजदूर था। धोती, पुस्तक वगैरह आवश्यकीय वस्तुएँ हम-लोगोंके पास थीं। सायंकालतक हम एक ऊँचे पर्वतकी तलेटीमें पहुँचे। वहाँ जंगल-विभागकी एक चौकी थी, उसमें दो मनुष्य रहते थे। सुहावना जंगल था, पास ही फलोंसे भरी सुन्दर हरित वृक्ष-श्रेणियाँ थीं और एक स्वच्छ जलाशय था। आज यहीं ठहर गये। स्नान, सन्ध्या और भोजनादिसे निपटकर सोनेके लिये वृक्षोंके नीचे विस्तर लगा लिये। वृक्षोंकी हरियाली थी, ठण्डी वायु बह रही थी, व्रजवासी पं० सरयूशरणजीने व्रजभाषाके दो एक मनोहर पद्य सुनाये और फिर बड़े प्रेमसे जगन्नाथाष्टक गाने लगे। मुझे भी उमंग आ गयी, मैं और व्रजलाल भी उनके साथ गानेमें तन्मय हो गये। कुछ समय भगवत्-चर्चामें बीत गया।

चौकीदार बड़े भले आदमी थे। उन्होंने कहा कि 'कल आपलोगोंको इस पहाड़पर बीस माइल चलना पड़ेगा। रास्तेमें दूकान या गाँव नहीं है, न कहीं पानी ही मिलेगा, फिर गर्मीका मौसम है, अतः आपलोग सवेरे पाँच बजे नित्यकर्म, जलपान आदि करके अपने साथ जल लेकर यहाँसे रवाना हो जाइयेगा। भयङ्कर जंगल है, सावधानीसे जाना पड़ेगा।' यह सुनकर सब चुपचाप हो सो गये। प्रातःकाल सबने स्नानादि करके जलके लोटे भर लिये और 'जय जगदीश' कहकर यात्रा आरम्भ कर दी।

पर्वतपर पगडंडी गयी थी, दोनों ओर ढालू जगह थी। हमलोग दो-चार मील तो हँसी-मजाकमें ही चढ़ गये। पर अब आठ बज चुके थे, कड़ी धूप नहीं थी, पर दोपहरकी आनेवाली धूपको सोचकर बलवान् साथी चुपचाप आगे बढ़ने लगे। साथियोंकी किसको खबर? सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंसे पर्वतके पत्थर तपने लगे थे, वृक्षोंके भी पत्ते गिर रहे थे, कहीं शीतल छाया नहीं थी। गरम लू चल रही थी। सब पसीनेसे तर हो रहे थे। सबको अपनी लगी थी। मैं और व्रजलाल सबसे पीछे रह गये। साथी मीलों आगे निकल गये, इस समय हमलोग शायद दस मील चढ़े थे।

पैर आगे नहीं बढ़े, भारी हो गये। दोपहरका समय था। व्रजलाल घबड़ाकर एक पलास-गाछके नीचे बैठ गया, वह मुझसे भी कोमल था। अब पुस्तक वगैरहको एक तरफ रख मैं भी वहीं बैठ गया। जल प्रायः आधा पी चुके थे। एक कदम आगे बढ़ना कठिन ही नहीं, दुष्कर-सा था। व्रजलाल थकावटसे वहीं सो

गया। उस विशाल वनमें मैं अकेला जग रहा था। पर्वतपर कहीं योजनों लम्बी झील दिखलायी पड़ रही थी तो कहीं दावानलका धुआँ बड़े जोरोंसे उठ रहा था। बीच-बीचमें गुफाओंसे गरजनेकी आवाज सुन मैं चौंक पड़ता था। हम दोनोंके पास तीन सौके करीब रुपये कमरमें बँधे थे। मैं इस कठिन यात्राका अनुभवकर चिन्तित-सा हो रहा था। भयङ्कर वनमें न किसी पथिकके दर्शन, न कोई ढाढ़स देनेवाला था, हम दो नये अनजान यात्री पड़े थे। अभी पाँच कोश रास्ता चलना था, जल लानेका कोई उपाय नहीं, हमारे पास थोड़ा-सा जल बचा था, भूख बड़े जोरोंसे लग रही थी। चारों ओर केवल वन और नीलाकाश दिखलायी पड़ता था। मेरी चिन्ता बढ़ रही थी। इतनेमें सामनेसे उसी पगडंडीपर एक भयानक भील कुल्हाड़ी लिये आता दिखलायी पड़ा। उसकी आँखें लाल थीं और चालमें बड़ी तड़क-भड़क थी। मैंने सोचा, जरूर यह डाकू है। व्रजलालको धीरेसे जगाया और कहा—'यह देखो, लुटेरा आ गया, अब हम नहीं बचेंगे।' व्रजलाल घबराकर काँपने लगा। मैं भी धैर्यच्युत हो गया था। वह हमारे नजदीक अपनी पीठपरकी गठरी नीचे रखकर बैठ गया। व्रजलालने कहा—'भाई! हमारे पास जो है वह ले लो, पर हमें जानसे मत मारो।' यह सुनकर वह मुस्कराया और बोला—'हमें थोड़ा पानी पिलाओ।' मेरे होश उड़ गये, क्योंकि यह थोड़ा पानी ही हमारा जीवन था, पर भगवान्‌का भरोसाकर मैंने पानी पिला दिया। यही खैर थी कि दूसरे लोटेका पानी उसने नहीं माँगा। अब उसने अपनी गठरी खोली। उसमें केले थे। मुझे और व्रजलालको आठ-आठ केले देकर उसने कहा—'खा लो।' हम भूखे तो थे ही, उसकी यह प्यारी बोली सुन, भगवान्‌को अर्पणकर केले खा गये। तृप्तिके साथ ही आत्मामें शान्ति मालूम हुई। फिर दूसरी बार उसने मुस्कराकर उतने ही केले हमें और दिये और कहा 'जब भूख लगे इन्हें खा लेना। डरो मत, वह देखो, 'चीखलदा' पास ही है, वहीं जल मिलेगा। तुम्हारे चार साथी आगे कुछ दूरपर बैठे हैं। उनमें पं० रामनारायणने मुझे कहा है कि दो लड़के तुम्हें रास्तेमें मिलेंगे, उन्हें जल्दी भेज देना, अतः जाओ, तुम्हारे साथी शीघ्र ही मिल जायँगे।' मैंने उसकी दयालुतापर मुग्ध हो कुछ और बातें करनी चाहीं, पर भयावनी मुखाकृति देख कुछ भी कहनेका साहस नहीं हुआ। वह हमें समझाकर चलता बना और थोड़ी दूर चलनेके बाद फिर दिखलायी नहीं पड़ा।

अब हममें बल आ गया। निर्भय-से हो गये। कुछ विनोदकी बातें भी होने लगीं। भूख-प्यास मिट गयी। झपाटेसे चढ़ने लगे। लगभग एक बजे चले थे और पाँच बजेतक ऊपर चढ़ गये। वहाँ शिखरपर एक पुराना किला था और पास ही फला-फूला गूलरका वृक्ष था। वहाँ पहुँचते ही पेड़पर कोलाहल सुनायी पड़ा। वे कह रहे थे—'आओ भाई, आपलोग आ गये? हमलोग बड़े हैरान थे कि इतनी देर कहाँ हो गयी?' बोलीसे व्रजलालने साथियोंको पहचान लिया। वे गूलर खा रहे थे। हम भी पास ही एक वृक्षके नीचे बैठ गये। अब पं० रामनारायणजीने कहा—'क्या करें, प्यासके भयसे हम आगे चले आये। आप पीछे रह गये, क्षमा करें। भूखे होंगे, हम फल फेंकते हैं इन्हें खाइये, यहाँसे गाँव दो माइल दूर है। अभी थोड़ा विश्राम करके चलेंगे।'

ये बातें सुन व्रजलालने हँसकर मुझसे कहा—देखो भाई, हमें अनजान भयानक जंगलमें छोड़ ये यहाँ गूलरके फल खा रहे हैं और फिर जोरसे कहा—

'पण्डितजी ! आप तो उपदेशक हैं फिर इन भुनगोंसे भरे गूलरके फलोंको कैसे पावन कर रहे हैं ?' यह सुन पण्डितजी जरा लज्जित-से हो गये और बोले—'भाई ! भूखा क्या पाप नहीं करता ? फिर भी हम फलको तोड़कर फूँकसे भुनगोंको उड़ा देते हैं और फिर खाते हैं, तुम भी भूखे हो, कुछ खा लो न ?' व्रजलालने मुझको इशारा किया और दोनोंने केलेकी फली निकालकर दिखलायी कि हमारे पास तो ये हैं, हम क्यों गूलर खाने जायँ ? खूब केले खाये हैं, क्या आपको नहीं मिले ?'

पं० रामनारायणजी नीचे उतर आये । साथी भी उनके पीछे-पीछे आ गये । आते ही उन्होंने पूछा—'ये केले कहाँ मिले ? रास्तेमें तो जंगलके सिवा और कुछ भी नहीं था ।' मैंने कहा——'आपने जिस मनुष्यसे सन्देश कहला भेजा था, उसीने आठ-आठ केले हमें खिलाये और उतने ही हमारे साथ बाँध दिये । ये रक्खे हैं ।' मेरी बात सुन सब आश्चर्यचकित हो गये । कहने लगे——'जगदीशकी शपथ, रास्तेमें हमें कोई मनुष्य नहीं मिला और न हमने किसीसे सन्देश कहलवाया । आप मज़ाक कर रहे हैं ।'

मैंने पं० रामनारायणजीका हाथ पकड़कर कहा——'पण्डितजी ! क्या मैं आपसे मज़ाक कर सकता हूँ ? जगदीश-यात्रामें आपसे जो कुछ कहा है बिल्कुल सच है ।' सुनकर पं० सरयूशरणजी स्तब्ध-से हो गये ! इस बातका सबपर प्रभाव पड़ा । सभी गहरे विचारमें डूब गये । मैं तो अभीतक उसे जंगली पथिक समझ रहा था, अब मेरा हृदय भी डावाँडोल होने लगा । रास्तेमें साथियोंसे न मिलकर उसने उनकी संख्या और नाम कैसे बतला दिये ? प्रभुकी अद्भुत लीला थी ।

इसी समय पं० सरयूशरणजीने रोते हुए केले माँगे, मैंने सोलहों केले उनके सामने रख दिये । सबने दो-दो केले उठा लिये, पं० सरयूशरणजी तो छिलकेसहित खा गये । बाकी केले हमारे लिये बच गये ।

मेरे हृदयमें हिलोरें उठने लगीं, हृदय भर आया । वियोगसे रहा नहीं गया, मैं रो पड़ा और कहने लगा——वे दयासिन्धु केले खिलानेवाले कौन थे, जिन्होंने जल पीकर हमें ढाढ़स बँधाया, नयी शक्तिका सञ्चार कर इस पर्वतपर पहुँचा दिया । वे पतितपावन प्रभु कहाँ गये ? मैं बार-बार इसी प्रकार कहकर रोने लगा । पं० सरयूशरणजीने मुझे हृदयसे लगाकर कहा——'वे दयासागर थे, घट-घटकी जाननेवाले अन्तर्यामी प्रभु थे । हमलोगोंने आप दोनोंको अकेले छोड़कर जो अपराध किया है उसे क्षमा करो और अब कुछ न बोलो ।'

मैं चुप हो गया । बाकी केले मित्रोंमें बँट गये । मैंने प्रेमवश एक रख लिया था, वह बहुत दिनोंतक सूखता रहा, पर अब चालीस वर्षतक कैसे रहता ? फिर भी उसका चूर्ण एक डब्बीमें अब भी सुरक्षित पवित्र स्थानमें रक्खा है । हमारे दुःखमें सहायता पहुँचानेवाले ये कौन थे, यह तो प्रभु ही जानते हैं ।

पता

बृथा भ्रमै मन मूढ़, मोहन मूरति घट बसी ।
ढूँढ़ सकै तौ ढूँढ़, पलटि नैनकी सैनसों ॥

प्रेमयोगी 'मान'

साक्षात् भगवत्प्राप्ति

(लेखक—श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)

शास्त्रोंमें भगवत्प्राप्तिके दो प्रकारके उपाय बतलाये गये हैं। उनमेंसे एक तो साक्षात् भगवत्प्राप्तिके प्रदान करनेवाले हैं जो विशेषकर गुण और भावमूलक हैं। दूसरे उपाय प्रधानतः साधनामूलक हैं जो गुण और भावोंकी प्राप्तिमें सहायक होते हैं तथा इनके द्वारा ही भगवत्प्राप्तिके कारण बनते हैं। साधकोंकी विशेष प्रवृत्ति और अनुरागके निमित्त साधनाको भी भगवत्प्राप्तिका उपाय कह सकते हैं, क्योंकि वह साक्षात् नहीं तो गौणरूपसे भगवत्-प्राप्तिका कारण अवश्य होती है। साधनाके बिना अभीष्ट गुण-भावकी प्राप्ति हो भी नहीं सकती, इस-लिये वह परमावश्यक वस्तु है। जिसप्रकार नींव-की दृढ़ताके बिना मकान ठहर नहीं सकता उसी प्रकार साधनाकी दृढ़ताके बिना भगवत्प्राप्तिके उपायस्वरूप गुण-भाव भी चिरस्थायी नहीं हो सकते। इसप्रकार भगवत्प्राप्तिमें गुण-भाव लक्ष्य हैं और साधना उनकी प्राप्तिके उपाय हैं। इन दोनोंके भेद और पारस्परिक सम्बन्धका ज्ञान रखना परमावश्यक है। क्योंकि जिन गुण-भावोंकी प्राप्तिके लिये साधना की जाती है उनके महत्त्व और प्रयोजनको न जाननेसे वह कभी सफल नहीं हो सकती। इस रहस्यके न जाननेके कारण ही लोग गुण-भावोंकी अवहेलना कर उनके विरुद्धाचरण करते हैं तथा साधनाको ही साक्षात् प्राप्तिका मूल कारण मानकर भगवत्प्राप्तिको क्रय-विक्रयकी वस्तु बना डालते हैं। इसप्रकारकी साधनाओंमें बाह्यरूपसे निष्कामभावकी चाहे कितना ही प्रदर्शन हो, आन्तरिक भावना तो सदा यही रहती है कि साधनमें कष्ट उठानेसे उसके फलस्वरूप भगवान्की प्राप्ति अवश्य होगी। परन्तु यह ठीक नहीं। भगवान्को साधनरूपी कीमत देकर कोई नहीं खरीद सकता, इस भावके साधक अनेक कष्ट सहनेपर भी जब भगवत्-प्राप्ति नहीं कर पाते तो समझ लेते हैं कि क्रय-विक्रयकी भावनारूप साधनसे उसकी प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है और तब वे श्रीभगवान्के दिव्य गुण, अहिंसा, सत्य, क्षमा, परोपकार, ब्रह्मचर्य, शौच, सन्तोष, आत्मज्ञान, निर्मोह, शम, दम, समता आदि (गी० १०।४-५) तथा निष्काम सेव्य-सेवक-भावको धारण करते हैं और उन्हें अपने दैनिक जीवनके अभ्यासमें लगाते हैं। जिससे भगवत्प्राप्ति तो क्या, स्वयं भगवान् ही सेवक बन जाते हैं। एक महात्मा-का कथन है कि साधना करनेका तात्पर्य यह है कि उसके अभ्याससे थककर साधक जान ले कि केवल साधनासे ही नहीं बल्कि निष्कामभावसे श्रीभगवान्‌के दिव्य गुण और सेव्य-सेवक-भावके धारण करने-पर ही दुर्लभ भगवत्कृपाकी प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। गीतामें भगवान् कहते हैं कि 'न वेद, न यज्ञ, न स्वाध्याय, न दान, न कर्म और न उग्र तपके द्वारा ही कोई इसलोकमें मुझे देख सकता है। (गी० ११।४८) तथा मेरे स्वरूपको हे अर्जुन! जैसा तुमने देखा है वैसा (प्रत्यक्ष दर्शन) कोई वेद, तप, दान अथवा कर्मके द्वारा नहीं देख सकता; (गी० १८।५३) एवं साधक (योगी) वेद, यज्ञ, तप और दानसे जो पुण्य फल प्राप्त होते हैं, उनसे परे जाकर परम पदको प्राप्त करते हैं। (गी० ८।२८) इसप्रकार एक ही सिद्धान्तका बारम्बार अनुवाद होनेसे उसकी परम सत्यता स्वतः सिद्ध होती है।

मिथ्या धारणासे हानि—गुण-भावके महत्त्वको न जानकर केवल साधना करनेवाले उनकी प्राप्तिके अवसरको पाकर उनकी अवहेलना ही नहीं करते

बल्कि उनके विरुद्ध आचरण करते हैं जिससे बड़ी हानि होती है। इसप्रकारकी साधनासे सिद्धियोंकी प्राप्ति भले ही हो, किन्तु भगवत्प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। वह तो दिव्य गुणभाव अर्थात् निष्काम प्रेमाभक्तिसे होती है (गी० ११।५४)। गुणभावकी प्राप्तिके लिये दुर्गुणोंको छोड़कर दिव्य गुणका ग्रहण तथा भोगात्मक स्वार्थभावको छोड़कर ईश्वरार्थ निष्कामभावको ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है।

विकार-नाश—विकार (दुर्गुणों) के निवारणके विषयमें भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि, काम और क्रोध रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं, यह कभी न शान्त होनेवाले महापाप हैं, इन्हें अपना शत्रु समझो। (गी० ३।३७) काम, क्रोध और लोभ यह नरकके तीन द्वार हैं, इनसे अपना ही सत्यानाश होता है, इसलिये इनका त्याग करना चाहिये। (गी० १६।२१) मरनेके पहले इस जन्ममें ही जो काम-क्रोधके उद्भव और वेगको सहन कर सकता है वही सिद्ध और सुखी मनुष्य है। (गी० ५।२३) इच्छा, द्वेषसे उत्पन्न हुए द्वन्द्वके मोहसे हे भारत! सब प्राणी सम्मोहित हो आवागमनमें पड़ते हैं। (गी० ७।२७) इसप्रकार काम, क्रोध, लोभ और ईर्ष्या-द्वेषके निवारणका उपदेश देते हुए भगवान्‌ने इन्द्रियनिग्रहको भी परमावश्यक बतलाया है। (गी० ४।२६-२७)

दिव्य गुण—दूसरोंके दुःखको अपना दुःख और सुखको सुख मानकर जहाँतक अपनेसे हो सके दूसरों-के दुःखको दूरकर तथा उनकी सुखवृद्धिमें सहायक बन सब प्राणियोंका हित करना सबसे बड़ा गुण है। अपने दोषोंको नष्ट करके, द्वन्द्वभावको हटा, सब भूतोंके हितमें रत संयमी ऋषिलोग ब्रह्मरूपी निर्वाण-पदको प्राप्त होते हैं। (गी० ५।२५) हे अर्जुन! सुख अथवा दुःखमें जो अपने ही समान सर्वत्र देखता है वह योगी महान् है। (गी० ६।३२) इसप्रकार समभाव और सहानुभूति भी दो दिव्य गुण हैं। असंमोह, क्षमा, सत्य, शम, दम, अहिंसा, समता, सन्तोष आदि जो स्वयं श्रीभगवान्‌के भाव हैं उनका पालन करना आवश्यक है। (गी० १०।४-५) अत्यन्त द्वेष-शून्यता, मैत्री, करुणा, ममता-राहित्य, निरहंकार, क्षमाशीलता, सुख और दुःखमें समान भाव, सतत-सन्तुष्टि, निश्चयमें दृढ़ता, श्रीभगवान्‌में मन और बुद्धिको अर्पित करना, हर्ष, शोक, अमर्ष और उद्वेगसे निवृत्ति, अनपेक्षा, शुचिता, शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति आदिमें समान भाव, यथालाभमें सन्तुष्टता आदि भक्तके दिव्य गुण हैं। यही क्यों, जन्म-मरण, जरा-रोगसे निवृत्ति और अमृतत्वका लाभ तथा ब्रह्मकी प्राप्ति जिस त्रिगुणातीत अवस्थासे होती है वह भी दिव्य गुण ही है। सुख-दुःखमें समान भाव, स्वस्थता, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, शत्रु और मित्र सबमें समान भाव, तथा अभय सत्त्व-संशुद्धि आदि समस्त दैवी सम्पत्तियाँ भी दिव्य गुण हैं।

दिव्य भाव—भोग-सम्बन्धी स्वार्थ-कामनाको त्यागकर कर्तव्य-कर्मोंको, फलकी कोई भी आकांक्षा न रखते हुए ईश्वरके निमित्त उसके ही कर्म समझ-कर आचरण करना दिव्य भाव है। (गी० ६।२७; ११।५५; १२।६, १०)

परम भाव—सर्वत्र सब प्राणियोंमें ईश्वरको परम कारण और सुहृद्‌रूपसे जानकर उन (प्राणियों) की तुष्टिके द्वारा उन (ईश्वर) की सेवा करना, तथा सबमें श्रीभगवान्‌को और श्रीभगवान्‌में सबको देखना परम भाव है, इस भावके द्वारा स्वयं श्रीभगवान्-के साथ अटूट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। (गी० ४।३५; ५।७; ६।२९-३०-३१; ७।७-१०-१९; १०।४२)

मुख्य साधना—आजकल अधिकतर साधकोंको यह अच्छी तरह विदित नहीं होता कि मुख्य साधन क्या है? श्रीमद्भगवद्गीताने तो ईश्वर-स्मरणको ही सब साधनोंमें मुख्य माना है। सदा भगवान्‌का स्मरण करते हुए कर्तव्य-कर्मोंको करना तथा यह समझना

कि समस्त कर्म उन्हींके हैं, एवं मन, बुद्धिके साथ समस्त कर्मोंको निरहंकारभावसे श्रीभगवान्‌को अर्पण करना, अनन्यचित्तसे उनका स्मरण और कीर्तन करना, नित्ययुक्त होकर उनकी उपासना करना, परस्पर श्रीभगवान्‌के दिव्य गुण, स्वरूप, यश आदिका चिन्तन करना, एवं प्रेमसे भगवद्भजन करना, यही मुख्य साधन है। (गी० ६। १४, २७, ३४; १०। ६-१०; १२। १३)

नवधा भक्तिमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन यह छः साधनाएँ हैं, तथा शेष तीन दास, सख्य और आत्मनिवेदन भाव हैं; इनकी प्राप्तिके बिना साधना परिपक्व नहीं हो सकती। साधनाकी प्रगतिमें इसप्रकार तारतम्य होता है—पूजा, स्तुति, जप, ध्यान और लय। कहा भी है—

पूजाकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमो जपः।
जपकोटिसमं ध्यान ध्यानकोटिसमो लयः॥

साधनामें ध्यान अन्तिम अवस्था है जिसका अन्त लय अर्थात् भगवत्प्राप्तिमें होता है।

गुण और भावका सम्बन्ध—बहुतोंका यह भी भ्रम है कि अहिंसा, सत्य, क्षमा आदि दिव्य गुणोंके बिना ही भगवद्भावकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु जिसप्रकार पौधेके बिना पुष्पका होना सम्भव नहीं उसी प्रकार सद्‌गुणोंके बिना सद्भावका होना भी सम्भव नहीं है। सद्‌गुणसम्पन्न पुरुष ही दास, सख्य और मधुर भावको प्राप्त कर सकते हैं, अन्य नहीं। गुण-भाव और साधनके पारस्परिक सम्बन्धको न जाननेवाले अनेक साधक साधनमें निष्ठा रखते हुए भी काम, क्रोध, लोभ, असत्य आदि दुर्गुणोंमें पड़े रहते हैं और समझते हैं कि इनके रहनेपर भी केवल साधनके बलसे भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु यह नितान्त भूल है। दुर्गुण कभी साधनाको सफल नहीं होने देते। इसी प्रकार कुछ लोग चरित्र-गठनके अभिलाषी बनकर केवल अपनी चेष्टासे ही दिव्य गुणकी प्राप्ति करना चाहते हैं, परन्तु यह असम्भव है। क्योंकि बिना भगवद्भजनरूप साधनके चरित्रवान् अथवा दिव्य गुणयुक्त होना आकाशकुसुमके समान है। केवल विचार और इच्छाशक्तिके द्वारा बाह्यरूपसे चरित्रनिर्माण हो जानेपर भी अन्तर्चरित्रका निर्माण अर्थात् स्वार्थत्याग, सर्वत्र आत्मदर्शन आदि ईश्वरीय दिव्य गुणोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इनकी प्राप्ति तो आत्मविकासके द्वारा ही सम्भव है। अतः साधन और सद्‌गुणका कार्यकारणसम्बन्ध स्पष्ट है तथा इन दोनोंके द्वारा भावकी प्राप्तिका होना भी निश्चय है। प्रारम्भमें साधनाके साथ-ही-साथ सद्‌गुणकी प्राप्तिमें भी सचेष्ट रहना आवश्यक है। आजकल प्रायः अधिकांश लोग दिव्य गुणोंकी प्राप्तिको महत्वपूर्ण न मानकर इसकी ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं देते बल्कि किसी सरल पथ अथवा साधनविशेषकी खोजमें रहते हैं और सद्‌गुणोंकी प्राप्तिको कठिन जान उसमें प्रवृत्त नहीं होते हैं। परन्तु यह याद रखनेकी बात है कि यदि अन्तःकरणके भाव मलिन हैं तो किसी भी क्रियाके द्वारा भगवत्प्राप्ति असम्भव है।

लेखकने एक बार महात्मा गान्धीसे निवेदन किया था कि केवल अहिंसा, सत्य आदि सद्‌गुणोंके उपदेशसे ही जनता किसप्रकार अहिंसक, सत्यवादी आदि हो सकती है, मनुष्यकी कमज़ोरी इन्द्रियलोलुपता, स्वार्थपरता आदि केवल उपदेशसे किसप्रकार दूर हो सकते हैं? इसलिये क्या यह ठीक नहीं है कि अहिंसा, सत्यादिका पालन ईश्वरस्मरणके साथ-साथ हो? महात्माजीने कहा कि 'बात ठीक है और ऐसा ही होना चाहिये।'

भगवत्प्राप्तिके तीन भाव—

(१) 'सब प्राणियोंके हृदयमें ईश्वर है' यह जानकर अपने मन और बुद्धिके मलको दूरकर, चित्तको अभ्यास-वैराग्यके द्वारा शान्त कर, अपने आत्मामें स्थित हो निर्हेतुक उपासना और ध्यानद्वारा परमात्माको प्रत्यक्ष करनेका यत्न करना।

(२) सर्वत्र सब प्राणियोंमें ईश्वरको वर्तमान जान उनकी निष्काम सेवा करना और इसप्रकार सर्वदा ईश्वर-स्मरणमें संलग्न रहना।

(३) संसारकी सब वस्तुओंको ईश्वरकी सम्पत्ति जान उनमें ममत्वका त्याग करना तथा ज्ञान, बल, क्रिया आदिको ईश्वरकी स्वाभाविक शक्ति जानकर अहंकारसे बचना एवं निर्मम निरहंकार होकर लोकहित-कार्योंको यथार्थ ईश्वर-सेवा समझ-फलकी बिना आकांक्षाके उनमें प्रवृत्त होना।

इन्हींसे साक्षात् भगवत्प्राप्ति होती है।

परम प्रेमास्पद

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

श्यामा—बहिन कोकिला! तुमने और तो सब प्रकारकी मनोहर कथाएँ तथा शिक्षाएँ सुनायीं परन्तु यह नहीं बतलाया कि 'सबसे प्यारा कौन है?' मैं देखती हूँ कि लोकमें तीन वस्तुएँ सबसे प्यारी होती हैं—एक स्त्री, दूसरा पुत्र और तीसरा धन। स्त्री न हो तो वंशरक्षक पुत्र कहाँसे हो? और गृहस्थीके धर्म भी स्त्रीके बिना नहीं हो सकते। जैसे एक पहियेकी गाड़ी किसी कामकी नहीं, इसी प्रकार स्त्रीके बिना पुरुष यज्ञादि कोई कर्म नहीं कर सकता। जैसे विधवा स्त्री किसी कर्मके योग्य नहीं रहती, इसी प्रकार विधुर पुरुषको भी कोई कर्म करनेका अधिकार नहीं बल्कि उसे तो घरमें रहनेतकका निषेध है। शास्त्र कहते हैं कि विधुर पुरुष वानप्रस्थाश्रम या संन्यासाश्रमका पालन करे। धन न हो तो धर्म, कर्म तथा स्त्री-पुत्रोंका पालन किसप्रकारसे हो? धर्म-कर्म सब धनसे ही सिद्ध होते हैं। ये तीनों परमावश्यकीय और प्यारे हैं तथापि एक-न-एक दिन इनका वियोग हो जाता है और इनके वियोग होनेपर भी मनुष्य जीवित रहता है और सुख भोग करता है। यदि स्त्री, पुत्र तथा धन ही परम प्यारे होते तो इनके वियोग होनेपर कोई भी जीवित न रहता, पर ऐसा नहीं होता है। अब आप ही इसका समाधान कीजिये कि ऐसी कौन-सी सुखरूप वस्तु है जिसके लिये महान्-से-महान् विपत्ति झेलकर भी मनुष्य जीवित रहता है?

कोकिला—बहिन! यह दृश्य वस्तुएँ कोई भी परम प्यारी नहीं हो सकतीं, क्योंकि इनका संयोग-वियोग होता ही रहता है। ये सब उस परम प्यारेकी सत्ता-स्फूर्तिसे प्यारी भासती हैं। इन सभी दृश्य पदार्थोंके अन्दर उसी परम प्यारेका आभास पड़ रहा है, इसीसे यह प्यारे लगते हैं। शरीरसे जब वह वस्तु (अर्थात् सूक्ष्म शरीर) चली जाती है जिसमें प्यारेकी सत्ता-स्फूर्ति विशेष थी, तब चाहे पुत्रका शरीर हो, चाहे स्त्रीका हो अथवा पतिका हो, उससे फिर कोई प्यार नहीं करता। जिस शरीरपर एक घड़ी पहले इतनी प्रीति थी कि उसके लिये मखमलोंके गद्दे बिछे थे, अब उसीको पृथ्वीपर डाल देते हैं और 'ले चलो ले चलो' होने लगती है, मनुष्य जिसके साज-शृंगारमें रात-दिन लगा रहता है उसीको अग्निमें भस्म कर दिया जाता है। क्या कोई अपनी प्यारी वस्तुकी ऐसी गति होते देख सकता है? इससे सिद्ध होता है कि स्त्री-पुत्रादिके तथा अपने शरीर प्यारे नहीं हैं।

श्यामा—बहिन! यह क्या कहती हो? अपना शरीर तो सभीको प्यारा होता है। सब अपने सुखके लिये ही यत्न करते हैं। स्त्री, पुत्र, धन, जन, सब अपने सुखके लिये ही प्यारे हैं। उनके लिये उनको कोई प्यार नहीं करता। स्त्री पतिको प्यार करती है अपने सुखके लिये, पति स्त्रीको प्यार करता है अपने सुखके लिये, पिता पुत्रको प्यार करता है

अपने सुखके लिये, पुत्र पिताको प्यार करता है अपने सुखके लिये। इसप्रकार सब सबको अपने-अपने सुखके लिये प्यार करते हैं। श्रीयाज्ञवल्क्यजी अपनी प्रिया मैत्रेयीसे कहते हैं कि 'हे मैत्रेयी, स्त्री पतिको इसलिये प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करती है कि उसके प्रसन्न होनेसे प्रसन्नता प्राप्त होगी। पति स्त्रीको इसलिये प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करता है कि उसकी प्रसन्नतासे मैं प्रसन्न हो सकूँगा, घरमें कलह रहा तो सारे गृहस्थ-धर्म नष्ट हो जायँगे, जीवनयात्रा कठिन हो जायगी। इससे सिद्ध होता है कि अपना शरीर ही परम प्यारा है।

कोकिला—बहिन! तू किसको अपना प्यारा समझती है? हाड़, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि, इत्यादिसे बने पुतलेको? नहीं-नहीं, यह पुतला अपना नहीं है, यह तो दृश्य है अर्थात् देखनेमें आता है, जो देखनेमें आता है वह सब काल्पनिक और मिथ्या है। क्या कोई अपने प्यारेको जला-गला सकता है? शरीरको तो सब जलते-गलते देखते हैं। तत्त्व-वेत्ताओंका कथन है कि जिस शरीरकी गति कृमि, विष्ठा और भस्मके रूपमें होती है वह अपना नहीं है। पुत्रको यदि कोई कृमि, विष्ठा या भस्मीभूत करना चाहे तो क्या उसका पिता ऐसा करने देगा? कदापि नहीं, परन्तु तभीतक जबतक कि वह अपना है। जब वह अपना नहीं रहा, अन्यका हो गया तब चाहे कोई कुछ करे। जो अपना था वह तो चला गया, अब ममत्व कहाँ? अब तो अपने सामने ही पिता पुत्रको भस्मीभूत करता है। फिर वह अपना क्या हुआ? यह हड्डी, मांसका बना पुतला अपना कहलानेयोग्य नहीं है, अपना तो आत्मा है। श्रुति कहती है कि जो अपनेको नहीं जानता वह आत्महा है, अर्थात् आत्महत्यारा है। भला, अपनेको शरीररूपमें कौन नहीं जानता। बच्चेसे लेकर बूढ़ेतक सब अपनेको शरीररूपसे जानते हैं। यदि शरीर ही अपना होता तो श्रुतिको बतलानेकी क्या आवश्यकता थी? श्रुति तो अप्रत्यक्षको बतलानेके लिये उद्यत होती है, प्रत्यक्षको नहीं। प्रत्यक्षको तो सब जानते ही हैं। शिष्य जिस बातको नहीं जानता उसीको जाननेके लिये गुरुकी शरणमें जाता है। देह, मन, बुद्धि तो सबको प्रत्यक्ष हैं ही। शास्त्रको उनको बतानेकी क्या आवश्यकता है? शास्त्र तो जो जाननेमें न आवे उसीको गुरुद्वारा बताता है। यह सत्य है कि लोकमें पुत्र, स्त्री, धन प्यारे हैं। परन्तु ये सब गौणरूपसे ही प्यारे हैं, मुख्यरूपसे नहीं। जब अपने शरीरके ऊपर आपत्ति आती है तब मनुष्य अपने पुत्र, स्त्री तथा धनकी अपेक्षा नहीं करता, उनको भी त्याग देता है और स्थूल इन्द्रियोंसे सूक्ष्म इन्द्रियोंकी रक्षा करता है। जब कोई अपनेसे बलवान् अपनेको मारने आता है तो वह अपने हाथोंको ऊपर उठा देता है जिससे हाथोंमें चोट भले ही लगे परन्तु मस्तिष्कमें चोट न आये, क्योंकि सब सूक्ष्म इन्द्रियाँ मस्तिष्कमें वास करती हैं और जब प्राणोंपर आपत्ति आती है, तब उससे भी अपनी रक्षा करनेके लिये छटपटाता है और कहता है कि हाय, कोई ऐसा प्रयत्न हो, जिससे मैं शीघ्र विपत्तिसे छूट जाऊँ।' कोई कहता है कि 'अरे, सब राम-राम जपो जिससे यह शीघ्र विपत्तिसे छूट जाय' दूसरे बोलते हैं 'अरे, ईश्वर-ईश्वर कहो जिससे बेचारेको दुःखसे निवृत्ति हो, बड़ा कष्ट पा रहा है।' इससे सिद्ध होता है कि मैं अर्थात् आत्मा शरीरसे कोई भिन्न वस्तु है, जो ऐसी आपत्ति आनेपर भी अपनेको नहीं भूलता। शरीर, धन, पुत्र, स्त्री, पञ्च कर्म-इन्द्रियाँ, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चप्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, महत्तत्त्व, प्रकृति इन सबसे परे कोई अन्य वस्तु है जो इन सबके नाश होनेपर भी नष्ट नहीं होती। स्त्री-पुत्रादिके जो पाञ्चभौतिक शरीर हैं, वे सब पञ्चत्वको प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु आत्मा अविनाशी, अप्रमेय है, उसका कभी नाश नहीं होता।' होना, रहना, बढ़ना, घटना, रूपान्तर होना, नाश होना शरीरके यह छः विकार हैं। आत्मामें ये विकार नहीं हैं। आत्मा सदा एकरस, अपरिणामधर्मशील है। शरीर ही

जन्मता है, शरीर ही मरता है। अज्ञानसे जीव शरीरके नाश होनेपर अपना नाश मानता है, इसी कारण शरीरका जन्म होनेसे वह अपना जन्म होना मान लेता है और शरीरके नाश होनेपर अपना नाश निश्चित करके शरीरके उत्पत्ति-नाशमें सुखी-दुःखी होता है। यह नहीं जानता कि आत्माका नाश तथा जन्म तो तीनों कालोंमें नहीं है, आत्मा स्थूल शरीर नहीं है; आत्मा सूक्ष्म शरीर नहीं है; आत्मा कारण-शरीर नहीं है और आत्मा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमेंसे भी कोई नहीं है। आत्मा तीनों अवस्थाओंसे रहित तीनोंका साक्षी है, यही आत्मा सबके जन्म और नाशको जानता है। आत्माके जन्म-नाशको कोई नहीं जानता। जो सबको और सबकी अवस्थाओंको जाने वही आत्मा है, वही द्रष्टा है, वही चेतन है, अक्षर है, अविनाशी है, परम प्रत्यक्ष है, पाससे भी पास है, अर्थात् बुद्धिरूपी गुहामें ही स्थित है। गुहामें स्थित होनेसे परिच्छिन्न हो गया, ऐसा कहना नहीं बन सकता क्योंकि वह एककी गुहामें स्थित हो, ऐसा नहीं है, सबकी गुहाओंमें स्थित है। इस कारण ईश्वर अपरिच्छिन्न है। यदि कहो कि गुहामें होगा तो बाहर नहीं होगा, यह कथन ठीक नहीं क्योंकि वह आत्मा महान् है, बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है, सबका अधिष्ठान, सबका ईश और करनेवाला, अर्थात् सबको नियममें चलानेवाला है। वही भोग्य है, वही भोक्ता है और वही सबसे परे अभोक्ता भी है। श्रुति कहती है कि जो कुछ भी चर-अचर है सब उसीसे व्याप्त है अर्थात् सबमें वह व्यापक है, प्रत्येक योनिमें वही अधिष्ठित है, बृहत् होनेसे उसीका नाम ब्रह्म है, सर्व-ऐश्वर्य-सम्पन्न होनेसे वही भगवान् है, सबपर शासन करनेसे वही ईश्वर है, सबका अपना आप है, इसलिये वही ब्रह्म आत्मा शब्दसे कथन होता है, तत्त्ववेत्ताओंने और श्रुतिने उसको परम प्रत्यक्ष कहा है।

श्यामा—बहिन! जब कि यह आत्मा पाससे भी पास और सबका अपना आप, तथा प्रत्यक्षसे भी परम प्रत्यक्ष है, अजर, अमर, जन्म-मृत्युसे रहित, महान् सुखका सागर है, तब सबके जानने, देखने तथा अनुभवमें क्यों नहीं आता? इसके जाननेके लिये सभी मनुष्य व्याकुल न रहते हों, ऐसा नहीं है, सभी मनुष्य किसी-न-किसी प्रकार इसको जानने तथा इसके दर्शनकी लालसामें रहते ही हैं और इसके लिये अनेकों प्रकारके जप, तप, यज्ञ, दान, व्रत इत्यादि भी करते रहते हैं, फिर भी वह आत्मा जानने तथा देखनेमें नहीं आता, इसका क्या कारण है? कौन-से ऐसे साधन हैं जिनसे इस सुख-स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो। कोई-कोई कहते हैं कि 'ईश्वर है नहीं, यदि होता तो अवश्य दिखायी देता।' यह कथन नितान्त असम्भव है, यदि ईश्वर कुछ न होता तो सब उसकी प्राप्तिकी उत्सुकतामें क्यों रहते? कुछ है तभी तो उसकी ओर सब दौड़ते हैं। कोई किसी भी प्रकारसे करें, करते सब उसीका भजन हैं। जैसे भगवान्ने गीतामें कहा है कि जो दूसरे-दूसरे देवताओंका भजन करते हैं वे सब मेरा ही भजन करते हैं परन्तु अविधिपूर्वक करते हैं। देवताओंके पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, मेरे पूजनेवाले मुझको प्राप्त होते हैं। अतः बहिन! ईश्वरका भजन कैसे होता है और कैसे उसकी प्राप्ति होती है? और उसकी प्राप्तिके कौन-से साधन हैं?

कोकिला—बहिन! वह ईश्वर पाससे भी पास है और परम प्रत्यक्ष है, यह सत्य है। परन्तु ज्ञान और भक्तिके बिना उसका मिलना असम्भव है। जो वस्तु अति निकट होती है वह दिखायी नहीं देती, यह नियम है। जैसे अपनी आँख अति निकट अपने पास ही है परन्तु अपनेको नहीं दिखायी देती। ईश्वर तो आँखसे भी पास है, वह इन चर्म-चक्षुओंसे नहीं दिखायी दे सकता, उसको देखनेके लिये ज्ञान-चक्षुओंकी आवश्यकता है, और ज्ञान-चक्षु धारणा, ध्यान, समाधिके बिना खुल नहीं सकते। धारणा, ध्यान,

समाधि उत्पन्न करनेको जीवको ईश्वरमें योग तथा भक्ति करनी चाहिये, जबतक जीवकी ईश्वरमें अनन्य भक्ति न होगी, तबतक ईश्वरकी प्राप्ति दुर्लभ है। श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादजीका वचन है कि 'सर्वज्ञ हरि धन, जन, विद्या, तप, ओज, तेज, प्रभाव, पौरुष और सदा सत्त्वगुणी बुद्धिसे ही प्राप्त होने-योग्य नहीं है।' श्रुति भी ऐसा ही कहती है, कि 'यह आत्मा बहुत शास्त्रपठन-पाठनसे, बहुत शास्त्र-श्रवणसे, धारणावाली बुद्धिसे प्राप्त होनेयोग्य नहीं है, जिसको यह आत्मा अधिकारी समझता है, उसीको प्राप्त होता है।

श्यामा–मनुष्य अधिकारी कब और कैसे बन सकता है?

कोकिला–प्रेमसे ईश्वरका भजन करनेसे मनुष्य अधिकारी होता है। जब अनन्य-मनसे, अव्यभिचारी-भक्ति-योगसे ईश्वरमें भक्ति करता है, तब आत्माका दर्शन पाता है। ईश्वर-भजनमें सब पापोंके भस्म करनेकी शक्ति है; जाने-अनजाने चाहे जिसप्रकार हो ईश्वरका नाम-स्मरण करना चाहिये। स्मरण किया हुआ ईश्वरका नाम ईश्वरकी ओर खींचता है, नाम-स्मरण करनेवाले मनुष्योंकी सब कामनाएँ पूरी होती हैं; जो जिस कामनासे ईश्वरका नाम स्मरण करते हैं उनकी वह कामना पूर्ण होती है। जो ईश्वरकी प्राप्ति चाहते हैं, उनको नाम-स्मरण ईश्वरकी प्राप्ति करा देता है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि ईश्वरका नाम द्वेषसे, मित्रतासे, क्रोधसे और दूसरेके बहानेसे किसी तरह भी लिया जाय वह अवश्य फल देगा। ईश्वरका नाम लिया कि सब आपत्तियाँ भाग जाती हैं। जो ईश्वरके भक्त होते हैं वे कभी भी और कैसी भी विपत्ति आनेपर व्याकुल नहीं होते। उनके ऊपर जो विपत्तियाँ आती हैं, वे उन सबको परम तप समझते हैं। जैसे स्वर्ण अग्निमें तपाकर शुद्ध होता है, इसी प्रकार ईश्वर अपने भक्तोंको तीनों प्रकारके दुःखोंसे तपाकर शुद्ध करते हैं। ईश्वर-भक्त भी आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक दुःखोंको दुःख नहीं समझता, वह अपने आत्मामें पूर्ण काम, पूर्ण तृप्ति, पूर्ण सुख मानता है। उसको न लोभ है, न क्रोध और न मोह। वह विश्वप्रपञ्चमें रमण नहीं करता, अपने आत्मामें अर्थात् आनन्द-सिन्धुमें हर समय गोते लगाता रहता है, यथाप्राप्तिमें सन्तुष्ट रहता है, किसीमें न राग रखता है न द्वेष, सब विश्वको ईश्वरस्वरूप देखकर प्रसन्नचित्त आप्तकाम रहता है। जब इसप्रकार 'सर्व वासुदेव ही है' इसे तत्त्वसे जान लेता है तब वह कृतकृत्य हो जाता है। ऐसे भक्तको भगवान् प्रसन्न होकर अपनी शरण देते हैं, —अपनेमें मिला लेते हैं। फिर उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती। वही आत्मा ईश्वर है, वही आत्मा ब्रह्म है, वही आत्मा शिव है और वही आत्मा अन्तर्यामी, सर्वव्यापक, पञ्चकोशोंसे रहित, सबका अपना आप है। जबतक वह जाननेमें न आवे तबतक अव्यभिचारी अर्थात् कभी न टूटनेवाली भक्तिसे भगवान्की उपासना करते रहना चाहिये। जब श्रद्धा-विश्वासके साथ भगवत्के नाम उच्चारण करोगी, तब अपने आत्मामें ही परमात्माको देख पाओगी। भक्त अपने इष्टदेवमें जैसी बुद्धि करता है, वह उसी प्रकारका हो जाता है। जो महान् निराकारका ध्यान करते हैं वे भक्त भी महान् निराकार हो जाते हैं और जो साकाररूप भगवान्का ध्यान करते हैं वे साकाररूप भगवान्को प्राप्त होते हैं। जगत्की आशाने ईश्वरको ढक रक्खा है, ईश्वर अपना आत्मा होनेसे पाससे भी पास है, आशा तज देनेपर ईश्वरकी प्राप्तिमें देर नहीं लगती। सच कहा है—

कु०—प्यारा ईश्वर सबके, हियमें करे निवास।
विषयी मूढ न लख सके, यदपि पास-से-पास॥
यदपि पास-से-पास आशने ईश छुपाया।
तजी जगतकी आश, ईश तुरतहि लख पाया॥
जयदेवी! तज आश, ईश नहिं तुझसे न्यारा।
सबका अपना आप, तापहर सुखकर प्यारा॥

हिसाबकी भूल

किसी सन्त और जिज्ञासुमें इसप्रकार बातें हुईं।

'महाराज ! राम-नाममें प्रेम कैसे हो ?'

'भाई ! राम-नामकी कीमत, उसका महत्व समझनेसे प्रेम बढ़ता है।'

'महाराज ! कीमत तो कुछ-कुछ समझमें आती है परन्तु भजन नहीं होता।'

'क्या खाक समझमें आती है ? समझमें आ जाती तो क्या यह प्रश्न शेष रह जाता ? अभीतक तो तुम राम-नामको कौड़ियोंसे भी कम कीमती समझते हो।'

'महाराज ! यह कैसे ? कौड़ियोंके साथ राम-नामकी तुलना कैसी ?'

'अच्छा तो बतलाओ, तुम्हारी वार्षिक आय अधिक-से-अधिक क्या है ?'

'अनमानसे पचास हजार रुपये !'

'अच्छा तो अब विचार करो। बनिये हो, हिसाब लगाओ। वार्षिक पचास हजार यानी मासिक अनुमान सवा चार हजार अर्थात् रोजके अनुमान डेढ़ सौ रुपये हुए। दिन-रातके २४ घण्टेकी आय डेढ़ सौ रुपये हैं, इस हिसाबसे एक घण्टेमें अनमान छः रुपये और एक मिनिटमें दस पैसेकी आमदनी होती है। अब जरा सोचो, जिस एक मिनिटमें तुम्हारी औसत आमदनी दस पैसे हैं उसी एक मिनिटमें तुम कम-से-कम डेढ़ सौ राम-नामका बड़े आरामसे उच्चारण कर सकते हो। यानी जितनी देरमें दस पैसे पैदा होते हैं उतनी ही देरमें डेढ़ सौ राम-नाम लिये जाते हैं, तात्पर्य यह कि एक पैसेमें पन्द्रह नाम होते हैं। इसपर भी यह हाल है कि पैसेके लिये ही चेष्टा होती है राम-नामके लिये नहीं। फिर बतलाओ, राम-नामकी कीमत कौड़ियोंके बराबर भी कहाँ समझी जाती है ? एक बात और है, यह हिसाब तो पचास हजार रुपये वार्षिक आयवालेका है। साधारण आयवाले लोग अपना-अपना हिसाब लगावें और समझें कि उनका क्या हाल है ? महात्मा कहते हैं कि समय अमोलक चीज है, गया वक्त किसी भी कीमतमें हाथ नहीं आता। मरते समय मनुष्य सारी धन-दौलत देकर भी कुछ ही क्षण अधिक जीवन धारण करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है। अन्तिम वसीयतनामे (Will) की सही भी अधूरी ही रह जाती है। ऐसा कीमती समय यों व्यर्थ जा रहा है। सोचो, विचारो, हिसाबकी इस भारी भूलको दुरुस्त करो और अपने समयका सदुपयोग करो। सदुपयोग यही है कि निरन्तर नाम-जपमें लग जाओ। बस, नामजप अमूल्य चीज है। इससे वह अमूल्य-सारे अमूल्यके स्वामी—त्रिलोकाधिपति राम स्वयं प्राप्त हो सकते हैं। इसलिये अविलम्ब इस कार्यमें लग जाओ और दुःखोंसे आत्यन्तिक छुटकारा पाकर सदाके लिये जीवनको सार्थक करो। यही मानव-जीवनका ध्येय है।'

प्रेम-पीड़ा

(लेखक—श्रीधर्मचन्द खेमका 'चन्द्र')

कितनी प्यारी कितनी मीठी मधुर प्रेमकी पीड़ा।
मेरा मन अनुभव करता है, करके उससे क्रीड़ा॥

प्रेमासवकी मादकता जब, हो नस-नसमें छायी।
पावन छबि उस प्रियतमकी तब, देती है दिखलायी॥

दुनिया कहती है प्रेमीको, पागल है दीवाना !
मैं तो मुग्ध हुआ हूँ उसपर, झूम रहा मस्ताना॥

सौन्दर्य

(लेखक—श्रीसत्यदेवजी शास्त्री)

घूँघटका पट खोल रे तोहि पीय मिलेंगे ।'

घट अर्थात् अज्ञानका पर्दा खोल दो । प्यारेकी मोहिनी तथा अलौकिक सौन्दर्यपूर्ण मूर्तिकी झाँकी मिलेगी। समीप जाकर देखो। दिव्य रूपको निहारते ही रहोगे । आप-से-आप चित्त निस्पन्दित हो जायगा। आनन्दकी लहरें हृदयमें हिलोरें मारने लगेंगी। उस मोहिनी मूर्तिको देखते नहीं अघाओगे। फिर कृतकृत्य हो जाओगे।

उस मूर्तिमें 'सत्यं शिवं सुन्दरं' को जगमगाते हुए पाओगे । वही सत्य है, कल्याणकारी है, आनन्दमय है, वही सच्चा सौन्दर्य है। बाह्य जगत्में जो सौन्दर्य दृष्टिगोचर हो रहा है वह तो सत्य शिवकी छायामात्र है। प्रभुने अपनी समस्त सृष्टिमें उसी सौन्दर्यका प्रसार किया है । जिधर ही देखो, सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य है। जहाँ सौन्दर्य है, वहीं अपूर्व आकर्षण है। जहाँ आकर्षण है, वहीं एकत्वकी प्रतीति होती है। जिस वस्तुमें जितना ही अधिक तथा स्थिर आकर्षण होगा वह वस्तु उतनी ही अधिक सुन्दर और कल्याणकारी होगी।

मनुष्य स्वभावतः सौन्दर्यका उपासक होता है। जिस मनुष्यकी सौन्दर्यकी जैसी कल्पना होती है वह मनुष्य उसीके अनुसार उसकी उपासना करता है। कवि ऊषाकालीन मनोरम दृश्यमें, नदियोंकी इठलाती चालमें, चाँदकी मादक ज्योत्स्नामें अद्भुत सौन्दर्यकी सृष्टि करता है। चित्रकार एक-से-एक बढ़कर सुन्दर चित्र चित्रित करनेमें तन्मय होता है । माता शिशुके मन्द हासमें सौन्दर्यका दर्शन करती है। चारों ओर सौन्दर्यका ही साम्राज्य छाया हुआ है।

किन्तु आजकल बाह्य साधनोंकी बहुलता तथा बहिर्मुख-वृत्तिके कारण जीवन-सौन्दर्य प्रायः नष्ट-सा हो रहा है और कृत्रिम सौन्दर्यकी ओर लोगोंका ध्यान आकृष्ट हो रहा है। पाश्चात्य देशोंके नर-नारी नित्य नये-नये फैशनोंका आविष्कार कर बाह्य सौन्दर्यकी धारमें बहे जा रहे हैं, जिसमें रस नहीं, आनन्द नहीं, स्थिरता नहीं। हाँ, उसमें एक ऐसी मादकता रहती है जिससे जीवन-पुष्प मुर्झा जाता है।

किसी वस्तुकी पूर्णता उस वस्तुके सौन्दर्यका द्योतक होती है। एक खिला हुआ फूल वनकी शोभाको बढ़ाता है। परिपक्व आम स्वादु और गुणकारी होता है। पूर्णिमाके हँसते हुए चाँदको देख किसका हृदय आनन्दसे उछलने नहीं लगता ? जीवनकी सम्पूर्ण दैवी-वृत्तियोंको उनकी चरम-सीमातक पहुँचाना जीवनका पूर्ण विकास है। जीवनका पूर्ण विकास ही वास्तविक सौन्दर्य है।

ईश्वरसे प्रार्थना है कि वे हमें शक्ति और सामर्थ्य दें जिससे हम अपने कर्त्तव्य-पथपर सदा अग्रसर हों। हमारी अन्तर्दृष्टि खुल जाय और सृष्टिमें चारों ओर हमें सच्चे सौन्दर्यका दर्शन हो। 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का साक्षात्कार हो।

जग-कानन

क्लान्त नितान्त हुआ श्रमसे, न मनोरथका मग दृष्टिमें आता।
दूर है आशा अगाध नदी, पथ कंटक-क्लेश चला नहीं जाता॥
कामसे हिंसक-जीव अनेक, नहीं नर है जिनसे बच पाता।
काननमें, जगके भटका जगदीश बिना अब कौन है त्राता॥

भगवतीप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०, एल-एल० बी०

परमपदप्राप्त स्वामीजी श्रीउत्तमनाथजी महाराज

(लेखक—सेठ श्रीरामगोपालजी मोहता, बीकानेर)

राजपूतानेके सुप्रसिद्ध महात्मा श्रीउत्तमनाथजी महाराजका जन्म जैसलमेर राज्यके होफले ग्राममें श्रीजेठमलसिंहजी भाटी राजपूतके घरमें हुआ था। इनके पिताजीकी महात्माओंके सत्सङ्गमें बड़ी रुचि थी, जिसका प्रभाव पुत्रके चित्तपर भी पड़ा। जब साधु-सन्त इनके गाँवकी ओर आते तो ये भी उनके सत्सङ्गमें जाकर पूर्ण लाभ उठाया करते। अन्तमें संसारसे विरक्ति हो जानेके कारण आपने २३ वर्षकी अवस्थामें श्रीनवलनाथजीसे सं० १९५३ में संन्यासाश्रमकी दीक्षा ले ली।

यद्यपि आपके नामसे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि ये नाथोंके सम्प्रदायके अनुयायी थे; परन्तु वास्तवमें आपके सिद्धान्त साम्प्रदायिकतासे बहुत ऊँचे उठे हुए थे। इनकी गुरु-परम्पराकी तरफ दृष्टि डाली जाय तो भी यह बात सिद्ध होती है कि इन लोगोंमें साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं थी। श्रीनवलनाथजी महाराजके गुरु पूज्य बनानाथजी और उनके गुरु पूज्य जीयारामजी महाराज थे। श्रीजीयारामजीके दूसरे शिष्य सुखरामजी और पूज्य बनानाथजीके द्वितीय शिष्य उमारामजी थे। इन नामोंसे विदित होता है कि ये लोग केवल सिद्धान्तोंको ही मानते थे, साम्प्रदायिकताको नहीं। इन सब महात्माओंका सिद्धान्त भगवान् शङ्करप्रतिपादित अद्वैत वेदान्त था। यह बात इनकी बनायी 'वानियों' और शब्दोंसे स्पष्ट है। श्रीउत्तमनाथजी महाराजके उपदेशोंमें तो साम्प्रदायिक सङ्कीर्ण भावोंके समूलोच्छेदनपर विशेष जोर दिया जाता था।

स्वामीजी महाराज अधिकतर भ्रमण ही किया करते थे। सर्दीके दिनोंमें आप प्रायः ऋषिकेशमें रहा करते थे और गर्मी तथा चातुर्मासमें राजपूतानेके भिन्न-भिन्न भागोंमें भ्रमण करते हुए अद्वैत वेदान्तका उपदेश किया करते थे। आषाढ़ शु० ११ से भाद्रपद शु० ११ तक दो मास एक ही स्थानमें विराजते थें, जहाँ आप श्रीमद्भगवद्गीता अथवा योगवाशिष्ट आदि वेदान्त ग्रन्थोंपर प्रवचन किया करते थे। आपकी कथामें जिज्ञासु नर-नारियोंकी बहुसंख्यक उपस्थिति हुआ करती थी। आपके उपदेशोंकी शैली इतनी सरल और प्रभावोत्पादक होती थी कि वेदान्त-जैसे सूक्ष्म और गहन विषयको साधारण बुद्धिके लोग भी सहजमें ही समझ सकते थे। कथाओंके साथ इतिहास, दृष्टान्त, कविता और उसी विषयकी 'वाणियों' के गायन इतने हृदयग्राही हुआ करते थे कि श्रोताओंका मन उनको सुनकर कभी तृप्त नहीं हुआ करता—सुननेकी इच्छा बनी ही रहती थी।
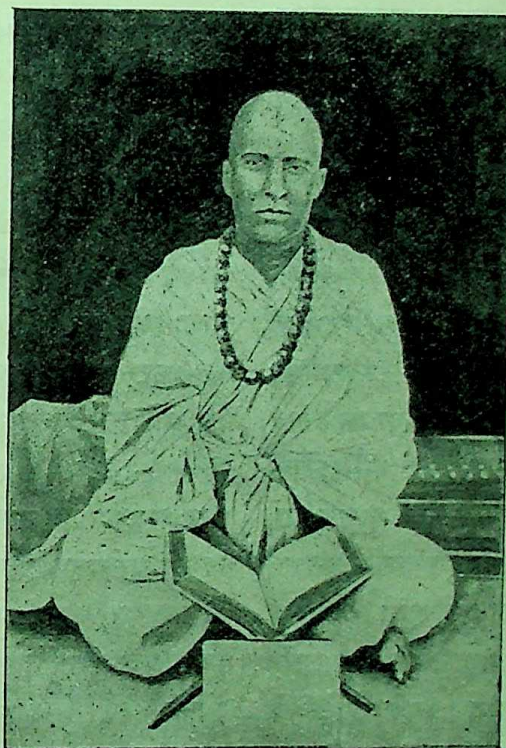
जटिल प्रश्नोंको सुलझाने और शङ्का-समाधान

करनेमें चाहे कितना ही समय लग जाय और कितना ही परिश्रम पड़ जाय, पर ये कभी उकताते ही नहीं थे। इनके उपदेशोंमें केवल शुष्क आत्मज्ञानकी चर्चा ही नहीं हुआ करती थी, बल्कि चरित्र-सुधार और व्यावहारिक ज्ञानकी भी विशेषता रहती थी। ये जहाँ जाते वहीं जिज्ञासुओंकी भीड़ लगी ही रहती और सबको यथायोग्य समझानेमें आप कोई बात उठा न रखते थे। इनके सत्सङ्गसे सैकड़ों नर-नारियोंने लाभ उठाया, सैकड़ोंके चरित्र सुधरे और सैकड़ों ही मानसिक व्यथाओंसे मुक्त हुए। इनसे बड़े-बड़े राजा-महाराजाओंसे लेकर साधारण-से-साधारण व्यक्ति एक समान लाभ उठाया करते थे। अछूत—चाण्डालोंको भी आप अपने सदुपदेशोंसे वञ्चित नहीं रखते थे।

श्रीबीकानेर-महाराजका आपके प्रति परम पूज्य-भाव था। जैसलमेर-नरेश तो श्रद्धापूर्वक इनकी कथाओं और उपदेशोंको सुना करते थे। और इन्हींके उपदेशसे जैसलमेरके राजपूतोंमें अनेक कुरीतियोंके सुधार हुए। बहुत-से राजपूत अपनी कन्याओंको जन्मते ही मार डाला करते थे। यह पापकर्म अब वहाँ बहुत कम हो गया है। पर्वों और त्योहारोंके अवसरपर पशु-बलिका बड़ा जोर रहा करता था, पर आजकल वह निर्दय कर्म भी बहुत अंशोंमें घटकर कम हो गया है। बड़े-बड़े जागीरदारों तथा साधारण राजपूतोंसे आपने उपदेशद्वारा मद्य एवं अफीम आदि मादक पदार्थोंका सेवन छुड़वाया। इनके उपदेशोंके प्रभावसे कई स्थानोंमें पाठशालाएँ एवं विद्यार्थि-गृह आदि शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाएँ स्थापित हुईं तथा जहाँ पानीका अभाव था वहाँ कूएँ और तालाब बनवाये गये।

स्वामीजी महाराजका त्याग बड़ी उच्च कोटिका था। आप अपने पास वेदान्तकी दो-तीन पुस्तकोंके सिवा और कुछ भी नहीं रखते थे। वस्त्र जब बहुत जीर्ण होकर फट जाता था तभी दूसरा लेते थे। लोग भेंटमें ढेर-के-ढेर फल लाया करते, पर आप अपने पास कुछ भी न रखकर उपस्थित जनसमूहको बाँट दिया करते थे। शिष्योंका प्रायः आग्रह रहा करता था कि आप सेकण्ड क्लासमें ही बैठें, पर आप विशेष अवसरके सिवा सदा थर्डक्लासमें ही बैठा करते थे।

व्यक्तिविशेष अथवा स्थानविशेषमें आपकी आसक्ति नहीं थी। अपने शिष्योंमेंसे आप कभी किसीको अपने साथ नहीं रखते थे। विशेष आग्रह देखकर कभी किसीको कुछ समयके लिये अपने पास रखकर फिर शीघ्र विदा कर दिया करते थे। आपको सादा भोजन (विशेषतः बजरेकी रोटी, छाछ और राबड़ी) ही पसन्द थी। शहरोंसे सदा बाहर रहना ही इन्हें अच्छा लगता था। पर सत्सङ्गके लिये आने-जानेवालोंसे कोई परहेज नहीं था। शास्त्र-श्रवणमें आप स्त्रियोंका भी पूरा अधिकार मानते थे। यद्यपि इस तरह उपदेश करनेपर लोग प्रायः कहा करते थे कि अनधिकारियोंको उपदेश नहीं करना चाहिये परन्तु इनका यह सिद्धान्त था कि अधिकारी स्वयं उत्पन्न नहीं होते, बनानेसे ही बनते हैं। इसलिये इनके उपदेशों और कथाओंका द्वार सबके लिये समान भावसे खुला था। अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार सभी लाभ उठाया करते थे। इनका लक्ष्य अपने कल्याणपर उतना न था कि जितना सबके हितपर। इसी उद्देश्यसे वे कभी निकम्मे नहीं बैठा करते थे। जब कोई मनुष्य उनके पास आता तो 'वाणी' आत्मज्ञान अथवा सात्त्विक आचरणकी चर्चा चला दिया करते थे। आपके उपदेशोंके अन्तमें पूज्यपाद गोस्वामीजीकी प्रसिद्ध चौपाई परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ासम नहिं अधमाई॥ और 'हरेराम' मन्त्रकी सस्वर आवृत्ति हुआ करती थी।

संवत् १९८९ के आश्विन-मासमें जोधपुरमें आप एक ऊँची छतसे गिर पड़े, जिससे मुँहपर इतनी अधिक चोट लगी कि शरीरके बचनेकी बहुत कम

आशा रह गयी । आपको कई मास तत्स्थानीय अस्पतालमें रहना पड़ा एवं आपने क्लोरोफार्मके बिना ही कई आपरेशन करवाये । डाक्टर लोग आपकी इस सहनशीलताको देखकर दंग रह गये । यद्यपि गिरनेसे लगी हुई चोटें तो समय पाकर ठीक हो गयीं, पर नाकके पास एक नासूर शेष रह गया, जिसका मवाद पेटके अन्दर जाता रहा और उसके फलस्वरूप आपकी पाचनशक्ति उत्तरोत्तर कम होती गयी । गिरनेके एक वर्ष बाद जोधपुरमें एक पागल सूअरने जंगल जाते समय स्वामीजीके एक अँगूठे और एक अँगलीको काट खाया तथा शरीरपर भी आक्रमण किया । उस समय आप अकेले ही थे, तो भी साहसपूर्वक सूअरको दबाकर एवं उसके मुँहको दोनों हाथोंसे पकड़कर बैठ गये । करीब आधघण्टे-तक, जबतक दूसरा आदमी न आ पहुँचा, आप उसे दबाये रहे, अन्यथा वह उन्मत्त सूअर उसी समय आपके शरीरको [illegible] ब्रह्मचर्य-तेज, ब्रह्मचर्य-बल और आत्मशक्तिके प्रभावसे संसारकी कौन-सी शक्ति पराजित नहीं हो सकती ? डाक्टरोंका आग्रह कसौली जाकर इलाज करवानेका रहा, अतः पन्द्रह दिन वहाँ रहकर इलाज करवाया गया जिससे वह विष तो शान्त हो गया, पर पाचन-शक्तिका क्रमशः ह्रास ही होता गया । निदान उदर-व्याधि होकर आपके शरीरका अन्त संवत् १९८८ मिति माघ शु० ११ को ५८ वर्षकी अवस्थामें बीकानेर नगरमें हो गया ।

बीमारीकी अवस्थामें भी आत्मज्ञानकी चर्चा चलती रहती थी । 'बानियों'का गान विशेषरूपसे हुआ करता था । अन्तके समय भी आपके चित्तमें पूर्ण शान्ति बनी रही । राजपूतानेमें आत्मनिष्ठ होनेके साथ-साथ जन-साधारणको त्रितापसे छुड़ानेका प्रयत्न करनेवाले ऐसे महात्मा विरले ही होंगे । इनके शरीर-त्यागसे राजपूताना-निवासियोंको जो क्षति पहुँची है उसकी [illegible] है ।*

ठान करके उनके वाणोंसे प्राण त्यागकर भवसागरसे पार होऊँगा, और यदि अवतार न होकर वे राजकुमार होंगे तो उन्हें रणमें जीतकर उनकी स्त्रीको हर लाऊँगा । और इसी विचारकी परीक्षा करनेके लिये ही उसने मारीचसे कपटमृग बननेके लिये अनुरोध किया, इसमें उसका तात्पर्य यह था कि 'यदि अन्तर्यामी भगवान् नररूपमें होंगे तो मायाको जान लेंगे, और यदि वह माया-मृगको न जान सके तो मैं समझ लूँगा कि वे नर ही हैं ।' इसप्रकार जब मारीचको उसने कपट-मृग बनाकर भेजा और भगवान् उसके पीछे उसे मारनेके लिये दौड़े तो उसको निश्चय हो गया कि यह अन्तर्यामी भगवान् नहीं बल्कि साधारण मनुष्य हैं । इसके बाद वह आजन्म उन्हें मनुष्य ही मानता रहा । यही कारण है कि उसने किसीके उपदेशपर ध्यान नहीं दिया ।' परन्तु यह मत ठीक नहीं है । इस मतका खण्डन इसी मारीच-वधके प्रसङ्गसे हो जाता है । जब श्रीरामचन्द्रजी माया-मृगके पीछे दूरतक चले गये और कुछ देरके बाद लक्ष्मण भी उनकी खोजमें निकले तो सूना पाकर रावण उनकी पर्णकुटीके समीप यतीके वेषमें आया और नीति-प्रीति तथा भय दिखाते हुए अनेक प्रकारकी बातें सीताजीसे कहने लगा; जिन्हें सुनकर—

अशोकवाटिकाके उजाड़नेपर जब मेघनाद श्रीहनुमान्‌जीको नागफाँसमें बाँधकर रावणकी सभामें ले गया तो उन्होंने रावणसे इसप्रकार बातें की—

बिनती करौं जोरि कर रावन । सुनहु मान तजि मोर सिखावन ॥
देखहु तुम निजकुलहि बिचारी । भ्रम तजि भजहु भक्त भयहारी ॥
जाके डर अति काल डेराई । जे सुर असुर चराचर खाई ॥
तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै । मोरे कहे जानकी दीजै ॥
रामचरण-पंकज उर धरहू । लंका अचल राज तुम करहू ॥
रामबिमुख संपति प्रभुताई । जाइ रही पाई बिनु पाई ॥
सुनु दसकण्ठ कहौं प्रन रोपी । रामबिमुख त्राता नहिं कोपी ॥
शंकर सहस विष्णु अज तोही । सकहिं न राखि रामकर द्रोही ॥

मोहमूल बहुशूलप्रद त्यागहु तुम अभिमान ।
भजहु राम रघुनायक कृपासिन्धु भगवान ॥

इसप्रकार श्रीहनुमान्‌जीके युक्तिपूर्ण उपदेशोंको सुनकर रावणने उनका कुछ भी विचार न कर इसप्रकार उन्हें सूखा उत्तर दिया—

× × × मिला हमहिं कपि बड़ गुरु ज्ञानी ॥
मृत्यु निकट आई खल तोही । लागेसि अधम सिखावन मोही ॥

इस उत्तरसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि रावणका जो

रावणका परम-पद-प्राप्तिका दृढ़ संकल्प

खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो याचत योगी॥
उमा राम मृदुचित करुणाकर। बैरभाव सुमिरत मोंहिं निशिचर॥
देहिं परमगति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी॥
अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमन्द ते परम अभागी॥

भगवान् शंकर पार्वतीजीसे कहते हैं कि 'हे उमा, श्रीरामचन्द्रजीका चित्त मृदुल है, वह अत्यन्त करुणाशील हैं, नर-मांसका आहार करनेवाले दुष्ट दानवोंको भी वह गति देते हैं जिसकी याचना सदा योगीजन किया करते हैं, और भी केवल इस विचारसे कि 'निशिचर वैर-भावहीसे सही, मेरा स्मरण तो करते हैं, परमपदको प्रदान करते हैं। हे भवानी! कहो ऐसा दयालु कौन हो सकता है? जो मनुष्य ऐसे प्रभुको जानकर भ्रमरहित हो भजन नहीं करते वह मतिमन्द अत्यन्त अभागे हैं।'

जब जब होइ धर्मकी हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

यह बातें सुनकर रावणका संकल्प और दृढ़ होने लगा, उसने विचारा कि,—

सुर नर असुर नाग खग माँहीं। मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं॥
खरदूषण मो सम बलवन्ता। तिनहिं को मारे बिनु भगवन्ता॥

और यदि देवताओंको आनन्द प्रदान करनेवाले, पृथ्वीका भार हरण करनेवाले प्रभुने अवतार लिया है तो मैं हठपूर्वक उनसे वैर करूँगा तथा उनके शरोंसे प्राण त्यागकर संसाररूपी समुद्रसे तर जाऊँगा। तामस शरीरसे भजन होना दुष्कर है, इसलिये मन, कर्म, वचनसे मैं यह दृढ़ संकल्प करता हूँ —

सुररंजन भंजन महिभारा। जो भगवन्त लीन्ह अवतारा॥

...और उपदेशोंको सुना करते थे, और इनके उपदेशसे जैसलमेरके राजपूतोंमें अनेक कुरीतियोंके सुधार हुए। बहुत-से राजपूत अपनी कन्याओंको जन्मते ही मार डाला करते थे। यह पापकर्म अब वहाँ बहुत कम हो गया है। पर्वों और त्योहारोंके अवसरपर पशु-बलिका बड़ा जोर रहा करता था, पर आजकल वह निर्दय कर्म भी बहुत अंशोंमें घटकर कम हो गया है। बड़े-बड़े जागीरदारों तथा साधारण राजपूतोंसे आपने उपदेशद्वारा मद्य एवं अफीम आदि मादक पदार्थोंका सेवन छुड़वाया। इनके उपदेशोंके प्रभावसे कई स्थानोंमें पाठशालाएँ एवं विद्यार्थि-गृह आदि शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाएँ स्थापित हुईं तथा जहाँ पानीका अभाव था वहाँ कूएँ और तालाब बनवाये गये।

स्वामीजी महाराजका त्याग बड़ी उच्च कोटिका था। आप अपने पास वेदान्तकी दो-तीन पुस्तकोंके सिवा और कुछ भी नहीं रखते थे। वस्त्र जब बहुत जीर्ण होकर फट जाता था तभी दूसरा लेते थे।

...थे। यद्यपि इस तरह उपदेश कर... प्रायः कहा करते थे कि अनधिकारियोंको उपदेश नहीं करना चाहिये परन्तु इनका यह सिद्धान्त था कि अधिकारी स्वयं उत्पन्न नहीं होते, बनानेसे ही बनते हैं। इसलिये इनके उपदेशों और कथाओंका द्वार सबके लिये समान भावसे खुला था। अपनी-अपनी योग्यताके अनसार सभी लाभ उठाया करते थे। इनका लक्ष्य अपने कल्याणपर उतना न था कि जितना सबके हितपर। इसी उद्देश्यसे वे कभी निकम्मे नहीं बैठा करते थे। जब कोई मनुष्य उनके पास आता तो 'वाणी' आत्मज्ञान अथवा सात्त्विक आचरणकी चर्चा चला दिया करते थे। आपके उपदेशोंके अन्तमें पूज्यपाद गोस्वामीजीकी प्रसिद्ध चौपाई परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ासम नहिं अधमाई॥ और 'हरेराम' मन्त्रकी सस्वर आवृत्ति हुआ करती थी।

संवत् १९८६ के आश्विन-मासमें जोधपुरमें आप एक ऊँची छतसे गिर पड़े, जिससे मुँहपर इतनी अधिक चोट लगी कि शरीरके बचनेकी बहुत कम

तेहि पुनि कहा सुनहु दश शीशा। ते नररूप चराचर-ईशा॥
मुनिमख राखन गयउ कुमारा बिनु फर सर रघुपति मोहिं मारा॥
सतयोजन आयउँ छन माहीं। तिन्हसन वैर किये भल नाहीं॥
भइ मम कीट भृंगकी नाईं। जहँ तहँ मैं देखौं दोउ भाई॥
जो नर तात तदपि अति शूरा। तिनहिं विरोध न आइहि पूरा॥

जेहि ताड़का सुबाहु हति खंडेउ हर कोदण्ड।
खरदूषण त्रिशिरा हतेउ मनुज कि अस बरिवण्ड॥

इस प्रकार युक्तिपूर्ण वाक्योंद्वारा मारीचके समझानेपर रावणने इनका कुछ यथेष्ट उत्तर न देकर इसप्रकार उसे फटकार बतायी—

गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को योधा॥

इससे स्पष्ट है कि रावणने अपने कल्याण-पथके लिये जो दृढ़ संकल्प किया था उससे वह जरा भी हटना नहीं चाहता, यही कारण है कि मारीचके उपदेशकी उसने इसप्रकार अवहेलना कर दी।

कुछ लोगोंका मत है कि रावणने विचार किया था कि, 'यदि भगवान्‌ने नर-रूपमें अवतार लिया होगा तो रण ठान करके उनके वाणोंसे प्राण त्यागकर भवसागरसे पार होऊँगा, और यदि अवतार न होकर वे राजकुमार होंगे तो उन्हें रणमें जीतकर उनकी स्त्रीको हर लाऊँगा। और इसी विचारकी परीक्षा करनेके लिये ही उसने मारीचसे कपटमृग बननेके लिये अनुरोध किया, इसमें उसका तात्पर्य यह था कि 'यदि अन्तर्यामी भगवान् नररूपमें होंगे तो मायाको जान लेंगे, और यदि वह माया-मृगको न जान सके तो मैं समझ लूँगा कि वे नर ही हैं।' इसप्रकार जब मारीचको उसने कपट-मृग बनाकर भेजा और भगवान् उसके पीछे उसे मारनेके लिये दौड़े तो उसको निश्चय हो गया कि यह अन्तर्यामी भगवान् नहीं बल्कि साधारण मनुष्य हैं। इसके बाद वह आजन्म उन्हें मनुष्य ही मानता रहा। यही कारण है कि उसने किसीके उपदेशपर ध्यान नहीं दिया।' परन्तु यह मत ठीक नहीं है। इस मतका खण्डन इसी मारीच-वधके प्रसङ्गसे हो जाता है। जब श्रीरामचन्द्रजी माया-मृगके पीछे दूरतक चले गये और कुछ देरके बाद लक्ष्मण भी उनकी खोजमें निकले तो सूना पाकर रावण उनकी पर्णकुटीके समीप यतीके वेषमें आया और नीति-प्रीति तथा भय दिखाते हुए अनेक प्रकारकी बातें सीताजीसे कहने लगा; जिन्हें सुनकर—

कह सीता सुनु यती गोसाईं। बोलेहु वचन दुष्टकी नाईं॥

तब उसने अपना भयङ्कर रूप दिखलाया। जिससे सीताजीने इसप्रकार परुष-शब्दोंमें उससे कहा—

कह सीता धरि धीरज गाढ़ा। आइ गयउ प्रभु खल रहु ठाढ़ा॥
जिमि हरि बधुहिं क्षुद्र शश चाहा। भयेसि कालवश निशिचरनाहा॥

उनके इन शब्दोंको सुनकर रावण क्रोधित हुआ और मन-ही-मन उसने उनके चरणोंकी वन्दना कर अत्यन्त सुखानुभव किया।

रावणके इस भावसे सारा भेद खुल जाता है। वह अपने दृढ़ सङ्कल्पके अनुसार वैरभावके सँभालनेके लिये बाहरसे क्रोधित (रिसाना) होता है, तथा अपने आन्तरिक निश्चयके द्वारा श्रीसीताजीको जगज्जननी जानकर उनके 'चरणोंकी वन्दना' करता है, एवं भगवान्‌की इस आह्लादिनी पराशक्तिके आश्रयसे आज मेरे कल्याणका द्वार खुलता है ऐसा विचारकर वह 'आनन्दित होता है।'

२—हनुमान्-रावण-संवाद

अशोकवाटिकाके उजाड़नेपर जब मेघनाद श्रीहनुमान्‌जीको नागफाँसमें बाँधकर रावणकी सभामें ले गया तो उन्होंने रावणसे इसप्रकार बातें की—

बिनती करौं जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥
देखहु तुम निजकुलहिं विचारी। भ्रम तजि भजहु भक्तभयहारी॥
जाके डर अति काल डेराई। जे सुर असुर चराचर खाई॥
तासों वैर कबहुँ नहिं कीजै। मोरे कहे जानकी दीजै॥
रामचरण-पंकज उर धरहू। लंका अचल राज तुम करहू॥
रामविमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥
सुनु दसकण्ठ कहौं प्रन रोपी। रामविमुख त्राता नहिं कोपी॥
शंकर सहस विष्णु अज तोही। सकहिं न राखि रामकर द्रोही॥

मोहमूल बहुशूलप्रद त्यागहु तुम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक कृपासिन्धु भगवान॥

इसप्रकार श्रीहनुमान्‌जीके युक्तिपूर्ण उपदेशोंको सुनकर रावणने उनका कुछ भी विचार न कर इसप्रकार उन्हें सूखा उत्तर दिया—

× × × मिला हमहिं कपि बड़ गुरु ज्ञानी॥
मृत्यु निकट आई खल तोही। लागेसि अधम सिखावन मोही॥

इस उत्तरसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि रावणका जो

अपना निश्चित सङ्कल्प था उसके विपरीत वह एक शब्द भी किसीका नहीं सुनना चाहता था ।

३—विभीषण-रावण-संवाद

विभीषण रावणको इसप्रकार समझाते हैं—

जो आपन चाहौ कल्याना। सुजस सुमति सुभ गति सुख नाना॥
तो परनारि लिलार गोसाईं। तजौ चौथचन्दाकी नाईं॥
चौदह भुवन एक पति होई। भूत द्रोह तिष्ठै नहिं सोई॥
गुणसागर नागर नर जोऊ। अल्प लोभ भल कहै न कोऊ॥

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरकके पन्थ।
सब परिहरि रघुवीर ही भजहु भजहिं जेहि सन्त॥

तात राम नहिं नर-भूपाला। भुवनेश्वर कालहुके काला॥

और जब मालवन्तने भी इन्हीं युक्तिपूर्ण वाक्योंका अनुमोदन करते हुए कहा कि—

तात अनुज तब नीति विभूषण। सो उर धरहु जो कहत विभीषण॥

तब रावण बिगड़ उठता है और इसप्रकार उन्हें फटकारता है—

रिपु उत्कर्ष कहत शठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ ते कोऊ॥

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि रावण ऐसा नासमझ नहीं था कि विभीषणके वेद, शास्त्र, पुराणसम्मत वचनोंको समझने और उनपर विचार करनेमें ही असमर्थ हो, बल्कि बात यह थी कि अपने सङ्कल्पमें दृढ़ रहनेके कारण वह सद्-उपदेश देनेवालेका भी सदा निरादर करता रहा। जब विभीषणने अपनी युक्ति और नीतिको सफल होते नहीं देखा तब प्रीति और ममत्वरूपी अस्त्रका प्रयोग किया, क्योंकि युक्ति और प्रमाणोंकी अपेक्षा प्रीति और ममत्वपूर्ण वचनोंका अधिक प्रभाव पड़ता है। परन्तु रावण अपने दृढ़ सङ्कल्पसे विचलित होनेवाला नहीं था, इसलिये जब विभीषणके मुखसे यह कहते हुए सुना कि—

'तात चरण गहि मागौं राखहु मोर दुलार।'

तो उसने अपने कल्याण-पथमें उन्हें बाधक समझकर दूर हटाना ही उचित समझा, इसीसे—

मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ ताहि कहु नीती।

—इसप्रकार कटुवचन कहकर उनपर चरण-प्रहार किया। क्योंकि विभीषणके समीप रहनेसे सम्भव था कि उनके प्रीति और ममत्वपूर्ण वचनोंसे प्रभावित होकर वह अपने कल्याण-पथसे हट जाय। इसप्रकार विभीषणके संवादसे भी उसके अपने कल्याणके पथके सङ्कल्पकी दृढ़ता सूचित होती है।

४—गुप्तचर-रावण-संवाद

विभीषणके प्रभुके शरणमें जानेके पश्चात् रावणने अपने दूत श्रीरामजीकी सेनाको देखनेके लिये भेजे। वे दूत लक्ष्मणजीका पत्र लेकर रावणकी सभामें लौट आये तथा उन्होंने रावणको श्रीरामचन्द्रजीके शरणमें जानेके लिये भाँति-भाँतिसे समझाया। वहाँ रावण और दूतोंके बीच जो वार्तालाप हुआ है वह बड़े ही मार्केका है। रावण पूछता है—

कहु तपसिन्हकै बात बहोरी। जिन्हके हृदय त्रास बड़ि मोरी॥
की भइ भेंट कि फिरि गये, श्रवण सुजश सुनि मोर॥

यहाँ सज्जन-वृन्द विचार कर सकते हैं कि रावणकी यह बात दूतोंको ठगना नहीं तो और क्या है? क्योंकि उसने श्रीरामको अपनेसे त्रसित कब देखा है, पुनः जब दूत श्रीरामचन्द्रजीके उत्कर्षोंका वर्णन करने लगे।

सक शर एक सोखि शत सागर। तव भ्रातहिं पूछेउ नयनागर॥
तासु वचन सुनि सागर पाहीं। माँगत पंथ कृपा मनमाहीं॥

तो रावण तत्काल 'सक शर एक सोखि शत सागर,' 'नयनागर' तथा 'कृपा मनमाहीं' इन प्रभुके ऐश्वर्य-सूचक वचनोंको अनसुना करके केवल 'माँगत पंथ' पदको लेकर हँस उठा—

सुनत वचन बिहँसा दसशीशा। जौ अस मति सहाय कृतकीशा॥
सहज भीरु कर वचन दृढ़ाई। सागरसन ठानी मचलाई॥

यहाँ रावणकी चतुरतापूर्वक दूतोंको बहला देनेकी चेष्टा स्पष्ट है।

५—अंगद-रावण-संवाद

अंगद रावणसे संवाद करते समय प्रारम्भसे ही प्रभुके अद्भुत ऐश्वर्यका बखान करते हुए उसे उपदेश देने लगे, पर वह प्रभुके ऐश्वर्य-सूचक वाक्योंका कुछ भी खयाल

न कर अंगदके व्यक्तित्वपर आक्षेप करते हुए उसका उपहास करने लगा। जैसे—

कहु निज नाम जनककर भाई। केहि नाते मानिये मिताई॥

परन्तु अंगदने उसकी बातोंका युक्तिपूर्वक उत्तर देते हुए उसे निरुत्तर कर दिया। तथा—

सुनु रावण परिहरि चतुराई। भजसि न कृपासिन्धु रघुराई॥

—इत्यादि वाक्योंद्वारा उपदेश करने लगे। परन्तु रावणने जब देखा कि अंगद अपनी चतुराईसे उसके कल्याण-पथमें बाधक होना चाहता है तो उसने इस-प्रकार अंगदको फटकार बतलायी—

शठ शाखामृग जोरि सहाई। बाँधा सिन्धु यहै प्रभुताई॥
लाँघहि खग अनेक वारीशा। शूर न होहिं ते सब सुनु कीशा॥

× × × ×

जो पै समर सुभट तव नाथा। पुनि पुनि कहसि जासु गुणगाथा॥
तौ बसीठ पठवत केहि काजा। रिपुसन प्रीति करत नहिं लाजा॥

इन उत्तेजनापूर्ण शब्दोंके द्वारा स्पष्ट ज्ञात होता है कि रावण सन्धि नहीं करना चाहता था। परन्तु इतनेपर भी अंगद उसे समझा-बुझाकर रास्तेपर लानेकी चेष्टा करते हैं। जैसे—

दशमुख मैं न बसीठी आयउ। अस विचारि रघुवीर पठायउ॥
बार बार अस कहहिं कृपाला। नहिं गजारि यश बधे शृगाला॥

इसप्रकार अंगदको बढ़ते हुए देखकर तथा अपने उद्देश्यकी सफलतामें प्रबल विघ्नरूप समझकर रावणने खुले शब्दोंमें प्रभुकी निन्दा की—

कटु जल्पसि जड़ कपि बल जाके। बल-प्रताप बुधि तेज न ताके॥

अगुन अमान जानि तेहि, दीन्ह पिता वनवास।
सो दुख अरु युवती विरह, पुनि निशिदिन मम त्रास॥
जिनके बलकर गर्व तोहिं, ऐसे मनुज अनेक।
खाहिं निसाचर दिवसनिशि, मूढ़ समुझि तजि टेक॥

इस निन्दासे राक्षसराजका अभिप्राय अंगदके द्वारा श्रीरामचन्द्रजीको युद्धके लिये उत्तेजित करनेका था, क्योंकि युद्धके द्वारा ही उसको अभीष्ट कल्याण-पदकी प्राप्ति होनी थी। इस प्रसंगमें रावणके समस्त प्रत्युत्तरोंको देखनेसे उसकी संकल्पदृढ़ता स्पष्ट ज्ञात हो जाती है।

६—मन्दोदरी-रावण-संवाद

पहली बार जब महलमें मन्दोदरीने रावणको समझाते हुए कहा कि—

कन्त कर्ष हरिसन परिहरहू। मोर कहा अति हित चित धरहू॥
समुझत जासु दूतकै करनी। गर्भ स्रवहिं रजनीचर-घरनी॥
सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हे। हित न तुम्हार शंभु अज कीन्हे॥

तब उसकी इन युक्ति और प्रमाण-संगत बातोंको अनसुनी करके रावण हँसता हुआ बोला—

सभय सुभाव नारिकर साँचा। मंगलमहँ भय मन अति काँचा॥
जो आवै मर्कट कटकाई। जियहि बिचारे निश्चर खाई॥
कंपहि लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा॥

यहाँ पाठक विचार कर सकते हैं कि हनूमान् नामक बन्दरको खानेका किसीका साहस न हुआ, सारी लङ्का जल गयी, चारों ओर हाहाकार मच गया, सब निशिचर त्राहि-त्राहि करने लगे। तथापि रावणका यह कहना कि 'जो आवै मर्कट कटकाई। जियहि विचारे निश्चर खाई॥' क्या कभी यथार्थ हो सकता है? कदापि नहीं। बात असल यह है कि रावणका इसप्रकारके उपदेशोंको जैसे हो टालकर अपने निश्चित संकल्पपर दृढ़ रहना ही एकमात्र लक्ष्य था।

श्रीरामचन्द्रजीके सेनासहित समुद्रपार करनेके बाद दूसरी बार मन्दोदरीने रावणको अपने भवनमें ले जाकर पुनः प्रार्थना करते हुए इसप्रकार कहा—

नाथ वैर कीजै ताही सों। बुधिबल सकिय जीति जाही सों॥
तुमहिं रघुपतिहिं अन्तर कैसा। खलु खद्योत दिवाकर जैसा॥
अतिबल मधुकैटभ जेहि मारे। महावीर दितिसुत संहारे॥
जेहि बलि बाँधि सहसभुज मारा। सोइ अवतरेउ हरण महि भारा॥
तासु विरोध न कीजिय नाथा। कालकर्म जिव जाके हाथा॥

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि इस प्रसंगमें मन्दोदरीने श्रीरामचन्द्रजीको साक्षात् भगवान् सूचित करनेमें कोई कसर नहीं उठा रक्खी है। मन्दोदरीके 'सोइ अवतरेउ हरण महि भारा' से रावणके 'सुररंजन भंजन महि भारा। जो भगवन्त लीन्ह अवतारा॥' की कैसी पुष्टि होती है? तथापि वह इसपर विचार न करके मन्दोदरीकी बातोंमें बहला देता है और कहता है—

सुन तैं प्रिया वृथा भय माना। जग जोधा को मोहि समाना॥

वरुन कुवेर पवन यम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला॥
देव दनुज नर सब बस मोरे। कौन हेतु उपजा भय तोरे॥

इस प्रसंगसे स्पष्ट हो जाता है कि मन्दोदरीके इस कथनका, कि श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् भगवान्के अवतार हैं, रावण कुछ भी उत्तर नहीं देता है, क्योंकि उसे तो इसमें दृढ़ निश्चय हो ही गया था। हाँ, मन्दोदरीके हृदयमें श्रीरामजीके साथ युद्ध करनेके परिणामका जो भय उत्पन्न हो गया था उसको दूर करनेके लिये वह अपनी वीरताकी डींग हाँकता है। इससे उसके आन्तरिक संकल्पकी दृढ़ता स्पष्ट सूचित होती है।

रावणके इस संकल्पके विषयमें कुछ लोग यह शंका किया करते हैं कि मायामृगके पीछे भगवान्को दौड़ते देखकर रावणको यह दृढ़ निश्चय हो गया था कि वह भगवान्के अवतार नहीं, बल्कि साधारण राजकुमार हैं इसी कारण उससे जब-जब जिस-जिसने श्रीरामचन्द्रजीको भगवान्का अवतार कहकर उसे उनसे युद्ध न करके उनके शरणमें जानेका उपदेश दिया है तब-तब उन लोगोंकी बातोंको उसने अज्ञानतामूलक समझकर उनकी उपेक्षा की है तथा उनकी धारणाओंका उपहास किया है। परन्तु निम्नाङ्कित प्रसंगोंमें स्वयं रावणकी आन्तरिक अवस्थापर विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि वह श्रीरामचन्द्रजीको साक्षात् भगवान्का अवतार समझता था।

१—सीताहरणके प्रसंगमें

क्रोधवन्त तब रावण, लीन्हेसि रथ बैठाय।
चला गगन पथ आतुर, भय रथ हाँकि न जाय॥

२—जटायु-युद्धके प्रसंगमें

सीतहिं यान चढ़ाइ बहोरी। चला उताइल त्रास न थोरी॥

३—दूत-प्रसंगमें

सुनत सभय मन मुख मुसकाई। कहत दशानन सबहिं सुनाई॥

४—सेतुबन्धका समाचार सुनकर

सुनत श्रवण वारिधि बंधाना। दशमुख बोलि उठा अकुलाना॥
निज विकलता विचारि बहोरी। विहँसि गयउ गृह करि भयमोरी॥

उपर्युक्त रेखांकित पदोंसे स्पष्ट सूचित होता है कि यदि रावण श्रीरामचन्द्रजीको भगवान्का साक्षात् अवतार न समझता होता तो केवल उन्हें मनुष्यमात्र समझकर उसके हृदयमें इसप्रकारकी भय या व्याकुलता कदापि नहीं होती। जिस रावणके विषयमें कहा जाता है कि—

कर जोरे सुर दिशिप विनीता। भृकुटि विलोकत सकल सभीता॥
ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दशमुख वशवर्ती नरनारी॥
आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आप नित चरण विनीता॥

वह रावण किसी मनुष्यसे भयभीत हो, ऐसा अनुमान करना भी गलत है।

इसप्रकार रामायणमें अनेक प्रसंग आते हैं जिनके मार्मिक रहस्यपर विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि रावण वैरभावसे सदा भगवान्का स्मरण करता था और अपने कल्याणके लिये उसने यह दृढ़ संकल्प कर लिया था कि—

× × × 'प्रभु शर प्राण तजे भव तरऊँ॥'
होइहि भजन न तामस देहा। मन क्रम वचन मन्त्र दृढ़ एहा॥

—सम्बन्धाभिमानी एक पतित

संसारकी नश्वरता

मिटा दीं उसने हज़ारों शक्लें, बना बनाकर टिका टिकाकर।
हँसीं लखूखा लैहदमें डाले, हैं माहसे बढ़कर दिखा दिखाकर॥
किसीको रंजो-मुहनमें डाला, किसीको दर्शे खुशी दिखाला।
किसीको वजदे जनूँमें टाला, है जेहलकी मै पिला पिलाकर॥

है ज़ोम दौलतका याँ किसीको, है हुस्नका ज़ोम याँ किसीको।
बनाया मदहोश उसने आलम, है नग़में सदहा सुना सुनाकर॥
हो शाह या हो गदा हो कोई, हो ग़ममें या हो ख़ुशीमें कोई।
किया तहे-ख़ाक सबको उसने, हँसा हँसाकर रुला रुलाकर॥

तमाशागाह है यह दुनियाँ तालिब, जेहलका पर्दा है सबपै गालिब।
तमाशा ख़ुद हैं यह जुमला क़ालिब, जो मोहमें डाले फँसा फँसाकर॥

—नृसिंहदास वर्मा, 'तालिब'

परीक्षितका सर्प

(लेखक—श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम० ए०, एल-एल०बी०)
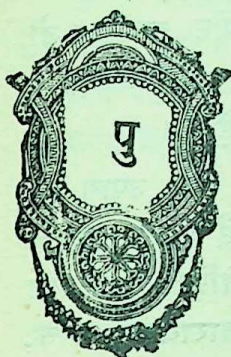
पुराणोंकी कथा है कि राजा परीक्षितने अज्ञानवश तक्षक नामका एक सर्प शमीक ऋषिके गलेमें डाल दिया था। ऋषिके शापसे उसी तक्षकने सात दिन या सप्ताहके भीतर ही परीक्षितको डसकर उसके जीवनका अन्त कर डाला। परीक्षितने जिस समय ऋषिके शापका समाचार सुना, वह बहुत घबरा गया। अपनी आयुको सात ही दिनमें समाप्य जानकर उसके मनमें विषयोंसे वैराग्य हो गया। परीक्षितकी अनुभूति मृत्युके विषयमें इतनी तीव्र हो उठी कि फिर उसका चित्त सांसारिक भोगोंसे एकदम विरक्त हो गया। वह सात ही दिनमें कुछ परलोक सुधार लेनेकी आकाङ्क्षासे योगस्थ हो गंगाके किनारे आसन मारकर बैठ गया। देशके नृपतिको इसप्रकार साम्परायिक विचारमें लीन जानकर ज्ञानमार्गमें निष्णात ऋषि और विरक्त लोग गंगा-तटपर एकत्र होने लगे। उसी समय परम योगीश्वर विरक्त महात्मा शुक भी उस ऋषि-सभामें जा पहुँचे। उनको देखकर वह परिषत् सम्मानपूर्वक उठ खड़ी हुई। फिर श्रीशुकदेवजीके बैठनेपर सब लोगोंने यथावत् आसन ग्रहण किया। ऋषियोंने कहा—'हे परीक्षित! तेरा बड़ा सौभाग्य है, जो परम तपस्वी और विरागी श्रीशुकदेवजीका इस समय यहाँ आगमन हुआ। इनके उपदेशसे तेरा परम कल्याण होगा।'

यह जानकर परीक्षितने हाथ जोड़कर विनय की—'महाराज, मुझे अब केवल सात ही दिनमें मृत्युके मुखमें चले जाना है। किसप्रकार मेरा निस्तार होगा, सो कृपाकर कहिये।' उत्तरमें श्रीशुकदेवजीने कहा—हे परीक्षित! ज्ञान तो एक क्षणमें ही होना सम्भव है। पहले कभी इतिहासमें राजा खट्वांगकी दो ही घड़ीमें मुक्ति हो गयी थी, तुम्हारे लिये तो सात दिन बहुत है। इतना कहकर शुकदेवजी परम पुरुष नारायणके जो पिण्ड और ब्रह्माण्डका धारण करनेवाला है और जो वामनरूपसे सबमें रमा हुआ है, चरितोंका निर्वचन करने लगे और उस अध्यात्म-चर्चासे परीक्षितका चित्त इसप्रकार समाधिमान हो गया कि सात दिनके अन्तमें उसने कहा कि यदि तक्षक मुझे अभी डस ले और इसी क्षण मुझे देहसे विलग होना पड़े तो भी मुझे खेद नहीं होगा। मेरा अब वह पूर्व देहाभिमान विगलित हो गया है। मेरा अनुभव देहीके देह त्यागनेमें इसप्रकार है जैसे सर्प अपनी जीर्ण त्वचाको त्यागकर पृथक् हो रहता है—

अहिर्हि जीर्णामतिसर्पति त्वचम्। (तै० ब्रा०)

इस मनोहर कथाका तात्पर्य क्या है? जिस विद्वान् लेखकने इस रमणीय कथाके सम्पुटमें अपने भव्य ग्रन्थको निबद्ध किया है, उसीने अपने अन्तिम अध्यायमें इसका विवरण इसप्रकार दिया है। काल ही वह तक्षक सर्प है जो हममेंसे प्रत्येकके गले पड़ा हुआ है। जिसका देहाभिमान मिट गया है उसका तक्षक कुछ नहीं बिगाड़ सकता। जिसका देहाभिमान अभी बाकी है, उसीको तक्षकका भय बना हुआ है। काल सब भूतोंको पचानेवाला है। यही यहाँ तत्त्ववार्ता है। जितने समाचार महत्त्वके दिन-रातके मध्यमें प्रकट होते हैं, उनमें यही समाचार प्राणियोंके लिये सबसे अधिक महत्त्व रखता है—

प्रकृति-नटीका नव नृत्य क्षण-क्षणमें
यंत्रारूढ प्राणियोंको मायासे नचा रहा।
मोहके कटाहमें रात्रिन्दिव इन्धनसे
उग्र काल भूतोंको सस्यसम पचा रहा॥

सबके जीवनको क्रम-क्रमसे रन्दनेवाला परम तक्षा यह तक्षक काल है। इसके तक्षणसे कोई मुक्त नहीं। परन्तु जिनका देहाभास मिट चुका है, वे इस तक्षणसे विचलित नहीं होते। जो देहको ही सर्वस्व मानकर भूले हुए हैं उनको तक्षकका स्मरण-मात्र भी कँपा देता है। इस महातक्षाका रन्दा एक सप्ताह है। इन सात दिनोंकी आवृत्ति पुनः-पुनः होती है। सप्ताहरूपी रन्दे या बसूलेसे तक्षक काल सबकी जीवनावधिको निरन्तर घड़ रहा है। तक्षक-का धर्म ही सर्पणशील है। तक्षक काल कभी खड़ा नहीं होता। सूर्यके रथकी नेमिके समान तक्षक सर्प संतत सर्पण करता रहता है। जिस-प्रकार सूर्यकी रथ नेमि कभी नहीं रिसती [क्योंकि वह अरिष्टनेमि है] वैसे ही सबको जीर्ण करके मृत्युमुखमें भेजनेवाला तक्षक स्वयं कभी जराग्रस्त नहीं होता। वह निमेषरूपसे स्वल्प है, कल्परूपसे महान् है। वह महाशेषरूपसे सबको ग्रस लेता है। असंख्य त्रिपादविभूति देवता इस तक्षक महाशेषकी कुक्षिमें न जाने कहाँ पच जाते हैं। यदि हम अनन्त कालतक अथवा लोमशकी आयुतक कल्पके ऊपर कल्पकी गणना करते चले जायँ तो भी तक्षक कालका पारावार नहीं पा सकते।

परीक्षित स्वयं देहमोहमें ग्रस्त था। वह भ्रमसे तक्षकको उस ऋषिके गलेमें पड़ा हुआ समझता है जो ध्यान और तपसे तक्षकके भयसे अतीत हो चुका था। ऋषि तक्षक कालका पात्र नहीं, उसने तो 'वासांसि जीर्णानि' मन्त्रका साक्षात् कर लिया है। तक्षकका पात्र तो परीक्षित ही है। वह जड़ाभिमानग्रस्त है। अतएव सर्प उलटकर उसीको डसनेका आयोजन करता है। ऋषिके गलेमें जो तक्षक मृत है राजाके गलेमें वही जीवित होकर पड़ा है। इस आशीविषीसे बचना परीक्षितके लिये अशक्य है। सारा राज्य, वैभव, प्रलयंकरी सेनाएँ उसकी रक्षा नहीं कर सकतीं। गूढातिगूढ राजभवन जिनमें मयका समस्त कौशल समाप्त हो गया हो, तक्षकके दंशसे परीक्षित-को नहीं बचा सकते। परीक्षितकी जन्मपत्रीमें ही ऐसे अङ्क पड़े हैं, तो आस्तीकका भैषज्योपचार क्या काम दे सकता है? मय, आस्तीक और परीक्षित— कोई भी ब्रह्माके विधानको नहीं मेट सकता। जो कच्चा दूध पीकर उतरा है, उसे एक दिन अवश्य ही चिता-भस्मका अंगराग लगाना पड़ेगा।

फिर बेचारे परीक्षितके लिये क्या उपाय है? उसके त्राणकी बस एक ही गति है अर्थात् तक्षकके अवश्यम्भावी दंशसे पहले ही परीक्षितको ज्ञानका हो जाना। विषयोंसे वैराग्य, नारायणमें भक्ति, आत्माका ज्ञान, सबका फल एक ही है—

> ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा।
> उभय हरहिं भव-सम्भव खेदा॥

बिना देहाभिमानसे मुक्त हुए काल-सर्पका भय बना ही रहेगा—

> देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
> यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

ज्ञान कितनी देरमें होता है? कितनी बार राम कहनेसे मुक्ति मिलती है? ये प्रश्न अज्ञानजनित हैं। परमार्थ वस्तु कालसंख्यासे अतीत है। उसकी उपलब्धिमें काल और संख्या बाधक नहीं है। परीक्षितने समझा—मेरे लिये सात दिन थोड़े हैं। शुकदेवने कहा—सात दिन तो बहुत होते हैं, ज्ञान तो क्षणभरमें सम्भव है। ज्ञान एक ज्योति है, उसके प्रकाशके लिये समयकी अपेक्षा नहीं। जिस क्षण मन विषयोंसे विरक्त हो जाता है और इन्द्रियाँ अन्त-र्मुखी हो जाती हैं, प्रकाश झलकने लगता है। आवरणका नाश ही प्रकाशका दर्शन है। इसके लिये साधन काम देते हैं, पर एक हदतक ही। उससे आगे ज्ञान-साधन स्वतन्त्र है। तभी तो उपनिषदोंमें कहा है—

> नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
> न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

आत्मा जिसका वरण करती है, उसको ही अपना रूप दिखा देती है। यह एक स्वयंवर है। आत्मा ही इसमें वर है—

आत्मा हि वरः (तैत्ति० ३।१२।५।७)

ज्ञानकी गति शुकगति है। शुकके उड़ानकी भाँति ज्ञान किधरसे आया, किधरको गया, इसका कोई निशान रास्तेमें नहीं देख पड़ता। परमात्माकी अपार दयासे विरक्त मन जब समाधियुक्त हो जाय, तभी मानो सब व्याधियोंमें प्रबल कालसर्पकी व्याधिसे मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

ईश्वर-प्राप्तिकी शर्तें

(लेखक—रेवरेण्ड श्रीजार्ज चेनी महोदय, कैलिफोर्निया)

गत्का धर्मानुकूल शासन करनेवाला सिद्ध पुरुष या सिद्धान्त कभी ईश्वरविहीन नहीं हो सकता। उसकी स्थिति अवश्य ही ईश्वरमें होगी। जिस समय हमारी ईश्वर-प्राप्तिकी दीर्घकालीन साधना समाप्त होगी, उस समय हमें यह ज्ञात हो जायगा कि जीवके अन्दर भी ईश्वरका ही पूर्णतया निवास है। उस समय प्रत्यक्ष या व्यक्तके साथ शाश्वत और केवलका—अव्यक्तका सान्निध्य प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होगा। उस समय परमात्माके साथ ही हमें अपने आत्मा और उसके अमरत्वका प्रत्यक्ष हो जायगा।

हमारे सनातन जीवनका मधुरातिमधुर आनन्द इसीमें है कि हमारी आत्मा सजातीय वस्तुके साथ प्रेम करे और बदलेमें उसका प्रेम प्राप्त करे, हम ईश्वरके साथ बुद्धि और विवेकसे युक्त सम्बन्ध स्थापित करें। इस द्वैतके बिना हमारा अद्वैतसे किसी प्रकार भी चिरकालतक समाधान नहीं हो सकता। आत्मा और परमात्माके एक हो जानेका अर्थ यह नहीं मानना चाहिये कि दोनोंकी सत्ता ही नहीं रहती, बल्कि यह मानना चाहिये कि उनके बीच समस्त विरोधी भावोंका नाश हो जाता है। पुरुष और स्त्रीके सच्चे प्रेमको दोनोंका एक हो जाना कहते हैं, परन्तु उनकी इस एकदिलीका आनन्द तबतक पूरा नहीं आ सकता, जबतक उन्हें अपने पृथक् अस्तित्वका स्मरण न हो। अतः उन सारे दार्शनिक सिद्धान्तोंका, जो जीव और ईश्वरमें कोई भेद नहीं मानते और इसप्रकार दोके परस्पर मिलनके आनन्दका निषेध करते हैं, परिणाम निराशा ही होता है। जब हम पूर्णताकी उस सर्वोच्च अवस्थापर पहुँच जायँगे, जहाँतक जीवकी गम्य है, तब हम देखेंगे कि हमारी स्थिति परमात्माके अन्दर हो गयी है और हम उसके प्रेम-मन्दिरके प्रेमी और सौम्य पुजारी बन गये हैं। फिर चाहे वह प्रेम-मन्दिर हमारे हृदयमें ही हमारे इस व्यक्त जीवनमें, हमारे बुद्धि एवं विवेकपूर्ण प्रत्यक्षानुभवमें क्यों न हो। हमारे अन्दर छिपा हुआ परमात्मा उस समय हमारे लिये उतना ही वास्तविक होगा, जितना उन अनेकों रूपोंका आधार है जिनके द्वारा परमात्माके अन्तरतम विचारों और प्रेमकी अभिव्यक्ति होती है।

दीर्घकालतक व्यक्त स्वरूपका आनन्द लूटनेपर अव्यक्त स्वरूपकी अन्तिम अभिव्यक्ति होती है। एक-दो सालमें ही परमात्माका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। चेतनाके अन्तरतम प्रदेशमें परमात्माको प्राप्त-

करने एवं विशेषरूपसे जाननेका यह प्रयत्न अत्यन्त महान् और निरवधि प्रतीत होता है । साधनकालमें कई बार हमें निराशाका सामना करना पड़ेगा। परन्तु घबराना नहीं चाहिये । अवश्य ही यह एक प्रकारसे अमृतके लिये क्षीरसागरका मथन करना है, जिसको पूरा करते-करते देवता हार गये थे । दीर्घकालतक निरन्तर श्रद्धापूर्वक साधना करते रहनेसे ईश्वरका स्वरूप समझमें आता है । यही कारण है कि ज्ञानके देवता Joshua को Nun अर्थात् 'सतत प्रयत्न' का पुत्र बतलाया गया है। इसीलिये यूनान-देशीय ज्ञानके देवता Mercury (बुध) ने देवताओं और मनुष्यों-को वशमें करनेके लिये मन्थरगति पहाड़ी-कछुएकी ढालसे एक सारंगी बनायी थी। इस दृश्यमान जगत्के अन्दर नववधूकी भाँति छिपकर रहनेवाले उस छलिया-के मुखपरसे मायारूप घूँघटको हटानेके लिये मनुष्यको उतने ही अध्यवसाय और धैर्यकी आवश्यकता है, जितनी समुद्र-गर्भसे मोती निकालनेमें अथवा किसी दुर्गम पर्वतकी चोटीसे बूटी लानेके लिये अपेक्षित है। ईश्वरके विषयमें यह उपदेश समयरूपी सुन्दर हारमें पिरोनेके लिये अन्तिम मोती है अथवा ईश्वरकी कृपारूपी मनोहर गजरेमें गूँथनेके लिये अन्तिम पुष्प है ।

ईश्वरको प्राप्त करनेके लिये जिस प्रेमकी आवश्यकता है, वह प्रेम सबके प्रति होना चाहिये । वही चित्त ईश्वरके चित्तको समझ सकता है, जो स्वतन्त्र एवं उदार हो और जो मानवीय विचारके विभिन्न रूपों एवं अवस्थाओंसे सहानुभूति रखता हो । मत-मतान्तरोंके द्वारा ईश्वरकी संकेतपूर्ण भाषा समझमें नहीं आ सकती। मनुष्यके साथ मनुष्यके बीचमें अन्तर डालनेवाले बचे-खुचे प्रतिबन्धकोंको हटा देना पड़ेगा और जगत्के सीमारहित क्षेत्रपर निर्द्वन्द्व और निःस्पृह होकर बिचरना होगा, तब कहीं हमें अव्यक्त परमात्माके पदचिह्न दीख पड़ेंगे ।

इस परमात्माका न तो केवल विज्ञान (Science) से पता लग सकता है और न निरे धर्म (Religion) से । बल्कि सत्य-धर्मसे युक्त विज्ञान और सच्चे विज्ञान तथा सत्यका अनुसरण करनेवाले धर्मके द्वारा ही उसकी प्राप्ति हो सकती है ।⋯⋯जिनका अन्तः-करण पवित्र है, वे ही उस पवित्रतमका दर्शन कर सकते हैं, जो सत्यवादी हैं, वे ही उस सत्यस्वरूप-की झाँकी पा सकते हैं, जिनका हृदय विश्व-प्रेमसे छलक रहा है, वे ही उस परमात्माके दर्शन पा सकते हैं जो अपने व्यापक प्रेमसे दयापर भी दया करनेवाला और शक्तिको भी शक्ति प्रदान करनेवाला है । यद्यपि ईश्वर-प्राप्तिकी यह शर्त बहुत ऊँची है किन्तु यदि इसप्रकारकी योग्यता-सम्पादनकी शर्त सुनकर हमारा उत्साह भंग होता है तो हमें चाहिये कि पहले हम इससे कम कीमतकी समस्त वस्तुओंमें वैराग्य उत्पन्न करें । ईश्वरकी ओर हमारा आकर्षण तबतक चालू रहेगा, जबतक हम इस दृश्यमान जगत्के अन्दर उस अव्यक्त दिव्य गुणसम्पन्न ईश्वरकी खोज और प्राप्ति न कर लेंगे।

तिहारो रूप दरसै

दूजो और सबद सुनाय नहीं काननमें, रसना तिहारे ही गुनन गाय हरसै ।
नैन सब ठौर एक तेरिही निहारैं छबि, त्वचाको तिहारो ही परस रस परसै ॥
बसी नासिकामें रहै बदन सुबास तेरी, 'द्विजश्याम' सतत मलिन्द मन करसै ।
तेरिही मिलन आस लीन्हें श्वास आवै जाय, सारो यह जगत तिहारो रूप दरसै ॥

—द्विजश्याम

भक्त-गाथा

भक्त मणिदास माली

जगन्नाथपुरीमें मणिदास नामक एक माली रहता था। फूल और फलोंकी माला बेचकर मणिदास कुटुम्बका पालन करता था। लोकदृष्टिमें अशिक्षित होनेपर भी मणिदास सच्चा शिक्षित था। सच्चे शिक्षितके दो लक्षण प्रधानतया होते हैं। दीन-दुखी प्राणियोंपर दया करना और पाप छोड़कर भगवान्‌का भजन करना। भगवान्‌के दरबारमें वही बड़ा है जो दुष्कर्मोंका त्याग करके भगवत्-स्मरण करता है तथा संसारके सब प्राणियोंको भगवत्का स्वरूप मानकर सबकी निःस्वार्थ सेवा करना अपना कर्तव्य समझता है, चाहे वह संसारकी दृष्टिमें दरिद्र, तिरस्कृत और पतित ही क्यों न हो। मणिदास अपनी थोड़ी-सी आमदनीका ज्यादा हिस्सा गरीबोंकी सेवामें—भूखे प्राणियोंके पेट भरनेमें लगा देता, बचे-खुचेपर अपना और कुटुम्बका निर्वाह करता और अपने मन और जीभको भगवान्‌के भजनमें लगाये रखता। इससे वह सभी स्थितियोंमें सुखी रहता; अपना सर्वस्व भगवान्‌को सौंप देनेवाला निश्चिन्त होकर निश्चित आनन्दका भोग न करे तो दूसरा कौन करे?

कुछ समय बाद दैवकी प्रेरणासे मणिदासके एक-एक करके सभी स्त्री-पुत्रोंका देहान्त हो गया। मणिदास इसे विपत्ति समझकर घबराया नहीं, उसने इसको ईश्वरका आशीर्वाद समझा और इसके लिये ईश्वरका धन्यवाद करता हुआ मन-ही-मन कहने लगा—'अहा, दयालु प्रभुने बड़ी ही कृपा की, मेरा सारा बोझ हल्का कर दिया। स्त्री-पुत्रोंको अपना मानकर मेरा मन उनमें फँसा रहता था, श्रीहरिने मेरे कल्याणके लिये अपनी चीजोंको वापस ले लिया; हे जगदीश्वर! आपकी दयाको धन्य है, मुझे आपने दुनियाकी गुलामीसे छुड़ा लिया। मैं आजतक विषयोंका दास था, मोह-मदिराके नशेमें परम प्रेममय, परम दयामय प्रभुकी सेवाको भूल रहा था। आज आपकी अपार कृपासे मुझे कर्तव्यका ज्ञान हो गया। प्रभो! अब आप आशीर्वाद दीजिये जिससे मेरे शेष जीवनका प्रत्येक पल केवल आपकी सेवा और गुण-नाम-संकीर्तनमें बीते।'

क्या सुन्दर भाव है! जो पुरुष या स्त्री जगत्‌के भोगोंकी—स्त्री-स्वामी, पुत्र-कन्या, धन-वैभव, यश-कीर्त्ति, जीवन-मृत्यु आदिकी प्राप्तिमें उन सब वस्तुओंको प्रभुकी सम्पत्ति समझकर उनपर अपना स्वामित्व या ममत्व न जमाकर ईमानदार और कर्तव्यपरायण सेवककी भाँति उनकी निःस्वार्थ भावसे सेवा और सँभाल करते हैं एवं उन सब पदार्थोंके अपने पाससे चले जानेपर प्रभुकी चीजें प्रभुके पास चली गयीं, अब प्रभुने हमारे लिये जो दूसरा कार्य नियत किया है, वही करना परम धर्म है, ऐसा मानकर परम सन्तोष और आनन्दके साथ प्रभु-भजनमें संलग्न रहते हुए प्राप्तकर्तव्यका पालन करते हैं, वे ही पुरुष या स्त्री वास्तवमें भक्त कहलाने योग्य हैं। जो सांसारिक विषयोंके प्राप्त होनेपर सुख और उनके चले जानेपर दुःखका अनुभवकर सुखमें भगवान्‌को धन्यवाद देते और दुःखमें कोसते हैं, वे सच्चे भक्त नहीं हैं, क्योंकि उनकी दृष्टिमें भगवान्‌की अपेक्षा भोगोंका महत्त्व अधिक है।

मणिदासने प्रभुकी प्रेरणा समझकर अपने मनका प्रभुके स्मरणमें लगा दिया, संसारकी प्रीति और ममताको असार जानकर सबके सार श्रीहरिनामका आश्रय ले लिया। साधुके भेषमें अब मणिदास अपना सारा जीवन भजनमें बिताने लगा। उषाकालमें ही नहा-धोकर भगवान्‌का ध्यान करनेके उपरान्त मणिदास हाथोंमें करताल लेकर श्रीजगन्नाथजीके सिंहद्वारपर आकर खड़ा हो जाता और करताल-ध्वनिके साथ अति प्रेमपूर्वक श्रीहरिनामका कीर्तन करता। कभी-कभी तो कीर्तनकी मस्तीमें वह नाचने लगता। इसके बाद मन्दिरका सिंहद्वार खुलते ही वह अन्दर जाकर पतितपावन श्रीजगन्नाथदेवजीकी मूर्तिके पास, गरुड़-स्तम्भके पीछे खड़ा होकर मन भरकर श्रीभगवान्‌के दर्शन करता, बारम्बार साष्टांग प्रणाम करता और अति दीनभावसे नम्र गद्‌गद्‌वाणीसे स्तुति करता—'हे दीनदयालो! आपकी दयाकी बलिहारी! नाथ! बस, इसप्रकार आपके श्रीमुखका दर्शन करते-करते ही मेरी मृत्यु हो। प्रभो! आप मेरे प्राणोंके प्राण हैं, मुझ-सरीखे कंगालोंके आप ही पारसमणि हैं। आपके सिवा मेरा और कोई न तो है और न हो सकता है। मुझ निराधारके आधार आप ही हैं, मैं आपकी ही शरण हूँ।'

इसके बाद मणिदास कीर्तन करने लगता। कीर्तनके रंगमें मस्त होकर वह नाचने लगता। नाचते-नाचते तन्मयताकी अवस्थामें कभी वह ठीक श्रीजगन्नाथजीके पास, जहाँ चन्दनका कठौता रखा रहता है, वहाँतक चला जाता, फिर गरुड़के पास लौट आता। उस समय उसके शरीरमें आठों सात्त्विक भावोंका उदय हो जाता। वह कभी हँसता, कभी रोता, कभी चुप हो जाता, कभी ऊँचे स्वरसे गाता, कभी स्तुति करता, कभी प्रणाम करता और कभी जयजयकार करने लगता। वह स्तुति करता हुआ कहता—'हे नाथ! हे श्रीकृष्ण! आपकी जय हो, जय हो। हे वनमाली! बलिहारी है आपके सौन्दर्यकी, आपके वक्षःस्थलपर कमलोंका हार लटक रहा है, आपके गलेमें विविध प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंकी मालाएँ शोभा पा रही हैं, आपके प्रत्येक अंगमें रत्नोंके अलंकार झलमला रहे हैं, कानोंमें मकराकृति कुण्डल हैं, मस्तकपर रत्नमुकुट सुशोभित हो रहा है। आपके चन्द्रवदनको देखते ही भक्तका हृदय आनन्दसे भर जाता है। आपके खिले हुए श्वेत कमल-जैसे मनोहर नेत्र मानो भक्तोंको भवसागरसे पार उतारनेवाले पुल हैं, आपके दोनों हस्तकमल समस्त जगत्‌का अशेष कल्याण करनेमें लगे हुए हैं। आपके धारण किये हुए शंख, चक्र, गदा आदिको देखते ही नेत्र शीतल हो जाते हैं। भक्तोंकी रक्षा करनेमें सदा व्यग्र रहनेवाले तथा सुदर्शनचक्रसे सुशोभित आपके कर-कमलोंका आश्रय करनेवालोंको कोई भय नहीं रहता। हे प्रभो! आपके अभयप्रद चरणपद्‌म शरणागतके समस्त भयोंको दूर करते हैं। मैं इन चरण-कमलोंका त्याग करके दूसरेकी शरण नहीं जाऊँगा। हे स्वामिन्! मैं आपकी ही शरणमें पड़ा हूँ, अतएव आप मुझपर कृपा करें। हे दीनबन्धो, अब मुझे अपनी सेवासे—अपने दासत्वसे कभी वञ्चित न करें।'

यों कहते-कहते मणिदास उन्मत्तकी तरह नाचने लगता। उसकी कीर्तन और करताल-ध्वनिसे सारा मन्दिर गूँज उठता। इसप्रकार मणिदास श्रीजगन्नाथजीके सभा-मण्डपमें नित्य नाचता, गाता और आनन्द करता। मनमें आता तभी चला जाता और पुनः आकर नाचने लगता। कोई महाप्रसाद दे देता तो उसे पा लेता, नहीं तो भूखा-प्यासा ही किसी मठमें जाकर प्रभुका ध्यान करने लगता। इसप्रकार उसने अपना तन-मन प्रभुके अर्पण कर दिया।

श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें मण्डपके एक भागमें नित्यप्रति पुराणकी कथा हुआ करती। एक विद्वान्

पण्डित कथा कहते तथा अनेकों श्रोता नर-नारी सुनते। कथावाचक पण्डितजी महाराज बड़े विद्वान् थे। वे तरह-तरहके भाव बनाकर ऐसे ढंगसे कथा कहते कि सुननेवाले मुग्ध हो जाते। इतना होनेपर भी पण्डितजी प्रेमी नहीं थे। उनका हृदय शुष्क था, उसमें भगवत्-प्रेम-रसकी धारा नहीं बहती थी। एक दिन कथा हो रही थी, इतनेमें ही करताल बजाता और ऊँचे स्वरसे 'राम-कृष्ण-हरि' की ध्वनि करता हुआ मणिदास वहाँ जा पहुँचा। श्रीजगन्नाथजीका दर्शन करते ही वह आनन्दमें मग्न हो गया और उन्मत्त होकर नाचने लगा। नाचते-नाचते वह कथावाचकजीके पास जा पहुँचा। उसे यह पता ही नहीं था कि वह कहाँ है और क्या कर रहा है? भयोंके भय, भयहारी भगवान्‌के अभय पदोंमें उसका चित्त लग रहा था। कथावाचकजीको उसका यह आचरण बहुत बुरा लगा; उनको गुस्सा आ गया और उन्होंने कथा रोककर उसे डाँटना शुरू किया। परन्तु वहाँ सुनता कौन? कथावाचकजी बक रहे थे, वह अपनी मस्तीमें नाच रहा था। कथावाचकजीका गुस्सा और भी बढ़ गया। अब श्रोताओंने भी साथ दिया और गालियोंके साथ ही मणिदासपर थप्पड़ भी पड़ने लगे। बहुत देरतक यह अत्याचार चला। अन्तमें मणिदासको जब बाह्यज्ञान हुआ तब वह भौंचक-सा रह गया, कुछ ही समयमें उसे सारी बातोंका पता लग गया। उसके मनमें प्रणयकोप हुआ, वह चुपचाप वहाँसे निकलकर एक मठमें जाकर पड़ रहा। उसने मन-ही-मन कहा 'प्रभुके सामने यदि मुझे प्रभुकी कथा कहने-सुननेवाले मारते हैं, तो मैं वहाँ क्यों जाऊँ, शायद प्रभु यही चाहते हों।' कथावाचकजीने अपनी विजय समझी, उन्हें यह पता नहीं था कि **भगवान् विद्यापर नहीं रीझते, वह तो प्रेमके भूखे हैं, जिसके हृदयमें प्रेम होता है, वहीं भगवान्‌का निवास होता है।**

दिन बीत गया। सूर्यनारायण अस्ताचलको पधारे। मन्दिरमें सन्ध्याकी आरती हुई। परन्तु मणिदास नहीं गया। आज उसने अन्न-जल भी ग्रहण नहीं किया। मन्दिरकी सेवा समाप्त हुई, भण्डार बन्द हो गया और सबके बाहर चले जानेपर पट बन्द कर दिये गये।

पुरीके नरेश अपने महलमें सोये हैं। अकस्मात् उन्होंने देखा मानो स्वयं भगवान् श्रीजगन्नाथजी प्रकट होकर उनसे कह रहे हैं—'राजन्! तू बड़ा बे-खबर है, तुझे यह भी खबर नहीं कि तेरे राज्यमें—अरे मेरे मन्दिरमें क्या हो रहा है। मेरा प्रेमी भक्त मणिदास मन्दिरमें करताल बजाकर नाचा करता है और मुझे आनन्द दिया करता है। आज तेरे कथावाचकने उसे मारकर मन्दिरसे निकाल दिया है। उसके कीर्तन-नादको सुने बिना आज मेरा आनन्द फीका हो रहा है। मेरा मणिदास मन्दिरके बाहर मठमें भूखा-प्यासा पड़ा है, तू स्वयं वहाँ जा और आइन्दा उसके कीर्तनमें कोई विघ्न न हो, ऐसा प्रबन्ध कर। जब वह करताल बजाकर प्रेमानन्दमें मस्त हो मेरे सामने नाचेगा, तभी मुझे आनन्द आवेगा। देख, अब आगेसे कोई कथावाचक वहाँ कथा न बाँचा करे, कथाकी व्यवस्था श्रीलक्ष्मीजीके मन्दिरमें हो, मेरा सभा-मण्डप तो मेरे प्रेमी भक्तोंके भजन-कीर्तनके लिये ही सुरक्षित रहे।' अहा! आनन्दसागर भगवान्‌की करुणा तो देखिये, वे भक्तके आनन्दसे आनन्दित होते हैं।

उधर मठमें पड़े हुए मणिदासने देखा, अकस्मात् परमप्रकाश हो गया और उसमेंसे भगवान् श्रीजगन्नाथजीने प्रकट होकर उसके सिरपर हाथ फिराते हुए स्नेहपूर्वक कहा—'बेटा मणिदास! अरे तू भूखा क्यों रहा? देख, आज मैंने भी उपवास किया है। उठ, जल्दी भोजन कर।' मणिदासको बाह्य ज्ञान हो गया। उसने देखा महाप्रसादका थाल सामने रक्खा है। दयामयकी दया देखकर मणिदासका प्रणयाभिमान उतर गया।

इधर राजाकी नींद टूटते ही उसने विचार किया, यह कैसा स्वप्न था। क्या सचमुच श्रीजगन्नाथ भगवान्‌ने ही आज्ञा दी? राजा श्रद्धालु था, उसने उसी समय इसकी जाँच करना उचित समझा। घोड़ा मँगवाया गया और राजा उसपर सवार होकर सीधा मन्दिरकी तरफ चला। मन्दिरके सामने मठमें जाकर देखा, मणिदास पड़ा हुआ है। प्रातःकाल हो गया था, राजाने सादर प्रेमपूर्ण सम्भाषणसे मणिदासके मनको खींच लिया। साधु दयालु हुआ ही करते हैं। मणिदास राजी हो गया। राजा उसे साथ लेकर सभा-मण्डपमें आया और बड़े आदर-सत्कारके साथ मणिदासको वस्त्रालंकार पहनाकर कहने लगा—'मणिदास! तू धन्य है, अरे, वह ऊँची जाति किस कामकी, जिसमें भगवान्‌का प्रेम नहीं? तुझे और तेरे मा-बापको धन्य है। आज तू मेरे सामने करताल बजाकर नृत्य कर, तेरे नृत्यसे प्रभुको भी आनन्द होगा और मैं भी अपने नेत्र और कर्णोंके द्वारा कीर्तन-रसका पानकर कृतकृत्य होऊँगा।'

मणिदासने करताल लेकर प्रेमसे अधीर हो कीर्तन आरम्भ किया और अत्यन्त आनन्दसे पूर्ण होकर दीन-बन्धुकी स्तुति करते हुए मनोहर नृत्य किया।

राजाकी आज्ञासे कथावाचकजीको उसी दिनसे वहाँ कथा बाँचना बन्द कर देना पड़ा। मन्दिरके नैर्ऋत्य-कोणमें स्थित श्रीलक्ष्मीजीके मन्दिरमें कथाकी व्यवस्था कर दी गयी, जो अबतक चालू है। सभा-मण्डप भक्तोंके प्रेम-पूरित कीर्तन-नृत्यके लिये खुला छोड़ दिया गया।

भक्त मणिदास जीवनभर वहीं कीर्तन करते रहे और अपने प्रेम-सुधाकी धारासे सहस्रों नर-नारियोंको अमरता प्रदानकर अन्तमें श्रीजगन्नाथजीकी सेवाके लिये दिव्य धामको पधार गये।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

ईश्वर साकार हैं या निराकार

(लेखक—पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल)

भगवान्‌को साकार कहें या निराकार? उनको कैसा समझना ठीक है? साकार-वादी भगवान्‌को निराकार सुनते ही भड़क उठते हैं और निराकार माननेवाले भगवान्‌के रूपकी बात सुनते ही जरा उपेक्षाकी हँसी हँसते हुए साकार-वादियोंकी ओर करुणा-भरी दृष्टिसे देखकर और उनकी बुद्धिके जडत्वपर विचारकर हताश हो जाते हैं। भारतके विभिन्न समाजोंमें बहुत प्राचीन समयसे इस बातपर न मालूम कितना वितण्डावाद और कलह हो चुका है। जिन शास्त्रोंमें भगवान्‌के साकार-विग्रहका वर्णन है, उनपर निराकारवादी विश्वास नहीं करते और जिन ग्रन्थोंसे भगवान्‌का निराकारत्व प्रदर्शित किया गया है, उनको साकारवादी बिल्कुल मानने देना नहीं चाहते।

इनमें कौन-सी बात शास्त्रसम्मत है? साकार सत्य है या निराकार? दोनों दलोंके इस वितण्डावादमें पड़नेसे कोई लाभ नहीं है, इन दोनों मतोंकी उपेक्षा न कर शास्त्र और आचार्योंके मतोंके अनुसार मेरे हृदयने जैसी सम्मति दी और उससे मैं जो कुछ समझ सका हूँ, उसे यहाँ लिखता हूँ।

भगवान् न तो केवल साकार हैं और न केवल निराकार। वे साकार होते हुए भी निराकार हैं और निराकार होते हुए भी साकार हैं। वे साकार-अवस्थामें भी निराकार हैं और निराकार-अवस्थामें भी आकार-युक्त हैं। इसप्रकार परस्पर-विरुद्ध भाव असम्भव

सा प्रतीत होनेपर भी, भगवान्‌में ये दोनों भाव ही सम्भव हैं। क्योंकि उनमें सम्भव-असम्भव सभी सम्भव है, उनके लिये असम्भव कुछ भी नहीं है।

इस विश्व-जगत्‌की ओर देखनेसे यह समझमें आ जाता है कि भगवान्‌का शरीर-धारण या रूप सम्भव है, वे कितने असंख्य रूपों और कितने अगणित भावोंमें प्रकट हो रहे हैं। इस विश्वके प्रकाशमें हम उन्हींके रूपको देखकर तो परम आश्चर्य-चकित होते हैं। इतने रूपोंवाला यदि अरूप है तो रूपवान् कौन होगा? इधर उनका निराकारत्व भी ऐसा गम्भीर और विस्मयोत्पादक है कि उसका स्मरण करते ही रूपमात्रको भुला देना पड़ता है। अमावस्याकी घोर रात्रिमें दिगन्तहीन मेघाच्छन्न आकाशकी ओर देखनेपर अपने शरीरके अस्तित्वपर भी मानो सन्देह-सा होने लगता है। इस दृष्टिसे न तो साकार-को अस्वीकार करते बनता है और न निराकारको ही इन्कार करनेसे काम चलता है। पर यहाँ तो भगवान्‌के विशिष्ट रूपपर विचार करना है।

समय-समयपर विशिष्ट रूपसे भगवान् मनुष्य-के सामने या मनुष्य-समाजमें आविर्भूत होते हैं या नहीं? मनुष्य उनको अपने ही जैसे मनुष्यरूपमें देख सकता है या नहीं? भगवान् कितने ही महान् विराट् स्वरूप और कैसे ही ऐश्वर्यशाली क्यों न हों, जबतक उनको मनुष्य अपने-जैसे मनुष्यरूपमें नहीं देखता, तबतक सम्भवतः वह सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान्‌को मनुष्यकी ऐकान्तिक आकांक्षाको पूर्ण करनेके लिये मनुष्यके समान बनकर मनुष्यके निकट आना पड़ता है। उनका यही भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाला रूप माया-मनुष्य-विग्रह या अवतार-शरीर है। भगवान् मानव-समाजमें इसप्रकार आते हैं, यह अनेकों पुराणादि शास्त्रोंमें वर्णित है एवं गीतामें तो भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे हमें यह सुनाया है—

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

मैं धर्मसंस्थापनके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ।

परन्तु जब भगवान् अपनी मायामें अधिष्ठित हो देह धारण करते हैं तो अन्य शरीरोंके सदृश ही प्रतीत होनेपर भी उनका वह भागवती-शरीर होता है, हमारे पाञ्चभौतिक शरीरोंके समान वह भूतमय या भौतिक शरीर नहीं होता। उस समय मनुष्यके समान दीखनेपर भी उनके शरीरमें और हमारे शरीरमें बड़ा भारी भेद है। हमारा शरीर जड-भावापन्न है परन्तु उनके शरीरमें जडभाव नहीं है। वह जडवत् बोध होनेपर भी सर्वशक्तिमय, चैतन्य-मय और आनन्दमय है।

जिसप्रकार जल जमनेपर बर्फ हो जाता है, बर्फमें जलके सिवा और कुछ नहीं है, उसी प्रकार भगवत्-शरीर सच्चिदानन्दमय है, उसका प्रत्येक अणु सच्चिदानन्दसे पूर्ण है। हम कर्मोंके अधीन हो इस संसारमें बार-बार आते-जाते हैं, वे कर्मरहित हैं, हमारे समान कर्मोंके अधीन होकर संसारमें नहीं आते, क्योंकि कर्म न होनेसे कर्म-फल-भोगरूप शरीरकी उन्हें आवश्यकता नहीं होती। उनका वह शरीर पञ्चभूतोंसे गठित नहीं होता, वे स्वेच्छासे शरीर धारण करते हैं, इसीसे जब वे मनुष्य-शरीरसे जगत्‌में अवतीर्ण होते हैं तो उनका वह शरीर उस सच्चिदानन्द-भावका स्वतःस्फुरण ही होता है। इसीलिये उसमें ऐसा सौन्दर्य होता है, जो जीवोंके मनःप्राणको इतना आकर्षित कर लेता है। अनेकों बार देखनेपर भी वह पुराना नहीं होता, जितना देखा जाता है उतनी ही देखनेकी इच्छा बढ़ती जाती है—

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं,
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।

शास्त्रोंमें अनेकों जगह भगवान्‌के शरीरका वर्णन है। वहाँ उसे माया-तनु या लोक-विमोहन शरीर ही कहा गया है। परन्तु इस माया-तनुका अर्थ मिथ्या

शरीर या हमलोगोंको ठगनेके लिये शरीर-धारण नहीं है, वह शरीर अलौकिक शक्तिका आधार या क्रियाक्षेत्र है। भगवान्‌की अलौकिक ईश्वरीय शक्ति ही पुञ्जीकृत या घनीभूत होकर इस विशिष्ट रूपको धारण करती है।

भगवान्‌का रूप देश-कालसे परिच्छिन्न प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें देश-कालसे परिच्छिन्न नहीं है। देहधारी होकर भी भगवान् मनुष्यके समान सीमित, सान्त या जडभावापन्न नहीं होते। उस शरीरमें उनकी वही असीम, अनन्त, चैतन्य सत्ता विद्यमान रहती है। जिसप्रकार सूर्य बहुत विशाल वस्तु है पर हमारी दृष्टि-शक्ति इतनी बड़ी वस्तुको ग्रहण नहीं कर सकती। इसलिये हमारी दृष्टिकी अल्पताके अनुरूप सूर्य जिसप्रकार हमें छोटे रूपमें दिखलायी पड़ता है, उसी प्रकार अनन्त, अपरिमेय परमात्मा हमारे नयन-गोचर होनेपर हमारी नेत्र-शक्तिके अनुसार छोटे रूपमें दीखनेपर भी वास्तवमें वे क्षुद्र हो नहीं जाते। यही उनका असीम शक्ति-युक्त, भक्त-अनुग्रहकारी रूप होता है। भक्तकी तृप्तिके लिये भगवान्‌को भक्तकी दृष्टि-शक्तिकी सामर्थ्यके अनुरूप रूप धारण करना पड़ता है। इससे वे छोटे नहीं हो जाते। यदि कोई अन्य अधिक सामर्थ्यवान् पुरुष, उनको उसी समय देखना चाहे तो उस एक ही समयमें वे साधककी शक्तिके अनुसार बड़े रूपमें भी दिखलायी पड़ सकते हैं। इसीलिये भगवान्‌के प्रति भक्तका आग्रह बढ़ता ही रहता है। हम उनको अपने खिलाड़ी साथीके भेषमें, उसीके रूपमें प्राप्त कर सकते हैं; साथ ही गुरु, पिता, माता, विधाताके रूपमें भी पा सकते हैं। आवश्यक होनेपर वे हमारे प्राणोंके परमोत्सवरूपमें, नवीन-नटवर मदन-मोहन प्राण-कान्तके रूपमें आकर हमारे साथ रसालाप भी कर सकते हैं। हमारे विप्रय-व्याकुल चित्तको अपनी सुमनोहर वंशी-ध्वनिद्वारा अपने चरणोंमें खींचकर हमारी अनन्तकालकी दारुण संसार-पिपासाको मिटा दे सकते हैं।

वे निराकार, अरूप-रूपसे भी यह सब कुछ कर सकते हैं और साकार-रूपसे हमारे समीप बैठकर हमारी व्यथासे व्यथित होकर हमें अनेक प्रकारसे सान्त्वना भी दे सकते हैं।

यह सब उनकी महिमा है और यह महिमा ही उनकी माया या अघटनघटनापटीयसी अलौकिक शक्ति है।

एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः।
माया गुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि॥
यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले।
एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः॥

जो भगवान् वस्तुतः चिन्मय एवं रूपवर्जित हैं, यह स्थूलरूप भी उन्हीं चिन्मयका रूप है। (भापके आकारमें जो अदृश्य था बस वही जलाकारमें दिखलायी पड़ने लगा) क्योंकि जिन तीन गुणोंके विकारसे यह स्थूल रूप बनता है, वे तीनों इस चिन्मयके ही अंश हैं। वे ही स्थूलरूपसे अधिष्ठित हैं। यद्यपि स्थूलरूप भगवान्‌का ही रूप है, पर उनका स्वरूप सभी रूपोंसे भिन्न है। जिनकी बुद्धि अविद्याके मोहसे मुग्ध है उन अबुद्धि मनुष्योंद्वारा 'दृश्यत्वं' दृश्यभावको यानी स्थूलरूपको 'द्रष्टरि' द्रष्टा पुरुष (जीव और ब्रह्म) के ऊपर आरोप किया जाता है।

जो विश्व-मूर्ति-रूपसे वासुदेव हैं, प्राणाधीश-रूपसे अखिल-प्राणमय दिव्य-तेज-पूर्ण देहधारी हैं, उन्हींका मनुष्य-सदृश रूप भी है। पर मानव-सदृश होकर भी वह अमानव हैं। उसी रूपको देखनेके लिये भक्तमात्रके प्राण व्याकुल रहते हैं। विश्व-रूप देखनेके बाद अर्जुनने इसी रूपको देखना चाहा था और भगवान्‌ने भी कृपा करके अर्जुनको वह रूप दिखलाया था। इस रूपके दर्शन कर लेनेपर भक्तकी रूप-तृष्णा सदाके लिये मिट जाती है। मनुष्यके अन्दर रूप-तृष्णा बड़ी प्रबल होती है, इस रूप-तृष्णा

या रूप-दर्शनके नशेको मिटानेके लिये ही वे अपूर्व श्यामसुन्दर-मूर्ति धारण करते हैं। शास्त्रोंमें अनेक स्थलोंपर, विविध छन्दों और अनेक भाव-भङ्गियोंसे इस मदनमोहन, पुरुषोत्तमरूपके आविर्भावका वर्णन है। इस सुसंवादसे हमारा चित्त मानो स्वाभाविक ही आश्वासन प्राप्त करता है।

भगवानके रूपयुक्त और रूपहीन दोनों भावोंका वर्णन शास्त्रोंने हमें सुनाया है। एक सीमाहीन, अन्तहीन, चैतन्य, इन्द्रियोंके अगोचर, अरूप और सत्तामात्र हैं तो दूसरे अनन्त शक्तिके आधार, अनन्त-क्रीडा-कौतुक-पूर्ण, प्रेम-पूर्ण, रूपमय, भुवन-मनोमोहन, चिन्मय, लीलाविग्रह हैं। एकमें अनन्त शक्ति शुद्ध और अव्यक्त है तो दूसरेमें अनन्त शक्तिका खेल है, अनन्त रूपका नित्य-निकेतन है। जहाँ शक्ति शुद्ध है, अपने आपमें मग्न है, उस अरूप भावका वर्णन भाषामें कोई भी नहीं कर सकता, वहाँ वे निराकार हैं। परन्तु जहाँ वह शक्ति जाग्रत् है, क्रीडाशील है, वहाँ वे निराकार होते हुए भी साकार हैं, क्योंकि जहाँ शक्तिका स्फुरण है वहीं रूप है। शक्तिका स्फुरण होते ही कुछ अवलम्ब या आश्रय लेना पड़ता है। यह आश्रय-केन्द्र ही उनके रूपको प्रकाशित करता है। यह रूप-परिग्रह-केन्द्र-शक्ति भावमयी है। यह रूप, विशिष्ट रूप होनेपर भी चिन्मय-भावके साथ एवं अरूप-सत्ताके साथ नित्य सम्बन्धित है। इसीसे जब भक्त भयभीत होकर उन्हें 'मा' कहकर पुकारता है तब भक्तको अभय प्रदान करनेके लिये वे अनन्त-चैतन्य-सत्ताका विस्तारकर अनुपमरूपमें भक्तके सम्मुख प्रकट होते हैं। उस समय वे हमारे ही समान बातें करते हैं, अपने भक्तके मनकी बात सुनते हैं। भक्तके दिये हुए पदार्थ ग्रहण करते हैं, खाते हैं। प्रभुकी वह कैसी अपूर्व करुणा है! भक्त प्रह्लादको जब हिरण्यकशिपुने कहा कि 'क्या इस स्तम्भमें तेरा भगवान है?' तो भक्त प्रह्लादने निर्भीक-चित्त और विश्वासपर्ण हृदयसे उत्तर दिया कि 'निश्चय ही हैं, पिताजी! वे सर्वव्यापी हैं, इस स्तम्भमें भी हैं।' हिरण्यकशिपुने चिर-शत्रु भगवान्‌को इतना निकट जानकर ज्यों ही खड्ग उठा प्रचण्ड वेगसे स्तम्भपर आघात किया त्यों ही सर्वव्यापी होते हुए भी, भक्तके प्रभु, भक्त-प्राणके देवता भगवान् भक्तकी बात सच्ची करने एवं हिरण्यकशिपुके अज्ञानतमको ध्वंस करनेके लिये उसी समय कितने भीषण और कितने मधुर रूपमें भक्तके सामने प्रकट हो गये और भक्तके हृदय-क्षोभको सदाके लिये मिटा दिया!

इस रूपके न धारण करनेपर उनकी भक्त-वत्सलता कहाँ रहती? भक्तको भगवान् इसी प्रकार कृतार्थ करते हैं। यहाँ यह सोचना ठीक नहीं होगा कि भगवान् जब एक जगह आविर्भूत हो गये तो अन्य स्थानोंपर शायद नहीं रहे। वे सर्वव्यापी रहते हुए ही एक समयमें ही अनेकों स्थानोंपर प्रकट हो सकते हैं एवं सभी रूपोंमें उनकी असीम शक्ति पूर्ण रहती है। जिसप्रकार महान् एक अद्वितीय भगवत्-स्वरूपमें उनकी असीम शक्ति है, खण्डरूपसे प्रतीत होनेवाले असंख्य स्वल्पायतनोंमें—छोटे शरीरोंमें भी उनकी वही असीम शक्ति विद्यमान रहती है। यही उनकी भगवत्ता है। एक परमाणुमें वे जिसप्रकार पूर्णात्-पूर्णतररूपमें विराजमान हैं, अनन्त ब्रह्माण्डमें, अनन्त ब्रह्माण्डव्यापी अधिष्ठानमें भी वे वैसे ही पूर्णात्-पूर्णतररूपसे विराजित हैं। हमलोगोंकी भाँति भगवान्‌का एक स्थानपर स्थित रहते दूसरी जगह अभाव नहीं होता। परन्तु जब वे अपनेको किसी देश, काल और आधारमें प्रकाशित करते हैं तब वह एक अपूर्व प्रकाश होता है। उस देश, काल, आधारमें रहकर भी वे उस देश, काल और स्थानसे अतीत ही रहते हैं। वे भक्तकी पुकार सुनते हैं, एवं भक्तको अभय देनेके लिये उसी देश, काल और स्थानमें अपनेको प्रकट करते हैं। द्रौपदीने दुःशासनके अत्याचारसे भयभीत हो कौरव-सभामें उनको करुण-भावसे पुकारा

था, उन्होंने कातर भक्तके आह्वानसे आकर्षित होकर तत्काल भक्तका भय दूर कर दिया। उनकी आर्त-त्राणपरायणताके ऐसे अनेकों दृष्टान्त हैं।

जैसे दुर्गन्धमय, कीचड़-भरे, संकीर्ण जलमें भी कमल अपूर्व शोभा, सुगन्ध और सुन्दर वर्णको लेकर खिलता है, भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे इसी देश, काल और आधारमें अपनी अपूर्व भक्त-भय-हारी मूर्तिको उसी प्रकार प्रकट करते हैं। यही उनका मदनमोहन-रूप या भुवन-मन-मोहन ईश्वरीय भाव है। इसी भावमय-रूपमय सत्ताके दर्शन करनेपर साधकका हृदय-रोग नष्ट हो जाता है। इस रूपको देखते-देखते साधक विह्वल हो उठता है। इस रूप-सागरमें डूब-डूबकर भी वह अपने प्राणोंकी आशा मिटा नहीं सकता। भक्त कहता है—

जन्म अवधि हम रूप निहारिनु, नयन ना तिरपित भेल।

अनन्त-मिलन

(लेखक—श्रीसत्यव्रतजी शर्मा 'सुजन' बी० ए०)

बड़े सबेरे ही उठकर मैं चला आ रहा हूँ अविराम।
किन्तु न पथका अन्त कहीं है, गयी दोपहर, आई शाम॥
फैल गया घन तम दिगन्ततक, आज अमावसकी है रात।
कहीं अभीतक चिह्न तक नहीं, कौन कहे मिलनेकी बात॥

आँधी है उठ रही, किन्तु उस पार तैर कर जाऊँगा।
तुच्छ बूँद मैं सागरमें अपनेको आज मिलाऊँगा॥

सुनता हूँ, वह है विशाल, औ है मेरा छोटा-सा रूप।
वह है व्यापक मुझमें भी, मैं हूँ नश्वर, वह नित्य अनूप॥
डर लगता है उसके संमुख जाते, उसकी शक्ति महान।
बहुत दिनोंसे सोच सोच यह पाता हूँ मैं कष्ट अजान॥

जैसे हो, मैं अंश पूर्णमें मिलकर पूर्ण कहाऊँगा।
तुच्छ बूँद मैं सागरमें अपनेको आज मिलाऊँगा॥

सब कुछ तज कर आज आह! जीवनधनको मैं पाऊँगा।
मायाग्रस्त मूढ़ मनके सब मिथ्या भेद भुलाऊँगा॥
अहंकारकी बुद्धि नष्ट कर ऐक्यभावको लाऊँगा।
'तदहमस्मि' द्रुत तन्मय होकर मैं सान्तता मिटाऊँगा॥

अपनापन खोकर 'अपना' को अब निश्चय अपनाऊँगा।
तुच्छ बूँद मैं सागरमें अपनेको आज मिलाऊँगा॥

आयुर्वेद और ईश्वरवाद

(लेखक—डा० तारापद चौधरी एम० ए०, पी-एच० डी०)

हिन्दुओंके आयुर्वेद-शास्त्रोंमें अपने प्रतिपाद्य विषय प्राण (आयु) का प्रतिपादन करते हुए जीवनके मौलिक सिद्धान्तोंके विषयमें भी कहीं-कहीं कुछ लिखा गया है। माताकी कुक्षिमें कललके विकास तथा उसकी भावना-के विषयमें विचार करते समय, अथवा किसी रोग-विशेषके मूल-कारणोंकी गवेषणा करते समय, या जीवनके सदाचरणके नियमोंका उल्लेख करते समय, (इनमें सभी आयुर्वेदके आवश्यक भाग समझे जाते हैं) इस विषयकी भी कुछ आलोचना करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ आयुर्वेद कहता है कि जब वीर्य और रज माताकी कुक्षिमें अपने विहित स्वस्थ दशामें मिलते हैं और जब कुक्षि उनके ग्रहण करनेके लिये अनुकूल होती है तब कलल उत्पन्न होता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या यह दोनों शरीरके निर्माण करने तथा प्राणके सञ्चरण करनेके लिये पर्याप्त हैं, अथवा कोई ऐसी वस्तु है जो इन दोनोंसे बिल्कुल ही भिन्न है, जो प्राण-सञ्चार करती है और रज-वीर्य-गत निर्माणात्मक गुणोंको क्रियान्वित करती है ? इस प्रश्नके साथ-साथ एक दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि क्या इसप्रकार उत्पन्न हुए पुरुषके मानसिक, नैतिक और शारीरिक स्वभावका माता-पिताके रज-वीर्यके द्वारा उतना पता लगाया जा सकता है जितना कि इन कारणोंके द्वारा कार्यके स्वभावों-का निरूपण होता है ? यदि उनका पता नहीं लगाया जा सकता और न उसके जीवनके प्रारम्भसे इन कारणोंमें-से कुछके लिये प्रामाणिक कारण ही निश्चित किये जा सकते हैं, तो क्या हमारा यह मानना युक्तिसंगत होगा कि वे अकारण ही उत्पन्न हुए हैं अथवा हमें विवश होकर यह मान लेना चाहिये कि जीवन एक शाश्वत वस्तु है और कारण जो अभी स्पष्टरूपेण नहीं दीख पड़ते हैं, अवश्य ही पूर्व-जीवनमें रहे होंगे ? इसी प्रकार रोगोंमें कुछ तो वंशागत होते हैं, और कुछ संयमशील जीवनसे च्युत होनेके कारण उत्पन्न होते हैं। साथ ही कुछ दूसरे और ऐसे रोग भी होते हैं जिनके कारणोंका पता लगाना दुर्घट हो जाता है। तब इनकी किसप्रकार व्याख्या की जा सकती है ? पुनः जब वैयक्तिक दर्शन जीवनके प्रति मनुष्यकी प्रवृत्ति तथा उसकी समस्त क्रियाओंमें उसकी प्रेरणाको (जिसे वह जानता है या नहीं) अङ्कित करते हुए मनुष्यकी विवेचना करता है तो आयुर्वेदके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह जीवनके सदाचारका विधान करते हुए सुस्पष्ट और प्रबलरूपमें जीवनके स्वरूपका भी निरूपण करे।

क्या हमारे अस्तित्वकी सीमा जन्म और मृत्युके बीचकी अवधिमात्र ही है, अथवा इन दोनोंसे परे भी वह स्थित है ? यदि वह परे है तो यह अस्तित्व अपने सुख-दुःख तथा अन्य समस्त द्वन्द्वोंके साथ अनन्त काल-तक चक्रवत् घूमता रहेगा अथवा हमारे भीतर एक सूक्ष्म-तर तत्त्व है जो इस बार-बारके पुनरावर्तनमें दौड़ता रहता है तथा मालामें सूतके समान समस्त जीवनको एक साथ ग्रथित करता है, जो इन द्वन्द्वोंसे असंस्पृष्ट होता है तथा जो आसानीसे इन्हें हटा सकता है और इसप्रकार जन्म-मृत्युके चक्रको रोक सकता है ? क्या हमारा अस्तित्व और जगत्‌का प्रवाह, ये अकारण अथवा वस्तु-स्वभावके द्वारा ही निर्मित हुए हैं ? अथवा कोई ऐसा तत्त्व या शक्ति है जो समस्त सृष्टिके व्यापारका ज्ञान रखती है और सबको इसप्रकार बन्धनमें डाले हुए है जिससे बचना दुष्कर है, तथा जो स्वयमेव इन विकारोंमें भी निर्विकार हो अद्भुतरूपेण अभिव्यक्त हो रही है ? इन प्रश्नोंके उत्तर अनेक प्रकारसे दिये गये हैं, परन्तु मुझे इस लेखमें दिखलाना है कि आयुर्वेद इनका क्या उत्तर देता है ?

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता और अष्टाङ्गसंहिता जिसका एक संक्षिप्त और पद्यबद्ध संस्करण वाग्भट्टका अष्टाङ्गहृदय है, आयुर्वेदके दार्शनिक पक्षको अच्छी तरहसे व्यक्त करते हैं। यह सर्वोत्तम, प्राचीनतम तथा आयुर्वेद-के अन्यतम विद्वानोंके लेख होनेके कारण, उत्तरकालीन लेखकोंके लिये अक्षय सामग्रीसे पूर्ण हैं तथा इनमें प्रकट किये हुए विचारोंसे भिन्न मत प्रकट करनेका साहस उत्तरकालीन लेखकोंमेंसे कदाचित् ही किसीने किया है। इनमेंसे चरकने उपर्युक्त प्रश्नोंका विवेचन बहुत ही विचार-

पूर्वक, मौलिक तथा विश्वासोत्पादक युक्ति-प्रतियुक्ति देते हुए नियमित रीतिसे किया है। सर्वसाधारणके द्वारा स्वीकृत विचारोंको सुश्रुतने अपनी निजी शैलीसे उनकी व्याख्या तथा पूर्ति करते हुए संक्षेपमें वर्णन किया है। वाग्भट्टने उससे भी अधिक संक्षेपमें प्रसंगवश निरभिमानता-पूर्वक केवल परिपक्व सिद्धान्तोंका उल्लेख किया है। संस्कृतके सूचीकटाह-न्यायका अनुसरण करते हुए हम पहले वाग्भट्टको, तब सुश्रुतको और अन्तमें चरकको लेंगे।

वाग्भट्ट

वाग्भट्ट अष्टाङ्गसंग्रह (शरीर, अ० २) गर्भके प्रारम्भकी आलोचना करते हुए कहता है कि जब पुराना रज नष्ट हो जाता है, नवीन रजका प्रादुर्भाव होता है; तथा गर्भके स्थान और मार्ग साफ हो जाते हैं, स्वस्थ वीर्य बीजके रूपमें शरीरगत वायुके द्वारा प्रेरित हुआ पञ्च-प्रारम्भिक तत्त्वोंको साथ लिये रजकी सहायतासे तथा तत्काल उस जीवसे युक्त होकर, जो वायुमें रागादि क्लेशोंको प्रदान करता है तथा जो अपने कर्मोंद्वारा प्रेरित होता है एवं मनके साथ रहता हुआ जो गर्भके रूपमें गर्भाशयमें स्थित होता है। जिसप्रकार कार्य कारणके अनुसार ही होते हैं, उसी प्रकार रज या वीर्यके प्राबल्य, अथवा दोनोंकी समानतासे क्रमशः गर्भके पुंस्त्व, स्त्रीत्व अथवा क्लीबत्वका निश्चय होता है। इसी प्रकारका विवेचन अष्टाङ्गहृदय (शरीर अ० १। १-४) में हुआ है, परन्तु पहले और चौथे श्लोकका आशय ध्यान देने योग्य है। पहले श्लोकमें रज-वीर्य-सम्बन्धी संयुक्त द्रव वस्तुमें अपने कर्म और क्लेशोंके द्वारा विवश हुए जीवोंकी तुलना सत्य बातके स्थापन करनेके उद्देश्यसे मँथी जाती लकड़ियोंमें अग्निके साथ की गयी है। उससे अग्निके समान जीवके विभुत्व और एकत्वका अनुमान होता है, इसका गतिशील तथा अनेक रूप होना इसके धृत विषय अर्थात् मन आदिपर निर्भर करता है, जैसे अग्निकी अनेक-रूपता उसके धृत विषय लकड़ीके ऊपर अवलम्बित होती है। चौथे श्लोकमें लिखा है कि जिसप्रकार कार्यमें कारणके ही गुण रहते हैं उसी प्रकार जीव साँचेमें ढाले हुए लोहेके समान नाना प्रकारके आकार ग्रहण करता है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्यके भीतर वस्तुतः वही जीव है जैसा छोटे-से-छोटे प्राणियोंमें है। यही बात सूत्र अ० २।२३ में भी पायी जाती है, मनुष्यको एक कीट तथा एक चींटीको भी अपने समान समझना चाहिये। वाग्भट्टके मतसे जब-तक मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, मन जीवात्मासे अभिन्न जान पड़ता है। इसीलिये वह कहते हैं कि, 'मन, इन्द्रियाँ तथा विभिन्न योनियोंमें जन्म लेना जीवके ऊपर ही निर्भर करता है।'

अष्टाङ्गहृदय, शरीर, ३-५ तथा संग्रहशरीर अ० ५ के 'आत्मजानि नानायोनिप्रूत्पत्तिः' आदि स्थलमें टीकाकार इन्दुने लिखा है कि, 'इसलिये मन जीवात्माके भीतरसे उत्पन्न होता है, क्योंकि यह कहीं बाहरसे नहीं आता और सदा जीवात्मासे आसक्त रहता है।'

संग्रहशरीरके पाँचवें अध्यायमें इन्दु वाग्भट्टके दार्शनिक विचारका सारांश लिखते समय कहते हैं कि जीवात्मा नित्य है, विकारसे रहित है, न जन्म लेता है और न मरता है। मन तथा औरोंके सम्पर्कमें रहनेके कारण यह जन्म-मृत्यु आदि उपाधियोंको धारण करता है। यह सम्पर्क अविद्याके कारण है। जब अविद्याके नष्ट हो जानेपर सम्पर्क छूट जाता है, तब वह शुद्ध-स्वरूपमें आता है और 'मुक्त' कहलाता है। क्योंकि बिना किसी नित्य कर्त्ताके बचपन अथवा जीवनकी दूसरी अवस्थाओंका स्मरण नहीं हो सकता, जिसके बिना कर्ममें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, तथा शारीरिक कर्म सम्भव नहीं हो सकते। यह यद्यपि अपनी इच्छानुसार काम करता है, तथा स्वतन्त्र है तथापि अपने कामोंके फलस्वरूप बन्धन या मुक्तिको प्राप्त करता है। बन्धन और मोक्ष उसके अपने कर्मोंके परिणाम हैं, जो कारणरूपसे रहते हैं। निस्सन्देह जीवात्मा-के बिना शरीर सम्भव नहीं है। महात्मा चरकका भी यही सिद्धान्त है कि—'जो यह कह सकते हैं कि घट कुम्भकारके बिना केवल मिट्टी, चाक और दण्डसे बन सकता है, अथवा घर बिना किसी बनानेवालेके केवल मिट्टी, घास और लकड़ीसे बन सकता है, वे ही कह सकते हैं कि शरीर भौतिक द्रव्योंके पारस्परिक संयोगके द्वारा बना है। इस-प्रकार जीवात्मा चेतन है, कारण है और नित्य है। और पञ्चमहाभूत अचेतन, क्षणस्थायी, प्रतिक्षण स्वयमेव भग्न होते रहते हैं। यदि पञ्चमहाभूत नित्य होते तो इनकी वृद्धि नहीं होती। निश्चय ही कोई वस्तु अन्यथा नहीं हो सकती, परन्तु ऐसा देखा जाता है, इसलिये महाभूत

क्षणिक हैं और जब जीवात्मासे अधिष्ठित होते हैं तो पुरुष-संज्ञाको प्राप्त करते हैं। जीवनकाल स्थिर है अथवा उसमें भिन्नता है, इस बातकी आलोचना करते हुए वाग्भट्ट-संग्रहसूत्रके ९ वें अध्यायमें लिखा है कि जीवनकी अवस्थाका निश्चय मनुष्यके अपने पूर्व-जन्मके (दैव) कर्मों तथा इहजन्मके पौरुषपर निर्भर करता है, यह दो प्रकारके कर्म या तो साथ-साथ चलते हैं या एक-दूसरेके साथ टकरा जाते हैं, जिसमें अधिक शक्तिशाली कर्मोंकी विजय होती है। इसप्रकार एक ही प्रकारकी बीमारीका इलाज करनेसे वह यदि दैव और पौरुष एक-दूसरेके अनुकूल हुए तो सुसाध्य, यदि परस्पर प्रतिकूल हुए तो दुःसाध्य और यदि दैवने पौरुष (पुरुषकार) को अतिक्रान्त किया तो असाध्य हो जायगी।

ग्रन्थ-कर्त्ताने बारम्बार नास्तिक तथा नास्तिकतासे बचनेकी शिक्षा दी है। (संग्रहसूत्र ७९, ११४) वह बहुधा दो लोकोंका उल्लेख करते हैं, इहलोक और परलोक; और उसकी प्रशंसा करते हैं, जो इन दोनों लोकोंको सदा स्मरण रखता है तथा दोनोंको ही सुधारता है। (संग्रहसूत्र ३। ३८; हृदय ४। २५) मनुष्योंको अपने कल्याणके लिये तथा रोगसे छुटकारा पानेके लिये देवताकी उपासना करनेकी सम्मति दी गयी है (संग्रहसूत्र ३। २२) संग्रहमें शरीर-स्थानके पाँचवें अध्यायके अन्तमें दी हुई उनकी विवेचना बड़ी अच्छी है—'यह शरीर जिसका विश्लेषण अभी किया जा चुका है भेद और अभेद-दृष्टिके अनुसार बन्धन और मोक्षका कारण बनता है।'

सुश्रुत

सुश्रुत अपने शरीर-स्थानके प्रथम अध्यायके आदिमें मनुष्य तथा जगत्के पचीस मूल-तत्त्वोंको बतलाता है और सांख्यदर्शनके अनुसार उनके पारस्परिक सम्बन्धको निर्धारित करता है। समस्त सृष्टिका मूल-कारण अव्यक्त है, जिसका ज्ञान उसके तीन गुणों (सत्त्व-रज-तम) और आठ आकारों (अव्यक्त, महत्, अहङ्कार और पाँच तन्मात्राओं) के द्वारा होता है। केवल यही असंख्य जीवोंका आश्रय-स्थान है। अव्यक्तसे बुद्धि उत्पन्न होती है, बुद्धिसे अहङ्कार; इन दोनोंमें भी अव्यक्तके तीनों गुण रहते हैं। इन तीन गुणोंके अनुसार अहङ्कार तीन प्रकारका होता है—सात्त्विक, राजस और तामस। रजोमिश्रित सात्त्विक अहङ्कारसे ग्यारह इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन) उत्पन्न होती हैं जो सत्त्वगुण और रजोगुणसे पूर्ण होती हैं। रजोमिश्रित तामस अहङ्कारसे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। इनके विकसित रूप हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; और इनसे पाँच भूत उत्पन्न होते हैं—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश। यह चौबीस तत्त्व हैं, इनमें सभी अचेतन हैं। पचीसवाँ पुरुष है जो कार्य-कारण दोनोंसे सम्बन्ध रखता है और उनकी चेतनताका उत्तरदायी है। यद्यपि मूल-प्रकृति अचेतन है तथापि कहा जाता है कि यह पुरुषकी मुक्तिके लिये कार्य करती है। अब प्रकृति और पुरुषमें क्या साम्य है और क्या वैषम्य, यह भी देख लीजिये। दोनों अनादि-अनन्त तथा अस्पृष्ट हैं, दोनों नित्य, परम और विभु हैं। परन्तु प्रकृति जहाँ एक, अचेतन और गुणवाली है, तथा जब निष्क्रिय होती है तो सबको अपनेमें मिला लेती है, एवं पुरुषके सम्पर्कसे उन्हें पुनः आविर्भूत करती है, और निरपेक्ष नहीं रहती; वहाँ पुरुष चेतन हैं, असंख्य हैं, निर्गुण हैं, सृष्टि-प्रलयसे रहित और निरपेक्ष हैं। तब, कारणके अनुसार ही कार्यके होनेसे यह विकसित अवस्थाएँ सत्त्व, रज और तमसे पूर्ण हैं। उनमें व्यक्त होने तथा उनसे पूर्ण होनेके कारण पुरुष उनके गुणोंको धारण करते हैं। उसका कहना है कि ऐसा कुछ लोगोंका विचार है।

दूसरी जगह वह कहता है कि वैद्यकमें बुद्धिमान् पुरुष स्वभाव, ईश्वर, काल, दैव, भाग्य और विकासको मूलरूप मानते हैं। तत्त्वोंको भी इनसे पूर्ण तथा इनके गुणोंसे युक्त समझना चाहिये, क्योंकि उन्होंने समस्त तत्त्वोंको अपने गुणोंसे युक्त करके उत्पन्न किया है। चिकित्सामें इनकी महत्ता सदा स्वीकृत की गयी है, कारण ओषधिमें, पञ्चभूतोंके अतिरिक्त और कोई विचार नहीं होता। क्योंकि कहा गया है कि पुरुषके जीवनके लिये जिन पदार्थोंकी आवश्यकता होती है वह पञ्चभूतोंसे ही उत्पन्न होते हैं और आयुर्वेद-शास्त्रमें इन्द्रियाँ तथा ऐन्द्रिय विषय भौतिकरूपमें ही वर्णित हुए हैं। सिद्धान्त यह है कि मनुष्य ऐन्द्रिय विषयको निर्दिष्ट इन्द्रियसे ग्रहण करता है, दूसरी इन्द्रियसे नहीं, क्योंकि उनका मूल-स्थान एक ही है। पुनः आयुर्वेदमें जीवात्माको सर्वव्यापी

और नित्य नहीं बतलाया है; बल्कि ऐसे हेतु दिये गये हैं जो जीवोंकी नित्यता स्थापित करते हैं और उन्हें विभु नहीं बतलाते हैं । आयुर्वेद-शास्त्रमें जीवात्मा, जो अणु और नित्य है, के विषयमें बतलाया गया है कि वह अपने शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार तिर्यक् जीवों, मनुष्यों और देवताओंके शरीरमें भ्रमता रहता है, वह आनुमानिक, अत्यन्त सूक्ष्म, चेतन, नित्य तथा अपने आपको रज-वीर्यके संयोगमें अभिव्यक्त करता है । इसलिये यह कहा जाता है कि पुरुष पाँच तत्त्व और जीवात्माका समुदाय है । ऐसा कर्मभूत पुरुष चिकित्साका विषय है । सारांश यह है कि अष्टधा मूल-प्रकृति और सोलह विकार, तथा पुरुष अन्य शास्त्रोंके समान ही आयुर्वेदमें भी स्वीकार किये गये हैं ।

उसी ग्रन्थके तीसरे अध्यायमें कललके निर्माणकी आलोचना करते हुए जीवात्माकी कुछ उपाधियाँ निरूपित की गयी हैं, जो उसके स्वभावके विषयमें समस्त भ्रान्तियोंको दूर कर देती हैं । उसे क्षेत्रज्ञ, ज्ञ, विषय-संवेदनाका अधिष्ठाता, पुरुष, स्रष्टा, गन्ता, साक्षी, उद्धारक, वक्ता कहा गया है । वह अविनाशी, अक्षर और अचिन्त्य है । पुनः पाँचवें अध्यायके अन्तमें शरीरके बाह्य और अभ्यन्तर विभिन्न विभागोंका विश्लेषण करते समय कहा गया है कि, 'सर्वशक्तिमान् (आत्मा) जो अत्यन्त ही सूक्ष्म है, इन चर्म-चक्षुओंसे नहीं देखा जा सकता, बल्कि उन लोगोंको दिखलायी देता है जिनको ज्ञान-दृष्टि होती है ।' उसके दूसरे अध्यायके अन्तमें भी अच्छा निर्देश किया गया है 'जिनका मन पूर्व-जन्ममें शास्त्रीय, धार्मिक विचारोंमें रहा है, वह सदा उनके प्रति श्रद्धालु रहते हैं, उनमें सत्त्वगुणकी अभिवृद्धि होती है तथा उन्हें पूर्व-जन्मकी स्मृति होती है । कर्म जो मनुष्यको प्रेरित करते हैं उसके दूसरे जन्ममें भी उसका पीछा नहीं छोड़ते और जैसा पूर्व-शरीरमें अभ्यास (संस्कार) होता है, वैसे ही गुण उनमें आते हैं ।'

शारीर० २, ४८ के कुछ प्रसङ्गोंका अवतरण दिया जाय तो उससे स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकार दृढ आस्तिक है । 'माता-पिताके नास्तिक होनेसे, पूर्व-जन्मके पापोंके कारण और दृत्तियोंके दुर्विपाकसे गर्भ विकृत हो सकते हैं ।' शा० ३ । ३१ में आता है कि 'जो ब्राह्मण और देवताओंके भक्त हैं, तथा शुद्धता और सदाचार आदिका अभ्यास करते हैं उनके बहुत ही धार्मिक पुत्र उत्पन्न होते हैं, तथा जिनका विपरीत आचरण होता है उन्हें अयोग्य पुत्र होते हैं ।' शा० ४ । ८० में कहा गया है कि 'शुद्धता, आस्तिकता, स्वाध्याय, गुरुजनोंकी भक्ति, आतिथ्य और भगवदर्चन ब्राह्मण-शरीरके लक्षण हैं । (जो सर्वोत्तम शरीर है और सत्त्वगुणसे परिपूर्ण है ।)

चरक

चरकके विचारोंको इसप्रकार संक्षेपमें कहा जा सकता है कि मन, जीवात्मा और शरीर तीन लाठियोंके समान हैं, इनके संयोगमें प्राणी-जगत् जीवन धारण करता है जिसपर सब कुछ स्थिर है ।

आयुर्वेदका पुरुष—इसी संयोगको पुरुष कहते हैं, जो चेतन है तथा आयुर्वेदका प्रतिपाद्य विषय है (सूत्र १-४५।४६) शरीर और मन रोगोंके आश्रय-स्थान हैं, परन्तु जीवात्मा निर्लेप, नित्य, मन पञ्चभूतोंके स्वभाव तथा इन्द्रियोंके द्वारा चेतनाके लिये उत्तरदायी है । यह पुरुष शारीरिक और मानसिक शक्तिके उचित अंशसे सज्जित हो तीन प्रकारकी ईषणाएँ रखता है । जीवनकी ईषणा, धनकी ईषणा और परलोककी ईषणा होती है । क्योंकि जीवनकी हानिसे सब कुछ हानि हो जाती है, इसलिये जीवनकी ईषणाका ही सर्वप्रथम ध्यान होना चाहिये । स्वस्थ और अनलस पुरुषके जीवनकी रक्षा स्वास्थ्यके नियमोंका पालन करनेसे तथा रोगी पुरुषकी रक्षा रोगके दूर करनेसे ही हो सकती है । जीवनके बाद मनुष्यको धनकी चिन्ता होती है, क्योंकि विना साधन (कर्म) के दीर्घजीवन बिताना महापाप है, इसकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको कृषि, गो-रक्षा, वाणिज्य, राज्य-सेवा अथवा और कोई धन्धा करना चाहिये, जिनका निर्देश धर्मात्मा पुरुषोंने किया है तथा जिनसे जीविका और अभ्युदयकी प्राप्ति होती है । (सूत्र ११।३,५) तीसरी परलोककी ईषणा होती है ।

पुनर्जन्म

क्या कोई दूसरा जीवन (परलोक) भी है ? कुछ प्रत्यक्ष-ज्ञानके उपासक पुरुष भी होते हैं जो पुनर्जन्मको इसलिये नहीं मानते क्योंकि उसे हम इन्द्रियोंसे नहीं जान सकते । इनके अतिरिक्त ऐसे लोग भी हैं, जो केवल शास्त्रोंके आदेशपर दूसरे जीवनमें विश्वास करते हैं । इस प्रकार जीवनके लिये उत्तरदाता कुछ लोग माता-पिताको

कुछ प्रकृतिको कुछ ईश्वरकी सृष्टिको तथा कुछ दैवको बतलाते हैं परन्तु बुद्धिमान् पुरुष नास्तिकवादका निराकरण कर सकता है, क्योंकि बहुत ही कम दृश्य हमें प्रत्यक्ष होते हैं, अधिकांश तो प्रत्यक्ष-ज्ञानके परे हैं और उनका बोध हमें अनुमान या उपमान-प्रमाणके द्वारा ही होता है। स्वयं इन्द्रियाँ जो प्रत्यक्ष-ज्ञानके लिये उत्तरदायी हैं स्वयमेव अप्रत्यक्ष हैं। अति समीप, अति दूर, आवरण, इन्द्रियोंकी क्षीणता, असावधानी, अभिभव तथा सूक्ष्मताके कारण पदार्थोंका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसलिये यह कहना अयुक्त है कि जो इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता, वह है ही नहीं। (चरक शा० ६,८)

उपर्युक्त किसी अवस्थाका समर्थन नहीं किया जा सकता। क्योंकि (१) यदि माता-पिताकी जीवात्मा बच्चेमें आती है तो वह कैसे ? आंशिक वा पूर्णरूपमें ? पूर्णरूपमें जीवात्माके संक्रमणसे माता-पिताको तत्काल मर जाना चाहिये और आंशिकरूपसे आना सम्भव नहीं, क्योंकि सूक्ष्म आत्माका खण्ड नहीं हो सकता। यही बात मन और बुद्धिके विषयकी है। साथ ही जो लोग इस विचारको रखते हैं, जान पड़ता है वह इस बातको भूल जाते हैं कि जीवन चार प्रकारका होता है—ऊष्मज, स्थावर, अण्डज और पिण्डज। (२) फिर यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि छः पदार्थों अर्थात् पाँच तत्त्वों और आत्माके गुण उनमें स्वाभाविक होते हैं और केवल कर्म ही उनके संयोग और वियोगका कारण होता है। इसप्रकार उनमेंसे कोई भी अकेले या किसीके संयोगसे उत्पन्न नहीं हो सकते। (३) चेतन तत्त्व (जीवात्मा) के लिये जो नित्य है वह परमात्माकी सृष्टिके अन्दर नहीं आ सकता। तथापि यदि तुम कहते हो कि जीवात्मा वही परमात्मा है जो जीवनका कारण है, तो इसे मैं स्वीकार करता हूँ। (४) नास्तिकके लिये, जिसका मन दैवी (Chance) भावनाओंसे पीड़ित है, न तो ज्ञाता है न ज्ञेय है,न कर्त्ता है न कारण है, न देवता है न सन्त है, न कर्म है न उसका फल है, यहाँतक कि उसका अपना आत्मा भी नहीं है। यह नास्तिकताका पाप सब पापोंसे बढ़कर है, मनुष्यको अज्ञात स्थानमें ले जाता है। बुद्धिमान् पुरुषोंको इस उद्धत विचारका निराकरण करना चाहिये और ज्ञानी पुरुषोंकी बुद्धिके प्रकाशमें प्रत्येक वस्तुको यथार्थरूपमें देखना चाहिये। (चरक शा० ९।१६)

सत् अथवा असत् सब पदार्थोंका ज्ञान चार ही प्रमाणोंद्वारा होता है—आप्तवाक्य, प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान। प्रत्येक सदसद्वस्तुओंका ज्ञान इन्हीं चार प्रमाणोंसे होता है और इनसे पुनर्जन्मकी सिद्धि होती है। (चरक शा० १७,२६) आप्त-वचनसे हमें ज्ञात होता है कि दान, तप, यज्ञ, सत्यता, अहिंसा और संयमसे मनुष्यको अभ्युदय और परमानन्दकी प्राप्ति होती है। निर्भ्रान्त ऋषियोंने धर्म-शास्त्रोंमें उनके लिये पुनर्जन्मका अवसान होना नहीं स्वीकार किया है जो मानसिक दोषों (तामस और राजस) से मुक्त नहीं हुए हैं। (शा० २७,२८) बच्चोंका अपने माता-पिताके अनुरूप नहीं होना; एक ही समय जन्मे हुए बच्चोंकी मुखाकृति, बोली, रूप, मन, बुद्धि तथा भाग्यमें विभिन्नता होना; उच्च और नीच कुलमें जन्म लेना; दासता और राजत्व; सुखी और दुःखी जीवन तथा इनकी अनियामकता; बिना अर्जित धनकी प्राप्ति; असंस्कृत शिशुमें रोना, स्तन पीना, हँसना, भय और अन्य क्रियाएँ; शरीरमें शुभाशुभ चिह्नोंका दीख पड़ना; समान कर्मोंके अनुष्ठानकी सफलतामें विभिन्नताका होना; एक ही काममें प्रवीणता तथा दूसरोंमें इसकी कमी; पूर्व-जन्मकी स्मृति; इस जगत्से चले गये पुरुषोंका पुनरागमन; एक ही प्रकारके पुरुषोंकी इच्छा और अनिच्छा आदि बातें प्रत्यक्ष देखी जाती हैं। इनसे अनुमान होता है कि यह सब मनुष्यके पूर्व-जन्मके कर्म हैं, जिसे दैव (प्रारब्ध) कहते हैं, जो संसक्ति और भोगके बिना न नष्ट ही हो सकते हैं और न दूर ही किये जा सकते हैं। इसी प्रकार इस जन्मके किये कर्मोंके फल भी दीख पड़ते हैं, फलका अनुमान बीजसे किया जाता है और बीजका अनुमान फलसे होता है। अतः यही हेतु यहाँ भी लगाया जा सकता है—गर्भ छः पदार्थोंके सन्निवेशसे उत्पन्न होता है; कर्त्ता और करणके सम्मिलित प्रयोगका अनुसरण कर्म करता है; इनमें कर्त्ता अपने कृत कर्मोंका फल पाता है, न किये हुए कर्मोंका नहीं, क्योंकि अङ्कुर बीजसे ही उत्पन्न होता है; फल कर्मके अनुरूप ही होता है; विभिन्न प्रकारके पौधोंसे एक ही प्रकारके अङ्कुर नहीं उत्पन्न हो सकते। इसप्रकार चार प्रमाणोंके द्वारा पुनर्जन्मकी सिद्धि हो जानेपर धर्म-मार्गकी चिन्ता की जा सकती है जिसमें गुरु-सेवा, विद्याध्ययन, विवाह, पुत्रोत्पादन, आश्रितोंका पालन, आतिथ्य, दान [illegible] षहीनता, तप, धर्म-चिन्तन, सम्यक् शारीरिक, वाचिक और मानसिक

कर्म, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, इन्द्रियोंके विषय, बुद्धि और आत्माकी परीक्षा, चित्तकी एकाग्रता तथा ऐसे ही अन्य साधनोंका समावेश होता है। इसप्रकार जीवन बिताते हुए हम इहलोकमें यश और मरणोपरान्त स्वर्गकी प्राप्ति कर सकते हैं (शा० २९-३३)।

मन और आत्माका अस्तित्व स्वीकार किया गया। परन्तु किसप्रकार वह जाने जा सकते हैं तथा उनके स्वभाव और गुण क्या हैं? चरक इसप्रकार उत्तर देते हैं—

चौबीस तत्त्व

उसी आयुर्वेदिक पुरुषके लिये समस्त जगत्‌का विश्लेषण चौबीस प्रारम्भिक तत्त्वोंमें किया जा सकता है—अव्यक्त, बुद्धि, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्राएँ, एकादश इन्द्रियाँ और पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंके विषय। अव्यक्तके अतिरिक्त शेष तेईस तत्त्व क्षेत्र कहलाते हैं, अव्यक्त क्षेत्रज्ञ कहलाता है। अव्यक्तसे बुद्धि उत्पन्न होती है। बुद्धिसे अहङ्कार उत्पन्न होता है; और तब दूसरे क्रमशः अहङ्कारसे उत्पन्न होते हैं। इसप्रकार प्रत्येक बातमें पूर्ण होकर पुरुषका उत्पन्न होना कहा जाता है। प्रलयके समय वह पुनः इन तत्त्वोंसे अलग होता है। (शा० ६३, ६५) न तो क्षेत्रज्ञ और न क्षेत्र-परम्पराका ही कोई प्रारम्भ होता है, इसलिये पूर्व और उत्तरका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। परन्तु रजोगुण और तमोगुणके द्वारा प्रेरित होकर व्यक्त जगत् बारम्बार प्रकृतिसे उत्पन्न तथा उसमें विलीन हुआ करता है। (शा० ६६)

पूर्वके छः प्रकारके विश्लेषणमें जीवात्मा अव्यक्त या क्षेत्रज्ञके रूपमें आता है, मन बुद्धि और अहङ्कारके स्थानमें आता है क्योंकि वह मनकी ही विभिन्न क्रियाएँ हैं और पञ्चभूत शेष तत्त्वोंके स्थानमें आते हैं क्योंकि वह इन्हींसे उत्पन्न होते हैं।

मन और आत्मा

सावधानी तथा असावधानीके कारण आत्मा, इन्द्रियों तथा उनके विषयोंके उपयुक्त होनेपर भी ज्ञानके होने या न होनेसे मनके अस्तित्वकी सिद्धि होती है और प्रत्येक प्रकारके संवेदनोंके एक समयमें अलग-अलग होनेके कारण मनका प्रत्येक इन्द्रियके साथ ऐक्य और उसकी सूक्ष्मता प्रमाणित होती है। (शा० १[illegible], १७) मनका काम इन्द्रियोंका निरीक्षण करना तथा उन्हें आत्माके सम्पर्कमें लाना, अपना संयम करना, तर्क और निर्णय करना है, जिससे वह वस्तुओंको समझ पाता है। इस शरीरमें रहनेवाला आत्मा सर्वव्यापी, प्रत्येक शरीरका पालक, सर्वशक्तिमान् और सर्वरूप है। (शा० ११, ३२) वही निमित्त और उपादान-कारण, कर्त्ता, विचारक, ज्ञाता, ग्राहक, द्रष्टा, स्रष्टा, ब्रह्म, पुरुष, मूल, आश्रय, नित्य, सगुण, धर्त्ता, परमतत्त्व, अव्यक्त जीव, चेतना, प्राण, मन और अन्तरात्मा है। (शा० ४–८) 'मैं' और 'मेरे' कर्म और उनके फल, पुनर्जन्म और स्मृतिमें निहित भाव सिद्ध करते हैं कि आत्मा शरीरके अतिरिक्त है, जो अस्तित्वके लिये उत्तरदायी है। (शा० १, ५०) वह सत् और कारणरूप होते हुए नित्य है। यदि आत्मा न होता तो बुद्धि और जड़ता, सत्य और असत्य, वेद, शुभाशुभ कर्म असत् हो जाते, क्योंकि आत्मा ही कर्त्ता और ज्ञाता है। यदि आत्मा न होता तो न शरीर होता, न सुख और दुःख होते, न गति होती न विराम होता, न वाणी होती न बुद्धि होती, न शास्त्र होते न जन्म-मृत्यु होता, न बन्धन होता और न मोक्ष होता। यही कारण है कि बुद्धिमान् लोग आत्माको ही इन सबका कारण बतलाते हैं। (शा० ३७–३९) यह आत्मा परमतत्त्व है, निर्विकार है, समस्त भावोंसे निरपेक्ष सम्बन्ध रखता है, परन्तु बुद्धि और शरीरकी विभिन्नताके कारण आत्मामें विभिन्नता दीख पड़ती है। (शा० ३–३४)

चार तत्त्वोंसे युक्त होकर (क्योंकि आकाश सर्वत्र है और यह तत्त्व इसीमें स्थित रहते हैं और कर्मद्वारा उत्पन्न होते हैं) आत्मा मनकी गतिके द्वारा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है, तथा रज-वीर्यके यथार्थ संयोगके द्वारा कुक्षिमें नवीन शरीरको निर्मित करता है। (२।३१, ३५) चेतनाका कारण होनेसे आत्मा अकर्त्ता होनेपर भी कर्त्ता कहलाता है। मनको कर्त्ता नहीं कह सकते, क्योंकि यद्यपि वह कर्म करता है तथापि वह स्वयं अचेतन रहता है। (१।७३, ७४) आत्माका ज्ञान इन्द्रियों तथा मनके संयोगसे होता है। इन्द्रियोंके साथ मन तथा केवल मन क्रमशः विशेष और निर्विशेष ज्ञानके कारण हैं। (१।५२, ५३; ३।२६) मन बाह्यरूपसे सदा जीवका अनुसरण करता है। (३।२६) और अपनी एकाग्रताके द्वारा आध्यात्मिक सिद्धियोंको तथा मुक्तिको प्राप्त करता है। यह सत्त्व-रज-तम त्रिगुणोंसे निर्मित होता है। जिनमें सत्त्वकी

प्रधानता होती है और वह बहुधा स्वयं मनके लिये उपस्थित होता है। (३।१९; ४।३७) इनके संयोगके आवर्त्तनको पुरुष कहते हैं, जो रज और तमके रहते हुए कभी अवसानको प्राप्त नहीं हो सकता, परन्तु जैसे ही सत्त्वगुणके द्वारा इनका अभिभव होता है, पुरुष स्थिर हो जाता है। (१।३४) आत्मा जो प्रकृतिका अधिष्ठाता है वह अकेले न तो कर्ममें लगता है और न फलको ही प्राप्त करता है। केवल दोनोंके संयोगपर ही सब कुछ निर्भर है और उसके बिना कुछ नहीं जाना जा सकता। (शा० ४५) जहाँ आत्मा, मन, इन्द्रियों और ऐन्द्रिय विषयोंका संयोग होता है वहाँ ही सुख-दुःखकी अनुभूति होती है। परन्तु निष्क्रियताके कारण जब इनका उपराम हो जाता है और मन पूर्णतः आत्मामें संलग्न हो जाता है तो पुरुष शरीरके साथ रहते हुए ही आठ प्रकारकी दिव्य शक्तियोंको प्राप्त करता है। जाननेवाले लोग इसे योग कहते हैं। (शा० १३६-१३९)

मुक्ति

राजसिक और तामसिक अवस्थाओंसे मुक्त होना, पूर्वजन्मके कर्मोंका क्षय होना तथा नवीन कर्मोंकी अनासक्तिको अपुनर्भव अथवा मोक्ष कहते हैं। यह तभी होता है जब कुछ निर्धारित नियमोंका अभ्यास करनेसे शुद्ध सत्त्वगुणकी अभिवृद्धि होती है और जिससे वस्तुओंका यथार्थ रूप दिखलायी देने लगता है तथा जान पड़ता है कि 'जो कुछ हो रहा है दुःखमय, क्षणस्थायी तथा अनात्म्य है, मैं इनका कारण नहीं हूँ और न तो इनसे मेरी अभिन्नता है और न यह मेरे हैं।' (१।१५०, १५१; ४।१४, २०) जब कोई पुरुष यह अनुभव कर लेता है तो वह पूर्णतः निरपेक्ष तथा अहङ्कारशून्य हो जाता है। तब समस्त सुख-दुःख, चेतना, ज्ञान और प्रतीति जड़के साथ चली जाती हैं। (१।१५२) इसके पश्चात् जीवात्मा परमात्मामें लीन हो परमानन्दमें रत हो जाता है और मन आदि सहकारियोंसे पूर्णतया रहित होनेके कारण उसका पुनः पता नहीं लगाया जा सकता। (१।१५३; ४।२३, २४)

विपर्यास

(१)

उजड़े इस स्मृति-कुटीरके अतिथि तुम्हें क्या दूँ मैं ?
सेवाके इस दीन सदनमें कैसे सन्मुख हूँ मैं ?

(२)

परम पुरातन इन तागोंसे कैसे तुमको बाँधूँ ?
कैसे इस जर्जर जीवनसे प्रेम योग आराधूँ ?

(३)

चुन चुनकर करसे तिनकोंके बने दरिद्र सदनमें ?
लगी आग, सब राख हुआ, अब क्या अवशेष वदनमें ?

(४)

जले हुए इस रङ्क अङ्कमें, कैसे तुम्हें बिठाऊँ ?
बालूकी भव भीति गगनमें कैसे कहाँ उठाऊँ ?

(५)

निराधार जीवन नैयाको सौंपूँ किसे कन्हैया ?
तुम बिन कोई नहीं जगतमें मेरी नाव खेवैया ?

'मयङ्क'

विवेक-वाटिका

सब भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ़ लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको नहीं पहचानते । —भगवान् श्रीकृष्ण

❀ ❀ ❀ ❀

इस परमात्माको महान्, प्रभु, सबका प्रवर्तक कहा जाता है, इस परब्रह्मको अतिशय निर्मल, आनन्दके नियामक, ज्योतिस्वरूप और अविनाशी कहते हैं ।

—उपनिषद्

❀ ❀ ❀ ❀

पृथ्वीकी ओर देखकर पैर रखना, जलको कपड़ेसे छानकर पीना, वाणीको सत्यसे पवित्र करके बोलना और मनमें विचार करनेपर जो उत्तम प्रतीत हो, वही करना चाहिये । —श्रीमद्भागवत

❀ ❀ ❀ ❀

हे पिताजी, जिस परमात्माका परमपद शब्दोंद्वारा नहीं बतलाया जा सकता, जो योगियोंके ध्यानमें आता है और जिससे सारा विश्व उत्पन्न हुआ है तथा जो स्वयं विश्वरूप है, वही परमेश्वर मेरा विष्णु है । —प्रह्लाद

❀ ❀ ❀ ❀

मनको सन्मार्गपर ले जानेका पहला साधन 'सत्य' है, दूसरा 'संसारसे उपरामता' है, तीसरा 'आचरणकी उच्चता और पवित्रता' है और चौथा 'अपने अपराधोंके लिये प्रभुसे क्षमा-प्रार्थना करना' है । —सहल तश्तरी

❀ ❀ ❀ ❀

कभी चरित्रसे पतित न होना चाहिये । गिरनेमें गौरव नहीं है । पतितावस्थासे पुनः-पुनः उठकर खड़े होओ, इसीमें परम गौरव है । —कानफ्यूसियस

❀ ❀ ❀ ❀

जिसप्रकार दवाके बिना बीमारीको सहन करना कठिन है, उसी प्रकार ज्ञानके बिना सांसारिक प्रभुताको सँभालना भी दुस्साध्य है । मनुष्य चारों ओर अज्ञानसे घिरा हुआ है, इसलिये वह भोग-लिप्साके पीछे पड़ जाता है । —बुद्धदेव

❀ ❀ ❀ ❀

किसी चीज़से भी न चिढ़ो । काम उसी निर्लिप्त भावसे करो, जिस तरह वैद्य लोग अपने रोगियोंकी चिकित्सा करते हैं और रोगको अपने पास नहीं फटकने देते । सब उलझनोंसे मुक्त अथवा द्रष्टा साक्षीकी भावनासे काम करो । स्वतन्त्र रहो । —स्वामी रामतीर्थ

❀ ❀ ❀ ❀

जब देहमेंसे श्वास निकल जायगा, तब पछतायगा। इसलिये जबतक शरीरमें श्वास है, तभीतक रामका स्मरण करके उनका गुण गा ले । —सहजोबाई

❀ ❀ ❀ ❀

क्षणमात्रको प्राप्त होनेवाले थोड़े-से जीभके स्वादके लिये जीवोंकी हत्या करना बड़ी ही नृशंसता है । भगवान्‌के भेदोंसे भरे हुए अपने पेटको जानवरोंकी कब्र बनाना उसका निरादर करना है । एक चींटीको भी न सताओ, क्योंकि वह भी जीवधारी है और अपना जीव हर एकको प्यारा है । —अकबर

❀ ❀ ❀ ❀

अगर तेरे घटमें प्रेम है तो उसका ढिंढोरा न पीट। तेरे हृदयके भावको अन्तर्यामी जानते ही हैं ।

—मलूकदासजी

❀ ❀ ❀ ❀

रे मन ! तू बड़ा ही कठोर है, मेरे अन्दरसे तू निकल क्यों नहीं जाता ? उस सुन्दर, साँवरे, सलोने रूप बिना तू रात-दिन कैसे जीता है ? —दयाबाई

❀ ❀ ❀ ❀

तीन चीजें ऐसी हैं जिनको जितना बढ़ाओगे, उतनी ही बढ़ती रहेंगी, इनसे सावधान रहो—भूख, नींद और भय । —अफलातून

वैदिक-विनय

(लेखक—पं० श्रीदेवशर्माजी 'अभय' विद्यालङ्कार)

वि मे कर्णा पतयतो विचक्षुः,
वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत् ।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः,
किं स्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ॥

(ऋ० ६।९।६)

हे प्रभो ! मैं चाहता हूँ कि मैं बिल्कुल एकाग्र होकर अपनी मानसिक वाणीद्वारा तेरा नाम जपूँ या तेरा मनन करूँ, तेरा ध्यान करूँ। परन्तु जब मैं ऐसा करनेके लिये बैठता हूँ तो कुछ भी शब्द सुनायी पड़ते ही मेरे कान वहाँ दौड़ जाते हैं, आँखोंके सामने कुछ भी आते ही मैं वहाँ देखने लगता हूँ। कभी कान कुछ सुनने लगते हैं, कभी आँखें कुछ देखने लगती हैं और यदि मैं किसी ऐसे स्थानपर जाकर बैठता हूँ जहाँ शब्द और रूप आ ही न सकें, तो भी मैं देखता हूँ कि मेरा मन ही अन्दर-अन्दर सब कुछ देखता, सुनता रहता है। दिन-रातकी किसी बातका स्मरण आते ही मन वहाँ भाग जाता है और वहाँकी बात सोचने लगता है। तब पता लगता है कि मेरा मन कितनी दूर पहुँचा हुआ है। और यदि किसी दिन कोई मनपर चोट लगानेवाली बात हो चुकी होती है तब तो मन बार-बार वहीं पहुँचता है—रोकनेका बड़ा यत्न करनेपर भी क्षण-क्षणमें वहीं जा पहुँचता है। मेरे हृदयमें जगनेवाली वह ज्योति भी—जो वातरहित स्थानमें रक्खे हुए दीपककी शिखाकी तरह बिल्कुल अनिङ्गित, बिल्कुल ही न हिलती हुई, एकरस जलती हुई रहनी चाहिये—वह ज्योति, वह ज्ञान-ज्योति भी सदा इधर-उधर हिलती रहती है, मनोवृत्तियोंकी हवा लगते रहनेसे हिलती रहती है। तो फिर मैं तेरा ध्यान कैसे कर सकता हूँ ? एकाग्रतासे तेरा नाम कैसे जपूँ ? तेरा मनन कैसे करूँ ? और यदि प्रतिदिन तेरा इतना भी भजन न कर सकूँगा तो उस दिन जब कि मेरी यह जीवन-साधना समाप्त होगी, तुम्हें क्या उत्तर दूँगा ? तुम्हारे सामने किस बातका अभिमान कर सकूँगा ? यह जीवन, ये सब ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, तुमने मुझे तुम्हारे समीप पहुँचनेकी साधनाहीके लिये दी हैं। तो उस दिन जब कि तुम यह शरीर वापिस माँगोगे तब तुम्हें मैं क्या उत्तर दूँगा ? क्या मुँह दिखलाऊँगा ? हे प्रभो ! शक्ति दो कि मेरे मनकी आज्ञाके विना मेरे ये कान, आँख आदि कहीं न जा सकें और यह मन भी हृदयकी ज्योतिके साथ मिल जाया करे—ज्योति एक-रस जगती रहे। ऐसी अवस्था दिनमें दो बार सन्ध्योपासनाके समय तो हो जाया करे, नहीं तो मैं क्या मुँह दिखाने लायक रहूँगा ?

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षु,
उपो एमि चिकितुषो वि पृच्छम् ।
समान मिन्मे कवयश्चिदाहुः,
अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ॥

(ऋ० ७।८६।३)

हे प्रभो ! मैं तेरे दर्शन पानेके लिये व्याकुल हूँ। तुमसे साक्षात् मिलनेके लिये दिन-रात प्रतीक्षामें हूँ। इसके लिये यत्न करते हुए बहुत दिन हो गये। ऐसा एक भी साधन नहीं छोड़ा जो तुमसे मिलानेवाला प्रसिद्ध हो। कठोर-से-कठोर तप बड़े आनन्दसे किये हैं। तो अब कौन-सा पाप रह गया है जिससे तुम्हारे चरण-दर्शन नहीं हो पाते ? हे वरुण ! तुमसे ही पूछता हूँ, मुझे मालूम नहीं। मुझे मालूम होता तो मैं कभीका प्रतीकार कर चुका होता ! हे पापनिवारक ! तुम ही मुझ दर्शनपिपासुको मेरा वह अपराध बतलाओ जिससे अप्रसन्न होकर तुम मुझे दर्शन नहीं देते।

मनुष्योंमें मैं जिन्हें ज्ञानी, भक्त, विद्वान्, महात्मा देखता हूँ उन सबके पास जाता हूँ और जाकर यही पूछता हूँ कि वरुणदेवके मुझे दर्शन क्यों नहीं होते। पर वे सब क्रान्तदर्शी महात्मागण भी मुझे एकस्वरसे यही बतलाते हैं कि वह वरुणदेव ही तुझसे नाराज़ है। वे सब सच्चे ज्ञानी मुझे यही एक उत्तर देते हैं। तो हे देव! मैं अब तुम्हारे बिना और किससे पूछूँ? सचमुच अब और किसीसे पूछना वृथा है। हे देव! या तो मेरा पाप मुझे दिखला दो, अपनी अप्रसन्नताका कारण बतला दो, नहीं तो मुझे दर्शन दे दो। हे मेरे स्वामी! जब मुझे अपने पापका पता न लगेगा तो मैं उसका प्रतीकार कैसे कर सकूँगा? मैं तुम्हें प्रसन्न करके छोड़ूँगा। अपने पापोंके प्रतिविधानके लिये मैं घोर-से-घोर प्रायश्चित्त करनेको तैयार हूँ। अपनेको पूरी तरह पवित्र कर डालनेके लिये आज मैं क्या नहीं कर डालूँगा। मैं अब तुमसे मिल जानेके लिये व्याकुल हो उठा हूँ। इसीलिये, हे अन्तर्यामी प्रभो! मैं तुमसे अपने पापोंको जानना चाहता हूँ। मेरे पापोंके सिवा इस संसारमें और कोई वस्तु नहीं है जो अब मुझे तुमसे मिलनेसे रोक सके।*

वयोवृद्ध विद्वानोंका परलोकवास

राजा युधिष्ठिरने यक्षके प्रश्नके उत्तरमें कहा था कि–'प्रतिदिन ही मनुष्य मरते हैं, परन्तु पीछे रहनेवाले अपनी मृत्युकी बात न सोचकर सदा स्थिर रहना चाहते हैं, इससे बड़ा और क्या आश्चर्य होगा?' बात सर्वथा सत्य है। हम देखते हैं, हमारे बीचसे हमारे बड़े-बूढ़े पूज्य पुरुष, हमारे समवयस्क बन्धु और हमारे बालक कालके द्वारा छीन लिये जाते हैं। जो जाते हैं, उनकी चाहे हम कितनी ही स्मृति-रक्षा करें तथा कितना ही अभिनन्दन कर उनके ऋणसे उऋण होनेकी और अपने आत्माको सन्तोष प्रदान करनेकी चेष्टा करें, वे उस शरीरसे हमसे सदाके लिये विलग हो ही गये। उनका उस शरीरसे, हमसे या उनकी अपनी कहलानेवाली वस्तुसे कोई सम्बन्ध नहीं रहा। वे जिस घरके मालिक थे, जिन वस्तुओंपर उनका प्रभुत्व था, जहाँ उनकी धाक थी, उनके जानेके बाद पीछेवाले चाहे जैसी मनमानी करें, चाहे जैसा उनके प्रतिकूल कार्य करें, वे उस शरीरसे आकर उन्हें रोक नहीं सकते। कहीं सूक्ष्म शरीरमें रहकर वासना रहनेसे अपने प्रतिकूल क्रियाओंको देखकर उन्हें दुःख भले ही हो परन्तु वे उसका पूर्वशरीरसे प्रतीकार नहीं कर सकते। हम सबकी यही अवस्था होनेवाली है, फिर भी हम अपने बीचसे जानेवालोंका दो दिनके लिये शोक मनाकर रह जाते हैं, अपनी दशापर विचार नहीं करते, यह कितना बड़ा प्रमाद है।

पिछले कुछ महीनोंमें तो ऐसे अनेक पुरुष हमलोगोंके बीचसे उठ गये, जिनसे हमारा बहुत प्रेमका सम्बन्ध था और हमारे अन्दर बड़े विद्वान् समझे जाते थे। सांसारिक व्यवहारकी दृष्टिसे उनके परलोकवाससे जो क्षति हुई है, उसकी पूर्ति होना असम्भव है। इन विद्वानोंमें यहाँ पं० श्रीपद्मसिंहजी शर्मा, पं० श्रीजगन्नाथदासजी रत्नाकर, पं० श्रीकिशोरीलालजी गोस्वामी, स्वामी श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज गोलाघाट अयोध्या, पं० रामप्रसादजी, पं० श्यामसुन्दरजी चक्रवर्ती, पं० श्रीनाथूरामजी 'शङ्कर' शर्मा और श्रीदामोदरसहायसिंहजीका नाम उल्लेख योग्य है। ये सभी हमारे पूज्य और प्रेमी थे। जगत्‌की नश्वरतापर संसारी मनुष्य आँसू बहानेके सिवा और क्या कर सकता है? परन्तु यदि वह सावधान होकर अपनी स्थिति समझ ले और 'दुःखालय तथा अशाश्वत' संसारमें अपना कर्त्तव्य निश्चय कर ले तो अवश्य ही उसकी मृत्यु सुखमय हो सकती है।

* उपर्युक्त दोनों मन्त्र विनयसहित पं० श्रीदेवशर्मा 'अभय' विद्यालङ्कार-लिखित वैदिक-विनय नामक पुस्तकके प्रथम खण्डसे उद्धृत किये गये हैं। शर्माजी इसके तीन खण्डोंमें प्रतिदिन प्रार्थना करनेके लिये ३६५ दिनके ३६५ चुने हुए वेद-मन्त्रोंका संग्रह कर उनपर विनय लिखनेवाले हैं। अभी प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ है, इसमें पहले चार महीनोंके लिये मन्त्र हैं, जो बड़े ही उत्तम और शिक्षाप्रद हैं। पुस्तक गुरुकुल-कांगड़ीसे प्रकाशित हुई है, सवा रुपया मूल्य है, छपाई, सफाई बहुत ही सुन्दर है। वैदिक-प्रार्थना करनेवालोंके बहुत ही उपादेय और संग्रहणीय है। —सम्पादक

कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) यह प्रतिमासकी कृष्णा एकादशीको प्रकाशित होता है।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांक-सहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≶) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥≈) नियत है। एक संख्याका मूल्य ।) है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता। नमूना ।) मिलनेपर भेजा जाता है।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते। ग्राहक प्रथम अंकसे १२ वें अंकतकके ही बनाये जाते हैं। एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्कतक नहीं बनाये जाते। 'कल्याण' का वर्ष श्रावणसे शुरू होता है।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखापढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कम-से-कम सात दिन पहलेतक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये। देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण-प्रतिपदाके पहले-पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो-महीनेके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेप-रहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम, पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-नम्बर अवश्य लिखना चाहिये।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये, क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं। कभी-कभी तो डेढ़-दो महीनोंतक नहीं मिलते। इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं। रुपये न मिलनेतक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं। खर्चा दोनोंमें एक ही है, परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है। जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है।

(४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या और अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजनी चाहिये।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(६) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

Registered No. A. 1724

नयी पुस्तकें

श्रीरामकृष्ण परमहंस

(सचित्र)

लेखक—स्वामी श्रीचिदात्मानन्दजी

परमहंसदेवका नाम भारतवर्षमें ही नहीं, संसारके अनेक भागोंमें प्रसिद्ध है । इस ग्रन्थमें इन्हींके जीवन और ज्ञानभरे उपदेशोंका संग्रह है। छपाई साफ-सुन्दर, पृष्ठ २५०, मूल्य ।≈), मोटा एण्टिक कागज ।

श्रीएकनाथ-चरित्र

(सचित्र)

लेखक—श्रीहरि-भक्ति-परायण पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर, भाषान्तरकार पं० श्रीलक्ष्मण नारायण गर्दे ।

हिन्दीमें एकनाथ महाराजकी जीवनी अभीतक हमने नहीं देखी । एक परम भागवतका यह प्रसिद्ध लोकप्रिय पावन चरित्र पढ़कर उनके उपदेश सुनकर पवित्र होइये । पृष्ठ २४०, मूल्य ॥) आठ आना मात्र । छपाई-सफाई सुन्दर, मोटा एण्टिक कागज ।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर ।

ॐ

कल्याण

प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

पौष
१९८९
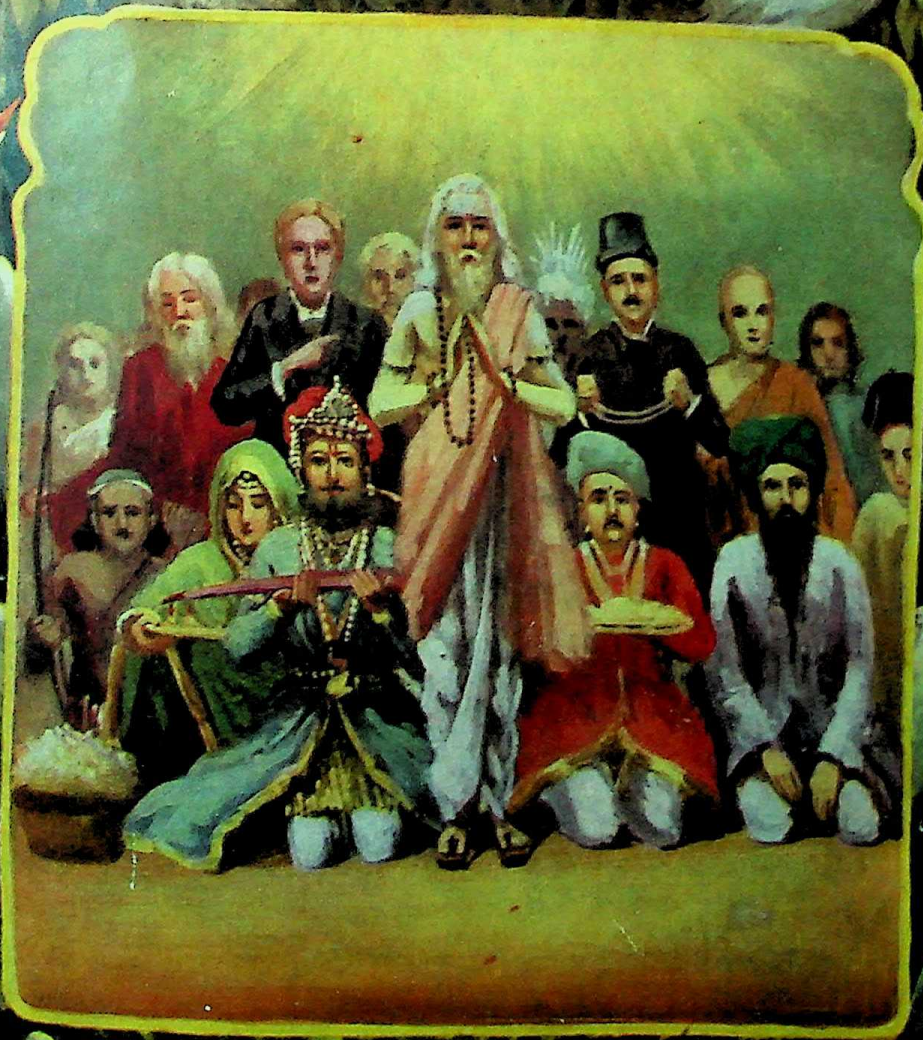
भाग ७
अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण—२०५००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥≠)
१० शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय अखिलात्मन् जगमय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

ईश्वराङ्कका मूल्य
परिशिष्टाङ्कस०३)
विदेशमें
साधारण प्रति
विदेशमें

Edited by Hanuman prasad poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas at the Gita Press, Gorakhpur.

श्रीहरिः

विषय-सूची

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-सूची

१-श्रीमद्भगवद्गीता-शांकरभाष्य सरल हिन्दी-अनुवाद, इसमें मूल भाष्य है और भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है। श्रुति, स्मृति, इतिहासोंके प्रमाणोंका सरल अर्थ दिया गया है, भाष्यके पदोंको अलग-अलग करके लिखा गया है और गीतामें आये हुए हरेक शब्दकी पूरी सूची है। पृष्ठ ५०४, ३ चित्र, साधारण जिल्द मू० २॥) पक्की जिल्द २।।।)

२-श्रीमद्भगवद्गीता-मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारणभाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्मविषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, मोटा टाइप, मजबूत कागज, सुन्दर कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७०, बहुरंगे ४ चित्र १।)

३-श्रीमद्भगवद्गीता-गुजराती टीका, गीता १।) वालीकी तरह १।)

४-श्रीमद्भगवद्गीता-मराठी टीका, गीता १।) वालीकी तरह १।)

५-श्रीमद्भगवद्गीता-प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, मूल्य ॥≶) सजिल्द ।।।=)

६-श्रीमद्भगवद्गीता-बंगला टीका, गीता नं० ५ की तरह, मूल्य १) सजिल्द १।)

७-श्रीमद्भगवद्गीता-श्लोक, साधारणभाषाटीका, टिप्पणी, प्रधानविषय और त्यागसे भगवत्-प्राप्तिनामक निबन्धसहित, साइज मझोला, मोटा टाइप, ३३२ पृष्ठकी शुद्ध छपी और अच्छे कागजकी सचित्र पुस्तकका मू० ॥) स० ॥≡)

८-गीता-साधारणभाषाटीका, त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, सचित्र ३५२ पृष्ठ, मूल्य =)॥ सजिल्द ≡)

९-गीता-मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र मूल्य ।-) सजिल्द ।≡)

१०-गीता-भाषा, इसमें श्लोक नहीं हैं। केवल भाषा है, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र भी लगा है, मू० ।) सजिल्द ।=)

११-गीता-मूल ताबीजी, साइज २ × २॥ इञ्च, सजिल्द =)

१२-गीता-मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द =)

१३-गीता-७॥ × १० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण -)

१४-गीता-सूची-(Gita List) संसारकी अनुमान २००० गीताओंका परिचय ॥)

१५-गीता-डायरी- सन् १९३३ की मू० ।) सजिल्द ।-)

१६-प्रेम-योग-सचित्र, लेखक-श्रीवियोगी हरिजी, पृष्ठ ४२०, बहुत मोटा एण्टिक कागज, अजिल्द १।) सजिल्द १॥)

१७-श्रीकृष्ण-विज्ञान-अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद (सचित्र) पृष्ठ २७५, मोटा एण्टिक कागज, गीताके श्लोकोंके ठीक सामने ही कवितामें अनुवाद छपा है। भगवान्‌के दो सुन्दर चित्र भी हैं मूल्य १) सजिल्द १।)

१८-विनय-पत्रिका-सरल हिन्दी-भावार्थ-सहित ६ चित्र, अनुवादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, मू० १) सजिल्द १।)

१९-श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली-(खण्ड १) सचित्र, श्रीचैतन्यदेवकी इतनी बड़ी जीवनी अभी हिन्दीमें कहीं भी नहीं छपी यह ५ खण्डोंमें पूर्ण होगी। पृष्ठ ३६०, मूल्य ।।।=) सजिल्द १=) मात्र

२०-तत्त्व-चिन्तामणि-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४०६ मोटा एण्टिक कागज, मू० ॥।-) सजिल्द १)

२१-भागवतरत्न प्रह्लाद-३ रङ्गीन, ५ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ ३४० मोटे अक्षर, सुन्दर छपाई, मूल्य १) सजिल्द १॥)

२२-एकादश स्कन्ध-(श्रीभागवत) सचित्र, हिन्दी-टीका-सहित यह अध्याय बहुत ही उपदेशपूर्ण है मू० ॥।) स० १

२३-देवर्षि नारद-२ रंगीन, ३ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ २४० सुन्दर अक्षर मू० ॥।) सजिल्द १

२४-नैवेद्य (सचित्र) ले०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृ० ३५०, मूल्य ॥=) सजिल्द ॥।-

२५-तुलसी-दल-(सचित्र) ले०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ २६४, मूल्य ॥) सजिल्द ॥≡

२६-श्रीएकनाथ-चरित्र-(सचित्र) एक महान् भगवद्भक्तकी बड़ी सुन्दर जीवनी, पृष्ठ २४०, मूल्य ॥) मात्र

२७-विवेक-चूडामणि-(सचित्र) मूल श्लोक और हिन्दी-अनुवाद-सहित, पृष्ठ २२४ मूल्य ।≡) सजिल्द ॥=)

२८-श्रीरामकृष्ण परमहंस-(सचित्र) जीवनीके साथ-साथ इसमें ३०१ उपदेशमय वचनोंका संग्रह भी है। पृष्ठ-संख्या २५० । मू० ।≡)

२९-श्रुति-रत्नावली (सचित्र) लेखक-श्रीभोलेबाबाजी, वेद और उपनिषदोंके चुने हुए मन्त्रोंका अर्थसहित बहुत सुन्दर संग्रह । मू० ।≡)

३०-भक्त-भारती (७ चित्र) कवितामें सात भक्तोंके चरित्र, मू० ।≡)

३१-भक्त-बालक—५ चित्रोंसे सुशोभित ।-)

३२-भक्त-नारी—६ चित्रोंसे सुशोभित ।-)

३३-भक्त-पञ्चरत्न—५ चित्रोंसे सुशोभित ।-)

३४-गीतामें भक्ति-योग (सचित्र) ले०-वियोगी हरिजी ।-)

३५-श्रुतिकी टेर (सचित्र) ले०-श्रीभोलेबाबाजी ।)

३६-परमार्थ-पत्रावली-श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके कल्याणकारी ५१ पत्रोंका स्वर्ण-संग्रह ।)

३७-माता—श्रीअरविन्दकी अंग्रेजी पुस्तक (Mother) का हिन्दी-अनुवाद ।)

३८-पत्र-पुष्प-सचित्र भावमय भजनोंकी पुस्तक ≡)॥ स०।)॥

३९-गीता-निबन्धावली ≡)॥

४०-प्रबोध-सुधाकर (सचित्र) सटीक ≡)॥

४१-मानव-धर्म-ले०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ≡)

४२-साधन-पथ ,, ,, =)॥

४३-वेदान्त-छन्दावली-ले०-श्रीभोलेबाबाजी =)॥

४४-अपरोक्षानुभूति-मूल श्लोक और अर्थसहित =)॥

४५-मनन-माला-सचित्र भक्तोंके कामकी पुस्तक है। =)॥

४६-भजन-संग्रह प्रथम भाग सं०-श्रीवियोगी हरिजी =)

४७- ,, ,, दूसरा भाग ,, ,, =)

४८- ,, ,, तीसरा भाग ,, ,, =)

४९-चित्रकूटकी झाँकी (२२ चित्र) =)

५०-स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी (नये संस्करणमें १० पृष्ठ बढ़े हैं) =)

५१-सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय -)॥

५२-गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग -)॥

५३-मनुस्मृति द्वितीय अध्याय अर्थसहित -)॥

५४-श्रीमद्भगवद्गीताके कुछ जानने योग्य विषय -)॥

५५-आनन्दकी लहरें (सचित्र) -)॥

५६-मनको वशमें करनेके उपाय (सचित्र) -)।

५७-गीताका सूक्ष्म विषय, पाकेट साइज -)।

५८-ईश्वर-लेखक-पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय, सबके लिये मन लगाकर पढ़ने योग्य है मू० -)

५९-प्रेम-भक्तिप्रकाश, दो रंगीन चित्र -)

६०-त्यागसे भगवत्प्राप्ति (सचित्र) -)

६१-ब्रह्मचर्य-ले०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार -)

६२-भगवान् क्या हैं ? -)

६३-समाज-सुधार -)

६४-आचार्यके सदुपदेश -)

६५-एक सन्तका अनुभव -)

६६-स्वामी मगनानन्दजीकी जीवनी -)

६७-सप्त-महाव्रत -)

६८-हरेरामभजन २ माला)॥।

६९-विष्णुसहस्रनाम मूल, मोटा टाइप)॥। सजिल्द -)॥

७०-सेवाके मन्त्र)॥

७१-सीतारामभजन)॥

७२-प्रश्नोत्तरी श्रीशङ्कराचार्यकृत (भाषासहित))॥

७३-सन्ध्या (हिन्दी-विधिसहित))॥

७४-बलिवैश्वदेव-विधि)॥

७५-पातञ्जलयोगदर्शन (मूल))।

७६-गीता द्वितीय अध्याय अर्थसहित, पाकेट साइज)।

७७-धर्म क्या है ?)।

७८-दिव्य सन्देश)।

७९-श्रीहरि-संकीर्तन-धुन)।

८०-लोभमें ही पाप है आधापैसा

८१-गजलगीता आधापैसा

८२-रामायणांक पृ० ५१२ चित्र १६७ मूल्य २॥≡)

(इनमें कमीशन नहीं है। डाकखर्च हमारा)

८३ भगवन्नामाङ्क पृष्ठ ११० चित्र ४१ मूल्य ॥≡)

८४ श्रीकृष्णांक पृष्ठ ५२३ चित्र १०७ मूल्य २॥≡)

८५ ईश्वरांक पृ० ६२६ चित्र ९९ मूल्य ३)

सुन्दर सस्ते धार्मिक दर्शनीय चित्र

कागज-साइज १८×२२ इञ्चका बड़ा चित्र मूल्य ।=)

विश्वविमोहन श्रीकृष्णका (रंगीन)

ब्लाक-साइज १५॥ इञ्च चौड़ा, १९॥ इञ्च लम्बा।

इतने बड़े रंगीन चित्र हिन्दुस्तानके छपे हुए प्रायः बहुत कम मिलते हैं। एक मँगानेपर मूल्य, डाकव्यय पैकिंगसहित ॥|=) लगता है, २ का १।-), ३ का १॥) [तीनमें १८॥) सैकड़ा कमीशन दी गयी है] इकट्ठे मँगानेमें सुभीता रहेगा।

कागज-साइज १५×२० इञ्चके बड़े रंगीन चित्र। दाम प्रत्येकका =)॥ मात्र

श्रीचैतन्यका हरिनाम-संकीर्तन—बढ़िया आर्टपेपरपर ११॥ × १३॥ इञ्चके ब्लाकसे छापा गया है, कीर्तनका बड़ा सुन्दर छपा हुआ आड़ा चित्र है।

श्रीराम-चतुष्टय—११॥ × १४॥ इञ्चके ब्लाकसे बढ़िया आर्टपेपरपर बहुत सुन्दर सीधा छपा हुआ चित्र है।

श्रीनन्दनन्दन—यह भी ११॥ × १४॥ इञ्चके बड़े ब्लाकसे बढ़िया आर्टपेपरपर छपा हुआ सुन्दर सीधा चित्र है।

१८×२२ और १५×२०के चित्रोंमें कमीशन ६ लेनेसे २५% (एक रुपयेमें चार आना) १२ लेनेसे ५०% (एक रुपयेमें आठ आना) पैकिंग, डाकखर्च आदि अलग।

कागज-साइज १०×१५ इञ्च

(छोटे ब्लाकोंसे ही केवल बड़े कागजपर बार्डर लगाकर छापे हैं)

सुनहरी चित्र, दाम -)॥ प्रति चित्र

युगलछवि	तन्मयता

बहुरंगा चित्र, दाम -) प्रति चित्र

कौशल्या-नारायण	गोपीकुमार	देवदेव भगवान् महादेव
अहल्योद्धार	जगद्गुरु श्रीकृष्ण	शिवजीकी विचित्र बरात
भक्त-मनचोर	कौरव-सभामें विराट् रूप	शिव-परिछन
वृन्दावन-विहारी	श्रीकृष्णार्जुन	ध्रुव-नारायण
गोपाल-कृष्ण	श्रीशेषशायी भगवान् विष्णु	पवन-कुमार
मुरली-मनोहर		श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु

दोरंगा और सादा चित्र, दाम)॥। प्रति चित्र

राम-जटायु (दोरंगा)	कर नवनीत लिये (दोरंगा)	रामसियाकी जोरी (सादा)

कागज-साइज ७॥×१० इञ्च

सुनहरी चित्र, दाम -)। प्रति चित्र

श्रीरामपञ्चायतन	चरणपादुका-पूजन	वेणुधर
श्रीराम-सीता पुष्प-वाटिकामें	बँधे नटवर	बाबा भोलेनाथ

बहुरंगे चित्र, दाम)।।। प्रति चित्र

श्रीरामचतुष्टय (भगवान् श्रीरामरूपमें)
सदाप्रसन्न राम
कमललोचन राम
श्रीरामावतार
भगवान् श्रीरामकी बाललीला
भगवान् श्रीराम और काकभुशुण्डि
अहल्योद्धार
परशुराम-राम
श्रीसीताराम
कौशल्या-भरत
श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीका गंगा पार होना
श्रीरामके चरणोंमें भरत
कैकेयीकी क्षमा-याचना
अनसूया-सीता
श्रीराम-प्रतिज्ञा
राम-शबरी
श्रीसीताजीके गहने
सुबेल-पर्वतपर श्रीरामकी झाँकी
सीताजीकी अग्नि-परीक्षा
पुष्पकारूढ़ श्रीराम
सिंहासनारूढ़ श्रीराम
मारुति-प्रभाव
श्रीसीताजीकी गोदमें लव-कुश
वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण
विश्व-विमोहन श्रीकृष्ण
श्रीश्यामसुन्दर
श्रीनन्दनन्दन
भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र
जगमोहन
गोपीकुमार

व्रज-नव-युवराज
मोहन
भक्त-भावन भगवान् श्रीकृष्ण
साधु-रक्षक श्रीकृष्ण (वसुदेव-देवकीको कारागारमें दर्शन)
दर्शन-भिक्षा
बालगोपाल
तृणावर्त-उद्धार
श्रीकृष्ण-कलेवा
वात्सल्य
माखन-प्रेमी बालकृष्ण
गो-सेवक श्रीकृष्ण
गो-प्रेमी श्रीकृष्ण
भवसागरसे उद्धारक भगवान् कृष्ण
बकासुर-उद्धार
अघासुर-उद्धार
कृष्ण-सखा-सह वन-भोजन
राम-श्यामकी मथुरा-यात्रा
बन्धन-मुक्तकारी भगवान् श्रीकृष्ण
सेवक श्रीकृष्ण
जगत्-पूज्य श्रीकृष्णकी अग्रपूजा
शिशुपाल-उद्धार
समदर्शी श्रीकृष्ण
शान्ति-दूत श्रीकृष्ण
सारथि श्रीकृष्ण
मोह-नाशक श्रीकृष्ण
भक्त-प्रतिज्ञा-रक्षक श्रीकृष्ण
अश्व-परिचर्या
जयद्रथ-वध
संहार-लीला
श्रीकृष्णका अर्जुनको पुनः ज्ञानोपदेश
नृग-उद्धार
परमधाम-गमन
श्रीविष्णु

भगवान् मत्स्यरूपमें
भगवान् कूर्मरूपमें
भगवान् वराहरूपमें
भगवान् श्रीनृसिंहदेवकी गोदमें भक्त प्रह्लाद
भगवान् वामनरूपमें
भगवान् परशुरामरूपमें
भगवान् बुद्धरूपमें
भगवान् कल्किरूपमें
भगवान् ब्रह्मारूपमें
भगवान् श्रीविष्णुरूपमें
भगवान् श्रीशिवरूपमें
भगवान् दत्तात्रेयरूपमें
भगवान् सूर्यरूपमें
भगवान् गणपतिरूपमें
भगवान् अग्निरूपमें
भगवान् शक्तिरूपमें
श्रीगायत्री देवी
दास भक्त हनुमान्‌जी
विश्वासी-भक्त ध्रुव
गुरु द्रोणाचार्य
भीष्मपितामह
अर्जुन शस्त्रागारमें
दानवीर कर्ण
अजामिल-उद्धार
सुआ पढ़ावत गणिका तारी
प्रेमी भक्त सूरदासजी
गोस्वामी तुलसीदासजी
मीरा (कीर्तन)
मीराबाई (जहरका प्याला)
प्रेमी भक्त रसखान
ऋषि-आश्रम

एकरंगे चित्र, दाम)॥ प्रति चित्र

विश्वामित्रकी राम-भिक्षा
अहल्योद्धार
सोहे राम-सियाकी जोरी
श्रीराम और केवट
भगवान् राम और

सुतीक्ष्णका प्रेमोन्माद
राम-विलाप
शरणागत भक्त विभीषण
सीता-वनवास
रामायण-शिक्षा

सीताका पाताल-प्रवेश
आदर्श वैश्य नन्दजी
शिशु-लीला
शकटासुर-उद्धार
नल-कूबर-कृत स्तुति

नवनीत-वितरण
वन-भोजन
कालियनागपर कृपा
दावानल
गोवर्द्धन-धारण
श्रीकृष्ण-सुदामाकी गुरु-सेवा
श्रीलाडलीलालजी
कुवलयापीड-उद्धार
कंस-उद्धार
जिज्ञासु-भक्त उद्धव

श्रीकृष्ण-द्रौपदी
फल-पत्र-भोजी श्रीकृष्ण
धर्म-तत्त्वज्ञ श्रीकृष्ण
भक्त-भजन-कारी श्रीकृष्ण
उत्तरा-गर्भ-रक्षक श्रीकृष्ण
योगेश्वर श्रीकृष्ण
योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण
भगवान्की शरणागतिसे सबका उद्धार
भगवान् विभूतिमें
भक्तोद्धारक भगवान्

देवर्षि नारदको व्याध (वाल्मीकि) बाँध रहा है
चक्रिक भीलको भगवद्दर्शन
भक्त सुधन्वा
श्रीश्रीनित्यानन्द-हरिदासका नाम-वितरण
शरणागत भक्त सूरदासजी
परम भक्तिमती मीराबाई
सन्त तुकाराम
मालीसे (फूल-फूलमें भगवान्)

कागज-साइज ५×७॥ इञ्च, बहुरंगे चित्र, दाम)॥ प्रति चित्र

श्रीविष्णु
शेषशायी
सदाप्रसन्न राम
कमल-लोचन राम
विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण
आनन्द-कन्द श्रीकृष्ण
भक्त-मन-चोर श्रीकृष्ण
जगद्गुरु श्रीकृष्ण
मोहन
गोपीकुमार

व्रज-नव-युवराज
श्याम-सुन्दर
सुदामा और श्रीकृष्णका प्रेममिलन
अर्जुनको गीताका उपदेश
अर्जुनको चतुर्भुजरूपका दर्शन
बालक नारदको भगवान्का दर्शन
देवर्षि नारद (कीर्तनाचार्य)
ध्रुव-नारायण
समुद्रमें पत्थरोंसे दबे प्रह्लादका उद्धार
भगवान् नृसिंहकी गोदमें प्रह्लाद
पवन-कुमार

अजामिल-उद्धार
भगवान्की गोदमें भक्त चक्रिक
श्रीश्रीचैतन्य
भक्त धन्ना जाटकी रोटियाँ भगवान् ले रहे हैं
भक्त मोहन और गोपाल भाई
गोविन्दके साथ गोविन्द खेल रहे हैं
भक्त गोपाल चरवाहा
मीराबाई (कीर्तन)
भक्त जनाबाई और भगवान्
ऋषि-आश्रम

विशेष सुभीता

१०×१५ साइजके सुनहरे, रंगीन और सादे २२ चित्रोंकी कीमत १।=)। पैकिंग ~)॥। डाकखर्च ।≋) सब जोड़कर १॥≋) होते हैं, जिनके १।≡) लिये जायँगे।

७॥×१० के सुनहरे और रंगीन १०१ चित्रोंकी कीमत ४॥≈)॥ पैकिंग ≡) डाकखर्च ॥≈) सब जोड़कर ५।≋)॥ होते हैं, जिनके ३॥~) लिये जायँगे।

७॥×१० साइजके सादे ४२ चित्रोंकी कीमत १।~) पैकिंग ~)॥ डाकखर्च ।~)॥ सब जोड़कर १॥) होते हैं, जिनके १।~) लिये जायँगे।

५×७॥ साइजके रंगीन ३२ चित्रोंकी कीमत १) पैकिंग ~) डाकखर्च ।~) सब जोड़कर १।≈) होता है, जिसका प्रचारार्थ केवल ॥।≈) लिया जायगा (इसमें ५०%कमीशन दी गई है)

१०×१५ और ७॥×१० की तीनों सेट एक साथ लेनेवालोंको चित्रोंके मूल्यमें ५०% (रुपयेमें आठ आना) कमीशन दी जायगी अर्थात् छोटे-बड़े १६५ चित्रोंका मूल्य ७॥=) डाकखर्च पैकिंग १~) कुल मिलाकर ८॥≋) होता है जिसका ४॥≈) मात्र लिया जायगा।

कमीशन-नियम

१०×१५ और ७॥×१० या ५×७॥ साइजके सेट न लेकर खुदरा और बिक्रीके लिये एक साथ लेनेपर दो दर्जनसे १०० तक २५) सैकड़ा, १०० चित्रोंसे २५० तक ३७॥) सैकड़ा और २५० से ऊपर ५०) सैकड़ा कमीशन दिया जायगा। इसमें डाकखर्च ग्राहकका लगेगा, इससे ज्यादा कमीशनके लिये लिखा-पढ़ी न करें।

एक ही चित्र छोटे-बड़े साइजमें छपा हुआ होता है अतः समझकर मँगवावें।

एक ही चित्र १००० लेनेसे कुछ विशेष रियायत कर दी जायगी।

केवल २ या ४ चित्र पुस्तकोंके साथ या अकेले नहीं भेजे जाते, क्योंकि रास्तेमें टूट जाते हैं।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुह्य बलेन यस्याश्चेतः कथं शरणमेषि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७ | गोरखपुर, पौष १९८९ जनवरी १९३३ | संख्या ६ पूर्ण संख्या ७८

भगवान्‌का विरह

अजहुँ न निकसै प्राण कठोर ।

दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर ॥
चार पहर चारौं जुग बीते रैन गवाँई भोर ।
अवधि गई अजहूँ नहिं आये कहाँ रहे चितचोर ॥
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर ।
'दादू' ऐसे आतुर बिरहणि जैसे चन्द चकोर ॥

—दादूजी

पूज्यपाद महात्मा श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

राज-सिंहासनपर बैठते ही राजाके समीप मन्त्री तथा अन्य कर्मचारी आ जाते हैं, उसी भाँति अविवेकके उदय होते ही काम, क्रोध, मद, लोभ आदि आ जाते हैं। 'अहं' के उदय होते ही स्वस्थता नष्ट हो जाती है। स्वस्थताके मानी हैं—'स्व' में स्थित होना।

'स्व' में तुम तभी स्थित रह सकोगे, जब तुम अपने 'अहं' को अलग कर दोगे। तुम अभ्यासी बनो, त्यागी बनो। बिना अभ्यासके आगे नहीं बढ़ सकते। ज्यों ही अभ्यासमें प्रमाद करोगे, त्यों ही चित्तमें नाना तरहकी स्फुरणाएँ होनी प्रारम्भ हो जायँगी।

जबतक काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि चित्ताकाशमें डेरा डाले पड़े हैं, तबतक न तो ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है और न भक्तितत्त्वकी ही उपलब्धि हो सकती है।

जबतक ज्ञानका 'अहं' है, तबतक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। जबतक भक्तिका 'अहं' है, तबतक भक्त नहीं कहा जा सकता।

अज्ञान, अविवेकका नाश करना ज्ञान तथा प्रेम-तत्त्वको आमन्त्रित करना है। सारे अज्ञान एवं अविवेककी सृष्टि 'अहं' ने की है। इसलिये 'अहं' को ही अपराधी समझकर गिरफ्तार करो। उसीका नाश करो। 'अहं' का नाश होते ही दिव्यताका अनुभव होने लगेगा। फिर तुम अपने अन्दर एक बढ़ती हुई रोशनीका अनुभव करने लगोगे।

यदि तुम ज्ञानकी प्राप्ति करना चाहते हो तो, तुम्हें आवश्यकता इस बातकी है कि देश, जाति तथा शरीरकी आसक्तिको अलग करो।

जो चित्त दृश्य जगत्में आसक्त है, वह परमतत्त्व-का चिन्तन नहीं कर सकता। जिस अवस्थामें पहुँचने-के लिये तुम तड़प रहे हो, उसके समीप पहुँचनेके पूर्व तुम्हें बहुत-से कामोंको समाप्त करना होगा। अपनी सारी बुराइयोंको दूर करके सात्विक संसारमें उतरना होगा।

विश्वास करो, मंगलमय श्रीहरि तुम्हारे साथ निरन्तर खेल कर रहे हैं। दुखी क्यों होते हो? दुखी होना अपनेको अविश्वासकी अवस्थामें फेंकना है। सारी परिस्थितिके रचयिता ईश्वर हैं। जिस प्रभुने तुम्हें पैदा किया है, जिस प्रभुने तुम्हारे जीवन-रक्षाके हेतु नाना वस्तुओंकी सृष्टि की है, जिस प्रभुने सूर्य और चाँद-जैसी मनोहर दिव्य वस्तुएँ दी हैं वही प्रभु तुम्हें बुद्धियोग भी प्रदान करेगा।

किन्तु आवश्यकता है, सर्वतोभावेन अपनेको उसके ऊपर छोड़ देनेकी—निछावर कर देनेकी। अपनी सारी अहंता और ममताको उसीके चरणोंमें रख दो। अहंता और ममता ही बन्धन हैं। बन्धनमें क्यों पड़े हो? इस महा दुःखदायी बन्धनको अपना महाशत्रु समझ उतारकर फेंक दो।

'क्यों रे! तू किसकी उपासना करता है?'

'मैं तो भगवन्! उसीकी उपासना करता हूँ।'

'क्या वह निराकार है?'

'जी नहीं।'

'तो क्या साकार है?'

'जी नहीं।'

'तू भी खूब है! 'उसे' निराकार और साकारसे भी अलग कर दिया।'

'हाँ भगवन्! आपने ही तो बताया था कि वह न तो साकार है और न निराकार। वह तो दोनोंसे पृथक् है।'

*   *   *

प्रायः लोग कह दिया करते हैं कि साकार उपासना सरल है। नहीं, साकार-स्वरूपकी झाँकी तो दृढ़ अभ्यासी लोग ही कर सकते हैं। निराकार-की उपासना सूक्ष्म चित्तवालोंके लिये सरल है।

कल्याण

जो अपनी सारी इन्द्रियोंको और मन-बुद्धिको भगवान्‌के काममें लगाये रखता है, वही बुद्धिमान् भक्त है। कानसे भगवान्‌के गुण सुनो, आँखोंसे सन्तोंको देखो, जीभसे भगवान्‌के गुण गाओ, हाथसे भगवान्‌की सेवा करो, पैरोंसे भगवान्‌के स्थानोंमें जाओ, मनसे भगवान्‌का चिन्तन करो और बुद्धिसे भगवान्‌का विचार करो। तुम्हारा जीवन पवित्र भगवत्‌मय बन जायगा।

× × ×

सङ्गसे ही आदमी अच्छा-बुरा बनता है, सङ्ग केवल मनुष्यका नहीं, इन्द्रियोंके विषयमात्रका ही अच्छा-बुरा होता है। अच्छे सङ्गका सेवन करो, बुरा सङ्ग सदा छोड़ो। कानसे बुरी बात मत सुनो, आँखोंसे बुरी चीजें मत देखो, जीभसे बुरी बात मत कहो, हाथसे बुरा काम मत करो, पैरसे बुरी जगह मत जाओ, मनसे बुरा चिन्तन मत करो और बुद्धिसे बुरे विचार मत करो। तुम सब बुराइयोंसे आप ही छूट जाओगे।

× × ×

ऐसी पुस्तक कभी मत पढ़ो, जिससे विषयोंका लालच बढ़े और पापमें मन जाय, चाहे उसका नाम शास्त्र ही क्यों न हो। विषयोंसे मनको हटानेवाली और पापसे बचानेकी शिक्षा देनेवाली पुस्तकें पढ़ो; ऐसी ही बातें सुनो और ऐसे ही स्थानमें रहो।

× × ×

विषय-चिन्तन सर्वनाशकी जड़ है और भगव-चिन्तन दुःखोंसे छूटनेका मूलमन्त्र है। बड़ी सावधानी-से मनसे विषयोंके चिन्तनको हटाते रहो और निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करो। ज्यों-ज्यों विषय-चिन्तन कम होकर भगवच्चिन्तन बढ़ेगा, त्यों-ही-त्यों तुम शान्ति और सुखके समीप पहुँचोगे। विषय-चिन्तन सदा-चारीको भी पापके पङ्कमें डाल देता है और भगव-चिन्तन अत्यन्त दुराचारीको भी साधु-भक्त बना देता है।

× × ×

दो केन्द्र हैं—एक दुःखका, दूसरा सुखका; दुःख-के केन्द्रमें बैठकर चाहे जितनी सुखकी बातें करो, कभी सुखी नहीं हो सकते और सुखके केन्द्रमें पहुँचने-पर दुःख ढूँढ़े भी नहीं मिलता। जगत्‌का आश्रय दुःखका केन्द्र है और भगवान्‌का आश्रय सुखका। चाहे कोई कितनी ही ऊँची-ऊँची बातें करे, जब-तक जगत्‌के आश्रयसे सुख पानेकी आशा है, तबतक वह वैसे ही सुखी नहीं हो सकता, जैसे आगकी लपटों-में पड़ा हुआ आदमी केवल बातोंसे शीतलता नहीं पाता। अतएव जगत्‌का आश्रय छोड़कर भगवान्‌का आश्रय ग्रहण करो; उस सुखके केन्द्रमें स्थित होकर फिर चाहे दुःखालय संसारकी बात भी करो, तुम्हें दुःख उसी प्रकार नहीं छू सकेगा, जिसप्रकार हिमा-लयकी बरफमें बैठे हुए पुरुषको गरमी नहीं छू सकती।

× × ×

सबमें परमात्माका निवास समझकर सबका सम्मान करो, अपमान तो किसीका भी मत करो। स्वयं मान छोड़कर सबका सम्मान करोगे, दूसरोंके मानपर तुम्हारा कोई भी आचरण किसी प्रकार ठेस पहुँचानेवाला नहीं होगा तो, तुम आप ही सबके प्यारे बन जाओगे। फिर तुम्हें सभी हृदयसे चाहेंगे और तुम अपनी इच्छा-नुसार अधिकांशको सन्मार्गपर ला सकोगे।

× × ×

दूसरेके साथ ऐसा कोई बुरा बर्ताव कभी न करो, जैसा अपने साथ दूसरोंसे तुम नहीं चाहते। यदि

तुम दूसरोंसे सम्मान, सत्कार, उपकार, दया, सेवा, सहायता, मैत्री और प्रेम आदिकी आशा रखते हो तो पहले दूसरोंके प्रति तुम यही सब बर्ताव करो ।

× × ×

अपनी अच्छी बात दूसरेसे प्रेमपूर्वक कहो परन्तु यह आग्रह न करो कि वह तुम्हारी बात मान ही ले । और न माननेवालेको कभी न तो बुरा कहो और न मनमें ही बुरा समझो । उसे अपनी बात मनवानेकी नहीं, परन्तु निवेदन करनेकी चेष्टा करो । कभी अपनी भूल हो तो मान-भङ्गके भयसे अपनी बातपर अड़े मत रहो । भूल स्वीकार करनेमें हानि तो होती ही नहीं, ठीक रास्तेपर आनेसे बड़ा भारी लाभ अवश्य होता है ।

× × ×

दूसरोंसे अपनी बातके समर्थनकी नीयतसे ही उनकी सम्मति मत चाहो । भूल-चूक बतानेके लिये ही उनकी राय पूछो और यदि कोई भूल बतावे तो बुरा न मानकर उसपर विचार करो तथा उसका उपकार मानो । यदि वह कोई ऐसी भूल बतावे जो अपनेमें न दीखे, तब भी उसकी नीयतपर सन्देह न करो; फिर गौर करके अपने हृदय और आचरणोंको टटोलो, कहीं-न-कहीं भूल लुकी-छिपी मिल जायगी । कदाचित् न भी मिले और भूल बतानेवाला ही भूला हो, तो भी उसकी कृपा मानो, जिसने तुम्हें सुधारनेके लिये तुम्हारी भूल बतलानेजैसा छोटा काम स्वीकार किया और इस काममें अपना समय लगाया ।

× × ×

तुम्हारी रायपर कोई न चले तो बुरा मत मानो, न उससे घृणा करो । बल्कि तुम्हारी रायके अनुसार काम न करनेके कारण उसको कोई नुकसान पहुँचा हो, और वह फिर कभी मिले तो उससे यह मत कहो कि मेरी राय न माननेका फल तुम्हें मिला है । उसके साथ प्रेमसे मिलो, उसे समयपर फिर अपनी नेक सलाह दो और अच्छे मार्गपर चलानेकी चेष्टा करो ।

× × ×

किसीमें कोई दोष देखकर उसके लिये मनमें यह निश्चय न कर बैठो कि वह बुरा ही आदमी है । हो सकता है, दोष देखनेमें तुमने भूल की हो अथवा किसी परिस्थितिमें पड़कर मन न रहनेपर भी उससे वह दोष बन गया हो । अच्छे-बुरे गुण सभीमें हैं; उसके अच्छे गुणोंको देखकर उसपर प्रेम करो ।

× × ×

सच्चा दोष दीखनेपर भी किसीका अपमान न करो या उसपर क्रोध करके दोष निकालनेकी चेष्टा न करो । कभी-कभी तुम्हारे अपमान या क्रोधसे दोषी मनुष्यकी दूषित वृत्ति दब जायगी, परन्तु उस वृत्तिका नाश नहीं होगा । तुम्हारा किया हुआ अपमान या क्रोध उसके मनमें चुभता रहेगा और यदि वह भूलमें पड़ गया तो, अपने दोषके लिये पश्चात्ताप न कर तुमसे अपमान या क्रोधका बदला लेनेकी धुनमें लगा रहेगा । इससे उसमें भी नये दोष पैदा होंगे और उसकी द्वेषयुक्त चेष्टासे भड़ककर तुम भी अधिक क्रोधी और हिंसक बन जाओगे । किसीका दोष जड़से निकालना हो तो उसके प्रिय बनकर, उसकी सेवा कर-कर उसके मनपर अधिकार जमाओ और फिर उसे समझाओ । सम्भव है, इसमें सफलता कुछ देरसे मिले, परन्तु मिलेगी अवश्य और स्थायी मिलेगी । याद रक्खो—राज, समाज और व्यक्तियोंने दण्ड दे-देकर अपराधियोंकी संख्या बढ़ा दी है । जो खुद दोष करते हैं और राग-द्वेषवश यथार्थ दोषका निर्णय नहीं कर सकते, उन्हें दूसरोंके दोष देखने और उन्हें दण्ड देनेका कोई अधिकार नहीं है ।

× × ×

एक बातका सदा खयाल रक्खो । अपने पुत्र, भाई, सेवक या किसी और अपनेसे नीचे पद या स्थितिवालेका भी दूसरोंके सामने कभी अपमान मत करो । कोई भी आदमी अपना अपमान सहना नहीं चाहता । अपमानित मनुष्य चाहे बोल न सके, परन्तु उसके दिलमें बड़ा दुःख होता है और अपना अपमान करनेवालेपर बुरी भावना जरूर पैदा होती है। इसलिये किसीको सावधान करनेके लिये कुछ कहना ही हो तो, एकान्तमें कहो । और वह भी जहाँतक बने सहानुभूति और प्रेमकी भाषामें ।

× × ×

तुम अपने सामने किसीको कोई दोष करते देख लो और वह जान जाय कि तुमने उसके दोषको देख लिया है तो फिर उससे और कुछ भी मत कहो । वह स्वयं लज्जित हो रहा है । कह-सुनकर उसका संकोच भङ्गकर उसे ढीठ न बनाओ ।

× × ×

जैसे अपनी लाभ-हानिका खयाल रखते हो, वैसे हीं दूसरोंके हानि-लाभका भी ध्यान रक्खो । किसीके यहाँसे माँगकर मँगवायी हुई चीज़ खराब न होने पावे तथा अपना काम निकलते ही उसके यहाँ सावधानी-के साथ पहुँच जाय । इस बातकी विशेष चिन्ता रक्खो, नहीं तो उसको दुःख होगा और लोग मँगनी चीजें देनी बन्द कर देंगे, जिससे दूसरे गरीबोंका सुभीता जाता रहेगा । और जैसे दूसरोंसे चीज़ मँगवा लेते हो, ऐसे ही अपनी देनेमें भी कभी सङ्कोच न करो । जहाँतक हो सके, किसीसे कोई भी चीज़ बिना ही माँगे अपना काम चलाओ । माँगकर न तो सङ्कोचमें पड़ो और न किसीको सङ्कोचमें डालो ।

× × ×

दुखी-गरीब भाई-बहिनोंके साथ विशेष प्रेम और सरलताका बर्ताव करो । उनकी सेवा करनेमें न तो ऐसा खयाल करो और न कभी यह उनपर प्रकट ही होने दो कि तुम बड़े आदमी या समर्थ हो, इससे उनका उपकार कर रहे हो या उनपर एहसान कर रहे हो । गरीब भाई-बहिनोंकी कभी कोई सेवा तुमसे बन जाय तो उनको कभी भूलकर भी उसका स्मरण तो कराओ ही मत, बल्कि मन-ही-मन उनका उपकार मानो कि उन्होंने तुम्हारी सेवा स्वीकार की । परन्तु इस कृतज्ञताको भी अपने मनमें ही रक्खो । उन-पर प्रकाश न करो । नहीं तो, शायद वे समझेंगे कि तुम अपने उपकारकी उन्हें याद दिला रहे हो; इससे उन्हें संकोच होगा और अपनी गरीबीकी याद करके वे दुखी हो जायँगे । जो गिनानेके लिये किसीकी सहायता करता है वह तो उसे जलानेके लिये आग जलाता है । उनका ताप मिटानेके लिये नहीं ।

× × ×

गरीब दुखी गृहस्थोंकी सहायता या सेवा करना चाहो तो अत्यन्त ही गुप्तरूपसे करो, हो सके तो उन्हें भी पता न लगने दो । और सेवा करके उसे सदाके लिये भूल जाओ, मानो तुमने कभी कुछ किया ही नहीं ।

× × ×

जैसे तुम्हें अपने समयका ध्यान रहता है, ऐसे ही दूसरोंके समयका भी ध्यान रक्खो । किसी भी भले आदमीके पास बिना काम जाकर न बैठो । शिष्टा-चारसे या किसी कामसे जाना हो तो उसका सुभीता देखकर जाओ और अपना काम होते ही तुरन्त वहाँसे उठ जाओ । अनावश्यक बैठकर उसे संकोच-में मत डालो । यदि वहाँ और आदमी बैठे हों तो अपनी बातचीत जल्दी समाप्त कर लो, जिससे दूसरोंको भी बात करनेका अवसर मिले ।

× × ×

दो आदमी बात करते हों तो उनकी बात सुननेंं

की चेष्टा मत करो। वरं तुम्हारे वहाँ रहनेसे उन्हें संकोच होता हो तो वहाँसे अलग हो जाओ। और पीछे भी उनसे वह बात खोद-खोदकर मत पूछो। यदि उनकी कोई गुप्त बात है तो या तो तुम्हारे आग्रह करनेपर उन्हें बड़े संकोचमें पड़ना होगा या छिपानेके लिये झूठ बोलना पड़ेगा, जिससे आगे और भी हानियाँ होंगी।

× × ×

विपत्तिके समय किसीसे सहायता लेना नितान्त आवश्यक ही हो और वह खुशीके साथ करे तो कृतज्ञ होकर उसे स्वीकार करो परन्तु उससे अनुचित लाभ न उठाओ। कोई आदमी दयालु है, उसने तुम्हारी सहायता की है, तो फिर बार-बार उसे अपने दुख सुनाकर तङ्ग न करो।

× × ×

किसी भी आदमीसे बात करनेके समय पहले उसकी बात सुनो। दुःखकी बात तो विशेष ध्यानसे सुनो। तुम्हारी दृष्टिमें चाहे वह दुःख छोटा हो परन्तु उसकी दृष्टिमें तो वही महान् है। उसे सान्त्वना दो, समझाओ, हो सके तो सहायता करो। परन्तु रूखा बर्ताव न करो। खास करके गरीबकी बात सुननेमें तो कभी भूलकर भी रूखेपनसे काम न लो। उसके साथ ऐसा बर्ताव करो, जिससे वह संकोच और भय छोड़कर कम-से-कम अपना दुःख तुम्हें आसानीसे सुना सके और तुम्हें अपना स्नेही समझने लगे।

× × ×

दूसरेसे बात करते समय अपनी चर्चा न छेड़ो और न अपनी या अपने सम्बन्धी और घरवालोंकी ही बड़ाई करो। तुम्हारे सम्बन्धकी बात सुननेमें दूसरोंको उतना रस नहीं आता, जितना उन्हें अपनी सुनानेमें आता है। तुम उनकी सुनो और उनसे उन्हींके सम्बन्धकी वैसी प्रिय बात करो, जिससे उन्हें सुख मिले और उनके हृदयमें तुम्हारे प्रति प्रेम और सौहार्द उपजे। जैसे माताके सामने उसके छोटे बच्चेकी बात करनेसे उसे सुख मिलता है और उसका हृदय खिलता है।

× × ×

बात करनेवालोंके बीचमें बोलकर उनकी बातोंका सिलसिला मत तोड़ो। और किसीके कुछ कहनेके समय बीचमें उसकी बातका खण्डन भी न करो। बिना बोले काम चल जाय तो बहुत ही अच्छी बात है। यदि खण्डन करना आवश्यक ही हो तो पीछे शान्ति और आदरके साथ नम्रतापूर्वक अपनी बात कहो।

"शिव"

तुम्हीं हो नाथ

सीतलता चंद्रकी प्रकाश हो दिवाकरके मंद मंद मारुतकी लहर तुम्हीं हो नाथ।
पुष्पकी सुगंधि नव पल्लव छटा हो तुम्हीं चारुता सुरम्य लता बेलिकी तुम्हीं हो नाथ॥
कोकिलकी कूक तुम्हीं पिहक पपीहाकी हो गुंज अरविंद पै मलिंदकी तुम्हीं हो नाथ।
'शिव कवि' जगत अधार करुणानिधान सबमें समाये पर ओझल तुम्हीं हो नाथ॥

—शिवशंकर पाण्डेय 'शिव'

धर्मका सनातन आदर्श

प्रवृत्ति और निवृत्ति-धर्मका स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए०, प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, काशी)

जिज्ञासु–ऐतिहासिक युगके प्रारम्भसे ही सभ्य जगत्में धर्मके सम्बन्धमें नाना प्रकारके विचार और वितर्क चले आ रहे हैं। कौन-सा धर्म सत्य है और कौन-सा मिथ्या, इस प्रश्नको लेकर जगत्में कितने भिन्न-भिन्न मत प्रवर्तित हुए हैं, सो कहा नहीं जा सकता। परन्तु अब भी यथार्थ तत्त्वके सम्बन्धमें समाधान हो गया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। शास्त्रने भी कहा है–'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' अर्थात् धर्मका रहस्य अत्यन्त गुह्य पदार्थ है। वह सबके लिये सहज ही बोधगम्य नहीं है। अब मेरा प्रश्न यह है कि यथार्थ धर्म क्या है और किस-प्रकारसे उसकी उपलब्धि होती है। नाना प्रकारके मतोंकी आलोचनामें पड़कर तत्त्वजिज्ञासुका हृदय विह्वल हो उठता है, इसीलिये मैं आपसे पूछ रहा हूँ। कृपापूर्वक आप धर्मका यथार्थ तत्त्व यथासम्भव सरल भाषामें मुझे समझा दें।

वक्ता–वत्स, तुम्हारे प्रश्नको सुनकर प्रसन्नता हुई। मैं यथाशक्ति इस विषयमें तुम्हारे साथ आलोचना करूँगा। परन्तु आलोचना करनेसे पूर्व मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह तुम्हारे हृदयकी यथार्थ जिज्ञासा है या नहीं? मैं देख रहा हूँ कि तुम अभीतक धर्म-तत्त्व-सम्बन्धी यथार्थ जिज्ञासाकी स्थितिपर नहीं पहुँचे हो। तुम्हारी जिज्ञासाके कुछ अंशमें उत्सुकता कारण है और कुछ अंशमें हृदयकी स्वाभाविक स्फूर्ति है। जो कुछ भी हो, मैं तुम्हारी जिज्ञासाके अनुसार उत्तर देनेकी चेष्टा करूँगा। अवश्य ही, अभी मैं धर्मके गूढ़ तत्त्वोंको लेकर विशेष आलोचना नहीं करूँगा। यदि निष्कपट और सरल भावसे तुम इस आलोचनाका अनुसरण करते रहोगे, तो एक दिन तुम्हारे हृदयमें वास्तविक जिज्ञासा अवश्य ही उत्पन्न हो जायगी, और तब उसके समाधानके लिये तुम्हें किसी भिन्न उपदेष्टाके पास जानेकी आवश्यकता नहीं होगी। तुम्हारे अन्तरसे ही अन्तर्यामी गुरु समस्त संशयोंका समाधान कर देंगे।

जिज्ञासु–समझमें नहीं आता कि मेरे प्रश्नको आप यथार्थ प्रश्न क्यों नहीं मान रहे हैं? बहुत-से ग्रन्थोंको पढ़कर और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके पृथक्-पृथक् मतोंपर विचारकर मैं उन सबका परस्पर समन्वय नहीं कर सका, इसीसे मैं संशयग्रस्त हो गया और उसी संशयसे चित्तमें धर्म-सम्बन्धी इस प्रश्नकी उत्पत्ति हुई। इसमें तनिक भी अस्वाभाविकता नहीं है।

वक्ता–तुम्हारा कथन ठीक है। परन्तु याद रक्खो, जीवन-क्षेत्रमें यथार्थ संशयकी उत्पत्ति इस तरह नहीं हुआ करती। बहुत-से शास्त्रोंको पढ़कर अथवा सुनकर उनका समन्वय न कर सकनेके कारण जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं वे यथार्थ प्रश्न नहीं हैं—उनका प्राणोंके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। शास्त्रीय विचार-सभामें पूर्व-पक्ष स्थापन करनेके लिये उन प्रश्नोंकी यथेष्ट उपयोगिता हो सकती है, परन्तु उनको यथार्थ प्रश्न नहीं कहा जा सकता। जो अपनी अनुभूतिके राज्यसे बाहरकी वस्तु है, उसके सम्बन्धमें संशयको कोई अवकाश ही नहीं है। ज्यों-ज्यों मनुष्य अनुभवके राज्यमें आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों यथार्थ संशयकी सम्भावना भी बढ़ती जाती है। जो किसी अतीन्द्रिय पदार्थको देख ही नहीं सकते, अथवा जिनको उसके सम्बन्धमें कुछ भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, उनके चित्तमें उस पदार्थ या विशेष धर्मके सम्बन्धमें कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। उठता है तो वह अस्वाभाविक ही समझा जाता है। कठोर और अनन्त जीवनके पथपर चलते-चलते जो अभिज्ञता प्राप्त होती है, उसके भली-भाँति संशोधित न होनेपर जो एक प्रकारका द्वन्द्व उपस्थित होता है, जिसकी निवृत्ति हुए बिना जीवनकी गति रुक जाती है—वही यथार्थ प्रश्न है।

धर्म-सम्बन्धी तुम्हारी जिज्ञासा यथार्थ न होनेपर भी आंशिक भावसे सत्य है और सरल हृदयमें उठी हुई है, अतएव इस सम्बन्धमें मैं तुम्हारे साथ यथाशक्ति आलोचना करनेको तैयार हूँ। परन्तु इससे पहले एक बातके लिये तुम्हें सावधान कर देना चाहता हूँ। मेरे कहनेसे तुम कहीं यह न समझ बैठना कि मैं जो कुछ कहता हूँ, वही चरम अथवा एकमात्र सत्य है, या उसमें भ्रमका कहीं लेश भी नहीं है। मैं यह दावा नहीं

करता और मेरा विश्वास है कि कोई भी ऐसा दावा नहीं कर सकता। परन्तु यह विश्वास रखना कि, मैं जो कुछ कहता हूँ सो अमूलक नहीं है।

जीवनके मार्गपर जितना ही अग्रसर हुआ जाता है, अनुभवकी मात्रा और प्रकाश क्रमशः उतना ही बढ़ता जाता है, एवं वह अधिकतर गम्भीर भाव धारण करता है। वस्तुतः आत्मिक अनुभूतिका अधिकांश तो भाषाद्वारा प्रकट ही नहीं किया जा सकता और जितना अंश प्रकट करने योग्य प्रतीत होता है, उतना भी यथार्थ रूपमें प्रकट नहीं हो पाता। कारण, जो विशुद्ध बोधका विषय है, उसे चिन्तनके क्षेत्रमें और वाक्यरूपमें उतारते ही उसकी विशुद्धि नष्ट हो जाती है—एवं कुछ अंशमें वह मलिन हो जाता है।

जिज्ञासु–अब धर्मके सम्बन्धमें कुछ कहिये। हमलोग अपने चारों ओर धर्मका जो रूप देखते हैं, क्या वही धर्मका तात्त्विक रूप है ? यदि ऐसा ही है, तो नाना देशों और नाना कालोंमें धर्मके सम्बन्धमें इतने विभिन्न सिद्धान्त क्यों उत्पन्न होते हैं ?

वक्ता–वत्स ! धर्मका तात्त्विक रूप एक होनेपर भी उसके व्यावहारिक रूप नाना प्रकारके हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। देश, काल और जागतिक घटना-वैचित्र्यसे धर्मके तात्त्विक रूपमें तनिक भी परिवर्तन नहीं होता—यही उसका अन्तरङ्ग या स्वरूप है। पर, जो धर्मका बहिरङ्ग है वह देश-कालादिके भेदसे व्यवहार-क्षेत्रमें भिन्न-भिन्न हुए बिना नहीं रह सकता। परन्तु जो धर्मके रहस्यको जानते हैं, वे इस बाहरी रूपकी विचित्रतामें भी उसके शाश्वत नित्यरूपको देख पाते हैं। कारण, वे जानते हैं कि जिसको बाह्य रूप बतलाया जाता है वह अन्तर्निहित भावका ही बहिःप्रकाश मात्र है। गर्भमें यदि वास्तविक सत्ता हो, तो बाह्य रूपके आश्रयसे भी उस सत्ताकी उपलब्धि अवश्य ही हो जायगी। बाहरका आवरण अन्दरके जीवित प्रवाहको रोककर नहीं रख सकता।

जिज्ञासु–आपके कथनसे यह समझमें आया कि यथार्थ धर्म एक होनेपर भी उसके बाह्य रूप नाना प्रकारके हो सकते हैं। अतएव किसी भी बाह्य रूपका विश्लेषण करनेपर उसके अन्दरसे धर्मका सनातन तत्त्व प्रकट हो जायगा। यदि यही सत्य है तो फिर बाह्य धर्मोंमें उत्कर्ष, अपकर्षके विचारको कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

वक्ता–नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। उत्कर्ष और अपकर्षका अथवा बड़े और छोटेका विचार बाहर ही बाहर रहता है, अन्तरमें प्रवेश करनेपर यह विचार नहीं रहता। अतएव जबतक बाह्य भाव है, तबतक धर्मके वास्तविक तत्त्वको कोई जान नहीं सकता और इसलिये, तबतक उत्कर्ष और अपकर्षको मानना ही होगा। आत्मा सर्वत्र और सर्वदा अखण्ड एवं अद्वैत होनेपर भी जैसे सब जीवोंको एक-सा नहीं कहा जा सकता, वैसे ही, धर्मका मूल-तत्त्व सर्वत्र एक होनेपर भी बाह्य दृष्टिसे सब धर्मोंको समान नहीं कहा जा सकता ! बिम्ब एक होनेपर भी दर्पणकी आपेक्षिक स्वच्छता आदि कारणोंसे जैसे प्रतिबिम्बमें नाना प्रकारके भेद स्वाभाविक होते हैं, वैसे ही सार धर्म एक होनेपर भी बाह्य धर्ममें उत्कृष्ट और अपकृष्टका विचार उठे बिना नहीं रह सकता।

जिज्ञासु–जब सभी धर्म एक ही मूल-धर्मके विकास हैं, तब उनके पारस्परिक भेदका नियमन किसप्रकार हो सकता है ?

वक्ता–धर्म मूलतः एक होनेपर भी सर्व क्षेत्रोंमें उसके पूर्णरूपका प्रकाश नहीं हो सकता। जिस आधारमें जितना सामर्थ्य है उसमें उतना ही प्रकाश हो सकता है, अधिक नहीं। व्यक्तिगत और जातिगत भावसे भी मनुष्यमें यथेष्ट भेद देखनेमें आता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक योग्यतासम्पन्न होगा, वह धर्मके वास्तविक तत्त्वको उतने ही गम्भीर और विशिष्ट रूपमें उपलब्ध कर सकेगा। यही बात जातिके सम्बन्धमें है। यह समझ लेनेपर, विभिन्न देशोंमें विभिन्न प्रकारके धर्मोंकी उत्पत्ति क्यों हुई, इसका रहस्य कुछ-कुछ समझमें आ जायगा। कालभेदसे जो धर्ममें भेद होता है उसका भी यही कारण है। इसीलिये बालक, युवक, प्रौढ़ और वृद्धके धर्म परस्पर पृथक् पृथक् होते हैं। और इसीलिये सत्यादि चारों युगोंके लिये ऋषियोंने एक ही प्रकारके धर्मका अनुशासन नहीं किया।

जिज्ञासु–आपके कथनसे तो धर्मका तत्त्व क्रमशः जटिल हुआ चला जा रहा है। देशकाल-भेद और अन्यान्य कारणोंसे यदि धर्ममें भेद होना अनिवार्य है, तो सूक्ष्मदृष्टिसे देश और कालके किञ्चित्-किञ्चित् परिवर्तनके साथ ही धर्मका आदर्श और आचरण भी बदलना ही चाहिये। ऐसी

अवस्थामें शास्त्रद्वारा धर्मका निर्णय किसप्रकार हो सकता है ? कारण, शास्त्रमें प्रत्येक उपदेश साधारण भावसे ही दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्तिके प्रतिमुहूर्त्तके धर्मके देशगत और अवस्थागत पार्थक्यकी ओर दृष्टि रखकर शास्त्रके द्वारा कदापि निर्णय नहीं हो सकता । यदि यही सत्य है तो क्या शास्त्रको मिथ्या कहा जाय ?

वक्ता—शास्त्र मिथ्या क्यों होने लगा ? हाँ, तुम लोग जिसे शास्त्र कहते हो, वह यथार्थ शास्त्र नहीं है—वह यथार्थ शास्त्रका केवल बाह्य परिच्छिन्न प्रकाश है । जबतक ज्ञान-चक्षु नहीं खुल जाते, प्रकृतिके अन्दर प्रवृष्ट नहीं हुआ जाता—सारांश यह कि जबतक वेद या शब्द-ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं हो जाता, तबतक शास्त्रवाणीको कैसे समझा जा सकता है ? अनन्त चिदाकाशसे जिस बोधरूप वाणीका उद्गम होता है, वही शास्त्र है । ऐसी वाणी किसी शरीरधारी दिव्यमूर्तिकी वाणी हो सकती है; अशरीरीकी आकाश-वाणी हो सकती है; हृदयसे उठी हुई भाववाणी हो सकती है; अथवा गुरु-स्थानसे निकली हुई आज्ञास्वरूप ज्ञानरूपा दिव्यवाणी हो सकती है । कोई भी वाणी हो, वह मूलतः एक प्रज्ञास्वरूपा वाणी ही है, दूसरी नहीं ।

जिज्ञासु—शास्त्रतत्त्वके सम्बन्धमें इस समय मैं कुछ भी नहीं पूछता । केवल एक बात जानना चाहता हूँ । आपने जिसको नित्यशास्त्र कहा है, उसमें और हमारे प्रचलित शास्त्रमें क्या कोई भेद है ? यदि है तो वह कैसा है ?

वक्ता—संक्षेपमें तुम्हारी इस बातका उत्तर मैं तुम्हें पहले ही दे चुका हूँ । फिर भी, तुम्हारे इस विशेष प्रश्नके उत्तर-में यह कहा जा सकता है कि दोनोंमें भेद है और नहीं भी है । शास्त्र ही धर्मका प्रकाशक है। धर्मके नित्यरूपका ज्ञान तो नित्यशास्त्रसे ही हो सकता है । हमारे प्रचलित शास्त्रसे हम केवल व्यावहारिक धर्मका रूप जान सकते हैं। धर्मका सार्वभौम तत्त्व जाननेके लिये बुद्धि-गुहामें प्रवेश करना पड़ता है, वह ग्रन्थ-पाठसे जाननेका विषय नहीं है। प्रत्येक मनुष्यके लिये देश और अवस्था-गत अधिकार-मूलक धर्मका निर्देश व्यावहारिक शास्त्रमें नहीं मिल सकता।

जिज्ञासु—तो क्या आपका यह अभिप्राय है कि कर्त्तव्या-कर्त्तव्यके यथार्थ निर्णयके लिये ग्रन्थ-पाठ यथेष्ट नहीं है ?

वक्ता—अधिकार और अवस्थाके भेदके अनुसार कौन-सा कर्म उचित है और कौन-सा अनुचित, इसका निर्णय केवल साधारण उपदेशोंकी आलोचनासे नहीं किया जा सकता । जबतक अन्तःकरण जागृत नहीं होता, तबतक हृदयमें गुरु-शक्तिकी जागृति नहीं होती, तबतक कर्त्तव्यका निर्णय अभ्रान्त हो ही नहीं सकता । वेदरूपी नित्यगुरुके हृदयमें जागृत हुए बिना कर्म-पथपर अग्रसर होना सम्भव नहीं है ।

'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'

यह बात बिलकुल सत्य है । इसका तात्पर्य यह है कि जो सत् हैं, साधु हैं, शुद्धचित्त हैं और मोहनिद्रासे जागकर जिन्होंने सत्य वस्तुकी ओर देखना आरम्भ कर दिया है, उनको ग्रन्थ पढ़कर अथवा किसीसे उपदेश सुन-कर सन्दिग्ध विषयका सन्देह दूर करना नहीं पड़ता । उनका ज्ञानोज्ज्वल चित्त ही संशयका उच्छेदकर उनके हृदयमें विश्वासका बीज बो देता है । शुद्धचित्त पुरुषकी स्वाभाविक प्रवृत्ति कभी अनुचित अथवा निषिद्ध विषयकी ओर हो ही नहीं सकती । इसीसे समझ लेना चाहिये कि साधारण जीवके लिये धर्मके गूढ़ तत्त्वको जान लेना कितनी दूरकी बात है । दूसरेको धर्मका उपदेश करना तो दूर रहा, निजमें ही कर्म-पथपर चलनेके लिये धर्मके जितने प्रत्यक्ष ज्ञानकी आवश्यकता है, उतना भी सहजमें नहीं मिल सकता । सारांश यह कि, बाह्य शास्त्रीय ज्ञान यथार्थ शास्त्र-ज्ञान नहीं है ।

जिज्ञासु—आपने जो कुछ कहा, इससे यह समझमें आता है कि विषय अत्यन्त कठिन होनेपर भी इसे जानना ही चाहिये, क्योंकि धर्मका तत्त्व जाने बिना मनुष्यके पशुत्व-नाश होनेका दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है । एकमात्र धर्मने ही मनुष्यको दूसरे पशुओंसे अलग करके मनुष्य पदके योग्य बनाया है । धर्मकी उन्नतिसे व्यक्तिगत और जातिगत रूपमें मनुष्यकी उन्नति होती है और धर्मके लोप होनेपर मनुष्य क्रमशः पुनः पाशव रूपमें उतर आता है ।

वक्ता—वत्स ! वास्तवमें ही धर्मकी उन्नति और विशुद्धि-से मनुष्यकी सब प्रकारकी उन्नति होती है । 'धर्मः सर्वेषां भूतानां मधु'—धर्मरूप कल्पवृक्षका आश्रय ले लेनेपर मनुष्यकी कोई भी इच्छा अपूर्ण नहीं रह सकती । मनुष्य सब विषयोंमें परमानन्द प्राप्तकर कृतार्थ हो सकता है ।

(अपूर्ण)

मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)
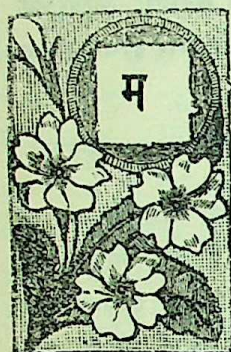
नुष्य-जीवनका समय अमूल्य है । समयकी कीमत न जाननेके कारण ही लोगोंका बहुत-सा समय व्यर्थ ही चला जाता है, इसीलिये आत्म-कल्याणमें विलम्ब हो रहा है । कहा जा सकता है कि कानून-पेशा वकील-बैरिस्टर प्रभृति तो समयका सदुपयोग करते हैं क्योंकि वे अपने समयके प्रत्येक मिनटका पैसा ले लेते हैं; किन्तु पैसोंसे मनुष्य-जीवनका वास्तविक ध्येय सिद्ध नहीं होता । जो मनुष्य अपने अनमोल समयको पैसोंके बदले बेच डालते हैं, पैसोंसे होनेवाले भावी दुष्परिणामको नहीं समझनेके कारण पैसे इकट्ठे करते चले जाते हैं और जीवित कालमें उनसे कुछ भौतिक सुखकी प्राप्ति करते हैं, वे वस्तुतः कल्याण-मार्गमें कुछ भी अग्रसर नहीं होते ।

मरनेके समय उन्हें एकत्र किया हुआ धन यहीं छोड़ जाना पड़ता है, उससे भी उन्हें कोई लाभ नहीं होता, प्रत्युत वह शोक और चिन्ताको बढ़ानेवाला ही होता है । अतएव जो धन, मान आदिके मोलपर अपने अमूल्य समयको बेच डालते हैं वे अपनी समझसे बुद्धिमान् होनेपर भी वास्तवमें बुद्धिमान् नहीं हैं । बुद्धिमान् तो वही कहे जा सकते हैं जो जीवनके अमूल्य समयको अमूल्य कार्योंमें ही लगाते हैं; और अमूल्य कार्य भी उसीको समझना चाहिये, जिससे अमूल्य वस्तुकी प्राप्ति हो । वह अमूल्य वस्तु है—परमात्माके तत्त्व-ज्ञानसे होनेवाली आत्मोन्नतिकी चरम सीमा—परमेश्वरके स्वरूपकी प्राप्ति; इसीको दूसरे शब्दोंमें परम-पदकी प्राप्ति अथवा मुक्ति भी कहते हैं ।

दुःखकी बात है कि बहुत-से भाई तो ऐसे हैं जो अपने समयको चौपड़, तास, शतरञ्ज आदि खेलनेमें, सांसारिक भोगोंमें एवं निद्रा, आलस्य और प्रमादमें व्यर्थ ही बिता देते हैं । बहुत-से ऐसे मूढ़ हैं जो जीवनके अमूल्य समयको चोरी, जारी, झूठ, कपट आदि कुकर्मोंमें बिताकर इस लोक और परलोक दोनोंसे भ्रष्ट होकर दुःखके भाजन बनते हैं; और कितने ऐसे हैं जो सुल्फा, गाँजा, कोकिन और मदिरा आदि मादक द्रव्योंके सेवनमें समय नष्ट करके नरकके भागी बनते हैं । यह समयका अत्यन्त ही दुरुपयोग है ।

उचित तो यह है कि हमारा प्रत्येक श्वास श्रीभगवान्‌के स्मरणमें ही बीते । एक क्षण भी व्यर्थ न जाय । फिर पाप और प्रमादमें बिताना तो अत्यन्त ही मूर्खता है । असलमें बात यह है कि समयकी उपयोगिताको हमलोगोंने अभी समझा नहीं । जैसे पैसेकी उपयोगिता समझी हुई है, वैसे ही यदि समयकी उपयोगिता समझी होती तो भूलकर भी हमारा एक क्षणका समय ईश्वर-स्मरण बिना नहीं बीत सकता। हम किरायेकी मोटरपर सवार होकर कहीं जाते हैं और रास्तेमें किसी सज्जनसे आवश्यक बातें करनेके लिये मोटरको रोकना पड़ता है तो उस समय हम उनसे अच्छी तरह बात नहीं करना चाहते क्योंकि हमारी नजर तो प्रति मिनट दो आने चार्ज करनेवाले मीटरपर लगी रहती है । यह पैसेकी उपयोगिता समझनेका नमूना है । प्रति मिनटके दो आने पैसेसे भी हम समयकी उपयोगिताको अधिक नहीं समझते। हमारे लिये उचित तो यह है कि जैसे मोटरमें बैठे किसीसे बात करते समय हमारा मन पैसोंमें लगा रहता है इसी प्रकार संसारका प्रत्येक कार्य करते समय

अमूल्य जीवनका एक-एक क्षण मुख्यरूपसे श्रद्धा और प्रेमके साथ परम प्रेमास्पद परमात्माके चिन्तनमें ही लगाना चाहिये।

इसप्रकार चिन्तन करते-करते भगवान्की दयासे किसी भी क्षण हमें भगवत्-प्राप्ति हो सकती है। जिस क्षणमें भगवत्-प्राप्ति होती है, उसी क्षणका जीवन अमूल्य है। उस समयकी तुलना किसीके साथ भी नहीं की जा सकती। परन्तु वैसा समय श्रद्धा और प्रेमपूर्वक चिन्तन करनेसे ही प्राप्त होता है। इसलिये हमें श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके स्वरूपके सदा-सर्वदा चिन्तन करनेका अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करनेपर हमारा सभी समय अमूल्य समझा जायगा। यदि प्रेम और श्रद्धाकी कमीके कारण जीवनभरमें भगवत्-प्राप्ति न भी हुई, तो भी कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि अभ्यासके बलसे अन्त-समयमें तो भगवान्के स्वरूपका चिन्तन अवश्य होगा ही, और गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं कि जो अन्त-समय मेरा चिन्तन करता हुआ जाता है वह निश्चय ही मुझको प्राप्त होता है, इसमें कोई भी संशय नहीं है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(८।५)

किन्तु खेदकी बात है कि हमलोग ईश्वरके भजनकी कीमत कौड़ियोंके जितनी भी नहीं करते। मान लीजिये, एक पुरुष सालभरमें आठ हजार एक सौ रुपये कमाता है, वह यदि रोजगार छोड़कर* भजन करे तो उसका भी वह भजन कौड़ियोंसे सस्ता पड़ता है।

वार्षिक ८१००) के हिसाबसे एक महीनेके ६७५), एक दिनके २२॥), एक घण्टेका ॥।≡) आने एवं एक मिनटका एक पैसा होता है। एक पैसेकी अधिक-से-अधिक साठ कौड़ी समझी जाय और ईश्वरका नाम-स्मरण एक मिनटमें कम-से-कम एक सौ बीस बार किया जाय यानी एक सेकण्डमें दो नाम लिये जायँ तो भी वह कौड़ियोंसे मन्दा पड़ता है। जब ८१००) सालाना कमानेवालेसे भजनकी परता कौड़ियोंसे मन्दी पड़ती है, फिर हजार-पाँच सौ रुपये सालाना कमानेवालेकी तो गिनती ही क्या है?

कञ्चन, कामिनी, मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाकी आसक्तिमें फँसकर जो लोग अपने अमूल्य समयको बिताते हैं, उनका वह समय और परिश्रम तो व्यर्थ जाता ही है, इसके अतिरिक्त उनकी आत्माका अधःपतन भी होता है।

धनकी आसक्तिमें फँसा हुआ लोभी मनुष्य अनेक प्रकारके अनर्थ करके धन कमाता है। धनके कमाने और उसकी रक्षा करनेमें बड़ा भारी क्लेश और परिश्रम होता है। उसके खर्च करनेमें भी कम दुःख नहीं होता और फिर धनको त्यागकर जानेके समय तो किसी-किसीको प्राण-वियोगसे भी बढ़कर दुःख होता है। जैसे निर्धन आदमी धन-उपार्जनकी चिन्ता करता है और ऋणी ऋण चुकानेके लिये व्याकुल रहता है वैसे ही धनी आदमी धनकी रक्षाके लिये व्याकुल रहता है।

वस्तुतः धन कमानेकी लालसा आत्माका अधःपतन करनेवाली है, इसी प्रकार स्त्री-सङ्गकी इच्छा उससे भी बढ़कर आत्माका पतन करती है। पर-स्त्रीगमनकी तो बात ही क्या है, वह तो अत्यन्त ही निन्दनीय और घोर नरकमें ले जानेवाला कर्म है, परन्तु अपनी विवाहिता स्त्रीका सहवास भी शास्त्र-विपरीत हो तो कम हानिकर नहीं है। आसक्तिके

* वास्तवमें रोजगारको स्वरूपसे छुड़ानेका हमारा अभिप्राय नहीं है, केवल भजनकी महिमा दिखानेके लिये लिखा गया है। उत्तम बात तो यह है कि मुख्य वृत्तिसे परमात्माको याद रखता हुआ गौणी वृत्तिसे व्यवहार करे।

कारण शास्त्र-विपरीत होना मामूली बात है। जब साधन करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषकी इन्द्रियाँ भी बलात्कारसे मनको विषयोंमें लगा देती हैं, तो फिर साधन-रहित विषयासक्त पामर मूर्खोंका तो पतन होना कौन बड़ी बात है ?

जैसे मूर्ख रोगी स्वादके वश हुआ कुपथ्य करके मर जाता है, वैसे ही कामी पुरुष स्त्रीका अनुचित सेवन करके अपना नाश कर डालता है। विलासिताकी बुद्धिसे स्त्रीका सेवन करनेसे कामोद्दीपन होता है और कामका वेग बढ़नेसे बुद्धिका नाश हो जाता है; कामसे मोहित हुआ नष्टबुद्धि पुरुष चाहे जैसा विपरीत आचरण कर बैठता है, जिससे उसका सर्वथा अधःपतन हो जाता है।

स्त्रीके सेवनसे बल, वीर्य, बुद्धि, तेज, उत्साह, स्मृति और सद्गुणोंका नाश हो जाता है, एवं शरीरमें अनेक प्रकारके रोगोंकी वृद्धि होकर मनुष्य मृत्युके समीप पहुँच जाता है; तथा इसलोकके सुख, कीर्ति और धर्मको खोकर नरकमें गिर पड़ता है। यही आत्माका पतन है, इसीलिये साधुजन कञ्चन और कामिनीका भीतर और बाहरसे सर्वथा त्याग कर देते हैं। वास्तवमें भीतरका त्याग ही असली त्याग है क्योंकि ममता, अभिमान और आसक्तिसे रहित हुआ मनुष्य न्याययुक्त कञ्चन और कामिनीके साथ सम्बन्ध रखनेपर भी त्यागी ही माना गया है।

मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाके जालमें तो अच्छे-अच्छे साधक भी फँस जाते हैं। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा साधनपथमें भी दूरतक मनुष्यका पिण्ड नहीं छोड़ती। आरम्भमें तो यह अमृतके तुल्य प्रतीत होती है परन्तु परिणाममें विषसे भी बढ़कर है। अज्ञानवशतः यह बहुत-से अच्छे-अच्छे पुरुषोंके चित्तको डाँवाडोल कर देती है।

साधक पुरुष भी मोहके कारण इसप्रकार मान लेते हैं कि मेरी पूजा और प्रतिष्ठा करनेवाले पवित्र होते हैं, इससे मेरी कुछ भी हानि नहीं। परन्तु ऐसा समझनेवालोंकी बुद्धि उन्हें धोखा देती है और वे मोह-जालमें फँसकर साधनपथसे गिर जाते हैं। बहुत-से मूढ़ पुरुष तो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छाके लिये ही ईश्वरभक्ति, सदाचार और लोक-सेवादि उत्तम कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं।

दूसरे जो जिज्ञासु अर्थात् अपनी आत्माके कल्याणके उद्देश्यसे ईश्वरभक्ति, सदाचार और लोक-सेवादि उत्तम कर्म करते हैं वे भी मान-बड़ाई, प्रतिष्ठाको पाकर फिसल जाते हैं और उनके ध्येयका परिवर्तन हो जाता है। ध्येयके बदल जानेसे मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये ही उनके सब काम होने लगते हैं और झूठ, कपट, दम्भ और घमण्डको उनके हृदयमें स्थान मिल जाता है, इससे उनका भी अधःपतन हो जाता है।

कुछ जो अच्छे साधक होते हैं, उनका ध्येय तो नहीं बदलता परन्तु स्वाभाविक ही मनको प्रिय लगनेके कारण मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाके जालमें फँसकर वे भी उत्तम मार्गसे रुक जाते हैं। आजकल जो साधु, महात्मा, भक्त और ज्ञानी माने जाते हैं उनमेंसे तो कोई बिरले ही ऐसे होंगे, जो इनके जालमें न फँसे हों।

पामर और विषयासक्त पुरुषोंको तो ये अमृतके तुल्य दीखते ही हैं किन्तु बुद्धिमान् साधक पुरुषको भी ये देखनेमें अमृतके तुल्य प्रतीत होते हैं। परन्तु बुद्धिमान् साधक तत्त्वज्ञानी और विरक्त पुरुषोंके संगके प्रतापसे विचार-बुद्धिके द्वारा परिणाममें विषके सदृश समझकर इनको नहीं चाहते।

इनमेंसे भी जो मुलाहिजेमें फँसकर या मनके धोखेसे स्वीकार कर लेते हैं, वे भी प्रायः गिर जाते हैं।

जो उच्च श्रेणीके साधक हैं और जिन्हें इन सबमें वास्तविक वैराग्य उत्पन्न हो गया है, उन विरक्त पुरुषोंकी इन सबमें प्रत्यक्ष घृणा हो जाती है। इसलिये वे इनसे उपराम हो जाते हैं। जैसे मद्य और मांस न खानेवालेके चित्तकी वृत्तियाँ मद्य-मांसकी ओर स्वाभाविक ही नहीं जातीं वैसे ही उन विरक्त पुरुषोंके चित्तकी वृत्तियाँ मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी ओर नहीं जातीं। बुद्धिमान् रोगी जैसे कुपथ्यसे डरते हैं वैसे ही वे उनके संसर्ग और सेवनसे (मृत्युके सदृश) डरते हैं। जहाँ मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा होती है वहाँ प्रथम तो प्रायः वे लोग जाते ही नहीं, यदि जाते हैं तो उन सबको स्वीकार नहीं करते। कोई बलात्कारसे मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा कर देता है तो उनके दिलमें वे सब खटकते हैं।

जो ज्ञानवान् हैं अर्थात् ईश्वरके तत्त्वज्ञानसे जिन्हें परम वैराग्य और परम उपरामता प्राप्त हो गयी है, उनके विषयमें तो कुछ लिखना बनता ही नहीं। वे तो समुद्रके सदृश गम्भीर, निर्भय और धीर होते हैं। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको तो वे चाहते ही नहीं, यदि बलात्कारसे कोई कर देते हैं तो वे इतने उपराम होते हैं कि श्रीशुकदेवजीकी भाँति वे उनकी परवा ही नहीं करते।

जब उनकी दृष्टिमें परमात्माके अतिरिक्त संसार ही नहीं है तो फिर राग, वैराग्य, मान, अपमान, निन्दा, स्तुतिको स्थान ही कहाँ है ? उन पुरुषोंको छोड़कर और कोई बिरला ही पुरुष होगा जो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको पाकर नहीं गिरता।

अतएव कञ्चन, कामिनी, मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाके मोहमें फँसकर अपने मनुष्य-जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ गवाँकर आत्माका पतन नहीं करना चाहिये।

मनुष्य-जीवनका एक-एक श्वास ऐसा अमूल्य है कि जिसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती, क्योंकि ईश्वरकृपाके प्रभावसे उत्तम देश, काल और सत्संगको पाकर यह मनुष्य एक क्षणमें भी परमपदको प्राप्त हो सकता है। किसी कविने भी कहा है—

ऐसे महँगे मोलका एक स्वास जो जाय।
तीन लोक नहीं पटतरे काहे धूरि मिलाय॥

मनुष्यके जीवनका समय बहुत ही अनमोल है। एक-एक श्वासपर सौ-सौ रुपये खर्च करनेसे भी एक श्वासका समय नहीं बढ़ सकता। रुपये खर्च करनेसे समय मिल जाता तो राजा-महाराजा कोई नहीं मरते।

पैसोंहीसे नहीं, रत्नोंके मोलपर भी मनुष्य-जीवनका समय हमको नहीं मिल सकता। इसलिये ऐसे अमूल्य समयको जो व्यर्थ खोयेगा, उसको अवश्य ही पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस क्षणभङ्गुर परिवर्तनशील संसारके सभी पदार्थ जीर्ण और नाशको प्राप्त होते हुए क्षण-क्षणमें हमलोगोंको चेतावनी दे रहे हैं, परन्तु हमलोग नहीं चेतते।

प्रति सेकेण्ड टिक-टिक करती हुई घड़ी हमें समय बतलाती है परन्तु हम ध्यान नहीं देते। हमारे शरीरके नख, रोम और अवस्थाओंका परिवर्तन, इन्द्रियोंका ह्रास तथा बीमारियोंकी उत्पत्ति हमको समय-समयपर मौतकी याद दिलाती है तो भी हम सावधान नहीं होते। इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य होगा ?

हमलोग मायारूपी मदिराको पीकर ऐसे मोहित हो गये हैं कि उसका नशा कभी उतरता ही नहीं। सन्त कवियोंने भी हमें कम चेतावनी नहीं दी है परन्तु हम किसीकी परवा ही नहीं करते, फिर हमारा कल्याण कैसे हो ?

नारायण स्वामी कहते हैं—

दो बातनको भूल मत जो चाहत कल्यान।
नारायण एक मौतको दूजे श्रीभगवान॥

श्रीकबीरदासजीके वचन तो चेतावनीसे भरे हुए हैं—

कबीर नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली बहुरि न देखो आय॥
आजकाल की पाँच दिन जंगल होगा बास।
ऊपर ऊपर हल फिरैं ढोर चरैंगे घास॥
मरहुगे मरि जाओगे कोई न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसाओगे छाँड़ि बसंता गाम॥
हाड़ जलै ज्यों लाकड़ी केस जलै ज्यों घास।
सब जग जलता देखकर भया कबीर उदास॥
कबीर सूता क्या करे जागो जपो मुरार।
एक दिन ऐसे सोउगे लंबे पैर पसार॥

जब कबीर-सदृश सन्तकी चेतावनी सुनकर भी हमारी निद्रा भंग नहीं होती तो दूसरोंकी तो हम सुनें ही क्या?

कर्तव्यको भूलकर भोग, प्रमाद, आलस्य और सांसारिक स्वार्थ-सिद्धिमें मोहित होकर तल्लीन हो जाना ही निद्रा है।

चराचर भूतप्राणी ईश्वरका अंश होनेके कारण ईश्वरका स्वरूप ही है। इसप्रकार समझकर उनके हितमें रत होकर उनकी सेवा करना और सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्माके तत्त्वको जानकर उनको कभी नहीं भूलना, यही जागना है।

श्रुति भी इसी बातको लक्ष्य कराती हुई डंकेकी चोट हमें जगा रही है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहा वेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

यदि इस मनुष्य-शरीरमें उस परमात्म-तत्त्वको जान लिया जायगा तो सत्य है यानी उत्तम है और यदि इस जन्ममें उसको नहीं जाना तो महान् हानि है। धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तनकर परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृतको प्राप्त होते हैं अर्थात् इस देहसे प्राणोंके निकल जानेपर वे अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

उठो, जागो और महापुरुषोंके समीप जाकर तत्त्वज्ञानके रहस्यको समझो।

ऐसे चेतानेपर भी हमलोग नहीं चेतेंगे तो फिर हमलोगोंका उसी दशाको प्राप्त होना युक्तियुक्त है जैसा कि तुलसीदासजीने कहा है—

जो न तरे भवसागरहि नर समाज अस पाय।
सो कृतनिन्दक मन्दमति आतमहनि गति जाय॥

भजनमें एक बड़ी बाधा

यद्यपि भगवान्पर विश्वास करके उनके अनन्य शरण हो जानेपर मनुष्यके सारे दोष अपने-आप समूल नष्ट हो जाते हैं और उसके समस्त योगक्षेमका वहन भगवान् स्वयं करते हैं, परन्तु ऐसी स्थिति बहुत सहज नहीं है। सच्चे साधनके फलसे नित्य भगवत्कृपाका अनुभव होनेपर ही भगवान्में पूर्ण और अलौकिक विश्वास पैदा होता है और तभी मनुष्य अपने समस्त बल, लोक-परलोक और भोग-मोक्ष सब प्रभुके चरणोंपर अर्पण करके उनके अनन्य शरण होता है। क्षणविश्वासी या अल्पविश्वासी साधारण लोग इस अवस्थासे बहुत दूर रहते हैं। वे भगवान्के गुण और माहात्म्यको सुनकर कभी-कभी विश्वासकी ओर कुछ झुकते हैं, परन्तु पर्याप्त आगे बढ़नेसे पहले ही कई प्रकारकी बाधाएँ प्राप्तकर रुक जाते हैं। इन बाधाओंमें कुछ तो पूर्वकर्मोंके प्रतिबन्धक होते हैं और कुछ वर्तमान कालके संग, स्थिति आदिके कारण उत्पन्न हुई रुकावटें होती हैं। ये बाधाएँ अनेक हैं, परन्तु इस समय साधारणतः उनमेंसे धनकी चिन्ता एक प्रधान बाधा है। धनकी चिन्ताका कारण उदरपूर्ति या परिवार-पालन ही कहा जाता है

परन्तु वास्तवमें मूलकारण दूसरा है,—वह है हमारी कामभोगपरायणता । विषयोंके उपभोगको ही परम पुरुषार्थ और परम आनन्द माननेवाले मनुष्योंकी चिन्ताएँ मृत्युकालतक भी दूर नहीं होतीं । क्योंकि ऐसे लोग अपनी स्थितिके अनुकूल साधारण सादा जीवन बिताना भूल जाते हैं । फलस्वरूप उन्हें रात-दिन धनकी इतनी चिन्ता करनी पड़ती है कि उसके सामने भगवान् और धर्मका चिन्तन या विचार तुच्छ, अनावश्यक और कभी-कभी त्याज्य हो जाता है और वे सब कुछ भूल कामक्रोधपरायण होकर अन्यायपूर्वक धनसंग्रहके कार्यमें लग जाते हैं । यों करते-करते ही उनके जीवनके दिन पूरे हो जाते हैं । बहुमूल्य मनुष्य-जीवन पाप-ताप बटोरनेमें ही व्यर्थ बीत जाता है । यह इतनी बड़ी हानि होती है, जिसकी बड़ी कठिनतासे भी पूर्ति नहीं होती और समय हाथसे निकल जानेपर पीछे बेहद पछताना पड़ता है।

मनुष्य यदि चाहे तो प्रारब्ध या सञ्चित-जनित प्रतिबन्धकोंको भी दूर कर सकता है। पर वर्तमान कालके संग और स्थितिसे उपजी हुई बाधाओंको तो मिटानेमें कोई सन्देह ही नहीं है । यदि वह संगको बदल डाले और हृदयमें कुछ बल सञ्चय करके कुसंग और दुर्बलतावश होनेवाले प्रमाद और अकर्तव्य कार्योंको छोड़ दे तो ये बाधाएँ सहज ही दूर हो सकती हैं । वास्तवमें हमें अपने और परिवारके लिये साधारणतः अन्न-वस्त्र संग्रह करनेमें उतनी कठिनता नहीं है । कठिनता तो यह है कि हमने अपनी आवश्यकताएँ बहुत अधिक बढ़ा ली हैं और उनकी किसी-न-किसी प्रकार पूर्ति करनेमें ही कर्तव्यकी इतिश्री समझ रक्खी है । यदि हम ध्यान देकर देखें तो व्यक्तिगत और समाजगत ऐसे हजारों अवसर हैं, जिनमें हम बहुत धन खर्च किया करते हैं परन्तु जहाँ बिना खर्च किये ही काम मजेमें चल सकता है, ऐसे अवसरोंपर खर्च करनेकी आवश्यकता हमने उत्पन्न कर ली है, वस्तुतः है नहीं । खाने-पहनने तथा गृहस्थीके दूसरे-दूसरे कार्योंके लिये हम ऐसी बहुत-सी चीजें खरीदते हैं जिनके न खरीदनेसे हमें अपने जीवनयापनमें कोई रुकावट नहीं होती । उदाहरणके लिये, मनुष्यका दो कपड़ोंमें काम चल सकता है पर वह चार-पाँच पहनता है, खानेमें मिठाई अथवा बहुत तरहकी तरकारी, अचार आदिके बिना कोई अड़चन नहीं होती परन्तु इनमें बहुत व्यय किया जाता है ! छोटे साफ मकानमें रहा जा सकता है परन्तु दिखावेके लिये बड़ी-बड़ी इमारतें बनवायी जाती हैं । शाल-दुशाले, इत्र-फुलेल, साबुन-क्रीम, फरनीचर आदि हजारों प्रकारके शौकके सामानमें पानीकी ज्यों पैसा बरबाद किया जाता है । यह तो व्यक्तिगत बात हुई । समाजमें व्याह-शादी, कर्णछेदन, जनेऊ, मरण आदि पर इतना बुरी तरह खर्च किया जाता है कि जिसका दुःख पीढ़ियोंतक भोगना पड़ता है । सैकड़ों अच्छे-अच्छे घराने इस व्यय-भारसे दबकर नष्ट हो गये और होते जा रहे हैं । इधर वर्षोंसे खर्च घटानेकी तथा रीतियोंमें सुधारकी बात चल रही है और अनेक प्रकारके परिवर्तन भी हुए हैं परन्तु खर्चकी रकम घटनेके बदले बढ़ी है । खर्चके तरीके बदले हैं, खर्च नहीं घटा । बल्कि पहले जो कुछ खर्च किया जाता था, वह प्रायः ऐसी चीजोंमें खर्च होता था जो चीजें बुरे समयपर काम आती थीं और उनकी लागतसे कुछ कम कीमत, चाहे जब बेंचकर, वसूल की जा सकती थी परन्तु अब तो जो कुछ खर्च होता है वह प्रायः स्वाहा ही हो जाता है। फैशनने सबको तबाह कर दिया है । इस सारे अनर्थका कारण हमारी कामभोग-परायणताकी वृद्धि है और इसके छूटनेका असली उपाय विषय-वैराग्य-पूर्वक ईश्वरपरायणता ही है । उस ईश्वरपरायणतामें भजनकी आवश्यकता है । और भजन होनेमें यह धनकी 'हाय-हाय' बाधक हो रही है । अतएव अपना, समाजका और देशका लौकिक, पारलौकिक हित चाहनेवाले प्रत्येक मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह खर्च घटावे, जीवनमें सब ओर सादगीका व्यवहार करे, व्यक्तिगत और समाजगत धनकी फजूलखर्चीको दृढ़ता और

बलके साथ नासमझीसे होनेवाली बदनामीको सहकर भी रोके। विवाह-शादीमें तो जो अनर्थ हो रहा है सो बड़ा ही रोमाञ्चकारी है। खर्चकी भयानकताके कारण लड़कियोंका ब्याह नहीं होने पाता और अच्छे-अच्छे परिवार इसके लिये दुखी हो रहे हैं। इसीके कारण प्रायः लड़के-लड़कियोंमें जन्मकालसे ही भेद-दृष्टि हो जाती है। जिसके कई लड़कियाँ हैं उसका तो जीवन ही दुःखमय बन रहा है। ऐसी स्थितिमें प्रत्येक हृदयवान् गृहस्थको इस विषयपर विचार करके कर्तव्य स्थिर करना चाहिये। कन्याके माता-पिता क्या करें, उन्हें तो किसी प्रकार खेत-जमीन, घर-द्वार बन्धक रखकर वरके माता-पिताको राजी करना ही पड़ता है। परन्तु वह हृदयका रक्त दिया जाता है, दहेज नहीं। मेरे मित्र एक सरयूपारी ब्राह्मण हैं, उनके घरमें कई कन्याएँ हैं, एक कन्या विवाहयोग्य है। उसकी उम्र लगभग १५ सालकी हो गयी है, कन्या सुशीला है, बहुत अच्छे ब्राह्मण हैं, परन्तु दहेजके अभावमें विवाह नहीं हो पाता। वे बड़े दुखी हो रहे हैं। हजार डेढ़ हजारसे कममें तो कोई बात ही नहीं करता। यू० पी० के एक सज्जनका पत्र मिला है। वे पहले वकील थे। उनके एक कन्या है। वे लिखते हैं— 'कन्या विवाह-योग्य हो गयी है, परन्तु दहेजका प्रश्न सामने है। मैट्रिकपास बालकके पिता तो मोटर बिना बात नहीं करते।' यह पाप है। मैं 'कल्याण'के हृदयवान् उन पाठक-पाठिकाओंसे एक विनय करता हूँ, जो घरमें सम्पन्न हैं और जो परमार्थके मार्गपर आगे बढ़ना चाहते हैं कि वे अपनी व्यक्तिगत और समाजगत आवश्यकताओंको तुरन्त कम कर दें और अपने लड़कोंका विवाह ढूँढ़-ढूँढ़कर बिना दहेज लिये गरीब माता-पिताकी सुयोग्य कन्याओंसे करनेकी प्रतिज्ञा करें। धर्मप्रेमी अविवाहित युवक भी प्रण करें कि वे अपना विवाह बिना दहेज लिये ही करेंगे। मेरा विश्वास है कि ऐसा करनेसे उन्हें परमार्थ-मार्गमें बड़ा लाभ होगा।

यह सामाजिक विषय होनेके कारण 'कल्याण'में इस सम्बन्धमें कुछ लिखना अनुचित समझा जा सकता है परन्तु यह निवेदन सामाजिक दृष्टिसे नहीं, शुद्ध परमार्थ-दृष्टिसे किया गया है और इसी दृष्टिसे 'कल्याण'के पाठकोंसे प्रतिज्ञा करनेकी प्रार्थना की गयी है। क्योंकि यह विषय भजनमें बड़ा ही बाधक सिद्ध हो रहा है और इस बाधाके दूर होनेकी बड़ी ही आवश्यकता है। क्या मैं आशा करूँ कि कल्याणके हजारों पाठकों-मेंसे कुछ तो ऐसी प्रतिज्ञा कर ही लेंगे?

वस्तुतः धन अत्यन्त ही तुच्छ पदार्थ है, प्रेमघन परमात्मारूपी धनकी तुलनामें तो यह रक्खा ही नहीं जा सकता। सूर्य और जुगुनूकी उपमा भी इसके लिये पर्याप्त नहीं है। इसलिये इस विषयमें वृत्तियोंके अधिक लगानेकी आवश्यकता नहीं है, तथापि आज इस जड-युगमें चारों ओर धनकी पूजा हो रही है और लोग धन-चिन्तामें पड़े हुए ईश्वरको भूल रहे हैं। इसीसे ऐसा लिखा गया है। धन कम खर्च करनेकी इस प्रार्थनासे यह नहीं समझना चाहिये कि इसमें धनका महत्व बतलाया गया है, वरं यह समझना चाहिये कि धन अत्यन्त तुच्छ पदार्थ है, व्यर्थ खर्चकर उसके उपार्जनमें समय लगाकर उसका महत्व बढ़ाना उचित नहीं! हम अपनी आवश्यकताओंको जितना कम करेंगे, उतना ही धनका महत्व घटेगा और उतना ही शीघ्र हम पाप-तापसे छूटकर परमात्माकी ओर अग्रसर हो सकेंगे। आवश्यकता ही धनकी लालसा उत्पन्नकर हमें दरवाजे-दरवाजेपर भटकाती और भगवान्से विमुख करती है। जिस दिन चाह मिट जायगी उस दिन हम बादशाह बन जायँगे।

चाह गई चिन्ता गई मनुआँ बेपरवाह।
जिसको कछू न चाहिये सो जग शाहन्शाह॥

हनुमानप्रसाद पोद्दार

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

बृहदारण्यक उपनिषद्

विराट् भगवान्–मैं सर्वत्र व्यापक हूँ, मेरे सिवा दूसरा कोई नहीं है, मेरा शरीर किसी भी भोगको भोग नहीं सकता। इसलिये अपने भोगके अर्थ इस बड़े शरीरसे कोई दूसरा छोटा शरीर उत्पन्न करूँ, जिससे मेरे शरीरको विषय-सुख प्राप्त हो।

ऐसा विचारकर विराट् भगवान्ने सीपीके सम्पुटके समान आधा शरीर स्त्रीरूप और आधा शरीर पुरुषरूप बनाया। विराट् भगवान्से उत्पन्न हुआ स्त्री-पुरुषरूप शरीर कारण-अज्ञानसे घड़ा हुआ है इसलिये वह शरीर मायाविशिष्ट ईश्वररूप है, वही शरीर अन्तःकरणादि सूक्ष्म पदार्थोंसे घड़ा हुआ है इसलिये हिरण्यगर्भरूप है और वही शरीर स्थूल भौतिक पदार्थोंसे रचा हुआ है इसलिये विराट्स्वरूप है। जैसे स्त्री-पुरुषात्मक समष्टि शरीर ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट्स्वरूप है, इसी प्रकार इस लोकमें स्त्री, पुरुष, नपुंसक तथा स्थावर-जङ्गमादि जितने शरीर हैं, वे सब ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट्स्वरूप हैं क्योंकि प्राणियोंके समष्टि स्थूल शरीरके अभिमानी विराट् भगवान् हैं, इसलिये सब प्राणियोंके साथ उनका तादात्म्य-सम्बन्ध है। सब प्राणियोंके समष्टि सूक्ष्म शरीरके अभिमानी हिरण्यगर्भ हैं इसलिये सर्व प्राणियोंके साथ हिरण्यगर्भका तादात्म्य-सम्बन्ध है। और सब प्राणियोंके समष्टि कारण-शरीरका अभिमानी ईश्वर है इसलिये ईश्वरका भी सब प्राणियोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, उनमें माया कारण है, अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत और उनके कार्य अन्तःकरणादि सूक्ष्म हैं और पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत और उनके कार्य शरीरादि स्थूल हैं, इसप्रकार सब प्राणी स्थूल, सूक्ष्म और कारणस्वरूप हैं, इसलिये सब प्राणियोंके शरीरोंके साथ विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वरका तादात्म्य-सम्बन्ध है। हे इन्द्र ! विराट् भगवान्से उत्पन्न हुए स्त्री-पुरुषात्मक शरीरोंसे ही मनुष्यादि सब उत्पन्न हुए हैं।

हे इन्द्र ! विराट्का शरीर व्यष्टिमें नहीं गिना जाता, समष्टिमें गिना जाता है। स्त्री-पुरुषके शरीरको उत्पन्न हुआ देखकर विराट् भगवान्ने सीपीके सम्पुटके समान उनके दो भाग किये। उनमेंसे एक भाग स्त्रीरूप और दूसरा भाग पुरुषरूप हुआ। स्त्री-भागको शास्त्रमें 'शतरूपा' और पुरुष-भागको 'स्वयम्भु मनु' कहा है। शतरूपा और मनु भगवान्से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई। इसप्रकार जब विराट् भगवान्ने शतरूपा नामकी स्त्री और मनु नामक पुरुषको उत्पन्न किया तब मनु भगवान् कामातुर हुए। मनु भगवान्को कामातुर देखकर शतरूपा अपने मनमें इसप्रकार विचार करने लगी—

शतरूपा–(मनमें) विराट् भगवान्से मेरी और मनुकी उत्पत्ति हुई है। इसलिये मनु मेरा भाई है तब व्यभिचारिणी स्त्रीके समान मैं मनुके साथ किसप्रकार समागम करूँ ? मनुके साथ विषय-सम्बन्ध करना मुझे योग्य नहीं है। कामसे मोहित हुआ मनु स्वर्ग-प्राप्तिके साधनरूप धर्मको और नरकके कारणरूप अधर्मको नहीं जानता, मैं तो स्वर्ग तथा नरक-प्राप्तिके साधनरूप धर्म-अधर्मको जानती हूँ, इसलिये मुझे निन्दित कर्ममें प्रवृत्त होना उचित

नहीं है। (यद्यपि स्त्रीमें पुरुषकी अपेक्षा काम अधिक है तो भी इस लोकमें कामसे आतुर हुआ पुरुष धर्म-मर्यादाका जितना उल्लंघन करता है, कामातुरा स्त्री उतना उल्लंघन नहीं करती। पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीमें धैर्य अधिक है इसलिये स्त्रियाँ कदापि मर्यादाका उल्लंघन नहीं करतीं। अत्याचारके लिये पुरुष ही दोषी है!) इस समय मनु कामातुर है, इसलिये यदि मैं उसको इस समय धर्मका उपदेश करूँगी तो वह माननेवाला नहीं है, क्योंकि कामातुर पुरुषको गुरु अथवा स्वामी भी नहीं समझा सकते तो फिर मेरे वचनोंको तो मनु क्यों मानने लगा? मैं अपने स्त्री-रूपको त्यागकर दूसरा रूप धारण करके अन्तर्धान हो जाऊँ। मनुको अधर्मसे निवारण करनेका यह उपाय है। लोकमें समान जातिवाले स्त्री-पुरुषोंमें काम-भावना दिखायी देती है, अपनेसे विलक्षण जातिमें काम-भावना नहीं होती। जैसे मनुष्यको मनुष्य-जातिकी स्त्रीमें ही काम-भावना होती है, पशु-जातिकी स्त्रीमें काम-भावना उत्पन्न नहीं होती।

ऐसा विचारकर भगवती शतरूपाने स्त्री-रूपको त्यागकर गायका रूप धारण कर लिया। शतरूपाको गायरूप धारण किया हुआ देखकर मनुने वृषभका रूप धारण कर लिया। उसी गाय और वृषभसे सर्व गौवें और बैल उत्पन्न हुए। पश्चात् शतरूपाने गायका रूप बदलकर घोड़ीका रूप धारण कर लिया। तब मनुने वृषभका रूप त्यागकर घोड़ेका रूप धारण कर लिया। उनसे सब घोड़ा-घोड़ी हुए। इसप्रकार जिस-जिस जातिवाले स्त्रीके रूपको शतरूपा धारण करती गयी, उसी-उसी जातिके पुरुषरूपको मनु धारण करते गये और उनसे उन सब जातिके स्त्री तथा पुरुष-शरीर उत्पन्न हुए। इसप्रकार मनु-शतरूपा-से स्त्री-पुरुषरूप स्थावर-जंगम प्राणी उत्पन्न हुए, यों परमात्माने दो पैरवाले मनुष्यादि, चार पैरवाले अश्वादि और पगसे रहित सर्पादि सब प्राणी उत्पन्न किये।

जगत्में परमात्माका प्रवेश

हे देवराज इन्द्र! समष्टि अज्ञानरूप उपाधिमें प्रविष्ट होकर परमात्मा जगत्का कर्ता ईश्वर कहलाता है, समष्टि सूक्ष्म उपाधिमें प्रविष्ट होकर हिरण्यगर्भ कहलाता है और वही परमात्मा स्थूल उपाधिमें प्रवेश करनेसे विराट् कहलाता है। भाव यह है कि परमात्मा शरीररूपी समस्त पुरियोंमें प्रवेश करता है। जैसे महाकाश मठरूप उपाधिमें प्रवेश करनेसे मठाकाश कहलाता है और घटरूप उपाधिमें प्रवेश करनेसे घटाकाश कहलाता है इसी प्रकार परमात्मा समष्टि अज्ञानरूप उपाधिमें प्रविष्ट होकर ईश्वर कहलाता है, समष्टि सूक्ष्म उपाधिमें प्रविष्ट होनेसे हिरण्यगर्भ कहलाता है, और समष्टि स्थूल उपाधिमें प्रविष्ट होनेसे विराट् कहलाता है। और जब वही परमात्मा अपने चैतन्य-स्वरूपसे सर्व प्राणियोंके शरीरोंमें पगसे लेकर मस्तकतक प्रवेश करता है तब जीव-संज्ञाको प्राप्त होता है। जब अन्नादि पदार्थ घरमें लाये जाते हैं तब घरके साथ उन पदार्थोंका सम्बन्ध हुआ कहा जाता है। अन्नादिका जैसे घरमें प्रवेश होता है, इस प्रकारका परमात्माका प्रवेश जीवोंमें नहीं है। अज्ञानादि उपाधियोंमें स्थित जो परमात्माका स्फुरण है, वही परमात्माका प्रवेश है। इस प्रवेशका नाम शास्त्रमें आभास अथवा अवच्छेद है। जैसे सर्वत्र व्यापक आकाशको भ्रान्तिवाले पुरुष घटमें रहा हुआ मानते हैं वस्तुतः वह आकाश घटमें नहीं रहता। इसी प्रकार सब जगत्के अधिष्ठानस्वरूप परमात्माको विचारहीन पुरुष शरीरमें रहा हुआ मानते हैं परन्तु परमार्थसे वह शरीरादिके आश्रय रहा हुआ नहीं होता किन्तु शरीरादि जड़ पदार्थ उसके आश्रयमें रहते हैं। जैसे घटकी उत्पत्तिके पहले आकाश सर्वत्र विद्यमान है तो भी घट होनेके बाद आकाश उसमें प्रविष्ट होता है इसी प्रकार शरीरकी उत्पत्तिके पहले यद्यपि आत्मा सर्वत्र विद्यमान है तो भी

शरीर होनेपर शरीरमें उसका प्रवेश होता है। जैसे सूर्यका प्रकाश सब पदार्थोंपर समान पड़ता है तो भी सूर्यकान्तमणिद्वारा वह दाहक होता है परन्तु घटादि पदार्थोंद्वारा दाहादि कार्य नहीं करता, इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र व्यापक है तो भी उसकी हृदयमें विशेषरूपसे उपलब्धि होती है। शास्त्रमें आत्माको हृदयस्थ कहा है। जैसे नाईकी औज़ार रखनेकी पेटीमें किसी एक स्थानमें ही अस्तुरे-रूप शस्त्रकी जल्दी उपलब्धि होती है, इसी प्रकार सम्पूर्ण शरीरमेंसे एक हृदय-देशमें ही आत्माकी जल्दी उपलब्धि होती है। जैसे अग्नि सामान्यरूपसे सब पदार्थोंमें रहता है किन्तु काष्ठमें ही उसकी सहज उपलब्धि होती है। इसी प्रकार सामान्यरूपसे परमात्मा सर्वत्र व्यापक है तो भी शरीरोंमें ही विशेषरूपसे उसकी उपलब्धि होती है। जैसे स्वरूप-से अग्निमें न्यूनता अथवा अधिकता नहीं है तो भी काष्ठरूप उपाधिकी न्यूनता अथवा अधिकता अग्निमें दिखायी देती है। इसी प्रकार आनन्द-स्वरूप आत्मामें यद्यपि वस्तुतः न्यूनता अथवा अधिकता नहीं है तो भी शरीरोंकी उपाधिसे उसमें न्यूनता अथवा अधिकता जाननेमें आती है।

इन्द्र-हे भगवन् ! यदि आत्मा विशेषरूपसे सर्व शरीरोंमें स्थित है तो सबको आत्माका साक्षात्-कार क्यों नहीं होता ?

दध्यङ-हे इन्द्र ! जैसे अग्नि सब काष्ठोंमें रहता है तो भी किसी-किसी काष्ठके मन्थन करनेसे उत्पन्न हो आता है, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा यद्यपि सब शरीरोंमें स्थित है तो भी श्रवणादि साधनोंसे किसी-किसी शरीरमें उसका साक्षात्कार होता है, अर्थात् वेदान्त-शास्त्रके श्रवण किये बिना अस्ति, भातिरूपसे तो सब जीवोंको आत्माका ज्ञान होता है किन्तु परिपूर्ण आनन्दस्वरूप और अद्वितीयरूपसे आत्माका ज्ञान सबको नहीं होता। श्रवणादि साधनोंसे ही अद्वितीय आत्माका साक्षात्-कार होता है। जैसे काष्ठरूप उपाधिके भेदसे अग्नि महान् तथा अल्पभावको प्राप्त होता है, वस्तुतः अग्निमें महानता अथवा अल्पता नहीं है, इसी प्रकार एक ही अद्वितीय परमात्मा अन्तःकरणादि उपाधियों-के भेदसे अनेक प्रकारके भावोंको प्राप्त होता है, वस्तुतः तो वह एकस्वरूप ही है। जैसे एक ही अग्नि-का प्रकाश काष्ठरूपी उपाधिके भेदसे अनेक प्रकार-का हो जाता है, इसी प्रकार परमात्मा अन्तःकरणादि उपाधियोंके भेदसे अनेक प्रकारका हो जाता है। जैसे रात्रिके समय सूक्ष्मरूपसे सूर्यका प्रकाश विद्य-मान है तो भी अन्धकारसे पराजयको प्राप्त सूर्यका प्रकाश किसी पदार्थको विशेषरूपसे प्रकाश नहीं करता, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा यद्यपि सर्वत्र विद्यमान है, तो भी अज्ञानसे ढका हुआ होने-से वह किसीको विशेषरूपसे प्रकाश नहीं देता।

इन्द्र-हे भगवन् ! प्रकाशस्वरूप आत्मामें अज्ञान-कृत आवरण कैसे हो सकता है ?

दध्यङ-हे इन्द्र ! जैसे दिनमें अन्धकार सूर्यके आश्रय रहता है और रात्रिमें सूर्यको ढक देता है इसी प्रकार अज्ञान आत्माके आश्रय रहता है और उसीको आच्छादन भी करता है इसीलिये अज्ञानको शास्त्रमें स्वाश्रय-स्वविषयरूप कहा है अर्थात् जैसे अन्धकार जिस घरके आश्रय रहता है, उसी घरको आच्छादन करता है, इसी प्रकार अज्ञानरूपी अन्धकार शुद्ध आत्माके आश्रय रहता है और उसी-को आच्छादन करता है।

जगत्का अध्यारोपापवाद

हे देवराज इन्द्र ! जैसे धूपमें और सूर्यनारायण-में एक-सा ही प्रकाश है तो भी सूर्यनारायण पूर्ण प्रकाशस्वरूप हैं परन्तु धूप पूर्ण प्रकाशस्वरूप नहीं, किन्तु परिच्छिन्न प्रकाशरूप है, उसी प्रकार वागादि इन्द्रियोंमें जो आत्माका प्रकाश है, वह परिपूर्ण प्रकाश नहीं, किन्तु परिच्छिन्न प्रकाश है और आनन्दस्वरूप आत्मा पूर्ण प्रकाशस्वरूप है। यद्यपि

यह आनन्दस्वरूप आत्मा एक-एक वागादि इन्द्रियों-में व्यापक होनेसे परिपूर्ण है तो भी 'मैं वाक् हूँ', 'मैं श्रोत्र हूँ' इसप्रकार विपरीत ज्ञानके विषयवाला आत्मा परिच्छिन्नके समान प्रतीत होता है। परिपूर्ण आत्मामें परिच्छिन्न दृष्टि होना ही जन्म-मरणरूप संसारका कारण है। इसलिये विद्वान् पुरुष आत्माको परिच्छिन्नरूपसे नहीं देखते, किन्तु सवत्र परिपूणरूपसे देखते हैं। जैसे देवदत्त नामक कोई पुरुष जब रसोई करता है तो लोग उसे रसोइया कहने हैं और जब वही पाठ करता है तो लोग उसे पाठक कहते हैं। इसप्रकार पाकरूप क्रियाके ग्रहण करनेसे देवदत्तमें रसोइया शब्दकी प्रवृत्ति होती है और पाठरूप क्रियासे पाठक शब्दकी प्रवृत्ति होती है। पाकरूप क्रिया और पाठरूप क्रिया-से रहित देवदत्तके स्वरूपमें पाचक अथवा पाठक नाम-की प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये पाचक और पाठक नाम देवदत्तमें परिच्छिन्नता दिखलाते हैं, परिपूर्णता नहीं दिखलाते, इसी प्रकार वागादि नाम भी किसी निमित्त-कारणसे आत्मामें प्रवृत्त होते हैं, स्वरूपसे शुद्ध आत्मामें किसी नामकी प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये वागादि सर्व नाम आत्माकी परिच्छिन्नता-के बोधक हैं।

हे इन्द्र ! जब आनन्दस्वरूप आत्मा शब्दका उच्चारणरूप व्यापार करता है, तब वाक् कहलाता है, जब घट-पटादि पदार्थोंको ग्रहण करता है तब हस्त कहलाता है, जब मलादिके परित्यागद्वारा प्राणियोंका परिपालन करता है, तब पायु कहलाता है, जब प्राणियोंके आनन्दको उत्पन्न करता है, तब शिश्न कहलाता है और जब आत्मा प्राणियोंके सुख-दुःखके भोगके निमित्त गमन करता है तब पैर कहलाता है। इसप्रकार वागादि कर्मेन्द्रियोंके साथ तादात्म्य अध्यासको प्राप्त होनेसे आत्मामें वागादि शब्दोंकी प्रवृत्ति होती है। जब आत्मा गन्धको ग्रहण करता है तब घ्राण कहलाता है। जब देखता है तब चक्षु कहलाता है। जब सुनता है तब श्रोत्र कहलाता है। जब मधुरादि षट् रसोंको चखता है तब रसन कहलाता है और जब शीतोष्ण-स्पर्श-का अनुभव करता है तब त्वचा कहलाता है। इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा शरीरमें घूमनेसे प्राण कहलाता है। सर्व जगत्‌की कल्पना करनेसे मन कहलाता है। गर्भके समान सर्व जगत्‌को वासना-रूपसे अपने स्वरूपमें धारण करनेसे धी कहलाता है। अनुसन्धानरूप वृत्तिको प्रकाश करनेसे चित्त कहलाता है और 'मैं' इसप्रकारके अभिमानसे सर्व प्राणीमात्रका बोधक होनेसे आत्मा कहलाता है। 'मैं' शब्द सर्व प्राणियोंके आत्माका बोधक और वाचक है। वागादि जितने नाम ऊपर कहे हैं और देव, मनुष्य, असुर इत्यादि लोकमें जितने नाम हैं, वे सब भिन्न-भिन्न रूपसे आत्माके ही बोधक हैं। वागादि शब्दोंका अर्थ जो आत्मा है, विद्वान् पुरुषके लिये उसको जानना उचित नहीं है किन्तु परिपूर्ण आत्माको जानना चाहिये। जैसे जलरूप उपाधिके भेदसे एक ही सूर्य अनेक प्रकारका दीखता है इसी प्रकार एक ही आनन्दस्वरूप आत्मा भिन्न-भिन्न उपाधियोंके सम्बन्धसे वागादि अनेक प्रकारका प्रतीत होता है और उपाधिके नाश होनेपर तो आत्मा ही आत्मारूपसे एकत्वको प्राप्त होता है, परिपूर्ण आत्मा ही वस्तुतः जाननेयोग्य है। जैसे एक ही महाकाशका घटाकाश, मठाकाश, गृहाकाश इत्यादि विशेष रूपोंसे सम्बन्ध है इसी प्रकार एक ही आनन्दस्वरूप आत्माका वागादि सर्वविशेष रूपोंसे सम्बन्ध है परन्तु आत्मा सजातीय, विजातीय और स्वगत इन तीनों भेदोंसे रहित है, क्योंकि सर्व जीवोंमें आनन्दस्वरूप आत्मा 'मैं' इस शब्दका और 'मैं' इस ज्ञानका विषयरूप जाननेमें आता है इस-लिये शक्ति-वृत्तिसे परिपूर्ण अर्थको जतानेवाला जो 'आत्म' शब्द है और लक्षणा-वृत्तिसे परिपूर्ण अर्थको जतानेवाला जो 'मैं' शब्द है, इन दोनों शब्दोंसे ही बुद्धिमान् पुरुष आत्माको परिपूर्ण जानते हैं।

इन्द्र—हे भगवन् ! जैसे प्रत्येक पुरुष अपने शरीरमें 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं स्थूल हूँ' इसप्रकार 'मैं' शब्दका प्रयोग करता है, उसमें वक्ता पुरुषके भेदसे और 'मैं' शब्दके भेदसे 'अहं' शब्दके अर्थरूप शरीर-का भेद जाननेमें आता है । इसी प्रकार 'मैं' शब्दका और 'आत्मा' शब्दका वक्ता पुरुषके भेदसे और 'अहं' शब्द तथा 'आत्म' शब्दके भेदसे 'अहं' शब्द और 'आत्मा' शब्दके अर्थरूप आत्माका भी भेद हो जायगा ।

दध्यङ—हे इन्द्र ! वक्ताके भेदसे और शब्द-प्रयोग-के भेदसे सर्वत्र पदार्थका भेद नहीं होता, जैसे एक मनुष्य घड़ेको घट कहता है और दूसरा कलश कहता है। इसमें परस्पर उच्चारणका ही भेद है, घड़ेके स्वरूपमें भेद नहीं है । इसी प्रकार आत्माको 'अहं' कहनेसे और 'आत्मा' कहनेसे 'अहं' और 'आत्मा' शब्दका ही भेद होता है, उन दोनों शब्दोंके लक्ष्य अर्थ आत्मा-का भेद नहीं होता—एक ही आनन्दस्वरूप आत्मा सर्व प्राणियोंके 'अहं' शब्दमें और 'आत्म' शब्दमें सम्बन्ध-वाला प्रतीत होता है इसलिये वक्ता पुरुषके भेदसे और शब्दके भेदसे आत्माका भेद नहीं है । एक आत्मा प्राणीमात्रमें व्यापक है, जैसे गृहमें स्थित आकाश-को गृहाकाश, मठमें स्थित आकाशको मठाकाश और घटमें स्थित आकाशको घटाकाश कहनेमें यद्यपि परस्पर शब्दोंका भेद है पर आकाश शब्दका अर्थ जो शुद्ध महाकाश है, उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता, इसी प्रकार 'आत्मा' और 'मैं' शब्दका अर्थ शुद्ध आत्मा ही है । मुमुक्षुओंको शुद्ध आत्माका साक्षात्कार करना योग्य है । अधिकारियोंको शब्दादि विषयोंकी प्राप्तिके लिये उपाय नहीं करना चाहिये । शास्त्रमें कहा है कि बुद्धिमान्को उसी पदार्थकी प्राप्तिके लिये उपाय करना चाहिये, जो पदार्थ अन्तमें सुखका साधन हो । जिस पदार्थकी प्राप्तिसे पीछे दुःख हो, उस पदार्थको प्राप्त करनेका यत्न करना उचित नहीं है । शब्दादि विषयोंसे दुःख उत्पन्न होता है, इसलिये उनके लिये यत्न करना व्यर्थ है । आत्माके साक्षात्कारसे निरतिशय आनन्द प्राप्त होता है, इसलिये आत्म-साक्षात्कारके लिये उद्यम करना चाहिये । शब्द, स्पर्शादि विषय परिणाममें दुःख उत्पन्न करते हैं इसलिये उनकी प्राप्ति-के लिये यत्न करना उचित नहीं है । इसी प्रकार विषय-भोगके साधनरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर भी भोगकी प्राप्तिद्वारा उत्तर-कालमें अनेक प्रकार दुःखोंका कारण होते हैं इसलिये ये तीन प्रकारके शरीर भी अधिकारीको प्राप्त करनेयोग्य नहीं हैं । शब्दादिसे लेकर कारण-शरीरपर्यन्त जितना दृश्य प्रपञ्च है, उस सबको त्यागकर शरीर-संघातमें स्थित सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप आत्मा-को जब पुरुष जानता है तब सच्चिदानन्दद्वारा वह अपने आत्माको जाननेमें समर्थ होता है । जैसे गायके पैरोंके खोजोंपर जानेसे गायका पता लगता है, इसी प्रकार शरीर-संघातमें स्थित आत्माका जब निश्चय होता है तब सर्व भूत प्राणिमात्रमें व्यापक सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माका साक्षात्कार होता है; शरीर-संघातमें स्थित आत्माके ज्ञान बिना सर्वत्र व्यापक आत्माका ज्ञान नहीं होता । अन्तःकरणरूपी मार्गमें गायके पैरके चिह्नोंके समान साक्षीरूपसे स्थित आत्माका निश्चय कर लेनेसे स्थावर-जंगमरूप सर्व जगत्में व्यापक आत्माका निश्चय हो जाता है । आनन्दस्वरूप आत्माके लाभ बिना अन्य कोई पदार्थ लाभदायक नहीं होता । आनन्दस्वरूप आत्माके प्राप्त होनेसे यश, कीर्ति आदि जितने अल्प पदार्थ हैं, वे सब आत्मज्ञानीको प्राप्त हो जाते हैं । जैसे हाथीके पैरमें सबके पैरोंका समावेश हो जाता है इसी प्रकार आत्मज्ञानरूप फलमें सब कर्मोंके फलका अन्तर्भाव है । इसलिये आत्माके सिवा सब पदार्थ त्यागनेयोग्य है और आनन्दस्वरूप आत्माका ज्ञान ही सम्पादन करना योग्य है । सबसे अधिक प्रिय होनेसे आनन्दस्वरूप आत्मा ही प्राप्त करना चाहिये ।

पुत्र आदिसे भी आत्मा अधिक प्रिय

हे इन्द्र! जैसे आत्मा प्रिय कहनेमें आता है इसी प्रकार पुत्रादि पदार्थ भी प्रिय कहे जाते हैं। इनमें आत्मा किसी प्रकारकी उपाधि विना प्रिय होता है और पुत्रादि पदार्थ उपाधिद्वारा प्रिय लगते हैं। पुत्र, स्त्री, बान्धव, धन आदिमें जो प्रीति होती है, वह प्रीति आत्माके लिये ही होती है, पुत्रादिके लिये नहीं होती। यदि पुत्रादिके लिये ही प्रीति हो तो शत्रुके पुत्रादिमें भी प्रीति होनी चाहिये किन्तु उनमें प्रीति नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि पुत्रादिकी प्रीति अपने आनन्दके लिये है। आत्मामें जो प्रीति है, वह किसी पदार्थके लिये नहीं, किन्तु आत्माके लिये ही है, इसलिये आनन्द-स्वरूप आत्मामें निरुपाधिक प्रीतिका विषयपना है और पुत्रादिमें सोपाधिक प्रीतिका विषयपना है। श्रुतिमें आत्माको पुत्रादिसे भी अधिक प्रिय कहा है। आत्माकी अपेक्षासे पुत्रादि बाहरके पदार्थ हैं इसलिये वे उपाधिकी प्रीतिका विषय हैं। इसी प्रकार आत्माकी अपेक्षासे प्राणादि भी बाहरके पदार्थ हैं इसलिये वे भी उपाधिकी प्रीतिके ही विषय हैं।

स्थूल शरीरके परिणामको प्राप्त हुए शब्दादि विषयोंसे प्राणविशिष्ट इन्द्रियाँ अन्दर हैं, इन्द्रियोंकी अपेक्षा संकल्प-विकल्परूप मन अन्दर है, मनकी अपेक्षा निश्चयरूप बुद्धि अन्दर है, बुद्धिकी अपेक्षा अहंकार अन्दर है, अहंकारकी अपेक्षा कारणरूप अज्ञान अन्दर है, कारण-अज्ञानका नाम अव्याकृत है, और अव्याकृत नामके कारण-अज्ञानकी अपेक्षा शुद्ध आत्मा अन्दर है। शुद्ध आत्माकी अपेक्षासे कोई पदार्थ अन्दर नहीं है। जैसे घटरूप विषय बाहर है। आनन्द-स्वरूप आत्मा नेत्रादि इन्द्रियोंसे घटरूप विषयको जानता है इसलिये द्रष्टा आत्माकी विशेषणरूप जो इन्द्रियाँ हैं, वे घटादि विषयकी अपेक्षासे अन्दर हैं। आत्मा मनसे इन्द्रियोंको जानता है इसलिये मन इन्द्रियोंकी अपेक्षासे अन्दर है, आत्मा निश्चयरूप बुद्धिसे मनको जानता है इसलिये द्रष्टा आत्माकी विशेषणरूप बुद्धि मनकी अपेक्षासे अन्दर है, आत्मा अहंकारविशिष्ट जीवसे बुद्धिको जानता है इसलिये आत्माका विशेषण जो जीव है, वह बुद्धिकी अपेक्षासे अन्दर है। कारण-अज्ञानसे ढका हुआ आत्मा अहंकारवाले जीवको जानता है इसलिये कारण-अज्ञान जीवकी अपेक्षासे अन्दर है। और आत्मा स्वयं प्रकाशरूप है, अज्ञानका प्रकाश करनेवाला होनेसे अज्ञानकी अपेक्षा आत्मा अन्दर है। आत्माकी अपेक्षासे कोई दूसरा पदार्थ अन्दर नहीं है। आत्माकी अपेक्षासे अज्ञान आदि सब पदार्थ बाहर हैं, आत्मा ही सबके अन्दर है। इसी कारणसे आत्मा आनन्दस्वरूप है। आनन्दस्वरूप होनेसे आत्मा पुत्रादिसे लेकर अज्ञानपर्यन्त सब पदार्थोंकी अपेक्षा अत्यन्त प्रिय है। आत्मासे अधिक प्रिय कोई नहीं है। (क्रमशः)

श्रीकृष्ण दीनबन्धो

प्रज्ञादयादि सिन्धो श्रीकृष्ण दीनबन्धो। टेक।

आनन्दकन्द बुद्ध-प्रज्ञानरूप शुद्ध।
वेदान्तवेद्य सुन्दर-निष्काम भक्त-बन्धो ॥ १ ॥ प्रज्ञा०

कंसादि-दैत्यहारी-कुब्जा-विनोदकारी।
ब्रह्मादि-मोहकारी-गोपी प्रियैक बन्धो ॥ २ ॥ प्रज्ञा०

जब-जब विपत-प्रदर्शन-भारतमें खूब होता।
अवतार लेके तब-तब आते दयालु बन्धो ॥ ३ ॥ प्रज्ञा०

भक्तोंका देख सङ्कट-वैकुण्ठ छोड़ आते।
गोपाल शान्ति देते-उद्धार कर भवान्धो ॥ ४ ॥ प्रज्ञा०

त्रिगुणात्म विश्व-अन्दर-अध्यात्म-बोध हितकर।
दे दो महेशमाधव-तुम हो सदैव बन्धो ॥ ५ ॥ प्रज्ञा०

—श्रीघनश्यामचन्द्र शास्त्री

ज्वरकी अवस्थाका प्रलाप

[हरद्वारमें एक संन्यासीजीको और इधर अनूपशहरके पास गंगातीरपर एक प्रेमी सज्जनको ज्वर आया था। ज्वरमें दोनोंने ही अपनी-अपनी धुनमें कुछ कहा, संयोगवश बिना ही माँगे दोनों जगहसे एक ही शीर्षक-में लगभग एक ही साथ वह लिपिबद्ध होकर 'कल्याण' में प्रकाशनार्थ यहाँ पहुँच गया। इन प्रलापोंमें बहुत-सी कामकी बातें हैं, इसलिये दोनोंको प्रकाशित किया जाता है। —सम्पादक]

(१)

(एक संन्यासी)

समष्टिके अभिमानीका नाम ईश्वर और व्यष्टिके अभिमानीका नाम जीव है। मेरे शरीरमें जितने कीटाणु विद्यमान हैं, प्रत्येकको अभिमानी चेतन सत्ता भिन्न-भिन्न है, परन्तु उन कीटोंके समूहरूप यह मेरा शरीर है। इन अनन्त कीटोंके समूहरूप शरीर मिलकर जो एक समष्टि बना है वह मनुष्य-शरीर है, इसका अभिमानी मैं हूँ। परन्तु वे कीटाणु जिनका समूह मेरा शरीर है किन्हीं अन्य अनन्त शरीरोंका ढेर है। परन्तु वे शरीर मेरे शरीरसे भिन्न नहीं हैं; उनके शरीरोंमें मेरा शरीर भासता है। परन्तु वे सब अभिमानी भी मुझसे भिन्न नहीं हैं। कोई कह नहीं सकता कि मेरे अमुक अवयवोंको काट दो। इससे प्रतीत होता है कि मेरा शरीर उन शरीर तथा आत्माओंसे सर्वदा अभिन्न है। मैं छोटेसे लेकर बड़ेतक सबमें ओतप्रोत हूँ। जैसे मेरा शरीर अन्य कीटोंका समूह है और अन्य कीट मेरे शरीरके अवयव हैं, इसी तरह मेरा शरीर भी किसी महत् शरीरका अवयव है और वह महत् शरीर भी किसी और का अवयव है। जहाँ यह सत्ता और महत्ता समाप्त होती है, जिसके परे कोई महत्ता बाकी नहीं रह जाती, उसका अभिमानी एक चेतन सत् व्यापक और महत्तम है। वह इस विश्वके जड़ और चेतनमें ओतप्रोत है। उसको हम ईश्वर कहते हैं। वह इस समष्टिके जड़ और चेतनमें व्याप्त होकर इसके समस्त जड़-चेतनकी क्रिया कर रहा है। जैसे कि हम शरीर और शरीरगत कीटाणुओं-की करते हैं।

'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'

अन्यथा यह महात्मा पुष्करसे यहाँतक क्यों चले आये? पुष्करसे यहाँतक घनी आबादी है और बड़ी धर्म-शालाएँ हैं। यह महात्मा यहाँ क्यों आ गये? किसने इनको यहाँ भेज दिया? मैं तो कहूँगा वही एक व्यापक सत्ता है जो समष्टिस्वरूप है और सबमें ओतप्रोत है। वही सबको इधर-उधर पुतलीकी तरह घुमा रही है।

जो समष्टिका अभिमानी है, जिसका यह शरीर भी शरीर है, जिसके चेतन-स्वरूपका एक अंश ही इसका यह चेतन-स्वरूप है। उसने अपने एक अवयवको हमारे यहाँ कल्याणमय, सुखद समय प्रदान करनेके लिये भेज दिया है, यह ईश्वरका अंश होनेसे हमारी और विश्व तेजस प्रकट प्राज्ञकी तरह सर्वव्यापक एक चेतन सत्ता है जिसको हम कभी-कभी याद रखते हैं। उसके भेजे इस स्वरूपका यदि हम सत्कार करते हैं, सेवा करते हैं, आश्वासन देते हैं, अनुमति देते हैं, उसे उस भूमिमें ठहरने देते हैं जो उसकी है, तो समझो कि हम ईश्वरकी उस रूपमें सेवा करते हैं जिस तरह कि हमारा दाहिना हाथ बायें पैरके दुःखमें शामिल हो जाता है। हम न ईश्वरपर एहसान करते हैं, न उसका कोई उपकार। हमने अपने एक पड़ोसी, नहीं, अपनेसे अलग (पर अपने ही स्वरूप) एक चेतन सत्ताके साथ सहानुभूति प्रकट की है; न हमने इनको कुछ दिया है और न कुछ लिया है। इसी

तरह भगवान् प्रसन्न होते हैं । जैसे मेरे अन्तःकरणमें मेरे पाँवके दुःखकी सहानुभूति और हितैषिताका सञ्चार होने लगता है । भगवान्का शरीर, भगवान्के अवयव-के साथ सहानुभूति भगवान्को प्रिय इसलिये है कि भगवान्के शरीरको सुख हो । यह परमार्थ-दृष्टि ही सत् ज्ञान है, सच्चा व्यवहार है और परमार्थका सीधा रास्ता है । इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं, दया करते हैं और हमारा कल्याण होता है । यदि हम इसके विपरीत बरतें, ऐसी अवस्थामें किसीको आश्वासन न दें, उससे रूक्षताका व्यवहार करें तो यह उस अन्तर्यामीसे विमुख होना है, उसकी सेवासे जी चुराना है और घोर पाप करना है; दुर्गतिके कारणकी थैली भरना है, अन्तर्यामी प्रभुसे अनन्त योजन दूर हो जाना है; और नरकमें अपने रहनेका घर बनाना है । यह पाप है, इससे बचो । जितने प्राणी अल्पज्ञकी दृष्टिमें भले हैं, बुरे हैं, पापी हैं, धर्मात्मा हैं, भगवान्की पूजा करते हैं, या भगवान्के अवयवोंपर कुठाराघात करनेमें लगे रहते हैं तुम उन सबको भगवान् समझो, उनकी सेवा-भगवान्की सेवा समझो । तुम उनको घृणित मत समझो, जिस घृणाको तुम उनके अन्दर आरोप करके घृणा करते हो, दूर भागते हो, क्या तुमने उस घृणाकी वस्तुको कभी देखा है ? वह तो कर्म है, प्राणका धर्म है, चक्षुका विषय नहीं । फिर तुम देखते ही उससे नाक-मुँह क्यों चढ़ा लेते हो ? मारवाड़की सभ्य परिभाषामें *'वो माणस तो चोखो ही छे, पर काम घणो खोटो करै छे'* उसकी चेतन सत्ता दूषित नहीं है, वैसी ही पवित्र और शुद्ध है, जैसी तुम्हारी है । उसका शरीर भी भगवान्के शरीरका वैसा ही अवयव है जैसा तुम्हारा । तुम भगवान्के अवयवकी सेवा करते हो, उसकी नहीं । तुम उसके बुरे कर्मका अनुसरण मत करो; स्वयं बचो और उसको भी प्रेम-पूर्वक दयाभावसे बचानेका यत्न करो । यह धर्म है, भगवान्की सेवा है, मोक्षका साधन है, इसमें पतनका भय नहीं । भगवान् प्रसन्न होंगे, दयामयी भुजा बढ़ावेंगे । वह तुम्हारा अवलम्बन (सहारा) होगी और वही भवसागर पार होनेका आधार होगी, सहारा होगी और दृढ़ नौका होगी ।

(२)

(एक प्रेमी)

प्यारे श्रीराधारमणजी !

न जाने अभी मेरे दुःखका कोष तुम्हारे पास कितना और शेष है ? भले दादा ! मुझे बतलाओ तो सही । सञ्चित द्रव्यमें ३१ साल तो भोगविलास करते व्यतीत हो गये, परन्तु महान् आश्चर्यकी बात है कि वह अभीतक समाप्त ही नहीं हुआ । अभी इस भाद्रपदमें तो आठ दिनतक आनन्दशय्यापर लेटा हुआ ब्रह्मनिष्ठ प्रेमस्वरूप तुम्हारे रसिकजनोंकी प्रेमधाराकी आनन्दमय तरंगोंमें स्नान करता ही रहा था और उस आनन्दवर्षामें भीगनेसे ज्वरकी जाज्वल्यमान ज्वाला शान्त होती जाती थी । मैं उस समय कह नहीं सकता था कि सुख-दुःखमें क्या अन्तर है !

और देखो, कन्हैया भैया ! इस वैज्ञानिक युगके लोग, जिन्हें बायें-दहिनेके अतिरिक्त आगे-पीछेका कुछ भी नहीं सूझता, अथवा निरक्षर भट्टाचार्य लोग, तुम्हें पाँच सहस्र वर्षका दाढ़ी-मूँछवाला बूढ़ा कृष्ण कहते हैं परन्तु अपना अक्षय लोमस मन तो तुम्हें अभीतक सात वर्षका बालक ही मानता चला आता है । खैर, कुछ भी हो, परन्तु तुम मुझे अब बड़े कृपण-से प्रतीत होते हो । यदि यह असत्य है तो बालकपनेके ये चोचले क्यों नहीं छोड़ते ? मेरी जन्म-जन्मान्तरकी लाखों मन कमाई (पाप)का फल तुम छटाँकोंसे तौल-तौलकर देते हो, कहीं ज्येष्ठकी धूपके प्यासेको बूँदोंसे जल पिलाया जाता है ? यह तो एक

हिमालय-सदृश पर्वतके टुकड़े-टुकड़े करके तोले-माशेके बाट बनाने हैं।

हे साँवल साह! सुने तो तुम यहाँतक गये हो कि, जिस किसीका कुछ भी तुम्हारे हाथ लग जाता है फिर तुम उसको वापस देना ही नहीं जानते, परन्तु मेरी ही किश्तें खूब ठीक-ठीक समयपर देते आये हो। क्यों जी, यह जो मुझे मिलता है, सो व्याज है या मूलधन? तुम मेरे इस सञ्चित धन (पाप) के बैंकमें बहुत दिनोंसे काम करते चले आते हो, कोई वेतन भी नहीं पाते। मेरी बड़ी भूल हुई जो मैंने तुम्हारा कभी ध्यान नहीं किया और तुमने भी कभी कुछ माँगा नहीं। तुम्हारी गरीबीपर मुझे बड़ा तरस आता है। केवल तीन हाथ पटुका और एक कारी कमरी ही पास रह गयी है परन्तु ठाकुर तब भी कहलाते हो और गरीबोंको सताते हो, बेचारोंके घर दूध-दहीतक भी नहीं छोड़ते। परन्तु मेरी पिछली कमाईको तो नहीं चुराते। चुरा लो, लूट लो, या यों ही कह दो कि 'मुझपर अब तुम्हारा कुछ भी नहीं रहा या मुझसे तुम्हारी पूँजी चोरी गयी, उसके बदले मुझको ले लो।'

नटखट नटवर! मैं इस बकवादमें कोई द्वेष-भाव विचारकर या दुःखकी निन्दा करके तुम्हें चुप नहीं करना चाहता। आज वह बड़ा हर्ष मुझे प्राप्त है, जिसे लोग दुःख करके बताते हैं। तुम्हारी भेजी हुई जो कोई भी वस्तु होगी, वह मुझ-जैसे पामरकी तो कौन कहे, मुनियोंको भी तुम्हारे प्रेमके नातेसे परम प्रिय होगी। जब सांसारिक स्वार्थावलम्बी प्रेमियोंके पत्रादि-की प्रतीक्षा करते-करते उनके प्राप्त होनेपर प्रेमके कारण मनुष्यको हर्ष होता है तब तुम्हारी भेजी हुई वस्तुका तो कहना ही क्या है? कुछ भी हो, वह तो प्राणोंसे भी प्यारी ही लगेगी।

नयनाभिराम घनश्याम शोभाधाम ललित-ललाम! यह भी तो मेरा अहोभाग्य है कि तुम मुझे याद करके कुछ तो सौगात भेजते हो। भेजनेके समय न जाने कितनी देर मुझ-जैसे अधमाधमका नाम तुम अपने मनमें लाते होगे? मुझे आज विश्वास हो गया कि अब जो कुछ भी अच्छा या बुरा हूँ, सरकारको मेरी खबर है; मेरी मिट्टीको वह प्यारा पहचानता है, किसी प्रकार भी मुझे कुछ देर तो अपने हृदयमें बसा ही लेता है—*शंकरमानस राजमराला*।

देख भैया ज्वर! मैं तेरा कौन-सा सौम्य स्वरूप मानकर पूजन-वन्दन-अभिनन्दन करूँ। तेरे ही कारण कन्हैया भैया मुझे यह मान-सम्मान देता है। फिर भला, तुझ-जैसा परम सखा सुखदाता चाहे जबतक क्यों न मेरे पास रहे और मौज करे। मैं कभी तुझे घर भेजनेकी बात अपने मुखसे कह ही नहीं सकता। तेरे उपकारका बदला सोचना मेरी बुद्धिके परेका विषय है।

अरे कन्हैया! तू तो बड़ा ही चालाक, छलिया और इन्द्रजाली है, मुझे तो इधर तूने कारण-कार्यका न्याय घटित करके भ्रामरी दशामें डाल दिया। उधर थोड़ी ही देर बाद किसीसे कहलाता है कि 'कोई हानि नहीं, यह तो शरीरका भोग है, भोग होनेपर आप ही समाप्त हो जायगा।' तेरे अविश्वासी कोई उसी समय कहते हैं कि 'वैद्यराजको बुलाइये, ओषधि-का उपचार कीजिये। यही कर्तव्य-कर्म है अथवा लंघन होने दीजिये। क्योंकि—

ज्वर याचक और पाहुनो इनको यही सुभाय।
लंघनसे ये जात हैं बहुरि न आवत धाय॥

आधारमन श्रीराधा-रमन! खैर, अपनी-अपनी सब कहते ही रहते हैं। मुझे तो भैया! तेरा बड़ा ही कलक लगता है। मैं तो मौजसे लेटे रहता हूँ और तू

मदारका घोड़ा बना चारों ओर दौड़ता ही रहता है। यही तो मुझसे देखा नहीं जाता । बड़ा ही दुःख मालूम होता है । खैर, कोई बात नहीं । बालकोंपर खेलमें किसानोंसे अधिक काम पड़ता ही है परन्तु वह खेलमें हार नहीं मानते । फिर भी यह सोचकर दया-सी आ जाती है कि प्रत्येक समय पालनेका झूलनेवाला, कमलवत् शय्याका विहारी, कोमल अवस्थाका शिशु, मधुर सूरत, नंगे पैर इस कुआँरकी तीखी धूपमें वैद्यराजजीको न जाने कहाँसे हल जोततेसे बुलाकर लाया होगा । क्योंकि मुझ-जैसे गँवार-दीन रोगियोंको बहुधा ऐसे ही धन्वन्तरि मिला करते हैं । कहा भी है कि—

जैसी नकटी देवी, वैसे ही बूचे पुजारी ।

हे जनहितकारी लीलाधारी ! क्या कहूँ ? ज्वरमें तो पड़ा हूँ, पर सांसारिक कार्यक्रममें बाधा पड़ जानेका भी दुःख लेटे-लेटे नहीं सहा जाता; परन्तु तुम्हें कल कहाँ, घर-घर घूमनेकी तो तुम्हारी पुरानी आदत है । हाँ, पहले रातकी थी, अब दिनभर शुष्क हृदयोंमें बाँसुरीके स्वर और रसीली तानें सुनाते फिरते हो । धन्यभाग उनके । परन्तु वे प्रकृतिके गुलाम तुम्हें क्यों पहचानें ? मैं अपनी क्या कहूँ, जीवनपर्यन्त अपनी तो कोई भी हानि ही नहीं हुई । इस पातकमय शरीरके ऊपर इससे अधिक और क्या कृपा होगी ?

भैया रणछोड़ चितचोर व्रजकिशोर ! तेरी चञ्चलपनेकी प्रशंसा रसिकोंद्वारा अनेक बार सुनी है । श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ तो तेरे कई बार भागनेकी कथा सुना चुके हैं । मुझे तो तेरी यह परीक्षा आज भलीभाँति हुई कि तू मुझसे आज अलग-ही-अलग घूम रहा है । मेरे हृदयस्थलमें (जो अनादिकालका तेरा स्थान है) तो आज झाँकता भी नहीं । ज्ञात होता है कि ज्वरसे, अरे भगोड़े निगोड़े ! तू भी डरता है । खैर, तू हारा-थका-सा है, इससे मैं भी नहीं कहता कि तू इस समय मेरे मनमें समा जा । योगियोंके अन्तःकरणमें जब तू प्राणायामकी डोरमें बँधकर जाता है तो वहाँ दस-पाँच मिनट बाद तुझे हवा खानेको तो मिल जाती है । पर मैंने तो ज्वरका आसव निकालनेके लिये प्रचण्ड अग्नि कर दी है और कम्बलको ऊपरसे न उठानेकी प्रतिज्ञा-सी कर ली है—फिर भला तुझे बिना कारण इस बन्धनमें क्यों डालूँ ? तबतक थोड़ी देर तू मेरे सामने ही टहलता रह !

इतनेमें ही ज्वर रो-रोकर अपने आँसुओंसे मेरा तन धोने लगा । मैंने उसे पुचकारा और कहा कि—'भैया ज्वर ! मेरी तो इस समय बुद्धि ठिकाने नहीं है । तू अबकी बार जावे तो ललासे कह देना कि 'या तो मुझे फिर न भेजो, यदि भेजना ही है तो तुम मेरे पीछे-पीछे क्यों आ जाते हो और क्यों दूरसे खड़े मुसकुराते हो, तुम रात-दिन माखन-मिश्री तो खाते हो परन्तु कठोर स्वभावके बनते जाते हो।' तब ज्वर स्वयं ही उससे कहने लगा—'मैं तो अब प्रतिज्ञा किये लेता हूँ, कभी कहीं नहीं जाऊँगा। परन्तु क्या करूँ मित्र राधारमण ! तुम्हें जब अपने पीछे तिरछा खड़े हुए मन्द-मन्द सोहने-माधुरे रूपसे मुसकुराते और वंशी बजाते निहारता हूँ तो फिर उत्तर देते ही नहीं बनता, प्रतिज्ञा बेचारीका कुछ ध्यान ही नहीं रहता । प्रेममें नेमकी दाल ही नहीं गल पाती । क्या करूँ ? मैं इधरको चला भी इसीलिये आता हूँ कि तुम्हारे साकार स्वरूपके दर्शन (श्रीभागीरथीकी धवलधारा, जहाँ निराकार ब्रह्म नीराकार बना बह रहा है) करनेपर विचित्र आनन्द प्राप्त होता है और जीवन कृतकृत्य हो जाता है, क्योंकि मेरे जीवनका मुख्य लक्ष्य परपीड़ा है । अबकी बारकी यात्रामें तुम्हारे अनेकानेक प्रकारके परमप्रेमी भ तुम्हारे ही सगुण स्वरूप अद्भुत कलाधारी कमण्डलु लिये या जटायें बाँधे जहाँ-तहाँ तटपर दर्शन करनेके

मिलें। शरद्-पूर्णिमाकी रात्रिमें रामघाटके पुण्यस्थलमें ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, योगकी दिव्यमूर्ति श्रीपूज्य उड़िया-बाबा तथा प्रेमावतार आनन्दस्वरूप मधुरमूर्ति श्रीहरि-बाबा तुम्हारी वही पुरानी रासलीला देखते मिलें। मैं दूरसे ही प्रणाम करके विहारघाटपर करुणागार सत्-चित्-आनन्दमय ध्येयस्वरूप श्रीअच्युतमुनिको नौका-पर विराजमान देखकर दूरहींसे साष्टांग प्रणाम करके भृगुक्षेत्रकी पुण्यभूमिमें पहुँचा, क्योंकि मेरे स्वामी भोलेबाबाजी (शिव) के दर्शन वहाँसे निकट ही थे। तुम्हारा यह प्रेमी मुझे तुम्हारा जन जानकर देखते ही उठ खड़ा हुआ और सब कामकाज छोड़कर स्वागत करने लगा तथा मेरे विश्रामके हेतु आसन सजा-कर कहने लगा—

'सुखके माथे सिल पड़ो जो नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी जो पल-पल नाम रटाय॥'

परन्तु मैंने कहा कि 'हमारा तेरा युद्ध होगा' उसका राजसी रक्त यह सुनते ही फड़कने लगा—

'जो रण हमें प्रचारै कोऊ।
लड़ौं सुखेन काल किन होऊ॥'

पर भैया कन्हैया! मुझे तुम्हारा जानकर मेरी लज्जा उसने नहीं जाने दी, मुझे छातीपर चढ़ाकर आप ही पछड़कर लेट गया। मैंने भी पहुँचते ही ऐसा बल-पराक्रम दिखलाया कि उसके मनभवनमें जितना कुछ संसारका मैला भरा था, सब निकल गया। उसने कई दुष्ट मित्रों (कामादि) को अपने घरमें छिपा रक्खा था—मेरे पहुँचते ही सब सटकनारायण गटक-नारायण बन गये और ज्ञान-भक्ति-वैराग्य-योग जो कभी उसके पास गरीबोंको फटकने नहीं देते थे, चुपकेसे सन्तोंके मुँहमें जाकर छुप रहे। बस, प्रेम-का राज्य रह गया। वह पुकारने लगा हे विघ्नविनाशक गणेश! हे भैया गिरधारी! हे बद्रीविशाल! हे सोहने श्यामलाल! तुम आज परे कैसे हो रहे हो? अपनी कुछ ईश्वरी महिमा तो दिखाओ!

भृगुने मारी लात जानि उनको भंडारी।
रूठि गये मुख फेरि लियो क्यों जनहितकारी॥
स्वामीको अपराध दासपर कोप जनायो।
राधारमण कृपालु भलो यह न्याय चुकायो॥
ब्याज सहित द्वै भारि लेहु उरमें पद भाये।
कल्प कोटिलौं चिह्न न जिनके मिटैं मिटाये॥

बस, फिर क्या था, तुम सुनते ही हाँफते-हाँफते तत्क्षण ही दौड़े आये। मेरी तो दुर्गतिकी इतिश्री हो गयी और रोगी मुसकुराकर उठ बैठा। वह मधुर-मधुर दुग्धका तुम्हारे भोग लगाता हुआ और तुम्हें देखता हुआ गाने लगा—

रूपरसिक मोहन मनोज मनहरण सकल गुण गरबीले।
छैल छबीले चपल लोचन चकोर चित चटकीले॥

बस, मेरे मुखमें तो कड़वा विष पड़ा और तुमको मधुरामृतपान करनेको मिला।

मनसों नित सुमिरण करै, तनसों सेवा-काज।
जपै नाम वरु वचनसों सोई धन्य समाज॥
धनि-धनि सो जननी-जनक धन्य देश धनि ग्राम।
जिनके पूत सपूत है भजै निरन्तर राम॥

योगदर्शनमें ईश्वर

(लेखक—सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार)

रीश्वरवादी सांख्य * का मत है कि प्रकृति और पुरुष (जड और चेतन) इन दोनोंसे ही अखिल विश्व व्याप्त है, इनके अतिरिक्त किसी ईश्वरका माना जाना असिद्ध है, क्योंकि यदि चेतनको ईश्वर माना जाय तो चित्शक्ति तो असङ्ग और उदासीन है अतः उसके द्वारा अपने भक्तोंपर अनुग्रह किया जाना किसप्रकार सम्भव हो सकता है और यदि जडको ईश्वर माना जाय तो प्रकृति अथवा प्रकृतिजन्य कार्योंमें ही कोई वह (ईश्वर) भी हो सकता है। अतः वह प्रकृतिके अन्तर्गत है और प्रकृति तो जड है। जडद्वारा भी अनुग्रहरूप चेतनका कार्य किसप्रकार होना सम्भव है ? अतएव ईश्वरका माना जाना असङ्गत है। सांख्यके इस मतका खण्डन करते हुए भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें ईश्वरका प्रतिपादन इसप्रकार किया है—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'

(समाधिपाद सू० २४)

क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इन चारोंसे अपरामृष्ट अर्थात् असम्बद्ध जो पुरुषविशेष—अन्य पुरुषोंसे विलक्षण उत्कृष्ट चेतन है, वह ईश्वर है। यहाँ 'क्लेश' आदि शब्द हैं, यह पारिभाषिक हैं, अतएव इनका संक्षेपमें स्पष्ट किया जाना आवश्यक है। योगसूत्रमें क्लेश पाँच बतलाये गये हैं—१ अविद्या, २ अस्मिता, ३ राग, ४ द्वेष और ५ अभिनिवेश।

(१) अविद्या—(मिथ्या या विपर्यय ज्ञानको अर्थात् वस्तुके स्वरूपको अन्यथा जान लेनेको, जैसे रस्सीको सर्प समझ लेने आदिको अविद्या कहते हैं) अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्ममें क्रमशः नित्य, शुचि, सुख और आत्मबुद्धि होना अविद्या है—

(अ) अनित्यमें नित्यबुद्धि होना यह है कि स्वर्गादि पारलौकिक एवं ऐहिक प्रपञ्च जो अनित्य है, उसमें नित्यबद्धि होना, जैसा कि प्रह्लादजीने दैत्यबालकोंको उपदेश देते हुए कहा है—

रायः कलत्रं पशवः सुतादयो
गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः।
सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः
कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत्प्रियं चलाः॥
एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमी
क्षयिष्णवः सातिशया न निर्मलाः।'

(श्रीमद्भा० ७। ७। ३९-४०)

भाव यह है कि धन, स्त्री, पशु, हाथी, घोड़े आदि, पुत्रादि परिवार, घर, पृथ्वी, खजाने और वैभव सभी अनित्य हैं—सदा स्थिर रहनेवाले नहीं और इसी प्रकार यज्ञादिसे उपार्जित स्वर्गादि लोकोंके पारलौकिक विषय-विलास भी क्षयिष्णु हैं—क्षीण पुण्य होनेपर वे भी नष्ट हो जाते हैं, यही नहीं, जिस प्रकार यहाँ ईर्ष्या-द्वेषादिका दुःख है, उसी प्रकार वहाँ भी ईर्ष्या-द्वेष होनेके कारण वे भी दूषित हैं

* कुछ महानुभाव सांख्य-दर्शनको निरीश्वरवादी कहते हैं परन्तु अनेक विद्वानोंका ऐसा मत है कि सांख्य भी वेदान्तकी भाँति ईश्वरवादी दर्शन है। इस विषयमें कल्याणके ईश्वरांकमें श्रीयुत यतीन्द्रकुमार मजूमदार एम० ए० महोदयका एक लेख छप चुका है। इस अंकमें भी अन्यत्र उन्हींका 'सांख्यके मतसे ईश्वरका स्वरूप' शीर्षक लेख छपा है। इस लेखमें भी सेठजीने आगे चलकर सांख्यको ईश्वरवादी ही माना है। —सम्पादक

जब लौकिक और पारलौकिक सभी विषय-भोग स्वयं ही बेचारे अनित्य हैं, तब इस क्षणभङ्गुर जीवन-वाले मनुष्यका वे क्या हित-साधन कर सकते है ? अतएव ऐसे अनित्य पदार्थोंमें 'ये नित्य रहेंगे, कभी नष्ट न होंगे' ऐसा समझना प्रथम अविद्या है।

(आ) अशुचिमें शुचिबुद्धि होना यह है कि यह मानवशरीर अत्यन्त अपवित्र है, माताका उदर मल-मूत्रादि दुर्गन्ध वस्तुओंसे परिपूर्ण है, ऐसे अपवित्र स्थानसे इसकी उत्पत्ति है एवं माता-पिताका अत्यन्त अपवित्र रज-वीर्य ही इस शरीर-की उत्पत्तिका कारण है। इसी प्रकार भोजन किये हुए अन्न और पीये हुए जलके परिपाकसे जो रुधिर आदि बनते हैं, उन्हींके रूपान्तरप्राप्त रस इस शरीरके आश्रय हैं तथा मल-मूत्र आदि अपवित्र पदार्थ ही इस शरीरसे झरते रहते हैं और प्राणान्त होनेपर यह शरीर—चाहे किसी चक्रवर्ती सम्राट्का, धुरन्धर विद्वान्का अथवा अपूर्व सुन्दरीका ही क्यों न हो, ऐसा अपवित्र समझा जाता है कि उसका स्पर्श तो दूर रहा, मृत-शरीरके साथ स्मशान भूमितक सहगमन करनेवालोंकी भी स्नानादिसे शुद्धि होती है। ऐसे अपवित्र शरीरमें शुचि-बुद्धि होना अविद्याका दूसरा लक्षण है। अथवा 'अहो ! कैसा चन्द्रमाके समान मुख है, मानो मधु और अमृतके अवयवोंसे इसका निर्माण किया गया है, इसके नील-कमलके समान हाव-भाव-पूर्ण कैसे हृदय-हारी कटाक्ष हैं' यों पवित्र समझना भी अविद्या है। क्योंकि जिस शरीरका उत्पत्तिस्थान, उपादानकारण, आश्रय, निष्पन्द और निधन सभी महान् अपवित्र हैं, उस शरीरका चन्द्रमादिसे सम्बन्ध ही क्या है।' अतः यही अशुचिमें शुचि-बुद्धि होना दूसरी अविद्या है।

(इ) दुःखमें सुखबुद्धि होना यह है कि विषयों-के यावन्मात्र भोग हैं वे परिणाम, ताप और संस्कार-दुःखसे व्याप्त हैं। क्योंकि विषयोंके भोगमें सुख मानकर उनमें अभिलाषा होती है, अभिलाषा होने-पर उनकी प्राप्तिके लिये साधन किये जाते हैं अतएव पुण्य-पापात्मक अच्छे-बुरे कार्योंमें प्रवृत्ति होना अनिवार्य है। और सुखमें रुकावट पैदा करने-वाले दुःखोंको मिटानेके लिये कर्तव्याकर्तव्यका विचार न रहनेसे पापकर्म होना भी स्वयं सिद्ध है, उन पापकर्मोंके फलसे पुनः दुःख ही प्राप्त होता है अतः अन्तमें दुःख होना यह परिणामदुःख है। सुखके साधन विफल होनेपर चित्तमें सन्ताप होना ताप-दुःख है। इसी प्रकार सुखके अनुभवसे सुखका संस्कार उत्पन्न होता है, इस संस्कारसे सुखका स्मरण, स्मरणसे सुख-प्राप्तिकी इच्छा, उस इच्छासे सुखके लिये चेष्टा, चेष्टाद्वारा शुभाशुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति, प्रवृत्तिद्वारा फिर पाप-पुण्यका उत्पन्न होना, उनके फलसे फिर जन्म, फिर सुखादि अनुभव, अनुभवसे वासना, वासनासे फिर स्मरण आदि, निष्कर्ष यह कि इसप्रकार कर्माशयके समूहका उत्पन्न होना ही विषय-भोगोंमें संस्कार-दुःख है। ऐसे विषय-भोगरूप दुःखमें सुख समझना तीसरी अविद्या है। अतएव स्वयं भगवान्ने आज्ञा की है—

'विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥'
(गीता)

(ई) अनात्ममें आत्मबुद्धि होना यह है कि शरीरके उपकरणभूत आत्मासे भिन्न जो पुत्र, कलत्र, पशु, भृत्य आदि चेतन पदार्थ तथा घर, बाग, शय्या, आसन, स्थानादि अचेतन पदार्थ एवं भोगों-का अधिष्ठान शरीर और पुरुषका उपकरणभूत मन, इन सब अनात्म-पदार्थोंमें अर्थात् जो वस्तुतः आत्मासे भिन्न हैं, उनमें आत्मबुद्धि होना चतुर्थ अविद्या है। यह चतुर्विध अविद्या महान् दुःखकारक होनेसे क्लेशरूप है।

(२) अस्मिता—अर्थात् आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध और कूटस्थ है और बुद्धि परिणामी, मलिन

एवं जड है। वस्तुतः इन दोनोंकी एकता होना सर्वथा असम्भव है किन्तु अज्ञानवश आत्माको बुद्धिसे भिन्न न जानकर 'मैं भोक्ता हूँ' ऐसा मान लेना ही अस्मिता नामक क्लेश है।

(३)-राग-अर्थात् सुखके अनुभवी पुरुषको सुखस्मरणसे उसके सजातीय सुख और उसके साधनमें तृष्णा (अभिलाष) होना तीसरा क्लेश है।

(४)-द्वेष-अर्थात् दुःखानुभवी पुरुषको दुःखसे द्वेष क्रोधादि होना चतुर्थ क्लेश है।

(५)-अभिनिवेश-अर्थात् वासनाके प्रभावसे विद्वानोंके चित्तमें भी मूर्खोंके समान-'मैं कभी न मरूँ, सर्वदा ही बना रहूँ' ऐसी धारणा—मरणका भय रहना ही पञ्चम क्लेश है।

इन पाँचों क्लेशोंमें 'अविद्या' ही उत्तर-कथित अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशका मूल-कारण है। यहाँतक पाँचों क्लेशोंकी स्पष्टता की गयी। 'कर्म' अर्थात् पूर्वोक्त राग-द्वेषादि क्लेशोंसे उत्पन्न शुभाशुभ कर्म, एवं 'विपाक' अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंके करनेसे उत्पन्न सुख,और दुःखात्मक फल, और 'आशय' अर्थात् सुख और दुःखके भोगसे उत्पन्न संस्कारद्वारा बनी हुई अनेक वासनाएँ।

इन्हीं अविद्या, कर्म, विपाक और आशयसे असम्बद्ध—निरालिप्त पुरुषविशेषको भगवान् पतञ्जलिने ईश्वर कहा है। अर्थात् सांख्यप्रतिपादित पुरुषसे यह विलक्षण पुरुष ही ईश्वर है। यहाँ यदि यह शङ्का की जाय कि सांख्यमें क्लेशादि धर्म चित्त-निष्ठ माने गये हैं और पुरुषको असंग माना गया है अतएव जब पुरुष भी क्लेशादिके सम्पर्कसे शून्य है, तब सांख्यमतके पुरुषमें और ईश्वरमें, जिसको योगदर्शनमें 'पुरुषविशेष' माना गया है, क्या विशेषता है—क्या विलक्षणता है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि पुरुष भी स्वाभाविक क्लेशादिसे रहित अवश्य है, किन्तु वह अविवेकी होनेके कारण चित्तको अपनेसे भिन्न न जानकर—स्वाभाविक न होनेपर भी चित्त-निष्ठ क्लेशादिसे सम्बद्ध हो जाता है। जैसा कि—

'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।'
(कठोपनिषद्)

—आदि श्रुतियोंद्वारा स्पष्ट है अर्थात् उपाधि-सम्बन्धयुक्त पुरुष ही भोक्ता है किन्तु ईश्वर सर्वदा क्लेशनिर्मुक्त है। इसीसे वह पुरुष-विशेष है। फिर यदि यह कहा जाय कि 'जब क्लेशनिर्मुक्तको ईश्वर कहा जाय तो जो मुक्त-पुरुष हैं अथवा प्रकृति-लीन पुरुष हैं, वे भी ईश्वर ही कहे जा सकते हैं क्योंकि वे भी क्लेशादि-निर्मुक्त ही होते हैं, अतएव 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' 'स हि सर्ववित् सर्वस्य कर्ता' इत्यादि श्रुतियोंके विषयमें कपिल मुनिने यही कहा है—

'मुक्तात्मनः प्रशंसोपासासिद्धस्य वा।'
(सांख्यप्रथमाध्याय, सूत्र ९५)

अर्थात् 'उक्त श्रुतियोंमें यह मुक्त पुरुषकी अथवा योगाभ्यासरूप उपासनासिद्ध योगियोंकी प्रशंसा है कि ईश्वरका प्रतिपादन?' इसका उत्तर यह है कि यद्यपि मुक्त पुरुष भी क्लेश-विनिर्मुक्त हैं किन्तु वे नित्यमुक्त नहीं क्योंकि वे पूर्वमें क्लेशयुक्त होते हुए ही साधनोंके अनुष्ठानद्वारा क्लेशरहित होते हैं। और इसी प्रकार प्रकृति-लीन भी अपनी अवधि-के पश्चात् संसारमें आनेके कारण भोग्य क्लेशोंके सम्बन्धसे युक्त होते हैं। किन्तु ईश्वरके साथ इन क्लेशोंका सम्बन्ध भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें ही नहीं है। निष्कर्ष यह कि मुक्त पुरुष मोक्षसे पूर्व और प्रकृति-लीन पुरुष लय होने-के पूर्व और अवधिके अनन्तर क्लेश-युक्त होते हैं अतः वे ईश्वर नहीं। जिसप्रकार ईश्वर मुक्त और प्रकृति-लीनोंसे विलक्षण है, उसी प्रकार अणिमादि ऐश्वर्यशाली योगिराजोंसे भी विलक्षण है। क्योंकि

योगिराजोंका ऐश्वर्य अन्य किसी योगीके समान अथवा किसीकी अपेक्षा न्यून होता है किन्तु ईश्वरका ऐश्वर्य सामान्य और अतिशयसे रहित है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है। अतएव सिद्ध हुआ कि साम्यातिशय विनिर्मुक्त ऐश्वर्यशाली, क्लेश-मुक्त, नित्य, निरतिशय, अनादि, अनन्त सर्वज्ञ पुरुष-विशेष 'ईश्वर' है। सांख्य-दर्शनका मत भी निरीश्वरवादी नहीं, विद्वानोंका मत है कि यदि नित्यैश्वर्यशाली ईश्वर कोई माना जायगा तो वैराग्यकी दृढ़ता न होगी, क्योंकि पुरुषोंकी नित्यैश्वर्यकी इच्छा वैराग्यका प्रतिबन्धक हो जायगी, अतएव वैराग्यकी दृढ़ताके लिये ईश्वरकी सिद्धिका अभाव सांख्यमें कहा गया है—वस्तुतः नहीं।

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने जिस ईश्वरको पुरुषविशेष वर्णन किया है उसी ईश्वरको भगवान् पुरुषविशेषका पर्याय (दूसरे शब्दोंमें) उत्तम पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम कथन करते हैं—

'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥'

(गीता १५ । १७)

उत्तम अर्थात् उत्कृष्टतम पुरुष अन्य है—अत्यन्त विलक्षण है, वह वेदान्त-वाक्योंमें परमात्माकी संज्ञासे कहा गया है अर्थात् वह अविद्याजनित शरीरादि आत्माओंकी अपेक्षा पर है और सब प्राणियोंका आत्मा प्रत्यक् चेतन है। वह तीनों-लोकोंको—पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्गको, अपने चैतन्य-बलकी शक्तिसे उनमें प्रविष्ट होकर केवल स्वरूप-सत्तामात्रसे धारण करनेवाला अविनाशी ईश्वर है!

यदि ईश्वरको न माना जाय तो प्रकृतिकी संसारकी रचनामें प्रवृत्ति भी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि प्रकृति तो जड है, जड वस्तु स्वयं किसी कार्यको उत्पन्न करनेमें कदापि समर्थ नहीं, अतः विशुद्ध सत्त्वोपाधिक नित्य ज्ञानक्रियैश्वर्यशाली चेतनभूत ईश्वरकी प्रेरणासे ही वह प्रपञ्चके निर्माणमें समर्थ हो सकती है। जैसा कि—

'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।'

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

—इत्यादि श्रुतियोंसे स्पष्ट है और श्रीभगवान्ने स्वयं भी आज्ञा की है—

'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।'

अब यदि ईश्वरकी पूर्वोक्त सर्वोत्कृष्टताके विषयमें यह प्रश्न किया जाय कि इसमें प्रमाण ही क्या है? तो इसका उत्तर यही है कि सर्वज्ञ ईश्वर-प्रणीत वेद ही प्रमाण है। वेदकी प्रमाणता स्वतः-सिद्ध है। क्योंकि ईश्वरप्रणीत वेदके मन्त्र जिस-जिस कार्यकी सिद्धिके लिये विनियुक्त हैं, उस-उस कार्यका सिद्ध होना प्रत्यक्ष सिद्ध है। पुराणोंमें भी कहा है—

'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः
स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः
षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥
ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः ।
स्रष्टृत्वमात्मसम्बोधोऽधिष्ठातृत्वमेव च ॥
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे ।'

अर्थात् सर्वज्ञता (तीनों कालोंमें सम्पूर्ण पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान) तृप्ति (किसी भी वस्तुका अप्राप्त न होना), अनादिबोध (स्वभावसिद्ध ज्ञान) स्वतन्त्रता (कार्य करनेमें पराधीन न होना), नित्य अलुप्त शक्ति (तीनों कालोंमें सामर्थ्यसे रहित न होना) और अनन्तशक्ति (जिसका अन्त नहीं ऐसी शक्ति) यह छः ईश्वरके अङ्ग हैं। और ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धृति,

स्रष्टृत्व, आत्मसम्बोध और अधिष्ठातृत्व यह दश ईश्वरमें सर्वदा विद्यमान रहते हैं।

यहाँतक योगदर्शनके अनुसार ईश्वर-प्रतिपादनका दिग्दर्शन कराया गया है। इसके अतिरिक्त योगदर्शनमें जिस चित्तवृत्तिके निरोधात्मक योगके साधनसे समाधि-लाभ कैवल्यका निरूपण किया गया है, उस समाधि-सिद्धिके लिये भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानाद् ।

(साधनपाद सू० ४५)

ईश्वरके प्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है। 'प्रणिधान' के भाष्यमें भगवान् वेदव्यासजीने 'प्रणिधानाद्=भक्तिविशेषाद्' यह स्पष्टता की है अर्थात् ईश्वरकी भक्तिसे समाधिकी सिद्धि होती है। यद्यपि भाष्यके व्याख्याकार श्रीवाचस्पति मिश्रजीने इस सूत्रकी व्याख्यामें योगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान यह सात अङ्ग ईश्वरप्रणिधानमें उपयोगी होनेके कारण इन योगके सातों अङ्गोंके अनुष्ठानकी भी आवश्यकता बतलायी है। किन्तु भगवान् भाष्यकारने ईश्वर-प्रणिधानके लिये इन साधनोंकी आवश्यकताके विषयमें कुछ आज्ञा नहीं की है, अतएव यम-नियमादि ईश्वर-प्रणिधानके ऐकान्तिक कारण नहीं, यदि महर्षि पतञ्जलिको ऐसा अभीष्ट होता तो इसके पूर्व—समाधिपादमें वे—

'ईश्वरप्रणिधानाद् वा ।'

(समाधिपाद सू० २३)

—ऐसा सूत्र कदापि न लिखते। इस सूत्रके प्रथम श्रद्धा आदि उपायोंसे समाधिका लाभ बतलाया गया है, जिनमें तीव्र वैराग्यद्वारा समाधिका प्राप्त होना अत्यन्त शीघ्र बतलाया गया है, और तीव्र वैराग्यमें भी अधिमात्र तीव्र वैराग्यको विशेष बतलाया गया है—

'मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ।'

(समाधिपाद सू० २२)

उसके पश्चात् उपर्युक्त २३ वें सूत्रमें ईश्वर-प्रणिधानद्वारा तीव्र वैराग्यसे भी आसन्नतम—अत्यन्त ही शीघ्र समाधि-लाभका फल प्राप्त होना कहा गया है। इसके द्वारा स्पष्ट है कि योग-दर्शनके मतमें भगवद्भक्ति ही मोक्षके लिये सर्व साधनोंसे उत्कृष्ट होता हुआ भी स्वतन्त्र साधन है, इसके लिये अन्य किसी साधनकी अपेक्षा नहीं।

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिका यह मत स्वकपोल-कल्पित नहीं, किन्तु श्रीमद्भगवद्गीताके छठे अध्यायमें भगवान्ने स्वयं योगचर्याका निरूपण करनेके बाद प्रथम तो—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥४६॥

इसप्रकार योगीको तपस्वियोंसे, ज्ञानीजनोंसे और अग्निहोत्रादि वेदविहित कर्मनिष्ठोंसे सर्वोत्कृष्ट बतलाते हुए अपने अनन्य भक्त अर्जुनको योगी-योग-सम्पन्न होनेकी आज्ञा देकर पुनः निष्कर्ष-रूपमें यही आज्ञा की है कि—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

(गीता ६ । ४७)

योगियोंमें अर्थात् सभी अन्य देवताओंके उपासकोंमें, जो अपने पूर्व-पुण्योंके फल-विशेषके कारण मुझ वासुदेवमें अच्छी प्रकार स्थित किये हुए अन्तःकरणसे श्रद्धापूर्वक मुझको भजता है—मेरी श्रवण-कीर्तनादि नवधा भक्ति करता है, वह मेरा भक्त युक्ततम है अर्थात् समाहित-चित्त योगिराजोंमें सबसे वही श्रेष्ठ है। कहनेका तात्पर्य यह है कि केवल योगदर्शनमें ही नहीं, सभी मोक्षोपदेशक शास्त्रोंका यही निष्कर्ष है कि विषम भवसागरको उत्तीर्ण करनेके लिये भगवान्की भक्ति

का ही एकमात्र साधन ऐसा है, जो सभी संसारी जीवोंको सुख-साध्य है। भगवान्ने अपने अन्तरङ्ग भक्त उद्धवजीसे स्पष्ट आज्ञा की है कि—

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥
न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १९-२०)

जैसे बढ़ी हुई अग्नि ईंधनको जलाकर भस्म कर डालती है, वैसे ही मेरी भक्ति भी समस्त पापोंका सर्वथा नाश कर देती है। हे उद्धव! मेरी प्राप्ति करानेमें मेरी दृढ़ भक्तिके समान योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग आदि कोई भी समर्थ नहीं है। (ये सब भी उपाय हैं, परन्तु भक्तिसे कम शक्तिके हैं)

सांख्यमें ईश्वरका स्वरूप

(लेखक—डा० श्रीयतीन्द्रकुमार मजूमदार एम० ए०, पी-एच० डी०, बार-एट-ला)

कल्याण'के गत श्रावणकी संख्यामें 'सांख्यमें ईश्वर-वाद' शीर्षक लेखमें मैंने यह दिखलानेकी चेष्टा की है कि, सांख्य भी वेदान्तकी भाँति सेश्वर-दर्शन है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि सांख्य किसप्रकारके ईश्वरको स्वीकार करता है, अर्थात् सांख्यके ईश्वरका क्या स्वरूप है? सांख्य-कार भी वेदान्तकी भाँति ईश्वरको पुरुषविशेष ही मानते हैं, यही दिखलाना इस लेखका उद्देश्य है।

ईश्वरके पुरुषत्व (Personality) के सम्बन्धमें आलोचना करनेसे पूर्व 'पुरुषत्व' के अर्थके विषयमें विचार करना आवश्यक है। पुरुषत्वके प्रधान लक्षण दो हैं, अथवा एक ही लक्षणको दो प्रकारसे प्रकट किया जाता है। इन दोनों लक्षणोंमें एक है—आत्मज्ञान (self-consciousness) और दूसरेका नाम है—इच्छा (will), जो समस्त चेष्टा और उद्यमका सज्ञान शक्ति-केन्द्र है। सब प्रकार पुरुषत्वके ये ही दो साधारण धर्म या लक्षण हैं। परन्तु यह आत्म-ज्ञान किसी सारभूत पदार्थका अभेद अथवा अखण्ड एकत्व नहीं है, यह एक सुव्यवस्थित समष्टि या प्रपञ्चका सभेद एकत्व है—बहुत्वमें एकत्व है; और इसप्रकारका एकत्व सर्वत्र सम्पूर्ण या निर्दोष नहीं है, एकमात्र ईश्वरमें ही वह निर्दोषिता पूर्णताको प्राप्त हुई है। अतएव एकमात्र ईश्वर ही अखण्ड आत्मज्ञानस्वरूप होनेके कारण उसीको वस्तुतः अधिपुरुष या पुरुषविशेष, (Super-person) कहा जा सकता है। इधर जब हम यह कहते हैं कि ईश्वर सभी कार्य और चेष्टाओंका एकीभूत केन्द्र है, तब भी हम उस एक ही वस्तुको समझते हैं; यह केवल भाषाकी भिन्नता है। अथवा संक्षेपमें यों कहा जा सकता है कि, ईश्वर ही पूर्ण ज्ञान और पूर्ण इच्छाशक्ति है। ये दो लक्षण यदि ईश्वरके पुरुषत्वके लक्षण हैं तो क्या सांख्य ईश्वरमें इन दोनों धर्मोंका आरोप करता है? इसी प्रश्नकी मीमांसा करना यहाँ हमारा प्रतिपाद्य विषय है।

सांख्यने पुरुषका लक्षण साधारण भावसे किया है। हमें उसी लक्षणकी भलीभाँति परीक्षा करनी होगी। सांख्यकारिकाकी १० वीं और ११ वीं कारिका*में पुरुषके जो लक्षण या गुण बतलाये गये हैं, उनसे पता लगता है कि पुरुष अज, नित्य, सर्वव्यापी, अपरिवर्तनीय, एक, स्वाधीन, अविभाज्य, असङ्ग और स्वतन्त्र है। इन सब विषयोंमें पुरुष प्रकृतिके सदृश है; किन्तु पुरुषमें और भी गुण हैं, जिसके कारण वह प्रकृतिसे भिन्न है। वे गुण हैं—त्रिगुणवर्जित, विवेकी, कर्त्ता, विशिष्ट या व्यक्तित्वसम्पन्न, चेतन और अप्रसवधर्मा। इसीके साथ १९ वीं कारिका†पर विचार करना चाहिये।

* हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ।
त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥

† तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥

सांख्य-सूत्रमें पुरुषके निम्नलिखित गुण स्थिर किये गये हैं–पुरुष नित्य है, सर्वव्यापी है (१ अ०, १२ सूत्र*), असंग है (१ अ०, १५ सूत्र†), नित्यशुद्ध या अपरिवर्तनीय है, नित्यबुद्ध और नित्यमुक्तस्वभाव है (१ अ० १९ सूत्र‡)। पुरुषके गुणोंके सम्बन्धमें सांख्यवादीगण अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी सांख्यकारिकासे जरा-सा भी भिन्न मत नहीं रखते। अतएव सांख्यकारिकामें पुरुषके गुणोंकी जो सूची दी गयी है, उसीको हम उनका अन्तिम सिद्धान्त मान सकते हैं।

अब पुरुषके उक्त गुणोंकी भलीभाँति परीक्षा करें। पुरुष (अर्थात् परमपुरुष) सचेतन, धीमान् (प्रधी) और नित्यबुद्ध है अतएव वह अभेद एकत्व नहीं है, परन्तु वह एक स्वगतभेदयुक्त समष्टि है, अथवा वह वस्तु है जिसे 'बहुत्वमें एकत्व' कहते हैं। पुरुष क्या एक निरवच्छिन्न एकत्व है, या एक समष्टिका एकत्व है ? यहाँ और भी दो गुणोंपर ध्यान देना होगा–पुरुषको कर्त्ता (Subject) और प्रकृतिको विषय (Object) कहा गया है। अतएव पुरुष हुआ आत्मज्ञानयुक्त कर्त्ता और प्रकृति हुई उसका विषय। परन्तु केवल इतनेसे ही पुरुषका बहुत्वमें एकत्व सिद्ध नहीं होता; क्योंकि यहाँ प्रकृति पुरुषसे सर्वथा भिन्न है और उससे बहिर्भूत हो सकती है। यद्यपि पुरुष प्रकृतिको जान सकता है परन्तु प्रकृति पुरुषके अन्तर्गत नहीं है। इस अवस्थामें पुरुष सर्वथा विषयशून्य होकर विशुद्ध एकत्वमें परिणत हो जाता है और प्रकृति पुरुषके ज्ञानके विषयीभूत समस्त पदार्थोंको अपने अन्दर धारण करती है। इसीलिये पुरुषको एक बहुत्वकी समष्टि या विश्वाधार बनानेके लिये जिस किसी प्रकारसे भी प्रकृतिको उसके अन्तर्गत करना होगा। इसीलिये सांख्यने 'सर्वव्यापी' यह खास विशेषण दिया है। पुरुष केवल आत्मज्ञानयुक्त कर्त्ता ही नहीं है। वह सर्वव्यापी चैतन्य या कर्त्ता है। अर्थात् वह प्रकृतिको अपने अन्दर धारण करता है। इस तरह देखा जाता है कि पुरुष एक सर्वव्यापी आत्मज्ञानयुक्त समष्टि या ब्रह्माण्ड है, प्रकृति उसका एक अंश या तत्त्वमात्र है। थोड़ेमें यह कहा जा सकता है कि पुरुष विषय और विषयीका, आत्मा और अनात्माका एक अविभाज्य समवाय (Organic Synthesis) है—संक्षेपमें, वही विषय-विषयी है। यह सत्य है कि प्रकृतिको भी सर्वव्यापी कहा गया है परन्तु वस्तुतः प्रकृति सर्वव्यापी विषय या अनात्मा है। एक सर्वव्यापी विषयीके साथ नित्यसम्बद्ध एक सर्वव्यापी विषय भी होना चाहिये और इन दोनोंको लेकर जो एक पूर्ण आत्मा है, उसका इनके साथ अङ्गाङ्गी-सम्पर्क है। इसका युक्तिसङ्गत रूप आगे चलकर देखेंगे।

इस बीचमें हम कुछ कठिन विषयोंकी मीमांसा करना चाहते हैं। पुरुषको असङ्ग और नित्यमुक्त कहा गया है। प्रकृति यदि पुरुषके अन्तर्गत है तो पुरुषके लिये इन विशेषणोंका प्रयोग कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि इन विशेषणोंका प्रयोग हो सकता है, क्योंकि ऐसा कहनेमें पुरुषकी केवल एक ही दिशा या अंशको ही दिखलाया जाता है। उसके पूर्ण स्वरूपको नहीं। पुरुष केवल प्रकृतिमें अनुस्यूत (Immanent) ही नहीं है, वह प्रकृतिसे अतीत (Transcedent) भी है। किसी सचेतन कर्ताका विषय केवल उसके निजके अन्तर्गत ही नहीं है, वह कर्ता उस विषयसे पृथक् और उससे अतीत भी है। दृष्टान्तके लिये कहा जा सकता है कि, हमारे भाव, अनुभूति और इच्छा आदि हमारे आत्माके अन्तर्गत होने पर भी केवल यही उस आत्माके सर्वस्व नहीं हैं। पुरुष प्रकृतिसे अतीत है, इसलिये वह नित्यमुक्त है, अर्थात् प्रकृतिका प्रभाव उसपर नहीं है, एवं साथ ही वह उसके संग या सम्पर्कसे मुक्त भी है। केवल इसी अर्थमें श्रुति पुरुषको नित्यमुक्त और प्रकृति-संगरहित कहती है। यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि, सांख्यमें पुरुषके जो लक्षण बतलाये गये हैं, वे श्रुत्युक्त पुरुषके लक्षणोंसे विशेष पृथक् नहीं हैं। और जो लोग श्रुतिसे परिचित हैं वे विशेषरूपसे जानते हैं कि निम्बार्क और रामानुजके मतानुसार ये गुण ब्रह्मके या परमपुरुषके निर्गुणत्वके प्रकाशक हैं। ऐसे और भी गुण–निष्क्रियत्व, अपरिवर्तनीयत्व, अप्रसवधर्मित्व, विशिष्टत्व–आदि भी पुरुषत्वके निर्गुणत्वके परिचायक हैं। परन्तु अपर पुरुष प्रकृतिमें अनुस्यूत है इसलिये उसमें व्यक्त प्रकृतिके क्रियाशीलत्व, प्रसवधर्मित्व, परिणामित्व इत्यादि गुण भी रहते हैं। अतएव परम पुरुषके पूर्णत्वमें परस्पर आपातविरुद्ध दो प्रकारकी गुणावली देखनेमें आती है—एक श्रेणी उसके निर्गुणत्वके

* 'न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात्'

† 'असंगोऽयं पुरुष इति'

‡ 'न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते।'

परिचायक है और दूसरी सगुणत्वकी। अथवा इस विषय को हम इस दूसरे रूपमें प्रकट कर सकते हैं। परमपुरुष अपने पूर्णस्वरूपसे नित्यमुक्त है, कारण, उसके बाहर ऐसा कुछ भी नहीं है जो उसे बद्ध कर सके; तथापि यहाँ वह अपनी प्रकृतिके अधीन है, अर्थात् वह अपने ही द्वारा आप बँधा हुआ है। परन्तु इस अपने द्वारा अपने बन्धन या अधीनत्वका नाम ही स्वाधीनता है। वह असंग है, क्योंकि उसके बाहर ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके साथ उसे संयुक्त होना पड़े। वह निष्क्रिय है, क्योंकि सम्पूर्णताके कारण उसका कोई भी अभाव पूर्ण होनेके लिये शेष नहीं है, अथवा उसका कोई भी उद्देश्य सिद्ध होना नहीं है, अतएव सब कर्मोंके मूलमें रहनेवाली इच्छा उसमें नहीं है। वह अपरिवर्तनीय है, कारण, उसके बाहर ऐसा कुछ भी नहीं है जो उसके स्वरूपमें परिवर्तन कर सके; अतएव अपने पूर्णरूपमें वह नित्य अपरिवर्तनीय है। वह अप्रसवधर्मी है, क्योंकि उत्पादनमात्रसे ही परिवर्तन सिद्ध होता है, किन्तु वह नित्य परिपूर्ण है। वह व्यक्ति है, क्योंकि व्यष्टिके साथ सामञ्जस्य रखनेवाली जो पूर्ण समष्टि है वही वास्तविक व्यक्ति है। परन्तु चूँकि अंश अर्थात् जगत्की समस्त वस्तुएँ या व्यक्तियाँ उसीके बहुधा प्रकाश हैं—उसीकी निजशक्तिके एक-एक विशिष्ट केन्द्र हैं, अतएव उनके धर्म भी उसमें हैं। परमपुरुष केवल पूर्ण ही नहीं है, वह परिपूर्ण इच्छाशक्ति भी है, इच्छाशक्ति शब्दसे हम यहाँ एक परिपूर्ण स्वतःस्फूर्त सक्रिय मूल-तत्त्वको लेते हैं। इस अर्थमें परमपुरुष सक्रिय है, परन्तु उसके सक्रियत्वमें कोई भी अभाव, उद्देश्य या इच्छाजनित प्रवृत्ति नहीं है; वह स्वतःस्फूर्त है। सांख्यमें ऐसे और भी अनेक प्रमाण हैं, जिनके द्वारा यह देखा जाता है कि यद्यपि पुरुष और प्रकृति भिन्न हैं, तथापि वे एक स्वाधीन समग्रके अविच्छेद्य अंशस्वरूप या एक उच्चतर संयोग या समष्टिके नित्यानुबद्धी दो रूप या भावमात्र हैं (सांख्य-सूत्र प्रथम अध्यायके सूत्र १८, १९, ९६, ९९, १६४* और तृतीय अध्यायका सूत्र ५१† देखिये)।

कभी-कभी यह 'संयोग' शब्द पुरुष और प्रकृतिका सम्बन्ध समझानेके लिये व्यवहृत होता है; इस 'संयोग'से ही प्रकृति पुरुषसे सृष्टि-शक्ति प्राप्त करती है। (सांख्यकारिका २१ ‡ देखिये)। यह आश्चर्यकी बात है कि इस सम्बन्धको समझानेके लिये सांख्यकारिकामें 'संयोग' शब्दका व्यवहार किया है परन्तु सांख्य-प्रवचन-सूत्र 'सान्निध्य' शब्द व्यवहार करता है। यहाँ 'संयोग' शब्द ही 'सान्निध्य' शब्दकी अपेक्षा अधिकतर उपयुक्त प्रतीत होता है। जो कुछ भी हो, २१ वीं कारिकाकी एक विशेष उक्तिपर ध्यान दीजिये। उसमें यथाक्रमसे पंगु और अन्धेके साथ पुरुष और प्रकृतिकी तुलना की गयी है और कहा गया है कि सृष्टि-कार्यमें इनमेंसे एक दूसरेके बिना सर्वथा असहाय है। परन्तु सांख्यके मतसे सृष्टि (सर्ग) नित्य है, अतएव पुरुष और प्रकृतिका योग भी नित्य है, अर्थात् पुरुष और प्रकृति नित्ययुक्त हैं। इसलिये ये दोनों एक उच्चतर सत्ताके नित्याभिसम्बद्ध भाव हैं।

इस प्रसंगको पूरा करनेसे पूर्व, पुरुष और प्रकृतिको और भी जो दो विशेषण दिये गये हैं, उनपर विचार करना आवश्यक है। वे दोनों विशेषण हैं—स्वाधीन और स्वतन्त्र। प्रकृति यदि स्वाधीन और स्वतन्त्र है तो वह पुरुषके साथ अविच्छेद्य-सम्बन्धसे सम्बद्ध कैसे हो सकती है? परन्तु हम इस बातको देख चुके हैं, कि प्रकृति अविच्छिन्नरूपसे सम्बद्ध है और प्रकृति-पुरुष दोनों ही एक उच्चतर सत्ताके नित्याभिसम्बद्ध भाव हैं। अब इन दोनों विरोधी वाक्योंका सामञ्जस्य कैसे किया जा सकता है? इस विषयमें जरा ध्यान देनेसे ही यह समझमें आ जाता है, इसमें कुछ भी असामञ्जस्य नहीं है। हम प्रकृतिको दो रूपोंमें देख सकते हैं—पुरुषके कुछ गुण प्रकृतिमें हैं, इसके सिवा कुछ गुण प्रकृतिके निजके हैं, जिनके कारण वह पुरुषसे भिन्न है। अतएव पुरुष और प्रकृतिका मिलन भी है और पार्थक्य भी है। जहाँतक वे अभिन्न हैं, वहाँतक ठीक उसी अंशमें वे अविच्छेद्य-सम्बन्धसे आबद्ध और परस्परके मुखापेक्षी हैं; और जहाँतक वे भिन्न हैं और परस्पर-विरोधी हैं, वहाँतक वे असम्बद्ध हैं और परस्पर निरपेक्ष हैं। इसलिये एक विशेष दिशासे देखनेपर प्रकृति आपेक्षिकरूपसे स्वाधीन दीखती है, क्योंकि उसकी पूर्ण स्वाधीनता तो सर्वथा

* 'प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम्।'
'न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते।'
'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' 'अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम्' 'औदासीन्यं चेति'

† 'कर्मवैचित्र्यात्प्रधानचेष्टा गर्भदासवत्'

‡ 'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः'

असम्भव है । यदि वस्तुतः प्रकृतिको ऐसी स्वाधीनता होती तो प्रकृति पुरुषसे बाहर हो जाती और वह पुरुषको सीमाबद्ध करके उसे ससीम क्षुद्र कर डालती । दो वस्तु सम्पूर्णरूपसे स्वाधीन हैं और साथ ही सदृश तथा सर्वव्यापी भी हैं—यह उक्ति स्व-विरोधिनी है । अतएव प्रकृतिको आपेक्षिकरूपसे ही स्वाधीन कहना उचित है । फिर प्रकृतिको स्वतन्त्र भी कहा गया है । परन्तु स्वतन्त्र और स्वाधीन शब्द एक ही अर्थको प्रकट करते हैं, अतएव प्रकृति सर्वथा स्वाधीन नहीं है, आपेक्षिक भावसे स्वतन्त्र है । इसीसे अन्यान्य समस्याओंकी भी मीमांसा हो जाती है ।

अवश्य ही यह सत्य है कि सांख्यका प्रधान उद्देश्य ही पुरुष-प्रकृतिका भेद और विरोध अधिक करके और उनका सम्बन्ध यथासम्भव कम करके दिखाना है । जो सांख्यदर्शनको विशेष सावधानीसे नहीं पढ़ते, उनकी दृष्टिमें सांख्य कट्टर बहुवादी ही दिखायी देता है; परन्तु जो लोग विशेष प्रणिधानपूर्वक अध्ययन करते हैं, वे देखते हैं कि सांख्य आपेक्षिक भावसे ही बहुवादी है; उसके बहुत स्थलोंमें बहुत्वके पीछे एक ईश्वरका अस्तित्व भी स्वीकृत हुआ है—यद्यपि वह उतना स्पष्ट नहीं है ।

ईश्वरके पुरुषत्वके सम्बन्धमें योगदर्शनमें भी ऐसा ही मत दृष्टिगोचर होता है । योगसूत्र समाधिपादके सूत्र २३-२६* में पतञ्जलिने प्रधानतः ईश्वरकी प्रकृतिकी ही आलोचना की है और ऊपर ईश्वरके पुरुषत्वके जिन दो प्रधान लक्षणोंकी बात कही गयी है, वही बात इन सूत्रोंमें भी है । इन सूत्रोंकी अच्छी तरह व्याख्या करनेसे हम इस सिद्धान्तपर पहुँच जाते हैं कि योगदर्शनके मतमें ईश्वर पूर्ण ज्ञानस्वरूप और पूर्ण इच्छास्वरूप है, अतएव वही पुरुष या पुरुषविशेष (Super-person) है ।

इस विषयमें महाभारतका मत भी यही है । शान्तिपर्वमें ऐसे अनेकों श्लोक हैं जिनमें हमारे अनुमानसे ईश्वरको ज्ञानस्वरूप और इच्छास्वरूप ही माना गया है । यह अनुमान, महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३०३ के श्लोक ३१-३३, अध्याय ३०५ के श्लोक ३२, अध्याय ३०६ के श्लोक ३३-३७, अध्याय ३१४ के श्लोक २ और अध्याय ३१५ के श्लोक ७-९ के† देखनेसे सिद्ध होता है । किन्तु अध्याय ३१९ के श्लोक १-२‡ देखनेसे यह भ्रम हो जाता है कि ये श्लोक मानो उपर्युक्त मतके विरोधी हैं । वस्तुतः सावधानीके साथ परीक्षा करनेपर कोई विरोध नहीं रह जाता । हम ऊपर यह देख चुके हैं कि सांख्य पुरुषके सम्बन्धमें दृश्यतः दो विरुद्ध मतोंका पोषण करता है । सांख्य कहता है कि पुरुषकी दो दिशाएँ हैं—निर्गुण और सगुण । जिस परिमाणमें पुरुष व्यक्त जगत्‌में ओतप्रोत

* ईश्वरप्रणिधानाद्वा, क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः, तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्, स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

† प्रकृतिः कुरुते देवी भवं प्रलयमेव च ।
दिवसान्ते गुणानेतानभ्येत्येकोऽवतिष्ठते ॥
रश्मिजालमिवादित्यस्तत्तत्काले नियच्छति ।
एवमेषोऽसकृत्पूर्वं क्रीडार्थमभिमन्यते ॥
आत्मरूपगुणानेतान्विविधान् हृदयप्रियान् ।
एवमेतां विकुर्वाणः सर्गप्रलयधर्मिणम् ॥
अप्रबुद्धमथाव्यक्तमगुणं प्राहुरीश्वरम् ।
निर्गुणं चेश्वरं नित्यमधिष्ठातारमेव च ॥
सर्गप्रलय एतावान् प्रकृतेर्नृपसत्तम ।
एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च यदासृजत् ॥
एवमेव च राजेन्द्र विज्ञेयं ज्ञानकोविदैः ।
अधिष्ठातारमव्यक्तमस्याप्येतन्निदर्शनम् ॥
एकत्वं च बहुत्वं च प्रकृतेरर्थतत्त्ववान् ।
एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च प्रवर्तनात् ॥
बहुधात्मा प्रकुर्वीत प्रकृतिं प्रसवात्मिकाम् ।
तच्च क्षेत्रं महानात्मा पञ्चविंशोऽधितिष्ठति ॥
अधिष्ठातेति राजेन्द्र प्रोच्यते यतिसत्तमैः ।
अधिष्ठानादधिष्ठाता क्षेत्राणामिति नः श्रुतम् ॥
अव्यक्तरूपो भगवान् शतधा च सहस्रधा ।
शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रधा ॥
कर्तृत्वाच्चापि सर्गाणां सर्गधर्मा तथोच्यते ।
कर्तृत्वाच्चापि यागानां योगधर्मा तथोच्यते ॥
कर्तृत्वात्प्रकृतीनां च तथा प्रकृतिधर्मिता ॥
कर्तृत्वाच्चापि बीजानां बीजधर्मा तथोच्यते ।
गुणानां प्रसवत्वाच्च प्रलयत्वात्तथैव च ॥

‡ न शक्यो निर्गुणस्तात गुणीकर्तुं विशां पते ।
गुणवांश्चाप्यगुणवान्यथातत्त्वं निबोध मे ॥
गुणैर्हि गुणवानेव निर्गुणश्चागुणस्तथा ।
प्राहुरेवं महात्मानो मुनयस्तत्त्वदर्शिनः ॥

है, उस परिमाणमें वह सगुण या त्रिगुणविशिष्ट है, अर्थात् असंख्य ससीम रूपधारी है। और जिस परिमाणमें वह व्यक्त जगत्के अतीत है उस परिमाणमें वह निर्गुण या त्रिगुणरहित है, अर्थात् स्व-स्वरूपमें स्थित है। इस-प्रकारके रूप-भेदमें कोई अयौक्तिकता या असामञ्जस्य दृष्टिगोचर नहीं होता।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी ऐसे ही वचन मिलते हैं, उसमें कहीं परमात्माको निर्गुण कहा गया है तो कहीं सगुण (अध्याय १३ श्लोक १४, २०, २६, २९ और ३०* देखिये)। श्रीमद्भागवतका अध्ययन करनेपर उसमें भी यही बात पायी जाती है (तृतीय स्कन्ध अध्याय २६ के श्लोक ६–८, १६, १८, २२; अध्याय २७ का श्लोक १† देखिये)

अब ब्रह्मसूत्रमें ईश्वर और प्रकृतिके परस्पर निर्भर-शीलत्व और परस्परान्तर्गतत्व-सम्बन्धी प्रतिपाद्य विषय-पर जो कुछ आपातविरोधी उक्तियाँ हैं, उनपर विचार करके इस लेखका उपसंहार करना है।

(१) तदधीनत्वादर्थवत्

(अध्याय १।४।३)

इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए निम्बार्क कहते हैं कि सांख्यके मतमें प्रकृति ईश्वरके अधीन नहीं है। समझमें नहीं आता कि यह सिद्धान्त कहाँसे लिया गया है। हम ऊपर यह प्रमाणित कर चुके हैं कि सांख्यके मतानुसार पुरुष और प्रकृति परस्परान्तर्गत और नित्ययुक्त हैं; और सांख्यके मतके अनुसार ही उपनिषद्के मतमें भी प्रकृति पुरुषकी एक शक्तिके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

(२) व्यतिरेकानवस्थितेश्चाऽनपेक्षत्वात्

(अध्याय २।२।४)

इस सूत्र-व्याख्यामें भी निम्बार्क कहते हैं कि सांख्यके मतसे प्रधान पुरुष निरपेक्ष है; किन्तु इस धारणाका भ्रमात्मक होना ऊपर प्रमाणित किया जा चुका है। अवश्य ही यह कौतूहलका विषय है कि ब्रह्मसूत्रके प्रणेतारूपसे व्यासदेवने सांख्यके मतसे प्रधानको ईश्वरके अनधीन और निरपेक्ष बतलाया है और उन्होंने ही योगसूत्रके भाष्यकाररूपसे कहा है कि पुरुष और प्रकृति सम्पूर्ण पृथक् (अत्यन्ता-सङ्कीर्ण) नहीं हैं (साधनपाद सूत्र २०, समाधिपाद सूत्र ४ और कैवल्यपाद सूत्र २२। २३ का भाष्य देखिये ‡)।

व्यासदेवने अपना मत सम्भवतः उपनिषद्से लिया है अतएव उपनिषद्के इस उद्देश्यके वचनोंपर विचार करना आवश्यक है। प्रकृति और उसके परिणामका वर्णन अनेकों उपनिषदोंमें किया गया है, परन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद्में ईश्वर और प्रकृतिके सम्बन्धमें अधिकतर स्पष्ट भावसे वर्णन आया है। (अध्याय १ श्लोक १०-१२ और अध्याय ४ श्लोक ५-७ देखिये) इन मन्त्रोंमें ब्रह्म और प्रकृतिके सम्बन्धमें यह कहा गया है कि प्रकृति ब्रह्मकी एक शक्ति या अंशके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है,

---

* सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥
यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥

† एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान्।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते॥
तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम्।
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः॥
कार्यकरणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्॥
प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम्।
अहंकारविमूढस्य कर्तुः प्रकृतिमीयुषः॥
अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः।
समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया॥
स्वच्छत्वमविकारित्वं शान्तत्वमिति चेतसः।
वृत्तिभिर्लक्षणं प्रोक्तं यथाऽपां प्रकृतिः परा॥
प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत्॥

‡ कई विद्वानोंकी सम्मति है कि योगसूत्रके भाष्यकार व्यासदेव—ब्रह्मसूत्रप्रणेता भगवान् व्यासदेवसे पृथक् कोई भिन्न महानुभाव हैं। सम्भवतः इसी कारण यह मतविरोध हो—सं०

अतएव उससे स्वतन्त्र या उसके अनधीन नहीं है। साधारणतः सांख्यकी जैसी व्याख्या की जाती है, उसमें प्रकृतिको ब्रह्मसे सम्पूर्णरूपसे स्वाधीन कहा जाता है, इसीलिये सांख्यको वेदान्तसे सावधानीके साथ अलग किया जाता है। कोई-कोई यह भी कहते हैं कि, यद्यपि उपनिषदोंमें बहुत जगह सांख्यकी परिभाषा मिलती है, परन्तु वह भिन्न वस्तुओंका निर्देश करती है और वह सांख्यदर्शनसे कभी नहीं ली गयी है। कोई-कोई यह सन्देह करते हैं कि सांख्यने ही उपनिषद्से उसकी परिभाषा ली है और अपने प्रयोजन और अर्थमें उसका व्यवहार किया है। कौतूहलकी बात तो यह है कि कपिलका नाम भी श्वेताश्वतर उपनिषद्में आया है (अ० ५ । २ * देखिये) यह सत्य है कि, किसी निश्चित ऐतिहासिक प्रमाणद्वारा यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि सांख्यने उपनिषद्से उसकी परिभाषा ली है या उपनिषद्ने सांख्यसे ली है। पुरुष और प्रकृतिके सम्बन्धके विषयमें जो आपातविरोधी विभिन्न व्याख्याएँ मिलती हैं, उसीसे यह संशय उत्पन्न होता है। परन्तु हम पहले ही यह प्रमाणित कर चुके हैं कि, सांख्य प्रकृतिको पुरुषसे सर्वथा स्वाधीन नहीं कहता, वरं उसमें स्पष्टरूपसे यह कहा गया है कि प्रकृति पुरुषका ही अंश है। इतना ही नहीं, सांख्यकी श्रेष्ठताके बतलानेवाले महाभारत शान्तिपर्वमें और श्रीमद्भगवद्गीतामें अनेक श्लोक मिलते हैं। (महा० शान्तिपर्व अध्याय ३०१, श्लोक १००, १०१; अध्याय ३१६ श्लोक २; और श्रीगीता अ० ५ श्लो० ४ । ५ देखिये †) इनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रकृतिके साथ जीव और परम पुरुषका जो सम्पर्क है, उसके सम्बन्धमें सांख्य और उपनिषद्में कोई भी अनैक्य या असंलग्नता नहीं है।

अब हम यहाँ यह उपसंहार कर सकते हैं कि सांख्यके मतमें भी एक अद्वितीय परम पुरुष ही विद्यमान है, वह परम चेतन आत्मा अथवा ईश्वर है; वह प्रकृतिको अपने पूर्णतासूचक अङ्गरूपसे अपने ही अन्दर धारण करता है, और अपनेको विश्वाङ्ग-स्वरूप असंख्य जीवरूपसे प्रकट करनेके लिये प्रकृतिको साधनरूपमें व्यवहार करता है; और इसप्रकार वह एक परिपूर्ण चेतन और समस्त कर्म या चेष्टाका परम कारण होनेसे उसे पुरुष कहा जा सकता है परन्तु उसके परिपूर्ण एकत्वके कारण उसे पुरुषविशेष कहना ही अधिकतर युक्तिसंगत है।

कोई नहीं अपना

(पीलू–तीनताल)

जगत्में कोई नहीं अपना ।

झूठा नाता, झूठे साथी, सब झूँठा सपना ।
दुनिया एक मुसाफिरखाना, चार दिवस कुल रहना ।
लाखों गलियाँ जगत-नगरमें, उनमें मूर्ख ! भटकना ॥
पूर्ण असंभव इस नगरीमें, अधिक दिनों रहना ।
मुक्ति विकट है एक यहाँ बस, राम-नाम जपना ॥

पद्मकान्त मालवीय

* 'ऋषिं प्रसूतं कपिलम्'

† सांख्या राजन्महाप्राज्ञ गच्छन्ति परमां गतिम् । ज्ञानेनानेन कौन्तेय तुल्यं ज्ञानं न विद्यते ॥
अत्र ते संशयो माभूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम् । अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥
नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम् । तावुभावेकचर्यौ तावुभावनिधनौ स्मृतौ ॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः । एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते । एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

सप्ताह

(लेखक—मुंशी श्रीकन्हैयालालजी एम० ए०, एल-एल० बी०)

[कहानी]

(१)

'चाचा ! मैं शोभारामजीके पास जा रहा हूँ ।'

पिताजी घरपर चाचा कहे जाते थे। एक जरूरी मुकद्दमे-के कागज़ात देख रहे थे। लड़केकी बात सुनकर उन्होंने सिर उठाकर ऊपर देखा। वे ठीक समझ न सके कि भैया-का क्या मतलब है। उन्होंने पूछा 'तुम्हारे मास्टर कहाँ चले गये ?'

भैयाने शान्तिसे उत्तर दिया, 'उन्होंने साधु होनेके लिये जयपुर छोड़ दिया है !'

चाचाने अपना चश्मा टेबिलपर रख दिया। वे बोले, 'मुझे दुःख है कि उन्होंने जानेके पहले मुझसे कुछ नहीं कहा। यह तो मुझे मालूम था कि वे जायँगे, लेकिन इस बातकी कल्पना भी नहीं थी कि वे इस तरह यकायक चले जायँगे। वे कब गये ?' यह सब वे मानो एक ही साँसमें कह गये। 'चाचा ! मैं भी वहीं जाऊँगा, दो घण्टे हुए जहाँ वे गये हैं।'

'जाओ, चुपचाप बैठो और गर्मियोंकी छुट्टीमें आराम करो। पागल आदमियोंकी तरह बे-मतलबकी बातें मत करो।'

'नहीं, चाचा ! मैं जरूर जाऊँगा। मैं यहाँ अब और नहीं रुक सकता !'

'चुप रहो ! मुझे काम करने दो।' चाचाने डाँटकर कहा।

'चाचा ! मुझे कुछ रुपये दे दीजिये।' भैयाने अपने शान्त, गम्भीर और दृढ़ स्वरमें कहा।

'न तो मैं तुम्हें रुपये दूँगा और न तुम्हें कहीं जाने ही दूँगा। मैं यह लड़कपन नहीं पसन्द करता।' उनके स्वरमें दृढ़ता थी, लेकिन उन्हें मालूम था कि भैयाका मन दिनोंदिन वैराग्य और भगवत्प्रेमकी ओर बढ़ रहा है तथा वह बड़ा ही दृढ़-निश्चयी है, इससे सम्भव है वह फिर भी अपनी हठपर अड़ा रहे।

चाचाको यह आशा न थी कि भैयाके समान निश्चयी लड़का इतनी आसानीसे मान जायगा, लेकिन भैया बिना कुछ कहे हुए उनके पाससे चला गया। चाचाने कनखियों-से उसको अपने कमरेकी ओर जाते देखा। उन्होंने समझा कि अब साधु होनेका उसका जोश ठण्डा पड़ गया, इस कारण उन्होंने अपना चश्मा लगाया और फिर मुकद्दमेकी तैयारीमें लग गये। किन्तु उन्हें इस बातका अफसोस था कि भैयाके मास्टर शोभाराम इस तरह यकायक घर छोड़-कर क्यों चले गये ?

× × ×

दो घण्टे बाद सतरह वर्षका एक लड़का धोती, कुर्ता और गांधी टोपी पहने और एक पुस्तक हाथमें लिये चाचा-के घरसे चुपचाप बाहर हुआ और तेजीसे आगे बढ़ा। वह चाँदपोल फाटककी ओर बढ़ा और जब नगरकी दीवारके बाहर हुआ तो उसने एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर स्वतन्त्रताका अनुभव किया। उसे यह नहीं मालूम था कि उसे किस रास्तेसे जाना चाहिये और उसे कहाँ जाना है लेकिन उसके क़दम बराबर बढ़ रहे थे। उसके अन्दर एक दृढ़ता थी, जिससे वह बिना किसी रुकावटके बराबर आगे बढ़ा चला जा रहा था।

भैयाको, (क्योंकि यह लड़का भैयाके सिवा और कोई न था) यह मालूम था कि शोभाराम अपने गुरुके पास गये थे, जो बुलन्दशहरके जिलेमें किसी जगहपर गंगाके किनारे रहते थे। जयपुरसे बुलन्दशहर बड़ी दूर है। उसके पास पैसा या कपड़ा कुछ भी न था। अपने साथ ले जानेको उसके पास था बस भगवान्‌का विश्वास, अपना दृढ़ विचार और वह पुस्तक। चलनेके लिये उसके पास पैरोंका ही बल था। उसे रास्ता नहीं मालूम था, लेकिन चूँकि उसने ऐसा सुन रक्खा था कि शोभाराम अपने गुरुके पास अक्सर दिल्ली होकर जाया करते थे, इसलिये उसने दिल्ली जानेवाली सड़कको पकड़ा, जहाँसे उसका विचार था कि वह अपने अज्ञात अथवा अल्पज्ञात विदेशकी ओर बढ़ेगा, जो बुलन्दशहरके जिलेमें है।

जयपुर बड़ा सुन्दर नगर है और यात्रियोंके लिये बड़े आकर्षणका स्थान है, सिवा इसके कि वहाँके राजकर्मचारी यात्रियोंको बहुत तंग करते हैं।

जब कोई नगरमें घुसता है तो उसकी आँखें नगरकी साफ़ और चौड़ी सड़कों, उसके दोनों ओर खड़े लाल मकानों और संख्यामें पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक सौदा करनेवाली लाल और पीले कपड़े पहने स्त्रियोंपर जरूर पड़ती हैं। जब यात्री रामनिवासबाग अथवा महाराजका पोलो खेलनेका मैदान देखता है, वह एक क्षणके लिये भी यह नहीं सोच सकता कि यह बड़ा नगर एक रेगिस्तानके बीच बसा हुआ है और जो पानी इन बागोंको हरा रखनेके लिये लाया जाता है उसका मूल्य कितना अधिक है।

नगरसे बाहर आनेपर ही रेगिस्तान दिखायी देता है और पानीकी कमी मालूम पड़ती है। भैयाको इसका अनुभव था क्योंकि एक बार वह अपनी मोटरसे दिल्ली गया था; फिर भी उसे अभी यह बात सीखनी थी कि यह यात्रा पैदल इतनी आसान नहीं, जितनी मोटरसे, जब कि फासला इतनी जल्दी तय किया जा सकता है।

भैया निर्भीक बना रहा। वह अपना गुरुमन्त्र और गायत्रीमन्त्र जप रहा था। थोड़ी देरमें वह नगरके बाहर हो गया। वह अपने स्वनिर्धारित व्रतपर इतना दृढ़ था कि क्षणभर भी इस बातपर विचार करनेको न रुका कि वह एक ऐसा काम करने जा रहा था, जो सम्भव है कि उसकी शारीरिक शक्तिके परे हो। उसने यह न सोचा कि यकायक उसके चले जानेपर चाचा क्या सोचेंगे और न यही कि वह अपने ऊपर दुःख, दारिद्र्य और विपत्तिको आमन्त्रित कर रहा है, जिनसे वह अपने पिताके साथ रहता हुआ बिल्कुल अनभिज्ञ था। उसके पिता अच्छी हैसियतके आदमी थे।

(२)

रातभर भैया एक पेड़के नीचे सोया। सबेरे जब उसकी नींद खुली, चार भी न बजे थे। उठकर उसने चारों ओर देखा। अँधेरा अभी भी दूर न हुआ था। उसे याद आया कि उसके पास एक लोटा भी नहीं है, जिससे वह अपने प्रातःकृत्योंसे निपट सके। किन्तु इस विचारको उसने तुरन्त ही अपने मस्तिष्कसे निकाल फेंका। वह अपने आप सोचने लगा कि ईश्वरके अगणित जीव बिना लोटेके ही हैं, फिर भी वे जीवित रहते हैं और अपनी दैनिक आवश्यकताओंको पूरा करते हैं। जब उसने अपने घर, अपने आराम, अपने सम्बन्धियों—सबको छोड़ दिया, तब उसका मन लोटेका मोह क्यों करे? कुछ भी नहीं। वह दृढ़ चित्तसे आगे बढ़ा। गुरुमन्त्र और गायत्री-मन्त्रका जप बराबर हो रहा था, सिर्फ इसलिये नहीं कि उसे ऐसा करना अच्छा लगता था, बल्कि ऐसा करनेसे उसे सन्तोष और शक्ति मिलती थी।

जब करीब नौ बजेके वह एक छोटे और अर्धशुष्क नालेपर पहुँचा तो उसने सोचा कि यह उसके नहानेका समय है। उसने अपना कुर्ता उतारा और उसके ऊपर अपनी किताब रख दी और उस छोटे नालेमें उतरा। नहानेसे उसे बड़ा आनन्द मिला, इससे उसे ऐसा लगा जैसे उसका सारा श्रम जाता रहा। चूँकि उसने रातको खानेको कुछ न पाया था, इससे स्नान करनेके बाद उसने खूब पेट भरकर पानी पिया। उसे ऐसा अनुभव हुआ कि जलमें इतनी बलदायिनी शक्ति है कि उसे अगले चौबीस घण्टेतक किसी प्रकारके भोजनकी आवश्यकता न होगी। वह प्रसन्न हुआ और उसने ईश्वरको धन्यवाद दिया कि वह ऐसे रास्तेपर चला जहाँ यह नदी मिली, जिसने उसे इतना सुख दिया। जब वह नदीसे बाहर निकला, उसे याद आया कि न तो उसके पास बदन पोंछनेके को तौलिया है और न बदलनेके लिये दूसरी धोती। अब क्या करना चाहिये? परन्तु इस बातने उसे अधिक व्यग्र न किया। उसने पासके क पत्थरके टुकड़ेपर तबतक बैठना निश्चय किया जबतक कि धोती सूख न जाय। वह पत्थर पर बैठ गया और ध्यानस्थ होकर मन्त्र जपने लगा, लगभग एक घण्टेतक उसकी यही स्थिति रही। इतनेमें धोती सूख गयी।

वह फिर आगे बढ़ा, इस समय जेठका घाम तेज हो गया था और बालू गरम हो गयी थी। हवा भी बहने लगी थी, पर अभी उसमें जोर नहीं था। पर आज भैया न धूपकी परवा करता है न हवाकी। उसे अपना सफ़र तै करना था और वह निर्भयतासे चला जाता है। उसे मालूम था कि उसका सफ़र चलनेसे ही तै होगा।

राजपूतानेका रेगिस्तान सभी यात्रियोंको कष्टप्रद है। उसे क्या परवा कि उसके ऊपर कौन चल रहा है। भैया जब चला तो उसको भी उसने कष्ट देना आरम्भ

किया। सूरज उसे जला रहा था और उसके इस काममें गरम हवा–लू उसकी पूरी मदद कर रही थी जो अपने साथ बालू वा बादल लेकर चलती थी। बालूसे भैयाकी आँखें अन्धी हो रही थीं किन्तु उसे भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास था और यह मालूम था कि वह ठीक मार्गपर जा रहा है और इस कारण वह प्राकृतिक बाधाओंके होते हुए भी चलता गया। ऐसा मालूम होता था कि प्रकृतिकी सब शक्तियाँ मिलकर भैयाका विरोध कर रही हैं और उसके आगे बढ़नेमें रुकावट डाल रही हैं। दोपहरके बाद भैयाके पैरोंने बिल्कुल जवाब दे दिया। भैया बड़ी मुश्किलसे चल रहा था। और यह एक देखनेयोग्य दृश्य था कि भैया किसप्रकार अपनी थकावटकी कुछ भी फ़िक्र न करता हुआ आगे बढ़ रहा था। वह इस बातको भी भूल गया था कि उस दिन भी उसने कुछ खाया न था, लेकिन उसकी ताक़त अब उसका साथ नहीं दे रही थी। पर भैया अभी इससे बिल्कुल अनभिज्ञ था। उसने इसका कभी विचार ही न किया। अब वह बालुओंके एक चौड़े मैदानमें था। वह किसी ऐसी छायादार जगहमें पहुँचनेका प्रयत्न कर रहा था जहाँ वह अपनी रात बितावे और सुबह होते ही फिरसे अपनी यात्रापर चल दे।

वायु और उसके शोरसे बराबर युद्ध करते-करते वह बिल्कुल बहरा-सा हो गया था। उसने उसी सड़कपर पीछेसे आती हुई लारीके भोंपूकी धीमी आवाज़ न सुनी। लारी उसके बहुत पास आ गयी थी और वह अबतक सड़कके बीचोंबीच अपना गुरुमन्त्र गाता झूमता हुआ-सा चला जाता था। लारीके ड्राइवरको इस बातपर आश्चर्य हुआ कि यह लड़का इसके भोंपूके द्वारा आगाह किये जानेपर भी सड़कपर चलनेका हठ कर रहा है। बिजलीकी तरह एक विचार उसके हृदयमें आया। उसने सोचा कि इस लड़केको सबक देना चाहिये कि सड़कके किनारे चलना, सड़कपर चलनेसे अधिक सुरक्षित है। उसने अपना ब्रेक लगाया और गाड़ीकी चाल धीमी की और निश्चय किया कि वह इस लड़केको एक हल्का-सा धक्का दे दे। वह अब उसके बहुत समीप आ गया था। और भैयाके बाईं तरफ था। ठीक उसी समय भैयाने देखा कि उसके पीछे एक लारी आ रही है और उसे बाएँ हो जाना चाहिये। वह अपने बाएँकी ओर झपटा। परन्तु भैया और ड्राइवर दोनोंको आवश्यकतासे अधिक विलम्ब हो चुका था। ड्राइवरका इरादा एक हल्का धक्का देनेका था और उसने एक हल्का ही धक्का दिया होता पर चूँकि भैया भी उसी तरफको चला गया था, वह लारीके पिछले हिस्सेसे टकरा गया। उसे इससे चोट लगी और वह गिर पड़ा। वह बहुत थका था और कमज़ोर हो रहा था। धक्केको सहन न कर सका। गिरा और बेहोश हो गया।

जितनी देरमें भैया गिरा, गाड़ी उससे कई गज़ आगे चली गयी थी। ड्राइवर अपनी सीटसे झुका और उसने पीछे देखा। भैयाको मुर्देकी तरह पड़ा देखकर वह पीला पड़ गया और फौरन उसने अपनी मोटर रोक दी। वह उतरा और उसके पीछे उसके दस मुसाफिर। सब-के-सब इस घटनासे बहुत घबराये हुए थे। ड्राइवर उस जगह पहुँचा जहाँ भैया पड़ा हुआ था। उसने उसकी नाड़ी देखी और कह उठा, 'जिन्दा, सिर्फ बेहोश हो गया है।'

सब मुसाफिर ड्राइवरको उसकी इस कार्यवाहीके लिये बुरा-भला कह रहे थे और भैयाको होशमें लानेकी कोशिश कर रहे थे। उसमेंसे एकने लारीमेंसे पानी लाकर भैयाके मुँहपर छिड़कना शुरू किया। थोड़ी देरके बाद भैयाको होश हुआ और किसीको अपनी ख़िदमत करते देखकर उसे बड़ा अचम्भा हुआ। वह बैठ गया और अपने विचारोंको एकत्र करने लगा। लारीको अपनेसे कुछ दूरपर खड़ी देखकर उसे सब बातें याद आ गयीं। उसे शर्म लगी कि वह गिर पड़ा। वह कुछ ऐसे उचित शब्दोंको सोचनेमें लगा हुआ था, जिससे वह उन लोगोंसे अपनी ग़लतीके लिये क्षमा माँगे, इतनेमें उस छोटी भीड़मेंसे एक बूढ़ा बोला, रामजी! किधर जा रहे हो? हमलोग पासके ही गाँवमें जा रहे हैं, हमारे साथ आओ।'

ये शब्द इतने स्नेहसे कहे गये थे कि भैया इस कृपा-को अस्वीकार न कर सका। वह उठा और टोपी तथा किताब उठाकर बिना कुछ कहे-सुने जाकर लारीमें बैठ गया।

(३)

दूसरे दिन तीन बजे सबेरे भैया फिर दिल्लीकी ओर अपना पैर बढ़ाता चला जा रहा था। इस समय वह एक गम्भीर विचारमें पड़ा था। वह सोच रहा था कि उसका मेज़बान सुबह उठनेपर जब वह देखेगा कि वह गायब हो गया है तो क्या सोचेगा। उसे इस बातपर अफसोस था कि वह इस तरह चोरकी तरह क्यों चला आया और

खासकर इस बातपर कि उसने उस कृपाका कुछ धन्यवाद भी न दिया था जो कि उसके मेज़बानने उसके लारीका किराया देकर, रातको भोजन देकर और उसके प्रति क्षमाके भाव दिखाकर की थी। उसे ऐसा लगा कि वह बड़ा कृतघ्न है। किन्तु फिर उसने शीघ्र ही सोचा कि ईश्वर उस बूढ़े मनुष्यको उसकी कृपाके लिये आशीर्वाद देगा। अगर वह धन्यवादके कुछ दिखावटी शब्द कह ही देता तो उससे क्या हो जाता।

इस विचारसे उसका मन शान्त हुआ। उसने फिर जप करना शुरू किया और वह आगे बढ़ने लगा। रातमें आराम करने और उस वृद्ध पुरुषके यहाँ किये गये भोजनके कारण आज उसे ज्यादा ताक़त मालूम होती थी।

सुबह दस बजेतक उसने कई मीलकी सफर तै कर ली थी और अब वह जयपुरकी सीमासे बहुत आगे निकल चुका था। अलवर-राज्यकी भूमिमें था। उसे एक धुँधली-सी याद थी कि जहाँ वह है वहाँसे थोड़ी दूरपर उसे अलवर महाराजाका बड़ा जङ्गल मिलेगा। इसलिये उसने सोचा कि जङ्गलमें पहुँचकर, वहाँ कुछ घण्टोंतक आराम करके फिर आगे बढ़ना चाहिये।

जब भैया अलवर-राज्यके जङ्गलमें पहुँचा उस समय दोपहर हो चुकी थी। वह एक बड़े वृक्षके नीचे बैठ गया। छायाने उसे इतनी ठण्डक दी कि वह बच्चोंकी गहरी नींदमें सो गया।

जब वह जागा तो उसे बड़ा अफ़सोस हुआ कि उसने अपने समयका एक बहुत बड़ा हिस्सा व्यर्थ सोनेमें गँवा दिया। उसने देखा कि सूर्य क्षितिजपर बहुत नीचे चला गया था। वह जल्दीसे उठा और थोड़ी देर सो लेनेके कारण जो शक्ति उसने पा ली थी उससे दूनी तेजीके साथ सड़कपर चल पड़ा जो जङ्गलमें होकर जाती थी। वह चाहता था कि रात होनेके पहले वह जितना रास्ता तै कर सके, कर ले।

जङ्गलके आख़ीरमें पहुँचनेकी आशामें वह चलता ही गया। किन्तु जङ्गलका अन्त उसे दृष्टिगोचर न हुआ। उसके हृदयमें ज़रा भी भय नहीं था। यह बात उसके गुरुमन्त्रके गानसे प्रकट हो रही थी जिसको वह इस समय गा रहा था। परन्तु उसके ध्यानमें यह बात जरूर आयी कि उसे कहीं रात काटना है और अगर वह जङ्गलके दूसरी ओर न पहुँचेगा तो उसे अपनी रात जङ्गलमें ही किसी पेड़के नीचे रहकर गुज़ारनी पड़ेगी।

अँधेरा हो चला था, भैयाने जङ्गलमें एक पगडण्डीकी तरहका रास्ता देखा। उसने सोचा यह किसी बस्तीको जाता है, जहाँ वह आगे जानेके पहले अपनी रात बिता सकेगा। बिना इस बातको सोचे हुए कि यह पगडण्डी उसे कहाँ ले जायगी, भैयाने सड़क छोड़ दी और वह उस छायादार मार्गपर तेज़ीसे आगे बढ़ा। भैया करीब सवा मील पहुँचा होगा कि उसने उस घने जङ्गलमें एक सफेद मन्दिरकी तरहका एक मकान देखा। उसे इस बातपर प्रसन्नता हुई कि उसे अपनी रात बितानेके लिये भगवान्‌का मन्दिर मिल गया।

यह ठाकुरजीका एक मन्दिर था और उस समय मन्दिरमें केवल एक पुजारी था जो उस स्थानसे जानेकी तैयारीमें दरवाज़े बन्द कर रहा था। जब भैया मन्दिरके पास पहुँचा तो उसे देखकर पुजारीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा—'इस समय सन्ध्याको, जब कि मैं रातके लिये भी घरको बन्द कर रहा हूँ, तुम्हारा यहाँ क्या काम है?'

भैयाने शान्तिसे उत्तर दिया—'आज रात मैं यहाँ बिताऊँगा।'

पुजारीने और आश्चर्यमें भरकर कहा, 'क्या तुम पागल हो गये हो?'

'क्यों?'

'क्या तुम्हें यह नहीं मालूम कि यहाँ रातको जङ्गली जानवर कुत्ते-बिल्लीकी तरह घूमते हैं?'

'पर वे तो मेरे किसी मतलबके नहीं हैं।

'बेवकूफ़ लड़के, तू तो उनके मतलबकी चीज होगा! मैं पुजारी होकर भी यहाँ रातको नहीं रहता। देख, मेरा घोड़ा तैयार है, जिसपर मुझे यहाँसे आठ मील दूर अपने गाँवपर जाना है!'

'तुम चले जाओ मैं तो यहीं रुकूँगा' भैयाने फिर उसी दृढ़ता और गम्भीरतासे कहा। उसके हृदयमें जङ्गलमें घूमनेवाले पशुओंका कुछ भी भय न था। उसने सोचा उनमें भी तो भगवान् है, फिर मैं तो उनसे द्वेष नहीं करता, वे मुझे क्यों मारेंगे?

'लड़के, बेवकूफ़ी न कर। यह हिफ़ाज़तकी जगह नहीं है……'

'पण्डितजी, भगवान्‌के मन्दिरसे बढ़कर हिफ़ाज़तकी और कहाँ जगह है ?' ईश्वर-विश्वासी भैयाने उसकी बात काटकर कहा, उसके शब्दोंमें पुजारीके अपने देवताके प्रति अविश्वासपर इतनी करुणापूर्ण दया थी कि यदि उसमें कुछ भी समझ होती तो वह इसका अनुभव अवश्य करता।

पुजारीने लाचारीसे कहा—

'जिद्दी लड़के! कर जैसा तेरे जीमें आये। ले आज सन्ध्याका प्रसाद। मैं जाता हूँ। उसने भैयाके सामने काफ़ी खाना रख दिया, जिससे उसके दो दिनका काम चल सकता था। इसके बाद बिना कुछ कहे उसने मन्दिर-के दरवाज़ोंको बन्द किया और वह मकानके दूसरी ओरसे अपना घोड़ा लाकर उसपर सवार हो गया।

घोड़ेपर चढ़कर अपने घरकी ओर जाते हुए पुजारीने चिल्लाकर कहा—'अगर तुम्हें प्यास लगे, तो पानी उस तरफ नीचे नालेमें मिलेगा, मगर शेरोंसे होशियार रहना, वे रातको वहाँ अपनी प्यास बुझाने आते हैं।'

जिस बरामदेमें भैया खड़ा था वहाँसे उसने चिल्लाकर कहा, 'ठीक महाराज' लेकिन पुजारी उसे उत्तर देनेको भी न घूमा।

पुजारीके चले जानेपर भैयाने थोड़ा-सा भोग लिया और उसे स्वादसे खाया। तब वह उस ओरको चला, जहाँ पुजारीने उसे बताया था कि पानी मिल सकेगा।

वह एक फर्लांग गया होगा, कि उसने एक छोटा-सा नाला देखा, जिसमें बहुत साफ़ पानी बह रहा था और जो चारों तरफ़से हरे छायादार वृक्षोंसे घिरा था। जिस समय वह उस स्थानपर पहुँचा, करीब-करीब अँधेरा हो गया था, किन्तु उसने उस स्थानकी नीरवता और शान्ति-को बहुत पसन्द किया, इतनी उसकी इच्छा हुई कि वह अपनी रात इसी खुली जगहपर बितावे, परन्तु मन्दिरके आकर्षणके कारण वह थोड़ा पानी पीकर वहीं लौट गया।

जब वह मन्दिरकी तरफ़ लौट रहा था, उसने देखा कि एक लम्बा भयानक काला साँप उसके सामनेसे पगडण्डीको काटता हुआ निकल गया। वह अभी अपना कर्तव्य निश्चित न कर पाया था कि दूरसे आती हुई शेरके गरजनेकी आवाज़ उसे सुन पड़ी। उसने अपनेको सँभाला, ईश्वरमें उसके पूर्ण और दृढ़ विश्वासने उसे साहसी बना दिया। वह बिना घबराहटके मन्दिरकी तरफ़ लौटा और रात बितानेके लिये मन्दिरमें लेट गया।

भैया मुश्किलसे लेटा होगा कि उसने घोड़ोंकी टापों-की आवाज़ सुनी। उसने सोचा यह एक ऐसी बात है जिससे उसका कोई प्रयोजन नहीं। पर ऐसा नहीं होने-वाला था। घोड़ोंके टापोंकी आवाज़ और मनुष्योंके बात-चीतकी ध्वनि उसे और भी पास आती हुई मालूम हुई, यहाँतक कि उस गरोहमेंसे किसीने कहा, 'ऐसा मालूम होता है कि मन्दिरमें कोई आदमी है।'

'कौन है!' दूसरे आदमीने ज़ोरसे पूछा।

'एक बटोही है!' भैयाने उत्तर दिया और अपनी टोपी सरपर रखकर उन शिकारियोंसे बातचीत करनेको उठ बैठा जो घोड़ोंपर सवार मन्दिरके सामने खड़े थे।

'यह कोई उचक्का है!' एक नवागन्तुकने धीमेसे कहा जिसे भैयाने अच्छी तरह सुन लिया।

'नहीं नहीं, मैं बुलन्दशहरको जा रहा हूँ और सबेरा होते ही अपनी यात्रापर चल दूँगा।' भैयाने उनके सन्देहको दूर करनेके लिये कहा।

इस समय एक घुड़सवारने अपना टार्च जलाया और उसने भैयाकी तरफ़ रोशनी फेंकी। 'अवश्य ही यह कोई ख़तरनाक आदमी है, देखते नहीं इसकी गान्धी टोपी!' गरोहसे एकने कहा। सबने एक साथ कहा—'भाग जा यहाँसे!'

भैयाने वहाँ रुकना उचित नहीं समझा, उठकर ठाकुर-द्वारेकी देहलीपर दण्डवत् किया, फिर बिना कुछ बोले उस नालेकी ओर चला गया, जहाँ वह थोड़ी देर पहले पानी पीनेके लिये गया था, और रात बितानेकी उसने इच्छा की थी। उसे इस बातका अफ़सोस न था कि वह मन्दिरसे निकाल दिया गया, बल्कि इस बातकी खुशी थी कि वह मन्दिरसे जल्दी मनचाही जगहपर आ गया, क्योंकि वह नालेके पासकी खुली ज़मीनको किसी भी और जगहसे अधिक पसन्द करता था। भैयाने सन्देह दिलाने-का कारण समझकर टोपीको फेंक दिया और नालेकी ओर चलना शुरू किया। वह फौरन अपने निर्दिष्ट स्थान-पर पहुँचकर एक पेड़के नीचे लेट गया और अपनेको एक

मीठी नींदमें भूल गया, उसको इस बातका ज़रा भी ख़याल नहीं हुआ कि उसके इस स्थानपर पहुँचनेके थोड़ी ही देर पहले एक बड़ा भारी शेर उसी जगह गरज रहा था।

(४)

चाचाको भैयाके भागनेकी ख़बर उस समय मिली, जब वे रातको अपने परम मित्र कुँवर साहबके यहाँसे लौटे। स्वभावतः ही वे बहुत घबराये, पर उन्हें यह न मालूम था कि भैयाको कहाँ ढूँढें। उन्होंने जीजासे राय ली और अपने पुत्र नन्हई तथा अपने सब नौकरोंसे पूछा, पर भैयाके विषयमें किसीको पता न था क्योंकि अपने जानेके विषयमें भैयाने किसीसे कुछ भी नहीं कहा था।

चाचा इस बातपर और चिन्तित हुए। वे स्वयं अपने सभी मित्रोंके यहाँ गये कि शायद भैया किसीके यहाँ चला गया हो, किन्तु जब रातको वे लौटे तो बस निराशाकी एक प्रतिमूर्ति होकर, क्योंकि खोये हुए पुत्रके पता लगानेमें उन्हें कुछ भी सफलता न मिली थी।

सुबह यह बात तै की गयी कि भैयाका पता लगानेके लिये हर दिशामें लोग भेजे जायँ और पता मिले तो भैयाको समझा-बुझाकर लौटा लावें। चाचा इतने घबरा गये कि वे स्वयं कहीं न गये। उनका दिन बड़ी बेचैनीसे बीता और जितने भी लोग भेजे गये थे, किसीने भी आकर कोई अच्छी ख़बर न सुनायी।

दूसरे दिन चाचाको आशाकी एक किरण दिखायी दी, जब उनके एक मवक्किलने आकर कहा कि उसने भैयाको अपने गाँवमें एक वृद्ध मनुष्यके घरपर देखा था। लेकिन और बातें वह न बता सकता था; फिर भी यह पता लग गया कि भैया दिल्लीकी ओर गया था और जयपुरसे लगभग चालीस मील दूर चला गया था।

तुरन्त यह बात तै की गयी कि मुन्नू और जीजा चाचाकी मोटरमें जायँ और भैयाको वापस लावें। मोटरकी लम्बी यात्राके लिये जल्दी-जल्दी तैयारियाँ की गयीं और दोपहर होते-होते दिल्लीकी सड़कपर दोनों चल दिये।

(५)

मुन्नू और जीजा अभी दस मील भी न गये होंगे कि उनकी मोटरका टायर जोरोंसे फट गया और वह आधा घण्टा, जो मोटर-ड्राइवर सिद्धनरायनको फालतू पहिया चढ़ानेमें लगा, उन्हें कई घण्टेके बराबर मालूम हुआ, क्योंकि वे जितना भी तेज़ मुमकिन हो सके, जानेके लिये आतुर हो रहे थे। उन्हें यह बात नहीं मालूम थी कि बिना ईश्वरकी सहायताके वे सर्वथा निःसहाय और अशक्त थे।

वे दस-पन्द्रह मील और गये। अब एक ट्यूबमें पञ्चर हो गया। यह विशेष दुःखकी बात थी क्योंकि चढ़ानेके लिये कोई दूसरा फालतू ट्यूब न था। उन्हें जलती धूपमें इन्तजार करना पड़ा, जबतक कि ट्यूब फिरसे कामके लायक न बन गया। इस बार फिर उनके आगे बढ़नेमें घण्टेभरकी देर हो गयी।

दुर्भाग्य अपनी मर्ज़ीपर चल रहा था और ये दो व्यक्ति उसके विरुद्ध चल रहे थे। वे इतना तेज़ नहीं जा सकते थे जितना वह चाहते थे। किन्तु लाचार थे, इञ्जन और मशीनकी अन्य त्रुटियोंको दूर करना उनके लिये बिल्कुल असम्भव था, जिनपर उनका कोई वश न था। बड़ी मुश्किलसे वे लोग उस गाँवमें पहुँचे जहाँ भैयाको चाचाके मवक्किलने देखा था। इन लोगोंने उस बूढ़े आदमीका पता लगाया जिसने भैयाको रातमें शरण दी थी। जब मुन्नू और जीजाने सारी कहानी सुनी कि कैसे भैयाको मोटरलारीसे धक्का लगा था, कैसे वह बूढ़ा आदमी उसे लारीसे अपने घर लाया था और कैसे वह बिना एक शब्द भी कहे भैया रातको चला गया था, तो उन्हें इस बातपर बड़ा अफसोस हुआ कि उन्होंने इतनी देरी की। बूढ़े पुरुषने भी बड़ी सहानुभूति दिखायी, किन्तु और अधिक न जाननेके कारण वह भैयाकी खोजमें और कुछ सहायता नहीं कर सका।

उन्होंने रात गाँवमें बितायी और यह तै किया कि सुबह दिल्लीकी ओर रवाना होंगे क्योंकि जो कुछ भी उन्हें मालूम हुआ था उससे उन्हें इस बातका विश्वास था कि शोभारामजीकी खोजमें ही वह गया है।

दूसरे दिन तड़के वे लोग फिर खोजमें निकले और करीब दस बजेके अलवरके जङ्गलमें पहुँच गये और दैवकी प्रेरणासे गाड़ीका इञ्जन फिर बिगड़ गया। सिद्धनरायन इञ्जनकी गड़बड़ी दूर करनेका प्रयत्न कर रहा था, मुन्नू और जीजा हाथ-पैर सीधा करनेके लिये गाड़ीसे उतरे। वे इतने व्याकुल और घबड़ाये हुए थे कि आपसमें बातचीत

तक नहीं कर रहे थे, पर दोनों इसको जान रहे थे कि एक दूसरेके मस्तिष्कमें कौन-सी बात चक्कर काट रही है।

'मुझे प्यास मालूम होती है' मुन्नूने कहा।

'यहाँ तो पानी मिलना असम्भव ही समझो' जीजाने उत्तर दिया और सिद्धनरायनकी ओर देखने लगे जो कार-बरेटरसे गर्द हटानेकी कोशिश कर रहा था जिसकी वजहसे इन्जन रुका हुआ था।

'जबतक वह गाड़ी ठीक कर रहा है, चलो हम कहीं पानी ढूँढ़ें' मुन्नूने कहा।

'आओ हम लोग आगे बढ़ें, जब गाड़ी ठीक हो जायगी, तब वह हमारे पीछे-पीछे आ जायगी।'

वे आगे बढ़े और बहुत दूर नहीं गये थे कि उन्होंने सड़कसे लगी हुई एक पगडण्डी देखी। उन्होंने भी भैया-की तरह सोचा कि यह पगडण्डी उन्हें किसी बस्तीकी ओर ले जायगी। उन्होंने सिद्धनरायनको यह बात कह दी कि वह यहीं पगडण्डी और सड़कके किनारेपर उनका इन्तज़ार करे। वे पानीकी खोजमें घने जङ्गलके भीतर चले।

सामने मन्दिर देखकर उनके मनमें पानी मिलनेकी आशा हुई। मन्दिरमें पहुँचनेपर उन्होंने पुजारीको देखा जो मन्दिरमें अकेला बैठा हुआ था।

'तुम क्या चाहते हो?' उसने पूछा।

'थोड़ा पानी भाई!' जीजाने उत्तर दिया।

'शामतक रुको या लौट जाओ—आज यहाँ बड़ा ख़तरा है'—उसने आत्म-विश्वाससे कहा।

'क्या मामला है? हम बहुत प्यासे हैं!' मुन्नूने कहा।

'पिछली रातको महाराज साहबने एक बड़े भारी चीतेको घायल किया है और वह इसी तरफ़ कहीं नालेके पास है, उसने एक हकवारेको मार डाला है और अब भी किसी झाड़ीमें है। महराजके साथी शिकारियोंने अभी-तक उसका पता नहीं पाया है। मैं नालेसे तुम्हारे लिये कैसे पानी लाऊँ?'

उसने यह सब बड़ी जल्दी कह डाला। जब उसने यह बातें कहीं, उसने अपने चारों ओर देखा कि उसकी बात किसीने सुन तो नहीं ली।

'लेकिन महाराज! हमलोग बहुत प्यासे हैं!'

'मुझे अफसोस है कि मैं इस समय तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता।'

'क्या आपके पास थोड़ा पानी नहीं है?'

'मेरे पास सिर्फ थोड़ा-सा चरणामृत है, बाक़ी मैंने खुद पी लिया है।'

'तो उसे आप हमें दे दीजिये।'

उसे पुजारीने उनको दे दिया और उन दोनों आद-मियोंने उसे आपसमें बाँट लिया। उस थोड़े जलने उनकी प्यास और बढ़ा दी। वे बड़े परेशान हुए।

'तुम्हें यह कैसे मालूम कि वह घायल चीता यहाँ है?' जीजाने पूछा।

'मैंने एक शिकारीसे सुना है जो थोड़ी देर हुए इधरसे गुज़रा था।'

मुन्नू निराश होकर बरामदेमें बैठ गये। वे बहुत प्यासे थे और किसी तरह भी ज़्यादा देरतक बिना पानी-के न रह सकते थे। मुन्नूका कष्ट देखकर जीजाने कुछ ख़तरा उठाकर नालेसे पानी लानेका इरादा किया। पुजारी और मुन्नूके मने करनेपर भी जीजा पुजारीका लोटा लेकर मुन्नूके लिये पानी लेनेको आगे बढ़े। लेकिन अभी उन्हें गये दो ही मिनट न हुए होंगे जब कि वे दौड़ते हुए लौटे।

'कहो क्या बात हुई?' पुजारीने सहमकर पूछा।

जीजाने बड़ी आशाके साथ कहा—'मुन्नू, देखो तो यह भैयाकी टोपी तो नहीं है?' उन्होंने एक गांधी टोपी जो उनके हाथ थी, दिखाकर कहा—'मैंने इसे यहाँसे थोड़ी दूरपर पड़ी पाया।'

मुन्नू जल्दीसे उठे, उसे ध्यानसे देखा लेकिन स्वभावतः उन्हें विश्वास न हुआ कि यह भैयाकी ही टोपी है, लेकिन यह उससे बहुत मिलती-जुलती थी क्योंकि अभी उस दिन उसने स्वयं उसे अपनी टूटी हुई मशीनपर सिया था।

जीजाने प्रसन्न होकर कहा—'हमें यह जङ्गल ढूँढ़ना चाहिये।'

पुजारी अपने अतिथियोंकी बातचीत न समझ सका। उसने पूछा—'तुम किसे ढूँढ़ते हो?'

'मुन्नूने कहा—'मेरा छोटा भाई घरसे भाग गया है। हमलोग उसे ढूँढ़ने निकले हैं।'

'मैं नहीं जानता कि वह वही था लेकिन दो दिन हुए लगभग १८ वर्षका एक लड़का यहाँ आया था और रात-में यहीं ठहरा था। लेकिन जब मैं सुबह आया, तब वह चला गया था।'

इस सूचनाने जीजाका विश्वास और भी दृढ़ कर दिया कि भैया इसी जङ्गलमें कहीं है, लेकिन मुन्नूने सोचा कि, भैया आगे बढ़ गया होगा और इस कारण उन्होंने जीजा-से मोटरपर चढ़कर आगे बढ़नेको कहा क्योंकि इसी उपाय-से भैयाको पकड़ पानेकी आशा थी।

जीजाने उनसे असहमत होकर कहा, 'नहीं, मुन्नू! आगे बढ़नेके पूर्व हमें यहाँ अच्छी तरह ढूँढ़ लेना चाहिये, ईश्वर हमारी मदद करेगा।'

'वह अवश्य हमारी मदद कर रहा है, लेकिन यहाँ-पर समय बिताना व्यर्थ है।' मुन्नूने कहा। वे इस समय मोटरके पास पहुँचनेको व्यग्र हो रहे थे। इस समय अपनी प्यासतकको वे भूल गये थे।

कुछ और वाद-विवादके बाद मुन्नू जीजाके साथ नाले-की ओर जानेको सहमत हो गये कि पहले वहाँ चलकर दोनों पानी पीयें और फिर भैयाकी खोजमें आगे बढ़ें।

जैसे ही वह मन्दिरसे बाहर आये, उनकी भेंट दो शिकारियोंसे हुई जो अपनी बन्दूक लिये नालेकी ओर जा रहे थे। मुन्नू और जीजा उनके पीछे-पीछे चले। उन्होंने किसी खतरेसे बचानेमें रक्षा प्रदानके लिये ईश्वरको धन्यवाद दिया। वे चुपचाप चलते गये।

यकायक एक शिकारी अचानक रुका और अपने साथीको पृथ्वीपर किसी चीजकी ओर संकेत किया।

'यह उसके पैरका निशान है'—उसने धीमे स्वरमें कहा।

दूसरा उससे सहमत होकर बोला, 'मालूम तो ऐसा ही होता है।'

एकने मुन्नू और जीजासे कहा, 'जनाब होशियार रहियेगा, यहाँ नज़दीक ही कहीं घायल चीता है!'

जीजाने कहा—'हमलोग प्यासे हैं और थोड़ा पानी पीनेके लिये नालेकी तरफ़ जा रहे हैं।'

'सँभले हुए जाइये'

चीतेके डरसे वे होशियारीसे आगे बढ़े। शिकारी लोग पैरोंका निशान देखते हुए चल रहे थे। मुन्नू और जीजा उनके पीछे थे। जीजाके हृदयमें घटनाक्रमके इस परिवर्तनसे एक प्रकारकी गुदगुदी पैदा हो रही थी।

इसके पूर्व कि मुन्नू और जीजाको यह मालूम हो कि क्या हो रहा है उनकी शान्ति अचानक एक बन्दूककी आवाज़से भङ्ग हुई। क्षणभर बाद एक गरज़ सुनायी दी और फिर सन्नाटा हो गया।

शिकारी लोग दौड़े और मुन्नू और जीजा मानो अपने आप ही उनके पीछे दौड़े। शिकारी तो अपने शिकारकी तरफ़ झपटे पर वह कौन चीज थी जिसने जीजा और मुन्नूको सहसा आकृष्ट कर लिया?

नालेके किनारे एक वृक्षके नीचे भैया चुपचाप शान्ति-से बैठा हुआ अपनी पुस्तक पढ़ रहा था जो वह अपने साथ लाया था। उसके करीब ८० गजके फ़ासलेपर एक बड़ा-सा मरा हुआ सुन्दर चीता पड़ा था। भैया बन्दूक-की आवाज़ सुनकर चौंका, उसने अपना सर उठाया और मुन्नू-जीजाको अपनी ओर आते देखा।

मुन्नू और जीजा एक ही साथ चिल्ला उठे 'भैया, भैया।'

'दादा! जीजा! तुम यहाँ कैसे आये?'

'तुम्हारी खोजमें। तुम इस भयानक जङ्गलमें क्या कर रहे हो?'

'मैं श्रीमद्भागवतका सप्ताह कर रहा हूँ' भैयाने उत्तर दिया। उसे इस बातकी बिल्कुल ख़बर न थी कि वह कितने बड़े खतरेमें था और भगवान्‌ने उसे क्योंकर बचाया?*

—:०:—

* एक सच्ची घटनाके आधारपर। —लेखक

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[गतांकसे आगे]

६९२-विचार स्वयमेव शान्त और अचञ्चल होने चाहिये, तभी तुम्हें दिव्य भावना मिल सकती है। केवल ऐसी अवस्थाओंमें ही अनुकूल प्रभाव चित्तमें उतर पाते हैं। अधिकाधिक शान्त मानसिक अवस्थामें तुम भगवान्‌में निष्ठावान् हो सकते हो। योजनाएँ, आयोजनाएँ, वृत्तियाँ, भावनाएँ, उत्तेजनाएँ, द्वेष-प्रभृति पतित दशाएँ मनको उत्तेजित करती हैं तथा भगवत्प्राप्तिमें बाधा डालती हैं।

६९३-मनमें एक आन्तरिक युद्ध सदा चला करता है; स्वभाव और सङ्कल्पमें, सत्त्वगुण और रजो-तमोगुणमें, पुराने सांसारिक अभ्यासों तथा नवीन आध्यात्मिक अभ्यासोंमें, शुभ वासना और अशुभ वासनामें, विवेक और मन तथा इन्द्रियोंमें यह युद्ध मचा रहता है। यदि तुम क्रोध-वासना आदिको भगानेका प्रयत्न करते हो तो वह कहते हैं कि—'हे जीव ! तुमने हमें दीर्घकालके लिये इस स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरके इस घरमें रहनेकी आज्ञा दी है, अब हमें तुम क्यों भगाना चाहते हो ? तुम्हारी क्षुब्ध दशा तथा वासनामें हमने तुम्हें बहुत ही सहायता दी है, हमको यहाँ रहनेका पूरा अधिकार है, हम यहाँ बलपूर्वक रहेंगे, तुम्हारे सारे प्रयत्न जो हमें हटानेके लिये होंगे उन्हें हम रोकेंगे, तुम्हारे ध्यानमें बाधा डालेंगे और यहाँ बारम्बार आकर रहेंगे।' तथापि शुद्ध, दृढ और अजेय सङ्कल्पकी इनपर अवश्य विजय होती है। इसमें सन्देह नहीं, मैं तुम्हें दृढतापूर्वक विश्वास दिलाता हूँ।

६९४-आसुरी स्वभावकी शक्तियोंके विपरीत काम करनेके लिये अन्तःकरणमें सहायता करनेवाली शक्तियाँ भी होती हैं। यदि तुम 'ॐ' या 'राम'का दस बार जाप करते हो, यदि तुम एक बार पाँच मिनटके लिये ध्यानमें बैठते हो तो इनके संस्कार तुम्हें बलपूर्वक अनेकों बार मन्त्रोंके जाप तथा अधिक समयतक ध्यानमें बैठनेके लिये लगावेंगे, यद्यपि तुम माया या अविद्याके प्रभावके कारण आध्यात्मिकताके विषयमें बिल्कुल भूल जाते हो। वासना-द्वेष आदि विरुद्ध शक्तियाँ तुम्हें आध्यात्मिक प्रवाह, सत्त्व-शक्तिसे नीचे गिरानेकी चेष्टा करेंगी और शुभ वासनाएँ तुम्हें भगवान्‌की ओर ले जानेकी चेष्टा करेंगी। यदि बुरे विचार तुम्हारे मनमें सप्ताहमें दो-तीन बार उठनेके बदले महीनेमें एक बार उठें (याद रक्खो कि बुरे विचार युवावस्थाके प्रारम्भमें ही उठने लगते हैं), यदि तुम सप्ताहमें एक बार क्रोधित होनेके बदले महीनेमें एक बार क्रोधित होते हो, तो इसे उन्नतिसूचक समझना चाहिये, इससे जान पड़ता है कि तुम्हारी सङ्कल्प-शक्ति बढ़ रही है। यह आध्यात्मिक शक्तिके उन्नत होनेकी सूचना है। प्रसन्न हो जाओ, अपनी उन्नति (दैनिक-आध्यात्मिक डायरी) को लिख लो।

६९५-उपनिषद्‌के तत्त्वोंके जाननेवाले मानते हैं कि मनकी रचना भोजनके ऊपर अवलम्बित रहती है। हम जो भोजन करते हैं उसीसे मनकी सृष्टि होती है। 'हम जो भोजन करते हैं, वह तीन रूपोंमें बदल जाता है, स्थूल अर्थात् गुरुतर भाग मल बन जाता है, मध्यम भाग मांस बनता है और सूक्ष्म भाग मन बनता है।' (छान्दोग्योपनिषद् ६। ५। १)

जिसप्रकार दहीके मथनेपर उसका सूक्ष्म तत्त्व ऊपर उठ आता है और मक्खनके रूपमें परिणत हो जाता है, इसी प्रकार जब भोजनका परिपाक होता है तो सूक्ष्मतम भाग ऊपर आता है और मनके रूपमें बदल जाता है। (छान्दोग्य० ६। ६। १-२)

हम भगवद्गीताके उपदेशमें भी देखते हैं कि मनकी सात्त्विक, राजस और तामस तीन विभिन्न दशाएँ तीन प्रकारके भोजनके ऊपर ही निर्भर रहती हैं। (गीता १७। ८-९-१०)

जब मनका गुण उस भोजनके गुणपर अवलम्बित है जो हम करते हैं तो साधकोंके लिये, जो ध्यानमय जीवन बिताते हैं, तथा वृद्ध गृहस्थोंके लिये जो संसारमें रहते हुए ही आध्यात्मिक जीवन बितानेकी चेष्टा करते हैं, उच्चतम आचारके निर्माणार्थ सात्त्विक भोजनपर निर्भर करना स्वाभाविक हो जाता है।

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।'

'जब भोजन शुद्ध होता है तो समस्त स्वभाव शुद्ध हो जाता है, स्वभावके शुद्ध होते ही स्मृति दृढ़ होती है, और दृढ़ स्मृतिकी प्राप्तिसे सारे बन्धन दूर हो जाते हैं।' (छान्दोग्य० ७ । २६ । २)

इसीसे नारदकी सारी अशुद्धियाँ नष्ट हो गयी थीं और तभी पूज्यपाद सनत्कुमारने उन्हें 'तमसः पर' (अन्धकारसे परेवाला) मार्ग दिखलाया था । वह मार्ग जो हमें तमस् (अन्धकार) के परे ले जाता है, शुद्ध भोजनपर ही अवलम्बित है क्योंकि इसीसे मनकी शुद्धि सम्पन्न होती है ।

६९६-अधिकांश मनुष्योंके विचार भोजन करने, शरीरको धोने तथा साफ वस्त्र पहननेमें ही लगे रहते हैं । उनके लिये यही सब कुछ है । प्रायः अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त पुरुष तो केवल अन्नमय कोषमें ही रहते हैं । कभी-कभी वे मनोमय कोषमें आ जाते हैं । आध्यात्मिक साधक और विवेकी पुरुष विज्ञानमय कोषमें रहते हैं । तुमलोगोंको वेदान्तिक ग्रन्थोंके अध्ययन तथा शुद्ध चिन्तनके द्वारा विज्ञानमय कोषको उन्नत करना चाहिये । तभी तुम सुरक्षित हो जाओगे और तब मन तुम्हें प्रलोभन तथा धोका नहीं दे सकेगा ।

६९७-वह मन जो अपने उद्देश्यपर आशान्वित, श्रद्धासम्पन्न, साहसशील तथा दृढ़ होता है और सदा उसपर लगा रहता है, उस उद्देश्यके अनुकूल शक्ति, उपकरण तथा तत्त्वोंको स्वयमेव आकर्षण कर लेता है ।

६९८-सन्देहात्मक भावोंके मनुष्य दूसरोंसे तथा भौतिक वायुमण्डलमें आकाशगत सामग्रीसे सन्देहात्मक उपकरण और सन्देहात्मक विचार आकर्षण करते हैं । आशान्वित, श्रद्धालु तथा प्रसन्नचित्तवाले पुरुष दूसरोंसे इसी प्रकारके विचार आकर्षण करते हैं । वे अपनी चेष्टाओंमें सदा सफल होते हैं ।

६९९-यदि तुम्हें कोलाहलमें रहना पड़ता है तो उसकी शिकायत न करो बल्कि उससे फ़ायदा उठाओ । मनुष्य बाह्य विघ्नोंका उपयोग ध्यानके अभ्यासमें कर सकता है । समीपमें जो कुछ घटनाएँ होती हैं उनके द्वारा निर्बाधगतिसे काम करनेकी शक्ति तुम्हें बढ़ानी चाहिये । शक्ति अभ्यासके द्वारा प्राप्त होती है और वह विभिन्न रूपोंसे उपयोगी होती है । विभिन्न अवस्थाओंमें काम करनेका अभ्यास करना मानसिक-संयम तथा उन्नतिका द्योतक है ।

७००-केवल राजयोगी वृत्तियोंके निरोधकी चेष्टा करते हैं—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'— (पातञ्जल-योगसूत्र १।२)

वेदान्ती सदा आत्मभाव—ब्रह्मभाव रखता है, जहाँ कहीं वह विषयोंके सम्पर्कमें आता है, इसप्रकार वह वृत्तियोंके निरोधकी चेष्टा नहीं करता । उसके लिये प्रत्याहार नहीं, उसके लिये बहिर्मुख वृत्ति भी नहीं, वह नामरूपको हटा देता है और अस्ति-भाति-प्रियको ग्रहण करता है । भक्त विषयोंमें नारायणको — श्रीकृष्णको देखता है, वह भी अपनी वृत्तियोंका निरोध नहीं करता, वह भी वेदान्तीकी भाँति अपनी मानसिक अवस्थाको बदल देता है । मन ही नाना भाव और भेदभावकी सृष्टि करता है । यदि तुम अपने दृष्टिकोणको, मानसिक अवस्थाको बदल डालो तो संसार आनन्दमय हो जायगा । तुम्हें पृथ्वीपर ही स्वर्गकी प्राप्ति होगी ।

बाहर केवल तत्त्व, कम्पन अथवा दृश्य हैं, प्रकृति विरक्त है, प्रकृति दृष्टिहीन है । विषयोंमें न तो सुख है, न दुःख । यह सारी मानसिक सृष्टि, मानसिक भ्रम, मानसिक प्रवृत्ति, मानसिक धोका है । मन ही माया है । मायाका शक्तिशाली निवास-स्थान मनकी कल्पनामें है । आत्मा लिङ्गहीन है, पञ्चतत्त्वोंका कोई लिङ्ग नहीं । मन ही लिङ्गभावनाकी सृष्टि करता है । सुखदेवमें कोई लिङ्गभाव नहीं । विचारो, कि स्त्री केवल पञ्चतत्त्वोंके मिश्रणसे, विद्युत् अणु तथा परमाणुओंके ढेरसे बनी है । लिङ्ग सम्बन्धी भावना धीरे-धीरे अदृश्य हो जायगी ।

७०१-विचारकी शक्ति महान् होती है, प्रत्येक सम्भावनीय मार्गमें तुम्हारे विचारोंका एक निश्चित मूल्य होता है । तुम्हारी शारीरिक शक्ति, तुम्हारी मानसिक शक्ति, तुम्हारी जीवनमें सफलता तथा तुम जो सुख अपने साथियोंको प्रदान करते हो—यह सब तुम्हारे विचारोंके गुण और स्वभावपर निर्भर हैं । विचार-संस्कृतिका ज्ञान तुम्हें अवश्य होना चाहिये ।

७०२-प्रत्येक बुरे विचार एक तलवारके समान हैं जो उनके लिये खींची गयी होती है, जिनके प्रति वे बुरे विचार किये जाते हैं।

७०३-चाहे जैसे विचार तुम पसन्द करो, उन विचारोंको जबतक तुम अपने पास रखते हो, चाहे तुम पृथ्वीमें भ्रमण करो अथवा समुद्रमें, निरन्तर ज्ञात अथवा अज्ञातभावसे तुम अपने विचारोंके गुणागुणके अनुसार ही परिणामको आकर्षित करोगे। विचार तुम्हारी वैयक्तिक सम्पत्ति है और तुम उसे दृढतापूर्वक अपनी योग्यताका अनुभव करते हुए अपने अनुकूल नियमित कर सकते हो।

७०४-मन अन्धकारमें भटकता है। विस्मृतिमें पड़ जाता है। क्षण-क्षण परिवर्तित होता रहता है। यदि दो दिनके लिये भोजन बन्द हो जाय तो यह ठीक-ठीक चिन्तन नहीं कर सकता। सुषुप्तिमें मनकी क्रिया नहीं होती है। मन वासना, तृष्णा तथा अशुभ भावनासे भरा रहता है। क्रोधकी दशामें यह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। भयमें यह काँपने लगता है। आघात पड़नेपर यह डूब जाता है। तब भला मनको तुम शुद्ध चैतन्य कैसे मान सकते हो?

७०५-ध्यानावस्थामें शान्तिके द्वारा शारीरिक और मानसिक कष्ट दूर हो जाते हैं। जैसे ही कष्ट दूर होते हैं मानसिक तथा शारीरिक आनन्दका उदय होता है। मन आनन्दमय हो जाता है।

७०६-चाहे जो कुछ प्राप्त हो उसे बिना 'ननु' 'नच' के ग्रहण करो। इसप्रकार मनुष्य प्रत्येक अवसरोंको प्राप्त करता है, आसानीसे उन्नति करता है। पर्याप्त मानसिक शक्ति तथा मनकी समतावस्था प्राप्त करता है, चञ्चलता दूर हो जाती है। सहन और धैर्यकी शक्ति बढ़ती है।

७०७-मनकी शुद्धि होनेपर वह अधिक संवेदनात्मक हो जाता है, ध्वनि या आघातके द्वारा आसानीसे विच्छिन्न हो जाता है। और किसी प्रकारके दबावको पूर्णरूपसे अनुभव करता है। तुम्हें यथाशक्ति चेष्टा करनी चाहिये।

७०८-असफलताओंसे हताश मत होओ। अपनी शक्तिभर चेष्टा करते जाओ, अपने दोषों और असफलताओं-पर उतना चिन्तन मत करो। अपनी असफलताका कारण जाननेके लिये उन्हें सामने रक्खो और पुनः चेष्टा करो। इसप्रकारसे तुम उस प्रवृत्तिको नष्ट कर दोगे जिससे तुम्हें असफल होना पड़ा था। उनके विषयमें बार-बार सोचने-से उन्हें नयी शक्ति प्राप्त होती है। तुच्छ असफलताओंके लिये अधिक घबराओ मत, बैठकर केवल असफलताओंके ही चिन्तनमें मत लगो।

७०९-जो लोग ध्यानका अभ्यास करते हैं वे जानते हैं कि अभ्यास न करनेवालोंकी अपेक्षा वे अधिक उत्तेजित हो जाते हैं और इस कारणसे भौतिक शरीरपर कभी-कभी बड़ा बल पड़ता है।

७१०-सद्ग्रन्थोंके अध्ययनसे आध्यात्मिक साधनामें सहायता मिलती है, परन्तु अत्यधिक अध्ययनसे मन गन्दा हो जाता है। निदिध्यासनके समय तुम कभी-कभी कठोपनिषद् तथा बृहदारण्यक उपनिषद्, अवधूत-गीता, योगवाशिष्ठका अध्ययन कर सकते हो। यह मनको दिव्य बना देंगे।

७११-शान्तचित्तके साथ साहसकी भी आवश्यकता होती है जिससे तुम आध्यात्मिक पथकी परीक्षाओं तथा विघ्न-बाधाओंका मुक़ाबला कर सको। आत्माके एकत्वके अनुभवमें यह बद्धमूल होता है। 'अभयम्' एक दैवी सम्पत्ति है (गीता १६-१)। सदा विचार करते रहो कि तुम आत्मा हो, धीरे-धीरे तुममें महान् साहस बढ़ेगा। अविद्याके कारण भौतिक शरीरके मोहसे ही भय होता है।

(क्रमशः)

स्वधर्म-पालनसे भगवत्प्राप्ति

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

श्यामा—अरी बहिन कोकिला ! तू आज कोई ऐसी शिक्षाप्रद कथा सुना कि जिसमें अपने धर्मका पालन करनेसे किसी विधवा बहिनका सचमुच ही कल्याण होनेकी बात हो। मुझे विधवाओंकी हीन दशापर बड़ा ही खेद होता है। इन बेचारियोंको इस जन्ममें तो जीवनपर्यन्त सुखी होना असम्भव है ही, परलोकमें भी इन्हें सुख नहीं हो सकता क्योंकि चिन्ता तो एक क्षण भी इनका पीछा नहीं छोड़ती। वास्तवमें तो यही यथार्थ है कि जब जीवनमें ही सुख नहीं तो मृत्युके बाद सुख कहाँ रक्खा है? क्योंकि मनुष्यकी जैसी भावना होती है वैसा ही फल होता है। उनकी यहाँपर कोई कामना पूर्ण ही नहीं होती और अपूर्णकामीको मृत्युकालमें दुःखकी भावना होती है, इससे परलोकमें भी उन्हें दुःख ही मिलता है। परन्तु आश्चर्य है, जब परमात्मा स्वयं सुखस्वरूप है तो उसकी सन्तान दुःख-रूप कैसे होती है? जैसा कारण होता है वैसा ही तो कार्य होता है? श्रुति भी आदेश करती है कि उसी ब्रह्मके आनन्दसे सृष्टि उत्पन्न होती है, उसीके आनन्दसे सर्व प्राणी जीवित रहते हैं, फिर अन्तमें उसी सुखस्वरूपमें लय हो जाते हैं। तब क्या इन विधवाओंकी कोई अन्य सृष्टि है?

कोकिला—बहिन ! तू समझी नहीं, उस सुख-स्वरूपका सुख तो सबमें समान है, किसीमें कम-ज्यादा नहीं। यहाँके सुख-दुःखका कारण तो मनका सम-विषम होना है, प्राणी विषयोंमें आनन्द मानते हैं, यह उनकी भूल है। विषयोंमें आनन्द बिलकुल नहीं है। विषयोंमें आनन्द होता तो वह हमेशा एक-सा रहना चाहिये, ऐसा देखनेमें नहीं आता। जब विषय मिलते हैं तब थोड़ी देरको आनन्द होता है, फिर उसी प्रकार चिन्ता चित्तको जलाने लगती है, इससे यह निश्चय हुआ कि विषयोंमें सुख नहीं है। जब कोई प्रिय पदार्थ मिलता है, तब उसके मिलनेसे मन एकाग्र होता है। और जहाँ मन एकाग्र हुआ कि उसपर सुखस्वरूप आत्माका आभास पड़ा। चञ्चल चित्तमें उसका आभास नहीं पड़ता, मनका एकाग्र होना ही ईश्वर तथा आनन्दकी प्राप्ति है, तब इन अस्थिर-चित्त विधवाओंको सुखका आभास कैसे हो? क्योंकि कुछ-न-कुछ चिन्ता इनके मनको सताती ही रहती है। मन ही मनुष्योंके बन्ध-मोक्षका कारण है। विक्षिप्त मनसे जन्म तथा मरणके चक्रमें घूमना पड़ता है और निरुद्ध मनसे इस जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाना होता है, गीतामें भगवान्‌का वचन है कि मनुष्यका मन ही शत्रु है और मन ही मित्र है।

शंका—बहिन ! मन एक है, उसमें दो गुण किस-प्रकार हो सकते हैं? और मनके विक्षेपहीन होनेका साधन किसप्रकार है?

समाधान—बहिन ! मन एक है, यह सत्य है। परन्तु वृत्तिभेदसे वह दो ही नहीं, अनेकों प्रकारका हो जाता है। मनके विक्षेपरहित होनेका साधन अपने-अपने धर्मका नियमपूर्वक पालन करना है, जो अपने धर्म-पर आरूढ़ रहती हैं, निष्काम भावसे ईश्वर-भक्ति करती हैं, किसी और कैसी भी विपत्ति आनेपर विचलित नहीं होतीं उन्हींको इस जन्ममें सुखका अनुभव होता है और परलोकमें उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है। जो मनुष्य अपने धर्मका पालन नहीं करता, उसको इस लोकमें अपयशकी प्राप्ति और परलोकमें नाना यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

श्यामा—बहिन ! मनका निश्चल होना तो अति कठिन है। गीतामें भी कहा है कि वायुका वेग तो किसी कारण रुक सकता है परन्तु मन वायुसे भी अधिक

वेगवाला है। अतः इस मनका निग्रह तो अत्यन्त ही कठिन है। जब अर्जुन और श्रीकृष्ण-जैसे योगी, धर्म-वीर, शूरवीर इसका निग्रह कठिन मानते हैं, तब साधारण जीवका तो कहना ही क्या है ? मनका स्वरूप ही परिणामशील है, तब वह सर्वदा एक-सा कैसे रहे ?

कोकिला—बहिन ! यह मन ऐसा ही है जैसा तू कहती है, परन्तु जिसके जितनी बड़ी उपाधि होती है उसका मन भी उतना ही अधिक चञ्चल होता है। उपाधिके ही कारण पुरुषोंका मन स्त्रियोंसे अधिक चञ्चल तथा विक्षिप्त होता है। विधवाओंकी अपेक्षा सधवाओंका मन अधिक विक्षिप्त होता है। पुरुषोंको व्यापारादिकी बड़ी चिन्ता होती है, उनमेंसे कोई चिन्ता स्त्रियोंको नहीं सताती। इसी कारण स्त्रियोंका मन बहुत शीघ्र एकाग्र तथा समाधिस्थ हो जाता है, क्योंकि उनका मन घरके ही अन्दर-अन्दर रहता है। पुरुषोंका मन अधिकांशमें बाहर घूमता रहता है, अनेक प्रकारके कारोबार, लेन-देन चित्तको कभी स्थिर नहीं होने देते। परन्तु इन दोनोंसे अधिक शीघ्रतासे विधवाओंका मन स्थिर हो सकता है, क्योंकि विधवाओंको सिवा अपने अन्न-वस्त्रके और किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं रहती। जहाँ खुशीसे अन्न-वस्त्र मिला कि विधवा प्रसन्न हुई। चित्तका प्रसन्न रहना या होना ही निश्चिन्तता है। विधवाको सांसारिक व्यापारसे कुछ प्रयोजन न होना चाहिये क्योंकि गृहस्थ-धर्म पालना पतिव्रताको कर्तव्य है। विधवाको किसीके लेन-देनसे अब कुछ प्रयोजन नहीं होना चाहिये, क्योंकि उसे तो परम पिता जगदीश्वरने सब बन्धनोंसे छुड़ा दिया है अर्थात् बिना ही प्रयास उसे भगवान्‌ने संन्यास दे दिया है। अतः संन्यासीके-जैसे कर्म विधवाको करने चाहिये। जो ईश्वरके बताये हुए अपने धर्मपर नहीं चलती वह महामूर्खा है। उसको कहीं भी सुख नहीं मिल सकता।

श्यामा—बहिन ! ऐसा कैसे हो सकता है, कि विधवा किसी बातसे प्रयोजन ही न रक्खे, उसे तो अन्य गृहिणियोंसे अधिक बोझा सिरपर उठाना पड़ता है। सधवाओंसे अधिक सबकी सेवा-शुश्रूषा करनी पड़ती है। नहीं करे तो फिर जीवनका निर्वाह होना ही कठिन हो जाता है। यदि वह सब क्रियाओंसे मुख मोड़कर बैठ जाय तो उसकी कोई बात भी न पूछे। अधिक क्या, उसका घरमें रहना ही दुस्तर हो जाय। फिर वह बेचारी क्या करेगी ? कामसे मनुष्य क्या पशुतक प्यारे लगने लगते हैं, कहावत प्रसिद्ध है 'कामकी मा उरे, पूतकी मा परे' काम ही सबको प्यारा लगता है, चाम प्यारा नहीं लगता।

कोकिला—अरी बहिन ! सेवा-शुश्रूषा करनेसे न कोई आजतक बँधा और न कभी बँधेगा। आसक्ति ही बन्धनका कारण है, जहाँ 'मैं' 'मेरा' हुआ कि बँधा। अपना माननेसे ही संसार है, नहीं तो संसार कहाँ ? संसार नहीं तो बन्ध कहाँ, बन्ध नहीं तो मृत्यु कहाँ, मृत्यु नहीं तो जन्म कहाँ और जन्म नहीं तो सुख-दुःख कहाँ ? सारे सुख-दुःखोंका कारण केवल आसक्ति ही है। राजाका नौकर लोकदृष्टिमें राजाके दुःखमें दुखी और सुखमें सुखी होता रहता है, होना भी ऐसा ही चाहिये। परन्तु वह अपने मनमें जानता है कि मेरा परिवार सब प्रकार सुखी है। ये दुःख-सुख तो राजाके हैं, मेरा इनसे कुछ प्रयोजन नहीं। मालिकके दुःखसे मैं दुखी-सा प्रतीत होता हूँ, वास्तवमें तो सुखी हूँ। नाइन अपने सब यजमानोंके यहाँ जाती है, जिसके यहाँ हर्ष होता है, वहाँ हर्ष प्रकट करती है और जिसके यहाँ शोक होता है वहाँ शोक प्रकट करती है। परन्तु उसके मनमें न हर्ष होता है न शोक। अपने घर जाकर बाल-बच्चोंमें सुखसे निवास करती है, वहाँ यजमानोंके सुख-दुःख नहीं मानती, अतः बहिन ! सुख-दुःख माननेसे ही होते हैं। जहाँ अपनापना नहीं, वहाँ दुःख-सुख

कहाँ ? इसीलिये कहा है कि विधवाकी अपेक्षा गृहिणीको अधिक चिन्ता है, क्योंकि वह सारी गृहस्थीको अपना मानती है। लोकमें ईश्वरने ही उसको गृहकी मालिकिन बनाया है, उसको अपना मानकर उसकी रक्षा करना तो गृहिणीका धर्म भी है परन्तु उसमें आसक्ति करना उसके लिये भी अधर्म है। इसी प्रकार मन्त्रीकी अपेक्षा राजाको अधिक चिन्ता रहती है। मन्त्री अथवा सेवक राजाकी आज्ञा पालनकर सुखपूर्वक अपने-अपने स्थानमें निवास करते हैं, परन्तु राजाको स्वप्नमें भी वह सुख होना दुस्तर है। उसको अनेक प्रकारकी चिन्ता घेरे रहती है। रात्रिको निद्राका सुख वह अनुभव नहीं कर सकता। विधवाको मन्त्री तथा सेवककी भाँति रहना चाहिये, सब काम करती हुई भी कुछ न करे, वैसे तो प्राणीमात्रका धर्म है कि वह सबको दूसरा समझे क्योंकि जितने भी दृश्य (अपने शरीरतक) पदार्थ हैं, सब अपनेसे अन्य ही हैं। जब सब अन्य हैं तब अन्यके सुख-दुःखोंमें सुख-दुःख मानना क्या मूर्खता नहीं है ? तुझे एक परम पवित्र अपने धर्मपर आरूढ़ विधवाका अनुभव सुनाती हूँ, ध्यान देकर सुन।

'एक असंसारी विधवा थी जो कि अपने धर्म-कर्ममें पूर्ण थी। वह यह भी नहीं जानती थी दुःख किसे कहते हैं, सुख-समुद्रसे भरपूर थी। ईर्षा-द्वेष सबसे दूर थी। आत्माराम निशंक थी। ज्ञानाग्नि-से कर्ता-भोक्तापना जल जानेके कारण उसको कोई भी दुःख नहीं व्यापता था। वह सदा आनन्दमें रहती थी। रात-दिन वह जपती थी हरिनाम, करसे करती थी सब काम। एक समय एक संसारी विधवा आकर उसके पास अपना दुःख इसप्रकार रोने लगी—

संसारी-बहिन ! क्या कहूँ, कहाँ जाऊँ ? मुझे तो दिन-रात न भूख है न प्यास। रातको निद्रा भी नहीं आती, तारे गिन-गिन रात व्यतीत करती हूँ, घण्टे गिन-गिन दिन बिताती हूँ। यों तो तुम भी मेरे ही समान दुखिया हो परन्तु तुमको इसप्रकार-की कोई चिन्ता नहीं प्रतीत होती। तुम्हारा चित्त हर समय प्रसन्न दीखता है, इसका क्या कारण है ? क्या कभी मैं भी इसप्रकार प्रसन्न-चित्त रह सकती हूँ ? तुमने ऐसा कौन साधन किया है कि जिससे तुम इसप्रकार प्रसन्न-चित्तवाली हुई हो। सुनती हूँ कि प्रसन्न-चित्तमें ईश्वर प्रकट हो जाते हैं। परन्तु मुझ-जैसी अभागिनियोंको तो यह सुख मिलना असम्भव ही मालूम होता है।

असंसारी–बहिन ! ईश्वरकी आस्था तथा ईश्वर-में मन लगानेपर दुःख कभी स्वप्नमें भी नहीं हो सकता। मेरा मन शुरूसे ही अर्थात् वैधव्य-दशा-को प्राप्त होते ही ईश्वरके चरणोंमें लग गया। मैं गृहकार्य सब करती थी और शारीरिक परिश्रम भी करती ही थी, परन्तु मन भगवान्‌के सिवा अन्य किसी कार्यमें नहीं लगता था। नाचने-गानेमें या उत्सव आदिमें तो कहीं जाती ही नहीं थी। हाँ, धर्म-सभाओंमें सत्संग-लाभके लिये अवश्य जाती थी।

करसे करती थी मैं काम, मनसे जपती थी हरिनाम।
बहिना, यह था मेरा काम, साठ घड़ी अरु आठों याम॥

इसप्रकार करते-करते बस मन्त्र ही मनका विषय हो गया था। मन हर समय ईश्वरके नामके जापमें लगा रहने लगा। भजन करते समय तो बाह्य विषयोंका ध्यान ही मैं नहीं आने देती थी। वैधव्य-व्रतोंका नियमपूर्वक पालन करती थी। चटकीले-भड़कीले वस्त्र नहीं पहनती थी, आभूषण भी ज्यों-ज्यों मेरी बुद्धि विकाशवाली होती गयी, सब छोड़ती गयी, सारांश यह कि यम-नियमोंका यथावत् पालन करती रही। मैंने किसी कामनासे कभी कोई कर्म नहीं किया, जो किया सब ईश्वरार्पण किया। कुटुम्बियोंको सब प्रकारसे प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करती थी, इससे आप भी प्रसन्न रहती थी। शृंगारिक वस्तुओंसे कभी भूलकर भी प्रेम नहीं करती थी,

संसारको असार समझकर चित्त उससे दूर रखती थी। अधिक क्या कहूँ? शास्त्रानुसार वैधव्य-व्रतका पालन करते-करते एक वह दिन आ गया कि मैं पूर्ण सुखी हो गयी। अब तो ऐसी सुखी हूँ कि मेरे समान शायद कोई राजा-महाराजा तो क्या स्वर्ग-का राजा इन्द्र भी सुखी नहीं होगा। जो सुख मुझे प्राप्त है, मैं तो समझती हूँ कि वह सुख किसी भी संसारीको प्राप्त नहीं है, क्योंकि धन, जन तथा त्रिलोकीके ऐश्वर्यसे यह सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

शङ्का—बहिन! तुम्हें जो यह सुख प्राप्त है, वह किस उपायसे और किसप्रकार प्राप्त होने योग्य है?

समाधान—बहिन! अपने धर्मपर आरूढ़ शुद्ध अन्तःकरणवाले अधिकारी शिष्यको सद्गुरु-कृपा और भगवद्भजनसे यह सुख प्राप्त होने योग्य है। इस सुखके प्राप्त होते ही सब कामनाएँ निर्मूल हो जाती हैं, अधिकाधिक सब प्रकारके रोग उससे दूर रहते हैं, चिन्ता-चिता स्वयं भस्म हो जाती है। मायाका किला टूट जाता है। जहाँ मायाका किला नष्ट हुआ कि फिर कहाँ शोक और कहाँ मोह?

अरी बहिन! यदि तू अपनेको सुखी बनाना चाहती है तो आजसे वैधव्य-व्रतका पालन कर। किसी शृंगारिक वस्तुके मन न लगा। रंगीन वस्त्र तथा भूषण तुझ-जैसी पवित्र बहिनोंको नहीं पहनने चाहिये। देख, सुवर्णमें तो कलियुगका वास प्रत्यक्ष ही है। राजा परीक्षितका मुकुट सोनेका था। इसी कारण तो धर्मात्मा राजाने समाधिनिष्ठ ऋषिके गलेमें मरा सर्प डाल दिया था। सुवर्णके ही कारण राजाकी बुद्धिमें कलियुग आ गया था और इसी कारण राजासे ऐसा अनुचित कार्य हुआ। जो राजा साधु-ब्राह्मणोंके प्राण थे, साधु-ब्राह्मणोंको अपना सर्वस्व देनेको तैयार रहते थे, क्या वह जान-बूझकर ऐसा निन्दित कार्य कर सकते थे? कदापि नहीं। यह सब सोनेकी ही करतूत थी। जिस सुवर्णने ऐसे धर्मात्मा राजाकी बुद्धि मलिन कर दी, उसी सुवर्णको धारणकर हम सुख तथा ईश्वरको प्राप्त करना चाहें तो यह कब सम्भव है? दूसरे, सुवर्ण अग्निदेवका मल है, जो कोई बार-बार अग्निदेवमें सुवर्णको तपा-तपा गहना बनवाकर पहनते हैं उनको अग्निदेव शाप दे देते हैं, कि इनको कभी ज्ञान न हो। बहिन! अग्निदेवका शाप देना यथार्थ ही है, उसीका मल उसीमें डालो तो क्या यह अनर्थ नहीं है? इसलिये सारे अनर्थकी जड़ यह सुवर्ण है, सुवर्णसे अनेक प्रकारके छल-छिद्र मनुष्यमें प्रवेश कर जाते हैं, सुवर्णके कारण अंग कुरूप हो जाते हैं, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। फिर भी यह सुवर्ण ऐसा लुभानेवाला है कि मनुष्य इसके दोष जान नहीं पाता, इसने अपनी चमक-दमकसे सबको वशमें कर रक्खा है।

एक सेठके चार पुत्रियाँ थीं, जब सेठ मरनेको हुआ, तब उसने अपना धन चारों पुत्रियोंको बराबर-बराबर बाँट दिया। एकने उस धनसे व्यापार किया। दूसरीने अपने पुत्रोंको पढ़ा-लिखा विद्वान् बना दिया। तीसरीने न खाया, न किसीको दिया, वह उसे पृथिवीमें गाड़कर मरणपर्यन्त उसकी रक्षा करती रही, अन्तको उसे वहीं गड़ा छोड़ आप परलोक चली गयी और चौथीने अनेकों प्रकारके सुवर्णके गहने गढ़वा लिये। उसके कान, नाक इत्यादि हर समय सुवर्णसे लदे रहते थे। इसप्रकार अपनेको देख-देख वह मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुआ करती और कहा करती कि 'देखो न, धन होनेका यही लाभ है, मैं कैसी चतुर हूँ!' एक दिन दैवाधीन उसके घरमें चोर आ गये. उन्होंने कहा 'अपना गहना हमें दे दो नहीं तो हम खींच लेंगे' अति आसक्तिके कारण यह कब सम्भव था कि वह अपने हाथसे अपने गहने दे देती, उसने अपने गहने उतारकर नहीं दिये, फल यह हुआ कि चोरोंने जबरन उसके कान, नाक खींच डाले और वह लहूलुहान हो गयी। रूप भी कुरूप हो गया। जहाँ वह अपने रूपको देख-देख प्रसन्न होती थी, अब कुरूपताको देख-देख रोने लगी। अतएव बहिन! तुम-जैसी बहिनोंको तो इससे नितान्त दूर ही रहना

चाहिये। क्योंकि हमारे ऊपर तो उस करुणाकर भगवान्की महान् करुणा है, कि उसने सुवर्ण छूनेका हमें अधिकार ही नहीं रहने दिया। हमको तो परम-पिताने स्वभावसे ही शुद्ध और पवित्र बनाया है। शुद्ध, पवित्र होकर फिर हम कीचड़में फँस जायँ तो इसके समान और कौन पाप होगा? बहिन! ऐसा समय हाथ नहीं आयेगा। इसलिये ईश्वरका धन्यवाद करती हुई, हमको अपना अमूल्य समय भगवद्भजन करते हुए सुखपूर्वक बिताना चाहिये। जो अदृष्टमें है वह तो किसीसे विपरीत हो ही नहीं सकता, यही परमपिताका अटल नियम है। उस परमपिता ईश्वरकी आज्ञा पालना, अपने-अपने धर्म-पर आरूढ़ रहना यही परम भक्ति है। किसी सांसारिक वस्तुमें मन नहीं लगाना, उनको क्षणभंगुर, विनाशी तथा असत्य मानना, जो वस्तु जैसी हो उसको वैसी ही मानना वा देखना ज्ञान है। आत्माको अनात्मा तथा अनात्माको आत्मा मानना तो अज्ञान तथा जन्म-मरणका कारण है।

संसारी-बहिन! सुवर्णमें आपने बहुत दोष कहे। इससे किसीको भी नहीं लेना चाहिये क्योंकि इसके ग्रहणसे सभीका असंगल होगा। अपना असंगल कौन चाहेगा? कौन बुद्धिभ्रष्ट होकर लोक-परलोक-का नाश करेगा?

असंसारी-वास्तवमें परमार्थ-दृष्टिसे तो यही बात है परन्तु संसारमें व्यवहारकी दृष्टिसे एक ही नियम सबके लिये लागू नहीं हो सकता। अपने-अपने धर्मके अनुसार त्याग और ग्रहणकी व्यवस्था शास्त्रमें कही है। गृहस्थिनियोंके लिये शास्त्र पतिके मनोरञ्जनार्थ वस्त्राभूषणोंसे शरीरको अलंकृत करनेकी आज्ञा देता है, लौकिक पतिके लिये लौकिक शृंगार आवश्यक है। सधवाओंका धर्म है कि जिसप्रकार अपना पति प्रसन्न रहे, उसी प्रकार बरते तथा शरीरको सुसज्जित रखे परन्तु इसके लिये अति हठ न करे। स्त्रीको तो स्वभावसे ही ईश्वरने मोहिनी बनाया है। इसीलिये आजकल बहुत-सी बहिनें पतिकी रुचि न देखकर और भार समझकर गहनों-को त्यागती जाती हैं, यही ठीक भी है। पतिव्रताका पतिको प्रसन्न करना ही मुख्य धर्म है, जिससे पति प्रसन्न रहे स्त्रीको वही निर्दोष कार्य करना चाहिये। जो गृहस्थ हैं उनके लिये सब प्रकारसे शास्त्रविहित निर्दोष लौकिक व्यवहार योग्य है और जो गृहस्थ-के लिये ग्राह्य है, वही संन्यासीके लिये त्याज्य है। इसी प्रकार जो सधवाओंको ग्राह्य है, वही विधवाओंके लिये त्याज्य है।

बहिन! जीव अन्धा है। अन्धे जीवके लिये शास्त्र अञ्जन है। शास्त्ररूपी अञ्जन जीवकी आँखें खोल देता है। आँखें खुल जानेपर जो जैसी वस्तु है वह ठीक वैसी दिखायी देने लगती है। फिर शोक-मोह हो ही नहीं सकते क्योंकि अज्ञानमें ही दुःख-विषाद और शोक-मोह है। पतिके मरनेपर शास्त्रीय दृष्टिसे सचमुच विधवाका शरीर जल जाता है क्योंकि पति ही उसका शरीर है। जले हुएको जो जला हुआ नहीं मानतीं, उनको कष्ट होता है और जो शास्त्रपर विश्वास करके यथार्थरूपसे जला मानती हैं, उन्हें कभी न जलनेवाले आनन्दस्वरूप आत्माका दर्शन होता है। उसे प्राप्त करके वे अजर, अमर हो जाती हैं। फिर कभी संसारके कीचड़में नहीं फँसतीं। सच कहा है—

कुं०—विधवाका तन जल गया, किञ्चित नहिं सन्देह।
नहिं अब उसका गेह है, नहिं उसका है देह॥
नहिं उसका है देह, देहसे है वह न्यारी।
सच्चित् परमानन्द, एक अच्युत अविकारी॥
जयदेवी, पति साथ, जिये जुग-जुग सब सधवा।
पतिविहीन हो चुकी, शरण श्रीहरिकी विधवा॥

अथवा

कुं०—विधवा सधवा हो गयी, विश्वनाथ पति कीन्ह।
देह गेह सब खेहकर, शरण ईशकी लीन्ह॥
शरण ईशकी लीन्ह, रूप भगवतका चीन्हा।
दीन्हा आपा मेट, नित्य अक्षय पद लीन्हा॥
जयदेवी, भज राम, राम-प्यारी हैं सधवा।
कृष्णसेविका धन्य, होंय सधवा या विधवा॥

रास

(लेखक—श्रीपन्नालालजी अग्रवाल)

यमुनाके रम्य तटपर पूर्ण चन्द्रमाकी धवल ज्योत्स्नामें मोहन मुरली बजा रहे थे !

मैं अभिसारिका-गृहमें दर्पणके सम्मुख केश-विन्यास ठीककर कुंकुमकी विंदिया लगा ही रही थी कि मुरलीकी मोहिनी टेर मेरे कानोंपर पड़ी ।

मैंने यह टेर पहली ही बार सुनी थी। मैं तो कुछ ही काल पूर्व जीवन-पुष्प ले उसे पतिदेवके चरणोंमें चढ़ाने व्रज आयी थी—उस नीरव-रात्रिको चीरकर आनेवाली वंशी-ध्वनिने मुझे मुग्ध कर लिया और मैं अपना आपा खो घरसे बाहर निकल पड़ी !

सखी ! जब मोहनकी मुरलीमें इतनी शक्ति है तो मोहनकी मोहिनीका तो क्या ठिकाना ?

वहाँ जा देखा, मुरलीधर मुरली अधर धरे, गलेमें वैजयन्ती-माला डाले, कदम-वृक्षके नीचे खड़े हैं और व्रजकी गोपियाँ उस रूप-माधुरीको अपने उनींदे नयनोंद्वारा पानकर मस्त हो झूम रही हैं। मैं—अनजान मुग्धा भी उनमें जा मिली ! थोड़ी देर बाद व्रज-विहारीने कहा—'आओ, आज रास रचेंगे'

तरल तरंगोंपर चन्द्र-किरण थिरकती है, वैसे गोपियाँ बाँसुरीकी मन-मोहिनी टेरपर श्यामको घेर नृत्य करने लगीं। चारों ओर अमिय-वर्षा हो रही थी, चन्द्रिका छिटकी पड़ती थी, प्रकृति स्थिर हो गयी, यमुनाका प्रवाह रुक गया, चन्द्रदेव आकाशमें जहाँ-के-तहाँ खड़े रह गये, वेदान्तप्रतिपाद्य अखिल ब्रह्माण्डनायक सच्चिदानन्द श्यामके मोहन नृत्यका दुर्लभ आनन्द लूटनेको नभमण्डलमें देव-विमानोंकी भीड़ लग गयी। मयूर नृत्य करना भूल जैसे-के-तैसे अतृप्त नयनोंसे निहारते रहे ।

धीरे-धीरे और भी समाँ बँधा—श्यामने अपने अनेकों रूप धारण कर लिये। एक-एक व्रजाङ्गनाके बीच एक-एक कृष्ण। करोड़ों कलाधरों—जैसा प्रकाश वहाँ पृथ्वीपर उतर आया ।

सखी ! जब एक कृष्णपर तमाम ब्रह्माण्ड न्योछावर है तो अनेकों कृष्णका तो क्या कहना ?

मैं सुधाकी एक ही घूँटमें अपने तन-मनकी सुध-बुध गवाँ बैठी। मेरे पाँव लड़खड़ाने लगे। अब और मेरे लिये सुधा-पान करना असम्भव था। मैं बेहोश हो, चेतना-शून्य हो वहीं श्रीकृष्ण-चरण-चुम्बित धन्य धरतीपर गिर पड़ी ।

मूर्छा भंग हुई। मैंने अपने आपको श्यामके चरण-प्रान्तमें पाया। श्याम ही अपने पीताम्बरकी छोरसे हवा कर रहे थे, श्याम ही मेरे मुखपर यमुना-जल छिड़क रहे थे ।

आँख उठाकर देखा चन्द्रमामें श्याम मुसकुरा रहे हैं। कुञ्ज-निकुञ्जमें श्याम-ही-श्याम नज़र आते हैं। लताओंकी ओरसे श्याम ही निहार रहे हैं ।

सखी ! उसी दिनसे मैंने रासकी महिमा जानी। जिधर देखती हूँ उधर श्याम-ही-श्याम—बाहर श्याम, अन्दर श्याम, सासमें श्याम, स्वामीमें श्याम, ननदमें श्याम, बच्चोंमें श्याम, बालाओंमें श्याम, तमाम ब्रह्माण्डमें श्याम-ही-श्याम ! क्या कहूँ प्यारी सखी ! मैं श्याममें हूँ और श्याम मुझमें ।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती

(लेखक—पं० श्रीकृष्णजी पन्त)

श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अपने जन्मसे किस प्रान्तको अलङ्कृत किया, कौन शताब्दी उनके आविर्भावसे धन्य हुई, उनकी लोकयात्रा कैसे सम्पन्न हुई, उन्होंने कौन-कौन ग्रन्थरत्न रचे ? इत्यादि जिज्ञासाकी शान्तिके हेतु यहाँपर कुछ विवेचन किया जाता है—

हमारे चरितनायक सस्यश्यामला वङ्गभूमिके समुज्ज्वल रत्न थे। उन्हें अपने गर्भमें धारणकर सचमुच उसका 'रत्नगर्भा' नाम सार्थक हो गया। वे वङ्गवासी थे, इस विषयमें अनेक प्रमाण हैं। वेदान्त-कल्प-लतिकामें उन्होंने—

'नीलाचलनाथस्य भजनाञ्जननिर्मलीकृतज्ञान-चक्षुः प्रत्यक्षेणाज्ञाननिवृत्तिमनुभवति, औपनिषदास्तु नीलाचलनायकेनानुगृहीताः'

—इत्यादि वाक्योंमें नीलाचलनाथका समुल्लेखकर उनके विषयमें अपनी अतुल भक्तिका परिचय दिया है। नीलाचलनाथ या नीलाचलनायक पद भगवान् जगन्नाथ-जीके पर्यायवाची हैं। जगन्नाथपञ्चक आदि स्तोत्रोंके—

'नीलाद्रिचूडामणिम्' 'नीलाद्रौ शङ्खमध्ये शतदल-कमले रत्नसिंहासनस्थम्' 'कनकरुचिरे नीलशिखरे…'

—इत्यादि वचन इस विषयमें प्रमाण हैं। उस समय सारे बङ्गालमें भगवान् जगन्नाथजीकी भक्तिस्रोतस्विनी प्रबल वेगसे बह रही थी। उनकी भी स्वोपास्य देवके विषयमें अतुल भक्ति होना स्वाभाविक ही था। इससे विदित होता है कि वे वङ्गवासी थे।

मधुसूदन सरस्वतीके शिष्य पुरुषोत्तम सरस्वतीने सिद्धान्तबिन्दुके *'बहु याचनया मयायमल्पो बलभद्रस्य कृते कृतो निबन्धः'* इस श्लोककी व्याख्या करते हुए बलभद्रको भट्टाचार्य बतलाया है और गौड ब्रह्मानन्दने बलभद्रको आचार्यकी सेवामें निरत ब्रह्मचारी कहा है। 'भट्टाचार्य' उपाधि प्रायः वङ्गदेशमें ही प्रचलित है। शिष्यकी प्रार्थनामात्रसे एक ग्रन्थ तैयार कर दे[ना] उसकी अतिशय प्रेमभाजनता एवं सेवानिरतता[का] द्योतक है। इस बातका उदाहरण प्रायः वङ्गदेशी[य] विद्वानोंमें ही पाया जाता है। मुक्तावलीकार पण्डित-शिरोमणि श्रीविश्वनाथ पञ्चाननने भी अपने स्नेहभाजन शिष्य राजीवकी प्रार्थनापर मुक्तावलीकी रचना कर संस्कृत-संसारका बड़ा उपकार किया है। इससे भी सिद्ध होता है कि वे वङ्गवासी थे। कुछ टीका-कारोंने तो मधुसूदन सरस्वतीको भी भट्टाचार्य कहा है। जो कुछ भी हो, इनके वङ्गवासी होनेमें किसीको सन्देह नहीं है।

इनके विषयमें वंशवृक्ष आदिसे जो सामग्री उपलब्ध हुई है उससे विदित होता है कि इनके मूल-पुरुषका नाम राम मिश्र था। वे समस्त वङ्गदेशीय ब्राह्मणोंके मूल-पुरुष एवं वेदनिरत तपस्वी ब्राह्मण थे। उन्होंने जिला फरीदपुरके अन्तर्गत 'कोटालपाड़ा' ग्रामको अपना निवासस्थान बनाया। आचार्य मधुसूदनके पिताका नाम प्रमोदन पुरन्दर था। वे बड़े प्रख्यात व्यक्ति थे। उनके चार पुत्र हुए—(१) श्रीनाथ चूडामणि, (२) यादवानन्द न्यायाचार्य, (३) कमलजनयन एवं (४) वागीश गोस्वामी। उनमें यादवानन्द न्यायाचार्य राजा प्रतापादित्यकी राजसभाके प्रधान पण्डित थे। उनके अपूर्व पाण्डित्यसे प्रसन्न होकर राजाने उन्हें अविलम्ब सरस्वतीकी उपाधि दी थी। उनके ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ पुत्रके विषयमें कोई विशेष उल्लेखयोग्य बात ज्ञात न हो सकी। तृतीय पुत्र कमलजनयन ही हमारे चरितनायक हैं। उन्होंने बाल्यावस्थामें नवद्वीपमें न्यायका अध्ययन किया था

उनके न्यायशास्त्रके गुरु हरीराम तर्कवागीश थे। न्यायके अगाध विद्वान् गदाधर भट्टाचार्य उनके सहाध्यायी थे। उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। न्याय-के साथ-ही-साथ माधव सरस्वतीके निकट उन्होंने वेदान्त आदि दर्शनोंमें भी अतिशय प्रौढ़ता प्राप्त कर ली थी।

इसप्रकार नवद्वीपमें अध्ययनकर मधुसूदन सरस्वती काशी पधारे। अभी उनका विवाह नहीं हुआ था, वे आबाल ब्रह्मचारी थे। किंवदन्ती है कि काशी-वासी पण्डितगण उनके साथ विचारमें उनकी अलौकिक प्रतिभाके सामने नहीं ठहर सके। काशी-में पहले-पहल उन्होंने दण्डी स्वामी विश्वेश्वर सरस्वती-के चतुःषष्टिघाटस्थित मठमें निवास किया था। जब विश्वेश्वर सरस्वतीने मधुसूदनजीकी असाधारण प्रतिभाकी चर्चा सुनी, तो उन्हें अपने समीप बुलाया, मधुसूदन सरस्वती उनके निकट उपस्थित हुए। शास्त्रचर्चामें अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञासे उन्होंने विश्वेश्वर सरस्वतीको विमुग्ध कर दिया। वहीं विश्वेश्वर सरस्वतीके निकट संन्यासकी दीक्षा ले ली। कह नहीं सकते कि उनके संन्यास लेनेमें विश्वेश्वर सरस्वतीका उपदेश कारण हो, अथवा विपक्षियोंके आक्रमणसे जर्जरित अद्वैतवादके उद्धारके लिये बद्धपरिकर होनेके कारण स्वयं ही उन्होंने प्रथमा-श्रमसे चतुर्थाश्रम ग्रहण किया हो। जो भी हो, मधुसूदन सरस्वतीजीने आजन्म अद्वैतवादकी जो सेवा की, वह असाधारण एवं स्तुत्य है। उन्होंने सदाके लिये अद्वैतवादवैजयन्तीको देदीप्यमान कर दिया एवं गगनमण्डलमें सबसे ऊँचे फहरा दिया। कृती आचार्यने अपने इस कृत्यसे अपनी कीर्तिकौमुदी-को आकल्पान्त स्थायिनी बना दिया। अद्वैतवादके इतिहासमें उनका नाम सदा स्वर्णाक्षरोंसे लिखा जायगा। अद्वैतवादकी जैसी सेवा उन्होंने की है, वैसी अन्यान्य विरले ही कृतियोंद्वारा हुई हो। मधुसूदनके प्रभावसे प्रभावित होकर अद्वैतवाद प्रबल-तरसे प्रबलतम हो गया।

उनके संन्यासाश्रमके गुरु श्रीविश्वेश्वर सरस्वती थे। उन्होंने अद्वैतरत्नरक्षण नामक निबन्धकी परिसमाप्तिमें भगवान् विश्वेश्वर एवं अपने गुरुका अभेदरूपसे निर्देशकर स्वरचित ग्रन्थ उनको समर्पित किया है। वे लिखते हैं—

अद्वैतरत्नमेतत्तु श्रीविश्वेश्वरपादयोः।
समर्पितमेतेन प्रीयतां स दयानिधिः॥

प्रकृत सिद्धान्तबिन्दुके प्रारम्भमें मङ्गलाचरण करते हुए उन्होंने कहा है—

श्रीशङ्कराचार्यनवावतारं
विश्वेश्वरं विश्वगुरुं प्रणम्य।
वेदान्तशास्त्रश्रवणालसानां
बोधाय कुर्वे कमपि प्रबन्धम्॥

इससे भी सिद्ध होता है कि उनके गुरुका नाम विश्वेश्वर था। उनके शिक्षागुरु माधव सरस्वती थे। उन्होंने अद्वैत-सिद्धिकी परिसमाप्तिमें लिखा है—

श्रीमाधवसरस्वत्यो जयन्ति यमिनां वराः।
वयं येषां प्रसादेन शास्त्रार्थे परिनिष्ठिताः॥

गूढार्थदीपिका-नामक गीताकी व्याख्याकी समाप्ति-में भी लिखा है—

श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानां
प्रसादमासाद्य मया गुरूणाम्।
व्याख्यानमेतद् विहितं सुबोधं
समर्पितं तच्चरणाम्बुजेषु॥

—इत्यादि श्लोकोंसे विदित होता है कि उन्होंने शास्त्राध्ययन माधव सरस्वतीके निकट किया था,

विश्वेश्वर सरस्वती उनके दीक्षागुरु थे और श्रीरामानन्द स्वामी उनके परमगुरु ।

उनके ग्रन्थोंके उपक्रम एवं उपसंहार देखनेसे ज्ञात होता है कि इन्होंने अपने सभी ग्रन्थ संन्यासावस्थामें ही रचे थे ।

मधुसूदन सरस्वतीजीकी विष्णुभक्ति अतुलनीय है । वे जैसे ज्ञानी थे, वैसे ही भक्त भी थे । इसप्रकार ज्ञान एवं भक्तिका सामञ्जस्य उन्हींमें देखा गया है । उनके समान शास्त्रमीमांसक विरले ही हुए हैं । गीताकी गूढार्थदीपिका-व्याख्यामें सर्वत्र ही उन्होंने विष्णु भगवान्‌के प्रति प्रगाढ़ भक्तिका परिचय दिया है । गीताव्याख्याकी समाप्तिमें दिया गया निम्नलिखित श्लोक कितना भावमय है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रा-
त्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

अद्वैत-सिद्धिके प्रारम्भ एवं अवसानमें भी उन्होंने निम्नलिखित पद्योंसे विष्णुकी अभिवन्दना की है—

मायाकल्पितमातृतामुखमृषाद्वैतप्रपञ्चाश्रयः
सत्यज्ञानसुखात्मकः श्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचरः ।
मिथ्याबन्धविधूननेन परमानन्दैकतानात्मको
मोक्षं प्राप्त इव स्वयं विजयते विष्णुर्विकल्पोज्झितः ॥
यो लक्ष्म्या निखिलानुपेक्ष्य विबुधानेको वृतः स्वेच्छया
यः सर्वान् स्मृतमात्र एव सततं सर्वात्मना रक्षति ।
यश्चक्रेण निकृत्य नक्रमकरोन्मुक्तं महाकुञ्जरं
द्वेषेणापि ददाति यो निजपदं तस्मै नमो विष्णवे ॥

दोनों श्लोकोंके भाव अपूर्व हैं । उपरितन श्लोक अद्वैतवादके भावोंसे सराबोर है, अधस्तन पुराणोंमें वर्णित भगवान्‌की कितनी ही मनोहर कथाओंका स्मरण कराता है । इतनेमें ही उनकी हरिभक्ति-प्रगाढ़ताकी इतिश्री नहीं होती । इसके अतिरिक्त उन्होंने हरिभक्तिपर भक्तिरसायन नामक एक स्वतन्त्र अत्युत्तम निबन्ध लिखा है । उसमें भक्तिको जो स्थान उन्होंने दिया है, उससे सहसा यह सन्देह होने लगता है कि यह किसी वैष्णव आचार्यकी तो कृति नहीं है ? अद्वैतवादके दर्जनों प्रौढ़ ग्रन्थोंके सफल रचयिताकी लेखनीसे यह प्रसूत होना कि भक्ति स्वतन्त्र पुरुषार्थ एवं मुक्तिसे भी बढ़कर है, अवश्य आश्चर्यजनक एवं उनके पूर्ण भक्त एवं उदारहृदय होनेका साक्षी है ।

मधुसूदन सरस्वतीजीकी निष्कामता भी अलौकिक है । उन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की पर ग्रन्थकर्तृत्वका अभिमान उन्हें छूतक नहीं गया । वे उनका कर्त्ता अपनेको समझते ही नहीं थे । समझें भी तो कैसे ? प्रथम श्रेणीके आत्मज्ञानीके लिये यह कैसे सम्भव था । इसीलिये उन्होंने लिखा है—

ग्रन्थस्यैतस्य यः कर्त्ता स्तूयतां वा स निन्द्यताम् ।
मयि नास्त्येव कर्तृत्वमनन्यानुभवात्मनि ॥

जब 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्योंके विचारसे अपरोक्ष ज्ञान हो गया—आत्मसाक्षात्कार हो गया, मैं वही (आत्मा ही) हूँ, उससे पृथक् नहीं हूँ ऐसी भावना दृढ़ हो गयी, तब अनात्माश्रित अहंकार-ममकारका पता ही कहाँ ?

उन्होंने अपने सब ग्रन्थ भगवान् एवं गुरुओंको समर्पित किये हैं ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

इस भगवदुक्तिके अनुसार ग्रन्थ ही नहीं ग्रन्थनिर्माणसे उत्पन्न हुआ सुकृत भी उन्होंने श्रीकृष्ण

भगवान्‌के अर्पण कर दिया । अद्वैत-सिद्धिकी परिसमाप्तिमें वे लिखते हैं—

कुतर्कगरलाकुलं भिषजितुं मनो दुर्धियां
मयायमुदितो मुदा विषविघातिमन्त्रो महान्।
अनेन सकलापदां विघटनेन यन्मेऽभवत्
परं सुकृतमर्पितं तदखिलेश्वरे श्रीपतौ ॥

गुरुओंको समर्पण करनेके वचन अद्वैतरत्नरक्षण, गीताव्याख्या आदिमें कहे गये हैं । उनका दिग्दर्शन पहले हो चुका है ।

मधुसूदन सरस्वतीजीका पाण्डित्य सर्वतोमुख था । वे जैसे वेदान्तके प्रगाढ़ पण्डित थे, वैसे ही नव्य न्याय आदि दर्शनोंमें भी उनकी अप्रतिहत गति थी । पण्डितमण्डलीमें ऐसी किंवदन्ती प्रचलित है कि संन्यास लेनेके अनन्तर मधुसूदन सरस्वती अपनी जन्मभूमिके दर्शन करनेके लिये एक बार पुनः नवद्वीप-में गये । उनके वहाँ जानेसे नैयायिक-सिरमौरोंमें जो खलबली मची, उसका एक कविने अच्छा चित्र खींचा है । वह कहता है—

नवद्वीपं समायाते मधुसूदनवाक्पतौ ।
चकम्पे तर्कवागीशः कातरोऽभूद्गदाधरः ॥

सुना जाता है वहाँ वे अपने सतीर्थ्य गदाधर भट्टाचार्यके अतिथि हुए थे । गदाधर भट्टाचार्य जब अपने अन्तेवासियोंको न्यायशास्त्र पढ़ाने लगे तो उन्होंने सोपहास कहा—क्या छात्रावस्थामें जो टिप्पणियाँ संकलित की थीं, उन्हें ही आप अभीतक पढ़ाते हैं ? इसी सिलसिलेमें दोनोंमें शास्त्रचर्चा छिड़ गयी । उस चर्चामें गदाधर भट्टाचार्यने मधुसूदन सरस्वतीकी अपूर्व कल्पनाशक्ति तथा असीम पदार्थ-सम्पत्तिको देखकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया था । इसी नव्य न्यायकी प्रखरताके कारण उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें परमतके खण्डन-अवसरपर युक्तियों एवं अनुमानोंसे काम लिया है । जहाँपर अन्य प्राचीन आचार्योंने केवल श्रुतिके सहारेसे परमत-खण्डनका प्रयत्न किया है, वहाँपर वे अभिनव युक्तियों एवं तर्कोंसे उसका खण्डन कर कृती हुए । अद्वैतसिद्धिकी समाप्तिमें उन्होंने अपने अनेक विद्याओंके परिचयका स्वयं उल्लेख किया है—

गुरूणां माहात्म्यान्निजविविधविद्यापरिचयात्
श्रुतेर्यन्मे सम्यङ्मननपरिनिष्पन्नमभवत् ।
परब्रह्मानन्दस्फुरणमखिलानर्थशमनं
तदेतस्मिन् ग्रन्थे निखिलमतियत्नेन निहितम् ॥

मधुसूदन सरस्वतीजीके समस्त ग्रन्थोंमें उनकी हृदयस्पर्शी ज्ञानगरिमा, प्रबल भक्ति एवं उदार हृदयका परिचय मिलता है । जीवनकी साधनाके साथ जिन ग्रन्थोंका प्रणयन होता है, उनके भाव अवश्य हृदय-स्पर्शी होते हैं । मधुसूदनजीकी जीवनकी साधनाको उनके ग्रन्थ अभिव्यक्त करते हैं । शिव और विष्णुमें उन्हें कोई भेद नहीं भासता था, महिम्नःस्तोत्रकी शिवपरक एवं विष्णुपरक व्याख्या उनकी अपूर्व कुशलता एवं शास्त्रगाम्भीर्यका द्योतन करती हुई इस बातको पुष्ट करती है ।

मधुसूदन सरस्वतीनिर्मित निम्नलिखित १० ग्रन्थ उपलब्ध हैं—(१) सिद्धान्तबिन्दु या सिद्धान्ततत्त्व-बिन्दु, (२) वेदान्तकल्पलतिका, (३) संक्षेप-शारीरकव्याख्या, (४) अद्वैतसिद्धि, (५) गूढ़ार्थ-दीपिका (गीता-व्याख्या), (६) अद्वैतरत्नरक्षण, (७) प्रस्थानभेद, (८) महिम्नःस्तोत्रकी व्याख्या, (९) भक्तिरसायन एवं (१०) भागवत-व्याख्या ।

यद्यपि इनकी रची हुई भागवतकी व्याख्या सम्पूर्ण हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुई, परन्तु वृन्दावनसे प्रकाशित श्रीनित्यस्वरूप ब्रह्मचारीजीके बृहत्संस्करणमें प्रथम

श्लोकमात्रकी व्याख्या हमने देखी है। उसके आदिमें मंगल करते हुए आचार्य लिखते हैं—

श्रीकृष्णं परमं तत्त्वं नत्वा तस्य प्रसादतः।
श्रीभागवतपद्यानां कश्चिद्भावः प्रकाश्यते॥
अनुदिनमिदमायुः सर्वदाऽसत्प्रसंगै-
र्बहुविधपरितापैः क्षीयते व्यर्थमेव।
हरिचरितसुधाभिः सिच्यमानं तदेतत्
क्षणमपि सफलं स्यादित्ययं मे श्रमोऽत्र॥

इन श्लोकोंसे मालूम होता है कि उन्होंने सम्पूर्ण भागवतकी टीका रची है, पर हमारे दुर्भाग्यसे इस समय वह सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं है।

जर्मनीके थोडर (Theodor) महाशयने अपने बृहत् सूचीपत्र (Catalogus Catalegoram) में उक्त दस 'ग्रन्थों' के अतिरिक्त आत्मबोध-टीका, आनन्द-मन्दाकिनी, कृष्णकुतूहल-नाटक, भक्तिसामान्यनिरूपण, वेदस्तुतिकी टीका आदि १२ ग्रन्थोंको और जोड़कर उनके २२ ग्रन्थोंका उल्लेख किया है। पर संस्कृत-संसारमें उनके उपर्युक्त १० ही ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उनके ग्रन्थोंमें इन ग्रन्थोंका कहीं उल्लेख भी नहीं मिला है। सम्भव है ये उन्हींकी कृतियाँ हों या किसी अन्य मधुसूदन सरस्वतीकी। अद्यावधि इन अतिरिक्त ग्रन्थोंको देखनेका भी हमें सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।

उनके पूर्वोक्त ग्रन्थोंमें किसकी रचना सबसे पहले हुई और किसकी सबसे पीछे, इस विषयमें क्रमिक निर्देश करना असम्भव है, क्योंकि किसी भी ग्रन्थमें उसके निर्माणकी तिथि नहीं दी गयी है। केवल एक यही सूत्र निर्णायक है कि किस ग्रन्थके वचन किस ग्रन्थमें उद्धृत किये गये हैं, यह देखकर जिस ग्रन्थके वाक्य दूसरे ग्रन्थमें उद्धृत हुए हैं, उसे पूर्वरचित एवं जिसमें उद्धृत किये गये हैं, उसे पश्चात् रचित सिद्ध करना। उक्त युक्तिका अवलम्बनकर ज्ञात होता है कि उनकी सर्वप्रथम कृति सिद्धान्तबिन्दु है, कारण कि अद्वैतसिद्धिमें—*'व्युत्पादितं चैतदस्माभिः सिद्धान्तबिन्दौ'* (नि० सा० सं० पृ० ५४६) *'सर्वमुपपादितमस्माभिः सिद्धान्तबिन्दौ'* (नि०सा०सं०पृ० ५५०) *'सिद्धान्तबिन्दुकल्पलतिकयोर्विस्तरः'* (नि० सा० सं० पृ० ८६६) इत्यादि वाक्योंमें सिद्धान्तबिन्दुका समुल्लेख किया गया है, इसलिये यह सिद्ध होता है कि अद्वैतसिद्धिकी अपेक्षा सिद्धान्तबिन्दु प्राचीन है। महिम्नःस्तोत्रकी टीका, वेदान्तकल्पलतिका, गूढार्थदीपिका, भागवतकी व्याख्या, भक्तिरसायन एवं अद्वैतरत्नरक्षणसे भी यह ग्रन्थ प्राचीन है, क्योंकि महिम्नःस्तोत्रकी व्याख्यामें वेदान्तकल्पलतिकाका उल्लेख है— *'विस्तरेण चात्र युक्तयो वेदान्तकल्पलतिकायामनुसन्धेयाः'* *'यथा च शब्दादपरोक्षानिर्विकल्पकबोधोत्पत्तिस्तथा प्रपञ्चितमस्माभिर्वेदान्तकल्पलतिकायाम्'* (क्रमशः महिम्नःस्तोत्रके २६ वें और २७ वें श्लोककी व्याख्या) वेदान्तकल्पलतिकामें सिद्धान्तबिन्दुका उल्लेख आया है—*विस्तरेण प्रपञ्चितमस्माभिः सिद्धान्तबिन्दौ* (वे० क० सरस्वतीभवन सं० पृ० ८७) अद्वैतसिद्धिमें गीताव्याख्या गूढार्थदीपिकाका उल्लेख है—*विस्तृतमिदमस्माभिर्गीतानिबन्धने* (पृ० ७३९) गीताटीकामें भागवतकी टीकाका उल्लेख किया गया है, भागवतटीकामें भक्तिरसायनका नाम आया है—*भक्तिरसानुभवप्रकारश्च सर्वोऽप्यस्माभिः भक्तिरसायनेऽभिहितः* (स्क० १ अ० १ श्लोक १ की व्याख्या) भक्तिरसायनमें वेदान्तकल्पलतिकाका उल्लेख किया है—*विस्तरस्तु अस्मदीयवेदान्तकल्पलतिकायामनुसन्धेयः।* सिद्धान्तबिन्दुका उल्लेख वेदान्तकल्पलतिकामें आया है। इत्यादि उद्धरणोंसे सिद्ध हो गया कि उपर्युक्त पुस्तकोंसे सिद्धान्तबिन्दु प्राचीन है। यद्यपि सिद्धान्तबिन्दुमें भी वेदान्तकल्पलतिकाका उल्लेख है—*'विस्तरस्तु वेदान्तकल्पलतिकायामनुसन्धेयः'* (सि० बि० पृ० २११), *'विस्तरेणैतत् प्रपञ्चितमस्माभिर्वेदान्तकल्पलतिकायामित्युपरम्यते* (सि० बि० पृ० २२९) तथापि इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि

वेदान्तकल्पलतिका इससे प्राचीन है, क्योंकि वेदान्तकल्पलतिकामें भी तो सिद्धान्तबिन्दुका उल्लेख है। ये दोनों समकालिक भले ही मान लिये जायँ, इसमें हमें विप्रतिपत्ति नहीं है। अद्वैतरत्नरक्षणमें बहुत स्थलोंमें अद्वैतसिद्धिके वचन उद्धृत किये गये हैं। इससे विदित होता है कि उक्त निबन्ध पूर्वोक्त सब ग्रन्थोंसे अर्वाचीन है। यह निर्णय करना कठिन है कि महिम्नःस्तोत्रकी व्याख्या तथा संक्षेपशारीरककी व्याख्यासे अद्वैतरत्नरक्षण प्राचीन है या अर्वाचीन। न तो उनमें अद्वैतरत्नरक्षणका उल्लेख मिला है, न उनका अद्वैतरत्नरक्षणमें।

मधुसूदन सरस्वतीके समयका अभीतक ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो सका। इस विषयमें अनेक मतभेद हैं। कोई सोलहवीं शताब्दीके अन्ततक ही उनका काल सीमित करते हैं, तो कोई सत्रहवीं शताब्दीके तृतीय भागमें उनका जन्म निश्चित करते हैं। लेकिन मेरे विचारमें उनका जन्म सोलहवीं शताब्दीके चतुर्थ भागमें हुआ था और सन् १६५० तक वे विद्यमान थे। उनका रचनाकाल १६१० से १६४० तक माना जाय तो कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती। ऐतिहासिक छानबीनके बाद यह बात प्रायः निश्चित हो गयी है कि अप्पय दीक्षितका जन्म सन् १५२० में हुआ था और ७३ वर्षकी अवस्थामें सन् १५९३ में वे स्वर्गवासी हुए थे। अद्वैतसिद्धिमें मधुसूदन सरस्वतीने अप्पय दीक्षितका 'परिमलकार' पदसे बड़े आदरके साथ उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—'*सर्वतन्त्रस्वतन्त्रैर्भामतीकारकल्पतरुकारपरिमलकारैरिति*' मधुसूदन सरस्वतीका सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कहकर उनकी प्रशंसा करना एवं दार्शनिकशिरोमणि भामतीकारकी समान कक्षामें उनका उल्लेख करना इस बातको सिद्ध करता है कि अप्पय दीक्षितका जन्म मधुसूदन सरस्वतीके जन्मसे कम-से-कम ६० वर्ष पूर्व हुआ था एवं मधुसूदन सरस्वतीकी ग्रन्थरचनाके समय वे संसारमें नहीं रह गये थे।

यदि मधुसूदन सरस्वतीका समय भी सोलहवीं शताब्दीके अन्ततक या इससे कुछ पूर्व मान लिया जाय तो इससे बहुत-सी अड़चनें उपस्थित होती हैं—प्रथम तो यह कि मधुसूदन सरस्वती एवं अप्पय दीक्षितके वयमें बहुत कम अन्तर मानना पड़ेगा। एक प्रकारसे वे समकालिक सिद्ध हो जायँगे। यदि थोड़ी देरके लिये मान भी लिया जाय कि वे समकालिक थे, तो शंका होती है कि एक अपने समकालिकका अपने ग्रन्थमें बड़े आदरके साथ उल्लेख करें और दूसरे उनके विषयमें सर्वथा मौन रहें यह कैसे सम्भव हो सकता? पाण्डित्यके लिहाजसे भी मधुसूदन सरस्वती उनसे कुछ कम नहीं थे। उनका ग्रन्थ-रचनाका काल भी थोड़ा नहीं रहा। उनका ग्रन्थप्रणयनमें कम-से-कम २५-३० वर्षका काल लगना सम्भव है। दोनों विद्वान् काशीवासी ही थे। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता है कि अपने समकालीन प्रकाण्ड पण्डितकी कोई भी कृति उनके दृष्टिगोचर नहीं हुई होगी, अतः उनका उनके ग्रन्थोंमें समुल्लेख नहीं हुआ। इत्यादि विवेचनसे भी सिद्ध होता है कि मधुसूदनजीकी ग्रन्थ-रचना उनके देहावसानके बादसे आरम्भ हुई थी *।

---

* आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वती-सम्बन्धी यह लेख अच्युतग्रन्थमाला, काशीसे प्रकाशित 'सिद्धान्तबिन्दु' नामक ग्रन्थके प्राक्कथनसे लिया गया है। 'सिद्धान्तबिन्दु' ग्रन्थ श्रीआद्य शंकराचार्यजीके दशश्लोकीका श्रीमधुसूदनजी महाराज-कृत व्याख्या है। यह वेदान्तका बहुत सुन्दर ग्रन्थ है। इस छोटेसे ग्रन्थमें श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने वेदान्तके प्रायः सभी मुख्य-मुख्य पदार्थोंकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। अच्युतग्रन्थमालाके सञ्चालकोंने इस ग्रन्थका भाषानुवाद गंगातीरनिवासी वेदान्तशास्त्रके मर्मज्ञ एक विद्वान् महात्माजीसे सम्पन्न कराकर इसे प्रकाशित किया है। पुस्तकका मूल्य १।≈) है। वेदान्तप्रेमियोंको यह ग्रन्थ देखना चाहिये। अच्युतग्रन्थमालाकी सभी पुस्तकें गीताप्रेस, गोरखपुरसे मिल सकती हैं। —सम्पादक

प्रेम

प्रेम ही सच्चे सुखका सार।
शान्तिका एकमात्र आधार॥
जिसके रँगमें विश्व रँगा है जिसका किया विचार।
ऋषि मुनियोंने जभी हमारे, पाया अद्भुत प्यार॥
बनाया उसे हृदयका हार।
प्रेम ही सच्चे सुखका सार॥
बिना प्रेमके जीना दूभर है प्राणीको आज।
गूँज रही जगमें इसकी ध्वनि इसका ही है राज॥
हृदयका एकमात्र अधिराज।
विश्वका अनुपम-सा सिरताज॥
गुणका गुण है, अवगुण है, जीवनका है आदर्श।
सब कुछ है यह इसको पाकर होता हियमें हर्ष॥
करे नव जीवनका संचार।
प्रेम ही सच्चे सुखका सार॥

—अवन्तविहारी माथुर, 'अवन्त'

भावके भूखे भगवान्

भावका भूखा हूँ मैं औ भाव ही बस सार है।
भावसे मुझको भजे तो भवसे बेड़ा पार है॥
अन्न धन औ वस्त्र भूषण कुछ न मुझको चाहिये।
आप हो जाये मेरा बस पूर्ण यह सत्कार है॥
भाव बिन सब कुछ भी दे डाले तो मैं लेता नहीं।
भावसे एक फूल भी दे तो मुझे स्वीकार है॥
भावसे सूनी पुकारें मैं कभी सुनता नहीं।
भावपूरित टेर ही करती मुझे लाचार है॥
जो मुझीमें भाव रखकर लते हैं मेरी शरण।
उनके औ मेरे हृदयका एक रहता तार है॥
भाव जिस जनमें नहीं उसकी मुझे चिन्ता नहीं।
भाववाले भक्तका भरपूर मुझपर भार है॥
बाँध लेते हैं मुझे यों भक्त दृढ़ ज़ंज़ीरमें।
इसलिये इस भूमिपर होता मेरा अवतार है॥

—हरिनारायण गुप्त

ज्ञान-तत्त्व

(लेखक—श्रीरामशरणजी गुप्त 'शरण' एम० ए०, एल० टी०, एम० आर० ए० एस०)

हे मनुज! मान निज धर्म मानपर मरना—
पर अपनेपर सपने अभिमान न करना।
पाकर नर-तन-सा रतन, न निष्फल खो तू—
अक्षय-सुखका सोता पा ले-मत सो तू॥१॥
धन है, बल है, यश है, पर है सब किसका—
उस नश्वरका—है नाम रूप कुछ जिसका॥
तू नाम रूपसे परे सदा समरस है।
तुझको न दुःख सुख कभी, न यश अपयश है॥२॥
यह तत्त्व समझकर, विश्वनाच सब नाँचो,
जबतक तनमें एकत्र तत्त्व हैं पाँचो।
तुम भूप बनो, या रङ्क पात्र नाटकके—
मन भूले भटके, कभी न उसमें अटके॥३॥
हो कायारत, कायरता क्यों करते हो?
निज दिखा अपटुता कटुता भव भरते हो।
यदि विधि-विधान-वश विविध वेष हो करना—
तो करो, भरो सब स्वांग पड़े जो भरना॥४॥
पर भूल न जाओ, "शूल-मूल ममता है"—
इस भव-नाटकमें सफल तत्त्व समता है।
सब रुदन हास—आभासमात्र है झूँठा—
है एक—न कोई मित्र, न कोई रूँठा॥५॥
वह एक तुम्हीं हो, सब उसकी छाया है।
यह मित्ररूपता भ्रम है, सब माया है॥
फिर अपना अपना जपना क्यों भाया है?
कब कोई क्या ले गया? कौन लाया है?॥६॥
वह एक अनूपम रूप सभीमें देखो—
उस सच्चित्को आनन्दसहित चित लेखो।
आचरण यही आमरण "शरण" हो तेरा—
हो सुखद बसेरा, अन्त मिटे जग-फेरा॥७॥

आध्यात्मिक जीवनके कुछ सिद्धान्त

(लेखक—स्वामी श्रीभोलानाथजी महाराज, लखनऊ)

नीचे लिखे सिद्धान्तोंको बराबर ध्यानसे पढ़ना चाहिये और उनके अनुसार चलनेका लगातार प्रयत्न करते रहना चाहिये । हमारी वर्तमान दशा हमें कोई साधारण तथा सुगम मार्ग ग्रहण करनेको बाधित करती है ।

१—कोई काम छिपाकर न करो, अर्थात् जब तुम किसी ऐसे कामको करना चाहते हो जो कि समाज अथवा ईश्वरके प्रति तुम्हारे सम्बन्धके विचारसे बुरा हो और तुम्हें यह मालूम पड़े कि उसे छिपाकर करनेकी आवश्यकता है तो उस कामको करनेका विचार तुरन्त छोड़ दो ।

२—कोई ऐसा काम न करो जिसके करनेके बाद तुम्हें झूठ बोलना पड़े ।

३—किसीका बुरा मत चाहो, चाहे वह किसी भी धर्म या किसी भी देशका क्यों न हो ।

४—किसी निःसहाय जन अथवा जनसमूहकी (गरीबोंकी) यथाशक्ति सहायता करो । यदि तुम किसीकी सहायता नहीं कर सकते तो कम-से-कम किसीको कष्ट न दो ।

५—अपने मनमें कभी अकेले मत रहो अर्थात् यह कल्पना करो कि वह सत्य, वह महान् शक्ति सदा तुम्हारे साथ है, हर समय तुम्हारे सब वचन और सारे कर्म उसी परमेश्वरके सामने किये जानेके योग्य हों ।

६—प्रतिदिन एक बार प्रातःकाल और एक बार सायंकाल प्रार्थनाके लिये समय निकालो । प्रातःकाल अपने ही शब्दोंमें ईश्वरकी कुछ इसप्रकार प्रार्थना करो—

हे जगत्पिता परमेश्वर ! मैं आपका हूँ । किसी कारणसे मैं फिर शरीरमें फँस गया हूँ । संसार बड़ा लुभावना और बलवान् है । मैं फिर दिनभरके लिये आज उसमें प्रवेश कर रहा हूँ । मेरा हाथ पकड़ो और ऐसी शक्ति दो, जिससे मैं ठीक रास्तेपर चलूँ । मेरे चित्तमें हर समय आपहीका ध्यान बना रहे । मैं बालक हूँ और अबोध हूँ । इन्द्रियोंद्वारा जो बुरे विचार मनमें आते हैं उन्हें रोकनेमें मैं बिल्कुल असमर्थ हूँ । इसलिये मेरा हाथ अवश्य पकड़ो और दिनभर अपने नेतृत्व और रक्षामें रक्खो !

७—रातको अपनी दृष्टि अपने अन्तःकरणकी ओर ले जाओ और विचारो कि कहाँ और किन-किन अवसरोंपर तुममें शिथिलता आयी और तुम अपने पथसे विचलित हुए । सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप करो और परमेश्वरसे प्रार्थना करो कि अगली बार फिर जब वैसे अवसर आवें तो वह तुम्हारी सहायता करे और तुम्हें गिरनेसे बचावे ।

यदि यह समझो कि दिनमें तुमसे कोई अच्छा काम हुआ है तो उसके लिये अभिमान न करो और परमात्माको धन्यवाद दो क्योंकि उसीकी दयाकी सहायतासे तुम उस कामके करनेमें सफल हुए हो ।

८—दिनभरमें जो सुख-दुःख मिलें उन सबमें उसीकी इच्छाका सञ्चार समझो और सदाके लिये उसे अपने हृदय-मन्दिरमें प्रतिष्ठित करो ।

९—अपने बन्धनों और सम्बन्धोंको वैसा ही समझो जैसा कि एक नाटकका ऐक्टर (पात्र) अपने रंगमञ्चके सम्बन्धोंको समझता है । उसकी वास्तविक स्थिति सदा एक-सी रहती है परन्तु उसका वेष बदला करता है । यानी इन बन्धनोंको अपने मनसे बिल्कुल तोड़ डालो या अपनी कल्पनाशक्तिद्वारा उन बन्धनों-से स्थायी और दृढ़ सम्बन्ध स्थापित करो ।

१०—कोई अच्छा काम इस आशासे न करो कि उसका बदला मिले वरं अपने अभिनयसे मालिकको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करो ।

दार्शनिक विचारोंका केन्द्र ईश्वर

[सर आलिवर लॉजके एक लेखका अनुवाद]

तत्ववेत्ता लोग व्यक्त पदार्थोंके बाह्य स्वरूपको छोड़, उनके भीतरी मूलस्वरूपको खोजनेका प्रयत्न सदासे करते आये हैं। इसका पता लगानेके लिये उन लोगोंने वस्तु-स्थितिकी तहतक गोते लगाये हैं। अतएव यह अधिक आश्चर्यकी बात नहीं है जो उन्होंने अव्यक्त वा मूलकारणका स्वरूप व्यक्त वा स्थूल स्वरूपसे भिन्न प्रकारका पाया हो। अब उन साइंसवालोंको देखो जो तत्व-ज्ञानकी विरुद्ध दिशामें जाते हैं। वे लोग विश्वकी रचनाको उसी तरह मानते हैं जैसा उसका प्रत्यक्ष रूप दृष्टिगोचर हो रहा है। वे लोग उसके भीतरी अलक्ष्य-तत्त्वके ज्ञान-सम्पादनमें प्रयत्न नहीं करते। उन्हें जो वस्तु जिस उद्देश्यके लिये जान पड़ती है उसे वैसा ही समझने लगते हैं। यदि हम उन्हें उस वस्तुकी व्याख्या भिन्न प्रकारकी बतलावें तो वे इसे अजीब बात समझेंगे। तथापि उन लोगोंको इसप्रकारकी विलक्षणताका परिचय कोपर्निस्कसके समयसे आजतक अनेक बार मिल चुका है। कोपर्निस्कसके ग्रह-विज्ञानके वैषम्यसे बढ़कर और दूसरा उदाहरण कौन मिल सकता है ? यह पृथ्वी आकाशस्थित अनेक ग्रहोंके समान बिलकुल नहीं मालूम होती। इसका आकार छोटा है और वह आकाशमें अपनी कक्षापर तीव्र-गतिसे घूम रही है। उसकी सारी शक्तियाँ उस बृहदाकार गोलेपर अवलम्बित हैं जो अबतक सम्पूर्ण नक्षत्रोंसे अत्यन्त प्रकाशित समझा जाता है। पृथ्वीपर दिन और रात होनेका कारण यह बतलाया जाता है कि वह अपनी धुरीपर चक्रकी भाँति घूमती है। इसी प्रकार उसमें ऋतु-परिवर्तनका कारण यह कहा जाता है कि उसकी धुरी अपनी कक्षासे सूर्यकी ओर झुक जाती है। जानना चाहिये कि एक लघु तथा प्रत्यक्षतः नगण्य कारणसे बड़े भारी उद्देश्य वा फलकी भी प्राप्ति हो जाया करती है। हमारे सीखनेके लिये यह पहला पाठ है। दूसरा पाठ सीखने-योग्य यह है कि यद्यपि वैज्ञानिकोंने अपने अनुसन्धानका फल अधिकांशमें दार्शनिक-पद्धतिसे प्राप्त नहीं किया है वरं सूक्ष्मावलोकन एवं विश्लेषणात्मक प्रयोगद्वारा जाना है, तथापि हमको दार्शनिक-पद्धतिद्वारा ही अन्वेषण करना उपयुक्त होगा अर्थात् किसी वस्तुके प्रत्यक्ष रूपको छोड़कर तद्गत अप्रत्यक्ष आधारस्तम्भ मूलकारणको ढूँढ़ना होगा। भौतिक पदार्थोंके बाह्य स्वरूप उनके अलक्ष्य सूक्ष्म स्वरूपसे अविरल सम्बन्ध प्रदर्शित करते हैं। पदार्थोंके सूक्ष्म रूप उनके स्थूल रूपसे भिन्न होते हैं। परन्तु वैज्ञानिकोंने यह समझ लिया कि उन दोनोंमें परस्पर लगातार सम्बन्ध नहीं होता है, अथवा उनका वह सम्बन्ध आणविक होता है, अर्थात् उनके प्रत्येक भागकी रचना स्वतन्त्र परमाणुओंके सङ्गठनसे होती है। इसी प्रकार चेतन-पदार्थोंके विषयमें वे लोग यह समझने लगे कि ये भी स्वतन्त्र इन्द्रियोंके सङ्गठनसे बनते हैं तथा उनको ऐन्द्रिय-द्रव्य वंशानुक्रमसे प्राप्त होता रहता है, परन्तु प्रत्यक्षतः कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। इस ऐन्द्रियवादको पीछेके विज्ञानवेत्ताओंने ग्रहण नहीं किया। ये लोग भिन्न-भिन्न श्रेणीके पदार्थोंकी उत्पत्तिके विषयमें अध्ययन करनेके लिये इस बातकी खोजमें लगे कि एकसे दूसरेमें क्रमानुसार प्रविष्ट होनेका द्वार कौन है ? निरीन्द्रिय जीवोंके विषयमें उनको पहले पहल ऐसा मालूम होने लगा कि उनमें उत्क्रान्ति-विकासका सम्बन्ध नहीं है, उनके प्रत्येक अणुका निर्माण बिल्कुल स्वतन्त्र है। उनको यह भी नहीं मालूम हुआ कि उनमें मूल-पदार्थ एकसे दूसरे रूपमें बदलनेवाला होता है, जिससे यह आशा की जा सके कि सेन्द्रिय जीवोंके समान उनमें भी एकसे दूसरे रूपमें परिवर्तन होता है अथवा उनमें पारस्परिक सम्बन्ध-का पता मिलता है। जानना चाहिये कि संसारमें अन्य प्रकारके पदार्थोंका भी अस्तित्व है। उसका ज्ञान हमारी इन्द्रियोंको सीधा नहीं, किन्तु पर्यायसे होता है। उदाहरण-के लिये विद्युत्को लीजिये। यह एक विलक्षण चीज़ है जो प्रत्येक पदार्थके एक सिरेसे दूसरेतक नितान्त तीव्र-गतिसे चल रही है। इसकी गतिका रहस्योद्घाटन किसी प्रकार उस रीतिसे हो सकता है जिस रीतिसे शब्दकी गतिका पता लगाया गया है।

इस कथनका सारांश यह है कि यह (विद्युत) एक यन्त्रकी भाँति कोई मध्यस्थ पदार्थकी लहर है जिसके नियम शब्द-गतिके नियमसे भी अति गूढ़ है, तथापि उसका निश्चय कुछ-कुछ शब्द-गतिके नियमके आधारपर किया जा सकता है। बहुत गहरी खोजके अनन्तर यह मालूम

हुआ कि विश्वके सञ्चालनमें साधारण दृष्टिसे जो परमाणु-समूह जान पड़ता है उसमें और भी मूलद्रव्य सन्निहित हैं। विद्युत्-गतिके अद्भुत रूपका ज्ञान हमको ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा नहीं हो सकता, इसीलिये यन्त्रोंकी सहायता लेनी पड़ती है। जब विद्युत्-प्रवाहका आविष्कार हुआ तब उसमें और भी कई प्रकारकी गुत्थियाँ पायी गयीं। इनमेंसे एक चुम्बकाकर्षण (Magnetism) भी है। पहले पहल ऐसा जान पड़ा कि इसका बिल्कुल स्वतन्त्र अस्तित्व है परन्तु अब यह ज्ञात हुआ है कि विद्युत् और चुम्बक (Electricity and Magnetism) दोनों आपसमें अनिवार्य रीतिसे मिले हुए हैं, तथा जब विद्युत् गतिमान् होती है तब उसमें चुम्बकाकर्षण समझाया जा सकता है। इसके आगे और भी खोज करनेसे यह मालूम हुआ कि इन दोनोंकी सहकारितासे प्रकाश बनता है। यह प्रकाश यान्त्रिक लहर बिल्कुल नहीं है बल्कि विद्युत-चुम्बक (Electro-magnetic) इसकी मूल प्रकृति है; अर्थात् प्रकाशकी उत्पत्तिमें विद्युत् और चुम्बक आदि-कारण हैं। इसप्रकार समझमें आनेयोग्य सरल बनानेके उद्देश्यसे उपर्युक्त तीनों शाखाओंको एकमें मिलाकर विद्युत्-शक्तिको 'प्रधान-सञ्चालक' का रूप दिया गया है। परन्तु यह कोई नहीं जानता कि स्वयं 'विद्युत्' क्या चीज़ है? उसके रहनेके स्थानका पता नहीं लग सका है; अलबत्तः वह अपने गुप्त स्थानसे खींचकर बाहर लाया जा सका है। फिर भी जहाँतक अनुसन्धान हो सका, यही मालूम हुआ कि वह सम्पूर्णतः व्यापक स्वरूप है। इसपर भी एक उलझन और मिली। एक वैद्युतिक-गतिमें अनेक अति सूक्ष्म तात्त्विक-गतियोंका समूह मौजूद पाया जाता है, जिन्हें अलग-अलग करना असम्भव है तथा इनकी गणना नहीं हो सकती। यही विद्युदणु (Electrons) प्रकाशके मूलद्वार हैं; तथा पदार्थोंके प्रत्येक परमाणु (Atom) में विद्यमान हैं।

वैद्युतिक-गतिका सिद्धान्त इसप्रकार क्रमशः आविष्कृत हुआ है। पदार्थोंके बाह्य स्वरूप अपने भीतरी स्वरूपसे जिसप्रकार भिन्न होते हैं वह उपर्युक्त गवेषणासे पाठकों-की समझमें आवेगा। हमने यह ज्ञान प्राप्त किया है कि परमाणु-पुञ्ज परस्पर सम्बन्धित हैं; वे सब विद्युत्के धन और ऋण (Positive and Negative) गतिके मेलसे बने हैं और उन परमाणुओंमें जिसप्रकार इन दोनोंका रासायनिक संयोग हुआ है, वह केवल नम्बर और पेटर्न (Number and pattern) के संकेतसे ही बतलाया जा सकता है। इसप्रकार सब भौतिक रचनाओंके बाह्य स्वरूपका रहस्य, संगठन आदि जो कुछ अध्ययन-मननद्वारा ज्ञात हो सका, बतलाया गया है। हमारे शरीरका निर्माण भी दो मूलतत्त्वों-प्रोटन और इलेक्ट्रन (Proton and Electron) के अगणित अणु-समूहसे हुआ है। इस-प्रकार सूक्ष्मावलोकनसे भौतिक पदार्थोंके बाह्य रूपमें क्रान्तिकारी परिवर्तन विदित हुआ—प्राकृतिक स्वरूपके भीतर सम्पूर्णतः तो नहीं किन्तु किसी अंशमें अप्राकृतिक गुप्त रूप प्रतिबिम्बित होने लगा। वैज्ञानिक लोग अब पदार्थोंके दृश्य रूपपर बिल्कुल अविश्वास करने लगे हैं तथा यह जानने लगे हैं कि वह मूल-सत्यहीका अनेक विचित्र प्रतिबिम्बरूप है। हमारे सामने विलक्षण पदार्थों-का अक्षय भण्डार पड़ा हुआ है जिसका अन्त ही नहीं मिलता है। जैसे अभी हालमें यह आविष्कार हुआ है कि खुद प्रकाशमें आणुविक प्रकार होते हैं। वह (प्रकाश) परमाणु-पुञ्ज या फोटनसे बाहर होता है अथवा उसमें विलीन रहता है और जैसे-जैसे पदार्थ बदलते रहते हैं वैसे-वैसे उनका—परमाणु-पुञ्जका भी रूप परिवर्तित होता रहता है, तथापि उन सबकी चालका प्रमाण एक समान रहता है। फोटन किसी भी दशामें सब एक ही रूपके नहीं हैं। कुछ तो ऐसे हैं कि जब वे हमारी आँखोंमें प्रवेश करते हैं तब उनका रंग लाल मालूम होता है, कुछ हरा और कुछ पीला आदि। हम देखते हैं कि किसी पदार्थका रङ्ग उस पदार्थमें नहीं होता है किन्तु उस फोटनकी शक्तिका। द्योतन है जो हमें उससे मिलती है। बहुत-से फोटन ऐसे हैं जो कुछ भी हलचल या जोश उत्पन्न नहीं कर सकते। सच तो यह है कि जोश उत्पन्न करनेवाले फोटन थोड़े ही हैं और एक्सरेज़ (X' rays) गामारेज़ (Gama rays) और स्पेक्ट्रम (Spectrum) अर्थात् सूर्यचन्द्र-की किरणोंके सिलसिलेमें दृष्टिगोचर होते हैं। फोटन पदार्थोंके परमाणुओंसे इस अर्थमें भिन्न कहा जा सकता है कि वे भौतिक नहीं हैं। तब भी उनका अलग अस्तित्व होता है और यद्यपि वे दिखलायी नहीं पड़ते तथापि वे मूलस्वरूपमें विद्यमान हैं। इसप्रकार हालमें इतना कहा जा सकता है कि भौतिक संसारकी रचना निम्नलिखित तीन द्रव्योंके मेलसे हुई है—

१-प्रोटन या पाज़िटिव (Proton or Positive charge) 'धन' गति।

२-इलेक्ट्रन या निगेटिव(Electron or Negative charge) 'ऋण' गति।

३-फोटन (Photon) जो उपर्युक्त दोनों गतियोंके फलस्वरूप उत्पन्न होता है।

इसी आधारपर अनेकों कार्य सम्पादित हुए हैं और बेशुमार फलकी प्राप्ति हुई है। परन्तु इस परिणामपर कोई सिर्फ अवलोकन (प्रयोग) द्वारा नहीं पहुँच सका है। असलमें विज्ञान अपने मुख्य प्राचीन स्थानकी ओर लौट रहा है। कोई आश्चर्य नहीं कि वह 'प्राकृतिक तत्त्वज्ञान' के प्राचीन पदपर आसीन हो जावे। वह अब तो तत्त्वज्ञान-मूलक हो गया है। ये सब आविष्कार इस बीसवीं सदीके चन्द वर्षोंके भीतर ही हुए हैं। यह उसी प्रकार उल्लेखनीय है जिसप्रकार उन्नीसवीं शताब्दिके आरम्भमें 'विद्युत्-चुम्बक-आकर्षण' की बुनियाद डाली गयी थी। ये सब आविष्कार आधुनिक होनेसे मानव-समाजके सम्मुख उपस्थित करने योग्य परिमार्जित नहीं हुए हैं। समय आनेपर ऐसा अवश्य किया जायगा और तब उनके विचारोंमें क्रान्ति उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी।

मेरा मत सर्वमान्य प्राचीन पन्थका है। मेरे इस मतको आधुनिक धुरन्धर वैज्ञानिकोंने भी समर्थन किया है। मैं आगे कुछ विस्तारपूर्वक अपना मत प्रकाशित करता हूँ।

मनुष्योंमें अधिकांश ऐसे लोग हैं जो अपने अनुभव-पर विश्वास रखकर ऐसा विचार करते हैं कि वस्तुओंका जैसा रूप प्रत्यक्ष दीख पड़ता है वैसा ही उसका मूल अव्यक्त रूप भी होगा। इस अनुमानका हमको त्याग कर देना चाहिये। उदाहरणके लिये हम अपने शरीरहीको लेते हैं। इसका जो रूप प्रकट दीखता है वह वास्तवमें अन्तरस्थ इन्द्रियों और मस्तिष्कका कार्य करता हुआ रूप है, जो कि मस्तिष्क ही विचारेन्द्रिय है इसीसे हमलोग ऐसा ख़याल करते हैं कि विचारकी उत्पत्ति उसीसे (मस्तिष्कसे) ही होती है। परन्तु यदि हम उसकी सूक्ष्म रचनाओंपर ध्यान दें तो हम मानव-स्वभाव तथा आत्माके विषयमें अधिकतर बोध प्राप्त करने लगेंगे। एक लाउड-स्पीकर-यन्त्र (Loud speaker-machine) को उदाहरणार्थ लीजिये। यह कोई भी नहीं कह सकेगा कि हम उस यन्त्रके विश्लेषण करनेसे शब्दोच्चारके उद्गम-स्थानका पता पा सकेंगे। हमारा मस्तिष्क निश्चय ही उससे भी अधिकतर रहस्यपूर्ण इन्द्रिय है। उसकी कार्य-शक्तिका उद्गमस्थान गुप्त एवं अज्ञात है। वास्तवमें वह गुप्त तो नहीं है परन्तु हमारी अज्ञानताहीसे वह ऐसा जान पड़ता है; अर्थात् हमारा ज्ञान स्वल्प है, इसीसे हम उस गुप्त रहस्यको नहीं जान सकते। एक मूर्ख जङ्गली मनुष्यको लाउड-स्पीकर वैसा ही विलक्षण तथा रहस्यमय प्रतीत होगा जैसा हमको मनुष्यका मस्तिष्क। किसी सफ़री लाउड-स्पीकरको देखकर वह जंगली मनुष्य यह समझेगा कि उसमें जान है। यदि वह उसे कुल्हाड़ीसे तोड़-फोड़ डाले तो उसकी समझमें उसकी जान चली गयी तथा वह अपनी आवाजसे उस मनुष्यकी शान्ति भङ्ग नहीं कर सकेगा। उसके लिये उपर्युक्त घटनासे यद्यपि लाउड-स्पीकरकी ध्वनि बन्द हो गयी तथापि ध्वनिका कारण बन्द नहीं हुआ। कार्य भले ही बन्द हो जाय, परन्तु कारणका अस्तित्व नहीं मिट सकता। हमारे चारों ओर असंख्य सूक्ष्म पदार्थ भरे पड़े हैं, परन्तु जबतक उनका प्रभाव हमारी इन्द्रियोंपर नहीं पड़ेगा तबतक हमको उनका अस्तित्व नहीं मालूम होगा। प्रत्यक्षमें तो ऐसा जान पड़ता है कि हमारे आसपास शून्य स्थानके सिवा और कुछ नहीं है। यह हमारा भ्रम है। इस विषयके ज्ञानके लिये हमको बिना तारके तार (Wire-less telegram) की लहरकी बनावटसे कुछ-कुछ सहायता प्राप्त हो सकती है। हमारे आसपास यूरोपकी राज-धानियोंमें दिये गये व्याख्यानों तथा गान-वाद्यकी ध्वनि व्याप्त है, परन्तु हम तबतक उन्हें न सुन सकते, न जान सकते हैं, जबतक हमारे पास रेडियो (Radio) नामक यन्त्र न हो। यह एक तुलनात्मक उदाहरण है; परन्तु मैं इसीपर अधिक ज़ोर देता हूँ, क्योंकि इसके द्वारा उस अव्यक्तमूल महान् सत्यका कारण समझमें आ सकता है। जब हम मर जाते हैं तब ऐसा मालूम होता है कि हमारा अस्तित्व मिट गया। यह तो बाह्य रूप है। हमको पहलेसे मालूम है कि यह सत्य नहीं है। हम मृत्युको प्राप्त हुए लोगोंसे बातचीत कर सकते हैं। यद्यपि उनका अपना यन्त्र (शरीर) नहीं रहता है तथापि वे दूसरोंके यन्त्रको अपने उपयोगमें ला सकते हैं। अर्थात मृतात्मा

दूसरे किसी जीवित मनुष्यके शरीरमें प्रवेशकर अथवा निज मायिक शरीरका निर्माणकर हमारे सम्मुख प्रगट होकर बातचीत भी कर सकते हैं। मृतात्मा ठीक-ठीक विशेष क्रियाद्वारा हमारी इन्द्रियोंपर प्रभाव डालनेमें समर्थ होते हैं। जबतक उन क्रियाओं-साधनोंका सन्तोषजनक पालन नहीं किया जाता है तबतक वे हमारी इन्द्रियोंपर प्रभाव नहीं डाल सकते हैं, इसी कारण वे अलक्ष्य रहते हैं। आमतौरसे ये साधन बहुतेरे लोगोंको मालूम हैं। यदि कोई सीखना चाहें तो हम उन्हें सिखला सकते हैं। स्मरण रहे कि जिन लोगोंको प्रेतात्माओंद्वारा दिये गये समाचारोंको ग्रहण करने अथवा माननेकी इच्छा नहीं होती, उनको ज़बरदस्ती नहीं मनवायी जा सकती।

मेरा यह सिद्धान्त है कि लोगोंके इस कथनको अत्युक्तिपूर्ण जानना चाहिये कि मन और प्राणके धारण करनेके लिये भौतिक पदार्थ-शरीरकी आवश्यकता होती है। असलमें प्रकाशके भी आधारके लिये भौतिक द्रव्यकी आवश्यकता नहीं, परन्तु प्रकाशको प्रकट करनेके लिये भौतिक द्रव्यकी आवश्यकता है। प्रकाशका ज्ञान हमको तभी होता है जब उसका असर किसी भौतिक पदार्थपर होता है। ठीक इसी प्रकार मैं आत्माके विषयमें कहूँगा। आत्मा किसी भौतिक पदार्थपर आश्रित नहीं है। वह बिल्कुल स्वतन्त्र है परन्तु हमारे सम्मुख प्रगट हो जानेका वह स्वयं प्रयत्न नहीं करता जबतक किसी प्रकारके भौतिक द्रव्योंसे उसका संयोग नहीं किया जाता। इसी कारण जब कोई प्रेतात्मा (परलोकगत आत्मा) किसी शरीरमें उतरता है तभी हमको उसकी विद्यमानताका बोध होता है। उसका आना थोड़े कालके लिये होता है; चाहे चन्द मिनटोंके लिये हो अथवा चन्द वर्षोंके लिये हो। द्रव्योंके अणु-समूह जो कार्य करते हैं उनका बोध हमको होता है; वह क्या है? वह उस प्रधान-सञ्चालक-शक्तिका प्रमाण अथवा लक्षणमात्र है जो उनके भीतर गुप्त रीतिसे कार्य कर रही है। मैं पहले कह आया हूँ कि भौतिक द्रव्य वास्तवमें निर्जीव (जड़) होते हैं। उनकी निजी शक्ति कुछ नहीं होती। वे न तो हिल-डुल सकते हैं, न कोई क्रान्ति उत्पन्न कर सकते हैं। उनकी अपनी इच्छा कुछ भी नहीं होती। उन्हें जिधर धक्का दिया जाय उसी ओर ढुलक पड़ते हैं। वे अपने आसपासके रिक्त स्थानमें गतिमान् रहते हैं। इनके सिवा वे प्रत्यक्ष भी नहीं होते। इनका बाह्य रूप यही मालूम होता है कि उनमेंसे प्रत्येकका एक अंश दूसरे अंशमें कार्य कर रहा है। असल बात यह है कि वे दोनों अंश शून्य स्थानमें या उस स्थानमें जिसे हम 'वेकम' (Vacumn) कहते हैं, काम करते हैं। और यही स्थान उन दोनोंके मध्य संयोजक-कड़ी निर्माण करता है। इसी प्रकार गुरुत्वाकर्षणके विषयमें भी समझना चाहिये। ऐसा कहते हैं कि पृथ्वी चन्द्रमाको अपने केन्द्रकी ओर खींचती है। यह आकर्षण बाहरी रूप है। यही बात चुम्बकके बारेमें भी जाननी चाहिये जब वह लोहेके टुकड़ोंको अपनी ओर खींचने लगता है। वास्तवमें चौम्ब्यक्षेत्र ही उन दोनों—चुम्बक और लोहेको सञ्चालित करता है जो उनके आसपास रहता है। यही दशा सब भौतिक पदार्थोंकी भी है। दो भौतिक द्रव्य वास्तवमें आपसमें मिलकर नहीं रह सकते। उनके अणुओंके मध्यमें अन्तरप्रवाहित एक गढ़ा-सा होता है जो एकसे दूसरेको हटाता रहता है। यह सच है कि चन्द आधुनिक विज्ञानशास्त्री यह ख़याल करने लगे हैं कि जब एक परमाणु दूसरेसे मिलने लगता है अथवा उन दोनोंमें रासायनिक कार्य होने लगता है तो उनमें गतिप्रदान व्याप्त शून्य स्थानके फोटन अथवा ईथरके आन्दोलनद्वारा होता है। ठीक इसी भाँति मैं भी कह सकता हूँ कि मस्तिष्कके अणुओंमें गति उत्पन्न करनेवाला विचार, है अर्थात् विचारका प्रवेश होनेसे ही स्नायुओंमें उत्तेजनाका सञ्चार होता है जो एक निर्धारित नियम-विशेषसे उस विचारको व्यक्त करते हैं। यहाँपर यह जानना चाहिये कि मैं उस अत्यन्त गूढ़ विषयके वर्णनमें प्रवेश कर रहा हूँ जिसका अन्वेषण अभीतक पूर्ण रीतिसे नहीं हो पाया है। अर्थात् यह ज्ञात नहीं हो सका है कि मस्तिष्क-तन्तुओं वा अणुओंमें विचारका आविर्भाव किस शक्तिके द्वारा होता है। अभी इतना ही कहना बस है कि अबतक हमें जो कुछ ज्ञान भौतिक द्रव्योंकी कार्यगतिके विषयमें हुआ है, वही जीवन-विज्ञान अर्थात् प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी कार्यगतिमें भी लागू होता है। जब एक सूखा पत्ता हवामें एक ही बिन्दुपर त्वरित गतिसे चक्कर खाने लगता है, तब हम उसकी भौतिक गतिको देखते तो हैं, परन्तु हम जानते हैं कि यह उसका एक सांकेतिक चिह्नमात्र (Index) है जिसका ज्ञान हमें अभीतक नहीं हो सका है। वह सूखा पत्ता स्वयं निर्जीव है। उसकी चक्र-गति

कहींसे मिली हुई शक्तिका प्रत्युत्तर-स्वरूप है। मुझे विश्वास है कि यह दृष्टान्त सम्पूर्ण विश्वके गतिमान् पदार्थोंके सम्बन्धमें ठीक घटित होता है।

मैं जीवित प्राणियों और निरीन्द्रिय पदार्थोंमें कुछ भी भिन्नता नहीं मानता। वे सब वैज्ञानिक तथा रासायनिक नियमोंके सर्वथा स्वाधीन हैं। उन नियमोंका पालन उन सबमें पूरा-पूरा होता है। इन्द्रिय-संगठन-शक्तिकी तुलना सरलतापूर्वक रसायन-शास्त्रकी परिभाषाके अनुसार स्टीम-एञ्जिन (Steam-Engine) की शक्तिसे की जा सकती है, परन्तु उसकी कार्यशक्ति, लक्ष्य तथा हलचलके नियन्त्रणका उद्देश्य या हेतुका समझना सहज नहीं है। इनको समझनेके लिये अव्यक्त सत्यके अन्तर-पटमें प्रवेश करना होगा। हमको यह स्वीकार करना होगा कि विश्व-ब्रह्माण्डके जीवनपर शासन करनेवाली कोई सत्ता है। अन्वेषणकी ऊँची सीढ़ियोंपर चढ़नेसे हमको मालूम होगा कि हम 'आत्मिक जगत्' में जा रहे हैं। वहाँ हम देखेंगे कि आत्मा सर्व-प्रधान सत्य है। हम पदार्थोंमें कार्य, आन्दोलन आदि जो कुछ देखते हैं वे सब अपने चारों ओर व्याप्त विशाल सत्यके अस्तित्वके लक्षण या उदाहरणमात्र हैं। आत्माका कार्य तब ही व्यक्त होता है जब उसका प्रवेश भौतिक जगत्में होता है। पदार्थोंका कार्य सिर्फ यही होता है कि वे उसके (आत्माके) कार्यको हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष दिखलावें।

हमारी आध्यात्मिक दुनियाँ है। हमारा सम्बन्ध वहाँसे हमारे भीतरी स्वभावद्वारा है। अर्थात् हमलोग स्वभावतः आत्मिक जगत्से सम्बन्ध रखते हैं। कुछ समयके लिये इस संसारमें स्थूल (भौतिक) शरीरमें इसलिये अवतरित हुए हैं कि यहाँ सदाचार तथा सद्गुणद्वारा आत्माको उन्नत बनावें, जिससे हमारा भविष्य समुज्ज्वल हो। हमारे इस सिद्धान्तके माननेसे प्रकृतिके बाह्य स्वरूपके माननेमें विरोध उत्पन्न होता है। परन्तु मैं तो यही कहूँगा कि वह बाह्य रूप एक छल-माया है। मैंने तथा मेरे समान कतिपय और लोगोंने भी प्रकृतिके बाह्यरूपके भीतर प्रवेश करके सत्य-तत्त्वको पहचानना सीख लिया है। किसी-किसी अवसरमें क्षणभरके लिये जब हमको उस सत्य-तत्त्वकी झलक मिलती है तब ऐसा जान पड़ता है कि वह कल्पनासे परे अत्यन्त विशाल, अचिन्त्य तेजोमय तथा अपार महिमामय है। उसीकी दयासे हम सुरक्षित हैं जिससे इस संसारमें अपने कर्त्तव्यपालनद्वारा उन्नत दशाको प्राप्त होवें। 'वाल्टेर' ने सच कहा है कि 'अपना बगीचा आबाद करो' (Cultivate your garden)। सारांश यह है कि मैंने विज्ञानशास्त्रके अध्ययन-मननद्वारा यह ज्ञान प्राप्त किया है कि भौतिक पदार्थ–जिनका ज्ञान हमें इन्द्रियोंद्वारा होता है—निपट निर्जीव–जड़ पदार्थ है तथा उनकी सारी शक्ति शून्याकाशमें व्याप्त है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि भौतिक द्रव्य कभी किसी प्रकारकी गति उत्पन्न नहीं कर सकते, बल्कि शून्याकाश (अन्तरिक्ष) की अज्ञात शक्ति धक्का देकर उनमें गति उत्पन्न करती है। उसी शक्तिके कार्यको वे (भौतिक द्रव्य) उसी तरह प्रदर्शित करते हैं, जिस तरह घड़ीका काँटा समय बतलानेका काम करता है।

मैंने अपने प्रयोग तथा अनुभवसे यह जाना है कि जो मनुष्य पार्थिव शरीर त्याग कर चुके हैं—मर गये हैं, उनके अस्तित्वका नाश नहीं हुआ है। ऐसे मृतात्मा अब भी अन्तरिक्षमें मौजूद हैं। इससे यह सिद्ध है कि जीवनके लिये भौतिक पदार्थ मुख्य नहीं हैं। परन्तु जबतक मृतात्मा भौतिक पदार्थका आश्रय ग्रहण नहीं करते तथा उनके द्वारा उनका (मृतात्माओंका) कार्य प्रत्यक्ष नहीं होता तबतक उनका अस्तित्व हमको मालूम नहीं होता। पूर्वजन्ममें उनके शरीर जिन परमाणु-समुच्चयसे निर्मित हुए थे, ठीक उसी तरहके संगठित परमाणु-समुच्चयके प्राप्त होनेपर वे फिर भी अपने काम तथा अपने रूप भी पूर्वके समान ही व्यक्त कर सकते हैं। मैंने यह स्थिर किया है कि सूक्ष्म आत्मिक-जगत्—जहाँसे हमारा आदि सम्बन्ध है—स्थूल भौतिक-जगत्से बहुत अधिक सत्य है। वह शून्याकाशमें स्थित है, तथा वहाँकी अन्यान्य शक्तियोंको बल प्रदान कर उन्हें अपने शासनमें रखता है। सभी दृश्यमान भौतिक पदार्थोंकी रचना इसी भाँति हुई है। यद्यपि इन भौतिक पदार्थोंका प्रभाव हमारी इन्द्रियोंपर सीधा पड़ता है अर्थात् उनके अस्तित्व तथा रूपका ज्ञान हमें इन्द्रियोंद्वारा प्राप्त

होता है, तथापि वे सब अलक्ष्य-सत्य-पदार्थके कार्य-द्योतक सांकेतिक चिह्नमात्र हैं।

मुझे परलोकगत आत्माओंद्वारा जो संवाद प्राप्त हुए हैं, उनसे यह ज्ञात हुआ है कि वे अपनी विशेष शक्ति-प्रदानद्वारा हमलोगोंकी समय-समयपर सहायता करते रहते हैं। यह भी मालूम हुआ है कि उनमें पूर्वजन्मार्जित स्मृति, प्रेम तथा सामर्थ्य पूर्ववत् विद्यमान हैं और वे उच्च स्थितिको प्राप्त होते जा रहे हैं। वे यह भी जानते हैं कि कौन-कौन आत्मा उनसे क्रमशः उच्चपद प्राप्त कर चुके हैं। मेरी दृढ़ धारणा है कि इसी प्रकार विकास-श्रेणी क्रमशः बुद्धिसे परे सर्वोच्च स्थितितक चली गयी है। अन्तमें मेरा यह विश्वास है कि यह विश्व-ब्रह्माण्ड बुद्ध्यातीत कल्पनासे परे—महतो महीयान् गुरुर्गरीयान्—सत्य शक्तिका प्रतिबिम्बस्वरूप है, तथा इसका नियन्त्रण उसी परमपिताकी शक्तिके द्वारा हो रहा है, जिसका नाम–प्रेम–ईश्वर है।

[अनुवादक—धानूलाल श्रीवास्तव]

अनन्त पथपर

(लेखक–श्रीदेवीप्रसादजी गुप्त 'कुसुमाकर' बी० ए०, एल-एल० बी०)

चक्करदार सीढ़ियोंपरसे मुझको ऊपर जाना है।
हृदय-वेदनाके आँसू कुछ तुमको भेंट चढ़ाना है॥

भरकर पश्चाताप-अञ्जली खड़ा हुआ हूँ ज़ीनेपर।
हो जाओगे दया-रूप तुम पलमें जिसको पीनेपर॥

किन्तु कठिनता एक बड़ी है, तुमतक पहुँचूँगा कैसे ?
बाधाओंको अपने पथसे प्रभो! हटाऊँगा कैसे ?

लदा हुआ है सिरपर मेरे पापोंका बोझा भारी।
छाई काम-क्रोध आदिककी आँखोंमें है अँधियारी॥

कपट, स्वार्थ, ईर्षाने मिलकर रक्त चूस सारा डाला।
पैर लड़खड़ाते हैं ऐसा हूँ तन शक्तिहीनवाला॥

इतनेपर भी मदकी मदिरा खूब डाँटकर पी ली है।
जिसके कारण दशा और भी मेरी हुई नशीली है॥

नहीं सुकर्मोंकी लकुटीतक कोई मुझे सहारा है।
किन्तु सुना है शरणागतको तुमने सदा उबारा है॥

हो इसमें यदि सत्य नाथ! तो तुम ही हाथ बढ़ाओ अब।
इस अनन्त जीनेके ऊपर तुम ही मुझे चढ़ाओ अब॥

मोह-मुद्गर

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

प्राप्ते सन्निहिते मरणे
नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं
भज गोविन्दं मूढमते॥१६॥

मृत्यु निकट आकर जब तेरा ग्रस्त करेगी प्राण,
'डुकृञ् करणे' धातु वहाँ तब कर न सकेगा त्राण।
(इस कारण व्यामोह छोड़कर सुन रहस्य यह गूढ़—)
नारायण भज, नारायण भज, नारायण भज, मूढ़ ॥१६॥

नारीस्तनभरनाभीदेशं
दृष्ट्वा मा गा मोहावेशम्।
एतन्मांसवसादिविकारं
मनसि विचिन्तय बारम्बारम्॥१७॥

पीन उरोज देख रमणीका सुन्दर नाभि-प्रदेश,
कभी नहीं तू लाना मनमें मोहजन्य आवेश।
यह तो मांस और मज्जादिकका है घृणित विकार!
देख, हृदयमें सदा यही तू बारम्बार विचार ॥१७॥

यावत् पवनो निवसति देहे
तावत् पृच्छति कुशलं गेहे।
गतवति वायौ देहापाये
भार्या बिभ्यति तस्मिन् काये॥१८॥

जबतक इस शरीरके भीतर करता प्राण निवास,
तबतक प्रिया पूछती रहती गृहमें 'कुशल' सहास।
किन्तु प्राण जब बिलग हो गया, होता तनका नाश,
तब भार्याको भी भय होता उस शरीरके पास॥१८॥

सत्सङ्गत्वे निस्सङ्गत्वं
निस्सङ्गत्वे निर्मोहत्वम्।
निर्मोहत्वे निश्चलितत्वं
निश्चलितत्वे जीवन्मुक्तिः॥१९॥

सत्संगतिसे हो जाता नर विषयोंसे निस्संग,
फिर व्यामोह-रहित हो जाता, हो सर्वत्र असंग।
मोह विगत होते ही होता मन निश्चलतायुक्त,
निश्चलता आते ही वह हो जाता जीवन्मुक्त ॥१९॥

वयसि गते कः कामविकारः
शुष्के नीरे कः कासारः।
क्षीणे वित्ते कः परिवारः
ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः॥२०॥

आयु ढल जानेपर रहता कहाँ मनोज विकार?
नीर सूखनेपर रह जाता भला कहाँ कासार?
विभव नष्ट होनेपर रहता कहाँ अहो! परिवार?
तत्त्वज्ञान हो जानेपर है कहाँ भला संसार? ॥२०॥

जटिली मुण्डी लुञ्चितकेशः
काषायाम्बरबहुकृतवेषः।
पश्यन्नपि न च पश्यति मूढो
ह्युदरनिमित्तं बहुकृतवेषः॥२१॥

कोई जटिली कोई मुण्डी कोई लुञ्चितकेश,
कोई वस्त्र गेरुआ धारे यों बहुविध कृत वेष।
मूढ मनुष्य देखकर भी यह नहीं समझता नित्य,
नाना वेष बनाये जाते यों ही उदर-निमित्त ॥२१॥

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानुः
रात्रौ चिबुकसमर्पितजानुः।
करतलभिक्षस्तरुतलवास-
स्तदपि न मुञ्चत्याशापाशः॥२२॥

आगे जलती आग दिवसमें पीठ-ओर है भानु,
रात्रि-समय ठोढ़ीमें सट जाते हैं दोनों जानु।
करतलमात्र पात्र भिक्षाका तरुके नीचे वास,
फिर भी नहीं छोड़ता हा! यह आशारूपी पाश ॥२२॥

कुरुते गङ्गासागरगमनं
व्रतपरिपालनमथवा दानम्।
ज्ञानविहीनः सर्वमतेन
मुक्तिं भजति न जन्मशतेन॥२३॥

कोई तो करता गङ्गासागरको ही प्रस्थान,
कोई व्रतका पालन करता अथवा देता दान।
यही किन्तु सबका मत है जो रहता ज्ञानविहीन,
सौ जन्मोंमें भी पा सकता मुक्ति नहीं वह दीन ॥२३॥

योगरतो वा भोगरतो वा
सङ्गरतो वा सङ्गविहीनः।
यस्य ब्रह्मणि रमते चित्त-
न्नन्दति नन्दति नन्दत्येव ॥२४॥

योगाभ्यासपरायण हो या सदा भोगमें लीन,
सदा सङ्गमें निरत रहे या होवे संगविहीन।
किन्तु ब्रह्ममें रम जाता है जिस प्राणीका चित्त,
वह अवश्य ही आनन्दित होता रहता है नित्त ॥२४॥

भगवद्गीता किञ्चिदधीता
गङ्गाजललवकणिका पीता
सकृदपि येन मुरारिसमर्चा
क्रियते तस्य यमेन न चर्चा ॥२५॥

यदि श्रीमद्भगवद्गीताका थोड़ा भी हो ज्ञान,
गंगाजल-कण लेशमात्र भी किया जिन्होंने पान।
एक बार जिनसे अर्चित हों मुररिपु कमला-कान्त,
उन जीवोंकी चर्चा करता नहीं कदापि कृतान्त ॥२५॥

रथ्याकर्पटविरचितकन्थः
पुण्यापुण्यविवर्जितपन्थः।
योगी योगनियोजितचित्तो
रमते बालोन्मत्तवदेव ॥२६॥

मार्गपतित चिथड़ोंका रच लेता है अपना कन्थ,
पाप-पुण्यसे सदा निराला रहता उसका पन्थ।
योगी योगाभ्यासपरायण करके अपना चित्त,
बालक या उन्मत्त-सदृश ही रमता रहता नित्त ॥२६॥

कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः
का मे जननी को मे तातः।
इति परिभावय सर्वमसारं
विश्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम् ॥२७॥

तू है कौन, कहाँसे आया, अथवा मैं हूँ कौन?
कौन हमारी माता है या पिता हमारा कौन?
इन सब बातोंका तुम करते रहना सदा बिचार,
स्वप्नविचारसमान त्यागकर यह असार संसार ॥२७॥

गेयं गीतानामसहस्रं
ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम्।
नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं
देयं दीनजनाय च वित्तम् ॥२८॥

गीता विष्णुसहस्रनामका करते रहना गान,
प्रतिक्षण माधवके स्वरूपका धरते रहना ध्यान।
साधुजनोंकी ही सङ्गतिमें सदा लगाना चित्त,
दीनजनोंके लिये सर्वदा देते रहना वित्त ॥२८॥

सुखतः क्रियते रामाभोगः
पश्चाद्धन्त शरीरे रोगः।
यद्यपि लोके मरणं शरणं
तदपि न मुञ्चति पापाचरणम् ॥२९॥

सुखके हेतु किया जाता है रमणीका संभोग,
पीछे हाय! समस्त देहमें छा जाता है रोग।
यदपि मृत्युका आश्रय लेना ही पड़ता जगबीच,
फिर भी पापाचारोंको वह नहीं छोड़ता नीच ॥२९॥

प्राणायामम्प्रत्याहारं
नित्यानित्यविवेकविचारम्।
जाप्यसमेतसमाधिविधानं
कुर्ववधानम्महदवधानम् ॥३०॥

प्राणायाम और निज इन्द्रियका कर प्रत्याहार,
'क्या अनित्य या नित्य वस्तु है'—इसको सदा बिचार।
जाप्यसमेत सदा करता रह सुदृढ़ समाधि-विधान,
सावधान हो, कर प्रतिदिन उस महत्तत्त्वका ध्यान ॥३०॥

गुरुचरणाम्बुजनिर्भरभक्तः
संसारादचिराद्भवमुक्तः।
सेन्द्रियमानसनियमादेवं
द्रक्ष्यसि निजहृदयस्थन्देवम् ॥३१॥

श्रीगुरुदेवचरणपङ्कजका होकर अविचल भक्त,
इस असार संसृतिसे हो [illegible] अविलम्ब विरक्त।
इन्द्रिययुत मनका नियमन करनेसे इसी प्रकार
देख सकेगा निज हृदयस्थित ईश्वरको अनिवार ॥३१॥

पाण्डेय रामनारायण दत्त शास्त्री 'राम'

विवेक-वाटिका

प्राप्त होने योग्य गति, सबका भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, समस्त शुभाशुभका द्रष्टा, सबका निवासस्थान, शरण लेने योग्य, बदला न चाहकर हित करनेवाला सुहृद्, उत्पत्ति-प्रलयरूप तथा सबका आधार, सबका निधान और अविनाशी बीज मैं ही हूँ ।

—भगवान् श्रीकृष्ण

जो इसप्रकार जानता है कि यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर और अभय है, यह ब्रह्म निश्चय अभय है, वह निश्चय ब्रह्म ही हो जाता है । —उपनिषद्

तप करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, दान देनेसे ऐश्वर्य मिलते हैं, ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है और तीर्थस्नानसे पाप नष्ट होते हैं । — महाभारत

भगवान्के पवित्र, सुन्दर और मनोहर नामोंका तथा उनके अर्थोंका गान और उनकी अलौकिक लीलाओंका लज्जा छोड़कर कीर्तन करते हुए श्रेष्ठ भक्तको आसक्तिरहित होकर पृथ्वीपर विचरण करना चाहिये । —श्रीमद्भागवत

क्रोध मनुष्यका बड़ा भारी वैरी है, लोभ अनन्त रोग है, सब प्राणियोंका हित करना साधुता है और निर्दयता ही असाधुपन है । —युधिष्ठिर

जो चेतनको जड़ और जड़को चेतन कर सकते हैं ऐसे समर्थ श्रीरघुनाथजीको जो जीव भजते हैं, वे ही धन्य हैं ।

—गोसाईं तुलसीदासजी

पानी ऊँची जगहपर नहीं टिकता, वह नीचे ही ठहरता है, इससे जो नीचा होता है वह पानी निकालकर पी लेता है, पर ऊँचेको प्यासा ही लौट जाना पड़ता है ।

—कबीरजी

सदा याद करते रहनेकी तो एक ही वस्तु है । सदा-सर्वदा, सर्वत्र श्रीकृष्णके सुन्दर नामोंके ही स्मरणसे प्राणीमात्रका कल्याण हो सकता है । सदा उसीका स्मरण करते रहना चाहिये । — श्रीचैतन्यदेव

मनमें कामना रखकर भजन करनेसे सिर्फ उसका फल मिलता है, परन्तु निष्काम भजनसे तो भगवान्की प्राप्ति होती है । सांसारिक फल तो मनुष्यको भगवान्से दूर करता है इसलिये निष्काम भावसे भगवान्का भजन करना चाहिये ।

—समर्थ रामदास

जबतक यह शरीर स्वस्थ है, जबतक वृद्धावस्था दूर है, जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति कम नहीं हुई है और जबतक आयु शेष नहीं हुई है, तभीतक परमात्माको पानेके लिये उपाय कर लो । नहीं तो फिर, घरमें आग लग जानेपर जो कुआँ खोदनेकी बात सोचकर चुपचाप बैठा रहता है, उसे जलना पड़ता है, यही दशा होगी । —भर्तृहरि

भगवान्का नाम ही भवरोगकी दवा है । अच्छा न लगनेपर भी नाम-कीर्तन करते रहना चाहिये, करते-करते क्रमशः नाममें रुचि हो जायगी । —विजयकृष्ण गोस्वामी

विषयी मनुष्य नीचे लिखी तीन बातोंके लिये अफसोस करते हुए मरते हैं—(१) इन्द्रियोंके भोगोंसे तृप्ति नहीं हुई, (२) मनकी बहुत-सी आशाएँ अधूरी ही रह गयीं और (३) परलोकके लिये कुछ साथ न ले चले ।

—हुसेन बसरी

ज्ञानरूप अग्निके द्वारा सब कर्मोंका नाश हो जानेके कारण मनुष्य बिना किसी प्रतिबन्धके मुक्त हो जाता है ।

—श्रीशंकराचार्य

ऊँची जातिका अहंकार कोई न करे, क्योंकि मालिकके दरबारमें केवल भक्ति ही प्यारी है । —पलटू साहेब

यदि कोई कमजोर मनुष्य प्रभुके कार्यमें लग जाता है, तो उसको भी अन्तमें प्रभुका बल मिल ही जाता है, इसी प्रकार यदि कोई बलवान् पुरुष लौकिक स्वार्थोंमें ही लगा रहता है तो अन्तमें उसे बलहीन तथा लाञ्छित होना पड़ता है । —अबदुल्ला मनाज़िल

भक्त-गाथा

भक्त जगन्नाथदास भागवतकार

भक्त जगन्नाथदास जातिके ब्राह्मण थे और श्रीजगन्नाथपुरीमें निवास करते थे । विद्या, विनय और साधु-स्वभावके होनेके कारण इनको लोग बहुत अच्छी नज़रसे देखते थे । यद्यपि देखनेमें इन्हें कोई दुःख न था, परन्तु ये सदा चिन्तामें ही डूबे रहते थे । चिन्ता किसी सांसारिक भोग-वस्तुके प्राप्त करनेकी नहीं थी, वह थी भगवान्‌को पानेकी ! वह चौबीसों घण्टे इन्हीं विचारोंमें रहते और बारम्बार भगवान्‌से प्रार्थना करते कि 'हे प्रभो ! इस अपार भवसागरसे पार करनेवाले तुम्हीं एकमात्र कर्णधार हो, जबतक तुम्हारी कृपा नहीं होती तबतक किसी भी उपायसे जीवका उद्धार नहीं हो सकता । नाथ ! मैं दीन, हीन, शक्तिहीन पामर प्राणी हूँ, मुझमें ताकत नहीं कि मैं मनको विषयोंसे हटाकर आपके चरणोंमें लगाऊँ । मैं तो विषयविमोहित हूँ, मोहके सागरमें डूब रहा हूँ । तुम्हीं हाथ पकड़कर मुझे निकालो तो निकल सकूँगा । दयामय ! मुझ-सा दीन और कौन होगा, जो अपनी दीनताके प्रकट करनेमें भी असमर्थ है, जो दीनबन्धुके चरणोंमें उपस्थित होकर इतना भी नहीं कह सकता कि 'मैं दीन हूँ ।' अभिमान सदा-सर्वदा दीनताका बाधक बना ही रहता है । मुझे अब कोई भी मार्ग नहीं सूझता । करुणानिधे ! इस पतित प्राणीपर दया करो, अपने भजन करनेकी शक्ति दो और किसी दिन अपनी बाँकी झाँकी दिखाकर कृतार्थ कर दो ।'

इसप्रकार प्रार्थना और चिन्तन करते बहुत-सा समय बीत गया । एक दिन रात्रिके समय एकान्तमें जगन्नाथदास बिछौनेपर पड़े हुए मन-ही-मन प्रार्थना करने लगे—'प्रभो ! बहुत दिन हो गये, अब तो अपनी कृपाकी एक किरण मुझपर भी डालो । मैं अधिकारी नहीं, इसलिये मुझे भक्ति और प्रेम मत दो, परन्तु अपनी इतनी महिमा तो बता दो कि जिससे मैं दृढ़ विश्वासके साथ तुम्हारा भजन कर सकूँ । हे दयामय ! मैं तुम्हारे शरण हूँ । तुम्हारे सिवा लोक-परलोकमें मेरा कोई नहीं है । मारो या तारो, जो कुछ हूँ, तुम्हारा ही हूँ ।' यों कहते-कहते और मनमें प्रभुका ध्यान करते-करते जगन्नाथदासको नींद आ गयी । आज दयामयका हृदय द्रवित हो गया । भगवान् बड़े कोमल-हृदय और भक्तवत्सल हैं । एक ही शब्दसे द्रवित हो जाते हैं । अवश्य ही वह शब्द द्रवितचित्तसे निकला हुआ और सच्चा होना चाहिये । जिस दिन, जिस क्षण प्रार्थनामें भक्तका चित्त पिघल जाता है और वह भगवान्‌की कृपापर पूर्ण विश्वासकर अपनेको उनके चरणोंमें डाल देता है, बस, उसी क्षण भगवान् उसकी प्रार्थना पूर्ण कर देते हैं । आज जगन्नाथकी मनोकामना पूर्ण करनेके लिये शरणागत-भयहारी भगवान् शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज साकार स्वरूपसे स्वप्नमें जगन्नाथके सामने प्रकट हुए और हँसकर बोले—'प्यारे जगन्नाथ ! तू किसलिये इतना घबरा रहा है ? अरे, जिसने एक बार भी सच्चे हृदयसे मेरा आश्रय ले लिया, उसे भय कहाँ है ?

सनमुख होहि जीव मोहि जबहीं।कोटि जन्म अघ नासौं तबहीं॥

यह मेरा व्रत है । आज [illegible] उद्धार हो चुका । तू निर्भय हो चुका । अब तू [illegible] काम कर । 'भागवत' भवसागरसे तारनेके लिये एक सुदृढ़ जहाज है । मेरे भावसे पूर्ण होकर ही मेरे ही स्वरूप व्यक्ति

देवने इसकी रचना की है। राजा परीक्षित शुकदेव मुनिसे इसी भागवतको सुनकर सहज ही भवसागरसे तर गया था। भागवत मेरा स्वरूप है। अतएव तू अपनी प्राकृत भाषामें इस महापुराणका समश्लोकी अनुवाद कर। इससे तू तो पवित्र होगा ही, अनेकों प्राणियोंको भी पवित्र कर सकेगा। जल्दीसे इस कामको करके जगत्का मङ्गल कर और मङ्गलमय बन।' इसप्रकार प्रभुकी आज्ञा मिलनेपर स्वप्नमें ही जगन्नाथदासने कहा—'प्रभो! मैं महामूर्ख हूँ। आपकी आज्ञाका पालन किस तरह कर सकूँगा। अपार महिमावाले श्रीमद्भागवत-ग्रन्थका प्राकृत भाषामें अनुवाद मुझसे क्योंकर हो सकेगा?' भगवान्ने उत्तर दिया--'बेटा! घबरा नहीं। मेरी शक्तिसे क्या नहीं हो सकता? तू निर्भय-चित्तसे ग्रन्थ-निर्माणके लिये तैयार हो जा और मैं तेरे हृदय-कमलपर बैठकर जो कुछ कहूँ, उसीको लिखता चला जा।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। जगन्नाथदासकी नींद टूटी। वह एकदम उठ बैठे। प्रभुके दर्शन होनेसे आज उनके आनन्दका पार नहीं है। परम विश्वासी भक्त कागज, कलम लेकर भगवान्की आज्ञा पालन करने बैठे, परन्तु लिखें क्या? आँसुओंके प्रवाहसे सारे अंग भीग गये। बाह्य दृष्टि रुक गयी। अन्तर्दृष्टिसे देखा, तो हृदयमें भगवान् अन्तर्विहारी विष्णुकी तेजोमयी दिव्य छबि विराजित दिखलायी दी। इन्द्रियोंके सारे दरवाजे बन्द हो गये। कलम चलने लगी और लगातार पन्ने-के-पन्ने लिखे जाने लगे। दूसरे दिन प्रातःकाल फिर यही दशा हुई। यों प्रतिदिन होते-होते कुछ समयमें सम्पूर्ण भागवतका परम रमणीय भाषामें पद्यानुवाद हो गया। अत्यन्त कठिन-से-कठिन मूल श्लोकोंपर भी कोमलकान्त पदावली रची गयी। तदनन्तर जगन्नाथदासने प्रभुके आदेशानुसार इस कल्याणकारी भागवतका गानकर मनुष्योंके पाप-तापका विनाश करना शुरू किया।

जगन्नाथदास भागवतका कीर्तन करते हुए स देशमें घूमने लगे। उनका प्रेम और माधुर्य- गायन सुनकर मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षीतक मुग्ध होने लगे। प्रथम तो मधुर स्वरका स स्वाभाविक ही लोगोंके चित्तको खींचता है, फिर वह केवल निष्काम भावसे भगवान्की आज्ञानु जीवोंके कल्याणके ही लिये गाया जाय और वह श्रीमद्भागवत-जैसे प्रेमामृतपूर्ण ग्रन्थका सार हो उससे समस्त प्राणियोंके प्रसन्न होकर खिंच ज आश्चर्य ही क्या है? जगन्नाथदास जब गलि चलते हुए भागवतका गान करते, तब उनके नें आनन्दके आँसुओंकी झड़ी लग जाती, प्रेमके आ में वाणी गद्गद हो जाती, शरीर लड़खड़ाने ल प्रत्येक अङ्गमें भक्तिकी तरंगें उछलती हुई दिख देतीं। प्रेम और करुणापूर्ण मधुर स्वरसे दिशाएँ उठतीं। उनको इस अवस्थामें देखकर बालक, युवा, पुरुष और स्त्री सभीके मन खिंच जाते। सभी लोग बड़े आदर-सत्कारके साथ अपने-अ घरोंमें ले जाकर उन्हें घेरकर बैठ जाते और प्यारे बन्धुके समान उनके मुखसे भगवान् श्रीकृ परम मधुर चरित्रोंको सुन-सुनकर कृतार्थ हो आज इसके तो कल उसके, यों घर-घरमें जगन्ना दासके भागवतका गान होने लगा और लोग भग की मधुर लीलाका आनन्द लूटने लगे।

दुष्टोंको न तो हरिचर्चा ही सुहाती है और किसीका सम्मान ही उन्हें सुखदायी होता है जगन्नाथदासका आदर-सत्कार ऐसे लोगोंकी खटकने लगा, उनकी निन्दाप्रिय जिह्वाएँ जगन् दासकी निन्दा करनेके लिये लपलपाने लगीं। किसी प्रशंसा सुनकर उसकी निन्दा करना, अच्छोंमें बुरी बातका आरोपण करना तथा अकारण ही दू का अनिष्ट करना, यही खलोंका स्वभाव होता है।

कौआ स्वभावसे ही उत्तम वस्तुओंको भ्रष्ट करता है। कुत्ते पवित्र वृक्षों, बेलों और स्थलोंपर पेशाब करते हैं, चूहे बिना ही किसी स्वार्थके लोगोंके कपड़े काट जाते हैं और साँप लोगोंको अकारण ही डस जाता है परन्तु इसमें उसको कोई लाभ नहीं होता; इसी प्रकार दुष्ट जन साधुओंकी निन्दा करने और उनपर दोष मँढ़नेमें ही सुख मानते हैं—तुलसीदासजी महाराजने ऐसे दुष्टोंके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

खलहिं हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर सम्पति देखी॥
जहँ कहुँ निन्दा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहु परी निधि पाई॥
काम-क्रोध-मद-लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बैर अकारन सब काहूसों। जो कर हित अनहित ताहूसों॥

पर-द्रोही पर-दार-रत परधन पर अपवाद।
ते नर पामर पापमय, देह धरे मनुजाद॥

इसी स्वभावके कारण दुष्ट-मण्डलीका हृदय जगन्नाथदासका मान-सम्मान देखकर दग्ध हो गया। उन्होंने जाल रचा और उनमेंसे कुछ लोगोंने जाकर राजा प्रतापरुद्रसे यह शिकायत की कि 'महाराज! आपकी इस पुण्यक्षेत्र पुरी नगरीमें आजकल बड़ा अनर्थ होने लगा है। जगन्नाथदास नामका एक पाखण्डी ब्राह्मण तुलसीकी माला पहनकर और तिलक-छापे लगाकर नगरके नर-नारियोंको ठगता फिरता है, जहाँ-तहाँ नाचता-गाता है, स्त्रियोंमें जाकर बैठता है। सरल हृदयकी स्त्रियोंके धन और धर्मको हरण करनेमें वह बड़ा ही चतुर है। उसके कारण पवित्र पुरी पाप-पुरी हो गयी है। आपको हमारी बातका विश्वास न हो तो आप गुप्त दूतोंको भेजकर इस बातका पता लगवा लीजिये। परन्तु यह अनर्थ अब जल्दी ही बन्द होना चाहिये।' राजाको इन लोगोंकी बातोंपर विश्वास हो गया। उसने दूतोंके द्वारा पता लगाया। दुष्टोंने उन्हें साथ ले जाकर सैकड़ों स्त्री-पुरुषोंके घेरेमें बैठे जगन्नाथदासजीको भागवतका गायन करते दिखला दिया और कुछ दे-लेकर उनके द्वारा यह कहलवा दिया कि 'महाराज! शिकायत सच्ची है, जगन्नाथदास वास्तवमें बड़ा अनर्थ कर रहा है और जगह-जगह उसकी पूजा हो रही है।'

राजा लोग राज-मदके कारण प्रायः अन्धे-बहरे हुआ ही करते हैं। प्रतापरुद्रने तुरन्त जगन्नाथदासजीको पकड़वाकर मँगवा लिया और उनसे कहा—'अरे जगन्नाथ! तू ऊपरसे तो साधु बना फिरता है और तेरे आचरण इतने दुष्ट हैं, तू दिन-रात स्त्रियोंमें बैठकर न मालूम क्या-क्या गाया करता है। सच-सच बता दे, नहीं तो समझ ले कि तेरे जीवनके दिन पूरे हो गये हैं।'

राजाके क्रोध-भरे वचन सुनकर जगन्नाथदासने क्षणभर भगवान्‌का ध्यान कर निश्चिन्त भावसे कहा—'महाराज! द्वेषियोंकी बात सुनकर बिना स्वयं जाँच किये अकारण ही निरपराधको सताना राजाका कर्तव्य नहीं है। मैं तो भागवतका गान करता हूँ और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या अन्त्यज कोई भी मुझे प्रेमसे बुलाता है, उसीके यहाँ जाकर भागवत सुनाता हूँ। मैं बालक-वृद्ध या स्त्री-पुरुषका जरा भी विचार नहीं करता। भगवान्‌की दयासे मैं ब्रह्मचारी हूँ। पुरुषोंके लिये पुरुष और स्त्रियोंके लिये स्त्री-सदृश हूँ। मुझे देखकर किसीके मनमें विकार नहीं होता। भगवत्कृपासे मेरे मनमें भी कोई दूषित भाव कभी नहीं आये।'

जहाँ द्वेष-बुद्धि होती है, वहाँ सीधी बात भी उलटी प्रतीत होती है। राजा प्रतापरुद्रने पहले ही जगन्नाथदासको दुराचारी समझ लिया था, अतएव उनके कथनका उलटा अर्थ लगाकर दाँत पीसते हुए राजाने कहा—'मालूम होता है, तू बड़ा ही दुष्ट है, कैसी बातें गढ़ी हैं? तू पुरुषोंके पास पुरुषरूपमें रहता है और स्त्रियोंके पास जाते ही स्त्रीरूप बन जाता है; बड़ा

सिद्ध है न ? तेरी यही सिद्धि मुझे देखनी है । मुझे भी दिखा तेरा स्त्रीरूप ! यदि न दिखा सका तो याद रख, मैं ब्राह्मण जानकर तुझपर कुछ भी दया नहीं दिखाऊँगा ।' इतना कहकर राजा प्रतापरुद्रने गुस्सेके आवेशमें ही सिपाहियोंसे कहा—'जाओ इस कपटी दुराचारीको ले जाकर हथकड़ी-बेड़ी डालकर कैदखानेमें बन्द कर दो ।' जगन्नाथदासजीने यह बात कभी नहीं कही थी कि मैं वास्तवमें ही स्त्रीरूप बन जाता हूँ । उनका तो भाव ही दूसरा था; परन्तु राजाको न तो यह बात समझानेका उन्हें अवसर ही मिला और न उन्होंने इस अवस्थामें समझानेकी चेष्टा करनेमें कोई लाभ ही समझा । क्रोधके समय मनुष्य बुद्धि-भ्रष्ट हो जाता है, उस समय उसे कोई समझाना चाहता है तो उसके गुस्सेका पारा और भी ऊपर चढ़ जाता है । अस्तु । प्रतापरुद्र महलोंमें चला गया और सिपाहियोंने जगन्नाथदासजीको बाँधकर कैदखानेमें ले जाकर बन्द कर दिया ।

प्रेमी भक्तके लिये स्वर्ग-नरक एक-से हैं, वह अपने स्वामीकी रुचि देखकर हर जगह उसको अपने साथ समझता हुआ सदा ही आनन्दमें मग्न रहता है । कहा है—

जो रुचि देखै रामकी, बिलग होहि तत्काल ।
नरक परै दुख सहै पै, सुखी रहै सब काल ॥
पर्यौ करै नरकाग्नि, पै, पल-पल बाढ़ै प्रेम ।
प्रीतमके सुखसों सुखी, यही प्रेमको नेम ॥
कहि न जाय मुखसों कछू, श्याम प्रेमकी बात ।
नभ-जल-थल-चर-अचर सब, श्यामहि श्याम लखात ॥

भक्त जगन्नाथ कारागारमें परम आनन्दसे प्रभुका ध्यान करने लगे । वे प्रेममें मतवाले कभी हँसते, कभी रोते, कभी उच्चस्वरसे कीर्तन करते, कभी दोनों हाथ उठाकर नाचते और कभी चुपचाप समाधिस्थ होकर बैठ जाते । एक बार न मालूम उनके मनमें क्या भाव आया, वे करुणाकी याचना करते-करते बड़े ही कातर स्वरमें भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे । उन्होंने कहा—

'प्रभो ! राजाने मेरी बातका उलटा अर्थ लगाया है, उसका उलटा अर्थ ही सच होना चाहिये । तुम्हारे यहाँ स्त्री-पुरुषका कोई भेद नहीं है । और न जीवमें ही स्त्रीत्व या पुरुषत्व है, यह तो तुम्हारी माया है । इस पुरुष-शरीरको एक बार स्त्री-शरीर बना देना तुम्हारे लिये मामूली खेल है । परन्तु इससे राजाको बहुत विश्वास हो जायगा और तुम्हारे गुणगानमें सुभीता होगा । यदि आपत्ति न हो तो ऐसा कर दो न मेरे मायापति !' प्राणनाथ प्रभुने जगन्नाथदासकी पुकार सुन ली । जगन्नाथदास प्रार्थना करते-करते बेसुध हो गये । देखते हैं कि स्वयं प्रभु उनके सामने खड़े हैं । जेलकी कोठरी असीम तेजसे देदीप्यमान हो रही है । भगवान्‌ने हँसते हुए अपना भक्तभयहारी करकमल जगन्नाथदासके मस्तकपर रखकर कहा—'वत्स ! तेरी यही इच्छा है तो यही सही, मेरा तो काम ही भक्तोंके मनोरथ पूर्ण करना है । मेरी अपनी तो कोई इच्छा होती नहीं, भक्तकी इच्छाको ही मैं अपनी इच्छा मान लेता हूँ । देख, अब तेरा शरीर पुरुष-शरीर न रहकर नारी-शरीर हो गया है । अब [illegible] तू पुनः इसको पुरुष-शरीरमें बदलना [illegible] यह पुरुष-शरीर बन जायगा ।' भगवान् इतना कहकर अन्तर्धान हो गये । जगन्नाथदासका स्वप्न टूटा । परन्तु स्वप्नकी घटनाको प्रत्यक्ष सत्य देखकर उनके आश्चर्य और आनन्दका पार नहीं रहा । प्रभुकी महिमा और भक्तवत्सलताका विचारकर जगन्नाथदास गद्गद हो गये । कृतज्ञतासे उनका हृदय भर गया । भगवान्‌के करकमलके स्पर्शको स्मरण करके वह अपनेको कृतार्थ समझने लगे । उन्होंने मन-ही-मन कहा—'अहा ! जिनके चरणधूलिके स्पर्शसे पत्थरकी अहल्याका उद्धार हो गया, जिनके चरणस्पर्शसे शेषनागका मस्तक विचित्र मणियोंसे विभूषित हो गया, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि जिनके चरणोदकको आग्रहपूर्वक मस्तकपर धारण करते हैं, उनके करकमलका स्पर्श मुझे प्राप्त

हो गया ! मेरे सद्भाग्यकी समता आज कौन कर सकता है ?'

भगवान्‌का स्मरण, कीर्तन और प्रार्थना करते-करते रात बीत गयी । सिपाहियोंने दरवाजा खोला । जगन्नाथदास बाहर निकले । परन्तु पुरुषके बदले सुन्दरी स्त्रीको देखकर सिपाही चकित हो गये । जगन्नाथदासने उन्हें आश्चर्यचकित देखकर उनसे कहा—'भाइयो ! मैं वही जगन्नाथदास हूँ जिसको कल रातको तुमलोगोंने कोठरीमें बन्द किया था, प्रभुकी लीला बड़ी विचित्र है, उन्हींकी करुणासे मुझे यह स्त्रीत्व प्राप्त हुआ है । तुम मुझे अभी राजाके पास ले चलो ।' सिपाही राजासे पूछकर स्त्रीरूपी जगन्नाथदासको राजमहलमें ले गये । राजा उनकी कमनीय कामिनी-मूर्ति और रमणी-सुलभ अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको देखकर आश्चर्यमें डूब गया । वह विचार करने लगा कि 'क्या बात है ? यह वही जगन्नाथ है या छल करके उसने किसी स्त्रीको भेज दिया है । यदि वास्तवमें वही है तो यह सारी सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिकी महिमा है । मैं[illegible] भक्तको कैदमें डालकर बड़ा अपराध किया । परन्तु ऐस[illegible]हकके क्योंकर हो सकता है ? सम्भव है इसमें [illegible] चालाकी ही हो ।' यों विचारकर और भलीभाँति जाँच कराके राजाने कहा—'तेरा स्त्रीरूप ठीक है, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है । परन्तु तू वही जगन्नाथदास ही है, इस बातका मुझे क्या पता ? सम्भव है, वह किसी तरह जेलसे निकल भागा हो और अपनी जगह तुझे यहाँ भेज दिया हो । अतएव तू अभी मेरे सामने यहीं पुनः अपने पहले पुरुषरूपको प्राप्त हो जाय तो मैं समझूँ कि तेरा स्त्रीरूप ठीक है ।'

राजाकी बात सुनकर जगन्नाथदासजीने आँखें मूँदकर प्रभुसे मन-ही-मन प्रार्थना की । तुरन्त ही वस्त्राभूषणसहित उनका स्त्रीरूप अदृश्य हो गया और वही करताल हाथमें लिये जगन्नाथदास हरिकीर्तन करने लगे । राजासहित सारा-का-सारा राजपरिवार और राजसभाके उपस्थित सदस्यगण आश्चर्यचकित हो गये । राजाने चरणोंमें प्रणामकर अपराधके लिये क्षमा-याचना की और भलीभाँति आदर-सत्कार करके कहा—'भक्तचूड़ामणि ! यदि आपने मेरा अपराध क्षमा कर दिया हो तो उसके प्रमाणस्वरूप आप मुझे भागवत-सङ्गीत सुनाकर मेरे कानों और मनको पवित्र कीजिये और मुझे पापसमूहसे छुड़ाइये ।'

भक्त तो स्वभावसे ही क्षमाशील और शान्त होते हैं, उन्होंने राजाको सान्त्वना देकर भागवत सुनाना आरम्भ किया । सारी राजसभा उनके भागवतका गान सुनकर मुग्ध हो गयी । राजा प्रतापरुद्रका हृदय प्रेमसे द्रवित हो गया । कथा समाप्त होनेपर राजाने पुनः प्रणाम करके कहा—'प्रभो ! मैं आज आपकी शरण हूँ, मुझपर दया कीजिये और अपना शिष्य स्वीकार कीजिये ।' तदनन्तर चन्दार्क नामक स्थानमें उनके लिये एक कुटिया बना दी गयी ।

जगन्नाथदासजी हरिगुण गाते-गाते चले गये । इधर राजाने उन दुष्ट-बुद्धि साधुनिन्दक दुष्टोंको बुलाकर उन्हें यथोचित दण्ड दिया ।

महान् भक्त जगन्नाथदासको नश्वर शरीर त्यागकर प्रभुकी परम सेवामें पधारे आज चार सौ वर्षसे ऊपर हो गये, परन्तु आज भी श्रीजगन्नाथपुरीमें समुद्र-तीरपर श्रीहरिदास ठाकुरकी समाधिके समीप ही उनका समाधि-मन्दिर विद्यमान है । आज भी उनके द्वारा रचित भागवत-ग्रन्थ उड़ीसानिवासियोंके घर-घरमें देवताकी भाँति पूजित हो रहा है । लोग गुरु-मन्त्रकी भाँति उसका स्वाध्याय करते हैं, पढ़ते हैं और परम भक्तिभावसे उसकी व्याख्या की जाती है ।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !

विरह-गति

ख़्वाबमें जिस वक़्तसे, तस्वीर पाई आपकी !
ऐ सनम ! हर दम तभीसे, याद आई आपकी !!
आप हैं किस देशवासी, आपका क्या नाम है ?
आपसे मिलनेको मैंने, क़सम खाई आपकी !!
सूझता कुछ भी नहीं है, बूझता कुछ भी नहीं !
इस प्रानके चारों तरफ़, सूरत समाई आपकी !!
मोर-पंखोंकी झलकमें, कोकिलाके कंठमें !
दीख पड़ती है मुझे, बस, श्यामताई आपकी !!
रातभर आकाशवाला, साँवलापन देखता !
पवन मानो मंद गतिसे, ख़बर लाई आपकी !!
रात आधी है अँधेरी, कृष्ण-पक्ष विराजता !
अति दूरसे आवाज़-सी, देती सुनाई आपकी !!
घनश्याम प्यारे तुम कहाँ, जो प्राणप्रिय हो 'नयन' के !
जोत अब हर जीवमें, देती दिखाई आपकी !!

—नयनजी

प्रियतमकी झाँकी

(लेखक—श्रीनृसिंहदासजी वर्मा 'तालिब')

जिधर नज़र डाली उधर तू ही तू है,
तेरी चर्चा प्यारे सनम कू बकू है।
दरिन्दे परिन्दे चरिन्दे यह सारे,
यही गीत गाते के तू ख़ूबरू है॥
तेरे हमदकी बाँसुरी सारे फुक़रा,
बजाते व गाते के तू माहरू है।
क़मर शम्स सारे सितारे सैयारे,
दरस हमको देते के तू हूबहू है॥
पहाड़ों व नदियों दरख़्तोंने सबने,
अलापा यह गाना के तू ख़ुश गलू है।
न तेरा-सा ग़म्ज़ा न तेरा-सा नख़रा,
कहीं देखने सुननेमें सुर्ख़रू है॥
यही मेरी है इल्तजा बन्दापरवर,
हो विर्दे ज़ुबाँ यह के सब तू ही तू है।
जहाँ नज़र [illegible] तू ही नज़र आये,
हर इक लम्[illegible] समझूँ के तू रूबरू है॥
नक़ाबे दुई तुझमें मुझमें जो हायल,
उठे यह उ[illegible] और दुई[illegible] जो बू है।
तेरा नूर [illegible] ज़र्रे ज़र्रेमें देखूँ,
तख़ैयल हो उन्क़ा के तू तुर्श रू है॥
पिला दे ऐ साक़ी मये अर्ग़वानी,
के बेहोश होके बकूँ तू ही तू है।
हुआ जो भी मख़्मूर इस जामे मै से,
क़लबमें बसा उसके तू शम्सरू है॥
जिसममें क़लबमें अक़्लमें नज़रमें,
बसी सबमें तेरी वह भीनी-सी बू है।
फ़रशसे अरश तक मलायक मलख़ तक,
बुख़ारा बलख़ तक तू ही एक तू है॥
हिमालाकी चोटी पै है ज़ात तेरी,
तहे-फ़र्श भी बस तू ही हूबहू है।
तू ही मारमें नेश हो करके रहता,
तशद्दुदमें ज़ालिमके तू उसकी ख़ू है॥
ख़ला बाद आतिशमें आब और ज़मींमें,
नबी और पैग़म्बरमें तू मू बमू है।
न था कुछ सिवा तेरे है औ न होगा,
है वाहिद तू गर चे बना नूह बनूह है॥
दुआ फक्त 'तालिब' की है यह करीमा,
के सूझे यह हर वक़्त तू सू बसू है।

श्रीभगवन्नाम

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

राम-नाम-मणि-दीप धरु जीह-देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरौ जो चाहसि उजियार॥
राम-नाम नर-केसरी कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रह्लाद जिमि पालहिं दलि सुरसाल॥
रसना साँपिनि बदन बिल जे न जपहिं हरिनाम।
तुलसी प्रेम न रामसों ताहि बिधाता बाम॥

चारों ही युगोंमें श्रीभगवन्नामका माहात्म्य असीम है परन्तु कलियुगमें तो जीवके उद्धारके लिये श्रीभगवन्नामके सिवा और कोई सहज उपाय ही नहीं है। त्रिकालदर्शी दयालु ऋषि-मुनियोंने निर्णय करके यही व्यवस्था की है कि कलियुगमें जो मनुष्य श्रीभगवन्नामका आश्रय लेगा, वह अनायास संसारसागरसे तर जायगा। भगवत्कृपासे कल्याण-में श्रीभगवन्नामपर कुछ-न-कुछ लिखा ही जाता है। [illegible] कल्याणके पाठक-पाठिका श्रीभगवन्नामके [illegible]यके सम्बन्धमें यत्किञ्चित् परिचित हैं। [illegible]स्तवमें तो श्रीभगवान्‌के नामका माहात्म्य वाणीसे कोई कह ही नहीं सकता। भुक्ति, मुक्ति तथा भगवत्प्रेम, जो चाहे वही वस्तु मनुष्य श्रीभगवन्नाम-के प्रतापसे प्राप्त कर सकता है। इसी हेतु प्रतिवर्ष ढाई महीनेके लिये 'कल्याण' के प्रिय पाठक-पाठिकाओंसे नाम जपने-जपानेकी प्रार्थना की जाती है।

गतवर्ष कल्याणके पाठक-पाठिकाओंसे पौष सुदी १ से फाल्गुन सुदी १५ तक ढाई महीनेमें उपर्युक्त १६ नामोंके दस करोड़ मन्त्रजप करने-करानेके लिये प्रार्थना की गयी थी और आनन्दका विषय है कि दस करोड़की जगह पाठक-पाठिकाओंके परिश्रम और उत्साहसे लगभग तीस करोड़ मन्त्रजप हो गया।

इस वर्ष फिर उसी प्रकार दश करोड़ मन्त्र-जपके लिये विनीत प्रार्थना की जाती है। इस बार कल्याणके प्रेमी भगवत्-रसिक पाठक-पाठिकाओंसे विशेष उत्साह दिखलानेके लिये विनयपूर्वक निवेदन किया जाता है। श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! मनुष्योंमें वे मनुष्य निश्चय ही भाग्य-वान् और कृतार्थ हैं जो इस कलियुगमें स्वयं श्री-हरिका नाम-स्मरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं। इस कलियुगमें सब दोष-ही-दोष भरे हैं, परन्तु एक महान् गुण यह है कि श्री 'कृष्ण' के नाम-कीर्तनसे ही मनुष्य मायाके बन्धनसे छूटकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। सत्ययुगमें भगवान्‌के ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे और द्वापरमें उपासना करने-से जो गति मिलती है वही कलियुगमें केवल श्री-हरिके नाम-कीर्तनसे मिलती है। इन वाक्योंका महत्व समझकर समस्त भाई-बहिन इस बार विशेष उत्साह-से प्रयत्न करें, यह प्रार्थना है। नियमादि वही है।

यह कोई नियम नहीं है कि अमुक समय आसन-पर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल बिछौनेसे उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है। संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है। अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गणना की जा सकती है। बीमारी या अन्य किसी अनिवार्य कारणवश यदि जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे कहकर जप करवा लेना चाहिये। यदि ऐसा प्रबन्ध न हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है। एक बात याद रखनी चाहिये कि पैसा या वृत्ति देकर किसी दूसरेसे जप नहीं करवाना चाहिये।

जो करे सो स्वयं आप ही करे। किसी अनिवार्य कारणवश जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके तो कोई आपत्ति नहीं। निष्काम भावसे भगवान्‌के नामका जप जितना भी किया जाय उतना ही उत्तम है।

हमारा तो यह विश्वास है कि यदि 'कल्याण' के प्रेमी पाठक और पाठिकाएँ अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो आगामी अङ्क प्रकाशित होनेतक ही हमारे पास बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है। अतएव सबको कृपापूर्वक इस पुण्यकार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये।

१–किसी भी तिथिसे आरम्भ करें परन्तु पूर्ति फाल्गुन-शुक्ला पूर्णिमाको हो जानी चाहिये।

२–सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक, वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

३–प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जप अवश्य करना चाहिये।

४–सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें। जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी कोई आवश्यकता नहीं। केवल सूचना भेजनेवाले सज्जन अपना नाम और पता लिख भेजें।

५–संख्या मन्त्रकी भेजनी चाहिये, नामकी नहीं। एक मन्त्रमें सोलह नाम हैं। उदाहरणार्थ–यदि सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या १०८ होती है। जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। जिस दिनसे जो भाई आरम्भ करें उस दिनसे फाल्गुन सुदी १५ तकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

६–संस्कृत, हिन्दी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बङ्गला, अंग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है।

७–सूचना भेजनेका पता—

नाम-जप-विभाग
कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

कवियोंसे क्षमा-याचना और प्रार्थना

'कल्याण' पर लेखकों और कवियोंकी बड़ी कृपा है, वे बिना ही माँगे लेख और कविताएँ भेजनेकी कृपा किया करते हैं। कविताएँ तो प्रायः प्रतिदिन ही पाँच-चार आ जाती हैं, इस कृपाके लिये मैं सबका कृतज्ञ हूँ। कविता भेजनेवाले महानुभाव कृपा करते हैं और अपने-अपने भावके अनुसार शक्तिभर अच्छी-से-अच्छी रचना ही भेजते हैं और उनका यह आग्रह और आशा करना भी अनुचित नहीं है कि उनकी रचना कल्याणमें अवश्य छपे। परन्तु मैं अपनी असमर्थताके कारण उनके हृदयमें दुःख पहुँचानेका कारण बनता हूँ, यह मेरे लिये बड़े खेदकी बात है। इस समय मेरे पास इतनी कविताएँ आयी हुई हैं कि लगातार सालभरतक कल्याणमें केवल कविताएँ ही छापी जायँ तो भी शायद सब नहीं छप सकतीं। ऐसी स्थितिमें मुझे सबकी रचनाएँ न छापनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। कविगण इसके लिये मुझे क्षमा करेंगे। कविताएँ प्रतिदिन आती हैं, समय और डाकव्ययके संकोचसे सबकी पहुँच लिखना भी कठिन है। फिर, ताकीदके पत्र आते रहते हैं, उनका भी उत्तर नहीं दिया जा सकता, न सबकी रचनाएँ लौटायी ही जा सकती हैं, इस अपराधके लिये भी मैं क्षमा चाहता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि बिना माँगे कवि महोदयगण कृपापूर्वक कविता अभी नहीं भेजें तो कार्यसम्पादनमें सुभीता हो और मेरे रूखे व्यवहारसे उन्हें कष्ट भी नहीं पहुँचे। आशा है मेरी प्रार्थनापर कुछ ध्यान दिया जायगा।

विनीत
सम्पादक

कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) यह प्रतिमासकी कृष्णा एकादशीको प्रकाशित होता है।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांक-सहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≡) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥≈) नियत है। एक संख्याका मूल्य ।) है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता। नमूना ।) मिलनेपर भेजा जाता है।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते। ग्राहक प्रथम अंकसे १२ वें अंकतकके ही बनाये जाते हैं। एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्कतक नहीं बनाये जाते। 'कल्याण' का वर्ष श्रावणसे शुरू होता है।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कम-से-कम सात दिन पहलेतक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये। देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण-प्रतिपदाके पहले-पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो-महीने-के लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिख-कर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेप-रहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम, पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-नम्बर अवश्य लिखना चाहिये।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये, क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं। कभी-कभी तो डेढ़-दो महीनोंतक नहीं मिलते। इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं। रुपये न मिलने-तक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं। खर्चा दोनोंमें एक ही है, परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है। जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है।

(४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या और अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजनी चाहिये।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि 'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर' के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि 'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर' के नामसे भेजने चाहिये।

Registered No. A. 1724.

ॐ

प्रसीद देवेश जगन्निवास ।

माघ १९८९

भाग ७
अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा॥

[संस्करण—२०५००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥≈)
(१० शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय अखिलात्मन् जगमय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

ईश्वराङ्कका मूल्य
परिशिष्टाङ्कस०
विदेशमें
साधारण प्रति
विदेशमें

Edited by Hanuman prasad poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas at the Gita Press, Gorakhpur.

❀ श्रीहरिः ❀

विषय-सूची

बहुत सुविधा ॥ श्रीहरिः ॥ सरल नियम

गीताप्रेसकी शिक्षाप्रद, सुन्दर, सचित्र और सस्ती धार्मिक पुस्तकें

पौने मूल्यमें प्राप्त करनेका उपाय

स्थायी ग्राहक बनानेका प्रबन्ध और नियम

अनेक प्रेमी सज्जन प्रायः कहा करते थे कि प्रेससे जो नयी पुस्तकें निकलें, वे हमें वी० पी० से भेज दिया करें। कुछ भाइयोंकी यह शिकायत भी रहा करती थी कि हम प्रेसकी पुस्तकें मँगवाना तो चाहते हैं परन्तु हमें यह पता नहीं लगता कि कब कौन पुस्तक निकली है। अब यह प्रबन्ध किया गया है कि जो सज्जन प्रेसकी सभी पुस्तक लेना चाहें और स्थायी ग्राहकोंमें नाम लिखा देंगे उन्हें नयी पुस्तकें निकलते ही नीचे लिखे अनुसार पौने मूल्यमें भेज दी जायँगी।

१—प्रत्येक स्थायी ग्राहकको अपना नाम-पता साफ अक्षरोंमें लिख भेजना और १) एक रुपया पहले जमा करा देना पड़ेगा। यह एक रुपया ग्राहकके नामसे जमा रहेगा। जब वे ग्राहक नहीं रहना चाहेंगे तब रुपया वापस कर दिया जायगा।

२—स्थायी ग्राहकोंको सभी नयी-पुरानी पुस्तकें पौने मूल्यमें दी जायँगी। डाकखर्च ग्राहकोंको ही देना पड़ेगा। कल्याण, उसके विशेषांक और बाहरकी पुस्तकें स्थायी ग्राहकोंको पौने मूल्यपर नहीं मिल सकेंगी।

३—नयी पुस्तकें प्रकाशित होते ही ग्राहकोंको सूचना भेज दी जायगी और उसके बाद दो सप्ताहके अन्दर वी० पी० जायगी। किसी सज्जनकी वी० पी० लौट आवेगी तो वी० पी० खर्च उसके नामपर जमा किये हुए १) मेंसे काट लिया जायगा, इसके बाद वे ग्राहक नहीं माने जायँगे। वी० पी० पारसलखर्च बाद देकर जो पैसे बचेंगे वे उन्हें भेज दिये जायँगे। वी० पी० पारसलखर्च एक रुपयेसे ज्यादा होगा तो ग्राहकसे वसूल किया जा सकेगा।

४—डाकखर्चमें बचत होनेके खयालसे एक रुपयेसे कमकी पुस्तकें वी० पी० से नहीं भेजी जायँगी। इस सम्बन्धमें आवश्यक नियम समय-समयपर घटाये-बढ़ाये जा सकेंगे।

श्रीरामायणांक

दूसरा संस्करण ! पुनः छप गया ! नवीन संस्करण !

जिसकी प्राप्तिके लिये अनेक प्रेमी लालायित थे वही 'रामायणांक' पुनः छप गया। केवल ५००० छपा है, मूल्य (२॥≡) ही रक्खा गया है। पृष्ठ पाँच सौ से ऊपर और सैकड़ों चित्र हैं।

रामायणांकका गेटप, छपाई, सफाई, कागज और बाइंडिंग सब सुन्दर हैं।

रामायणांकमें श्रीरामजीकी लीलाओंके अनेक सुनहरी, बहुरंगे, सादे चित्र एवं अनेक पवित्र तीर्थ अयोध्या, प्रयाग, काशी, चित्रकूट, पञ्चवटी, रामेश्वर, जनकपुर, शृंगवेरपुर आदिके दर्शनीय चित्र हैं। रामायणकालीन भारतके कई भौगोलिक मानचित्र भी हैं।

रामायणांकमें अनेक महात्माओं, देशी-विदेशी विद्वानों और रामायण-प्रेमियोंके लेख हैं।

• रामायणांक सुखमय जीवनका अमोघ साधन है।

आजतक कल्याणके सिवा इतने बड़े किसी भी सामयिक पत्रको दुबारा छपकर आपकी सेवा करनेका अवसर नहीं मिला। यदि आप इस बार इस अङ्कको न अपना सकेंगे तो समझ लीजिये कि एक उत्कृष्ट वस्तुसे वञ्चित रह जायँगे, क्योंकि इसके शीघ्र तीसरी बार छपनेकी आशा हम अभी आपको नहीं दिला सकते। अतः खरीदनेमें शीघ्रता करें।

कुछ सम्मतियाँ पढ़िये—

लेख बड़े-बड़े विद्वानोंकी लेखनियोंसे लिखे गये हैं। कई लेख तो भारतसे भिन्न देशोंसे भी मँगवाये गये हैं ......लेख प्रायः सब तथ्यपूर्ण एवं जानकारीसे भरे हुए हैं।......कई सहस्र रुपया व्यय करना पड़ा होगा फिर भी इसका मूल्य केवल २॥≡) रक्खा गया है......। अवश्य संग्रह करना चाहिये। आर्यमित्र (आगरा)

.........विषयोंकी व्यापकताकी दृष्टिसे तो रामायणपर यह अद्वितीय ग्रन्थ सिद्ध होगा। ......सच्ची लगनके बिना ऐसे गुरुतर कार्य सिद्ध नहीं होते। हमें विश्वास है कि पाठकगण इस ......से पूरा लाभ उठावेंगे। प्रताप (कानपुर)

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुह्य बलेन यस्याश्चेतः कथं शरणमेषि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७ | गोरखपुर, माघ १९८९ फरवरी १९३३ | संख्या ७
पूर्ण संख्या ७९

अबके माधव मोहि उधारि ।
मगन हौं भव-अंबु-निधिमें कृपासिन्धु मुरारि ॥
नीर अति गंभीर माया, लोभ लहरि तरंग ।
लिये जात अगाध जलमें गहे ग्राह अनंग ॥
मीन इन्द्रिय अतिहि काटत मोट सिर अघ-भार ।
पग न इत उत धरन पावत उरझि मोह सेंवार ॥
काम क्रोध समेत तृष्णा पवन अति झकझोर ।
नाहिं चितवन देत तियसुत नाम-नौका ओर ॥
थक्यो बीच बिहाल बिह्वल सुनहु करुनामूल ।
स्याम भुज गहि काढ़ि डारहु सूर ब्रजके कूल ॥

— सूरदासजी

सांख्ययोग और कर्मयोगकी एकता

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

गीता अध्याय ५ श्लोक ५ में भगवान् कहते हैं—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है निष्काम कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है, इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोगको एक देखता है वही यथार्थ देखता है। परन्तु इस विषयमें यह शंका होती है कि यहाँ भगवान् सांख्य और योगके फलको एक कहते हैं या दोनोंका सिद्धान्त ही एक बतलाते हैं। यदि फल एक कहते हैं तो सिद्धान्त भिन्न-भिन्न होनेसे फल एक कैसे हो सकता है और यदि दोनोंका सिद्धान्त ही एक कहा जाय तो उचित नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि योग और सांख्यके सिद्धान्तमें परस्पर बड़ा अन्तर है।

योगके सिद्धान्तमें फलासक्तिको त्यागकर मनुष्य ईश्वरके लिये कर्म करता है तो भी उसमें कर्तापनका अभिमान तो रहता ही है।

सांख्यके सिद्धान्तसे कर्मका कर्ता मनुष्य नहीं है, उसके द्वारा कर्म होते हैं तो भी उन कर्मोंमें उस पुरुषका अभिमान नहीं रहता, वह तो केवल साक्षीमात्र ही रहता है।

कर्मयोगी अपनेको, ईश्वरको तथा कार्यसहित प्रकृतिको पृथक्-पृथक् तीन सत्य पदार्थ मानता है। परन्तु सांख्ययोगी ईश्वरकी सत्ताको अपनेसे अलग नहीं मानता, केवल एक आत्म-सत्ता ही है ऐसे मानता है तथा विकारसहित प्रकृतिको अन्तवन्त यानी नाशवान् मानता है। अतएव दोनोंका सिद्धान्त भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, फिर सांख्य और योगको यहाँ किस विषयमें एक बतलाया गया है?

उपर्युक्त शंकाका उत्तर यह है—

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
(गीता ५।४)

सांख्य और योग इन दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी प्रकारसे स्थित हुआ पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है। परमात्माकी प्राप्तिरूप फल दोनोंका एक ही है। परमधाम, परमपद और परमगतिकी प्राप्ति भी इसीको कहते हैं।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि सांख्य और योग इन दोनों साधनोंका फल एक होनेके कारण इन्हें एक कहा है। फल एक होनेसे सिद्धान्त भी एक ही होना चाहिये, यह ठीक है परन्तु यह कोई नियम नहीं है। मार्ग (साधन) और लक्ष्य (सिद्धान्त) भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं।

जैसे एक ही ग्रामको जानेके लिये अनेक रास्ते होते हैं, किसी रास्तेसे जाइये, परिणाम सबका एक ही होता है। जैसे किसी एक देशको जानेवालोंमें एक तो अपनी दिशासे पश्चिम-ही-पश्चिम जाता है और दूसरा पूर्व-ही-पूर्व जाता है किन्तु चलते-चलते अन्तमें दोनों ही वहाँ पहुँच जाते हैं। रास्ता भिन्न-भिन्न होनेके कारण परस्पर एकसे दूसरेका बड़ा अन्तर मालूम होता है परन्तु उस देशके समीप पहुँचनेपर वह अन्तर नहीं रहता।

इसप्रकार एक ग्रामको जानेके लिये जैसे अनेक मार्ग होते हैं, वैसे ही एक कार्यकी सिद्धिके लिये सिद्धान्त भी अनेक हो सकते हैं। जैसे सूर्य और चन्द्र ग्रहणको सिद्ध करनेवाले पुरुषोंमें एक पक्ष तो कहता है कि पृथिवी स्थिर है सूर्य और चन्द्रमा चलते हैं और दूसरा कहता है कि पृथिवी भी चलती है। दोनों

का सिद्धान्त भिन्न-भिन्न होनेके कारण एकसे दूसरेका बड़ा अन्तर है किन्तु फल दोनोंका एक होता है।

इसलिये साधन और सिद्धान्तकी अत्यन्त भिन्नता होनेपर भी दोनोंका उद्देश्य और परिणाम एक ईश्वर-की प्राप्ति होनेसे वह एक ही है। जिसका परिणाम ईश्वरकी प्राप्ति नहीं है, वह सिद्धान्त तो वास्तवमें सिद्धान्त ही नहीं है।

अब सांख्य* और कर्मयोग† की एकताके विषयमें लिखा जाता है। उपासना दोनों ही साधनोंमें रहती है। उपासनारहित ज्ञान और कर्मयोग वैसे ही शुष्क हैं, जैसे बिना जलके नदी।

गीताके अनुसार सांख्ययोगीके सिद्धान्तमें विज्ञाना-नन्दघन केवल एक आत्मतत्त्व ही अनादि, नित्य और सत्य है। उस विज्ञानानन्दघनके संकल्पके आधारपर एक अंशमें संसारकी प्रतीति होती है जैसे निर्मल आकाशके किसी एक अंशमें बादलकी। इसलिये सांख्ययोगी विशुद्ध बुद्धिसे युक्त होकर शोक, भय, राग-द्वेष, ममता, अहंकार और परिग्रहसे रहित हुआ पवित्र और एकान्तदेशका सेवन करता है। एवं मन, वाणी तथा शरीरको वशमें किये हुए, सम्पूर्ण भूतोंमें समभाव होकर आत्मतत्त्वका विवेचन करता हुआ प्रशान्त-चित्तसे परमात्माके स्वरूपका एकीभावसे इसप्रकार ध्यान करता है कि एक आनन्दघन विज्ञान-स्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है। उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उस ब्रह्मका ज्ञान भी उस ब्रह्मको ही है। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसका कभी अभाव नहीं होता। इसलिये उसे सत्य, सनातन और नित्य कहते हैं। वह सीमारहित, अपार और अनन्त है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि जो भी कुछ है, सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं। वास्तवमें एक पूर्णब्रह्म परमात्माके सिवा अन्य कोई भी वस्तु नहीं है।

वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा 'पूर्ण-आनन्द' 'अपार-आनन्द' 'शान्त-आनन्द' 'घन-आनन्द' 'बोध-स्वरूप-आनन्द' 'ज्ञानस्वरूप-आनन्द' 'परम-आनन्द' 'नित्य-आनन्द' 'सत्-आनन्द' 'चेतन-आनन्द' 'आनन्द-ही-आनन्द' है। एक 'आनन्द' के सिवा और कुछ भी नहीं है। इसप्रकार मनन करते-करते जब मनके समस्त संकल्प उस परमात्मामें विलीन हो जाते हैं, जब एक बोधस्वरूप, आनन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीके भी अस्तित्वका संकल्प ही नहीं रहता, तब उसकी स्थिति उस आनन्दमय अचिन्त्य परमात्मामें निश्चल हो जाती है। इसप्रकारसे ध्यानका नित्य नियमपूर्वक अभ्यास करते-करते साधन परिपक्व होने-पर जब साधकके ज्ञानमें उसकी अपनी तथा इस संसारकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न नहीं रहती, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी कुछ एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मस्वरूप बन जाते हैं, तब वह कृतार्थ हो जाता है।

सांख्ययोगी व्यवहार-कालमें चौबीस तत्त्वोंवाले* क्षेत्रको जड़, विकारी, नाशवान् और अनित्य समझता है और सम्पूर्ण क्रिया—कर्मोंको प्रकृतिके कार्यरूप

*-† गीतोक्त सांख्य और कर्मयोगको महर्षि कपिल-प्रणीत सांख्यदर्शनसे तथा महर्षि पतञ्जलिप्रणीत योगदर्शन-से भिन्न समझना चाहिये।

* महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
(गीता १३।५)

पाँच महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीका सूक्ष्मभाव; अहंकार, बुद्धि और मूल-प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दस इन्द्रियाँ अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।

उस क्षेत्रसे ही किये हुए समझता है अर्थात् इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बर्त रही हैं, इसप्रकार समझता है । एवं नित्य, चेतन, अविनाशी आत्माको निर्विकार, अकर्ता तथा शरीरसे विलक्षण समझता है । यों समझकर वह सांख्ययोगी मन, इन्द्रिय और शरीर-द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर कर्म करता हुआ भी कर्मोंद्वारा नहीं बँधता ।

वह सम्पूर्ण भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको केवल एक परमात्माके संकल्पके आधार स्थित देखता है और उस परमात्माके सङ्कल्पसे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिके विस्तार-को देखता है । इसप्रकार अभ्यास करते-करते अभ्यास-के परिपक्व होनेसे वह ब्रह्मको एकीभावसे प्राप्त हो जाता है । यानी वह उस ब्रह्मको तद्रूपतासे प्राप्त हो जाता है । जैसे गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
(५ । १७)

हे अर्जुन ! तद्रूप है बुद्धि जिनकी, तद्रूप है मन जिनका और उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानद्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं ।

ब्रह्मको प्राप्त होनेके बाद पुरुषकी जो स्थिति होती है, उसके विषयमें कुछ भी लिखना वस्तुतः बड़ा ही कठिन है । तथापि साधु, महात्मा और शास्त्रोंके द्वारा यत्किञ्चित् जो कुछ समझमें आया है, वह पाठकोंकी जानकारीके लिये लिखा जाता है । त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करें ।

जैसे मनुष्य, बादलोंके पृथक्-पृथक् विकारके कारण, प्रतीत होनेवाले पृथक्-पृथक् आकाशके खण्डोंको बादलोंके नाश हो जानेपर उस एक अनन्त निर्मल महाकाशके अन्तर ही देखता है अर्थात् केवल एक अनन्त निर्मल आकाशके अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता, वैसे ही ज्ञानी महात्मा मायासे उत्पन्न हुए शरीरोंके पृथक्-पृथक् विकारके कारण अज्ञानसे प्रतीत होनेवाले भूतों (जीवों) के पृथक्-पृथक् भावोंको अज्ञानके नाश हो जानेपर उन जीवोंकी नाना सत्ता-को केवल उस एक अनन्त, नित्य-विज्ञानानन्दघन परमात्माके अन्तर ही देखता है अर्थात् वह केवल एक विशुद्ध, नित्य, विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं देखता । यद्यपि उस ज्ञानीके लिये संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है तो भी प्रारब्धके कारण उसके अन्तःकरणमें संसारकी प्रतीतिमात्र होती भी है।

जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नकी सृष्टिका उपादान-कारण और निमित्त-कारण अपने आपको ही देखता है, वैसे ही वह सम्पूर्ण चराचर भूत-प्राणियोंका उपादान-कारण* और निमित्त-कारण† केवल विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको ही देखता है, क्योंकि जब एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं रहती, तब वह उस ब्रह्मसे भिन्न किसको कैसे देखे ? यही उस परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति है। इसीको परमपद, परमधाम और परमगतिकी प्राप्ति भी कहते हैं ।

गीताके अनुसार कर्मयोगके सिद्धान्तमें प्रकृति यानी माया, जीवात्मा और परमेश्वर यह तीन पदार्थ माने गये हैं । सातवें अध्यायमें भगवान्‌ने मायाके विस्तारको

*** उपादान-कारण उसे कहते हैं, जिससे कार्यकी उत्पत्ति होती है । जैसे घड़ेका उपादान-कारण मिट्टी और आभूषणोंका सुवर्ण है ।**

† निमित्त-कारण उसे कहते हैं जिसके द्वारा वस्तुका निर्माण होता है । जैसे घड़ेका निमित्त-कारण कुम्हार और आभूषणोंका सुनार ।

अपरा प्रकृति, जीवात्माको परा और परमेश्वरको अहंके नामसे वर्णन किया है। पन्द्रहवें अध्यायमें इन्हीं तीनों पदार्थोंको क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके नामसे कहा है। वे सर्वशक्तिमान्, सबके कर्ता-हर्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी परमेश्वर उस नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं * यानी विज्ञानानन्दघन ब्रह्म भी वही हैं। उन्होंने ही अपनी योगमायाके एक अंशसे सम्पूर्ण संसारको अपनेमें धारण कर रक्खा है। † माया ईश्वरकी शक्ति है तथा जड़, अनित्य और विकारी है एवं ईश्वरके आधीन है तथा जीवात्मा भी ईश्वरका अंश होनेके कारण नित्य विज्ञानानन्दघन-स्वरूप है। ‡ किन्तु मायामें स्थित होनेके कारण परवश हुआ वह गुण और कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखादिको भोगता एवं जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है। परन्तु परमात्माकी शरण होनेसे वह मायासे छुटकारा पाकर परमपदको प्राप्त हो सकता है। गी० अ० ७ श्लो० १४ में कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।

इसलिये कर्मयोगी पवित्र और एकान्त स्थानमें स्थित होकर शरीर, इन्द्रिय और मनको स्वाधीन किये हुए परमात्माकी शरण हुआ प्रशान्त और एकाग्र मनसे श्रद्धा और प्रेमपूर्वक परमात्माका ध्यान करता है, ऐसे योगीकी भगवान्ने स्वयं प्रशंसा की है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(गीता ६। ४७)

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

कर्मयोगी कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर समत्वबुद्धिसे भगवदाज्ञानुसार, भगवदर्थ कर्म करता है, इसलिये उसको कर्म नहीं बाँध सकते। क्योंकि राग-द्वेष ही बाँधनेवाले हैं। समत्वबुद्धि होनेसे राग-द्वेषका नाश हो जाता है। इसलिये उसको कर्म नहीं बाँध सकते। ऐसे योगीकी प्रशंसा करते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं कि 'उसको नित्य-संन्यासी जानना चाहिये।'

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो! सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥
(गीता ५। ३)

हे अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह निष्काम कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसार-रूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

भगवत्‌की आज्ञासे भगवदर्थ कर्म किये जानेके कारण उसमें कर्तापनका अभिमान भी निरभिमानके समान ही है। इसलिये वह निष्काम कर्मयोगी व्यवहारकालमें भगवान्‌की शरण होकर निरन्तर

---

* ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(गीता १४। २७)

† विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(गीता १०। ४२)

‡ ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
(गीता १५। ७)

इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।
ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी॥

भगवान्‌को याद रखता हुआ भगवान्‌की आज्ञानुसार सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌की प्रीतिके लिये ही करता है, जैसे गीता अ० १८ श्लोक ५६-५७ में भगवान्‌ने कहा है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

इसलिये हे अर्जुन ! तू सब कर्मोंको मनसे मेरे अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्व-बुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।

इसप्रकार अभ्यास करते-करते जब भगवान्‌की कृपासे उनके प्रभावको समझ जाता है तब वह सब प्रकारसे नित्य-निरन्तर भगवान् वासुदेवको ही भजता है। जैसे गीतामें कहा है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥
(१५।१९)

हे भारत ! इसप्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मेरेको पुरुषोत्तम जानता है वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।

फिर उसको भजनके प्रभावसे सर्वत्र एक वासुदेव ही दीखता है। इसलिये वह वासुदेवसे कभी अलग नहीं हो सकता।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६।३०)

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।

इससे वह भगवान् वासुदेवको ही प्राप्त हो जाता है और उसके लिये यह सम्पूर्ण संसार भी वासुदेवके रूपमें परिणत हो जाता है। एक वासुदेवके सिवा कोई भी वस्तु नहीं रहती। वहाँ मायाका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

भक्ति, भक्त, भगवन्त सब एक ही रूपमें परिणत हो जाते हैं। इसलिये उस भक्तकी भगवान्‌से कोई अलग सत्ता नहीं रहती। तद्रूपतासे उस परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

इन शब्दोंसे जो सांख्ययोगके द्वारा साधन करनेवाले ज्ञानीको प्राप्त होनेयोग्य परमधाम बतलाया गया है, भगवान्‌की कृपासे वही परमधाम निष्काम कर्मयोगके साधन करनेवाले भक्तको प्राप्त होता है।

उसी महात्माकी प्रशंसा करते हुए भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(गीता ७।१९)

जो बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है, इसप्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।

परन्तु कोई-कोई भक्त अविद्याके नाश होनेपर भी भगवान्‌के रहस्यको जानता हुआ प्रेमके सामने मुक्तिको तुच्छ समझता है और वह भगवान्‌को सेव्य और अपनेको सेवक या सखा समझकर भगवान्‌के प्रेमरसका पान करता है, उसके लिये भगवान्‌की माया लीलाके रूपमें परिणत हो जाती है। इसलिये वह पुरुष

भगवान्‌में तद्रूपताको न प्राप्त होकर भगवान्‌की कृपासे दिव्य देहको धारण करके अर्चिमार्गके द्वारा स्थान-विशेष भगवान्‌के परम दिव्य नित्यधामको प्राप्त होता है, वहाँ उस लीलामय भगवान्‌के साथ लीला करता हुआ नित्य प्रेममय अमृतका पान करता है; फिर दुःखके आलय इस अनित्य पुनर्जन्मको वह प्राप्त नहीं होता ।

साधनकी परिपक्व अवस्था होनेसे दोनोंके ही राग-द्वेष, अहंता-ममता, भय एवं अज्ञान आदि विकार नाश हो जाते हैं । और वे तेज, क्षमा, धृति, शौच, सन्तोष, समता, शान्ति, सत्यता और दया आदि गुणोंसे सम्पन्न हो जाते हैं ।

सांख्ययोगीका कर्मोंमें कर्तृत्व-अभिमान न रहनेके कारण कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रहता और कर्मयोगी फलासक्तिको त्यागकर कर्मोंको ईश्वर-अर्पण कर देता है, इसलिये उसका कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रहता । सांख्ययोगी संसारका बाध करके विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपकी स्थापना करता है और निष्काम कर्मयोगी प्रकृतिसहित संसारको और अपने आपको भी परमात्माके स्वरूपमें परिणत कर देता है । फलतः बात एक ही है । इसीलिये भगवान्‌ने सांख्य और योगको फलमें एकता होनेके कारण एक कहा है ।

उपसंहार

परमात्माकी प्राप्तिका यह विषय इतना गहन है कि इसे लिखकर समझाना असम्भव है, क्योंकि यह वाणीका विषय ही नहीं है । यह परम गोपनीय रहस्य है, और सम्पूर्ण साधनोंका फल है । जो इसको प्राप्त होता है वही इसको जानता है परन्तु इसप्रकार भी कहना नहीं बनता । जो भी कुछ कहा जाता है या समझा जाता है उससे वह विलक्षण ही रह जाता है। जाननेवाले ही उसको जानते हैं और जाननेवालोंसे ही जाना जा सकता है । अतएव जाननेवालोंसे जानना चाहिये । श्रुति कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥
(कठोपनिषद्)

उठो, जागो और महापुरुषोंके समीप जाकर उनके द्वारा तत्त्वज्ञानके रहस्यको समझो । कविगण इसे तीक्ष्ण क्षुरके धारके समान अत्यन्त कठिन मार्ग बताते हैं । परन्तु कठिन मानकर हताश होनेकी कोई आवश्यकता नहीं । क्योंकि भगवान्‌में चित्त लगानेसे मनुष्य सारी कठिनाइयोंसे अनायास ही तर जाता है । गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(८ । १४)

हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्य-चित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मुझको स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ । यानी सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।

किन्तु बिना प्रेमके निरन्तर चिन्तन नहीं होता और बिना श्रद्धा प्रेम होना कठिन है तथा वह श्रद्धा महान् पुरुषोंके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रेम, प्रभाव और रहस्यको समझनेसे होती है ।

इसलिये महान् पुरुषोंका सङ्ग करके परमेश्वरमें श्रद्धा और प्रेम बढ़ाना चाहिये *। जिनकी परमेश्वरमें श्रद्धा और प्रीति नहीं है उन्हींके लिये सब कठिनाइयाँ हैं ।

---

* संसारमें जो सबसे उत्तम सदाचारी, त्यागी, ज्ञानी, महात्मा दीखें, उन्हींके पास जाकर उनकी आज्ञानुसार साधनमें तत्परताके साथ लग जायँ ।

विवाह-संस्कार

नवयुवकोंसे अपील

(लेखक—चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)

विवाहमें कन्याके पितासे द्रव्य लेकर वरका विवाह करना केवल सामाजिक कुप्रथा ही नहीं है, किन्तु धर्म-ध्वंसकारी कार्य है । षोडश संस्कारोंमें विवाह भी उपनयनके समान एक मुख्य संस्कार है। कन्याके निमित्त विवाह ही उसका उपनयन है, जिसमें पति उसका आचार्य है। विवाह-संस्कारके उत्तम रीतिसे सम्पादन होनेसे उत्तम सन्तति उत्पन्न होती है और इस संस्कारको बिगाड़नेसे खराब सन्तति होती है। मनुका वचन है—

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥

(मनु० ३ । ४२)

प्रशस्त विवाहके द्वारा उत्पन्न सन्तान अच्छी होती है । निन्दित विवाहसे निन्दित सन्तानका जन्म होता है अतएव निन्द्य विवाह न करे । कुमारी कन्या शास्त्रके अनुसार स्वयं श्रीजगन्माता देवीकी प्रतिरूपा हैं, जिसकी पूजासे श्रीभगवती शीघ्र प्रसन्न होती हैं। स्मृतिमें कन्याको रत्न कहा है, पूर्वकालमें कन्याके पिताके पास जाकर वरके पक्षवाले कन्याके विवाहकी याचना करते थे और एक या दो जोड़े गाय-बैल कन्याके पिताको देते थे जो आर्ष-विवाह समझा जाता था । इस आर्ष-विवाहद्वारा कन्याके पिताको प्रसन्न करके कन्याग्रहण करनेसे जो पुत्र उत्पन्न होता है वह तीन पितृ आदि और तीन पुत्र-पुरुखोंको तारता है (मनु० ३ । ३८) । इस कारण विवाहमें कन्याके पितासे द्रव्य लेनेसे वह विवाह-संस्कार न होकर वैसी ही खरीद-बिक्री हो जाती है जैसा कि घोड़े-बैल खरीदे जाते हैं । जिसप्रकार द्रव्य देकर कन्याका विवाह करना आसुरी-विवाह है (मनु० ३ । ३१), उसी प्रकार वरके पक्षवाले यदि कन्याके पक्षसे रुपये लेकर विवाह करते हैं तो वह भी आसुर-विवाह है । मनुका वचन है—

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥

(मनु० ३ । ४१)

ब्राह्म आदि चार विवाहोंके अतिरिक्त आसुर आदि चार हीन विवाहोंसे जो पुत्र उत्पन्न होते हैं, वे निर्दय, मिथ्यावादी, वेदनिन्दक और धर्म-द्वेषी होते हैं। शास्त्रके अनुसार कन्यादानमें तो कोई खर्च ही नहीं होना चाहिये। मनुका वचन है —

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते ।
इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥

(मनु० ३ । ३५)

ब्राह्मणोंको जलसे कन्यादान करना प्रशस्त है। क्षत्रियादि तीन वर्णोंमें जलके बिना भी दाता-ग्रहीताके वचनमात्रसे कन्यादान हो सकता है। कन्यारत्नके, जो साक्षात् देवी हैं, विवाहके निमित्त रुपया माँगना मानो साक्षात् जगन्माताका अपमान करना है । हिन्दू-जातिके वर्तमान अधःपतनके कारणोंमें एक मुख्य कारण विवाह-संस्कारको रुपयोंके लेन-देनद्वारा भ्रष्ट कर देना भी है। इस कारणसे उत्तम सन्तति उत्पन्न नहीं होती और इस शक्तिके अपमानके कारण ही हमलोग यथार्थमें शक्ति-हीन हो गये हैं। अतएव धर्म और संस्कारकी रक्षाके निमित्त यह परमावश्यक है कि हमलोग प्रण करें कि विवाहमें रुपयेकी माँगको, जो पाप है, एकदम त्याग कर देंगे और सब प्रकारके व्यर्थ व्ययका भी त्याग करेंगे तथा धूम-धामको भी छोड़ेंगे। हमारे अविवाहित नवयुवकोंको दृढ़ शपथ करनी चाहिये कि वे घोड़े-बैलके समान विवाहके निमित्त द्रव्य लेकर नहीं बिकेंगे और कन्या-पक्षसे बिना कुछ भी द्रव्य लिये कन्यारत्नको ग्रहण करेंगे और इसप्रकार विवाह-संस्कारको पुनरुज्जीवित कर धर्म और समाजका कल्याण करेंगे। इस ठहरौनी अथवा तिलककी कुप्रथाकी, जो महा अनर्थका कारण है, सर्वथा इतिश्री कर देंगे ।

धर्मका सनातन आदर्श

प्रवृत्ति और निवृत्तिधर्मका स्वरूप

(लेखक–पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए०, प्रिंसिपल गौवर्नमेण्टसंस्कृत-कालेज, काशी)

[गतांकसे आगे]

जिज्ञासु–ये सब बातें तो हुईं । अब प्रस्तावित विषयमें मेरे सन्देहको दूर करके मुझे कृतार्थ करें ।

वक्ता–वत्स ! मैं कहता हूँ, तुम चित्त लगाकर सुनो। आलोचनाके लिये धर्म-तत्त्वको दो भागोंमें बाँट लेनेसे सुभीता होगा । धर्मका एक नित्य और अविनश्वर रूप है, जिसका कुछ-कुछ आभास मैं तुम्हें पहले बातों-ही-बातोंमें करा चुका हूँ । उसके सम्बन्धमें पीछे आलोचना करूँगा। परन्तु धर्मका एक रूप और है, जो व्यावहारिक होनेके कारण अनित्य होनेपर भी स्वाभाविक है । चिरस्थायी न होनेपर भी प्रथमतः इसकी आवश्यकता है । यह अनित्य प्राकृतिक धर्म प्रवृत्ति और निवृत्ति-भेदसे दो प्रकारका है । अवश्य ही यहाँ मैं पुरुषकार-मूलक कृत्रिम धर्मकी बात नहीं कह रहा हूँ ।

जिज्ञासु–आपने जो प्रवृत्तिको धर्मका एक अंग बतलाया, यह बात ठीक समझमें नहीं आयी । क्योंकि प्रवृत्ति तो वासना-मलिन जीवके लिये स्वाभाविक है । यदि इसको धर्मके अन्तर्गत माना जाय तो फिर अधर्मका क्या लक्षण किया जायगा ? मैं तो समझता हूँ कि प्रवृत्तिका निरोध किये बिना धर्म-जीवनकी सूचना ही नहीं हो सकती । फिर आप निवृत्तिधर्मके अतिरिक्त एक नित्य-धर्म और बतलाते हैं, यह बात भी ठीक समझमें नहीं आयी । निवृत्तिके फलस्वरूप जीव अनन्त कालके लिये शान्तिदेवीकी गोदमें जा पहुँचता है—फिर उसके लिये धर्मकी कौन-सी बात शेष रह जाती है ?

वक्ता–वत्स ! तुम्हारे दूसरे संशयका समाधान मैं अभी नहीं करूँगा । कारण, नित्यधर्मकी आलोचनाके प्रसंगमें यह बात समझानेसे तुम्हारे समझनेमें विशेष सुभीता होगा । तुम्हारे पहले प्रश्नका उत्तर यह है कि, 'प्रवृत्ति होनेसे ही अधर्म होगा' ऐसी कोई बात नहीं है । 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला,' यह बात सत्य अवश्य है, परन्तु इतना याद रखना चाहिये कि प्रवृत्तिकी समाप्ति न होनेतक निवृत्तिके उदय होनेकी कोई भी आशा नहीं है। तुमने जो व्यावहारिक दृष्टिसे निवृत्तिको ही उत्तम कहा, इस बातको मैं भी मानता हूँ, परन्तु बात यह है कि प्रवृत्तिका दमन करके अथवा बलपूर्वक उसे रोककर निवृत्ति-की स्थापना नहीं की जा सकती । कारण 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ?' जिन उपादानोंसे जीवका जीवत्व है—अवश्य ही यहाँ मैं बद्ध जीवके विषयमें ही कह रहा हूँ—वे स्वभावसे ही बहिर्मुख हैं । जबतक यह बहिर्मुखी गति शान्त नहीं होगी, तबतक निवृत्तिकी आशा करना क्या दुराशा नहीं है ? अन्तरमें जो भोगा-कांक्षा विद्यमान है, उस आकांक्षाको तृप्त न करके यदि उसे अभिभूत करनेकी चेष्टा की जायगी, तो क्या वह चेष्टा कभी सफल हो सकती है ? विरोधी प्रबल शक्तिके द्वारा कुछ समयके लिये वह अभिभूत हो सकती है, परन्तु अवसर मिलते ही वह दूने वेगसे पुनः जाग्रत् हो उठेगी । कारण, जिस बाह्य शक्तिके प्रयोगसे उस आकांक्षाको अभिभूत किया जाता है, वह शक्ति चाहे कितनी ही प्रबल हो, एक दिन उसका क्षय अवश्यम्भावी है । अतएव उस दिन अतृप्त वासनाका पुनः उदय होना निश्चित है ।

जिज्ञासु–तब क्या आप संयमकी कोई भी सार्थकता नहीं मानते ? यदि प्रवृत्तिके निरोधकी कोई आवश्यकता ही न हो तो फिर मनुष्यके आध्यात्मिक जीवनमें निवृत्तिकी भी आवश्यकता कैसे समझी जा सकती है ? निवृत्तिका प्रवृत्तिसे विरोध है । अतएव प्रवृत्तिकी सार्थकता स्वीकार करते ही प्रकारान्तरसे निवृत्तिकी उपयोगिता कुछ अंशमें कम हो ही जाती है ।

वक्ता–वत्स ! तुम मेरी बातको अभी समझ नहीं सके । निवृत्तिको अनुपयोगी बतलाना तो दूर रहा, मैं तो उसका प्राधान्य ही मानता हूँ । वस्तुतः निवृत्तिके बिना धर्ममार्गके पहले सोपानपर भी पैर नहीं रक्खा जा सकता । परन्तु अभिप्राय यह है कि केवल निवृत्ति-निवृत्ति चिल्लानेसे ही

तो हृदयस्थ चिर-सञ्चित वासनाकी जड़ नहीं उखड़ सकती। सृष्टिके सभी पदार्थ विषम-भावापन्न हैं; जबतक साम्यभाव नहीं आता, तबतक सृष्टि-चक्रसे बाहर निकलनेकी आशा अलीक आकाशकुसुममात्र है। ऋणशोध किये बिना जैसे छुटकारा नहीं मिलता, इसी प्रकार अतृप्त वासनाको लेकर संसार-सागरसे तरा नहीं जा सकता। वासनाकी निवृत्ति हुए बिना मुक्तिकी चेष्टा वृथा श्रममात्र है। अब बात यह है कि वासनाकी तृप्ति या भोगसे वासनाकी निवृत्ति सम्भव है या नहीं। इसीपर विचार करना है। यह सभी जानते हैं कि प्यास लगनेपर जल पीना पड़ता है और जल पीनेसे पिपासाकी निवृत्ति हो जाती है। परन्तु वह निवृत्ति क्या वास्तविक निवृत्ति है? अवश्य ही नहीं है। यदि होती तो कालान्तरमें पुनः पिपासा क्यों लगती? अतएव यह मानना पड़ता है, कि सामयिक जलपानद्वारा पिपासाकी सामयिक निवृत्ति होनेपर भी उसका ऐकान्तिक उपशम नहीं होता। हमारे उपादानके अन्दर अभावका एक ऐसा स्रोत है, जिसको किसी भी वस्तुके द्वारा हम सदाके लिये निवृत्त नहीं कर सकते। यदि उपादानगत इस अभावको हम उपादानसे निकाल दे सकें, तो फिर कभी अभावके बोधकी सम्भावना ही नहीं है। परन्तु यहाँ अभाव-बोधको हटानेके साथ-ही-साथ बोधभावतकका लोप हो जायगा, क्योंकि बोधभावको जाग्रत् रखनेके लिये उसके एक अवलम्बनकी नितान्त आवश्यकता है। पक्षान्तरमें, उपादानस्थित उस अभावको न हटाकर यदि उसके उपयुक्त किसी भाव-वस्तुकी उसके साथ योजना कर दी जाय, तो वह अभावबोध तृप्तिके आनन्दरूपसे उज्ज्वल होकर जाग उठता है। प्रतिक्षण नाना रूपोंसे जो अभावका आविर्भाव हो रहा है वह उस मौलिक एक ही अभावकी अभिव्यक्ति है। अतएव यदि किसी कौशलसे उस मूल अभावको जान लिया जाय और उसकी तृप्तिके लिये सम्यक् उपायसे काम लिया जाय, तो वह अभाव और उसके निवृत्त करनेका उपाय दोनों परस्पर मिलकर एक ऐसे अनिर्वचनीय आनन्दका विकास कर देंगे, जिससे फिर अभावबोधकी जागृतिके लिये कोई अवकाश ही नहीं रह जायगा।

जिज्ञासु—ऐसा भी कभी हो सकता है? संसारमें ऐसी साध्य वस्तु कौन-सी है, जिसके द्वारा अभावबोध या आकांक्षा सदाके लिये निवृत्त हो सकती हो? मान लीजिये, मुझे प्यास लगी—मैंने जल पीया, प्यास निवृत्त हो गयी। परन्तु वह निवृत्ति अन्तिम निवृत्ति नहीं है। कारण, फिर प्यास लगेगी, फिर जल पीना पड़ेगा। काल-प्रवाहसे पिपासा और जलपानकी पुनः-पुनः एकके बाद एककी आवृत्ति होती रहेगी। बार-बार जल पीना पड़ता है, इस कष्टसे बचनेके लिये एक ही बार सारा जल नहीं पीया जा सकता। कारण, जितनी प्यास है, उससे अधिक पीनेकी शक्ति ही नहीं है। इसीलिये, आपने जो कुछ कहा, मैं उसे अच्छी तरह हृदयङ्गम नहीं कर सका।

वक्ता-तुम्हारे न समझनेका कारण मैं जानता हूँ। जगत्के भीतरी रहस्यको अभी तुम नहीं जानते हो, इसीसे तुम्हारा संशय नहीं मिटता। परन्तु इस एक बातपर थोड़ा-सा विचार करनेपर तुम सत्यका किञ्चित् आभास पा सकते हो। देखो, जब प्याससे व्याकुल होकर हम जल पीते हैं, तब वस्तुतः सम्पूर्ण जल हमारे ग्राह्य नहीं होता, जलका जो सार है-एक शब्दमें जिसे 'रस' कहा जा सकता है, हमारे लिये वही उपादेय होता है। बहुत-से जलमें भी एक क्षुद्र कणसे अधिक रसका मिलना निश्चित नहीं है। परन्तु कणमात्र होनेपर भी उसमें ऐसी असा-धारण शक्ति है कि वह दीर्घकालपर्यन्त पिपासाको निवृत्त करके शान्तिदान कर सकता है। पिपासा अग्निका धर्म है। देहमें अग्निकी क्रिया होनेके कारण ही पिपासाका आवि-र्भाव होता है। इसी प्रकार रस सोमका धर्म है। इस अग्निको शान्त करनेके लिये इस सोमबिन्दुके अतिरिक्त संसारमें अन्य कोई भी उपाय नहीं है। अवश्य ही यहाँ प्रसङ्गतः हम एक ही दिशाको लेकर आलोचना कर रहे हैं, परन्तु सभी दिशाओंमें इसी प्रकार समझना होगा। जीवके हृदयमें जो भोगाकांक्षा है, वस्तुतः वह अग्निका ही विकासमात्र है, यद्यपि वह आधारभेदके कारण नाना प्रकारसे प्रकट होती है। भोग्यरूप सोम या अमृतका बिन्दु अर्पण किये बिना इस आकांक्षाकी निवृत्ति नहीं हो सकती—यह अग्नि साम्यभावको प्राप्त नहीं कर सकती।

जिज्ञासु-शास्त्र कहता है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

काम्य वस्तुके भोगसे कामनाकी शान्ति नहीं होती। अग्निमें घी डालनेसे जैसे अग्नि बढ़ती है, वैसे ही का-

वस्तुकी प्राप्ति और उपभोगसे कामनाका ह्रास न होकर उसकी उलटी वृद्धि होती है। यदि यह सत्य है, तो आपके सिद्धान्तके साथ इसका सामञ्जस्य कहाँ होता है, यह बात समझमें नहीं आती। कारण, आप कहते हैं कि सोमके सम्बन्धसे ही अग्निकी शान्ति होती है; और मैं देखता हूँ तथा मुझे मालूम होता है कि गीतामें भी यही कहा गया है कि, 'भोग्य वस्तुके सम्बन्धसे भोगकी वृद्धि होती है।' मैं बहुत ही स्थूलबुद्धि हूँ, अतएव अनुग्रह करके मुझे और भी स्पष्टरूपसे समझाइये।

वक्ता—काम्य वस्तुके उपभोगसे कामनाकी शान्ति नहीं होती वरं वृद्धि होती है, तुम्हारा यह कथन अवश्य ही ठीक है। क्योंकि विशुद्ध भोग्य वस्तु न मिलनेके कारण भोगाकांक्षा तृप्त नहीं होती। जगत‍्में जितनी भी भोग्य वस्तुएँ देखनेमें आती हैं, वे सभी मिश्र हैं। सभी भोग्य वस्तुओंमें सोम अथवा अमृत भी है, परन्तु उसके साथ ही आगन्तुक मल इतना अधिक परिमाणमें है कि उससे पृथक् करके सोमकलाको ग्रहण नहीं किया जा सकता। इधर, जागतिक भोक्ता भी विशुद्ध भोक्ता नहीं है। विशुद्ध भोक्ता न होनेके कारण भोगजनित आनन्द भी बन्धनका हेतु ही बन जाता है। जैसे सोम विशुद्ध भोग्य है, वैसे ही अग्नि विशुद्ध भोक्ता है; किन्तु जगत‍्में साधन-संस्कार बिना ऐसा कोई जीव देखनेको नहीं मिल सकता, जिसमें शुद्ध अग्नि प्रज्वलित हो चुकी हो। सौभाग्यसे जिनके अन्दर यह अग्नि जल उठी है, वे दिव्य भावको प्राप्त होकर अग्निरूप मुखका अवलम्बन करके दृष्टिके द्वारा ही भोग्यनिहित अमृतका आस्वाद लेते हैं। देवता जो अमृतका भोग करते हैं और उनके भोग जो दृष्टिसे ही सम्पन्न हो जाते हैं, यह बात तो तुमने सुनी ही होगी। साधक भी इसी प्रकार दिव्य भावको प्राप्त होनेपर वैसे ही शुद्ध दिव्य भोग-का अधिकारी हो जाता है। 'अग्निर्वै देवानां मुखम्' शास्त्रके इन वचनोंमें बड़ा गूढ़ अर्थ भरा है।

जिज्ञासु—आपके विवेचनसे प्रतीत होता है कि विशुद्ध भोगोंसे बन्धन नहीं होता; तृप्ति ही होती है। विशुद्ध भोगी भोग्य वस्तुके असार अंशको त्यागकर शुद्ध सार अंशको ही ग्रहण करता है। और उससे उसकी भोग-तृष्णा निवृत्त हो जाती है।

वक्ता—यही बात है, परन्तु एक बात याद रखनी चाहिये। जो मिश्रभोग करता है तथा जो भोग्यका केवल सार अंशमात्र ही ग्रहण करता है, भोग-तृष्णा तो निस्सन्देह दोनोंकी ही निवृत्त होती है और दोनों प्रकारसे होने-वाली तृष्णा-निवृत्ति सामयिक है, यह भी निश्चित है। तथापि इन दोनोंमें बड़ा भेद है। कारण, मिश्रभोग्य ग्रहण करनेसे तृष्णाके सामयिक निवृत्त होनेपर भी, वस्तुतः तृष्णाकी वृद्धि होती है। परन्तु शुद्ध भोगसे तृष्णा क्रमशः क्षीण हो जाती है। इस बातको मैं और भी स्पष्ट करके सम-झाता हूँ; विशेष मन लगाकर समझनेकी चेष्टा करना। थोड़ी देरको मान लो, तुम्हारी भोगाकांक्षाका परिमाण आठ कला है। अवश्य ही वह तुम्हारे अन्दर प्रसुप्तरूपसे है। इसकी दो अवस्थाएँ हैं। जबतक किसी उत्तेजक कारणको पाकर यह सोयी हुई तृष्णा जाग्रत् नहीं होती, तबतक उसकी सत्ताका पता नहीं लगता। परन्तु जब किसी उद्दीपक कारणके प्रभावसे वह प्रकट हो जाती है, तब उसके गुण और क्रिया कार्यक्षेत्रमें दिखायी देते हैं। परन्तु उद्दीपक कारणके तारतम्यसे प्रसुप्त भोगाकांक्षाका न्यूनाधिक कुछ ही अंश अभिव्यक्त हो सकता है। जितना अंश अभिव्यक्त होता है, ठीक उसी परिमाणमें भोग प्राप्त हुए बिना उसकी शान्ति नहीं होती। यदि वहाँ उस आठ कला भोगाकांक्षाकी केवल एक ही कला प्रकट हुई हो और यदि उसे विशुद्ध भोग्य नहीं प्राप्त हो, तो यद्यपि भोग्य वस्तुके सम्बन्धसे उसकी सामयिक तृप्ति होती है—थोड़े समयके लिये वह जागी हुई भोगाकांक्षाकी एक कला दब जाती है,—परन्तु उसकी सदाके लिये निवृत्ति नहीं होती। वरं बाह्य मलका सम्बन्ध होनेके कारण उसकी मात्रा और भी बढ़ जाती है। फलस्वरूप आठ कला भोगाकांक्षा सम्भवतः नौ कला हो जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक बार एक-एक कला बढ़ती ही चली जाती है। पुनः-पुनः भोगके द्वारा भोग-शान्ति न होकर भोगोंकी क्रम-वृद्धिका यही कारण है। परन्तु वह भोग्यवस्तु यदि विशुद्ध अमृतरूप होती है—यदि उसमें आगन्तुक मलका सम्बन्ध नहीं रहता, तो उसके भोगसे सामयिक भोग शान्ति तो होती ही है, क्रमशः भोगकी मात्रा भी घट जाती है। फलस्वरूप आठ कला भोगाकांक्षामें सम्भवतः एक कम होकर वह सात ही रह जाती है। और निरन्तर इसप्रकार होते-होते अन्तमें भोगाकांक्षा सर्वथा लुप्त हो जाती है। तब वह विशुद्ध भोक्ता साक्षी या उदासीन द्रष्टा बनकर प्रकृतिका खेल देखता रहता है।

जिज्ञासु–आपकी व्याख्या-प्रणालीसे एक गहरे सत्यका पता लगा। एक ओर भोगसे भोगकी वृद्धि होती है और क्रमशः बन्धन दृढ़ होता है, यह बात समझमें आयी। और दूसरी ओर भोगसे ही भोगका नाश होता है और अन्तमें भोग-शून्य होकर परम शान्तिका उदय होता है। दोनों ही भोग हैं, परन्तु दोनोंमें बड़ा भेद है।

वक्ता–हाँ, तुमने ठीक समझा है। जिस भोगसे भोगका नाश होता है, वह भोग वैध है; और जिससे भोगकी मात्रा बढ़ती है, वही निषिद्ध है। विधिनिषेधकी विस्तृत व्याख्या यहाँ नहीं करूँगा। परन्तु वैध भोग निन्दनीय विषय नहीं है और वही त्यागका एकमात्र मार्ग है, इसी बातको भली भाँति स्पष्ट करनेके लिये मैं अनेक प्रकारसे समझानेकी चेष्टा करता हूँ। तुमने कहा था, प्रवृत्ति-मार्ग धर्मके अन्दर कैसे आ सकता है? इस बातको मैं नहीं समझ सकता। मैं आशा करता हूँ, अब तुम्हारी उस शङ्काका कुछ समाधान हुआ होगा। वस्तुतः प्रवृत्तिका आश्रय लिये बिना निवृत्तिको पानेका दूसरा उपाय ही कहाँ है? कोई कुछ भी करें या कहें, जगत्में अधिकांश मनुष्य प्रवृत्तिके गर्भमें ही पड़े हुए हैं। प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागका उपदेश देना वृथा है। क्योंकि, वह उपदेश फल उत्पन्न करनेवाला नहीं हो सकता। केवल निषिद्ध प्रवृत्तिको छोड़ कर, वैध प्रवृत्तिका आश्रय ग्रहण करना ही शास्त्रोपदेशका तात्पर्य है। प्रवृत्तिमात्र ही निवृत्तिकी विरोधिनी नहीं है—शुद्ध प्रवृत्ति तो निवृत्तिमें प्रधान सहायक है। मैं आशा करता हूँ, अब तुम इस बातको समझ रहे हो।

जिज्ञासु–हाँ, अब मैं बहुत कुछ समझ रहा हूँ, परन्तु इस प्रसङ्गमें एक बात जाननेकी इच्छा होती है। आप अनुमति दें तो पूछूँ?

वक्ता–तुम जो चाहो, पूछ सकते हो। मैं अपनी समझके अनुसार विवेचन करनेकी चेष्टा करूँगा।

जिज्ञासु–आपने कहा है कि सांसारिक जीव—जो अभी अपने अन्दर विशुद्ध अग्निको प्रज्वलित नहीं कर सका है—अशुद्ध भोग्य वस्तुका भोग करता है। निश्चय ही वह विशुद्ध भोग नहीं है और उसके फलस्वरूप भोगकी वृद्धि होती है। यहाँपर मैं पूछना चाहता हूँ कि यह भोग-व्यापार किसप्रकार निष्पन्न होता है, जिससे जीव देवताकी भाँति विशुद्ध भोक्ता न होकर, मुक्त-भावसे भोग करनेमें समर्थ न होकर, भोगके साथ ही भोगसे बँध जाता है?

वक्ता–वत्स! भोक्ता और भोग्य, अन्नाद और अन्न, अग्नि और सोम—ये एक ही मूल वस्तुके दो विभक्त रूप हैं। जिस अनिर्वचनीय कारणसे महाबिन्दु विक्षुब्ध होता है, एवं जगत्-सृष्टिकी सूचना होती है, उसी कारणसे मूल ज्योति विभक्त होकर एक ओर अग्नि और दूसरी ओर सोमके रूपमें आविर्भूत होती है। अग्नि सोमको चाहता है, और सोम अग्निको। ये दोनों एक दूसरेको खींचते रहते हैं। किसी भी उपायसे हो, अग्निके साथ सोमका मिलन होते ही अग्निका अग्नित्व और सोमका सोमत्व विलुप्त होकर, दोनोंके संयोगसे दोनोंके अन्तर्निहित परम सत्ताका आविर्भाव हो जाता है। अतएव विशुद्ध सोमबिन्दुके विशुद्ध अग्निके सम्मुख होते ही दोनों मिल जाते हैं। और इस मिलनसे जिस आनन्दका आविर्भाव होता है, वही यथार्थ आनन्द है। वह एक पक्षसे भोग होनेपर भी पक्षान्तरसे आंशिक भावसे मुक्ति भी है। साधारण जीव साक्षात् रूपसें भोग्य वस्तुसे इस अमृतको आकर्षण करके उसका पान नहीं कर सकता और इस आनन्दको न पानेसे उसकी सामयिक तृप्ति भी नहीं होती। प्रकृतिके विचित्र कौशलसे उसका देह-यन्त्र इसप्रकारसे बना हुआ है कि, उस अशुद्ध भोग्य वस्तुसे उन यन्त्रोंकी सहायताद्वारा क्रमशः विशुद्ध रस निकाला जाकर आनन्दमय कोशस्थित दिव्य भावापन्न जीवात्माके भोगके लिये लाया जाता है। भोग्य वस्तुसे ही क्रम-मन्थन-नीतिके अनुसार निम्न स्तरके कोश अपनी-अपनी भूमिके लिये उपयोगी रस खींचकर उससे पुष्टि-लाभ करते हैं। वास्तवमें इस सोम-रससे ही पञ्चकोश अपनी-अपनी मात्रा ग्रहण करके तृप्त होते और जीवित रहते हैं। परन्तु तुम्हें यह निश्चय जान रखना चाहिये कि यह पुष्टि कालमार्गमें ही सम्पन्न होती है—इसलिये यह पुष्टि होनेपर भी क्षयका ही प्रकार-भेद है। कारण, मलिन देहके प्रत्येक स्तरमें बुभुक्षु अग्नि विद्यमान है। यह अग्नि विशुद्ध न होनेके कारण उस स्तरमें ही रसको शुष्क कर डालती है। फलस्वरूप आनन्दमय कोशतक शुद्ध रस बहुत ही अल्प मात्रामें पहुँच सकता है। यही जरा और मृत्युका कारण है; किसी अन्य समय तुम्हें यह बात समझा दी जायगी।

शुद्ध भोगके बिना जरा और मृत्यु शून्य अवस्थाका आविर्भाव नहीं हो सकता ।

अब, एक बार फिर विचार करके देखो कि अशुद्ध भोगसे भोग-वासनाकी निवृत्ति क्यों नहीं होती ।

जिज्ञासु—अब आप प्रस्तावित विषयको समझाइये । कहीं संशय होगा तो निवेदन करूँगा ।

वक्ता—मैं कह रहा था कि, अनित्य और व्यावहारिक धर्म भी प्रवृत्ति और निवृत्ति-भेदसे दो प्रकारका है । कौशलपूर्वक भोगका नाम ही प्रवृत्ति-धर्म है । अर्थात् भोगका एक ऐसा कौशल है कि जिसका अवलम्बन करनेसे भोगके द्वारा ही भोगका अवसान हो जाता है । तब निवृत्ति आप ही आ उपस्थित होती है । उसके लिये पृथक्‌रूपसे चेष्टा नहीं करनी पड़ती । इस कौशलका अवलम्बन नहीं किया जा सकनेपर ही भोग बन्धनका कारण हो जाता है और वह कभी धर्म-पद-वाच्य नहीं हो सकता । चित्तमें जबतक जिस विषयके संस्कार रहेंगे तबतक उस विषयका त्याग नहीं हो सकता । कृत्रिम उपायोंसे यथार्थ त्याग नहीं हो सकता । पहले जो अग्नि और सोमकी बात कही थी, यदि भोग-कौशलके द्वारा उस अग्नि और सोमका मिलन करा दिया जाय, तो चित्तमें स्थित वासना अपने आप ही शुद्ध भोग्य वस्तुके मिलनसे तृप्त होकर शान्त हो जाती है और ऐसा होनेपर उसके फिर उत्पन्न होनेकी सम्भावना नहीं रहती, जिससे वह साम्यभाव धारण कर लेती है । इस अवस्थामें निवृत्ति देवीका आवाहन नहीं करना पड़ता, स्वभावतः ही उसका आविर्भाव हो जाता है । फिर शुद्ध भोक्ता भी पूर्णत्वको प्राप्त होकर भोगके अतीत शुद्ध साक्षिभावसे स्थित हो जाता है ।

जिज्ञासु—आपकी बात मैं समझ गया, खूब युक्तिसंगत मालूम होती है । परन्तु कार्यक्षेत्रमें इसकी उपयोगिता कितनी है, यह बात अभी समझमें नहीं आती । कारण, हमलोग सांसारिक जीव हैं । हमें शुद्ध भोगका अधिकार नहीं है । और जिन सब भोग्य वस्तुओंद्वारा हम जगत्‌में घिरे हुए हैं, उनमें भी एक भी विशुद्ध नहीं है । इस स्थितिमें हमारे लिये तो विशुद्ध भोगकी सम्भावना ही कहाँ है ? और जब विशुद्ध भोग ही असम्भव हो गया, तब प्रवृत्तिधर्मका पालन हमसे किसप्रकार हो सकता है ?

वक्ता—वत्स, तुम्हारी शङ्का ठीक है, परन्तु कुछ विचार करनेपर यह शङ्का दूर हो सकती है । निश्चय ही भोग्य वस्तु मिश्रभावापन्न है, परन्तु उसमें कुछ अंश शुद्ध सत्त्वका भी अवश्य है । परन्तु नाना प्रकारके मलोंसे मिला होनेके कारण उसे खींचकर बाहर निकालना कठिन है । जीवका दैहिक यन्त्र इसप्रकारसे बना हुआ है कि साधारण अवस्थामें उसके द्वारा भोग्य वस्तुसे शुद्ध सत्त्वके अंशको विश्लेपण करके निकालकर आनन्दमय कोशतक ठीक-ठीक पहुँचाया नहीं जा सकता । परन्तु ऐसा सूक्ष्म उपाय भी है जिसके द्वारा वह शुद्ध सत्त्वबिन्दु अपेक्षाकृत सहजरूपसे आनन्दमय कोशतक उठकर तथा उसके ऊपर विराजमान परमात्मामें निवेदित होकर प्रसादरूपमें कारणशरीरमें जीवात्माका भोग बन सकता है । 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' ईशोपनिषद्‌के इस मन्त्रमें त्याग और भोगका बड़ा सुन्दर समन्वय किया गया है । इसको और भी स्पष्ट करके कहता हूँ । यदि लोहेके लाखों छोटे-छोटे कण दूसरी-दूसरी वस्तुओंके बहुत-से कणोंके साथ मिले होकर जहाँ-तहाँ बिखरे हों और दूसरी वस्तुओंको छोड़कर शुद्ध लोहेके उन कणोंको एक जगह संग्रह करना हो तो इसका एकमात्र उपाय है चुम्बकको उन कणोंके पास ले जाकर रख देना । चुम्बकका स्वभाव ही लोहेके कणोंका आकर्षण करना है; अतएव उसकी आकर्षण-सीमाके भीतर जितने लोहेके कण पृथक्-पृथक् बिखरे होंगे, वह निश्चय ही उन सबको खींच लेगा । इसी प्रकार हमारी भोग्य वस्तुओंमें जो शुद्ध सत्त्वके कण हैं, उन्हें उस शुद्ध सत्त्वके ही एक अंशके अवलम्बनसे हमारा आनन्दमय कोश और नीचेके समस्त कोश अपने-अपने सत्त्वके अनुसार चुम्बक-धर्मको प्राप्तकर स्वाभाविक ही अपनी-अपनी पुष्टिके लिये भोग्य वस्तुओंमेंसे खींच लेंगे । इस उपायसे मन्थन अथवा विवेक क्रियाद्वारा यदि भोग्य वस्तुओंका विश्लेषण किया जा सके तो चुम्बकाकर्षणके प्रभावसे उनका सत्त्वांश कोशोंमें पहुँचकर उनको तृप्त कर सकता है !

कहना नहीं होगा कि मैंने जिस प्रवृत्तिधर्मके विषयमें कहा है, यही उसका स्वरूप है । जगत्‌की भोग्य वस्तुएँ निर्मल और शुद्ध सोममय नहीं हैं, इसीलिये तो इसप्रकार विवेककी आवश्यकता है । शुद्ध और अशुद्ध वस्तुओंको परस्पर पृथक् कर देनेका नाम ही विवेक है । विवेक होनेपर असार अंशके प्रति वैराग्य और सार अंशके प्रति

अनुराग या आकर्षण होना स्वाभाविक है। स्थूलरूपसे विचार करनेपर भी यही बात प्रतीत होती है। हम भोग्यरूपमें जो कुछ भी खाते हैं भीतर पहुँचनेपर पूर्वोक्त प्रकारसे उसका विश्लेषण होता है और असार अंश स्वभावके नियमसे ही देहका पुष्टिकारक न होकर क्षतिकारक होनेके कारण देहसे निकाल दिया जाता है और सार अंश देहमें रहकर उसका पोषण करता है। यह सार अंश भी अवश्य ही सर्वथा विशुद्ध नहीं होता, इसीलिये विश्लेषणकी क्रिया क्रमशः होती ही रहती है और साथ-ही-साथ उस-उस भूमिमें असार अंशका त्याग और सार अंशका ग्रहण होता रहता है। साधारण खाद्य वस्तुके सम्बन्धमें जो नियम है, वही एक नियम समस्त भोग्य वस्तुओंके सम्बन्धमें समझना चाहिये।

जिज्ञासु—इन्द्रियद्वारोंसे रूप, रस आदि विषयोंका ग्रहण भी क्या इसी नियमसे होता है?

वक्ता—इसमें सन्देह ही क्या है? भोक्ताके भोगके लिये किसी भी द्वारसे कोई भी विषय ग्रहण किया जाय, सर्वत्र एक ही नियम है। चक्षुके द्वारा जब तुम किसी रूपको ग्रहण करते हो, तब यदि तुम निरपेक्ष द्रष्टा होकर उसको नहीं देख सकते, तो समझना चाहिये कि वह रूप-दर्शन भी तुम्हारे भोगके सिवा और कुछ नहीं है। गम्भीर रात्रिके निस्तब्ध आकाशमें जब तुम दूरसे आयी हुई मधुर वंशी-ध्वनि सुनते हो और सुनते-सुनते स्वप्नमय भावके आवेशमें तन्मय हो जाते हो, तब यदि वह तुम्हें अच्छी लगती है तो समझ लो कि वह भी तुम्हारा भोगविशेष है। इसी प्रकार सब जगह समझो। हमारी साधारण सांसारिक अवस्थामें हम इन रूप-रसादि समस्त विषयोंको अपने-अपने प्राक्तन संस्कारोंके वशमें होकर नाना प्रकारसे भोग करते हैं। परन्तु इस भोगसे भोगका नाश नहीं होता, हमारी अजानकारीमें भोगाकांक्षा दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही चली जाती है। इसका कारण यह है कि हमलोग उचित रीतिसे भोग करना नहीं जानते। भगवान्‌के मङ्गलमय विधानमें अशुभ कुछ भी नहीं है। उचित रीतिसे भोग करनेपर हम जान सकेंगे कि, भोग भी मङ्गलमय हैं; किसी भी अंशमें अमङ्गल नहीं हैं।

यथार्थमें बात यह है कि, त्यागके साथ भोगको एक सूत्रमें ग्रथित नहीं किया जाता, 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस नियमका अनुसरण नहीं होता, इसीलिये भोगके मङ्गलमय रूपका दर्शन हम नहीं कर पाते। इसीलिये हमारे भोग धर्मके अन्तर्गत नहीं समझे जाकर अधर्मके अङ्ग बन जाते हैं।

जिज्ञासु—हमलोग जो रूप-दर्शन या शब्द-श्रवण आदि करते हैं, वह भोगके अन्तर्गत है, इस बातको मैं खूब समझता हूँ। और इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि यह भोग भी विशुद्ध भोग नहीं है। परन्तु बात यह है कि चक्षु-इन्द्रियद्वारा जो रूप देखा जाता है—उसमें ऐसा क्या कौशल हो सकता है, जिससे वह दर्शन विशुद्ध भोग-रूपमें परिणत हो सके और अपनेको शुद्ध दर्शन या आत्मदर्शनरूपसे प्रकट कर सके?

वक्ता—अवश्य, ऐसा कौशल तो है ही। पहले तुमको दृष्टान्तसे जिस तत्त्वको समझनेकी चेष्टा की गयी है, यहाँ भी उसीका स्मरण करना चाहिये। यह सत्य है कि हम जो रूप देखते हैं, वह विशुद्ध रूप नहीं है। विशुद्ध रूपके दर्शन हो जाते तो अन्य इन्द्रियाँ काम नहीं कर सकतीं, यहाँतक कि नेत्र भी उस रूपके गहरे नशेमें विह्वल हो जाते। क्षणभरके बाद ही वह दूसरे रूपकी खोजमें नहीं निकल पड़ते। तुमने कभी उस यथार्थ रूपको देखा नहीं है, इसीसे तुम्हारी धारणामें शायद उस शुद्ध रूपकी महिमा अभी नहीं आ सकेगी। उस शुद्ध रूपके साथ आँखोंका सम्बन्ध हो जानेपर फिर वे दूसरी किसी ओर दौड़ ही नहीं सकतीं। यही नियम सभी इन्द्रियोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये।

जिज्ञासु—आपने जिस कौशलकी बात कही थी उसके सुननेकी इच्छा होती है।

वक्ता—उस कौशलको ठीक-ठीक समझ सकनेकी सम्भावना न होनेपर भी तुम्हारी उत्सुकताकी निवृत्तिके लिये मैं संक्षेपमें कुछ कहता हूँ। जैसे खाद्य वस्तु देहके अन्दर जाकर दैहिक यन्त्रकी क्रियाद्वारा विश्लिष्ट होती है और उसका सार अंश क्रमशः ऊपरकी ओर सञ्चालित होता है, इसी प्रकार रूप-रसादि कोई भी विषय किसी इन्द्रियद्वारा आहरण किया जाता है, वह भी देहके अन्दर जाकर विश्लिष्ट होता है और उसका सत्त्वांश नाड़ी-पथसे ऊपरकी ओर प्रवाहित होकर भोक्ताके भोगस्थानपर पहुँच जाता है। कारण, भोग-स्थानपर पहुँचे बिना किसी

वस्तुको अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता। रूप देखनेपर जो आनन्द होता है, वह भी भोगविशेष है—वह आनन्द भी बाह्य विषय भोक्ताके समीप भोग्यरूपमें उपस्थित हुए बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। यह सकाम मलिन भोग तो भोग्यवस्तुमात्रसे ही बद्ध जीवको निरन्तर ही होता रहता है। परन्तु विशुद्ध भोग सहसा उत्पन्न नहीं हो सकता। कारण, जबतक द्रष्टा होकर विषयका ईक्षण नहीं किया जा सकता, तबतक भोगकी विशुद्धि नहीं हो सकती। भोग-शोधनके मूलमें दो रहस्य हैं—एक है आधारका शोधन और दूसरा है उसका बोधन। अभी चित्तको ही आधार मान लो। वास्तवमें तो विन्दु ही आधार है, ब्रह्मचर्यके बिना बिन्दुकी शुद्धि नहीं हो सकती। बिन्दुके शुद्ध हुए बिना उसमें बोध-शक्तिका सञ्चार करना निष्फल है। बल्कि, कभी-कभी तो ऐसा करना हानिकारक होता है। बिन्दु ही वह मूल सत्ता है जिससे देहादि विकासको प्राप्त हुए हैं। इस सत्त्वको शुद्ध करके उसमें चैतन्यका उज्ज्वल प्रकाश प्रतिफलित कर देनेपर उसको सहज ही ऊपरकी ओर खींचा जा सकता है। ये दोनों बातें ब्रह्मचर्यकी भित्तिस्वरूप हैं। यहाँ अभी ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु यह निश्चित है कि ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित हुए बिना प्रवृत्तिमार्गके धर्मकी साधना हो ही नहीं सकती। इसीलिये प्राचीन कालमें पहले (ब्रह्मचर्य) आश्रममें ही बिन्दुको स्थिर करके, दूसरे (गृहस्थ) आश्रममें विवाह करके प्रवृत्ति-धर्मके पालन करनेकी व्यवस्था थी। वैदिक युगका वह गार्हस्थ्य धर्म ही यथार्थ प्रवृत्तिधर्मका सामाजिक विन्यास था।

सत्त्वशुद्धि और ज्ञानोदय हुए बिना रूप-रसादि विषय-भोग सम्भोगके अन्तर्गत रहते हैं; उनसे क्रमशः भोग-त्याग होनेकी कोई सम्भावना नहीं है।

जिज्ञासु—स्थिररेता और जातप्रज्ञ पुरुषके सामने रूपादि विषय आनेपर उसके देहके अन्दर किसप्रकारकी क्रिया होती है, अब यह बात समझाइये ?

वक्ता—पहले ही कहा जा चुका है कि, जैसे लोहेको चुम्बक आकर्षण करता है वैसे ही शुद्ध वस्तु शुद्ध वस्तुको आकर्षण करती है। जिसके ज्ञानका विकास हो गया है और जिसकी शुद्ध शक्ति क्रियाशील हो गयी है उसके भीतरकी क्रियाएँ साधारण मनुष्योंके भीतरकी क्रियाओंसे भिन्न प्रकारकी होती हैं। मान लो उनके चक्षु-इन्द्रियद्वारा रूपको ग्रहण किया गया, अन्दर प्रविष्ट होनेपर उस रूपका दैहिक यन्त्रद्वारा विश्लेषण किया गया। विश्लेषण करते ही उसका सत्त्वांश ऊपरकी ओर खींचा जाकर ज्ञानी आत्माके सामने दृश्यरूपमें उपस्थित हो गया। परमात्मा द्रष्टामात्र हैं, भोक्ता नहीं हैं, अतएव वह शुद्धरूप, जो द्रष्टा परमात्माका दृश्यमात्र है, अपने आप ही वहाँसे लौटकर योगयुक्त जीवात्माके विशुद्ध भोग्यरूपमें, अर्थात् प्रसादरूपमें उसके सामने अवतीर्ण हो जाता है। यह प्रसादभोग वास्तविक भोग नहीं है। एक प्रकारसे भोग होनेपर भी, दूसरे प्रकारसे यह भोगका नाशक है। यही त्याग और भोगका समन्वय है।

जबतक जीवात्मा भगवत्-प्राप्य प्राकृतिक उपहारोंको भगवान्‌की ओर न जाने देकर अहङ्कारवश या कामनासे पीड़ित होकर स्वयं ही ग्रहण करनेको तैयार रहता है, तबतक परमात्माके साथ उसका स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु जब जीव कामको निरुद्ध करनेमें समर्थ होता है और परम पुरुषकी ओर प्रवाहित होनेवाले प्रकृति-के स्रोतको रोकनेकी चेष्टा नहीं करता, तब वे प्राकृतिक उपहार परम पुरुषके समीप जाकर उनकी दृष्टिसे पवित्र होकर आशीर्वादरूपसे उसीपर बरस पड़ते हैं।

जिज्ञासु—वस्तुतः जीवकी दृष्टि और उसका लक्ष्य किस ओर रहना चाहिये ? भोगलिप्सुकी दृष्टि तो विषयोंकी ओर ही रहेगी अर्थात् वह स्वभावसे ही बहिर्मुखी होगी। और यदि किसी कारणसे कामनाका निरोध हो गया तो फिर उसकी बाह्यदृष्टि रहेगी नहीं, इसलिये भोग्यवस्तु उसको न तो स्पर्श कर सकती है और न बद्ध कर सकती है। इन दोनों अवस्थाओंमें ही वह भगवत्-प्रसादको कैसे ग्रहण कर सकता है ?

वक्ता—जबतक जीवकी इन्द्रियाँ आदि बाहरकी ओर विषयोंके प्रति दौड़ती हैं, तबतक जीव बहिर्दृष्टि या बहिर्लक्ष्य कहलाता है। संसारके अधिकांश जीव इसी प्रकारके हैं। जब इन्द्रिय आदि करणवर्ग, चित्त और समाहृत विषय संशोधित होते हैं तब किसी प्रकारके भोगकी उपलब्धि नहीं होती। इसके बाद प्रबुद्ध भावका उदय होनेपर अर्थात् ज्ञानका उन्मेष होनेपर, ये करणादि सभी वस्तुएँ अन्तर्मुखी होकर चिन्मय अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। सुतरां उस समय जीव भी अन्तर्मुख हो जाता है।

इस अवस्थामें विक्षुब्ध प्रकृतिका जो स्रोत स्वाभाविक नियमसे परमात्माकी ओर बहता है, वही लौटकर उस उन्मुख जीवके शुद्ध भोगके उपकरण-रूपमें परिणत हो जाता है—यही प्रसाद है ।

अब प्रवृत्ति-धर्मके तत्त्वके सम्बन्धमें तुम्हें और कुछ पूछना हो तो, पूछ सकते हो ।

जिज्ञासु—प्रवृत्तिमार्गके धर्मके सम्बन्धमें मैं जो कुछ समझ सका हूँ, इससे उसके रहस्यका कुछ-कुछ आभास मिला है, ऐसा जान पड़ता है । परन्तु अब यह पूछना है कि आपने प्रवृत्ति-धर्मकी साधनाका जिस अवस्थासे प्रारम्भ होना बतलाया है, बहुत-से लोग शायद उसको निवृत्ति समझेंगे । कारण, आपके मतसे जबतक बिन्दुका शोधन और चित्-शक्तिका उन्मेष नहीं होता, तबतक प्रवृत्ति-धर्म-की सूचना ही नहीं हो सकती । ऐसी अवस्थामें जगत्में जो सब धर्मानुष्ठान प्रचलित हैं, वे तो प्रवृत्ति धर्मके-अन्त-र्गत आ ही नहीं सकते । फिर निवृत्ति या अनुत्तर-धर्मकी बात तो बहुत ही दूर है । वास्तवमें प्रवृत्तिकी पूर्णता और निवृत्ति-धर्मका प्रारम्भ कहाँ है, मैं यहाँ इस बातको जानना चाहता हूँ ।

वक्ता—प्रवृत्ति और निवृत्तिमें सम्पूर्णरूपसे पार्थक्य है । अतएव प्रवृत्तिको निवृत्ति मानकर भ्रममें पड़नेका कोई भी कारण नहीं है । जिस धर्मके अनुष्ठानसे आत्माकी समस्त शक्तियाँ विकसित और पूर्णरूपसे परितृप्त होती हैं, वही प्रवृत्ति-धर्मका परम आदर्श है । यदि चक्षु किसी ऐसे रूपको देख सके, जिसके देख लेनेपर रूप-दर्शनकी तृष्णा फिर कभी उदय ही न हो, मेरे मतसे उसका वह रूप-दर्शन शुद्ध भोग है अथवा प्रवृत्ति-धर्मका अङ्ग है । अवश्य ही इसका क्रमिक विकास है, इस बातको मैं स्वीकार करता हूँ । परन्तु जिस रूपके दर्शनसे रूप-दर्शनकी लालसा तृप्त नहीं होती, उस रूपको चाहे भगवद्रूप ही क्यों न बतलाया जाय, यथार्थमें वह शुद्ध भोग नहीं माना जा सकता । वह सांसारिक रूप-दर्शनका ही एक प्रकारभेदमात्र है । एकाग्र-भूमिपर आरोहण करके उसे वशमें कर लेनेपर जैसे निरोध अपने आप ही वशमें हो जाता है, वैसे ही रूप-रसादिका शुद्ध भागवती शक्तिके रूपमें सम्भोग कर लेनेपर फिर कोई भी वैषयिक भोग उसे बाँध नहीं सकते ।

जिज्ञासु—अब इस समय प्रवृत्ति-धर्मके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं पूछना है । इस सम्बन्धमें मैंने जो कुछ समझा है, मेरा वह समझना ठीक है या नहीं इस विषयमें फिर कभी आपसे बातें करूँगा । सम्प्रति, मैं निवृत्ति-धर्मके सम्बन्धमें कुछ जानना चाहता हूँ । निवृत्ति-धर्म क्या है ? उसका स्वरूप क्या है, साधन क्या है और निवृत्ति-धर्मका पूर्ण आदर्श किसप्रकारका है ?

वक्ता—प्रवृत्ति-धर्मके सम्बन्धमें जो कुछ आलोचना हुई है, उससे निवृत्ति-धर्मको हृदयङ्गम करनेका मार्ग बहुत कुछ साफ हो गया है । प्रवृत्ति-धर्मका आचरण किये बिना निवृत्ति-धर्मका अनुष्ठान स्वाभाविकरूपसे नहीं हो सकता । आत्माकी यावतीय शक्तियोंकी पूर्ण तृप्ति अथवा परमानन्दकी प्राप्ति—यह प्रवृत्ति-धर्मकी पराकाष्ठा है । अतः ये पूर्णताको प्राप्त हुई शक्तियाँ तृप्त होकर नित्य अनन्त शिवभावके साथ एकाकार हो जाती हैं, तभी निवृत्तिका आविर्भाव होता है । प्रवृत्तिकी पूर्णतामें भोगशक्ति और भोग्यवस्तु दोनों ही विशुद्ध होकर पूर्णरूपसे प्रकाशित होती हैं । परन्तु निवृत्तिमें यह शक्ति और भोग्य दोनों ही अव्यक्त हो जाते हैं । भोगकी पूर्णता सिद्ध होनेके कारण भोग अतिक्रान्त हो जाता है । सुतरां एक ओर भोगशक्ति तृप्त होकर शुद्ध दृक्-शक्तिके रूपमें परिणत हो जाती है और दूसरी ओर भोग्य वस्तु शुद्ध होकर केवल सत्त्वरूपमें स्थित हो जाती है । इस अवस्थाका पूर्ण विकास होते ही निवृत्ति-साधनाका अवसान हो जाता है । प्रवृत्ति-धर्मके अन्तमें विशुद्ध परमानन्द जागृत रहता है । इस परमा-नन्दमें भोक्ता, भोग्य और भोग तीनों ही शुद्ध हैं । इस प्रकार निवृत्ति-धर्मका अवसान होनेपर आनन्दका आस्वा-दन भी अतिक्रान्त हो जाता है । अर्थात् आनन्द पूर्ण हो जानेपर उसकी उपलब्धि नहीं होती, अथवा भोग नहीं होता । यही विशुद्ध चैतन्य-अवस्था है । इस अवस्थामें द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि तीनों अभिन्नरूप रहते हैं ।

जिज्ञासु—तब तो निवृत्ति-धर्म स्वाभाविक धर्म है,—उसके लिये कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती । भूखेका पेट भरनेपर उसमें जैसे अन्नसंग्रहकी चेष्टा नहीं रहती, वह आप्तकाम होकर निश्चेष्ट हो जाता है, वैसे ही प्रवृत्ति-धर्मके पूर्ण होनेपर आप्तकाम-भावका आविर्भाव हो जानेके कारण निवृत्ति अपने आप ही उदय हो जाता है । अतएव निवृत्ति-धर्म की साधना नहीं है । जो स्वाभाविक है, वह तो स्वाभाविक नियमसे आप ही होता है, उसके लिये चेष्टाकी आवश्य-कता नहीं होती । वरं चेष्टा तो स्वाभाविक प्रवाहमें प्रति-बन्धक होती है ।

वक्ता—निवृत्ति-धर्म जैसे स्वाभाविक है, ठीक वैसे ही प्रवृत्ति-धर्म भी स्वाभाविक ही है। तुमको अबतक जो कुछ कहा गया है उसे भलीभाँति समझ लेनेपर यह बात धारणामें आ जायगी कि प्रवृत्ति-धर्मका अनुष्ठान भी किसी कृत्रिम उपायसे नहीं हो सकता। अभिप्राय यह कि, जबतक पुरुष अपने पुरुषकारको त्यागकर, अभिमान छोड़कर प्रकृतिका आश्रय ग्रहण नहीं करता, तबतक प्रवृत्ति या निवृत्ति किसी भी प्राकृतिक या स्वाभाविक धर्मका अनुष्ठान नहीं होता। यौवनमें जैसे भोग स्वाभाविक है, वैसे ही बुढ़ापेमें त्याग भी स्वाभाविक है। भोगके मूलमें त्याग न रहनेसे जैसे वह भोग धर्मरूपमें परिणत होनेके योग्य नहीं है, इसी प्रकार त्यागके मूलमें भोग न रहनेसे वह त्याग भी धर्मपद-वाच्य नहीं हो सकता। स्वाभाविक या प्रकृतिगत धर्ममें भोग और त्याग स्वभावके नियमसे यथासमय अपने आप आ जाते हैं। किसीके लिये चेष्टा नहीं करनी पड़ती। धर्मका जो नित्य आदर्श है, अर्थात् जो यथार्थ सनातन-धर्म है, उसमें अहंकारमूलक कृत्रिम साधना कुछ भी नहीं रहती। प्रवृत्ति-साधनके प्रारम्भिक बिन्दुसे लेकर निवृत्ति-साधनके अन्तिम बिन्दुपर्यन्त समस्त साधनचक्र प्राकृतिक या सनातन-साधन है। देश, काल अथवा सांसारिक विचित्रताके कारण इस नित्य साधनके आदर्शमें किसी प्रकार भी परिवर्तन नहीं होता।

जिज्ञासु—आपने प्रवृत्ति और निवृत्ति-धर्मका जो स्वरूप बतलाया, यही सनातन-धर्मका रहस्य प्रतीत होता है। परन्तु जगत्‌में जितने ऐतिहासिक धर्म हैं—यहाँतक कि, सनातन-धर्मके नामसे जो व्यावहारिक धर्म प्रचलित हैं, उनमेंसे कोई-सा भी बहिरङ्गरूपसे आपके द्वारा वर्णन किये हुए प्रवृत्ति-धर्मके अन्तर्गत नहीं जान पड़ता। तब, हमलोग जगत्‌में जिसे प्रवृत्ति या निवृत्ति-धर्म मानते हैं, वह क्या वस्तुतः कुछ भी नहीं है?

वक्ता—कुछ भी नहीं है, यह किसने कहा? जो स्वाभाविक है, वही सनातन है। जो पुरुषकार-मूलक है, वह सनातन नहीं हो सकता। तुम जिसे प्रवृत्ति या निवृत्ति कहते हो अर्थात् तुम्हारे शास्त्रमें जिसे धर्म-पथ और मोक्ष-मार्ग बतलाया गया है, वह एक प्रकारसे पौरुष-धर्म है। क्योंकि निजमें कर्ता हुए बिना उस धर्मका अनुष्ठान नहीं हो सकता। मैं जिस धर्मकी बात कह रहा हूँ, वह पौरुष-धर्म नहीं है, अर्थात् वह कृत्रिम धर्म नहीं है—निजमें कर्ता बनकर उसका अनुष्ठान नहीं करना पड़ता, वस्तुतः उसका कोई भी अनुष्ठाता नहीं है—हृदयमें भावका विकास होनेपर वह अपने आप ही प्रकट होता है और वह स्रोत अपने आप ही बहता रहता है। जीव जबतक आत्म-समर्पणपूर्वक अर्थात् व्यावहारिक समस्त धर्मोंका त्याग करके एकमात्र प्रकृतिकी शरण नहीं लेता, तबतक प्रकृतिके धर्मका विकास नहीं होता। उसे धर्म-मन्दिरके बाहर ही पड़े रहना पड़ता है।

वत्स! अभिमान रहते धर्मकी योजना नहीं होती। अभिमानशील जीव नित्य प्रवृत्ति-धर्मका भी आचरण करनेमें असमर्थ होता है। जैसे शुक्लपक्षका चन्द्रमा एक-एक कला बढ़ता हुआ पूर्णिमाके दिन पूर्ण-भावको प्राप्त हो जाता है और फिर कृष्णपक्षमें उसकी वे सारी कलाएँ क्रमशः क्षीण होते-होते अन्तमें वह सर्वथा कला-हीन अवस्थाको प्राप्त होता है, इसी प्रकार जीव नित्य प्रवृत्ति-पथपर स्थित होकर स्वभावके आकर्षणसे सर्व-शक्तिसम्पन्न और परमानन्दकी अवस्थाको आप ही प्राप्त हो जाता है, एवं तदनन्तर क्रमशः उसकी परिपूर्ण सर्वशक्ति उपसंहृत होनेपर उसका आत्म-समर्पण पूर्णता-को प्राप्त करता है। इस शुक्लपक्षके आदर्शके अनुसार ही सामाजिक जीवनमें गार्हस्थ्य-धर्मका विकास होता है और कृष्णपक्षका आदर्श ही संन्यास-धर्मका मूल है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अब हम पूर्णबिन्दु और शून्यबिन्दु—बिन्दुकी इन दोनों अवस्थाओंको समझ सके हैं। इन दोनों बिन्दुओंके समरस होनेपर प्रवृत्ति-धर्म और निवृत्ति-धर्म एकाकार हो जाते हैं, तब परमधर्मका उदय होता है। इस परम-धर्मका रहस्य एकमात्र परमेश्वरके अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। उन्हींकी कृपासे कोई-कोई भाग्यवान् जीव चकितकी भाँति उसका आभासमात्र पाते हैं; तुमने तो बौद्ध-धर्मकी आलोचना की है। इससे तुम यह जानते ही हो कि नागार्जुनादि महापुरुषोंने संसार और निर्वाणको इशारेसे एकरस और अद्वय ही बतलाया है। यही परम-धर्मका आभासमात्र है। कारण, प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप विरुद्ध स्रोतोंमें यहाँ समन्वय हो गया है।

जिज्ञासु—इस परमधर्मकी बात अभी रहने दीजिये। क्योंकि यह अत्यन्त ही गम्भीर और दुर्दर्श है। अभी तो निवृत्ति-धर्मके सम्बन्धमें ही कुछ बातें पूछनी हैं। प्रवृत्ति-

धर्मके चक्रमें प्रवेश करनेके लिये जैसे एक अधिकार-सम्पत्तिकी आवश्यकता है, वैसे ही क्या प्रवृत्ति-धर्मकी पूर्णता होनेपर, निवृत्तिकी ओर चलनेके लिये भी किसी प्रारम्भिक योग्यताकी आवश्यकता है ?

वक्ता–नहीं, इसमें पृथक् योग्यताकी कोई आवश्यकता नहीं है। प्रवृत्तिकी पूर्णता होते ही निवृत्ति-पथपर चलनेकी योग्यता हो गयी, यह समझ लेना चाहिये । परन्तु कोई साधक स्वाधीनरूपसे इस पौर्णमासीके अन्दर ही रह सकते हैं, उधर, कोई इच्छा होनेपर कृष्णपक्षमें प्रवेश करके सारे चक्रको समेट ले सकते हैं । परन्तु एक बात है, प्रवृत्ति-गति और निवृत्ति-गति एक ही चक्राकार गतिके अन्तर्गत होनेपर भी दोनोंमें विरोध है। गतिके निरुद्ध न होनेपर, यह विरोध आप ही समताको प्राप्त हो जाता है ।

जिज्ञासु–हमलोग जगत्‌में जिसको प्रवृत्ति और निवृत्ति कहते हैं, वह तो आपके द्वारा वर्णित प्रवृत्ति और निवृत्ति-धर्मसे पृथक् ही प्रतीत होती हैं । इन दोनोंमें क्या पार्थक्य है, जिसके लिये आप इस जागतिक प्रवृत्ति-निवृत्तिको धर्मके नित्य आदर्शके अन्तर्गत नहीं मानते ?

वक्ता–जगत्‌में जिसको प्रवृत्ति और निवृत्ति कहते हैं, उसे एक प्रकारसे कृत्रिम और पौरुष-धर्म कहा जा सकता है । अहङ्कारकी प्रेरणासे अथवा 'मैं करता हूँ' इस बोध-को रखते हुए, जो कुछ भी किया जाता है, वह सभी पुरुषकारका ही प्रकार-भेद है । प्रकृतिके स्रोतमें पड़े बिना प्रकृति-धर्मका उदय ही नहीं हो सकता । प्रकृतिके स्रोतमें प्रवृत्ति और निवृत्तिका वास्तविक विरोध नहीं है; क्योंकि एकसे ही दूसरीका आविर्भाव होता है । जैसे बालक युवक होता है और युवक ही वृद्धरूपमें परिणत होता है, वैसे ही प्रवृत्तिसे ही अपने आप निवृत्तिका उदय होता है । जैसे एक अखण्ड जीवन-प्रवाहमें बाल्य, यौवन और वार्द्धक्य सभीको स्थान है । वैसे ही नित्य स्वाभाविक धर्ममें प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रभृति सभीको स्थान है । इस धर्म-का कोई अनुष्ठाता नहीं है। इससे यह मुक्त धर्म है । परन्तु पुरुष जबतक अपनेको कर्ता मानकर अभिमान करता है और इस अभिमानके वश होकर सब कर्मोंका सम्पादन करता है, तबतक उसके वे सभी कर्म कृत्रिम हैं । जागतिक प्रवृत्ति कृत्रिम क्यों है, जरा विचार करनेसे ही यह बात समझमें आ जाती है । मनुष्य जो कुछ चाहता है, वह ठीक-ठीक उसको नहीं पाता और जो कुछ पाता भी है, वह भी ठीक-ठीक नहीं पाता। सुतरां जैसे उसका चाहना अपूर्ण है वैसे ही उसकी प्राप्ति भी अपूर्ण है । जैसे—चक्षु रूप देखनेके लिये व्याकुल है । परन्तु तुम यह निश्चय समझो कि, जीवके चक्षुकी यह व्याकुलता यथार्थ व्याकुलता नहीं है । यदि सचमुच आँखें रूपके लिये व्याकुल होतीं तो निश्चय ही वह रूपके दर्शनकर कृतार्थ हो जातीं । फिर यथार्थ रूप-दर्शन करनेकी उसकी शक्ति ही कितनी है ? वैसे किसी एक रूप या आलोकसामान्य सौन्दर्यकी आभा यदि कभी भाग्यवश उसके नेत्रोंके सामने आ जाती है तो उसके भोग करनेकी उसमें शक्ति ही नहीं रहती । अतएव जागतिक दृष्टिसे देखा जानेपर भी यह स्पष्ट समझमें आता है कि सांसारिक जीव ठीक-ठीक भोग करनेमें भी समर्थ नहीं होता । संसारी जीव किसी प्रकारके भोगका अधिकारी नहीं है । जब उसका भोग ही तृप्त नहीं होता, कल्प-कल्पान्तरतक काम्य-वस्तुओंका उपभोग करनेपर भी जब उसकी कामना तृप्त नहीं हो सकती, तब उसके लिये निवृत्तिका आश्रय ग्रहण करना कैसे सम्भव हो सकता है! कारण, तुमसे यह पहले ही कहा जा चुका है कि आकांक्षा अतृप्त रहते शान्ति या निवृत्तिके मार्गपर चलनेकी सम्भावना नहीं है । संयम आदिका जो आचरण किया जाता है, वह निवृत्ति-धर्मकी साधना नहीं है, वह तो चित्त-शुद्धिके लिये किये जानेवाले आवश्यक उपायमात्र हैं । याद रखना चाहिये कि अशुद्ध-चित्त जीव नित्य धर्ममें प्रविष्ट नहीं हो सकता—चित्त-शुद्धि हुए बिना प्रकृतिके स्रोतमें पड़नेकी सम्भावना नहीं रहती । इसीलिये प्रवृत्ति-धर्म किंवा निवृत्ति-धर्ममें कोई अधिकार नहीं होता।

यह जो नित्य प्रवृत्ति-निवृत्ति-धर्मकी बातें तुमसे कहीं, यही यथार्थ उपासना है। ज्ञानका उन्मेष होनेपर ही इसका आरम्भ होता है । और इसके अवसानके साथ-ही-साथ ज्ञानकी पूर्णता सिद्ध होती है ।

जिज्ञासु–आपकी बातोंसे यह समझमें आता है कि, जागतिक प्रवृत्ति-निवृत्ति अहङ्कारमूलक कर्मोंका ही प्रकार-भेद है । वस्तुतः इसे प्रवृत्ति या निवृत्ति कहना उचित नहीं है । कारण, कर्मके मूलमें अहङ्कार होता है और उपासनाके मूलमें स्वभाव रहता है—इसलिये इन दोनोंमें यथेष्ट भेद है ।

वक्ता–तुमने यह ठीक कहा है । आज इसलोगोंने धर्म-रहस्यके एक अङ्गकी कुछ आलोचना की । अब तुम्हें और जो कुछ पूछना हो सो पूछ सकते हो ! (क्रमशः)

पूर्ण समर्पण

वास्तविक पूर्ण समर्पण करना नहीं पड़ता, अपने आप हो जाता है। जबतक कोई समर्पण करनेवाला धर्मी कर्ता रहता है, तबतक अहङ्कार शेष है और तबतक पूर्ण समर्पणमें कमी है। एक ऐसी स्थिति होती है, जब कि, देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अहङ्कार इन सबके समष्टि-यन्त्रपर प्रभु अपना कब्ज़ा कर लेते हैं—वह यन्त्र प्रभुका स्वच्छन्द क्रीड़ा-स्थल या लीला-भूमि वृन्दावन बन जाता है। इस अवस्थामें उसमें कोई भिन्न कर्त्ता नहीं रह जाता। प्रभु उस यन्त्रसे अपनी इच्छानुसार मनमाना कार्य लेते हैं—लेते नहीं, उस यन्त्रमें निरङ्कुश लीला करते हैं। जैसे लावारिस सम्पत्तिपर सरकारका अधिकार हो जाता है, इसी प्रकार उस लावारिस यन्त्रपर प्रभुका अधिकार स्वाभाविक ही हो जाता है। अहङ्कारका एक क्षुद्र कण भी जबतक शेष रहता है, तबतक यन्त्रको यह लावारिसपना प्राप्त नहीं होता। और ऐसा हुए बिना प्रभु उसपर अधिकार नहीं जमाते। स्थूल देहसे लेकर अहङ्कार-तक जब सारी वस्तुएँ कर्माकर्मरूप सञ्चित सम्पत्ति-सहित किसीकी अपनी चीज़ नहीं रह जातीं, तब उन सबपर प्रभु स्वयं आ विराजते हैं। फिर प्रभुको बुलाना नहीं पड़ता। न यही कहना पड़ता है कि नाथ! हमें शरण दीजिये। क्योंकि कहनेवाला कोई वहाँपर प्रकटरूपसे रह ही नहीं जाता। जैसे चुम्बक शुद्ध लोहेको खींच लेता है, इसी प्रकार वह यन्त्र स्वयमेव ही परमात्माके द्वारा खिंचा जाकर उनका परम और चरम आश्रय पा जाता है अथवा प्रभु स्वयं उसके सहज़ अकर्तृक आकर्षणसे खिंचकर उसमें आ विराजते हैं और उसके प्रत्येक अवयवमें अपना कार्य करने लगते हैं। इसीसे यह पूर्ण समर्पण करना नहीं पड़ता, हो जाता है।

इस स्थितिपर पहुँचनेके लिये पहले शरणागतिका साधन करना पड़ता है, जिससे आधार-यन्त्रकी परम शुद्धि होकर वह प्रभुकी स्वच्छन्द लीला-भूमि बननेकी योग्यता प्राप्त करता है। इस शरणागतिके साधनमें अनेक भाव हैं, जिनमें नीचे लिखे पन्द्रह मुख्य हैं—

१—नित्य-निरन्तर प्रभुका अनन्य भजन होना।

२—प्रभुको ही अखिल विश्वरूपसे प्रकट समझना।

३—कर्ममात्रमें प्रभुकी प्रेरणा और शक्तिका कार्य देखना।

४—प्रभुको ही सबसे बढ़कर एकमात्र परम प्रियतम समझना।

५—प्रभुपर पूर्ण विश्वास होना।

६—सर्वथा-सर्वदा प्रभुके अनुकूल कार्य करना।

७—सब कुछ प्रभुका समझना और प्रभुसे कभी कुछ भी न चाहना।

८—प्रभुके प्रत्येक विधानमें परम प्रसन्न होना और अनुकूलताका अनुभव करना।

९—प्रभुको ही अपना परम स्नेही पिता, परम वत्सलतामयी माता, परम हितैषी बन्धु, परम सुहृद् सखा, परम कृपालु स्वामी, परम सहायक धन, परम उत्तम गति और परम प्रकाशकारी विद्या समझना। एवं कृतज्ञता-पूर्ण हृदयसे सदा उनके नाम-गुणका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना।

१०—प्रत्येक शुभ कर्ममें प्रभुको प्रेरक और सञ्चालक समझना।

११–प्रभुके प्रतिकूल कोई भी कार्य न करना और प्रत्येक प्रतिकूल वस्तुसे उदासीन रहना, चाहे वह लौकिक दृष्टिसे कितनी ही आवश्यक, उच्च या प्रियतर हो ।

१२–प्रभुके यथार्थ शरण-प्राप्त या शरणका मर्म समझनेवाले पुरुषोंका सङ्ग करना ।

१३–अपनेको प्रभुका सेवक समझना ।

१४–प्रत्येक पाप-कार्यमें अपनेको कर्त्ता मानना ।

१५–अन्तःकरणके विशुद्ध होकर प्रभुके प्रति लगनेके लिये आर्तभावसे प्रभु-प्रार्थना करना ।

इनमें कुछ साधारण स्थितिके भाव हैं और कुछ शरणके साधनकी बहुत ऊँची स्थितिके । परन्तु जबतक वे उच्च भाव स्वाभाविक लक्षणरूप न होकर करनेकी वस्तु रहते हैं तबतक वे साधन ही हैं । इन साधनोंके पूर्ण होनेपर आधार परम शुद्ध होकर सर्वथा प्रभुका निवास या क्रीड़ाक्षेत्र बनने योग्य हो जाता है, तदनन्तर तुरन्त ही भगवान् उसमें आ विराजते हैं । बस, वही पूर्ण समर्पण है ।

अब उपर्युक्त पन्द्रह साधनोंपर संक्षेपमें क्रमशः कुछ विचार करना है —

१–नित्य-निरन्तर प्रभुका अनन्य भजन होना, शरणागतिका सर्वप्रधान भाव है । किसी फलके लिये, प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये या आत्म-सुखके लिये साधक जो भजन करता है वह इससे नीचा भाव है । इस भावमें कोई भजन करता नहीं, भजन होता है । क्यों होता है ? इसीलिये कि वह ऐसा करनेको बाध्य है । जैसे जीवन-धारणके लिये श्वास लेना अनिवार्य और स्वाभाविक है, वैसे ही उसके लिये भजन करना अनिवार्य और स्वाभाविक है । सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते–प्रत्येक क्रिया करते श्वासोच्छ्वासकी भाँति भजन होता ही रहता है । कभी उस भजनसे विराम नहीं होता । यदि किसी कारणसे कदाचित् क्षणभरको हो जाता है तो उस समय दम घुटनेपर जैसी व्याकुलता होती है, उससे कहीं अधिक व्याकुलता होती है । इसी भावका वर्णन करते हुए देवर्षि नारदजीने '*तद्विस्मरणे परमव्याकुलता*' कहा है । इस प्रकार यह भजन नित्य और निरन्तर तो होता ही है, साथ ही इसमें चित्तकी अनन्यता भी सदा समानरूपसे वर्तमान रहती है; प्रभुके सिवा दूसरेके अस्तित्वकी कल्पना भी कभी चित्तमें नहीं आ पाती । इतनी गुंजाइश ही नहीं रहती कि चित्तवृत्ति क्षणभरके लिये किसी अन्यकी सत्ता देख सके । इस भावके प्राप्त होनेपर पूर्ण समर्पण होते देर नहीं लगती । श्रीभगवान् अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जिसका चित्त अनन्य है (केवल मुझमें ही लगा है) ऐसा पुरुष नित्य-निरन्तर मुझको ही स्मरण करता रहता है । और उस नित्य मुझमें लगे हुए योगीको मेरी प्राप्ति सुलभ है । यों अनन्य भजन करनेवाला किसी भी लोभसे आधे क्षणके लिये भी भजन नहीं छोड़ता । भागवतमें कहा है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥
(११ । २ । ५३)

'देवतागण निरन्तर ध्यानयुक्त होकर खोज करते हुए भी जिन भगवत्-पदारविन्दोंको प्राप्त नहीं कर सकते, त्रिलोकीका सम्पूर्ण वैभव मिलनेपर भी जो आधे क्षण और आधे पलके लिये भी उन चरणोंका चिन्तन नहीं छोड़ता, वही मुख्य भगवद्भक्त है ।'

भगवान्‌के अनन्य भजन करनेवाले भक्त ऐसे ही हुआ करते हैं।

२–समस्त संसार प्रभुसे उत्पन्न हुआ है, प्रभुमें निवास करता है और प्रभुमें ही विलीन हो जायगा। यह उत्पत्ति, स्थिति और विनाश भी वस्तुतः प्रभुकी लीला है। एकमात्र प्रभु ही हमलोगोंकी विकृत-दृष्टिमें भिन्न-भिन्न रूपोंसे भास रहे हैं। स्वयं भगवान् कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
(गीता ७। ७)

'हे अर्जुन! मेरे अतिरिक्त दूसरी वस्तु किञ्चित् भी नहीं है, यह सम्पूर्ण संसार सूतमें सूतके मणियोंकी भाँति मुझमें गुँथा है।' आगे चलकर आप कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
(गीता ९। ४-५)

यह समस्त जगत् मुझ अव्यक्त-मूर्ति (सच्चिदानन्दघन परमात्मा) से परिपूर्ण है और ये समस्त चराचर भूत मुझमें स्थित हैं। मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। और वे भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं। (यह सारा मेरे योगैश्वर्यका—मेरी अघटनघटनापटीयसी माया-शक्तिका परिणाम है) तू मेरे इस योग और ऐश्वर अर्थात् माया और प्रभावको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और उन्हें उत्पन्न करनेवाला भी मैं वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं हूँ।

इस पहेलीका अर्थ यही है कि एक प्रभु ही जलसे बर्फकी भाँति जगत्‌में परिपूर्ण हैं—जगत् मानो बर्फ है और प्रभु जल हैं। यह समस्त जगत् प्रभुके संकल्पसे उत्पन्न और संकल्पके आधारसे ही प्रभुमें स्थित है। कोई वस्तु भिन्न हो तो उसमें किसीके पूर्ण या व्यापक होनेका प्रश्न उठे, इसलिये प्रभु किसीमें हैं भी नहीं। और इसी प्रकार अन्य वस्तुका सर्वथा अभाव होनेसे वे वस्तुएँ भी प्रभुमें नहीं हैं। यह तो प्रभुकी लीला है जो न होनेपर भी अनेक प्रकारके दृश्य दिखलाती और नानात्वकी रचना करके सबको परस्पर मोहित करती है। वस्तुतः एक प्रभु-ही-प्रभु हैं।

इस भावके हुए बिना नित्य-निरन्तर अनन्य भजन नहीं हो पाता। इसी भावमें डूबकर भक्त चराचरमें परमात्माके दर्शन कर—भगवान्‌के कथनानुसार '*वासुदेवः सर्वमिति*' का अनुभवकर रागद्वेष छोड़कर सबको प्रणाम करता है। गोसाईंजी इसी परम पुनीत भावमें निमग्न होकर कहते हैं—

सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि युगपानी॥

फिर आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी सबमें केवल एक वही दीखता है। कोई कहने-सुननेवाला पृथक् रह ही नहीं जाता।

जिनके दृग हरि-रँग रँगे, हिय हरि रहे समाय।
नभ-जल-अवनि-अनिल-अनल, सबमें श्याम दिखाय॥
कहि न जाय मुखसौं कछू, श्यामप्रेमकी बात।
नभ-जल-थल-चर-अचर सब, श्यामहिं श्याम लखात॥
ब्रह्म नहीं, माया नहीं, नहीं जीव, नहिं काल।
अपनीहू सुधि ना रही, रह्यो एक नँदलाल॥
को, कासौं, केहि विधि, कहा, कहै हृदैकी बात।
हरि हेरत हिय हरि गयो, हरि सर्वत्र लखात॥

३—भगवान्‌की दो प्रकृति हैं—एक जड अपरा प्रकृति और दूसरी चेतन जीवरूप परा प्रकृति। इन्हीं दोनों प्रकृतियोंसे जगत् उत्पन्न होता है। भगवान् इन दोनोंमें अनुस्यूत हैं। वे ही जलके रस, चन्द्र-सूर्यके प्रकाश, आकाशके शब्द, पृथ्वीके गन्ध, अग्निके प्रकाश, वायुकी धारणशक्ति, जीवनके जीवन, पुरुषोंके पुरुषत्व,

बुद्धिमानोंकी बुद्धि, तेजस्वियोंके तेज और मनस्वियोंके मन हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाले समस्त भावोंका उदय उन भगवान्‌से ही होता है। त्रिगुण-भावोंसे मोहित मनुष्य समस्त भावोंके मूलाधार, गुणोंसे परे अविनाशी नित्य अव्यय भावरूप परमात्माको नहीं जानते। वस्तुतः वही अन्तर्विहारी प्रभु शरीररूप यन्त्रपर आरूढ़ हुए समस्त प्राणियोंको उनके कर्मानुसार अपनी मायासे घुमाया करते हैं। पेड़का एक पत्ता भी उनकी प्रेरणा और शक्ति बिना नहीं हिल सकता। अग्नि और वायु उन्हींकी शक्तिसे वस्तुमात्रको जलाते और उड़ाते हैं। उनकी प्रेरणा और शक्ति ही सबके जीवन, क्रिया और स्थितिका आधार हैं। मनुष्य भ्रमसे अपनेको कर्ता मानकर बँधता है और जहाँतक यह कर्तापनका भाव है वहींतक उसकी अपने स्वल्प सीमाबद्ध जीव-भावके सुख-दुःखके हेतुरूप कर्मोंमें आसक्ति है, इन्द्रियाराम पुरुषोंकी यह आसक्ति ही उनके द्वारा दुष्कर्म होनेमें कारण बनती है। जो पुरुष वस्तुतः इस तत्त्वको समझ लेता है कि मैं कुछ भी नहीं करता, इस देहयन्त्रके द्वारा जो कुछ होता है, सो प्रभुकी प्रेरणा और शक्तिसे ही होता है, वह कभी दुष्कर्म—विकर्म नहीं कर सकता। उसके द्वारा होनेवाला प्रत्येक कार्य प्रभुप्रेरित होनेसे स्वाभाविक ही प्रभुके अनुकूल, सर्वथा शुद्ध और सहज लोकहितकर होता है। यों तो वस्तुतः सभी स्थितियोंमें—शुभाशुभ चेष्टामात्रमें ही प्रभुकी प्रेरणा और शक्ति ही खेला करती है। महाभारतके भयानक युद्धमें प्रत्यक्षदर्शीने देखा था कि वहाँ केवल भगवान्‌का चक्र चल रहा था और शक्तिरूपा द्रौपदी खप्पर भर रही थी। परन्तु विषयासक्त पुरुषकी बुद्धि अज्ञानावृत होनेके कारण ऐसा न मानकर अपने अहंकारसे कर्तापनका आरोप करती रहती है, कर्तृत्वभावसे किये हुए कर्म—(जबतक प्रभुके निमित्त निष्काम भावसे नहीं होते) फलोत्पादक होनेके कारण बन्धनकारक होते ही हैं। जब मनुष्य केवल 'रघुनाथ गुसाईंको ही उरप्रेरक' समझकर सर्वभावसे उनके शरण हो जाता है, तब उसे शीघ्र ही परम शान्ति मिल जाती है। श्रीभगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८। ६२)

'हे अर्जुन! तू सर्वभावसे उस अन्तर्विहारी, प्रेरक परमेश्वरकी शरण हो जा। उस परमात्माके प्रसादसे परम शान्ति और सनातन धामको प्राप्त हो जायगा।'

इस भावकी प्राप्तिसे प्रभु-शरण होनेमें बड़ी सहायता मिलती है। यह भी शरणागतिके साधनोंमें एक प्रधान साधन है।

४—प्रियतम अनेक नहीं हो सकते। वह एक ही होता है। जगत्‌के समस्त प्रिय और प्रियतर पदार्थ परम प्रियतमके चरणोंपर सहज ही न्योछावर कर दिये जाते हैं। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं होती जो प्रियतमकी प्रतिद्वन्द्विता कर सके। जबतक हृदयमें प्रियतमका कोई प्रतिद्वन्द्वी भाव रहता है, तबतक वास्तविक प्रियतमभावकी स्थापना ही नहीं हुई। प्रियतम-भावके प्राप्त हो जानेपर उसके सामने सभी पदार्थ तुच्छ और नगण्य प्रतीत होने लगते हैं। देवर्षि नारदने इस प्रियतमभावके उपासकोंमें भाग्यवती श्रीकृष्णप्रिया व्रजगोपियोंका उदाहरण दिया है *'यथा व्रजगोपिकानाम्।'* गोपियाँ भगवान्‌से कहती हैं—

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥
कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्म-
न्नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।

तन्नः प्रसीद परमेश्वर मास्म छिन्द्या
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । ३२-३३)

'हे प्रियतम ! आप धर्मज्ञ हैं । आपने जो कहा कि पति, सन्तान और सुहृदोंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका स्वधर्म है सो हम मानती हैं । आपके इसी उपदेशके अनुसार उपदेशदाता आप ईश्वरकी सेवासे ही सबकी सेवा सिद्ध हो जायगी, क्योंकि आप समस्त शरीरधारियोंके प्रिय, बन्धु और आत्मा हैं । प्रियतम ! बुद्धिमान् लोग आपपर ही प्रेम करते हैं क्योंकि आप नित्य प्रिय आत्मा हैं (वास्तवमें आत्मा ही तो प्रियतम है, आत्माके बिना) पति, पुत्रादि क्या सुख दे सकते हैं ? वे तो सब दुःख देनेवाले ही हैं । अतएव हे परमेश्वर ! हमपर प्रसन्न होइये और हमारी बहुत दिनों-की आशाको नष्ट न कीजिये ।'

आत्मासे बढ़कर कोई भी प्रिय नहीं है । जगत्‌में भिन्न भिन्न वस्तुओंसे—सम्बन्धियोंसे मनुष्य जो प्रेम करता है सो आत्मसुखके लिये ही करता है । परमात्मा उस आत्माके भी आत्मा हैं, मूलस्वरूप हैं, इसलिये उनसे बढ़कर प्रियतम दूसरा कोई हो ही नहीं सकता । इसीलिये गोपियाँ कहती हैं—

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदामृतवेणुगीतं
संमोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥
व्यक्तं भवान्व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता ।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो !
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । ४०-४१)

'हे प्रियतम ! त्रिलोकीमें ऐसी कौन स्त्री (प्रकृति-की मूर्ति) है जो आप (परम पुरुष)के अमृतमय पदोंसे युक्त बाँसुरी-गानको सुनकर और आपके त्रिलोकमोहन स्वरूपको देखकर मोहित न हो जाय और उसका मन अपने धर्म (अज्ञानमय कर्म) से न डिग जाय ? आपके इस त्रिलोकसुन्दर रूपको देखकर और आपकी मुरली-धुनि सुनकर पक्षी, पशु, मृग, गौ और वृक्ष भी आनन्दसे पुलकित हो जाते हैं । जैसे आदिपुरुष नारायण देवोंकी रक्षा करते हैं वैसे ही आप व्रजवासियोंकी आर्ति (जागतिक त्रिताप) हरनेके लिये प्रकट हुए हैं, यह निश्चय है । हे बन्धो ! इसलिये आप हम सेविकाओंके तप्त हृदयपर और अवनत मस्तकोंपर अपना (अभयद) करकमल रखिये ।'

इसप्रकार जो भुक्ति-मुक्ति, अनुरक्ति-विरक्ति, सबसे मुँह मोड़कर—सबसे नाता तोड़कर अपने सारे दिलको एकमात्र प्यारेका रंगमहल बना सकता है, जहाँ उस परम प्रियतमके सिवा दूसरेको प्रवेशका ही अधिकार नहीं । यदि कोई प्रवेश करना ही चाहे तो प्रियतमकी पूजा-सामग्री बनकर—प्रियतमका पुजारी बनकर, गोपी बनकर—प्रवेश कर सकता है, अन्यथा सबके लिये सदाको उसके हृदयके द्वार बन्द हो जाते हैं, वही प्रियतम-भावको प्राप्त हो सकता है ।

गोपियाँ उद्धवसे कहती हैं—

नाहिन रह्यो हियमें ठौर ।
नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और ॥
चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात ।
हृदयतें वह स्याममूरति छिन न इत उत जात ॥
……………………………………
(सूरदासजी)

कविवर रत्नाकरजीने गोपियोंके अति सुन्दर भावका वर्णन किया है—

सरग न चाहैं, अपबरग न चाहैं सुनौ
भुक्ति-मुक्ति दोऊ सौं विरक्ति उर आनैं हम ।
कहै रतनाकर तिहारे जोग-रोगमाहिं
तन मन साँसनिकी साँसति प्रमानैं हम ॥
एक ब्रजचन्द कृपा-मन्द-मुसकानिहींमैं
लोक परलोककौ अनंद जिय जानैं हम ।

जाके या वियोग-दुखहूमैं सुख ऐसो कछू
जाहि पाइ ब्रह्म-सुखहूमैं दुख मानैं हम॥

फिर उसके लिये, प्राणाधार परम प्रियतम साँवरे-के सिवा जगत्‌में और कोई रह ही नहीं जाता।

रहीमने कहा है—

प्रीतम छबि नैननि बसी, परछबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आपु फिरि जाय॥

यह बड़ी ऊँची उपासना है। यहाँ केवल इस दृश्य जगत्‌से ही वैराग्य नहीं है, प्रियतमके सिवा किसी भी पदार्थमें राग रह ही नहीं जाता। अपनेको ही परम प्रियतम माननेवाले ऐसे प्रियतम भक्तोंका गुणगान करते हुए स्वयं भगवान् गोपीभावको प्राप्त अपने भक्त उद्धवसे कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च संकर्षणो न श्रीनवात्मा च यथा भवान्॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। १४-१६)

'जिसने अपना आत्मा मुझमें अर्पण कर दिया है, वह मुझको छोड़कर ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, पातालका राज्य, योगकी आठों सिद्धियाँ, अधिक क्या पुनर्जन्म मिटा देनेवाला सायुज्य-मोक्ष भी नहीं चाहता। हे उद्धव! (मुझको ही एकमात्र परम प्रियतम माननेवाले ऐसे परमानुरागी) तुम भक्त लोग मुझे जैसे प्यारे हो, वैसे प्यारे मुझे ब्रह्मा, शंकर, बलभद्र, लक्ष्मी और अपना आत्मा भी नहीं है। ऐसे निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर, समदर्शी भक्तोंकी चरणधूलिसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं सदा ही उनके पीछे-पीछे फिरा करता हूँ।' गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

जिन्हहिं राम तुम प्रान पियारे। तिन्हके मन शुभसदन तुम्हारे॥

(शेष आगे) हनुमानप्रसाद पोद्दार

संसारकी असारता

पृथु नल जनक जजाति मानधाता ऐसे,
केते भये भूप जस छितिपर छाइगे।
काल-चक्र परे सक्र सैकरन होत जात,
कहाँलौं गनावौं विधि बासर बिताइगे॥
'बेनी' लाख संपाति समाज साज सेना कहाँ,
पाँयन पसारि हाथ खोले मुख बाइगे।
छुद्र छितिपालनकी गिनती गिनावैं कौन,
रावन-से बली तेऊ बुल्ला-से बिलाइगे॥

राम घनस्यामके न नामतें उचारैं कबौं,
काम-बस ह्वैकै बाम-गरे बाँह डाली है।
एक-एक स्वास ये अमोल कढ़े जात हाय,
लोल चित यहै ढोल फोरत उताली है॥
'ग्वाल' कवि कहै तू बिचारै बर्ष बढ़े मेरे,
एरे! घटै छिन-छिन आयुकी बहाली है।
जैसे धार दीखत फुहारेकी बढ़त आछे,
पाछे जल घटे हौज होत आवे खाली है॥

केते भये यादव सगर-सुत केते भये,
जात हू न जाने ज्यौं तरैया परभातकी।
बलि बेनु अंबरीष मानधाता प्रहलाद,
कहाँलौं गनावों कथा रावन ययातकी॥
तेऊ न बचन पाये काल कौतुकीके हाथ,
भाँति-भाँति सेना रची घने दुख घातकी।
चार-चार दिनाको चबाउ चाहै करै कोऊ,
अंत लुटि जैहैं जैसे पूतरी बरातकी॥

संपतिके बढ़ेसौं प्रतिष्ठा बाढ़ै बाढ़ै सोच,
कहै 'रघुनाथ' ताके राखिबेके रुखकी।
मन माँगे स्वादनि लपेटि पेट परयौ तासौं,
अंगमैं अपार संग प्रगटो कलुषकी॥
दारा सुत सखाको सनेह सो सँतापकारी,
भारी है बचन यह बड़नके मुखकी।
जगतको जितनो प्रपंच तितनो है दुख,
सुख इतनो जो सुख मानि लेनो दुखकी॥

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गताङ्कसे आगे)

[मणि १०]

पुत्रादि प्रिय पदार्थोंका जीवन

इन्द्र—हे भगवन् ! आपने कहा कि आत्मा ही प्रिय है, सो ठीक नहीं। यद्यपि आत्मामें मुख्य प्रियता है तो भी पुत्रादिमें गौण प्रियता सम्भव है, इसलिये पुत्रादि भी प्रिय हैं। फिर आत्मा ही प्रिय है, यह कहना किसप्रकार युक्त हो सकता है ?

दध्यङ—हे इन्द्र ! श्रुतिमें आत्माके सिवा सब पदार्थोंको नाशवान् कहा है। ऐसा विचार करनेपर पुत्रादिमें गौण प्रियता सम्भव नहीं है। जो पुरुष आत्माके सिवा शरीर, पुत्र तथा धनादिको प्रिय कहता है, उसके शरीर, पुत्र तथा धनादि पदाथ अवश्य नाशको प्राप्त होते हैं। भाव यह है कि पुत्रादि पदार्थ नाशवान् होनेके कारण उनका वियोग अवश्य होता है। कभी मनुष्यके जीवनकालमें ही पुत्रादि पदार्थोंका नाश हो जाता है और कभी उन पुत्रादि पदार्थोंके रहते-रहते ही मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है। इन दोनोंमेंसे किसी-न-किसी प्रकार पुरुषका पुत्रादि प्रिय पदार्थोंसे वियोग हो ही जाता है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको पुत्रादि पदार्थोंमें कभी प्रीति नहीं करनी चाहिये। बुद्धिमान्को नाशरहित परमात्मामें ही प्रीति करनी चाहिये, इसी प्रकार केवल आत्माको ही प्रिय जाननेवाले पुरुषको आत्मामें प्रीति रखनेवाले पुरुषके पास जाकर आत्माके सिवा पुत्रादि अन्य पदार्थोंको प्रिय कहना भी उचित नहीं है। यदि कोई मूढ पुरुष सीपीको चाँदी मानकर किसी जानकार परीक्षकके पास जाकर कहे कि यह चाँदी है तो ऐसे मिथ्या वचन कहनेवालेकी बात सुनकर परीक्षक कहता है कि 'अरे ! यह तो सीपी है, चाँदी नहीं है।' इतना कहते ही मिथ्या चाँदीका नाश हो जाता है। इसलिये आत्माको प्रिय जाननेवाले विद्वान्के सामने किसी भी पदार्थको प्रिय कहना उचित नहीं है, क्योंकि विद्वान्के समझानेसे प्रिय पुत्रादि पदार्थोंका नाश हो जाता है।

इन्द्र—हे भगवन् ! आत्माको प्रिय जाननेवाले विद्वान् पुरुषके वचनमात्रसे पुत्रादि अनात्म-पदार्थोंका नाश क्योंकर हो सकता है ?

दध्यङ—हे इन्द्र ! एक आत्माको ही जाननेवाला विद्वान् 'पुत्रादि विनाशी हैं' केवल इतने वचन कहकर ही उनका नाश कर सकता है।

इन्द्र—हे भगवन् ! विद्वान् तो राग-द्वेषसे रहित तथा दयालु होता है फिर वह ऐसे वचन क्यों कहेगा कि तेरे पुत्रादि नाशवान् हैं ?

दध्यङ—हे इन्द्र ! विद्वान् चाहे इसप्रकार न कहे तो भी, विद्वान्के सामने मिथ्या वचन कहना उचित नहीं है। क्योंकि श्रुतिने ब्रह्मज्ञानीको ब्रह्मस्वरूप कहा है। इसलिये जिसप्रकार परमेश्वर बिना कुछ वचन उच्चारण किये ही जीवको पुण्य-पापका फलरूप सुख-दुःख देता है, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान भी बिना ही कुछ कहे पुण्य-पापका फल सुख-दुःख देता है। जैसे गङ्गाजीके पास जानेसे पाप करनेवालेको दुःख उत्पन्न होता है और पुण्य करनेवालेको सुख उत्पन्न होता है, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानीके पास सत्य वचनके उच्चारणसे शुभ कर्म होता है और सुख मिलता है एवं असत्य वचन कहनेसे पाप होता है और दुःख मिलता है। इसीलिये विद्वान्को निर्दयताका दोष नहीं लगता।

इन्द्र—हे भगवन् ! ब्रह्मज्ञानीके समीप जाकर

अनात्म-पदार्थको प्रिय कहनेवालेकी हानि किसप्रकार हो सकती है ? क्योंकि शास्त्रकारोंका कथन है कि पुण्य-पापरूप कर्म इसी जन्ममें सुख-दुःखरूप फलकी प्राप्ति नहीं कराते, वे जन्मान्तरमें फलकी प्राप्ति कराते हैं।

दध्यङ—हे इन्द्र ! यद्यपि अधिकतर प्रसंगोंमें तो ऐसा ही होता है परन्तु अत्यन्त उग्र पाप-पुण्यका फल तुरन्त भी मिल सकता है इसलिये ब्रह्मज्ञानीके समीप मिथ्या वचन कहनेसे उग्र पापका फल उसे तुरन्त ही प्राप्त होता है। जब पीपल, तुलसी तथा प्रतिमादि सीमित देवताओंके सामने मिथ्या वचन उच्चारण करनेसे उसका फल तुरन्त मिल जाता है तब बोलनेमें समर्थ ऐसे देवके सामने मिथ्या वचनके उच्चारणसे दुःख क्यों नहीं होगा ? जैसे ब्रह्मज्ञानीके समीप मिथ्या बोलनेसे पुत्रादिका नाश होता है, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानीके समीप आत्माको प्रिय कहनेसे पुत्रादिकी आयु बढ़ती है, इसलिये पुत्रादि प्रिय पदार्थोंको जीवित रखनेकी इच्छावालेको भी प्रियरूपसे आत्माकी उपासना करनी चाहिये। ऐसा करनेसे उसके प्रिय पुत्रादि पदार्थ बहुत काल जीवित रह सकते हैं।

इन्द्र–हे भगवन् ! उपासनाका क्या स्वरूप है ?

दध्यङ–हे इन्द्र ! ध्यान करने योग्य वस्तु विद्यमान हो अथवा न हो, केवल गुरु और शास्त्रके वचनसे जो मानस-ज्ञान उत्पन्न हो, उस ज्ञानमें विश्वास करके गुरुके उपदेश किये हुए पदार्थमें सजातीय वृत्तिके प्रवाहद्वारा विजातीय वृत्तिका जो रोकना है उसीका नाम उपासना है, जिसप्रकार वेदमें स्वर्ग, मेघ, मनुष्यलोक, पुरुष और स्त्री, इन पाँचकी अग्निरूपसे उपासना कही है, इसमें यद्यपि स्वर्गादि अग्निरूप नहीं हैं तो भी गुरुके वचनसे स्वर्गादिमें पुरुषकी अग्नि-बुद्धि होती है। इसमें विश्वाससे ही स्वर्गादिमें अग्निके आकारवाली सजातीय वृत्तियोंका प्रवाह होता है और सजातीय वृत्ति-प्रवाहसे विजातीय घट आदि विषयका नाश होता है, इसका नाम उपासना है। भाव यह है कि अनुभवरूप प्रमा-ज्ञान तो प्रत्यक्षादि प्रमाण और विषयके अधीन है और उपासना प्रमाण तथा विषयके अधीन नहीं है, वह गुरुके वचनके अधीन है।

आत्माके यथार्थ अनुभवका फल

हे इन्द्र ! आनन्दस्वरूप आत्माको प्रियरूप जाननेवाला पुरुष सर्व देवतारूप होता है, आनन्दस्वरूप आत्माके ज्ञानसे अधिकारी सर्वात्मभावको प्राप्त होता है। हे देवराज इन्द्र ! एक बार चारों वेद और छओं वेदाङ्गके जाननेवाले कितने ही ब्राह्मणोंकी एक सभा हुई थी, वहाँ एक विद्वान् ब्राह्मण सब ब्राह्मणोंको सम्बोधनकर इसप्रकार कहने लगे–

ब्राह्मण—हे ब्राह्मणो ! ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मके ज्ञानसे सर्वात्मभावको प्राप्त होता है, ऐसा कहनेमें आता है। इसमें मुझे एक संशय है। यदि ब्रह्मज्ञानसे अधिकारीको सर्वात्मभावकी प्राप्ति होती है तो क्या ब्रह्म भी किसी पदार्थके ज्ञानसे सर्वात्मभावको प्राप्त होता है ? अथवा वह किसी पदार्थके ज्ञान बिना स्वतन्त्र ही सर्वात्मभावको प्राप्त हो जाता है ? यदि किसी अमुक पदार्थके ज्ञानसे ब्रह्म सर्वात्मभावको प्राप्त होता हो तो उस पदार्थका नाम क्या है ? और यदि किसी पदार्थके ज्ञान बिना ही ब्रह्म सर्वात्मभावको प्राप्त होता हो तो ज्ञानियोंका ज्ञान ही निष्फल है क्योंकि जैसे ब्रह्मको बिना ही ज्ञान सर्वात्मभावकी प्राप्ति होती है, इसी प्रकार सब अधिकारियोंको भी बिना ही ब्रह्मज्ञानके सर्वात्मभावकी प्राप्ति होनी चाहिये। सर्वात्मभावके लिये ब्रह्मज्ञानका सम्पादन करना निष्फल है। ब्रह्म अपनेसे भिन्न किसी पदार्थके ज्ञानसे सर्वात्मभावको प्राप्त होता है अथवा अपने स्वरूपके ज्ञानसे सर्वात्मभावको प्राप्त होता है। इन दोनों पक्षोंमेंसे प्रथम पक्ष स्वीकार करनेमें तो

ब्रह्मका ज्ञान निष्फल होता है क्योंकि जिस अन्य पदार्थके ज्ञानसे ब्रह्मको सर्वात्मभावकी प्राप्ति होती है, उसी अन्य पदार्थके ज्ञानसे अधिकारियोंको सर्वात्मभावकी प्राप्ति हो जायगी। इसलिये ब्रह्मज्ञान सम्पादन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि ब्रह्म अपने स्वरूपके ज्ञानसे सर्वात्मभावको प्राप्त होता हो तो भी ब्रह्मज्ञान निष्फल है क्योंकि जिसप्रकार ब्रह्मको अपने स्वरूपके ज्ञानसे सर्वात्मभाव हो जाता है इसी प्रकार अन्य अधिकारीको भी अपने स्वरूपके ज्ञानसे सर्वात्मभावकी प्राप्ति हो जायगी, इसलिये सर्वात्मभाव प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मज्ञान सम्पादन करना निष्फल है, ब्राह्मणके इस प्रश्नको सुनकर वेदवेत्ता सभापति इसप्रकार कहने लगे—

सभापति—हे ब्राह्मणो! सर्वात्मभावकी प्राप्तिके लिये आत्मज्ञानके सिवा कोई भी दूसरा साधन नहीं है। अज्ञानसे और दूसरे किसी पदार्थके ज्ञानसे ब्रह्म सर्वात्मभावको प्राप्त नहीं होता। किन्तु ब्रह्म-शब्दका तथा आत्म-शब्दका अर्थ जो अपना स्वरूप है, उसीके ज्ञानसे ब्रह्म सर्वात्मभावको प्राप्त होता है। ब्रह्मको आत्मज्ञानसे सर्वात्मभाव उत्पन्न होता है इसलिये सब अधिकारियोंको भी आत्मज्ञान सम्पादन करना चाहिये। ब्रह्मज्ञानके बिना केवल आत्मज्ञानसे सर्वात्मभावकी प्राप्ति किसप्रकार होगी? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ब्रह्म किसी भी प्राणीके आत्मासे भिन्न नहीं है। वही सब प्राणियों-का आत्मा है। इसलिये आत्मज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है और ब्रह्मज्ञान ही आत्मज्ञान है। देश, काल तथा वस्तु-परिच्छेदसे रहित जो सबसे अधिक हो, उसका नाम ब्रह्म है और देश, काल तथा वस्तु-परिच्छेदसे रहित जो सबके अन्दर व्यापक-रूपसे स्थित हो, उसका नाम आत्मा है। देश, काल और वस्तु-परिच्छेदसे रहित ब्रह्ममें जो सबसे अधिकता है, वह सबके साथ अभेदरूप होनेसे है, अभेदके सिवा कोई दूसरा अधिकपना ब्रह्ममें नहीं है। इसी प्रकार देश, काल और वस्तु-परिच्छेदसे रहित आत्मामें जो सर्व वस्तुओंमें अन्तर्यामीपना है, वह भी सबके साथ अभेदरूप होनेसे ही है। इसलिये यदि ब्रह्मका और आत्माका किसी एक देश और कालके साथ और इसी प्रकार किसी स्थूल-सूक्ष्म पदार्थके साथ भेद माना जाय तो उपर्युक्त ब्रह्म तथा आत्मा शब्दका अर्थ उनमें न घटेगा। इसलिये ब्रह्म और आत्मा भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं। जैसे 'हस्त' और 'कर' ये दोनों शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं इसी प्रकार ब्रह्म और आत्मा ये दोनों शब्द सब भेदसे रहित एक अद्वितीय चैतन्यके ही वाचक हैं। लोकमें ब्रह्म और आत्मामें जो भेद दीखता है, वह वास्तविक नहीं है, उपाधिके सम्बन्धसे वह भेद दिखायी पड़ता है। जैसे आकाशमें भेद नहीं है तो भी आकाशमें रहने-वाले मेघ, बिजली आदि आकाशमें भेद उत्पन्न करते हैं, इसी प्रकार ब्रह्ममें वस्तुतः भेद नहीं है तो भी ब्रह्मसे उत्पन्न हुए स्थूल, सूक्ष्म पदार्थ भेदरहित ब्रह्ममें भेदकी भ्रान्ति कराते हैं। भेदरहित आकाशमें कल्पित गन्धर्व-नगर, गन्धर्व-नगरमें अनेक प्रकारके घर, घरोंमें अनेक कमरे, कमरोंमें घटादि अनेक पदार्थ, इसप्रकार विचित्रता भासती है। परन्तु जैसे वह सभी कल्पित हैं, इसी प्रकार आनन्द-स्वरूप आत्मामें प्रथम आकाशादि पञ्चभूत, पञ्च-भूतोंमें स्थूल-सूक्ष्म शरीर, शरीरोंमें प्राण, बुद्धि तथा इन्द्रियादि उपाधियोंसे भेद दिखायी देता है। ऐसे कल्पित भेदसे आत्माकी एकताका नाश नहीं होता। आत्मा और ब्रह्मका परस्पर अभेद है। इस-लिये ब्रह्मज्ञानसे सर्वात्मभावकी प्राप्ति होती है, यह सत्य है क्योंकि समष्टि तथा व्यष्टि उपाधिवाला ब्रह्म, ब्रह्मज्ञानसे सर्वात्मभावको प्राप्त होता है।

इन्द्र—हे भगवन्! यदि आत्मा सर्वत्र व्यापक है तो वह अपने व्यापक स्वरूपको क्यों नहीं जानता?

दध्यङ—हे इन्द्र! जैसे निद्रामें पड़ा हुआ राजा

निद्रा-दोषसे अपने राजापनको नहीं देखता पर अपनेको स्वप्नकल्पित दरिद्री देखता है, इसी प्रकार अज्ञानरूप मायासे ढका हुआ आत्मा अपने व्यापक स्वरूपको नहीं जानता किन्तु अपनेको परिच्छिन्न मानता है। जैसे भेदसे रहित आकाशमें मेघ, धूप तथा पवनादि उपाधियाँ अनेक प्रकारके भेद उत्पन्न करती हैं इसी प्रकार भेदरहित शुद्ध आत्मामें भी अज्ञानरूपी माया भेद उत्पन्न करती है। जैसे रात्रिमें अन्धकार सूर्यके प्रकाशको ढक देता है, इसी प्रकार सांसारिक अज्ञानरूपी माया प्रकाशस्वरूप आत्माको ढक देती है। जैसे सब दिशाओंमें महान् वनसे घिरे हुए ग्राममें रहनेवालोंको शत्रुकी सेनाका तथा सेनासे ग्राम लूटा जायगा, इसप्रकारका भय नहीं लगता। किन्तु दैवयोगसे जब शत्रु उनको लूट लेते हैं तो उनके अभयरूप अज्ञानका नाश हो जाता है और एक बार नाशको प्राप्त हुआ अज्ञान फिर उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार आत्मारूपी ब्रह्ममें रहे हुए अज्ञानका जब एक बार आत्मसाक्षात्कारसे नाश हो जाता है तो फिर अज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

इन्द्र–हे भगवन्! अधिष्ठान आत्माके ज्ञानसे अज्ञानका नाश हो जाता है, यह कैसे हो सकता है? क्योंकि यदि अज्ञान घटादि पदार्थोंके समान भावरूप हो तो उसकी ज्ञानसे निवृत्ति हो सकती है परन्तु अज्ञान भावरूप नहीं है, ज्ञानके अभावका नाम अज्ञान है।

दध्यङ–हे इन्द्र! ज्ञानके अभावका नाम अज्ञान नहीं है क्योंकि आत्मा प्रकाशस्वरूप है और वही ज्ञानस्वरूप है। आत्मासे भिन्न बुद्धि आदि जड पदार्थ ज्ञानरूप नहीं हैं। ज्ञानस्वरूप आत्मा नित्य है, इसलिये उसका अभाव सम्भव नहीं है।

इन्द्र–हे भगवन्! यदि एक आत्मा ही ज्ञानरूप हो तो सब लोगोंके अन्तःकरणकी वृत्तिमें 'मुझे घटका ज्ञान हुआ' 'मुझे पटका ज्ञान हुआ' इसप्रकार ज्ञानका व्यवहार कैसे होता है? क्योंकि आपके कथनानुसार आत्माके सिवा कोई दूसरा पदार्थ ज्ञानरूप है नहीं, केवल आत्मा ही ज्ञानरूप है। इसलिये घट-पटादिका ज्ञान न होना चाहिये।

दध्यङ–हे इन्द्र! जैसे लोहेके गोलेमें यद्यपि जलानेकी और प्रकाश करनेकी शक्ति नहीं है तो भी जब लोहेके गोलेके साथ अग्निका तादात्म्य-सम्बन्ध होता है तब वह जलाने और प्रकाश देनेमें समर्थ हो जाता है, इसी प्रकार जड अन्तःकरण और अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें यद्यपि ज्ञान नहीं है तो भी ज्ञानस्वरूप आत्माका जब अन्तःकरणके साथ तादात्म्य अध्यास होता है तो अन्तःकरण और अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें ज्ञान आ जाता है। अन्तःकरणमें आत्माका ही प्रकाश है इसलिये अन्तःकरणकी वृत्तिमें जो ज्ञानका व्यवहार होता है, वह गौण है, मुख्य नहीं है। मुख्य ज्ञानस्वरूप तो केवल आत्मा ही है।

इन्द्र–हे भगवन्! अन्तःकरणादि जड पदार्थोंमें ज्ञान गुण नहीं है तो भी आत्माका धर्म जो ज्ञान है, उस ज्ञानके अभावको ही अज्ञान क्यों न कहा जाय?

दध्यङ–हे इन्द्र! यदि ज्ञानरूप प्रकाश आत्मासे भिन्न माना जाय तो आत्मामें और प्रकाशमें जडभावकी प्राप्ति हो। क्योंकि भेदवाले पदार्थ विकाररूप होते हैं और विकारी पदार्थ जडरूप ही होते हैं, जैसे घटादि पदार्थ जड हैं। यदि आत्मा और प्रकाशको जडरूप माना जाय तो आत्मा अनात्मा हो जायगा, क्योंकि जितने जड पदार्थ हैं, वे सब अनात्मा हैं। जैसे घट तथा घटमें स्थित शुक्ल आदि जड होनेसे अनात्मा हैं, वैसे ही आत्मा और प्रकाश भी जड होनेसे अनात्मा गिने जायँगे। आत्मा और प्रकाशको कोई अनात्मा नहीं मानता इसलिये आत्मासे जैसे प्रकाश भिन्न नहीं है और प्रकाशसे जैसे आत्मा भिन्न नहीं है इसी प्रकार आत्मा और

प्रकाशसे आनन्द भी भिन्न नहीं है। क्योंकि आत्मा और प्रकाश इन दोनोंसे यदि आनन्द भिन्न हो तो उपर्युक्त प्रकारसे आत्मा, प्रकाश और आनन्द ये तीनों अनात्मा हो जाते हैं इसलिये आत्मा और प्रकाशसे आनन्द भिन्न नहीं है। जैसे एक पुरुषका शरीर है, शरीरमें गोरापन है और उस शरीर तथा गोरेपनको प्रकाश करनेवाला एक दीपक है। इन तीनोंमें परस्पर भेद है इसलिये तीनोंमें अनात्मापना अनुभवसे सिद्ध है। इसी प्रकार यदि आत्मा, प्रकाश और आनन्द भिन्न हों तो इन तीनोंको अनात्मापना प्राप्त हो जायगा। इसलिये ये तीनों भिन्न नहीं हैं। केवल आत्मा ही आनन्द और प्रकाशस्वरूप है। यहाँ प्रकाशका अर्थ ज्ञान है। जो लोग ज्ञानस्वरूप आत्मामें ज्ञानधर्म मानते हैं, उनसे पूछना चाहिये कि ज्ञानरूप आत्मामें जो ज्ञानधर्म है, वह ज्ञानधर्म अन्तःकरणादि जड पदार्थोंके भान होनेके लिये है अथवा आत्माके भानके लिये है। यदि अन्तःकरणादि जड पदार्थोंके भानके लिये आत्माका धर्मज्ञान मानें तो ऐसा मानना नहीं बनता क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मासे अन्तःकरणादि जड पदार्थोंका भान हो सकता है इसलिये आत्मामें ज्ञानधर्म मानना निष्फल है, इसी प्रकार आत्माके भानके लिये आत्मामें ज्ञानधर्म मानना नहीं बनता क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मामें यदि अन्य ज्ञानसे ज्ञानत्व माना जायगा तो आत्मामें जडत्व प्राप्त होगा। जो पदार्थ अन्यके प्रकाशसे प्रकाशित होता है, वह जड है। जैसे नेत्रसे उत्पन्न हुई अन्तःकरणकी वृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्यसे दीपादि पदार्थ प्रकाश्य हैं, इसलिये दीपादि जड हैं, इसी प्रकार आत्मा भी अन्य प्रकाशसे—ज्ञानसे प्रकाशित या भासित हो तो दीपकके समान जड माना जायगा। आत्माका जड होना किसीको भी स्वीकार नहीं है। इसलिये आत्मा अपनेसे भिन्न ज्ञानसे नहीं भासता। अतएव आत्माका ज्ञानधर्म नहीं है। आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। यदि ज्ञानस्वरूप अन्य ज्ञानसे भासता है तो वह ज्ञान भी किसी अन्य ज्ञानसे भासता है या नहीं? यदि कहो कि वह अन्य ज्ञानसे नहीं भासता, स्वयंप्रकाश है तो प्रथम आत्माको ज्ञानस्वरूप स्वयंप्रकाश माननेमें क्या हानि है? ज्ञानस्वरूप आत्माको छोड़कर अन्य ज्ञानको स्वप्रकाश माननेमें तुम्हारा श्रम व्यर्थ है। यदि कहो कि दूसरा ज्ञान भी किसी अन्य ज्ञानसे प्रकाश्य है और इसी प्रकार तीसरा किसी चौथेसे प्रकाश्य है तो अनवस्था-दोषकी प्राप्ति होती है। इसलिये आत्मा ज्ञानस्वरूप है और वह अन्य किसी प्रकाशसे प्रकाशित नहीं होता। वह अपनेको और अन्तःकरणादि जड पदार्थोंको अपने प्रकाशसे प्रकाशित करता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और तीनों कालमें विद्यमान है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माका अभाव किसी कालमें भी सम्भव नहीं है।

इन्द्र—हे भगवन्! आत्मा सत्यरूप तथा प्रकाशरूप नहीं है किन्तु केवल शून्यरूप है इसलिये शून्यरूप आत्मा प्रकाशस्वरूप कैसे हो सकता है?

दध्यङ—हे इन्द्र! यदि आत्माको शून्यरूप मानें तो जैसे नरके सींगमें आत्मापना नहीं है इसी प्रकार सत्य आत्मामें भी आत्मापन न रहे, और आत्मामें आत्मापनेका अभाव कोई मानता नहीं, इसलिये वह शून्यरूप नहीं है। इसी प्रकार आत्माको शून्य मानकर उसमें प्रकाश-धर्म मानना, यह भी अत्यन्त विरुद्ध है, सत्य वस्तु ही अधिष्ठान होती है। असत्य वस्तु अधिष्ठान नहीं होती। यदि असत्य वस्तु भी किसीका अधिष्ठान हो तो वन्ध्यापुत्र भी रूपादि गुणोंका अधिष्ठान बने, इसलिये सबका अधिष्ठानरूप आत्मा शून्य नहीं है। यदि आत्मा वन्ध्यापुत्रके समान असत्य हो तो जैसे 'वन्ध्यापुत्र है' ऐसे कोई नहीं मानता, इसी प्रकार आत्माकी भी 'अस्ति' रूपसे प्रतीति न होनी चाहिये। परन्तु सभी प्राणियोंको 'मैं हूँ' ऐसी आत्माकी प्रतीति निरन्तर होती है इसलिये वन्ध्यापुत्रके समान आत्मा असत्य नहीं है, वह सत्यस्वरूप है। सत्यस्वरूप आत्माका

कभी अभाव नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञानका अभाव अज्ञान नहीं है किन्तु अज्ञान भावरूप है और भावरूप अज्ञानका नाश ब्रह्मविद्यासे होता है।

ब्रह्म-विद्याके स्वरूपका वर्णन

हे इन्द्र! सर्वभेदसे रहित, स्वयंप्रकाश, सत्य-स्वरूप आत्माको विषय करनेवाले महावाक्यसे उत्पन्न हुई चैतन्यस्वरूप अन्तःकरणकी वृत्तिका नाम ब्रह्म-विद्या है। जबतक ब्रह्मविद्या उत्पन्न नहीं होती तबतक जीवके अज्ञानका नाश नहीं होता और जबतक अज्ञानका नाश नहीं होता तब-तक जन्म-मरण-रूप संसारका नाश नहीं होता, जन्म-मरणरूप संसारकी निवृत्तिके लिये ब्रह्म-विद्या-का अवश्य सम्पादन करना चाहिये. सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म सब जीवोंका आत्मा है, तो भी ब्रह्म-विद्याके बिना अज्ञानसे आवृत ब्रह्म जन्म-मरण-रूप संसारसे जीवकी रक्षा नहीं करता, ब्रह्मविद्यासे अज्ञानका नाश होनेपर आवरणरहित अनुभवके विषयवाला ब्रह्म जन्म-मरणरूप संसारसे जीवका उद्धार करता है। जैसे घरमें दबा हुआ धन, जबतक घरमें रहनेवालेको उसकी खबर नहीं होती तबतक उसको श्रीमान् नहीं बना सकता, दरिद्री ही बनाये रखता है। परन्तु जब उसको धनकी खबर हो जाती है तब उसकी दरिद्रताका नाश हो जाता है। इसी प्रकार सब जीवोंके हृदयदेशमें स्थित आनन्दस्वरूप आत्मा जबतक जीवोंके जाननेमें नहीं आता तबतक वे जन्म-मरणरूप दुःखसे मुक्त नहीं होते और जब ब्रह्मविद्याके अनुग्रहसे आनन्द-स्वरूप आत्माका ज्ञान हो जाता है तब वह आत्मा जन्म-मरणरूप संसारसे जीवोंकी रक्षा करता है, जन्म-मरणादि संसारकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिके लिये अधिकारियोंको ब्रह्मविद्या अवश्य सम्पादन करनी चाहिये। जब आत्मास्वरूप ब्रह्म अपरोक्ष-ज्ञानका विषय होता है तभी जन्म-मरणरूप संसारसे जीव मुक्त होता है।

वही ब्रह्म समष्टि-कारण अज्ञानरूप उपाधिसे ईश्वरभावको प्राप्त होता है, समष्टि सूक्ष्मरूप उपाधिसे हिरण्यगर्भभावको प्राप्त होता है और समष्टि स्थूल-उपाधिसे विराट्भावको प्राप्त होता है और उन्हीं तीन व्यष्टि-उपाधियोंसे जीवभावको प्राप्त होता है। हिरण्यगर्भ अन्य जीवोंके समान गुरुके उपदेशसे ब्रह्मज्ञानको नहीं प्राप्त होते, वे स्वतन्त्र ही वेदान्तके विचारसे ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करते हैं। परमेश्वरमें तो आवरण होता ही नहीं, इतनी हिरण्यगर्भ और ईश्वरमें विशेषता है। ईश्वरकी उपाधि कारण-अज्ञान है। 'मैं अज्ञ हूँ' इसप्रकार-का कारण-अज्ञान अहंकारमें आरूढ़ होकर आवरणरूप मोहको उत्पन्न करता है। अहंकार हुए बिना केवल अज्ञान आवरणरूप मोहको उत्पन्न नहीं करता। परमेश्वरमें अहंकार है नहीं, इसलिये आवरणरहित होनेसे सर्वज्ञ परमेश्वरको सर्वदा वेदान्तके अर्थका अनुसन्धान रहता है, समष्टि सूक्ष्म-रूप कार्योपाधिवाले हिरण्यगर्भमें अहंकार होता है। इसलिये हिरण्यगर्भ आवरणका अनुभव करता है और तदनन्तर विचारपूर्वक वेदान्तके अर्थका अनुसन्धान करता है। इसलिये यद्यपि ईश्वर और हिरण्यगर्भमें विलक्षणता है तो भी हिरण्यगर्भको गुरुके उपदेशकी अपेक्षा नहीं है। जैसे अग्नि, जल, वायु, वृक्ष, अण्डजादि चार प्रकारके प्राणी, भय, व्यथा और शब्दसे सब जीवोंको निद्रामेंसे जगाते हैं और अग्नि जलादिसे रहित किसी स्थलमें सोता हुआ नाना प्रकारके स्वप्न न देखता हुआ गाढ़ सुषुप्तिमें पड़ा हुआ तथा सर्वज्ञानसे रहित कोई अपने आप ही जग जाय, इसी प्रकार समष्टि कारण-अज्ञानरूप उपाधि-में रहा हुआ ईश्वर गुरुके उपदेश बिना स्वयं ही वेदान्तके विचारसे अपने अद्वितीय स्वरूपको प्राप्त रहता है इसलिये मायाविशिष्ट ईश्वरको और हिरण्यगर्भको गुरुके उपदेशकी अपेक्षा नहीं होती।

इन्द्र—हे भगवन्! मायाविशिष्ट ईश्वरको और

हिरण्यगर्भको गुरुके उपदेश बिना ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, यह आपका कथन तो ठीक है परन्तु ईश्वर और हिरण्यगर्भ जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण किसप्रकार हो सकते हैं? क्योंकि ईश्वरमें जगत्‌की उत्पत्तिके अनुकूल कोई व्यापार तो है ही नहीं। इस लोकमें व्यापार करनेवाला कुम्हार घटादिका कारण होता है, व्यापाररहित कोई कारण नहीं हो सकता।

दध्यङ—हे इन्द्र! यदि शुद्धचैतन्यको जगत्‌का कारण माना जाय तब तो तुम्हारा कहना ठीक है परन्तु शुद्ध ब्रह्मको वेदवेत्ता जगत्‌का कारण नहीं मानते। मायाविशिष्ट चैतन्यको जगत्‌का कारण मानते हैं, जैसे स्वप्नावस्थाको और गाढ़ सुषुप्तिको प्राप्त हुए व्यष्टिरूप उपाधिवाले जीवमें स्वप्नके पदार्थोंकी उत्पत्तिके बीजरूप अज्ञानका अनुभवरूप कर्म और प्राणधारणरूप कर्म रहता है इसी प्रकार मायाविशिष्ट ईश्वरमें और समष्टि सूक्ष्म उपाधिवाले हिरण्यगर्भमें जगत्‌की उत्पत्तिके अनुकूल व्यापार रहता है। जैसे स्वप्नावस्था और सुषुप्ति-अवस्थाको प्राप्त हुआ जीव जब व्यष्टि-कारणरूप उपाधिसे भिन्न होता है, तब जीवको अपने निर्गुणस्वरूपमें कोई भी कर्म होना सम्भव नहीं है, इसी प्रकार जब समष्टि कारण-अज्ञानरूप उपाधिवाले ईश्वर और समष्टि सूक्ष्म उपाधिवाले हिरण्यगर्भ समष्टि कारण-अज्ञानसे और समष्टि सूक्ष्म उपाधिसे भिन्न होते हैं तब उनके निर्गुणस्वरूपमें कोई कर्म होना सम्भव नहीं है।

इन्द्र—हे भगवन्! यदि ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण है तो वह ब्रह्मविद्याको अपनेमें क्यों धारण करता है?

दध्यङ—हे इन्द्र! जैसे व्यष्टि-शरीरमें अकर्ता और अभोक्तापन होनेपर भी पुरुष जो निद्रासे जागता है, तो उसका यह जागना अपने भोगके लिये नहीं होता किन्तु अन्तःकरणके भोगके निमित्त होता है। इसी प्रकार अकर्ता और अभोक्ता परमात्मा जो ब्रह्मविद्या धारण करता है, वह केवल जीवके हितके लिये धारण करता है, इसमें ईश्वरका कोई स्वार्थ नहीं है।

इन्द्र—हे भगवन्! यदि ईश्वरका अपना किसी प्रकारका स्वार्थ नहीं है तो जगत्‌की उत्पत्ति करनेमें ईश्वरकी प्रवृत्ति कैसे होती है? क्योंकि जिस-किसीकी जिस-जिस कार्यमें प्रवृत्ति होती है, वह सब अपने स्वार्थके लिये ही होती है, स्वार्थ बिना किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। यह बात सबके अनुभवसिद्ध है। मूर्ख-से-मूर्ख भी बिना प्रयोजन किसी कार्यमें प्रवृत्त होता हुआ देखनेमें नहीं आता, फिर ईश्वर स्वार्थ बिना कैसे प्रवृत्त हो सकता है?

दध्यङ—हे इन्द्र! जैसे ब्रह्मवेत्ता गुरु अपने स्वरूपका साक्षात्कार करके सब पदार्थोंकी कामनासे रहित हो जाता है, ऐसे गुरुको अपना कोई स्वार्थ नहीं होता तो भी मुमुक्षुजनोंके कल्याणके निमित्त वह उपदेशरूप कार्यमें प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार ईश्वर स्वार्थरहित है तो भी जीवोंके भोगके लिये जगत्‌की उत्पत्तिरूप कार्यमें प्रवृत्त होता है।

इन्द्र—हे भगवन्! यदि सब जीवोंके सुखके लिये ईश्वरकी प्रवृत्ति होती है तो फिर ईश्वर जीवोंको देहरूप बन्धनगृहमें क्यों डालता है?

दध्यङ—हे इन्द्र! जैसे ब्रह्मवेत्ता गुरु अनेक प्रकारके क्लेश देनेवाले ब्रह्मचर्यादि साधनोंका शिष्योंको उपदेश करता है, यह उपदेश प्रत्यक्षमें दुःखका कारण होनेपर भी वस्तुतः दुःखका कारण नहीं है, किन्तु चित्तशुद्धिद्वारा मुमुक्षुजनोंके सुखका साधन होता है। इसी प्रकार परमेश्वर भी भोगनेयोग्य कर्मके भोगनेके लिये और साधन-सम्पत्तिद्वारा मोक्षरूप सुखकी प्राप्तिके लिये जीवोंको शरीरादि देता है। जैसे गुरुके उपदेशानुसार चलनेवाला शिष्य अन्तमें परमानन्दको प्राप्त

होता है, इसी प्रकार ईश्वरके कहे हुए वेदको माननेवाला पुरुष परमानन्दको प्राप्त होता है। इसलिये परमेश्वरकी आज्ञारूप वेदको अवश्य मानना चाहिये।

इन्द्र—हे भगवन्! द्वैतज्ञानकी विरोधिनी ब्रह्मविद्यासे नित्यस्वरूप ईश्वर द्वैतरूप जगत्को किसप्रकार उत्पन्न करेगा?

दध्यङ—हे इन्द्र! जैसे ब्रह्मसाक्षात्कारको प्राप्त हुआ पुरुष निद्रामें स्वप्न-सुखको देनेवाले प्रारब्धकर्मके वशसे स्वप्नमें जगत्को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार परमात्मा ब्रह्मविद्यासे अपने स्वरूपको जानता हुआ भी मायासे सर्वभूत भौतिक प्रपञ्चको उत्पन्न करता है। निद्रावाले पुरुषमें और ईश्वरमें भेद इतना है कि ब्रह्मसाक्षात्कारवाला निष्कामी पुरुष अपने कर्मानुसार स्वप्नके पदार्थोंको उत्पन्न करता है और मायाविशिष्ट परमात्मामें पुण्य-पापरूप कर्म नहीं है इसलिये अपने कर्मानुसार ईश्वर जगत्को उत्पन्न नहीं करता, किन्तु जीवोंके पुण्यपापरूप कर्मानुसार जगत्को उत्पन्न करता है।

इन्द्र—हे भगवन्! जैसे सीपीरूप अधिष्ठानके ज्ञान होनेके बाद कल्पित चाँदीकी निवृत्ति हो जाती है, इसी प्रकार मायाविशिष्ट परमात्माको अधिष्ठान ब्रह्मके साक्षात्कार होनेसे कल्पित प्रपञ्चकी निवृत्ति क्यों नहीं होती?

दध्यङ—हे इन्द्र! स्वप्नावस्थामें विद्वान् स्वप्नपदार्थोंको देखता हुआ भी अपनेको और स्वप्नपदार्थोंको भिन्नरूपसे नहीं देख सकता। किन्तु 'सब स्वप्न-पदार्थ मेरा स्वरूप है, मुझ अधिष्ठानसे भिन्न इन पदार्थोंकी कुछ भी सत्ता नहीं है' इसप्रकार स्वप्नमें उसको आत्माका ज्ञान होता है तो भी स्वप्नके पदार्थोंका नाश नहीं होता। किन्तु प्रारब्धके योगसे स्वप्न-पदार्थोंका विद्वान्को भान होता है। इसी प्रकार नित्य आत्मस्वरूप परमात्मा सर्व द्वैतप्रपञ्चको देखता हुआ भी अपने स्वरूपसे भिन्न उसको नहीं देख सकता। 'सर्व जगत् मेरा आत्मा है, मेरे आत्मासे प्रपञ्च भिन्न नहीं है' इसप्रकार परमात्माको ब्रह्मका साक्षात्कार होते हुए भी जीवोंके पुण्य-पापरूप कर्मोंसे जगत्का लय नहीं होता किन्तु मिथ्यारूपसे जगत्का भान होता है। तात्पर्य यह है कि निरुपाधि और उपाधिके भेदसे भ्रम दो प्रकारका होता है। अधिष्ठानके ज्ञान होनेके बाद कल्पित स्वरूपका नाश हो जाय, वह निरुपाधिक भ्रम कहलाता है। जैसे कि सीपीके ज्ञान होनेसे पीछे कल्पित चाँदीका और उसके ज्ञानका नाश हो जाता है। इसलिये सीपीमें चाँदीका भ्रम निरुपाधिक भ्रम है। अधिष्ठानके ज्ञान होनेपर भी जिसके मिथ्या स्वरूपका नाश न हो, किन्तु उसमेंसे सत्यपना निवृत्त हो जाय, वह सोपाधिक भ्रम कहलाता है। जैसे जपाकुसुमके पास रक्खा हुआ स्फटिकमणि लाल दीखता है, यह स्फटिकमणि है, ऐसा ज्ञान होनेपर भी जबतक जपाकुसुम स्फटिकके पाससे हटा न लिया जाय तबतक उसकी ललाई निवृत्त नहीं होती, यह सोपाधिक भ्रम है। प्रपञ्च-भ्रम सोपाधिक है इसलिये ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर भी जबतक प्रारब्धकर्मरूप उपाधिका नाश नहीं होता, तबतक मिथ्यारूप प्रपञ्चका ब्रह्मवेत्ताको भान होता रहता है।

इन्द्र—हे भगवन्! जब परमात्मा अद्वितीय है तो संसारमें कोई जीव बद्ध है और कोई मुक्त है, इस तरहके बन्धन और मोक्षका व्यवहार किसप्रकार होता है?

दध्यङ—हे इन्द्र! जैसे आत्मसाक्षात्कारवाला विद्वान् स्वप्नावस्थाको प्राप्त होकर अज्ञानसे कल्पित अनेक जीवोंको देखता है, कितने ही जीवोंको तो श्रवणादि साधनद्वारा मुक्त हुए देखता है और कितने ही जीवोंको बद्ध देखता है। इसी प्रकार जगत्के निर्वाहके लिये मायाविशिष्ट परमात्मा अद्वितीय होता हुआ भी कितने ही मुमुक्षुजनोंको श्रवणादि साधनोंद्वारा मुक्त हुए देखता है और कितने

ही अज्ञानी जीवोंको बद्ध हुआ देखता है, इसप्रकार एक अद्वितीय आत्माको अंगीकार करके बन्ध और मोक्ष कल्पित हैं। जैसे आत्मज्ञानी विद्वान् स्वप्नमें अनेक प्रकारके चेतन जीवोंको और अनेक प्रकारके घटादि जड़ पदार्थोंको देखता है और 'यह जीव अभेददर्शी होनेसे मुक्त है और यह जीव भेददर्शी होनेसे बद्ध है' इसप्रकार जीवोंके बन्ध-मोक्षकी कल्पना करता है किन्तु वस्तुतः स्वप्न-द्रष्टाको बन्ध अथवा मोक्ष नहीं है, इसी प्रकार स्वप्नसे कल्पित इन जीवोंको भी बन्ध या मोक्ष नहीं है, केवल निद्राके दोषसे ही बन्ध-मोक्ष जाननेमें आता है, इसी प्रकार मायाविशिष्ट परमात्मामें और अन्य जीवोंमें भी बन्ध-मोक्ष नहीं है, अज्ञानसे ही बन्ध-मोक्ष जाननेमें आता है।

इन्द्र–हे भगवन्! यदि बन्ध-मोक्ष वस्तुतः नहीं हैं तो फिर बन्धकी निवृत्ति और मोक्षकी प्राप्तिके साधन बतानेवाले शास्त्रोंको व्यर्थ समझना चाहिये।

दध्यङ–हे इन्द्र! जैसे स्वप्नमें बहुत-से अज्ञानी जीव शास्त्रके उपदेशसे स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करते हैं इसलिये स्वप्नमें कल्पित जीवोंके लिये शास्त्र व्यर्थ नहीं हैं, इसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें शास्त्रके उपदेशसे अज्ञानी जीव स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त होते हैं। अतएव अज्ञानी जीवोंके लिये श्रुति, स्मृति, शास्त्र कदापि व्यर्थ नहीं हैं। (क्रमशः)

भगत हरिवंशजी

(लेखक—श्रीयुत सबनाराइनजी चित्रगुप्त)

[कहानी]

टावा ज़िलाके जयतिपुर नामक गाँवमें, आपने एक द्विवेदी-घरानेमें, आजसे कोई पचहत्तर साल पूर्व जन्म धारण किया था। सन् १९२२ ई० में आपने समाधि ली। समस्त जीवन ज़मींदारी करके, केवल बारह सालतक आपने वह 'भगती' दिखायी कि सब जनताने कहा—'वाह वाह।'

अपने चारों पुत्रोंको बराबर-बराबर ज़मींदारी तकसीम करके, आपने गाँवमें ही फकीरी ले ली। आप सबसे बड़े लड़के पं० रामसनेहीजी द्विवेदीके घर रोटी खाया करते थे। किसीके निमन्त्रणमें कभी न जाते थे। रोटीका तरीका यह था कि परवाके दिन एक रोटीसे शुरू करते और प्रतिदिन एक बढ़ाते हुए पूर्णमासीको पूरी पन्द्रह रोटी खाते थे! उसके बाद क्रमशः एक रोटी उतारते हुए फिर एकपर आ जाते थे। इसी नियमके कारण वह किसीके निमन्त्रण-में न जा सकते थे। यह आपका पहला स्वभाव था।

आप तिलक न लगाते थे, परन्तु आपके सिरके बाल सुरक्षित थे। कुरता, कोट और धोती यह आपकी पोशाक थी। हाथमें लाठी भी रहती थी। टोपी नहीं लगाते थे।

इनका काम था—गाँवके आसपास और गाँवकी प्रत्येक चीज़के आसपास घूमना। मान लो कि, आप उस गाँवमें गये तो आपको इशारेसे वह खड़े रहनेको कहेंगे। अगर आपने इशारा न समझा या लापरवाही दिखलायी तो वह अपनी लाठी दिखाकर खड़ा कर लेंगे। इस तरह वह हर किसीको खड़ा कर लेते थे और सात चक्कर देकर उसके चरण छू लेते थे।

एक दिन गाँवका पटवारी एक मुक़दमेके लिये

अबेर हो जानेके भयसे जल्दी-जल्दी जा रहा था। उसका यह प्रण भी था कि वह अपने चरण इनको कभी नहीं छूने देगा। क्योंकि बाबाजीने गाँवके प्रत्येक नर-नारी, बालक-बालिका, पशु और जड़ पदार्थ कोई भी ऐसा न छोड़ा था कि जिसके सात चक्कर देकर चरण न छू लिये हों। सो भी, जो जब सामने आ जावे तभी उसकी यह दशा की जाती थी। मेहतरके चरण ज़मीनपर हाथ देकर छूते थे। यहाँतक कि गाँवका प्रत्येक कुत्ता, प्रत्येक बकरा और प्रत्येक बदमाश उनके द्वारा अनेक बार चरण छुआ चुका था और अगर कोई दूसरा उनके चरण छूनेका प्रयत्न करता तो वह क्या करते, इसका उत्तर आपको इसी पटवारीवाले मामलेमें मिलेगा।

यकायक बाबाजीको रास्तेमें सामनेसे आता देख, पटवारीने चाहा कि कतराकर निकल जाऊँ। बाबाने हाथसे इशारा किया, लाठी उठाकर भी डराया, परन्तु पटवारीने एक न सुनी और लगायी दौड़। बाबाजीने रेद लिया। गाँवसे फफूँदका क़सबा एक मील है। क़सबेकी मुन्सफ़ीमें एक मुक़दमेकी गवाहीमें पटवारी जा रहा था। इसलिये वह क़सबेकी तरफ़ भागा। मालूम होता था कि भागनेका इरादा उसने पहलेसे कर लिया था। मगर बाबाजी भी धुनके पक्के थे! उसके पीछे-पीछे एक मील दौड़ते गये और मुन्सफ़ीके दरवाज़ेपर पटवारीको जा पकड़ा।

बस्ता ज़मीनपर रखकर पटवारी खड़ा हो गया। बाबाजीने उसके सात चक्कर लगाये। ज्यों ही उन्होंने चरण छूनेको हाथ झुकाये, त्यों ही पटवारी फिर धर भागा और सीधा थानेमें थानेदारके सामने जा खड़ा हुआ। बाबाजी भी धुनके पक्के थे ही! उसका बस्ता दबाया बगलमें और पीछे-पीछे दौड़ते हुए थानेदारके सामने जा पहुँचे। पटवारीका बस्ता थानेदारके सामने रख दिया और पटवारीको उठाकर ज़मीनपर दे मारा! इसके बाद उसके सात बार चरण छूए। तब पटवारी भी उठा और उनके चरण छूनेका यत्न करने लगा। इस कारण दोनोंमें पहलवानों-जैसे दाँव-पेच चलने लगे।

थानेदारको मालूम था कि जयतिपुरका हरिवंश भगत, परमात्माकी भक्ति, नम्रताके द्वारा—केवल नम्रताके द्वारा करता है। इसलिये उन्होंने इस झगड़ेमें कोई बाधा न दी।

प्रायः आध घण्टेतक दोनोंमें पेच चलते रहे। इसके बाद, बाबाजीने मौका पाते ही भागना शुरू किया। तब पटवारीने उनको रेद लिया। पर चूँकि उसे अदालतमें जाना था, इसलिये वह अपनी ही हार मानकर चला गया।

भगत हरिवंशने केवल नम्रता-तत्त्वके आधारपर अपनी साधना साधी थी। लगातार बारह सालतक प्रत्येक जड़-चेतनकी सप्रणाम चरण-वन्दना करते-करते उनका हृदय एक शीशेकी तरह निर्मल हो गया था।

भगत हरिवंशजीको भविष्य दिखलायी पड़ता था। प्रत्येक ग्रामवासीकी आयी हुई मौतको वह पहले ही बतला देते थे। वह कम बोलते थे, परन्तु जो बोलते थे, सच हो जाता था। यह सिद्धि आपको नम्रताकी साधनासे शीघ्र ही प्राप्त हो गयी थी।

आप अपनी जवानीमें एक लाठी चलानेवाले थे। जब वह लाठी लेकर खड़े होते थे, तब सौ दुश्मन भी उनको नहीं घेर सकते थे। जब फकीर हो गये, तब भी उन्हें एक बार लाठी चलानी पड़ी थी। पर वह लाठी चलानेका इतिहास है बड़ा अद्भुत! उन्होंने खुद किसीको नहीं मारा और अपने चारों अभिमानी पुत्रोंकी लाठियोंको बचाते गये। बात यह

थी कि, उस गाँवमें एक नम्बरदार-घराना कायस्थ-कुलका भी है। बाबाजी तो किसीपर नाराज़ रहते ही न थे, परन्तु उनके चारों कुमार कायस्थकी जातीयतासे नफ़रत रखते आ रहे थे। एक दिन एक मामूली गलतीपर चारों लड़के लाठी ले-लेकर लाला वृन्दावनके घरपर गाली देने और लाठी चलाने आये। उस समय बाबाजी वहीं थे और वृन्दावनसे बातें कर रहे थे।

पहले तो बाबाजीने उन अपने बेख़बर लड़कोंको समझाया। फिर लाठीके द्वारा उन चारोंकी लाठियोंका जवाब देने लगे और उस असहाय कायस्थ-कुमारकी रक्षा करने लगे। तबतक वह मौका पाकर कहीं जा छिपा। उस दिनसे बाबाजीके बड़े लड़केने उनकी उपेक्षा शुरू कर दी और उनके अन्तकाल-तक उन्हें दुःख दिया।

भगत हरिवंशजी सदा मुसकराते रहते थे। बारह सालतक अपने ही गाँवमें रहकर नम्रताकी साधना की और अन्तमें उसी नम्रताके सागरमें जा डूबे।

भगत हरिवंशजीने केवल नम्रताके गुणके द्वारा अपने वाणप्रस्थ जीवनके बारह साल जैसे व्यतीत किये, वैसे प्रत्येक तीसरेपनवाले ज़मींदारको व्यतीत करना चाहिये, यही उनकी इच्छा थी।

मोहक कौन है ?

(लेखक—पं० श्रीहरगुलालजी वशिष्ठ)

सुना जाता है कि 'यह माया ही मनुष्यको जालमें फँसाती है। इसीके मोह-पाशमें फँसकर जीव ईश्वर और अपने आपको भूल जाता है तथा सत्-पथसे भ्रष्ट होकर अन्धकारके गर्तमें जा गिरता है।' कबीरने कहा है 'रमैया तेरी माया दुन्द मचावै' यहींतक नहीं, कितने तो इससे भी आगे बढ़ गये हैं। वे तो यहाँतक कह देते हैं कि परमात्माने मायाकी रचना ही इसलिये की है कि जीव उसके मोहमें पड़कर विषयोंका दास हो जावे। पुराणोंमें इन्द्रका इन्द्रासनकी रक्षाके लिये विश्वामित्रादि ऋषियोंकी तपस्याको भ्रष्ट करनेका अनेक जगह उल्लेख है। इन आख्यायिकाओंका दार्शनिक भाव कुछ भी क्यों न हो परन्तु अनेक कवि और विद्वान् इन आख्यायिकाओंको विराट् रूप देकर परमात्मातकको इस कार्यमें लिप्त कर लेते हैं, वह मायाको मोहक बनाता है जिससे जीव उसमें फँसे रहें।

कुछका कहना है कि मायाका आकर्षक रूप ईश्वरने इसलिये बनाया है कि जिससे जीवकी परीक्षा हो।

वेद भगवान् बताते हैं 'ईश्वर हमारा सच्चा पिता, मित्र, बन्धु और हितैषी है। वह परम दयालु है।' तब हमारे सामने निम्न प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं—

(१) क्या ईश्वरकी माया (प्रकृति वा विकृति) मोहक है ?

(२) क्या ईश्वरने इसकी रचना मनुष्योंको फँसानेके लिये की है ताकि सब मुक्ति न पा सकें? कोई विरला शूरवीर ही इस मायाके अभेद्य व्यूहको तोड़कर मोक्ष-पद प्राप्त कर सके न कि सब।

(३) क्या यह माया मुक्तिकी परीक्षाका विषय है ?

जब परमात्मा हमारे सच्चे पिता, मित्र और हितैषी हैं तब वे ऐसी रचना क्यों करते हैं? वे तो हमारा अत्यन्त कल्याण चाहते हैं। यदि परमात्माकी कोई इच्छा है तो यही कि हम मोक्ष प्राप्त करें। पिता तो पुत्रके लिये मार्गको सरल बनाता है न कि जटिल। पुत्रको पिताके पास पहुँचना है। पुत्रके लिये उस अन्तरको तय करना ही यथेष्ट पुरुषार्थ है जो उसके (पुत्रके) और पिताके बीचमें है। बालक माताके पास दुग्ध-पानके लिये दौड़कर

जाता है किन्तु वह खड़ी हुई माँकी छातियोंतक नहीं पहुँच सकता तब बालक करुणाकी दृष्टिसे माँको देखता है । माँ बालककी असमर्थतासे आर्द्र होकर उसे उठाकर हृदयसे लगा लेती है । बालकका पुरुषार्थ माँके चरणोंतक पहुँचनेपर समाप्त हो जाता है । बादमें तो माताकी दया ही काम करती है । जो माता बालकके पुरुषार्थके बिना बालकको अपने चरणोंसे उठाकर हृदयसे लगा लेती है, वह माता क्या दूरसे दौड़ते हुए बालकके मार्गमें काँटे और कंकड़ बखेरेगी ? काँटे और कंकड़ तो तब बखेरे जाते हैं जब बालकको माताके पासतक आनेसे रोकना हो ।

जगज्जननी तो हमें अपने पास बुलाना चाहती है ताकि हम उसके हृदयका अमृत पान करें । वह तो यहाँतक स्नेहमयी है कि जब हमारी शक्ति समाप्त हो जाती है तब वह स्वयं आगे बढ़कर हमें उठाकर दूध पिलाती है । जो जगज्जननी बिना हमारे पुरुषार्थके केवल हमारी असमर्थतासे आर्द्र होकर हमें चरणोंसे उठाकर हृदयसे लगा लेती है वह विश्व-माता हमारे मार्गमें मायाके—प्रकृतिके मोहमय काँटे नहीं बखेर सकती ।

'माया-मोहके काँटे केवल परीक्षाके लिये हैं' यह बात भी न्याय-संगत नहीं—तर्कमें नहीं ठहर सकती । जब व्यायामशालामें कोई व्यायाम सीखा जाता है तब वहाँका स्थान साफ कर दिया जाता है ताकि व्यायाम करनेवालेको कंकर-पत्थर कष्ट न दें । यहींतक नहीं बल्कि स्थानको सुखमय बनानेके लिये घास और रेत बिछा दिया जाता है ताकि विद्यार्थीको कष्ट न हो । शरीरकी साधना ही पुरुषार्थ तथा परीक्षाका माध्यम है न कि काँटे-कंकड़ोंको हटाकर साधना करना । विघ्न-बाधाओंके साथ युद्ध करनेकी शिक्षा और अभ्यास तथा उसमें सफलता प्राप्त करनेकी ज़रूरत तो तब होती है जब कहीं दूसरे स्थानपर वैसी विघ्न-बाधाओंसे मोरचा लेनेकी सम्भावना हो । सेनाका अश्वारोही खाई कूदनेका इसलिये अभ्यास करता है जिससे वह आगे खाई कूद सके । परीक्षक भी घोड़ेकी परीक्षा इसलिये लेता है ताकि वह यह जान ले कि घोड़ा भविष्यमें, यदि ज़रूरत पड़ी, खाई कूद जायगा वा नहीं । परन्तु मुक्ति प्राप्त कर लेनेके बाद तो जीवको मायारूपी खाईके कूदनेकी ज़रूरत ही नहीं पड़ेगी । मुक्त जीवको लोकान्तरमें किसी अन्तरायके उत्तीर्ण करनेकी ज़रूरत ही नहीं । कोई भी परीक्षक ऐसे विषयकी परीक्षा नहीं लेता जो परीक्षा-उत्तीर्ण व्यक्तिके भावी जीवनके लिये न तो ज़रूरी हो और न उसका होना सम्भव ही हो । मुक्त जीवको माया-मोहसे जब सरोकार ही नहीं रहेगा तब इस माया-मोहरूपी बाधाको उत्तीर्ण करनेका अभ्यास कराना बिल्कुल निरर्थक-सा है । उस माया-मोहको भेदन करनेकी सामर्थ्य-शक्तिको जानना भी व्यर्थ है ।

तब क्या प्रकृति स्वयं मोहक है ?

सूक्ष्म दृष्टिसे नहीं, बड़ी स्थूल दृष्टिसे देखनेसे ही मामला साफ हो जायगा कि माया मोहक नहीं । वह हमें मोहित कर ही नहीं सकती । प्रभुका विकासवाद इतना शुद्ध, स्वच्छ और प्राञ्जल है कि माया हमें लेशमात्र भी विमोहित नहीं करती ।

मायाका साक्षात् हमें पाँच ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा होता है । यह पाँचों इन्द्रियाँ ही विषयरत होकर हमें वासनामें फँसाती हैं । इन्हीं इन्द्रियोंसे पूछिये कि वे ईश्वर-विकसित किस वस्तुमें विमोहित होती हैं ।

शब्द

शब्द आकाशका गुण है और कर्णेन्द्रियद्वारा जाना जाता है । प्रकृतिके जितने शब्द हैं उनमेंसे कोई भी ऐसा नहीं जिसे सुनकर मनुष्य शब्द-माधुर्यमें आसक्त हो—कनरसिया बन जावे । कवि कहते हैं कि कोयलका शब्द बहुत ही मधुर होता है परन्तु आजतक कोई भी रसिक केवल कोयलके शब्दपर मोहित होकर उसके पीछे मजनू नहीं बना । कवियोंकी रचनाओंका गुलाम कोई काव्यप्रेमी भले ही कोयलकी कूकपर सर्द आह भरने लगे किन्तु कोयलकी कूक स्वतः किसीको मस्त नहीं बनाती । वायु, जल, अग्नि तथा अनेक प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओंका कोई शब्द इस संसारमें ऐसा न मिलेगा जो मनुष्यको विमोहित करके कनरसिया—इन्द्रियासक्त बना दे । प्रकृतिने अपनी रचनाओंमें शब्द-माधुर्य ऐसी कुशलतासे तथा ऐसी उचित मात्रामें उत्पन्न किया है कि वह मनुष्योंमें न राग पैदा करता है न द्वेष । न विरक्ति न आसक्ति । तब मनुष्य कनरसिया क्यों बनते हैं ? इसका उत्तर है 'हज़रते इंसानके मनमाने आविष्कारोंके कारण' कुत्ते, गधे, हाथी, मोर और कोयलके शब्दोंमें माधुर्य कहाँ है ? परन्तु सप्तारोहीकी ईजादने, सरगमके जन्मने तथा छः राग और छत्तीस रागिनियोंने इस मनुष्यको कनरसिया

बनाकर दर-दरका भिखारी बना डाला। दुनिया कहती है गाना मोहिनी विद्या है। जो सुनता है, विमोहित हो जाता है। कितने तो घर-बार, अपने हिताहित तकको भूलकर 'सा रे गा म प ध नी' की धुनमें ऐसे मोहित होते हैं कि कुछ न पूछिये। सारंग, सितार, वीणा, बाँसुरी अनेक बाजे क्या प्रकृतिने पैदा किये ? वृक्षोंकी डालोंपर फले-फूले या सोने-चाँदीकी तरह खानसे निकले ? यह सब हज़रते इंसानकी ही करतूत तो है ? ग़रीब हरिण भी वीणावालेके पीछे लगकर वधिकका लक्ष्य बन जाता है।

पुरुष-गवैयोंपर स्त्रियाँ, स्त्री-गायिकापर पुरुष मोहित होकर क्या-से-क्या बन जाते हैं, कहाँ-से-कहाँ पहुँच जाते हैं।

गायन-कलाको जाने दीजिये। इस हज़रते इंसानने दूसरोंको विमोहित करनेके लिये, दूसरोंपर अपना प्रभाव डालनेकी कुप्रवृत्तिमें, दूसरोंको अपने प्रपञ्चमें फँसानेके खातिर भाषण-कला भी बना डाली। आज जो हजारों एजेण्ट तथा अनेक विज्ञापनदाता व्यापारिक क्षेत्रमें कार्य कर रहे हैं वे सब इसी कलाकी भित्तिपर शब्द-विन्यास करके दूसरोंको विमोहित करते हैं। यदि सब प्राञ्जल—सत्य कहते हैं तो इस कलाकी क्या ज़रूरत ? इसकी ज़रूरत तो तभी हुई जब अतथ्यको इस कलाके कौशलने तथ्यका रूप दिया। मधुर भाषण भी इस कलाका एक प्रपञ्च है—एक सुन्दर वाक्जाल है और यह सब इसलिये है कि दूसरोंपर हमारा प्रभाव पड़े, दूसरे हमारी ओर अनुरक्त हों। संसारमें जितने मृदु तथा कटु शब्द हैं, जिनके द्वारा राग-द्वेष होता है—जो रुचि और ग्लानिकी रचना करते हैं वे सब इस इंसानकी रचना हैं। हे नरशार्दूल! देख! खूब ध्यान देकर देख! संसारकी जिस वस्तुसे मधुर चित्तको मस्त कर देनेवाला शब्द निकलता है वह प्रकृतिकी नहीं, अपितु तेरी रचना है। और यदि वह वस्तु प्रकृतिकी रचना है तो हे कर्मवीर पुरुष! यह विषयी मधुर शब्द-कला उसमें तूने ही ठूस-ठूसकर भरी है। छानबीन करके देख! संसारमें तेरा जहाँ-जहाँ दख़ल हुआ है वहाँ-वहाँ मेरा यह व्यापक सत्य सिद्धान्त मिलेगा।

रूप

दूसरी वस्तु है रूप। आँख ही इसे पहचानती है। मायाकी रचनामें नदी, वृक्ष, पहाड़, हरे-भरे खेत, पशु-पक्षी और मनुष्य ही दिखायी देनेवाली वस्तु हैं। अन्तरिक्षमें आकाश, मेघ, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा भी दिखायी देते हैं। मायाकी रचनामें स्त्री-पुरुष बिल्कुल नङ्गे हैं। तेल, फुलेल (इत्र) साबुन, वस्त्रालङ्कार मायाकी रचना नहीं। मायाके स्वरचित उद्यान, वन-उपवन, सरितातट तथा चाँदनी रात किसी मनुष्यको आसक्त नहीं करते। उनमें मायाने उतना ही सौन्दर्य रक्खा है जितनेकी ज़रूरत थी, जितनेसे मानवके हृत्-पटपर वासनाके अंकित होनेकी सम्भावना न थी। आसक्तिको उत्पन्न करनेवाली तीव्रता उस सौन्दर्यमें नहीं। काश्मीर और मानसरोवरपर जाइये, मायाका अत्यन्त रमणीक दृश्य भी दर्शकके हृदयमें वासना उत्पन्न न करेगा। संसारकी अत्यन्त रूपवती कन्याको जंगली जानवरकी तरह नङ्गी ही परवरिश पाने दीजिये। उस जंगली वातावरणमें पली लैलाका (जो कभी अत्यन्त गौर वर्ण थी) कोई भी मजनू न बनेगा। मायाकी कोई भी रचना संसारमें ऐसी न मिलेगी जिससे दर्शकको राग हो—उसमें आसक्ति हो या द्वेष हो, उसके प्रति घृणा हो।

अब इस इंसानकी करतूतको देखिये। झोपड़ीसे लेकर लाखों मुद्राओंसे बनी हुई अट्टालिकाओंको निहारिये। देखते ही दर्शकके मनमें राग पैदा होता है 'मेरा भी ऐसा ही महल बने।' और यहींसे वासनाका जन्म होता है। वस्त्रालंकार, बर्तन तथा दूसरा सामान जो कुछ बाजारोंमें नजर आता है इस मनुष्यकी करतूत है जो रूपके कारण बाजारमें बिक रहा है। इन बाजारू (मनुष्यकृत) चीजोंका रूप ही दर्शकके मनमें वासना उत्पन्न करता है 'मैं भी इनका संग्रह करूँ।' जंगलकी काली-कलूटी युवती साबुन, तेल, फुलेलके संसर्गसे कोमलांगी गौर वर्ण सुन्दरी बन जाती है। वस्त्रालङ्कार और केशविन्यास उसे रमणी बना देता है। हम भी कह देते हैं 'स्त्री मायाका रूप है।' पर सच तो कहो यह सब करतूत इंसानकी है या मायाकी ? अपने चारों ओर तलाश करो कि प्रकृतिकी वह कौन-सी सुन्दर रचना है जिसके प्राप्त करनेके लिये तुम आतुर हो। तुम्हें पता लगेगा कि प्रकृतिकी कोई भी रचना तुम्हें अपनी ओर अनुरक्त करके व्यथित नहीं कर रही है।

गन्ध

तीसरी वस्तु है गन्ध। मायाकी रचनामें दुर्गन्धका कहीं पता ही नहीं। यदि कहीं है भी तो गर्भमें बिल्कुल

अव्यक्त । प्रकृतिके बगीचेके फूल सुगन्धित हैं परन्तु वे नासिकाके लिये वासना उत्पन्न नहीं करते, कोई भी इस सुगन्धपर मस्त होकर अपने कर्तव्यको तिलाञ्जलि नहीं देता । मायाने इन फूलोंमें सुगन्ध ऐसी होशियारी और इतनी उचित मात्रामें रक्खी है कि वह न तो हानिकर है और न आसक्ति ही उत्पन्न करती है । इंसानके लगाये बागोंमें मोह उत्पन्न करनेवाला सौन्दर्य है परन्तु प्रकृतिके स्वरचित बागोंमें वह भी नहीं । इस इंसानने उन्हीं फूलोंसे इत्र निकाला, सुन्दर-सुन्दर शीशियोंमें सजाया और इस इंसानको गन्धकी वासनामें डुबो दिया । वस्त्रोंमें, सुन्दरियोंकी कायामें तथा खाद्य पदार्थोंमें उस गन्धसारको पहुँचाकर इस शैतान इंसानने वह बीभत्स व्यापार उत्पन्न कर दिया कि आज उसकी सन्तान वासनाके तापसे जली जा रही है ।

स्पर्श

चौथी वस्तु है स्पर्श । प्रकृतिकी रचनामें भी कोमलता, चिकनापन है परन्तु मायाकी कृतिमें कैसा कौशल है कि वह हममें आसक्ति उत्पन्न नहीं करती । फूलकी पङ्खड़ी कितनी कोमल और चिकनी है परन्तु उससे हमारे हृदयमें ममता या आसक्ति उत्पन्न नहीं होती । कहीं ढूँढ़ लो मायाकी रचना ममत्व उत्पन्न कर ही नहीं सकती । लेकिन इस मनुष्यने अपनी कृत्रिम रचनाओंसे स्त्रीको अतिशय कोमलाङ्गी बनाकर छोड़ा, केवल स्पर्श-सुखके लिये । कोमल और चिकने वस्त्र, मुलायम गद्दे तथा दूसरी चिकनी वस्तुएँ जो कुछ हम देखते हैं सब मनुष्यकी रचना हैं जो हमारे हृदयमें वासना, ममता उत्पन्न करती हैं जिसके कारण हम अपने जीवनका ध्येय, अपना कार्य-क्रम उनका प्राप्त करना ही बना लेते हैं । इसीमें हमारा जीवन बीत जाता है और इसे ही हम कहते हैं 'मायाने हमें फँसा लिया ।'

स्वाद

पाँचवीं वस्तु है स्वाद । यही सबसे मुख्य है । सच बात तो यह है कि इसीके कारण शेष चारोंकी ज़रूरत पड़ती है । 'पेटमें पड़ गया चारा । तब कूदन लगा बेचारा' यह कहावत बिल्कुल ठीक है । जबतक भोजन नहीं मिलता न रूप भाता है, न सुगन्ध और न ध्रुपदकी तान ही ।

जब ख़ूब सुस्वादु पौष्टिक तथा उत्तेजक भोजन किये जाते हैं तो उनसे कामज्वरका पागलपन उत्पन्न हो जाता है । उस पागलपनको तृप्त करनेके लिये ज़रूरत होती है मधुर सङ्गीत, सुगन्ध, रूप और स्पर्श-सुखकी । कला-कोविद इंसानने एक लावण्यमयी शृंगारयुक्त सुन्दरीमें चारों वस्तुएँ केन्द्रित कर दी हैं ।

यह तो रहा विषयान्तर । मायाने जो रचना की है उसमेंसे मनुष्यके खाने लायक पदार्थोंको ढूँढ़ना है । कंकड़-पत्थर मनुष्य खा नहीं सकता । धूल, मिट्टी, लकड़ी भी नहीं खायेगा । फल और दूध ही प्रकृतिकी ओरसे मनुष्यको खानेके लिये मिलते हैं । दूध तो माताके स्तनोंसे ही आरम्भ हो गया था । स्त्रीके दूधमें ऐसा स्वाद ही नहीं जिसके कारण मनुष्य चटोरा बने । गायके दूधको ज्यों-का-त्यों पीनेसे वह उतना ही पिया जायगा जितनेसे क्षुधा शान्त हो सके । फल भी मनुष्य उतने ही खायेगा जितनी ज़रूरत शरीरको होगी । मायाने अपनी रचनाओंमें स्वाद भी ऐसी होशियारी और इतनी उचित मात्रामें रक्खा है कि मनुष्य उतना ही भक्षण कर सके जितनी मानव-शरीरको ज़रूरत है । प्रकृतिकी रचनामें हर वस्तुमें प्रायः एक ही रस रक्खा है । आँवलेके समान जिन वस्तुओंमें एकसे अधिक रस मिश्रित हैं उनमें भी मिश्रण ऐसा कुशलपूर्ण है कि क्षुधातुर मनुष्य भी उनपर अनुरक्त नहीं हो सकता ।

मनुष्यको इतना सन्तोष कहाँ ? उसे तो मायाकी रचनामें अपनी करामात दिखानी थी । दूधको पकाया, उससे दही, मक्खन, माठा और मिठाइयाँ बना डालीं । स्वादमें तीव्रता और रोचकता बढ़ाता चला गया । गन्नेके रससे गुड़-खाँड अनेकों चीजें बना डालीं । अनाजके दानोंमें प्रकृतिने उतना ही स्वाद रक्खा था जितनेसे क्षुधा-निवृत्ति हो सके और मनुष्य उतना ही खावे जितनेकी ज़रूरत शरीरको है परन्तु मनुष्यने उन अन्नके दानोंको पीसकर भोजनोंके अनेक सात्त्विक, राजसिक और तामसिक रूप बना डाले । बिना भूख भी सेरों अन्न खाया जाने लगा । बिना ज़रूरत भी पौष्टिक भोजन कण्ठसे नीचे उतरने लगा और तब कहावतने जन्म लिया 'इस पापी पेटके लिये सब कुछ हो रहा है' मनुष्यकी रचनाने ही षट्रस व्यञ्जनोंके अनेक रूप बनाये जिनके मिश्रणसे मनुष्य रसनाका दास बना और माया बेचारीका मुफ्तमें नाम बदनाम हुआ ।

यदि मनुष्यकृत व्यञ्जनोंको भूमण्डलसे नष्ट कर दिया जावे तो रसनाकी चखौतियाँ स्वतः नष्ट हो जावेंगी। यदि मनुष्यके लिये केवल कच्चा दूध, कच्चा अन्न और ताज़े फल ही रहें तो बहुत शीघ्र ही शेष इन्द्रियोंके लिये इस मनुष्यकी कृत्रिम रचनाएँ स्वतः नष्ट हो जावेंगी।

ध्यान देकर पूर्ण विचार करनेसे पता लगेगा कि हमारे मार्गमें जो काँटे-कंकड़ हैं, हमें विषयोंमें फँसानेवाली जो वस्तुएँ हैं वे सब हमारी ही रचना हैं मायाकी नहीं। माया तो एक बड़ा भारी जहाज है जिसके द्वारा ही हम प्रभुके देशको जा सकते हैं। यह हम ही हैं जो अपनी यात्रामें रोडा अटका रहे हैं। हम मायारूपी जहाजके तख्तोंको तोड़-तोड़कर अपने लिये सन्दूक और पिटारे बनाते हैं और उन पेटियोंके सौन्दर्यमें निमग्न हो जाते हैं। इष्ट-प्राप्तिको भूलकर अपनी रचनामें खो जाते हैं तब हम दोष देते हैं जहाजको कि इसने हमारी पुनीत यात्रामें बाधा डाल दी। यह है हमारा विशुद्ध निर्णय! हमारी निर्दोष भावना!

यदि संसारसे मनुष्यके समस्त आविष्कार निर्मूल हो जायँ और यह मनुष्य निकम्मी वस्तुकी तरह निश्चेष्ट भी पड़ा रहे तब भी इसका जीवन इतना अशान्त न रहे जितना अब इसके कर्मवीरताके युगमें है।

देहातके असभ्य गँवार ग्रामीणोंका ग्राम्य-जीवन योरोप और एशियाके विद्वान् ज्ञानी सभ्योंके जीवनसे कहीं अधिक सुखद, शान्त और निर्विषय है क्योंकि उन्होंने मङ्गलमय भगवान्‌की मायाका विश्लेषण करनेकी गुस्ताख़ी नहीं की। उन्होंने भगवान्‌की रचनाओंको अपने लिये पूर्ण, विशुद्ध और निर्दोष माना। उनमें हेर-फेर करनेकी, उनका सत्त्व निकालनेकी अक्लमन्दी नहीं की और न ज़रूरत ही समझी।
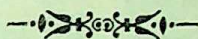
प्रार्थना

(लेखक—पं० श्रीरमेशजी द्विवेदी बी० ए०, विशारद)

संसारका प्राणीमात्र किसी-न-किसी रूपमें उस परम पिताको मानता ही है। उसी पतित-पावन परम पिताके सम्मुख अपने हृदयके सरल भावोंको रखना, आर्तत्राण-परायण भगवान्‌के सम्मुख दुःखोंके बोझसे नत होकर, श्रद्धा, भक्ति और अटल विश्वासके साथ प्रेमरसरञ्जित करुणाक्रन्दन करना ही प्रार्थना कहलाती है।

प्रार्थना, संसारके प्रत्येक धर्मका एक आवश्यकीय अंग है। संसारके प्रत्येक धर्मावलम्बीने प्रार्थनाकी शत-शत मुखसे प्रशंसा की है। प्रार्थना मनुष्य-जीवनका सर्वोत्कृष्ट साधन है। असहाय-अवस्थामें तो प्रार्थनाके अतिरिक्त और कोई उपाय रह ही नहीं जाता। दुःखसागरमें डूबते हुए मनुष्यके लिये प्रार्थनासे बढ़कर सुखद, मनोहर, शान्तिमय, सन्तोष एवं तृप्ति देनेवाली कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है। प्रार्थना मनुष्य-जीवनका प्रधान तत्त्व है, इससे रहित होकर मनुष्य-जीवन साररहित हो जाता है। प्रार्थनासे विमुख मनुष्यको संसारसागरकी साधारण हिलोरें अपने निश्चित मार्गसे विचलित कर देती हैं और उसे अवनतिके उस कल्पनातीत खण्डहरमें डाल देती हैं, जिससे पुनः उठना प्रायः असम्भव हो जाता है।

प्रार्थनाकी शक्ति अनन्त है। संसारका ऐसा कोई कार्य नहीं जो प्रार्थनाकी सहायतासे न किया जा सकता हो। Prayer can move mountain प्रार्थनाद्वारा अप्राप्य प्राप्य हो जाता है, असम्भव सम्भव बन जाता है। दुःख टल जाते हैं, टल क्या जाते हैं समूल ही नष्ट हो जाते हैं।

जब प्रेमपूर्ण सच्ची प्रार्थना उस निराकारको साकारतक बना देती है, उस जगत्-नायकको नंगे-

पाँवों दौड़ा सकती है, तब फिर वह और क्या नहीं कर सकती ?

किन्तु यह अनन्त शक्ति और प्रभाव उसी सच्ची प्रार्थनामें होता है जो केवल मुखसे नहीं वरं हृदयसे की जाती है। जहाँ शब्दोंकी गुञ्जारके साथ हृदय-तन्त्रीके कोमल तारोंकी मधुर झंकार भी मिश्रित रहती है। जिस प्रार्थनामें हृदय मुखको आता है, हृदयके मञ्जुल भाव उस अपने प्यारेके चारु चरणोंपर लोटनेके लिये आतुर हो जाते हैं, वही प्रार्थना वास्तविक प्रार्थना है और उसी प्रार्थनामें असीम शक्तिका समावेश रहता है।

प्रार्थना केवल शब्दोंद्वारा नहीं की जाती है। मौन रहकर भी प्रार्थना की जा सकती है। शब्द-विहीन होते हुए भी हृदयसे निकली हुई प्रेमपूर्ण कातर प्रार्थना वास्तविक प्रार्थना है। और हृदय-विहीन, किन्तु शब्दाडम्बर तथा संगीतयुक्त प्रार्थना तो कृत्रिम प्रार्थना है। दम्भ और आडम्बरयुक्त प्रार्थना, प्रार्थना नहीं, धोखेबाजी है। संसार चाहे धोखा खा जाये किन्तु वह रोम-रोममें रमा हुआ राम क्यों धोखा खायेगा ?

प्रार्थना तभी सार्थक समझनी चाहिये जब उससे शान्ति और आनन्द प्राप्त होने लगे। जिसप्रकार एक भूखे मनुष्यको भोजन मिलनेपर आनन्द मिलता है उसी प्रकार जब आत्माको भी प्रार्थनासे आनन्द और शान्ति प्राप्त होने लगे, तभी जानना चाहिये कि वह सच्ची प्रार्थना है।

प्रार्थनाके लिये समयका निश्चित होना आवश्यक है। हिन्दुओंकी नित्य त्रिकाल-सन्ध्याका यही तत्त्व है। कोई सतत प्रार्थना कर सके, उसका तो कहना ही क्या ? किन्तु हम संसारी जीव हैं, काम, क्रोध, लोभ, मोहसे ग्रसित पामर जीव हैं इसलिये सतत प्रार्थना करनेमें असमर्थ हैं। अतः प्रार्थनाके लिये एक समय निश्चित करना ही उचित और श्रेयस्कर है। उस निश्चित समयपर मनको यथाशक्ति एकाग्र करके, श्रद्धा और अटल विश्वासके साथ प्रेमपूर्ण प्रार्थना करनी चाहिये। और इसप्रकार नित्यप्रति अपने शरीर और मनमें प्रार्थनाद्वारा एक शक्तिका संचार करना चाहिये जिससे उसका प्रभाव हमारे हृदयपर दिन-रात बना रहे।

प्रार्थनाके लिये निश्चित समयपर शुद्ध होकर, यथासाध्य एकान्त, शान्त, पवित्र स्थानमें शान्त होकर बैठना चाहिये और मनमें यह भावना करनी चाहिये कि भगवान् यहाँ मेरे सामने उपस्थित हैं और मेरी प्रत्येक बातको सुन रहे हैं, सुन ही नहीं रहे हैं वरं हृदयकी आन्तरिक गतिको भी देख रहे हैं। इसप्रकार आसनपर बैठकर अपने प्यारे आराध्यदेवके सम्मुख दीनभावसे दिनभरके पापोंका स्मरण करके उनके सामने अपना सारा दोष रखना चाहिये और महान् पश्चात्ताप करते हुए आर्तभावसे क्षमा माँगकर केवल उस प्यारेके लिये ही हृदय खोलकर रोना चाहिये। और अपनी निजकी भाषामें सच्चे हृदयसे विनय करनी चाहिये। अथवा इसी आशयके पद तथा भजन गाने चाहिये। पर ध्यान रहे कि यह गान केवल मुखसे न हो, हृदयसे हो।

मनकी चञ्चलता प्रसिद्ध है। उसको शान्त करनेके उपाय तो केवल दो ही कहे जाते हैं एक तो प्रभुकी पावन प्रेरणा और दूसरा सतत अनथक अभ्यास। प्रभुकी प्रेरणापर अपना कुछ अधिकार नहीं, इसलिये अनथक अभ्यासद्वारा ही चञ्चल मनको प्रभुके चरणोंमें लगाना चाहिये। चञ्चल मन प्रयत्न करनेपर भी अपने विषयकी वस्तुओंकी ओर दौड़ेगा। इससे घबराओ नहीं, बार-बार उसे वहाँसे लौटा-लौटाकर

उन्हीं पावन चरणोंमें लगाते रहो। इसी प्रकार अनथक प्रयास करते रहो। जब मन अपना व्यापार नहीं छोड़ता तब उसको एकाग्र करनेका उद्योग क्यों बन्द किया जाय? इस सतत परिश्रमका यही फल होगा कि अन्तमें मनपर पूर्ण अधिकार हो जायगा। इतना होनेपर प्रार्थनामें वही आनन्द आवेगा जो एक भूखेको भोजनमें और प्यासेको शीतल जलमें प्राप्त होता है। फिर तो उस प्रार्थनामें वह आनन्द मिलता है, वह अलौकिक तृप्ति होती है, वह अनुपम शान्ति मिलती है जो वर्णनका विषय नहीं है। अनिर्वचनीय है।

यह तो हुआ मनको शान्त और एकाग्र करनेका आन्तरिक प्रयास; यद्यपि आन्तरिक प्रयासका मूल्य अधिक है किन्तु बाह्य प्रयास भी सर्वथा सहायक होता है। प्रार्थनाके समय अपने आराध्य देवका कोई मनमोहक चित्र सामने रख लो, ताकि नेत्रके सम्मुख नेत्रका भोजन हो। नेत्र बन्द रहनेपर उसी प्रभुकी मनोहर मूर्तिको अपने मन-मन्दिरमें देखते रहो और जब नेत्र खुले तो बाहर प्रभुका वही कमनीय चित्र देखो। उसीके सम्मुख प्रभुका स्मरण, उसके पावन नामका जप, कीर्तन अथवा कोई सुन्दर करुणापूर्ण पद गाकर प्रार्थना करो। परन्तु यह सारी क्रिया एकान्तमें ही करनी चाहिये।

यहाँ एक बात और जान लेनी चाहिये कि संसारी प्राणी होनेके कारण हमलोग भिन्न-भिन्न इच्छाएँ, लालसाएँ और कामनाएँ रखते हैं। हममेंसे कोई परीक्षामें उत्तीर्ण होना चाहता है, कोई पुत्र-लाभकी कामना रखता है, कोई व्यापारमें लाभकी आशा रखता है तो कोई मान-सम्मान चाहता है। कहनेका तात्पर्य यह कि हम एक नहीं अनेक कामनाएँ रखते हैं। यद्यपि प्रार्थनासे ये सारी इच्छाएँ पूर्ण हो सकती हैं परन्तु इनकी पूर्तिके लिये प्रार्थनाका प्रयोग न करके अपने पुरुषार्थपर या प्रारब्धपर ही विश्वास रखना चाहिये। स्वार्थमय सकाम प्रार्थना परमार्थ-मार्गके साधकके लिये तो कदापि उचित नहीं है।

सच्चा साधक तो अपने आराध्यदेवके सम्मुख हृदयसे यही कहेगा—

तन मन धन अर्पण कियो 'मोहन' तुमपर आज।
मन भावे सोई करौ हाथ तुम्हारे लाज॥

जिस प्रार्थनाद्वारा 'प्रभु-प्रेम' रूपी अमूल्य रत्न पाया जा सकता है, उससे यदि क्षणिक सुखरूपी काँच लिया जाय तो इस दशामें उस प्रार्थनाका दुरुपयोग ही होगा।

अवश्य ही सकाम प्रार्थना करना बुरा नहीं है। पर अच्छा भी नहीं है। यदि कभी अपनी ओरसे प्रेमकी कमी होनेपर या भगवान्‌की दिव्यदृष्टिमें हमारी कामना सिद्ध होनेमें हमारा नुकसान होनेके कारण वह कामना पूर्ण न हुई तो प्रायः चिरसञ्चित विश्वास-पर भी धक्का लग जाता है। इसलिये प्रार्थना सदैव निष्कामभावसे ही करनी चाहिये। प्रार्थना केवल इसलिये ही की जाय कि उसके बिना किये रहा ही नहीं जाता हो। और यदि कोई कामना ही रखना चाहे तो 'उसी' के प्रेमको उससे पानेकी कामना हो। उसके मिल जानेपर क्या नहीं मिल जाता है?

प्रार्थनाके सम्बन्धमें यह अन्तिम बात और जान लेनी चाहिये कि 'प्रार्थना' में हमें भूतकी तरह चिपटे रहना चाहिये। प्रार्थना क्यों करनी चाहिये? प्रार्थना न करनेसे कौन-सी हानि है? प्रार्थनासे क्या लाभ होगा? प्रार्थनामें जीवनका अमूल्य समय क्यों नष्ट किया जाय? आदि व्यापारसम्बन्धी प्रश्न विचारमें भी न आने देने चाहिये। सम्भव है इन प्रश्नोंके बिना उत्तर पाये प्रार्थना करनेवाले मनुष्यको

कुछ लोग बेवकूफ ठहरावें परन्तु अपनेको प्रणपर दृढ़ रहना चाहिये और अपने पावन-पथसे कभी विचलित न होना चाहिये।

यदि प्रार्थनाद्वारा अपना सर्वस्व उस प्राण-प्यारेके ऊपर वारनेके लिये प्रस्तुत रहोगे, यदि अपने करुणाक्रन्दनद्वारा उस करुणा-निधिकी करुणा-कोरको अपनी ओर आकर्षित करनेका अनथक प्रयास करते रहोगे, यदि तुम उस परम प्यारे मन-मोहनके चरण-कमलोंको अपने प्रेमाश्रुओंसे धोनेकी कामनाको हृदयमें विहार करने दोगे, उसके विषम वियोगसे क्लान्त होकर निशिवासर अपने आँसुओंसे उसके प्रतीक्षा-पथको सींचते रहोगे, यदि तुम्हारे प्राण आतुर और अधीर होकर उसीके लिये छटपटाते रहेंगे तो वह 'गजकी पुकारपर पैदल दौड़नेवाला प्रभु' कभी शान्त होकर न बैठेगा। वह आयेगा और आयेगा उस त्रिभुवनमोहिनी कमनीय छबिको लेकर, जिसके प्रकाशमें करोड़ों सूर्योंका सम्पूर्ण प्रकाश फीका पड़ जायगा, असंख्य सुधाकरोंकी ज्योत्स्नाकी सारी कलाएँ लज्जित हो जायँगी। संसारका सारा सौन्दर्य, सुमनोंका सारा उल्लासमय विकास अपना मुख छिपा लेगा।

सम्भव है कि उस समय ये तुम्हारे बाह्य नेत्र उसे न देख पावें। इसकी चिन्ता न करना। उन्हें अपने हृदयासनपर बैठा लेना। फिर भी ध्यान रहे कि प्रार्थनाका प्रवाह, जिसके द्वारा तुम्हारा प्यारा तुम्हें मिला है, बन्द न हो जाय। जिस प्राणप्यारे प्रभुके लिये तुम इतनी प्रतीक्षा करते रहे, उसके पानेपर भी प्रार्थनाका सतत प्रवाह प्रवाहित ही रहने देना। कभी उस पावन प्रवाहमें तुम स्वयं गोते लगाना और कभी उस अपने प्यारेको निमग्न करना। बस, यही प्रेम-क्रीड़ा अनन्ततक बनी रहे।
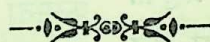
निपुण पात्रका नाट्यकरण

उठो, छोड़ दो अब यह रोना; माना--जीवन है निस्सार,
हम नगण्य कठपुतली भर हैं और नाचते विविध प्रकार
विश्व-नियन्ताकी इंगितपर, नहीं हमारा कुछ अधिकार
शब्द एक, पल एक, एक रजकण पर भी तो किसी प्रकार ॥

मान लिया जब सत्य इसे, तो फिर कैसा रोना-धोना ?
निश्चित अभिनय नियति-पत्रपर, तो कैसा प्रकाश खोना ?
कर्म और परिणाम सभी जब निर्धारित हैं पहिलेसे,
आँख मूँदकर हमको चलना, तो फिर क्यों चिन्तित होना ?

सुख-दुख, उन्नति-पतन, राग-विद्वेष और जागरण-मरण,
प्रेम-प्रशंसा, तिरस्कार-निन्दा, कटूक्ति या हास्य-रुदन,
शान्ति-रोष, करुणा-उपेक्षा, तुष्टि-ग्लानि या विरह-मिलन,
इन सबका अभिनय भर करना निपुण पात्रका नाट्यकरण ॥

—बालकृष्ण बलदुवा

प्राचीन आचार

(लेखक—विद्यासुधाकर पं० श्रीगोकुलदासजी शास्त्री)

हमारे हिन्दू-शास्त्रोंमें प्रत्येक क्रियाको धर्मकी दृष्टिसे देखा गया है और छोटी-से-छोटी दीखनेवाली बातके लिये भी विधिनिषेधकी व्यवस्था की गयी है। यद्यपि आजकल लोग इन सब बातोंको गहरे नहीं जानेके कारण व्यर्थ मान लेते हैं और इनका तिरस्कारकर अपनी अदूरदर्शिताका परिचय देते हैं। परन्तु वास्तवमें जरा गम्भीर दृष्टिसे देखनेपर इन सब बातोंमें विज्ञानसिद्ध अनेकों प्रकारके लाभ दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ आज उन लाभोंपर विचार न कर हिन्दू-शास्त्रोंके आधारपर ऐसी कुछ विधि-निषेधात्मक बातें अति संक्षेपमें दिखलायी जाती हैं, जिनका प्राचीन लोग बड़ी सावधानीसे पालन करते थे और लाभ उठाते थे। ऋषियोंका यह विश्वास था कि इस आचारके पालनसे लौकिक-पारलौकिक पूर्ण सुख और अन्तमें जन्म-मरणके बन्धनसे छुटकारा मिल सकता है। अतएव विशेष ध्यान देकर इन्हें जानना और कार्यरूपमें परिणत करना चाहिये

मलिन न रहना, शुद्ध-साफ वस्त्र पहनना, लाठी और पात्र साथ रखना, अपवित्र वस्तु अग्निमें न डालना, प्राणबाधा होनेवाला कार्य न करना, सूर्यास्त तथा सूर्योदयके समय भोजन, शयन, प्रयाण आदि न करना, भूमिको नख आदिसे न खुरेदना, जलमें न थूकना, रुधिर, विष आदि अपवित्र वस्तुओंको जलमें न डालना, सूने घरमें अकेले न सोना, सोये हुएको बिना कारण न जगाना, दूध पिलाती हुई गायको न स्वयं हटाना और न किसीसे हटानेके लिये कहना, आकाशमें इन्द्र-धनुषको देखकर किसीको न दिखाना, अधर्मी तथा रोगियोंके ग्राममें न रहना, पाखण्डियोंमें कभी न रहना, अकेले दूर गमन न करना, सूने पहाड़पर अधिक न रहना, रूखा पदार्थ न खाना, वृथा चेष्टा न करना, भोजन-सामग्रीको गोदमें रखकर न खाना, वृथा नाचने, गाने, बजाने, खम्भ ठोकने, हिड़हिड़ाकर हँसने, ऊँचे स्वरसे चिल्लाने आदि क्रियाओंको न करना, काँसीके बरतनमें पैर न धोना। दूसरेके पहिने हुए वस्त्र, गहने, माला, यज्ञोपवीत, जूते आदि कभी न पहिनना। भूखे, रोगी तथा अनसधे बैल, घोड़े आदिकी सवारी न करना, नख और बालोंको न उखाड़ना, दाँतोंसे नखोंको न काटना, मिट्टीके ढेलेको वृथा न तोड़ना, नखोंसे तिनके न तोड़ना, व्यर्थ कार्य न करना, चुगली न खाना, अपवित्र न रहना, निन्दित बातें न करना, गायपर न चढ़ना, रात्रिमें वृक्षकी जडोंसे दूर रहना, जुआ न खेलना, सोते हुए नहीं खाना, हाथ तथा आसनपर रखकर न खाना, नग्न होकर न सोना, अपरिचित किले, गुफा आदिमें न घुसना, मल-मूत्रको न देखना, बहुत जीनेकी इच्छा हो तो केश, भस्म, हड्डी, कपाल, कपास, तुष—इनपर न बैठना, दोनों हाथ मिलाकर सिरको न खुजलाना, सिरके बाल न नोचना, सिरपर प्रहार न करना, स्नान करके किसी अङ्गपर तैल न लगाना, सूर्योदयसे पहले उठना, धर्म-अर्थ और वेदके तत्त्वका विचार करना, अनजान जलाशयमें न नहाना, स्नानसे बचा हुआ जल, उबटन, रुधिर, कफ, वमन आदिको न छूना, वैरी तथा वैरीके सहायक, अधर्मी, चोर, पर-स्त्री,—इनका सहवास कभी न करना। पर-स्त्रीके सेवनसे बढ़कर आयुष्यका नाश करनेवाला दूसरा कोई अधर्म नहीं है।

दैववशात् अपनी दुर्दशा देखकर आत्माका अपमान न करना, सम्पत्तिको बढ़ानेका उद्योग करना,

सत्य और प्रिय बोलना, अप्रिय लगनेवाली सत्य वाणी न बोलना और प्रिय लगनेवाली मिथ्या वाणी भी न बोलना, सदा शुभ वाणी बोलना, किसीके साथ व्यर्थ वैर-विवाद न करना, अङ्गहीन काने, लूले आदिकी तथा अधिक अङ्गवाले, विद्याहीन, अत्यन्त वृद्ध, द्रव्यहीन, विरूप और जातिहीन मनुष्योंकी निन्दा न करना। बिना कारण इन्द्रियों तथा रोमोंका स्पर्श न करना। हाथ, पैर, नेत्र आदि अंगोंको व्यर्थ न चलाना, सीधापन रखना, बकवाद न करना, दूसरेसे द्रोह हो ऐसे कामोंमें बुद्धि न लगाना, जिस धर्ममार्गपर पिता-पितामह चलते आये हों उसी मार्गपर चलना। बालक, वृद्ध, आतुर, वैद्य, ज्ञातिवाले, बान्धव, माता, पिता, भाई, पुत्र, भार्या और दास इनसे विवाद न करना। दान लेनेमें अत्यन्त आसक्त न होना क्योंकि दान लेनेसे तेज क्षीण होता है। गुरु, वृद्ध, माता, पिता, अतिथि, पतिव्रता स्त्री, बालक पुत्र आदिका पोषण उचित दान लेकर भी करना। क्रोध करनेवालेपर क्रोध न करना, निन्दा करनेवालेसे भी प्रिय बोलना, नेत्रसे देखकर आगे पैर रखना, दुर्वृत्त हो तो भी किसी आश्रममें रहकर धर्माचरण करते रहना। पर-स्त्रीको श्रीमती, बहिन, माता कहकर सम्बोधन करना, अवस्थामें छोटे होनेपर भी काका, मामा आदिका उठकर आदर करना, बड़ी भुवा (फूफी), मौसी आदिको प्रणाम करना। अतिथिका सत्कार करना, विद्वानोंकी पूजा करना। उदय, अस्त तथा ग्रहणमें सूर्यके दर्शन न करना, सूर्योदयतक प्रातःसन्ध्या तथा जप करते रहना और तारकोदयतक सायंकाल सन्ध्या तथा जप करते रहना। गौ, देवता, ब्राह्मणको दाहिनी ओर रखकर चलना, छींक तथा जम्हाई लेती हुई, काजल लगाती हुई, सन्तान उत्पन्न करती हुई, भोजन करती हुई, और उबटना करती हुई स्त्रीको न देखना। एक वस्त्र पहिने भोजन न करना। मार्ग, जल, देवमन्दिर, बामी, बोये हुए खेत आदिमें मलमूत्र त्याग न करना। अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल, गौ आदिको मलमूत्र त्यागते समय न देखना। वनादिमें पत्ते आदिसे पृथ्वीको ढककर मल त्याग करना। शरीरको वस्त्रसे ढककर मौन रखकर दिनमें उत्तर और रातमें दक्षिणकी तरफ मुख रखकर मलमूत्र त्यागना। ये धर्म गृह तथा आपत्तिकालमें नहीं हैं।

अग्निको मुखसे न फूँकना। अग्निमें अपने पैरोंको न तपाना, अग्निको अपने नीचे न रखना और उल्लङ्घन न करना तथा न ठुकराना। अपने गलेसे आप ही माला न उतारना। अग्निशाला, गोशाला, ब्राह्मणोंके समीप, वेदाध्ययनके समय, भोजनके समय दक्षिण हाथको उठाना। अञ्जलिसे जल न पीना। फूटे तथा मन न माने ऐसे पात्रमें भोजन न करना। बालातप, चिताका धुवाँ और टूटे हुए आसनको त्याग देना। गृह, नगर आदिमें द्वारसे होकर जाना, उलटे रास्ते न जाना। रात्रिमें तिल मिली हुई वस्तुको न खाना, उच्छिष्ट मुखसे न चलना। गीले पैरसे भोजन करना। गीले पैर न सोना। दोनों भुजाओंसे तैरकर नदी पार न जाना। उच्छिष्ट मुख हो उस समय सिरको न छूना। सिरको बिना धोये न नहाना। हीनजाति और अधर्मी राजासे दान न लेना। आवश्यक कृत्यके बाद स्नान करके तीनों कालोंमें तीनों सन्ध्या करना क्योंकि ऋषि लोगोंने बहुत कालतक सन्ध्या-गायत्री जप करनेसे दीर्घायु, बुद्धि, यश, कीर्ति तथा ब्रह्मतेज प्राप्त किया था। भोजन करके स्नान न करना, देवमूर्त्ति, गुरु, राजा, आचार्य, कपिला गौ और दीक्षित इनकी छायाका जानकर उल्लङ्घन न करना। प्रातःकाल, सायङ्काल चौराहेमें अधिक समयतक न ठहरना। क्षत्रिय, साँप, वेदवेत्ता ब्राह्मण और दुर्बल दीनका अपमान न करना। अपवित्र दशामें तारागणोंको न देखना। मंगलाचारयुक्त, सावधान और जितेन्द्रिय रहना, नित्य जप और होम करना, श्रद्धासे दिये हुए अन्नादिका दान लेना। दान देकर किसीसे भी न कहना। शनैः-शनैः धर्म करते रहना।

लहसुन, प्याज, गाजर, धरतीके फूल आदि न खाना। वृक्षोंका गोंद, गूलरके फूल, लसोड़ा, दस दिनकी ब्यायी गायका दूध और मांस आदि न खाना। जल छानकर पीना। योग-दृष्टिसे परमात्माके सूक्ष्म रूपको सर्वत्र देखते रहना। ध्यानयोगके द्वारा अन्तरात्माकी गतिको देखते रहना।

जिन पापोंसे इस जन्ममें या दूसरे जन्ममें रूप बिगड़ जाता है, उनसे बचनेके लिये उन पापोंका यहाँ वर्णन किया जाता है। सोना चुरानेवालेके नख विकट होते हैं, शराबीके दाँत काले होते हैं। ब्रह्महत्यारा क्षयरोगी और गुरु-स्त्री-गामी कोढ़ी होता है। चुगलखोरकी नाक सड़ी होती है। निन्दक सड़े मुखवाला, अन्नचोर अंगहीन, पक्वान्नचोर महारोगी, विद्याचोर गूँगा, वस्त्रचोर सफेद कोढ़वाला, घोड़ेका चोर लूला, दीपकचोर अन्धा और दीपक बुझानेवाला काना होता है। इसप्रकार अनेक पापोंसे अनेक रोग होते हैं।

प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये झूठ बोलना, राजासे चुगली खाना, गुरुसे झूठ बोलना—ये ब्रह्महत्याके समान पाप हैं। वेद न पढ़ना, वेदकी निन्दा करना, झूठी गवाही देना, मित्रका वध करना, निन्दित अन्न खाना—ये मदिरापानके समान पाप हैं। धरोहर, मनुष्य, घोड़ा, चाँदी, भूमि, हीरा, मणि आदि चुराना सोनेकी चोरीके समान है। बहिन, कन्या, चाण्डालिनी, मित्रकी स्त्री, पुत्रकी स्त्री इनसे सङ्गम करना—गुरुपत्नीसे सङ्गमके समान पाप है। गुरु, माता, पिता, पुत्र, वेद, अग्नि—इनका त्याग, व्रतलोप, तालाब, बगीचा और स्त्री-पुत्रका बेचना, हरे वृक्षका काटना, ईश्वरके निवेदनका निमित्त न विचारकर केवल अपने ही लिये भोजन बनाना, होम न करना, ऋण करना, खोटे शास्त्र देखना आदि उपपातक गिने जाते हैं। ब्राह्मणको पीड़ा देना, दुर्गन्धित वस्तुका सूँघना, कुटिलता, अप्राकृत मैथुन—ये जातिसे भ्रष्ट करनेवाले पाप हैं। खर, अश्व, उष्ट्र, मृग, गज, अजा, गाडर, मच्छी, सर्प, भैंस—इनके वधसे शुद्ध जाति भी सङ्करजाति हो जाती है। निन्दितसे धन लेना, वणिज्-व्यापार करना, शूद्रका सेवन—ये कार्य पात्र ब्राह्मणोंको अपात्र बना देते हैं।

कृमि, कीट, पक्षीकी हत्या, फल, काष्ठ, पुष्प चुराना, धीरज छोड़ना—ये अन्तःकरणको मलिन करनेवाले पाप हैं। शास्त्रोक्त प्रायश्चित्तोंसे मरनेके पूर्व आत्माको शुद्ध कर लेना चाहिये। ब्राह्मणका तिरस्कार, पराजय, वध तथा वधकी इच्छा और प्रहार करके उसके अंगसे रुधिर निकालना आदि सर्वथा न करे। यदि अज्ञानसे कोई पाप बन भी जाय तो उसपर सन्ताप करे और फिर आगे पाप न करनेका संकल्प करे।

भगवान्की चाल बन्द !

कबहुक खग मृग मीन कबहु मर्कट तनु धरिकै।
कबहुक सुर नर असुर नाग मय आकृति करिकै।
नटवत लख चौरासि रूप धरि-धरि मैं आयौ।
हे त्रिभुवनके नाथ! रीझको कछू न पायौ॥
जो हौ प्रसन्न तो देहु बर मुक्ति-दान माँगौं बिहँस।
पै हौ उदास तो कहहु इमि 'मत धर रे नर स्वाँग अस'॥

—अज्ञात कवि

जीवन-प्रवाह

(लेखक—श्रीसत्यदेवजी शास्त्री)

जीवन-संग्राममें विजय प्राप्त करना होगा। शारीरिक मोह-पाशको तोड़ना होगा। नैसर्गिक तथा लोकोत्तर सौन्दर्यका दर्शन करना होगा। अपने वास्तविक स्वरूपको जानना होगा। इसके लिये शक्ति चाहिये। जैसा कि उपनिषद्में भी कहा है कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' यह आत्मा निर्बल प्राणियोंद्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। शक्ति ब्रह्मचर्यमें है। सच पूछिये तो ब्रह्मचर्य और शक्ति एक ही वस्तु है। ब्रह्मचर्यका अखण्ड व्रत पालन करनेहीसे अमोघ शक्ति सम्पादित होगी और उस शक्तिसे ही आत्मविजय होगी। देव! कमर कसकर तैयार हो जाओ। एक बार अपने अन्दर उस परम पुनीत अनन्त शक्तिका अनुभव कर लो जो सारे संसारको चला रही है। आओ, इस पवित्र आदर्शकी प्राप्तिके लिये दो-एक बातें निश्चय करें।

पवित्रताका जप करो, उसीका एकमात्र ध्यान करो। एकमात्र पवित्र विचार-धारामें अपने आपको बहा दो। पवित्रताका विचार करते-करते उसीमें तल्लीन हो जाओ। पवित्र विचारोंका अपने हृदयमें इतना ढेर लगा दो कि अपवित्र विचारोंके लिये हृदयमें स्थान ही न रह जाय। मनसा, वाचा, कर्मणा पवित्र बननेका प्रयत्न करो। पवित्रताका सुरम्य वायुमण्डल अपने चारों ओर तैयार कर लो। ऐसा वायुमण्डल तभी बन सकता है जब तुम परमात्माकी सृष्टिमें पवित्रता-ही-पवित्रता देखोगे। परमात्माकी सृष्टिमें कहीं अपवित्रता नहीं। अपवित्रता तो अपने अन्दर है। सबमें रामरूपकी झलक देखो। बस, पवित्रतामें रँग जाओ।

सब मनुष्योंमें, सब प्राणियोंमें अपने रूपको देखो, अपनेसे भिन्न मत समझो। 'अपना-सा सब जीवको जाने ताहि मिले अविनाशी।' अविनाशी सत्य उसीको प्राप्त होगा जो सब प्राणियोंको अपने ही जैसा समझता है।

'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥
(ईशोपनिषद्)

अपने हृदय-मन्दिरमें सिवा परमात्माके किसी-को स्थान न दो। यदि किसी व्यक्तिकी याद आती है तो आने दो किन्तु उसके सम्बन्धकी अच्छाइयों-का ही चिन्तन करो। उसे पवित्रताकी मूर्ति समझो। उसके सम्बन्धकी यदि कोई बुरी बात सुन रक्खी हो तो उसे सर्वथा भूल जाओ। उसे परमात्माका ही रूप समझो और यहाँतक उसमें परमात्माके रूपको देखनेका यत्न करो ताकि उसका पाञ्चभौतिक शरीर आँखोंसे ओझल हो जाय।

संसारमें यदि कोई बुरा दीख पड़ता हो तो इसका अर्थ है कि मैं स्वयं बुरा हूँ, और जो बुराई दूसरेमें दीख पड़ती है उसे अपने ही अन्दर समझकर उसके निकालनेका प्रयत्न करो। जबतक दूसरोंमें दोष देखनेकी दृष्टि होगी तबतक हमारी दृष्टि दूषित रहेगी और अन्तर्दृष्टिके खुलनेका अवसर न मिलेगा।

'बुरा जो देखन मैं चला बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना मुझसा बुरा न कोय॥'

अपने दैनिक जीवनका कार्यक्रम पहलेहीसे निर्धारित कर लो। मनको इसप्रकार सत् कार्योंमें फँसा रक्खो कि उसे और कुछ सोचनेका अवसर ही न मिले। जिस समय जिस कार्यमें लगो, बस,

अपनेको भूल जाओ और कायमय हो जाओ। बाह्य संज्ञाशून्य हो जाओ। किसी दूसरी बातका ध्यान भी मनमें न आने दो।

दुर्बलता तथा भयको दूर करो। सत् वस्तुपर अनन्य श्रद्धा रक्खो। मैं नित्य हूँ। शाश्वत हूँ। निर्भय हूँ। निर्विकार हूँ। शक्तिमान् हूँ, ऐसा निश्चय करो। प्रणव-मन्त्र 'ॐ' का जप प्रति श्वास-के साथ किया करो। बस, दुर्बलता और भयका नाम न रह जायगा।

जब किसी समय मन खाली रहे तो किसी एकान्त स्थानमें निकल जाओ और ज़ोर-ज़ोरसे भगवान्का नाम उच्चारण करो।

प्रिय! उठो, जीवन-संग्राममें कमर कसकर उतरो। संग्राम तो भयङ्कर है किन्तु यदि दृढ़ संकल्पका कवच पहन प्रभुमें प्रगाढ़ श्रद्धा रखकर मैदानमें उतरोगे तो विजयी होगे। वीरवर! उत्साहके साथ प्रेमोन्मादमें उन्मत्त रणक्षेत्रमें उतरकर आत्मविजय करो। जीवनके सारे दुःख मिट जायँगे। जीवन-प्रवाहमें बहते हुए तुम आनन्द-घन सच्चिदानन्द-सागरमें मिल जाओगे। आनन्द-मय हो जाओगे।

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी महाराज)

[गतांकसे आगे]

७१२–जिस अंशमें विचार केन्द्रित तथा प्रेरित किये जाते हैं उसी अंशमें वह उस कार्यमें प्रभावोत्पादक होते हैं जिसके पूरा करनेके लिये उनकी प्रेरणा होती है।

७१३–तुम्हें चोर और ईमानदारकी पहचान करनी चाहिये। परन्तु चोरसे भी अन्तरमें प्रेम करना चाहिये। सांसारिक पुरुष चोरको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं, उसे बाहरका समझते हैं और अपनेको पूरा-पूरा उससे अलग मानते हैं। परन्तु ज्ञानी पुरुष अपने आपकी तरह चोरसे प्रेम करता है तथा उसको अपने आपमें देखता है।

७१४–जब तुम यह स्मरण रखते हो कि एक असभ्य तथा बेईमान आदमी भी भविष्यमें एक सन्त हो सकता है तथा उसमें भी वे सारी दिव्य शक्तियाँ बीजरूपमें वर्तमान हैं तो तुम प्रत्येक मनुष्यसे प्रेम करने लगते हो। द्वेष क्रमशः अदृश्य होने लगता है। असभ्य तथा बेईमान मनुष्यका उन्नत तथा विकसित होना (अनुकूल) समयपर निर्भर करता है।

७१५–जब तुम अपने भीतर ब्रह्म-भावनाका अनुभव करते हो और जब तुम बाह्य चक्रको जिसको हानि पहुँचायी जा सकती है, अपनेसे अलग तथा अपना एक अंश समझते हो तो तुम्हें साहस मिलता जाता है। तत्त्वतः हम समान-रूपसे बलवान् हैं परन्तु विकासके दर्जे होते हैं। जब तुम्हें भय मालूम हो तो आश्रयके लिये भीतरसे, हृदयकी गुफासे (दहराकाशसे) आत्मासे शक्ति माँगो।

७१६–ब्रह्माने विचारा—'निश्चय ही यह लोक हैं, मैं लोकपालोंको रचूँगा।' उसने जल लेकर उससे हिरण्यगर्भ (पुरुष) की सृष्टि की, उसे तपसे तप्त किया। जब वह इसप्रकार तप्त किया गया, उसका हृदय फटा, हृदयसे मन निकला, मनसे मनका अधिष्ठातृ देवता चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। हृदय मनका स्थान है इसलिये हृदयके फटनेसे मन निकला। समाधिमें मन अपने यथास्थान (मूलस्थान) हृदयमें चला जाता है। स्वप्नावस्थामें भी यह हृदयमें रहता है उस समय इसके और ब्रह्मके बीचमें अज्ञानका पर्दा लगा रहता है। (ऐतरेयोपनिषद् १।३-४)

७१७–साधकके मनमें साधनकालमें तीव्र वैराग्य होना चाहिये। केवल तभी वह निर्विकल्प समाधि और मोक्ष प्राप्त कर सकता है। क्षुद्र वैराग्यके द्वारा संसार-समुद्रको पार कर लेना बहुत ही कठिन है। ऐन्द्रिय तृष्णा-का मगर ऐन्द्रिय विषय तथा ऐन्द्रिय भोगके लिये साधकका गला पकड़ता है और निर्दयतापूर्वक खींचते हुए आधे रास्तेमें ही उसे डुबो देता है।

७१८-यदेतत् हृदयं मनश्चैतत्संज्ञानं आज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः समाधिः संकल्पः क्रतुः असुः कामो वश इति सर्वाणि एवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ।

(ऐतरेयोपनिषद्)

'यह जो हृदयके नामसे जाना जाता है, यह मन, चेतना, विवेक, बुद्धि, मेधा, धृति, मति, विचार, दृष्टि, मनीषा, ज्योति, स्मृति, समाधि, संकल्प, निश्चय, शक्ति, काम और वश यह सभी बुद्धिके नाम हैं ।'

संज्ञान चेतना है, मेधा शास्त्रोंके निर्देशका अनुवाद करना है, यह शास्त्रोपदेशका समझना है, मति चिन्तन करना है, यह वेदोंके द्वारा प्रदर्शित मार्गमें श्रद्धा है—(शाण्डिल्योपनिषद्) मनीषा स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति है, यह तत्त्वदर्शियोंका आत्मिक चिन्तन है । जूतिः रोगोंमें मानसिक व्यथा है (दुःख—संवेदना) । क्रतुः चेष्टा है । असु जीवनका प्रयत्न है तथा जीवनके धारणके लिये जो चेष्टाएँ होती हैं । काम स्त्री-प्रसङ्गकी चाहना है । वशः मनका विभिन्न चेष्टाओंमें निरोध करना है ।

७१९-प्रभु ईसाका दिया हुआ Sermon on the mount राजयोगके यमके अभ्यासका सार है । उपदेशोंको अभ्यासमें लाना सहज नहीं । परन्तु यदि उनका अभ्यास किया जाय तो मन बहुत ही आसानीसे वशमें किया जा सकता है । उनके उपदेशका सार नीचे दिया जाता है—

(१) दीनभाववाले धन्य हैं, क्योंकि दीनभाव ही स्वर्गका साम्राज्य है ।

(२) वह धन्य हैं, जो शोक करते हैं क्योंकि वह सन्तुष्ट होंगे ।

(३) शान्त पुरुष धन्य हैं क्योंकि वे इस लोकके अधिकारी होंगे ।

(४) वे पुरुष धन्य हैं जो सत्यके लिये भूख-प्यास सहते हैं क्योंकि उनकी कामना पूरी होगी ।

(५) दयालु पुरुष धन्य हैं, क्योंकि उन्हें दया प्राप्त होगी ।

(६) शुद्ध-हृदय पुरुष धन्य हैं, क्योंकि वह भगवान्‌को प्राप्त करेंगे । यह राजयोगीके ब्रह्मचर्यका साधन है ।

(७) शान्ति-वाहक पुरुष धन्य हैं, क्योंकि वह भगवान्‌की सन्तानके नामसे पुकारे जायँगे ।

(८) जो सत्यान्वेषणके लिये अभियुक्त ठहराये जाते हैं वे धन्य हैं क्योंकि यहीं स्वर्गका साम्राज्य है ।

(९) तुम धन्य हो, जब मनुष्य मेरे कारण तुम्हें तिरस्कृत करते हैं, तुम्हें अभियुक्त ठहराते हैं, तथा झूठ-मूठ तुम्हारे विरुद्ध सब प्रकारके बुरे व्यवहार करते हैं । आनन्दित हो जाओ और परम हर्ष मनाओ, क्योंकि स्वर्गमें तुम्हें महान् पारितोषिक प्राप्त होगा, क्योंकि वह सारे देवदूत तुम्हारे सामने इसी प्रकार अभियोगी ठहराये गये ।

(१०) परन्तु मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम बुराईपर कायम मत रहो । परन्तु जो कोई तुम्हारे दाहिने गालपर तमाचा मारे, बायें गालको उसकी ओर फेर दो (राजयोगीके अहिंसाका साधन)

(११) और यदि कोई मनुष्य तुम्हें अभियुक्त ठहरावे और तुम्हारा कोट उतार ले तो तुम अपने लबादेको भी उसे दे दो ।

(१२) अपने शत्रुओंसे प्रेम करो, जो तुम्हें शाप दें उन्हें आशीर्वाद दो, जो द्वेष करें उनका उपकार करो, जो घृणापूर्वक तुम्हारे साथ बर्ताव करें तथा तुम्हें अभियुक्त बनावें उनके लिये प्रार्थना करो । (अहिंसाका साधन)

इस १२वें नम्बरका Sermon अभ्यास करनेसे सारे द्वेष ईर्ष्या निर्मूल हो जाते हैं तथा विश्वप्रेम विकसित होता है । प्रतिदिन काममें लगनेके पूर्व प्रातःकाल प्रभु ईसाका यह Sermon याद कर लो और दिनमें भी उसे एक-दो बार याद कर लिया करो; समय आनेपर तुम अपनी भावनाओं और दशाओंको नियमित कर सकोगे । धार्मिक विचारोंको उन्नत कर सकोगे तथा दोषोंको निर्मूल कर सकोगे । तुम्हें बहुत ही शान्ति और इच्छाशक्ति प्राप्त होगी ।

७२०-जिस प्रकार कड़ुआ, तिक्त, कषाय, अम्ल, मधुर आदि षट्रस जब रसनेन्द्रिय और मनके संयोगमें आते हैं तभी उनका पूरा-पूरा उपभोग होता है, उसी प्रकार जब उपासनाके समस्त उपकरण-सन्तोष, समता प्रभृति शान्तिके साथ युक्त होते हैं तभी व्यापक ब्रह्म-भावनाका उदय होता है ।

अहङ्कार मानसिक विचारोंके द्वारा विकसित होता है, 'अहं' की यह भावना अपने साथ-साथ देश, काल तथा

अन्य प्रभावोंको लाती है। इन बाह्य उपकरणोंके साथ जीव-संज्ञा गृहीत होती है। इसका अनुवर्तन करते हुए बुद्धि, स्मृति, मनका उदय होता है जो सङ्कल्पवृक्षके बीज हैं।

७२१-जब तुम 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' प्रभृति महावाक्योंके अर्थपर महावाक्यानुसन्धानकी क्रियाके द्वारा निरन्तर चिन्तन करते हो तो नेत्र-श्रोत्रादि सारी इन्द्रियों-के विषय बन्द हो जाते हैं, परन्तु संस्कारोंकी शक्तिके कारण मनोराज्य बना ही रहता है। निद्रा भी बाधक होती है। परन्तु यदि तुम सावधान होकर सतत सजग चेष्टा तथा स्वरूप-चिन्तनके द्वारा इन दोनों विघ्नोंको दूर करते हो तब दृढ़ ब्रह्माकार वृत्ति तथा ब्रह्मज्ञानका उदय हो जाता है, अज्ञान अदृश्य हो जाता है। तुम सहज परमानन्द-दशामें आ जाते हो, ज्ञानाग्निमें सारे सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं।

७२२-केवल मानसिक युक्तिसे योगमें सफलता नहीं मिल सकती। मुक्तिके लिये उत्कट अभिलाषा तथा साधन-के लिये उच्चतम वैराग्य और योग्यता होनी चाहिये।

७२३-सारी क्रियाएँ चाहे वह आन्तरिक हों अथवा बाह्य, तभी हो सकती हैं जब मन इन्द्रियोंसे संयुक्त होता है। विचार ही वास्तविक कर्म हैं।

७२४-तुम दृढ़ अभ्यासके द्वारा मनको वशमें कर सकते हो, यदि तुम अपनी भावनाओं और दशाओंको नियमित करते हो तो तुम मूर्खता-भरे दुष्कर्म नहीं कर सकते। ध्यान नाना प्रकारके बुरे विचार तथा बुरे कर्मोंकी भावनाओं तथा प्रवृत्तियोंको बहुत कुछ रोकता है।

७२५-यदि तुम इन्द्रियोंकी ओर तथा उनके विपरीत इच्छानुसार मनको लगाकर तथा हटाकर प्रत्याहारका अभ्यास कर सकते हो तो तुमने वस्तुतः मनपर अधिकार प्राप्त कर लिया है। तुम मनकी बाह्य प्रवाहित होनेवाली प्रवृत्ति तथा शक्तियोंको रोक सकते हो। प्रत्याहार आन्तरिक आध्यात्मिक जगत्में उतरनेकी प्रथम सीढ़ी है। जिसने प्रत्याहारपर सफलता प्राप्त कर ली है वह बहुत आसानीके साथ दीर्घकालतक मनको एकाग्र कर सकता है। प्रत्याहार-के पूर्ण हो जानेपर धारणा और ध्यान स्वयमेव आ जाते हैं, साधकको प्रत्याहारके सिद्ध करनेके लिये अत्यन्त परिश्रमकी आवश्यकता होती है। प्रत्याहारमें सफलता प्राप्त करनेके लिये पूर्ण वैराग्यकी आवश्यकता होती है। कुछ वर्षोंतक लगातार चेष्टा करनेपर तुम सफलता प्राप्त कर सकते हो। 'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्' उससे इन्द्रियों-पर परम अधिकार प्राप्त हो जाता है। (पातञ्जलयोग० २। ५५) यदि प्रत्याहार पूर्ण हुआ तो सारी इन्द्रियाँ पूर्णतया वशमें हो जाती हैं।

७२६-साधनाकालमें लोगोंमें अधिक न मिला करो, अधिक बातें न किया करो, न अधिक टहलो, न अधिक भोजन करो, न अधिक नींद लो। इन पाँचों निषेधोंपर खूब ध्यान रक्खो। लोगोंसे ज्यादा मिलने-जुलनेसे मन विच्छिन्न होता है। अधिक बातचीतसे मन क्षुब्ध होता है। अधिक घूमनेसे मनमें दुर्बलता उत्पन्न होती है। अधिक भोजनसे आलस्य और तन्द्रा उत्पन्न होती है।

७२७-वैदान्तिक प्रारम्भिक साधनामें मुक्तिके चार उपाय (साधनचतुष्टय) बतलाये गये हैं। इन चारोंमें-से एक षट्सम्पत्ति है। यह सम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधानरूप षट्सम्पत् यथार्थतः मनको वशमें करनेके यौगिक साधन हैं। वासना-त्यागके द्वारा राजयोगियोंका 'चित्तवृत्तिनिरोध' ही शम है। दम ही प्रत्याहार है। समाधान ही योगियोंकी एकाग्रता है। हंस-पत्ती (मोक्ष) के ज्ञान और योग दो पंख हैं।

७२८-भावेच्छा और वस्तु है और भावानुभव और वस्तु है। जहाँ इच्छा-तत्त्वकी प्रधानता होती है वहाँ भावेच्छा होती है और जहाँ सुखतत्त्वकी प्रधानता होती है वहाँ भावानुभव होता है। (क्रमशः)

महात्मा देवीदानजी संन्यासी

(लेखक—श्रीजगदीशसिंहजी गहलोत)

गत तारीख २२ अगस्त सन् १९३२ ईस्वीको जोधपुरमें एक प्रसिद्ध संन्यासीका देहावसान हो गया। इनका नाम ब्रह्मनिष्ठ महात्मा देवीदान संन्यासी था। आप केवल मारवाड़में ही नहीं सारे राजपूतानेमें अपने यौगिक बल एवं परोपकारके लिये प्रसिद्ध थे। इनको गरीब-अमीर, राजा-महाराजा सभी मानते थे। इन्होंने आयुके शेष भागमें जनसाधारणका परमार्थके उपदेश, औषध-दान आदिद्वारा बड़ा उपकार किया। इनके अन्त्येष्टि-संस्कारमें जोधपुर शहरके सब धर्मोंके और सभी स्थितिके लोग प्रायः सात-आठ हजारकी संख्यामें शहरसे पाँच मील दूर 'देवीदान देवस्थान' नामक स्थानमें सम्मिलित हुए थे। श्रीदरबार साहबने भी उस दिन अपने राज्यके सरकारी दफ्तरों, कचहरियों, स्कूलोंमें आम छुट्टी कर दी थी।
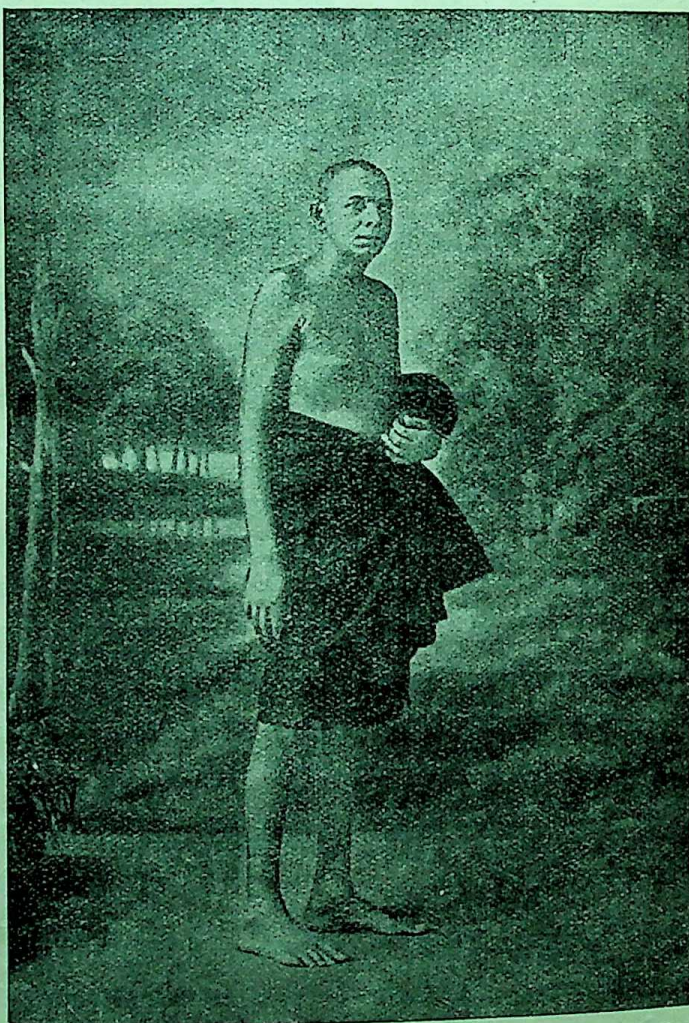
१९ वीं शताब्दीके मध्य-कालमें मारवाड़के सुप्रसिद्ध नगर नागौरके पास अमरपुर ग्राममें एक पूरे योगी-सैनिक क्षत्रिय-वंशज महात्मा लिखमाजी सोलङ्की हो गये। उनके सद्गुणोंसे मोहित होकर लोग दूर-दूरसे शिक्षा ग्रहण करने आते और उनके शिष्य बनकर अपने आपको धन्य समझते थे। जनतापर उनका बड़ा भारी प्रभाव था। देश-देशान्तरमें उनका बहुत कुछ मान था, मुख्यकर श्रमजीवी लोग तो उनको देवतातुल्य ही समझते थे। यही कारण है कि आजतक भी राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़ और सिन्ध-प्रान्तोंमें लोग उनके पद-भजन गाया करते हैं। इसी वंशमें महात्मा देवीदानका जन्म जोधपुरमें ठाकुर जयकृष्णजी सोलङ्कीके यहाँ संवत् १९१३ वि० भादों बदी अष्टमी (श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी) को हुआ। चार वर्षकी अवस्थामें ही इनके पिताका स्वर्गवास हो गया था। बहुत छोटी उमरमें ही इनमें विरक्ति और भक्तिके लक्षण होने लगे।

ग्यारह वर्षकी आयुमें आप जोधपुर दरबारके कोठारमें नौकर हुए और थोड़े ही समयमें अपनी योग्यतासे कोठारके नायब दारोगा हो गये। गरीब, भूखे, अनाथ और पशु-पक्षी प्राणिमात्रके लिये दयाभाव दिखलाना इनका स्वभाव था। स्वयं कभी-कभी जङ्गलके वृक्षोंके पत्ते खाकर रह जाते थे।

माता और दोनों बड़े भाइयोंके आग्रहसे बालसमन्द

(मडोर) के श्रीहुक्मारामजी कछवाहा नामक एक सुप्रसिद्ध वयोवृद्ध ईश्वरभक्त गृहस्थकी सुशीला कन्यासे संवत् १९२९ वि० में इनका विवाह हो गया। लेकिन दो वर्ष बाद ही स्त्रीका देहान्त हो गया। इसके पश्चात् आप योग और वैद्यकका अभ्यास करने लगे। सं० १९४२ में अकालके समय अपने उपार्जित धनसे अनाथों, भूखों और पशुओंकी बड़ी सहायता की और इसी साल गृहस्थके कपड़े उतार आप सन्त-वेषसे तप करने लगे। योगाभ्यास सिद्ध करनेके लिये जोधपुरके अनेक स्थानोंमें रहे। संवत् १९६३ में आप तापड़ियों (माहेश्वरी वैश्यों) के तालाबपर आ रहे। यह तालाब जोधपुर शहर और चौपासनी गाँवके बीचमें पहाड़ोंमें है। तबसे अबतक आप वहीं एक कुटिया (शाल) में निवास करते थे। आने-जानेवाले यात्रियों और रोगियोंके ठहरनेके लिये भक्तलोगोंने पास ही बागमें 'देवीदान-देवस्थान' नामक आश्रम बनवा दिया था।

इनका मुख्य कार्य प्रजाको (जो इनके दर्शनको दूर-दूरसे आती थी) सदुपदेश करना तथा ओषधियाँ देना रहता था। कण्ठमाला (Scrofula), जलन्धर (Inflammation of the blader), भगन्धर, कुष्ठ आदि जिन भयङ्कर रोगोंको सिविल सार्जन डाक्टर आराम नहीं कर सकते थे उनको आप आराम कर देते थे। इनके उपदेशोंको सुनने और आशीर्वाद लेनेके लिये बड़े-बड़े मुसाहिब और जोधपुर-नरेश प्रायः आया करते थे। स्वर्गीय जोधपुर-नरेश महाराजा सर जसवन्तसिंहजी जी. सी. एस. आई., महाराजा सर सरदारसिंहजी जी. सी. एस. आई. और महाराजा मेजर सर सुमेरसिंहजी साहिब बहादुर के. बी. ई. और वर्तमान जोधपुर-नरेश तो बड़े चावसे आपके पास आया-जाया करते थे। जोधपुरके भूतपूर्व दीवान रायबहादुर पण्डित सुखदेवप्रसाद काक बी. ए., सी. आई. ई. भी राजकाजके बाद आत्मशान्तिके लिये वहीं जाया करते थे। किशनगढ़, बूँदी, कोटा, ईडर आदि रियासतोंके राजाओंने भी आदर्श महात्माजीके दर्शनसे लाभ उठाया है।

बम्बईके सुप्रसिद्ध सेठ चरणदास चतुर्भुज मुरारजी भाटिया महात्माजीके बड़े भक्त थे। आपने सेठजीके पुत्रका यज्ञोपवीत बम्बई पहुँचकर कराया था। बम्बईकी जनताने भी बड़ी धूमधामसे इनका स्वागत किया। वहाँके सुप्रसिद्ध श्रीनर-नारायणजीके मन्दिरमें आप उपदेश किया करते थे। कुछ समय बम्बई-निवासियोंको अमृतपान कराके पूना और महाबलेश्वरमें अमृत-वर्षा करते हुए आप साढ़े तीन मास बाद संवत् १९६३ के श्रावण बदी ४ को वापिस जोधपुर लौटे थे। महात्माजीके जीवनमें यही एक अवसर था कि वे जोधपुर छोड़कर बाहर गये। जोधपुर-नगरमें भी आप बस्तीसे पाँच मीलपर रहते थे। संन्यास लेनेके बाद आप शहरमें कभी नहीं गये।

आप दिनमें एक ही बार भोजन किया करते थे, जो बहुत ही सादा होता था। आपके वस्त्रोंमें केवल एक काली कमली थी, जिसे रात-दिन लपेटे रहते थे। योगाभ्यासमें आप बड़े सिद्धहस्त थे। आप कई दिनोंकी समाधि लगाया करते थे और योगका अभ्यास करनेके लिये दूर-दूरसे आपके पास जिज्ञासु शिष्यगण आते थे। आपकी प्रशंसामें सुप्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय कविराजा मुरारदानजी आसियाने यह कहा है—

तजियो धीठो लोभ तिरग, गइयो मीठो ज्ञान।
अघवियो न अलख, सु दीठो देईदान॥

भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रसे शिक्षा

(लेखक—काव्यतीर्थ, कविरत्न, विद्याभास्कर, पं० श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री)

धरधरमङ्गुलिभागे जलधरदेहं नमामि श्रीकृष्णम् ।

नन्दयशोदानन्दं मूलमनिन्द्यं समस्तलोकानाम् ॥

जिनके चरण-कमलोंकी सदा सेवा करनेवाले मनुष्यको सफलता शीघ्र ही स्वीकार कर लेती है उन वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको हृदयमें धारण करता हुआ मैं उनके चरित्ररूपी अमृतकी तरंगोंसे अपनी वाणीको पवित्र करता हूँ।

उद्यानोंके पुष्प, आकाशके नक्षत्र, पर्वतोंके वृक्ष, मेघोंके बिन्दु, पृथ्वीके परमाणु, समुद्रकी तरंगें, सज्जनोंके गुण, सम्भव है गिने जा सकें किन्तु सर्वाधार, सर्वेश्वर, महामहिम, प्रत्यक्ष परब्रह्म, भगवान् श्रीकृष्णके अपरिमित, परमपवित्र, पापनाशकारी, सज्जनहृदयविहारी गुणोंकी गणना अनेक कल्पोंमें भी सम्भव नहीं। अतः उनके अपार गुणरत्नाकरसे कुछ रत्न उद्धृत करके पाठकोंके मनोविनोदार्थ सादर समर्पण करनेकी चेष्टा करूँगा।

इस संसारमें जितने भी जीवधारी दृष्टिगोचर होते हैं, उन सबके मनमें यह इच्छा रहती है कि हम सुखी रहें, कोई दुःख हमें न सतावे किन्तु उनमें अधिकतर सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपायको न जाननेके कारण इधर-उधर भटकते हुए स्वप्नमें भी सुखके दर्शन बिना किये ही इस असार संसारको छोड़ जाते हैं और अपने किये हुए कर्मोंके अनुसार बारम्बार जन्म-मरणकी दारुण यातनाओंको भोगनेके लिये चौरासी लाख योनियोंमें चक्कर काटा करते हैं। ऐसी दशामें दयालु पुरुषोंने निरन्तर ध्यानावस्थित होकर सच्चे सुखका अत्यन्त सरल, परमपवित्र, सर्वोपयोगी, निष्कण्टक एक ही मार्ग ढूँढ़ निकाला है जिसपर चलकर बालक, बूढ़े, जवान, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, बलवान्, निर्बल, रोगी, नीरोगी, धनी, निर्धन, पण्डित, मूर्ख, राजा, रंक, शिक्षित, अशिक्षित, ग्रामीण, नागरिक, पापात्मा, धर्मात्मा, बुद्धिमान्, निर्बुद्धि, एकाकी या कुटुम्बी, गृहस्थ या संन्यासी इत्यादिमेंसे कोई भी क्यों न हो वह अपार, अद्भुत, अखण्ड, परम सुखका अधिकारी हो जाता है। वह सच्चे सुखका मार्ग है भगवान् श्रीकृष्णकी निष्काम भक्ति, जिसके आश्रयसे सामान्य जीव भी चराचरका पूज्य और प्रातःस्मरणीय हो जाता है। स्वयं तो वह सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त होता ही है किन्तु अन्योंको भी मुक्त करनेकी सामर्थ्य रखता है। वास्तवमें देखा जाय तो जीवको ईश्वर-भक्तिकी वैसी ही आवश्यकता है जैसी कि मछलीको जलकी, क्योंकि जिसप्रकार जलसे अलग होकर मछली एक क्षण भी सानन्द नहीं रह सकती, उसी प्रकार भगवान्से अलग होकर जीव भी कुछ भी सुख नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि परमात्मा अखण्ड अग्नि-भण्डारके समान है और जीव उसकी एक चिनगारीके समान है। जबतक चिनगारी अग्नि-भण्डारमें रहती है तबतक उसमें वह सब शक्ति रहती है जो अग्नि-भण्डारमें है किन्तु ज्यों ही वह अग्नि-भण्डारसे अलग हुई, कि उसकी सारी शक्ति प्रबल वायुके झोंकोंमें आकर लुप्त हो जाती है और उसका अस्तित्व मिट-सा जाता है, इसी प्रकार जीव जबतक प्रगाढ़ भक्तिके द्वारा ईश्वरमें मिला रहता है, तबतक वह सम्पूर्ण ईश्वरीय गुणोंसे परिपूर्ण रहता है किन्तु जहाँ वह उससे अलग हुआ अर्थात् उसने भगवद्भक्तिका त्याग किया, वहीं वह अविद्यारूपी

वायुके झोंकोंमें पड़ जानेके कारण अपनी समस्त शक्तिको खोकर अपने अस्तित्वको भी भूल-सा जाता है। ऐसी दशामें उसे जितनी ही दारुण यातनाएँ भोगनी पड़ें उतनी ही कम हैं। इससे सिद्ध हुआ कि कल्याणके चाहनेवाले पुरुषोंके लिये भगवद्भक्ति अमोघ यत्न है। अतः प्रत्येक स्थिर-बुद्धि, भले-बुरेका विचार रखनेवाले मनुष्यको उसका अवलम्बन अवश्य चाहिये। अब यह सोचनेकी आवश्यकता है कि भगवद्भक्ति करनेवाले मनुष्यका क्या कर्त्तव्य है ?

संसारमें देखा जाता है कि यदि कोई मनुष्य किसी व्यक्तिकी भक्ति करना चाहता है तो वह निरन्तर उसके गुणगान करता हुआ सर्वदा उसके रूपको हृदयस्थ रखता है। जिन कामोंके करनेसे उसे घृणा है, उन्हें वह स्वप्नमें भी नहीं करता और जिन कामोंमें उसकी रुचि है उनको प्राणपणसे भी करनेकी चेष्टा करता है। ऐसी दशामें वह जिसकी भक्ति करता है, उसपर अनुकूल हुए बिना नहीं रह सकता, इसी प्रकार सबसे पहले भगवान् श्रीकृष्णके भक्तोंको यह जाननेकी आवश्यकता है कि हमारे प्रभुको कौन-से कार्य प्रिय और कौन-से अप्रिय हैं। तदनन्तर उनके प्रिय काम करने और अप्रिय त्यागने चाहिये, फिर लगातार उनकी मधुर मूर्त्तिका ध्यान करते हुए निरन्तर नाम-स्मरणपूर्वक उनकी भक्ति-लताको अपनी श्रद्धारूपी सुधाकी पवित्र धारासे सदैव सींचते रहना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णको कौन-से काम प्रिय और कौन-से अप्रिय हैं, इसके निश्चय करनेमें किसी कठिनताका सामना नहीं करना पड़ता क्योंकि सर्वात्मा, सर्वाधार, जगन्नियन्ता, दयाधाम, पार्थसारथि भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें अपने अवतार लेनेके प्रयोजनकी इसप्रकार घोषणा की है कि—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

सज्जनोंकी रक्षाके लिये और दुष्टोंका नाश करनेके लिये तथा धर्मकी रक्षाके लिये प्रत्येक युगमें शरीर धारण करता हूँ।

इससे स्पष्ट है कि शिष्टोंपर अनुग्रह, दुष्टोंका निग्रह और धर्मकी रक्षा भगवान्‌का प्रिय कार्य है। अतः सच्चे भगवद्भक्तोंको सर्वदा सचेष्ट होकर उपरोक्त कार्योंके परिपूर्ण करनेमें यथाशक्ति कोई बात उठा नहीं रखनी चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे उन भगवद्भक्ति-पथके पथिकोंपर प्रभुकी कृपा अवश्य होगी। यदि अपनेको भगवद्भक्त कहनेवाला व्यक्ति उपर्युक्त तीन कर्त्तव्योंके पालनसे विमुख है तो वह भगवद्भक्त नहीं कहला सकता। क्योंकि जो सच्चा प्रेमी है वह प्राणोंकी भी परवा न करके उसी कामको करता है जो उसके प्रेमपात्रके अनुकूल होता है। जो ऐसा नहीं कर सकता उसे प्रेमी कहलानेका कोई हक नहीं है क्योंकि प्रेमीका तन, मन, धन सब कुछ प्रेमपात्रके चरणोंपर न्योछावर करनेके लिये ही होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि सम्पूर्ण कल्याणोंके मूल भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति किसप्रकार प्राप्त होती है ? इसका उत्तर वैष्णव-शास्त्रोंके अनुसार यही है कि रागद्वेषसे रहित, आत्माराम, यथालाभसन्तुष्ट, निरभिमान, जितेन्द्रिय, दुःख-सुखको समान समझनेवाले, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरसे रहित, सर्वत्र सर्वदा उठते, बैठते, चलते, फिरते, सोते, जागते, यहाँतक कि प्रत्येक कार्यके करते समय भुवनमोहन, अशरण-शरण, सर्वलोकपालपूजित पादपद्म, भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन करनेवाले और सर्वदा उनके गुणानुवादको अपने चित्तकी शान्तिका साधन समझनेवाले पुरुषोंकी सेवासे भगवद्भक्तिरूपी अनर्घ्य मणिकी प्राप्ति होती है, जिसके प्रकाश और प्रभावसे अज्ञान-तिमिर और सांसारिक समस्त बन्धन वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्योदय होते ही अन्धकार।

भगवान् श्रीकृष्णका चरित्र भागीरथीके समान पवित्र, कर्पूरके समान शुभ्र, मौक्तिकोंके समान उज्ज्वल, चन्दनके समान शीतल, चन्द्रमाके समान मनोहर, भगवान् शंकरके समान कल्याण-मूल, सरस्वतीजीके समान अखिल ज्ञानदायक, समुद्रके समान अपार और अगाध, पर्वतके शिखरके समान दुरारोह, अखिल लोक-लोचन भगवान् भास्करके समान अन्धकार-नाशक है। इसके श्रवण, मनन, आचरण और प्रचारसे ऐसा कौन-सा कार्य है जो न हो सके और ऐसी कौन-सी वस्तु है जो न मिल सके, किन्तु बुद्धिकी मन्दताके कारण बहुत-से मन्दभाग्य बिना पर्वापर सोचे हुए भगवान्के चरित्रके ऊपर इसप्रकार आक्षेप करते हैं कि भगवान्ने व्रजभूमिमें रहते हुए दूध-दही, मक्खन-मिश्री आदि खाद्य पदार्थोंकी चोरी, व्रजांगनाओंसे विहार, गोपी-चीर-हरण, वृषभका वध, स्त्री होनेपर भी पूतनाका वध आदि अनेक ऐसे कार्य किये हैं जिनके कारण उनको ईश्वर समझना तो दूर, भला आदमी समझनेमें भी बाधा है। इसका उत्तर यह है कि जिन ग्रन्थोंमें उपर्युक्त चरित्रोंका वर्णन है वे सभी ग्रन्थ भगवान् श्रीकृष्णको जगन्नियन्ता, जगदाधार, प्रत्यक्ष परब्रह्म मानते हैं। ऐसी दशामें उनके चरित्रोंका यथार्थ रहस्य वे ही जान सकते हैं, क्योंकि—

पड़े भटकते हैं लाखों मुल्ला, करोड़ों पण्डित हजारों दाना।
मगर खुदा क्या किसीने जाना, खुदाकी बातें खुदा ही जाने॥

इसके अनुसार ईश्वरीय लीलाओंके विवेचनमें मनुष्य सर्वथा असमर्थ है। जब ईश्वरकी छोटी-से-छोटी बातका भी रहस्य मनुष्य नहीं जान सकता, तो उनके अगाध चरित्रोंके मर्मको कैसे समझ सकता है?

१–कुछ बातोंपर ध्यान दीजिये। दाढ़ी-मूँछ न आनेसे पहले मनुष्यका मुख कितना मनोहर, कितना चिकना और कितना दर्शनीय होता है किन्तु दाढ़ी-मूँछ आ जानेके पश्चात् यदि किसी कारणसे क्षौर-कर्म न हो सके तो किसप्रकार खर-दूषणका-सा कुरूप चेहरा हो जाता है। अब सोचनेकी बात है कि परमात्माने ऐसा क्यों किया, जिससे मनुष्यको आये दिनकी दिक्कत खड़ी हो गयी परन्तु इसके भेदको वही जाने।

२–संसारमें ऐसा नियम है कि अपनेको सज्जन माननेवाला मनुष्य यदि अपने हाथसे विषके वृक्षको भी लगा देता है तो उसे स्वयं नहीं काटता, किन्तु बड़ा आश्चर्य है कि सज्जनोंका सिरमौर, सर्व-शक्तिमान् परमात्मा देहधारियोंके देहोंको निर्माण करके चाहे जब छिन्न-भिन्न कर देता है। यदि वह यह सोचकर ऐसा करता है कि इतने जीवधारी यदि इसी प्रकार बने रहेंगे तो पृथ्वीमें कहाँ समायँगे और खाद्यकी कमीके कारण भूखसे व्याकुल होकर मर जायंगे, तो इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो परमात्माको उतने ही मनुष्य उत्पन्न करने चाहिये थे जितनोंके लिये पृथ्वीमें पर्याप्त स्थान और परिपूर्ण खाद्य होता अथवा यदि लगातार जीवधारियोंको उत्पन्न करना ही अभीष्ट था तो उसे पृथ्वीका परिमाण और खाद्यपदार्थोंमें विपुलता करनी चाहिये थी, किन्तु इसप्रकार जन्म-मरणके चक्करमें डालना उचित नहीं था पर इसका भी रहस्य वे ही जानें। जिसप्रकार इन प्रश्नोंका उत्तर हो सकता है इसी प्रकार उपर्युक्त प्रश्नोंका भी संक्षिप्तरूपमें यह उत्तर हो सकता है कि—

(१) जब सारे पदाथ ईश्वरके रचे हुए हैं और उसीकी दयासे मनुष्योंको प्राप्त होते हैं तो ऐसी दशामें चाहे जब और चाहे जैसे उन्हें लेनेका हक उसको प्राप्त है। फिर भला यदि प्रत्यक्ष परब्रह्म भगवान्ने गोकुलवासियोंके घरसे उनके परोक्षमें यदि अपनी वस्तु ले ली तो यह चोरी कैसे हुई, क्योंकि चोरी तो परायी वस्तुके लेनेका नाम है।

(२) यदि कोई अध्यापक अचानक पाठशालामें पहुँचकर यह देखे कि विद्यार्थी पुस्तकोंको छोड़कर इधर-उधर खेलने-कूदनेको चले गये हैं, तब वह उन्हें शिक्षा देनेके उद्देश्यसे उनकी पुस्तक उठाकर कहीं छिपा दे और उनके अनुनय-विनय करनेपर वापिस दे दे तो इसमें अध्यापकका क्या दोष है? इसी प्रकार 'न नग्नः स्नायात्' इस शास्त्रीय आज्ञाको न माननेवाली गोपियोंका वस्त्रापहरण करके और उनके अपने कृत्यपर पश्चात्ताप करनेके बाद श्रीकृष्णने यदि उनके वस्त्र वापिस दे दिये तो इसमें उनका क्या दोष है?

(३) यदि कोई नीच मनुष्य साधुका वेष धारण करके प्रजाकी बहू-बेटियोंका सतीत्व अपहरण करनेका उद्योग करे और उसका ऐसा करना यदि किसी धार्मिक पुरुषको ज्ञात हो जाय और वह यदि अपने सामर्थ्यसे उसे दण्ड दे दे तो इसमें उसका क्या दोष है? इसी प्रकार जब एक राक्षसने बछड़ेका रूप धारण करके ग्वालबालोंको नष्ट करनेका उद्योग किया और श्रीकृष्णने उसको मार दिया तो इसमें उनका क्या दोष है? क्योंकि उन्होंने तो पहले यह निश्चय करके ही उसके मारनेका इरादा किया था कि यह बैल नहीं है किन्तु बैलके रूपको धारण करनेवाला कोई असुर है। बैलके मारनेमें दोष है किन्तु बैलके रूप धारण करनेवाले राक्षसके मारनेमें दोष नहीं। जैसे साधुका मारना घोर दुष्कर्म है किन्तु साधु-वेषधारी किसी नीचको प्राण-दण्ड देना दुष्कर्म नहीं किन्तु परमपवित्र कर्त्तव्य है।

(४) धर्मशास्त्रमें लिखा है कि मकानमें आग लगानेवाला, विष देकर मारनेकी चेष्टा करनेवाला, शस्त्र लेकर मारनेकी इच्छासे छातीपर आ चढ़नेवाला, धनका अपहरण करनेवाला, भूमिको छीननेवाला, स्त्रीको अपहरण करनेवाला, इन भेदोंसे आततायी छः प्रकारका होता है। आततायीको बिना आगा-पीछा सोचे मार डालना चाहिये। ऐसा करनेसे मारनेवालेको कोई दोष नहीं लगता। यदि भगवान् श्रीकृष्णको स्तनोंमें घोर विष लगाकर मारनेकी इच्छासे आयी हुई और अपनी इच्छाको पूरी करनेकी चेष्टा करती हुई पूतनाके उन्होंने प्राण हरण कर लिये तो इसमें उनका क्या दोष है?

मैंने यथामति मोटे रूपमें भगवान् श्रीकृष्णपर होनेवाले आक्षेपोंका खण्डन कर दिया है, जिससे कि वास्तविक सुखके चाहनेवालोंकी श्रीकृष्णके चरित्रमें श्रद्धा हो और वे श्रीकृष्णकी आज्ञानुसार चलकर अपने जीवनको सुखमय बनावें एवं उनकी भक्तिके द्वारा मुक्तिको भी हस्तगत करें, किन्तु ध्यान रहे कि भगवद्भक्तोंको श्रीकृष्णके उन्हीं चरित्रोंके अनुसरण करनेकी आज्ञा है जो कि उनके उपदेशके अनुसार हैं। शास्त्रोंमें कहा भी है कि—

ईश्वराणां वचः सत्यं क्वचिदाचरितं तथा।
यत्तेषां स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत्तदाचरेत्॥

'ईश्वरोंका वचन ही कल्याणकारक है, कहीं-कहीं उनके आचरणका अनुसरण भी लाभदायक है। बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि ईश्वरोंका जो आचरण उनके उपदेशके अनुसार है उसीका अनुसरण करे, अन्यका नहीं।'

ऐसी दशामें तो किसी शंका-समाधानकी आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने कहींपर भी परद्रव्यापहरण, परस्त्रीगमन, दासीरति, वृषभमारण, नारीहत्या आदिकी आज्ञा नहीं दी है प्रत्युत इनके विरुद्ध ही घोर प्रयत्न किया है। इतना सब उन आस्तिक पुरुषोंके लिये लिखा गया है जो भगवान् श्रीकृष्णको ईश्वर तो मानते हैं किन्तु उनके उपर्युक्त आचरणोंका सन्तोषजनक समाधान न जाननेके कारण अव्यवस्थित-बुद्धि रहा करते हैं। जो नास्तिक हैं उनके लिये तो यही उत्तर पर्याप्त है कि जब आपलोग सात वर्षके बालकका सात दिन-राततक पर्वतको उँगलीपर

उठाये रखना, सौ फणवाले साँपके सिरपर बालकका नाचना, सोलह हजार स्त्रियोंके पास एक ही समय एक पुरुषका निवास करना, अपनी सामर्थ्यसे सूर्यको छिपाकर ठीक समयपर पुनः प्रकट कर देना, एक शाकका पत्ता खाकर दस हजार मनुष्योंको तृप्त कर देना आदि कार्य असम्भव मानते हैं तो उपर्युक्त चरित्रोंको भी असम्भव क्यों नहीं मान लेते ? क्योंकि असंख्य गायोंके अधिपति नन्दका पुत्र घी, दूध आदिकी चोरी नहीं कर सकता, ग्यारह-बारह वर्षका बालक सम्भोगका नाम भी नहीं जान सकता, बैलका सींग पकड़कर मारना तो दूर रहा किन्तु नन्हा-सा बालक लट्ठी लेकर उसके सामने जा भी नहीं सकता, महीनेभरका बालक दूध पीते-पीते किसी स्त्रीका प्राण हरण नहीं कर सकता और ऐसा कहकर क्यों नहीं इन चरित्रोंको भी बिना हुआ ही समझ लेते हैं। इन परमगम्भीर, दुर्विज्ञेय, परमपावन चरित्रोंके अतिरिक्त सारा श्रीकृष्ण-चरित्र परम सरल, सबके अनुकरण करनेयोग्य और सर्वाभीष्टदायक है। मेरे खयालमें तो संसारभरमें कोई भी ऐसा महापुरुष नहीं हुआ, जिसका चरित्र भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रकी टक्करका हो।

मैं इस विषयको अपने किसी अन्य लेखमें पल्लवित करनेकी चेष्टा करूँगा। अब श्रीकृष्ण-चरित्रसे मिलनेवाली कुछ शिक्षाओंको उद्धृत करता हूँ—

(१) भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजने मक्खन, मिश्री, दूध, दही आदि सात्त्विक आहारको स्वीकार करके हमलोगोंको दिखला दिया है कि इसप्रकारके आहारसे प्रेम करनेवाला मनुष्य 'गीता' जैसा लोकोपकारी लोकोत्तर ग्रन्थरत्न रच सकता है।

(२) चराचरके अधीश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजने स्वयं तन, मन, धनसे गौवोंकी सेवा करके सिद्ध कर दिया कि गौवोंकी शुद्ध अन्तःकरणसे सेवा करनेवाला मनुष्य सदा सुखी, हृष्ट-पुष्ट, नीरोग, निःशोक, यशस्वी और सर्वप्रिय होता है।

(३) वृन्दावनविहारी, यमुनाकूलचारी, पीताम्बरधारी, भक्तभयहारी, दयाधाम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजने कन्दुक-क्रीड़ाके मिससे 'कालिय' नामधारी महाभयकारी दारुण विषधरका मद चूर्ण करके शिक्षा दी है कि अपने देशवासियोंके हितार्थ प्राणोंकी भी ममता छोड़कर उद्योग करना चाहिये।

(४) दुराचारी कंसकी सेवामें रहकर भी सदाचारकी रक्षा करनेवाली 'कुब्जा' के दिये हुए अनुलेपनसे प्रसन्न होकर गोवर्धनधारी, मारमद-हारी, मुनिमानसचारी, प्रणतवत्सल, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, दीनबन्धु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजने उसकी सुन्दरताको न्यून बनानेवाले उसके कूबको सर्वथा दूर करके दिखला दिया है कि अभिमानसे रहित, सदाचारपरायण, परमात्मामें विश्वास रखनेवाले, समदर्शी, नित्यसन्तुष्ट, सात्त्विक जीवोंके सब अनिष्ट इसप्रकार अनायास दूर हो जाते हैं जिसप्रकार सूर्यके उगनेपर घोर अन्धकार दूर हो जाता है।

(५) न्यायमूर्ति भगवान् यदुनन्दनने अपने सगे मामा कंसका वध करके शिक्षा दी है कि अन्याय करनेवाला, वेदमार्गको लुप्त करनेवाला, वर्णाश्रम-धर्मको छिन्न-भिन्न करनेवाला, दुष्टोंकी सहायता करनेवाला, शिवोंको दण्डित करनेवाला, देवमन्दिरोंको तोड़नेवाला, वाममार्गका प्रचार करनेवाला मनुष्य चाहे अपना कितना ही घनिष्ठ सम्बन्धी क्यों न हो, लोकहितके लिये उसका वध परमावश्यक है। साथ ही प्रभुने इस चरित्रके द्वारा यह भी प्रकट कर दिया कि अन्यायीका वध न्यायसंगत, धर्मानुकूल और परमपावन कर्त्तव्य है।

(६) प्रातःस्मरणीय, पूज्यपाद, पवित्रयशा, धर्ममूर्त्ति, धर्मावतार, भगवद्भक्तितरङ्गिणी-पवित्रीकृतान्तःकरण, ज्येष्ठ पाण्डव, महात्मा युधिष्ठिरजीके राजसूय-यज्ञमें वेदज्ञ, तपस्वी, यथालाभसन्तुष्ट, परोपकारी, जितेन्द्रिय, सहनशील, धृतव्रत, ब्राह्मण-अभ्यागतोंके पादप्रक्षालनका सेवा-कार्य सहर्ष स्वीकार करके प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजने दिखला दिया कि 'सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ।' अभ्यागत सबके गुरु हैं।

(७) भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, आदि लोक-विश्रुत धर्मज्ञ वीररत्नोंके समक्ष भरी सभामें दुराचारी उद्दण्ड दुर्योधनकी आज्ञासे पापात्मा दुःशासनने प्रातःस्मरणीया, भारतकी एकमात्र साम्राज्ञी श्रीद्रौपदीको भगवान् विष्णुके बहुदण्डोंके समान अजेय देव-देव पिनाकपाणि भगवान् शंकरके समान दुर्धर्ष, तारकनिकन्दन कार्त्तिकेयके समान अप्रतिहत शक्तिसम्पन्न परम आदरणीय धर्मप्राण पांच पाण्डवोंकी विद्यमानतामें उनके प्रतिज्ञाबद्ध होनेके कारण निःशंक होकर विवस्त्रा करनेका उद्योग किया, उस समय दावाग्निमें पड़ी हुई मृगीके समान कातर-दृष्टिसे चारों ओर देखकर सतायी कुररीके सदृश करुण-क्रन्दन करती हुई पाञ्चालीने पाषाणको भी द्रवीभूत कर सकनेवाले शब्दोंसे सभामें उपस्थित सभी वीरपुङ्गव नर-रत्नोंसे अपने उद्धारकी प्रार्थना की, किन्तु दुर्योधनके भयसे कर्त्तव्य करनेमें असमर्थ उन लोगोंने उसकी पुकार-पर कोई ध्यान नहीं दिया। तब उसने सब ओरसे निराश होकर, अनाथोंके नाथ, अशरणके शरण, निरालम्बके अवलम्ब, दुखियोंके सहायक, पतित-पावन, दीनबन्धु, सर्वव्यापक, जगन्नियन्ता भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजका शुद्ध अन्तःकरणसे ध्यान करके उनसे अपने उद्धारकी प्रार्थना की, तो दयामय, लीला-पुरुषोत्तम, आपन्न-उद्धारक श्रीप्रभुने तत्क्षण वस्त्ररूप होकर परमभक्ता द्रुपद-नन्दिनीकी लज्जा-की रक्षा करके पापात्मा दुर्योधन आदिके गर्वको खर्व कर दिया और संसारको दिखला दिया कि अनन्यभावसे चिन्तन करनेवालोंसे मैं किञ्चित् भी दूर नहीं हूँ।

(८) दुर्योधनकी सेवासे प्रसन्न होकर सुलभ-कोपा, दुर्धर्ष, परम तेजस्वी, तपोनिष्ठ, ब्रह्मतेज-सम्पन्न महर्षि दुर्वासा जब उसके समक्ष महारानी श्रीद्रौपदीजीके भोजनके पश्चात् दश सहस्र शिष्यों-सहित पाण्डवोंका अतिथि होना स्वीकार करके धर्मावतार श्रीयुधिष्ठिरजी महाराजके सम्मुख उपस्थित हुए तो उस समय सच्चे क्षत्रिय, परम धार्मिक पाँचों पाण्डव चिन्तारूपी समुद्रमें बारम्बार गोते खाते हुए अपने उद्धारका कोई मार्ग न देखकर प्राणान्तसे भी अधिक दुःखका अनुभव करने लगे। तब साध्वी द्रौपदीजीने निःस्वार्थ सहायक, दीनोंके आधार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजका आर्त्तभावसे स्मरण किया, तो उन्होंने तत्काल ही प्रकट होकर अन्नपात्रमें असावधानीसे अवशिष्ट एक शाकपत्रका कुछ अंश भक्षण करके शिष्योंसहित दुर्वासाको आकण्ठ तृप्त करके अपने सर्वव्यापकत्व और आर्त्तपरित्राणकारित्वका पूर्ण परिचय दे दिया।

(९) पाण्डवोंका अज्ञातवास समाप्त होनेके अनन्तर कौरव और पाण्डवोंमें मनमुटावकी भीषणताके कारण युद्धकी सम्भावना देखकर स्वयं राजराजेश्वर होकर भी एक दूतकी हैसियतसे कौरवोंकी सभामें जाकर शान्ति-स्थापनकी भरपूर चेष्टा करके प्रभुने दिखला दिया कि सज्जन मनुष्य-को चाहिये कि अपने मानापमानका ध्यान छोड़कर जाति और देशके हितके लिये परस्पर बढ़ती हुई कलहाग्निको शान्त करनेका यथासाध्य भगीरथ प्रयत्न करे।

(१०) धृतराष्ट्र, दुर्योधन, द्रोण, कर्ण, भीष्म आदिके भोजनके निमन्त्रणको अस्वीकार करके प्रभुने दिखला दिया कि अभिमानी और अन्यायी

मनुष्योंके उत्तम-से-उत्तम भोजनसे मनुष्यको सर्वथा बचना चाहिये।

(११) इसी अवसरपर शान्त, दान्त, निरभिमानी, भगवद्भक्त, परोपकारी, परमत्यागी, दीन विदुरजी-के घरपर भोजन स्वीकार करके प्रभुने बतला दिया कि प्रेमी सज्जनोंका दिया हुआ सामान्य द्रव्य भी सहर्ष स्वीकार करना चाहिये।

(१२) भारतीय युद्धके आरम्भमें अर्जुनको 'किंकर्त्तव्यविमूढ़' देखकर गीताके उपदेशके द्वारा कर्त्तव्य-पथपर आरूढ़ कराके भगवान्‌ने दिखला दिया कि सच्चे मित्रका कर्त्तव्य अपने मित्रको अकर्त्तव्यसे हटाकर कर्त्तव्यमें लगाना है।

(१३) भीष्मके साथ युद्ध करते समय अर्जुन-की उपेक्षाके कारण अपने भक्त युधिष्ठिरकी सेनाका भीषण संहार होते देखकर 'मैं युद्धमें शस्त्र नहीं उठाऊँगा' इस अपनी प्रतिज्ञाकी परवा न करके भीष्मके वधार्थ रथका चक्र उठाकर प्रभुने दिखला दिया कि अपने आश्रितोंकी रक्षाके सम्मुख मेरी प्रतिज्ञाका कोई मूल्य नहीं।

(१४) नारदजीके शापसे यदुवंशके नाश होने-की सम्भावना देखकर भी प्रभुने यदुवंशियोंकी रक्षाका कोई उपाय न करके यह दिखला दिया कि अभिमानी, असत्यवादी, दुराग्रही, अपने कुलवालों-को भी अन्यायका दण्ड मिलनेपर किसी प्रकार उनकी सहायता न करे।

(१५) बाल्यावस्थाके मित्र, सहाध्यायी, बहुत दिनके बिछुड़े हुए, परम दरिद्र, गुरुभाई सुदामा-जीका सीमाधिक आदर करके और उसके बिना कहे भी उसे अपने तुल्य समृद्धिमान् बनाकर प्रभुने दिखला दिया कि सच्चा मित्र कैसा होता है?
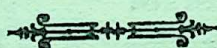
अभ्यास

(१)

श्रीराम-नाम जप रे मन मूढ़ मेरे।
क्यौं पाद-पंकज-परेम न होहिं तेरे॥
आतंक-औगुन-अगार अरूप खारो।
अभ्यासतें अति लगै अहिफेन प्यारो॥

(२)

व्हाँ तो मिठास गुन रूप अपार नीको।
पीकै सुधा-सगुन-रूप सुधार जीको॥
वाकी रटी विषयके रस-नासनी है।
सानंद सांत-रसतें रसना सनी है॥

(३)

जो तो भया भ्रमर है नर वो सयाना।
ताके ह्रदै भ्रम रहै न भया बिगाना॥
संसार-त्रास त्रय तापनकों भगावै।
है जौन पाप-छयता-पन कौन गावै॥

(४)

जान्यौ नहीं तनिक ताहि गये न नेरे।
वे तो बखान करते फिरते घनेरे॥
वा रूपकों भजनतें जब जीव जानैं।
ह्वै एकता तब 'कुमार' कहा बखानैं॥

—शिवकुमार केडिया 'कुमार'

श्रीमद्गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्राचार्य महाप्रभुजीके उपदेश

(प्रे०—श्रीहितरूपलालजी गोस्वामी)

(सवैया) (नीचग्रह)

द्वादश चन्द्र कृतस्थल संगल बुद्ध विरुद्ध सुरूगुरु वंक ।
यदि दशम्म भवन्न भृगूसुत मंद सुकेतु जनमके अंक ॥
अष्टम राहु चतुर्थ दिवामणि तौ हरिवंश करत्त न संक ।
जो पै कृष्ण चरण मन अर्पित तौ करिहैं कहा नवग्रह रंक ॥

अर्थात् जन्मकुण्डलीमें तन, धन, बन्धु, सुहृद्, पुत्र, शत्रु, स्त्री, आयु, मृत्यु, भाग्य, राज्यलाभ और व्यय–ये बारह स्थान कहे जाते हैं । सूर्यादि नवग्रह इन्हीं बारह स्थानोंमें अच्छे पड़े होते हैं तो वृद्धि, और बुरे होते हैं तो हानि करते हैं । ऐसा ज्योतिषियों और संसारियोंका विश्वास है । इस पदमें श्रीमहाप्रभुजीने यह उपदेश किया है कि तन, धन आदिको जो तुमने लाभ समझ रक्खा है, यह बड़ी भूल है । तुम्हारा वास्तविक लाभ तो श्रीकृष्णचरणमें मनका अर्पित होना ही है । यदि तुम्हारी यह निधि तुम्हारे पास है तो नवग्रह सब-के-सब खोटे पड़े होनेपर भी तुम्हारा क्या बिगाड़ सकते हैं ।

(सवैया) (उच्चग्रह)

भानु दशम्म जनम्म निशापति मंगल बुद्ध शिवस्थल लीके ।
जो गुरु होयँ धरम्म भवन्नके तौ भृगुनंद सुमंद नवीके ॥
तीसरौ केतु समेत विधुग्रस तौ हरिवंश मनक्रम फीके ।
गोविंद छाँडि भ्रमंत दशौं दिश तौ करिहैं कहा नवग्रह नीके ॥

अर्थात् प्रथम पदमें लाभ समझाकर इसमें हानि बतलाते हैं । श्रीकृष्णचरणसे विमुख होकर तन, धन आदि प्रपञ्चमें मन लगाना ही बड़ी हानि है । नवग्रह सब-के-सब अच्छे पड़े हों तो वे क्या भलाई करेंगे ? तन, धन आदि प्रपञ्चको बढ़ाकर उलटे राग-द्वेष, मद-मत्सरमें डुबो देंगे, जिससे संसारमें आसक्ति बढ़ जायगी और बार-बार जन्म-मरण तथा नरक आदि भोगने पड़ेंगे। अतएव—

'हानि, हरिवंशके नाम अंतर पड़ें लाभ हरिवंश उच्चरत वानी'

इस सिद्धान्तको समझकर तन, धन आदि मायिक विषयोंसे मनको खींचकर प्रभुके चरणोंमें ही अर्पण करना चाहिये । और विषयोंकी प्राप्तिके लोभ या नष्ट हो जानेके डरसे नवग्रह या किसी भी देवी-देवकी आराधना नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ऐसा करना परम हानि है । यहाँ श्रीकृष्णचरणमें तन, मन दोनोंकी पूर्ण अनन्यता तथा सब प्रकारके अन्याश्रयके त्यागका उपदेश है । और संसारसे सच्चे वैराग्यका स्वरूप दिखाकर अनन्यभक्ति करनेकी आज्ञा है ।

(छप्पय)

ना जानौं छिन अंत कवन बुधि घटहिं प्रकाशित ।
छुटि चेतन जु अचेत तेउ मुनि भये विषवासित ॥
पाराशर[1] सुर इन्द्र कलप कामिनि मन फंद्या ।
परवि देह दुख द्वंद कौन क्रम काल निकंद्या ॥
यहि डरहिं डरप हरिवंश हित, जिनव भ्रमहिं गुन सलिलपर ।
जिहि नामनि मंगल लोक तिहुँ सु हरि पद भज न विलम्ब कर ॥

अर्थात् उपर्युक्त दो सवैयोंमें संसारके तन, धन आदि पदार्थोंको केवल अनर्थका रूप बतलाया है । इनमें आसक्त होकर प्रभुसे विमुख होना हानि है और प्रभुका भजन ही लाभ है । ऐसा समझ लेनेपर फिर क्या करना चाहिये, इसका उपदेश इस छप्पयमें है । देहकी क्षणभंगुरता दिखाकर देहासक्तिका निराकरण किया और संसारके भोगोंकी तुच्छता दृढ़ की

१—पाराशर-से उग्र तपस्वी और इन्द्र-से ऐश्वर्यशाली जब मोहित हो गये तब औरोंकी क्या गिनती है ? कल्प=समान । पाठान्तर इन्दु भी है इस पाठसे पाराशर इन्द्र चन्द्रमा इनकी कथाओंकी सूचना है ।

तथा पाराशर आदिके दृष्टान्तसे यह दिखलाया कि मतिका भी कोई ठिकाना नहीं है। अतएव जो काल बीत गया सो तो बीत गया, जो क्षण आगे आवेगा उसका कोई ठिकाना नहीं, तबतक यह शरीर और ऐसी मति रहे या न रहे। इससे जो क्षण वर्तमान है उसीको अपना समझकर भजनमें लगाना चाहिये—

बीतीकौ जिन सोचकर होनहार न विचार।
वर्तमान आस्वाद कर नाम गिरा आधार॥

त्रिगुणका प्रवाह बहते पानी-सा है, यहाँ न भलाई स्थिर है न बुराई। इसलिये भलाई-बुराई (गुण-दोष) की तरफ न देखकर प्रभुका भजन करो। यह क्षणमात्र जीवन भी वृथा न जावे, क्योंकि—

गुण और दोषको देखबौ सर्व दोषकी खान।

(सवैया)

तू बालक नहिं भरयौ सयानप काहे कृष्ण भजत नहिं नीकैं।
अतिव सुमिष्ठ तजिव सुरभिन पय मन बंधत तंडुल जल फीकैं॥
हितहरिवंश नरक गति दुरभर यम द्वारैं कटियत नक छीकैं।
भव अज कठिन मुनीजन दुर्लभ पावत क्यों जु मनुज तन भीकैं॥

अर्थात् विषयको छुड़ाकर भजनका उपदेश करके अब प्रेमपूर्वक भजनकी आज्ञा करते हैं। भजन भी, ज्ञान-माहात्म्य या ऐश्वर्यके निमित्तसे न करो। मनकी वृत्ति रुकनेके लिये नाम रटना, मोक्षके लिये अथवा नाम-माहात्म्य सुनकर फलके लोभसे भजन करना, अथवा ईश्वर अपना आराध्य है, उसका भजन करना अपना कर्तव्य है इस बुद्धिसे भजन करना अच्छी प्रकारसे श्रीकृष्ण नामका कहना नहीं है। 'कृष्ण' शब्द 'कृष्' धातुसे बना है, इसलिये प्रेमसे चित्तके आकर्षण होनेपर जो स्नेहविवश होकर नाम रटना है वहीं 'नीके' कृष्ण नामका कहना है! अतएव फल या मोक्षके लोभको छोड़कर प्रेमपूर्वक भजन करो। दूध छोड़कर चावलका धोवन मत पियो। श्रीहितप्रभु आज्ञा करते हैं कि यह जितने भोग और मोक्ष आदि हैं सब हमें नरककी प्राप्तिके समान दुर्भर (असह्य) हैं और जरा भी चूकनेसे यमके द्वारको देखना पड़ता है। श्रेष्ठ आचार्य परम्परासे प्राप्त (मनु) मन्त्रद्वारा जो दिव्य भावमय तनु अभी मिला है, वह महादेव और ब्रह्माको भी कठिन और मुनियोंको दुर्लभ है। इस अवसरपर चूक गये तो फिर यह कैसे मिलेगा?

व्यंग्य वचन

कबै आप गए थे बिसाहन बजार बीच,
कबै बौलि जुलहा बुनाए दरपटसे।
नंदजीकी कामरी न काहू बसुदेवजीकी,
तीन हाथ पटुका लपेटे रहे कटिसे॥
'मोहन' भनत यामैं रावरी बड़ाई कहा,
राखि लीन्ही आनि-बानि ऐसे नटखटसे।
गोपिनके लीन्हे तब चीर चोरि-चोरि अब,
जोरि-जोरि दैन लागे द्रोपदीके पटसे॥

—मोहन

मानव-जीवनमें ईश्वरका स्थान

(लेखक—डा० श्रीयतीन्द्रकुमार मजूमदार एम० ए०, पी-एच० डी०, बार-एट-ला)

जीवन स्रोतकी भाँति बहा चला जा रहा है। मनुष्यका यही विशेषत्व है कि वह जडके सदृश केवल इस प्रवाहके साथ बह नहीं जाता। उसके अन्दर एक अद्भुत शक्ति है, जिसको चिन्ता-शक्ति कहते हैं और जो मनुष्यको उसके जीवन-स्रोतके सम्बन्धमें दिन-रात विचार करनेके लिये प्रयुक्त करती रहती है। इसीलिये प्रायः सभी मनुष्योंको जीवनके विषय-में न्यूनाधिकरूपसे विचार करते देखा जाता है और इसी-लिये मनुष्यमात्रको विशेष व्यापक अर्थमें दार्शनिक कहा जाता है। इस चिन्ता-शक्तिकी विद्यमानताके कारण ही मनुष्य जगत्‌के अन्यान्य जीवोंसे श्रेष्ठ है। परन्तु साधारण मनुष्य जीविकाके क्षुद्र कार्योंमें इतना अधिक लिप्त रहता है,—उसकी दृष्टि बाहरकी ओर इतनी लगी हुई होती है कि वह जीवनके गूढ़ तत्त्वकी खोजमें बहुत ही कम आगे बढ़ सकता है। इसका कारण यही है कि उसमें गम्भीर साधनाका अभाव है। यथार्थ दार्शनिक इस मार्गपर बहुत आगे बढ़ सकता है, इसीलिये साधारण मनुष्यसे वह ऊँचा समझा जाता है। इस विषयमें जिसकी साधना जितनी अधिक होती है, वह उतना ही आगे बढ़ सकता है और उच्च कीर्तिके योग्य होता है। मनुष्यकी इस गम्भीर चिन्ताशीलताने जीवनके वास्तविक तत्त्वका बहुत कुछ पता युगों पहले ही बतला दिया था, यद्यपि उसके चरम ज्ञानकी प्राप्ति अन्तर्द्रष्टा ऋषियोंके द्वारा हुई थी। इसी बातसे प्राचीन हिन्दुओंका श्रेष्ठत्व और विशेषत्व सिद्ध होता है। अनेक युगों पूर्व हिन्दू ऋषियोंने इस पहेलीको सुलझा-कर अन्तिम तत्त्व बतला दिया था। गम्भीर अन्तर्ज्ञान और प्रत्यक्षानुभूतिके द्वारा ऋषियोंने इन बातोंको भली भाँति समझ लिया था कि मानव-जीवनकी गति किस ओर है,—जीवनका उद्देश्य क्या है और जीवनका आदि कहाँ है। जगत्‌की सम्पूर्ण सत्ताके पीछे एक परम सत्ता है, ऋषियोंने ईश्वर या ब्रह्मके रूपमें उसकी उपलब्धि की थी और वे इस बातको भली भाँति जान गये थे कि जीवन-की सम्पूर्ण गति या उद्देश्योंकी परिसमाप्ति उस ईश्वर या ब्रह्मकी प्राप्तिमें ही है। इसीलिये उन्होंने ईश्वरको जीवनका केन्द्र बना लिया था। हिन्दूशास्त्रने जीवनकी सम्पूर्ण व्यवस्थाओंमें ईश्वरको केन्द्र माना है और यहीं हिन्दू-जातिकी श्रेष्ठ प्रतिभाका विकास दृष्टिगोचर होता है।

बड़े ही दुःखका विषय है कि एक दिन जिस साधनाने मानव-जीवनके सभी क्षेत्रोंपर अपना प्रभाव फैला रक्खा था, आज वह विलुप्तप्राय है! जीवनके दैनिक कार्यक्रम-से ईश्वरको उड़ा देना ही मानो आज बहादुरीकी बात हो गयी है। वर्तमान युगमें आन्दोलनकी विशेषता है। ईश्वर-विरोधी आन्दोलन भी आज अनेकों चिन्ताशील पुरुषोंके हृदयपर चोट पहुँचा रहा है और उसे क्षुब्ध कर रहा है। इस आन्दोलनकी लहर पहले-पहल विशेषरूपसे गत रूसी विद्रोहके समय उठी थी और आज इसका प्रभाव ईश्वर-प्राण भारतको भी दुखी कर रहा है। नवयुवकोंकी कल्पना-को ही इसने विशेषरूपसे आकर्षित किया है और वे ही आज इसके प्रधान पृष्ठपोषक हैं। नवयुवकोंकी विचारहीनता और साधनाके अभावने इसके लिये क्षेत्रको पहलेसे ही तैयार कर रक्खा था, परन्तु बिना सोचे-समझे अपने भावोंको छोड़कर दूसरोंका भाव ग्रहण करनेमें बुद्धिमत्ता-की अपेक्षा उनके लड़कपनका ही अधिक परिचय मिलता है। इससे उनका अपना तथा सम्पूर्ण भारतवर्षका सर्वनाश हो जायगा, प्रत्येक विचारशील सत्पुरुषके मुखसे आज चारों ओर यही शब्द निकल रहे हैं। इसी विषयपर कुछ आलोचना करना इस लेखका उद्देश्य है।

मनुष्य-जीवन कर्ममय है। मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है वह प्रवृत्तिके वश होकर करता है और यह प्रवृत्ति सहजात है। इस सहजात प्रवृत्तिको अंग्रेज़ीमें Instinct कहते हैं। मनुष्यकी ये प्रवृत्तियाँ अनेक हैं और सबका एक-एक उद्देश्य या आदर्श रहता है। आदर्श ही मनुष्य-जीवनकी सर्वापेक्षा अधिक शक्तिसम्पन्न वस्तु है; क्योंकि वही मनुष्यकी इच्छाको जाग्रत् और प्रवृत्तियोंको एक समञ्जस-समष्टिके रूपमें सुव्यवस्थित करता है। आदर्शके बिना मनुष्य-जीवन अव्यवस्थित और परस्पर विवाद करती हुई प्रवृत्तियोंके प्रभावसे छिन्न-विच्छिन्न रहता

है। वह आदर्श क्या है ? एक वाक्यमें इसका उत्तर यह है कि पूर्णताकी प्राप्ति ही वह आदर्श है। कोई भी क्षेत्र हो, उस क्षेत्रकी दृष्टिसे जिसको पूर्णता कहते हैं, वह पूर्णता जिससे प्राप्त हो, उसीको उस क्षेत्रका आदर्श कहा जाता है। दर्शन अर्थात् तत्त्व-ज्ञानकी बात छोड़ दीजिये, मनोविज्ञान अथवा मानव-जीवनकी सहज दृष्टिसे देखने और आलोचना करनेपर भी इसी सिद्धान्तको मानना पड़ता है। पूर्णता-लाभका आदर्श ही मनुष्य-जीवनमें सर्वप्रधान वस्तु है, यही मानव-जीवनको सञ्चालित करके ले जाता है। पूर्णता-लाभ ही मानव-जीवनका अन्तिम उद्देश्य है। देह और आत्मा दोनोंकी दृष्टिसे यही सत्य है। पूर्णता-प्राप्तिकी अज्ञात क्षुधा ही जीवनकी अपूर्णताका बोध कराती और कर्म-चेष्टाको उद्दीप्त करती है। देह, मन, नीति, धर्म—सभी क्षेत्रोंमें पूर्णता-लाभका आदर्श ही काम कर रहा है। देहके क्षेत्रमें पूर्णता-लाभको स्वास्थ्य कहते हैं; नीतिके क्षेत्रमें इसीको परम उत्कर्ष (Perfection) कहा जाता है; धर्म-क्षेत्रमें यही पवित्रता (Holiness) कहलाता है और आध्यात्मिक क्षेत्रमें इसीको आत्मज्ञान कहते हैं।

देहक्षेत्रमें देखा जाता है कि प्रत्येक देहमें पूर्णता-प्राप्तिका नियम ही काम कर रहा है। यदि किसी प्राणीका कोई अंग काट लिया जाय तो वहाँ पूर्णता-प्राप्तिकी प्रवृत्ति इतनी प्रबल देखी जाती है कि उसका समस्त देह-यन्त्र उसी क्षण कर्ममें लग जाता है और जबतक उस कटे अंगके स्थानमें दूसरे नये अङ्गका सृजनकर उसे पूर्ण नहीं कर लेता, तबतक उसके कर्मकी निवृत्ति नहीं होती। हमारे देहमें यदि कोई घाव हो जाता है तो उसी क्षण शरीरके सारे अंग उस घावको भरनेके लिये—क्षतिकी पूर्तिके लिये कर्ममें लग जाते हैं और क्षतिकी पूर्तिके द्वारा देहको पूर्णता प्रदान करके ही वे कर्मसे विराम लेते हैं। देह-तत्त्वविद् लोग इस बातको जानते हैं कि किस अद्भुत रीतिसे देहका प्रत्येक अंग-प्रत्यंग काम करने लगता है

धर्मक्षेत्रमें भी पूर्णता प्राप्त करनेकी आकांक्षा और अपूर्णताका बोध स्पष्ट दिखायी देता है। यही वस्तुतः धर्मका आधार है। हमारे अन्दर यदि इस अपूर्णताका बोध नहीं होता तो भगवान्‌का भय, भगवान्‌की आवश्यकता या भगवान्‌में प्रीति—इनमेंसे कोई-सी बात न होती। अमरत्वका विश्वास, जो समस्त धर्मों अथवा विश्वासोंका मूल आधार है, इस अपूर्णताके बोधसे ही उत्पन्न होता है। इस विश्वासमें पूर्णता प्राप्त करनेकी आशा निहित है। स्वर्गके सम्बन्धमें जो विभिन्न धर्मसम्प्रदायोंके मत हैं उनसे भी यही भाव प्रतिफलित होते हैं। हम सभी इस बातका अनुभव करते हैं कि इस लोकमें हमारा जीवन अपूर्ण है और यह विश्वास होता है कि स्वर्गमें उसकी पूर्णता होगी। वहाँ इस जीवनके समस्त अन्यायोंका संशोधन होगा और जो न्यायके लिये व्यग्र हैं उनकी आशा पूर्ण होगी। बहुत-से लोगोंके लिये तो स्वर्गका स्वप्न भी मानो कमीको पूरा करनेवाला होता है। इस जगत्‌के अभाव स्वर्गके स्वप्नमें मिट जाते हैं।

इसी प्रकार मानसिक क्षेत्रमें पूर्णता-प्राप्तिकी प्रेरणा हमारी प्रवृत्तियोंमें स्पष्टरूपसे दृष्टिगत होती है। मनुष्यकी प्रत्येक प्रवृत्ति प्रकाशके लिये उत्सुक है। जो प्रवृत्ति प्रकाशको प्राप्त कर लेती है, उद्देश्य सिद्ध हो जानेके कारण उसकी निवृत्ति हो जाती है और जिस प्रवृत्तिका प्रकाश रुक जाता है उसका वेग और भी बढ़ जाता है तथा साक्षात् या असाक्षात्‌रूपसे किसी भी तरह वह बलपूर्वक प्रकाशकी प्राप्तिके द्वारा अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहती है।

इसप्रकार जैसे प्रत्येक देहयन्त्र और प्रत्येक प्रवृत्ति आदि पूर्णता प्राप्त करना चाहती हैं वैसे ही प्रत्येक मानवात्मा भी अपनी पूर्णता चाहता है। मानवात्माकी यह पूर्णता-प्राप्तिकी आकांक्षा ही उसके स्वप्नमें, स्नायविक रोगविशेषमें (Neurosis) और आत्मज्ञान-प्राप्तिकी चेष्टामें दृष्टिगोचर होती है।

पहले स्वप्नपर विचार कीजिये। हम जाग्रत् जीवनमें जिस वस्तुको प्राप्त नहीं कर सकते उसे स्वप्नमें प्राप्त करते हैं। स्वप्नमें ही मानो हम अपनी पूर्णता लाभ करते हैं। मनुष्यका स्वप्न-जीवन मानो उसके जाग्रत् जीवनका पूर्तिकारक (Complement) है। जाग्रत् जीवनमें हम जिन प्रवृत्तियोंके प्रकाशका द्वार बन्द कर रखते हैं, स्वप्नराज्यमें मानो उन्हींकी ताण्डवलीला होती रहती है, इसी प्रकार मानो आत्मा अपने अपूर्ण जीवनको पूर्ण करना चाहता है। यूरोपीय नवीन मनोविज्ञान आज स्वप्नके अनेक तत्त्वोंका आविष्कारकर मानव-चरित्रके बहुत-से रहस्योंको खोलनेमें समर्थ हुआ है और उसके द्वारा मानव-जीवनका बहुत-कुछ कल्याण हो रहा है।

दूसरे, हम यदि मनुष्यके विविध प्रकार स्नायविक रोगोंपर विचार करते हैं तो मालूम होता है कि जो बात स्वप्नके सम्बन्धमें सत्य है वही रोगके सम्बन्धमें भी है। जीवनमें जिन वृत्तियोंका प्रकाश रुक जाता है स्नायविक-रोगोंमें उन्हींका प्रकाश देखनेमें आता है। जबतक वृत्तियों-का स्फुरण नहीं होता, तबतक मानवात्मा असम्पूर्ण है, इसीलिये मनुष्यका मस्तिष्क विकृत होनेपर उसमें जो लक्षण प्रकट होते हैं वे उन प्रतिरुद्ध वृत्तियोंका ही स्फुरण-विशेष है। यह बात देखनेमें असङ्गत प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें सत्य तत्त्व है। हमारी पूर्णता-प्राप्तिकी अदम्य चेष्टासे इसकी पुष्टि होती है।

तीसरे, आत्मज्ञानको प्राप्त करनेकी चेष्टामें भी हमें इसी एक सत्यका आभास मिलता है। मनुष्यकी सारी वृत्तियाँ और भाव आदिकी एक समञ्जस-समष्टिके उत्पन्न होनेमें ही आत्माकी पूर्णता है। इसीको मनोविज्ञानकी दृष्टिसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति कहते हैं और इसके द्वारा जो मानसिक अनुभूति होती है उसीका नाम सुख है। जो लक्ष्य हमारी वृत्तियोंको उनके क्षुद्र उद्देश्योंसे छुड़ाकर एक उच्च और महान् उद्देश्यकी ओर सञ्चालित कर सकता है, उसीको हम आदर्श कह सकते हैं और उस आदर्शकी प्राप्तिके लिये होनेवाली चेष्टाका नाम ही इच्छा (Will) है। पूर्णता-लाभ या आत्मज्ञानकी क्षुधा ही मनुष्यको सारी क्षुद्रताओं-से मुक्त करके एक उच्च आदर्शकी ओर दौड़ा देती है; अतएव जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें पूर्णता-प्राप्तिकी यह इच्छा ही प्रबलतम शक्तिरूपमें कार्य करती है और जबतक आत्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती तबतक इस शक्तिका विराम नहीं होता।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, यूरोपीय नवीन मनो-विज्ञान अब इस सिद्धान्ततक पहुँच गया है। सहज दृष्टि-से धीरताके साथ मनकी गतिकी ओर देखनेसे और उस-पर विचार करनेसे इसमें भी पूर्वोक्त ऋषि-सिद्धान्तका ही आभास मिलता है। परन्तु इस विषयके तत्त्वको भली भाँति समझनेके लिये मनोविज्ञानके राज्यको लाँघकर दर्शनके राज्यका आश्रय लेना पड़ेगा। पूर्णता-प्राप्तिका यथार्थ और चरम अर्थ क्या है, इस प्रश्नका उत्तर मनो-विज्ञान नहीं दे सकता। मनोविज्ञान इतना ही कह सकता है कि वृत्तियोंका पूर्ण स्फुरण ही पूर्णता है। परन्तु इस बातको समझनेके लिये वृत्तियोंके वास्तविक स्वरूपको समझना आवश्यक है। यहींपर अतीन्द्रिय-ज्ञानकी बात आ जाती है। वृत्तियोंके मूल प्रवाहको समझनेके लिये ऋषियोंके अन्तर्ज्ञानलब्ध सत्यका आश्रय लेना पड़ता है। पहले ही कहा जा चुका है कि जगत्की प्रत्येक वस्तु इसी सत्तासे उत्पन्न है, इसीके आधारपर टिकी हुई है और इसीमें सबकी गति या परिणति है। यह ब्रह्म या ईश्वर सभी वस्तुओंके अन्तरमें अन्तरात्मारूपसे स्थित है। यही सबका नियन्ता है। ईश्वर ज्ञान और इच्छाशक्ति-सम्पन्न पुरुष है—उसने अपनी इच्छासे इस जगत्का सृजन किया है और इन सारी विचित्रताओंके अन्दरसे वही मानो अपने स्वरूपकी उपलब्धि कर रहा है। अवश्य ही इससे यह नहीं समझना चाहिये कि ईश्वर आदिमें अपूर्ण था और पीछेसे पूर्णताको प्राप्त हुआ है; यह तो समझानेके लिये कहा जाता है, क्योंकि मानवीय भाषामें सृष्टिके रहस्यको समझानेके लिये इसके सिवा अन्य उपाय नहीं है। इसीलिये शास्त्रमें इसको ईश्वरकी लीला कहा गया है। सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हेगल भी मानो वेदान्तकी प्रतिध्वनि करता हुआ ईश्वरके सृष्टिरहस्यके सम्बन्धमें कहता है—

The absolute goes out of himself and returns upon himself as a fully realised being.

अर्थात्—'ईश्वर इस विचित्र जगत्को चलाकर इसीके अन्दरसे अपने पूर्ण स्वरूपकी उपलब्धिद्वारा पुनः अपनेमें ही लौट आता है।' इससे यही बात सिद्ध होती है कि जगत्की जो सब वस्तुएँ अथवा जीवके अन्दर जो गति, इच्छा या वृत्ति दीखती हैं, वास्तवमें उन सबके मूलमें ईश्वरकी आत्मोपलब्धि-वृत्तिके सिवा और कुछ भी नहीं है। ईश्वर ही सब वस्तुओंका तथा जीवोंका अन्तरात्मा है, इसलिये इनमें जो कुछ भी गति या वृत्ति दिखलायी देती है, उसका प्रकृत स्वरूप उस ईश्वरकी आत्मोपलब्धि-की चेष्टा ही है। अतएव मनुष्यके हृदयमें जितनी वृत्तियाँ हैं, उन सबके मूलमें यह एक ही वृत्ति काम कर रही है और मनुष्यकी नाना चेष्टाओंमें यह एक ही अनेकरूप होकर दिखलायी देती है। मनोविज्ञानके अनुसार वृत्तिके पूर्ण स्फुरणमें ही मनुष्यकी पूर्णता है, इस बातको उपर्युक्त

तत्त्व-ज्ञानके द्वारा समझना चाहिये । समस्त वृत्तियोंका केन्द्र ईश्वर है और इस ईश्वरसे ही सबकी परिणति है । इसीलिये आर्य-ऋषियोंने जीवनका प्रत्येक कर्म ईश्वरको केन्द्र बनाकर करनेका उपदेश दिया है । गृहस्थ भी ब्रह्म-निष्ठ और तत्त्व-ज्ञान-परायण होकर जो कुछ भी कर्म करे, सब ब्रह्मके अर्पण करे । शास्त्रकी यह वाणी हिन्दू-भारतकी प्राणस्वरूपा है और इसीके ऊपर हिन्दूकी सारी साधनाएँ प्रतिष्ठित हैं । गीतामें जो निष्काम कर्मका वर्णन है,—वह इसीकी प्रतिध्वनि है ।

यूरोपीय नवीन मनोविज्ञानने वृत्तिके विषयमें उपर्युक्त जिस तथ्यको प्रकट किया है, उससे ऋषियोंकी वाणीकी दृढ़ पुष्टि होती है । वृत्तिपर विचार करते हुए पाश्चात्य मनोविज्ञानवादियोंने देखा है कि मनुष्यकी वृत्तियाँ अपने-अपने क्षुद्र आवर्तमें बँधकर नहीं रह सकतीं । कारण, इसमें उनका अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, इनको एक उच्च और साधारण आदर्शकी ओर बढ़ा देना होगा । इसीको Sublimation या वृत्तिकी ऊर्ध्व-गति कहते हैं । इस विषयमें रामकृष्ण परमहंसदेवने बहुत सुन्दर कहा है। वे कहते हैं, 'मनुष्यकी प्रवृत्तिको भगवान्‌की ओर मोड़ दो' इसमें वस्तुतः उपर्युक्त ऋषि-वाक्योंकी ही प्रतिध्वनि है । यूरोपीय मनोविज्ञान इतनी दूरके सत्यतक न पहुँचने-पर भी उससे आभास इसीका मिलता है ।

विचार करनेपर हमें अपने व्यावहारिक जीवनमें भी क्या इसी सत्यका आभास नहीं मिल रहा है ? ऋषियोंने जिस सत्यका उद्घाटन किया था—वह किसीसे छिपा नहीं है; जीवनके प्रत्येक कार्यमें ही उसका विकास देखनेमें आता है । जगत्‌के सभी क्षेत्रोंमें जितने बड़े-बड़े कर्मी हुए हैं, उन सभीमें प्रबल आत्म-विश्वास देखा जाता है । इस आत्म-विश्वासका आधार क्या है ? वास्तविक रूपसे देखने-पर पता लगता है कि ईश्वर-विश्वास ही इस आत्म-विश्वासका मूल आधार है । इस सम्बन्धमें हमारा देश तो प्रधानरूपसे साक्षी दे रहा है । पाश्चात्य जातिकी ओर देखनेसे कुछ सन्देह होता है, परन्तु इतना सत्य है कि साधारणतः उनमें ईश्वरका साक्षात् विश्वास न होनेपर भी उन्होंने अपने स्वार्थकी क्षुद्र सीमाको लाँघकर एक उच्च आदर्शका आभास प्राप्त किया है और यही उनके आत्म-विश्वासका आधार है । इस उच्च आदर्शको ईश्वरकी अज्ञात प्रेरणा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है । यह प्रेरणा-जानमें हो या अनजानमें—मनुष्यकी सभी कर्म-चेष्टाओं-को जागरित करती है । जीवन-स्रोतके निम्न स्तरमें यह स्रोत बह रहा है—यही आधार-भूमि है । मनुष्य जिस समय अपनेको भूल सकेगा, उसी समय इसका वास्तविक स्पर्श प्राप्त करेगा और इसके साथ युक्त हो जायगा । जर्मन दार्शनिक हेगलने तो 'Die to live' इस वाक्यद्वारा बड़ी सुन्दरताके साथ इसी सत्यको प्रकट किया है । अपने जीवनमें क्या हम यह नहीं देखते कि जिस क्षण हम वस्तुतः अपने स्वार्थ या क्षुद्रताको भूल जाते हैं उसी क्षण उस अज्ञात सत्ताके स्पर्शसे हृदयमें एक अद्भुत शक्तिके दर्शन होते हैं ? ऐसे क्षण जीवनमें बहुत स्वल्प होनेपर भी सत्य हैं । इस सत्यकी खोज न करने अथवा इसपर विचार न करनेके कारण ही तो हम जीवनके असली उद्देश्यको खोकर मोहित हो रहे हैं । परन्तु प्राणोंको भली भाँति जाग्रत् करने, वृत्तियोंको यथार्थरूपसे तृप्त करनेका और कोई उपाय ही नहीं है । मनुष्यकी सम्पूर्ण कर्म-चेष्टाओंके मूलमें ईश्वर विद्यमान है, वही सबका मूल निर्भर है । कर्मकी गतिको उसीकी ओर मोड़ देना होगा, तभी यथार्थ तृप्ति होगी । इस सत्यकी उपलब्धि वर्तमान युगमें विशेष आवश्यक है । 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्नि-बोधत'—उठो, जागो और जबतक इस सत्यका पता न लगे, निवृत्त न होओ । ईश्वर हमें इस साधनामें शक्ति प्रदान करें ।

—————

'नारायन' संसार मैं, भूपति भए अनेक ।
मैं मेरी करते गए, लै न गए तृन एक ॥
भुज-बल जीते लोक सब, निरभय सुख धन धाम ।
'नारायन' तिन नृपनको, लिख्यौ राहि गयौ नाम ॥

वाल्मीकि-रामायण और भगवच्छरणागति

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, भट्ट, कविरत्न)

सलनरेन्द्र भगवान् श्रीरामचन्द्र अथाह वानरवाहिनी लिये दक्षिण-सागरके तटपर विराज रहे हैं। सेनाको समुद्र-पार किस तरह पहुँचाया जाय, इसका विचार किया जा रहा है। उधर लङ्कामें त्रिलोक-विख्यात राक्षसेन्द्र रावण भी सभा जोड़कर मन्त्रियोंसे सलाह कर रहे हैं कि अब क्या करना चाहिये। विश्व-विख्यात-पराक्रम बाली (जिसने स्वयं रावणको भी बग़लमें दबा लिया था) और उसके भाई सुग्रीवकी सेना लेकर श्रीरामचन्द्र लङ्काके समीप ही पहुँच चुके हैं। ठकुरसुहाती मानी जाय चाहे सच्चा प्रभाव-वर्णन समझा जाय, किन्तु प्रहस्तादि सभी सचिवोंने लङ्काधिपतिका त्रिलोककम्पन प्रभाव दिखलाकर आश्वासन दिया कि आपका अवश्य विजय होगा। इसमें अधिक चिन्ता करनेकी कोई बात ही नहीं है। कुछ योद्धाओंने तो जोशमें आकर वहीं तलवार खींच ली और वीरताके ज़ोममें आकर वे कहने लगे—'ज्यादा सोच-विचारकी बात ही नहीं होनी चाहिये। हमलोग जाते हैं और अभी राम तथा सुग्रीवको समाप्त करके सारा झगड़ा मिटाये देते हैं।'

लङ्केश्वरके छोटे भाई, धीर-प्रकृति, शास्त्रतत्त्वज्ञ (भगवान्के अनुग्रहके अधिकारी, दैवजीव) विभीषण भी वहाँ मौजूद थे, क्योंकि वह भी लङ्केश्वरके मन्त्र-सचिवोंमेंसे एक थे। वह चुपचाप सब कुछ सुनते रहे। पर यह झूठी उछल-कूद उन्हें बहुत बुरी लग रही थी। वह श्रीरामचन्द्रको केवल एक पराक्रमी राजा ही नहीं, भक्तोंके उद्धारार्थ भूतलमें उतरे हुए साक्षात् भगवान् समझते थे। वह किसी तरह मनको रोके हुए भगवद्विमुख साक्षात् राक्षसोंके समाजमें बड़े कष्टसे अबतक निवास कर रहे थे। गोसाईंजीने उस दशाका अच्छा आभास दिया है कि '*जिमि दसननमें जीभ बेचारी*।' वह श्रीरामचन्द्रके प्रभावको जानते थे। केवल यही नहीं, उनका लङ्केश्वरके साथ भाईका नाता था। स्नेह ही क्या, सच्ची बात तो यह है कि हृदयगत सौजन्यके कारण उनसे यह झूठी शेख़ी अधिक नहीं सुनी गयी। उन्होंने उन लोगोंको शान्त करके बैठाया। लङ्केश्वरको उत्तम-मध्यम सब तरह समझाया कि 'श्रीरामचन्द्रके साथ युद्ध करना किसी कारणसे भी ठीक नहीं। सुग्रीवादिका साथ देना राजनीतिके अनुसार एक बड़ा रहस्य है। अतएव इसीमें कल्याण है कि सीताको श्रीरामचन्द्रके पास पहुँचा दिया जाय।' किन्तु घनघोर वीरोंके सामने विभीषणकी सलाह न जमी।

लङ्केश्वर इस मन्त्रपर कुछ विचार किये बिना ही सभासे उठ खड़े हुए। किन्तु विभीषण हृदयसे उनका भला चाहते थे। दूसरे दिन प्रातःकाल बिना बुलाये ही वह रावणके महलमें पहुँचे। बहुत कुछ समझाया, किन्तु होनहार नहीं टलती। लङ्केश्वरने सलाह तो मानी ही नहीं, प्रत्युत व्यङ्ग्य-वाणोंसे विभीषणके हृदयको छेद दिया। कहा कि—'रामचन्द्रको मदद देनेवाले मुझसे छिपे नहीं हैं। मुझे शत्रुसे अधिक ऐसे गुप्त शत्रुओंका अधिक भय है। सच है, नमकहराम किसीके साथी नहीं होते।' खैर, रावण बड़े भाई थे। किसी तरह यह इसे पी भी जाते, किन्तु भतीजे इन्द्रजित्‌ने भी मर्यादा लाँघकर उन्हें बुरी तरह फटकारा। कहा कि—'वीर्य, बुद्धि, पराक्रम आदि

सबसे हीन तुम्हीं इस कुलमें उत्पन्न हुए हो इत्यादि ।' निष्कपट-हृदय विभीषणको इससे बड़ी भारी वेदना हुई । उनका हृदय इस अपमानके कारण एकदम रो उठा ।

बस, यहींसे वह भगवान्‌की शरणमें जानेके अधिकारी बनने लगे । जबतक निर्वेद नहीं होता, भगवान्‌की भक्ति हृदयमें स्थान नहीं पाती । गीताके ठाकुरने भी भक्तिके अधिकारियोंकी लिस्ट बनाते हुए सबसे पहले उसीका नाम लिखा है जिसके हृदयको दुनियाके दुःखोंकी असहनीय चोट पहुँच चुकी हो । वह कहते हैं कि 'मेरा भजन करनेवाले प्रधानतः ये हैं—*'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।'* (दुःखपीड़ित, भगवन्माहात्म्यको जाननेकी इच्छा करनेवाला, प्रयोजन रखनेवाला तथा पूर्ण ज्ञानी) बात यह है कि जिज्ञासु आदिकी अपेक्षा आर्तका भगवान्‌की तरफ़ स्वाभाविकरूपसे अधिक खिंचाव होता है । भगवान्‌को भी औरोंकी अपेक्षा उसपर शीघ्र दया आ जाती है । भक्तको दुःखी देखकर भक्तोंके प्रणयी भगवान्‌से रहा नहीं जाता । आर्त गजेन्द्रकी पुकार सुनकर भगवान् वैकुण्ठसे गरुड छोड़कर स्वयं पैदल ही दौड़े थे । बस, इसीलिये महर्षि वाल्मीकिने विभीषणको 'अर्थार्थी, ज्ञानी' आदि समझते हुए भी आर्तके रूपमें पहले-पहल अधिक चित्रित किया है ।

विभीषण लङ्काधिपतिको कालवशीभूत समझकर वहाँसे उठ खड़े हुए । उनके हृदयमें भगवान्‌की तरफ़ पहलेसे कुछ खिंचाव था ही, इधर इस सहकारी कारणने उसको और भी प्रबल बना दिया । उन्होंने ज्येष्ठ भ्रातासे खटपट करनेकी अपेक्षा लङ्काको छोड़ देना ही उचित समझा । और वह अपना साथ देने-वाले चार अनुगामियोंके साथ वहाँसे चल पड़े । हृदयमें बड़ा हर्ष हो रहा था कि आज बहुत कालसे जिनका गुण श्रवण करता आया हूँ, उन श्रीरामचन्द्र-का दर्शन करूँगा । आती-बेर फिर एक बार रावणको समझाया और अन्तमें कहा कि—'अच्छी बात है, आप मुझे बुरा समझते हैं तो मैं चला जाऊँगा । मैं अपने हृदयसे चाहता हूँ कि आप सुखी हों, किन्तु आपके सुखी होनेमें मैं ही यदि बाधक हूँ तो मैं चला जाता हूँ । आप सुखी हों । मैंने आपको बड़ा भाई समझकर स्नेहके कारण आपकी हितचिन्तासे जो कुछ कहा-सुना हो, उसे क्षमा कर दें । किन्तु आप अपनी और राक्षसों सहित इस पुरीकी सावधानीसे रक्षा करें ।' व्यङ्ग्य-मर्यादासे उन्हें सूचित कर दिया कि यदि आप श्रीरामचन्द्रसे सन्धि करना नहीं चाहते तो अब आपकी और इस पुरीकी खैर नहीं । महर्षि वाल्मीकिके अक्षर हैं—

'तन्मर्षयतु यच्चोक्तं गुरुत्वाद्धितमिच्छता ।
आत्मानं सर्वथा रक्ष पुरीं चेमां सराक्षसाम् ॥
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि सुखी भव मया विना ।'

बस, वह लङ्कासे विदा होकर समुद्रके दूसरे तट-की तरफ चले, जहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्र वानर-चमूपति सुग्रीव, हनूमान् आदिकी मन्त्रणासभा जोड़-कर समुद्र-लंघनका उपाय सोच रहे थे । महर्षि वाल्मीकि भी यहींसे भगवच्छरणागतिका आरम्भ करते हैं । उसका प्रथम पद्य है—

'इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं रावणं रावणानुजः ।
आजगाम मुहूर्तेन यत्र रामः सलक्ष्मणः ॥'

'रावणानुज विभीषण *'इति'* इस तरह (पहले सर्गोंमें जिसप्रकार कहा जा चुका है), रावणके प्रति कठोर वाक्य कहकर जहाँ लक्ष्मणसहित रामचन्द्र थे, वहाँ मुहूर्तमात्रमें (अति शीघ्रतासे) *'आजगाम'* आये ।'

यह श्लोकका अक्षरार्थ है । इसमें शरणागतिका जो कुछ साम्प्रदायिक रहस्य है तथा आदिकवि

भगवान् वाल्मीकिके अक्षरोंमें जो कुछ गाम्भीर्य है, उसे भी अब अवधानसे सुनिये—

शरणागतिके छः अङ्ग हैं—'मैं सदा अनुकूल रहूँगा यह संकल्प, प्रतिकूलताका त्याग, भगवान् मेरी रक्षा करेंगे यह अटल विश्वास, अब आप ही मेरे रक्षक हैं इस तरह वरण करना, अपनी आत्माका भगवान्‌को समर्पण कर देना तथा दीनता।'[1]

इन छः अङ्गोंमेंसे भगवान्‌के अनुकूल हो जाना, प्रतिकूलताका त्याग करना उसी समय दिखला दिया, जिस समय राक्षसकुलप्रसूत होनेपर भी विभीषण श्रीरामचन्द्रजीको अच्छा मानने लगे थे और उनके लिये लङ्कासे चल पड़े थे। विश्वविख्यात पराक्रमशाली बाली आदिके निग्रहको देखकर भगवान्‌के रक्षकत्वपर भी उनका विश्वास जम चुका था। किन्तु शरणागतिका सबसे प्रधान अङ्ग जो दीनता है, उसका प्रकाशन अभीतक नहीं हुआ था। उसी अङ्गको लेकर महर्षि वाल्मीकि शरणागतिका आरम्भ करते हैं। कहते हैं—*'इत्युक्त्वा परुषं वाक्यम्'* (इस तरह कठोर वाक्य कहकर)।

जिस उग्रशासन रावणके डरसे वायुतक जनानेमें डरता हुआ चलता था कि ऐसा न हो जो स्त्रियोंके अञ्चल उड़नेसे बेअदबी करनेके अपराधमें मैं पकड़ा जाऊँ। उस जगद्विजयी रावणको छोटा होकर भी 'मौत तुम्हारे सिरपर खेल रही है' इत्यादि कह देना और जीनेकी आशा करना, यह असम्भव है। अतएव अब तो लङ्कासे चला जाना ही पड़ेगा। किन्तु यहाँसे चले जानेपर भी क्या रावणसे छुटकारा मिल जायगा ? सिवा श्रीरामचन्द्रजीके और कोई नहीं बचा सकता, यों अपनेमें दीनता लाते हुए विभीषण आगे बढ़ते हैं। इसलिये कहा कि *'इत्युक्त्वा परुषं वाक्यम्'*

'इति' (इस तरह) यों *'इति'* से कहनेके प्रकारको सूचित किया गया है। वह यह कि *'प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली'* (श्रीरामचन्द्रजीके पास सीताको लौटा दो) यह कर्तव्यमें सुभीता दिखलाया। *'यावन्न गृह्णन्ति शिरांसि बाणाः'* (यदि नहीं लौटाओगे तो मस्तक देकर प्रायश्चित्त करना पड़ेगा) यह भय भी दिखाया। यों 'सब प्रकारसे' समझाया गया था, इस बातको सूचित करनेके तात्पर्यसे कहा कि *'इति'*।

'इति' से महर्षिका और भी तात्पर्य है। आगे जाकर यह कलङ्क आ सकता है कि 'हितको जाननेवाले मर्यादानुगामी सहोदर भ्राता विभीषणने ही सङ्कटमें पड़े हुए भाईका साथ न दिया' यह अपयश आगे न मिले *'इति'* इसप्रकार (बहुत अच्छी तरह) *'उक्त्वा'* कहकर।

विभीषण-सदृश शान्त-प्रकृति भगवद्भक्तके वाक्यको *'परुषम्'* कठोर कहनेका तात्पर्य यह है कि वह वाक्य 'हित' था, परन्तु रावणरूप ग्राहकके दोषसे वह कठोर हो गया। मलयपवन विलासियोंका आन्तरिक सन्ताप दूर करता है किन्तु विरही उससे जले जाते हैं। इसलिये आधार-दोषसे वाक्यके कठोर बन जानेका हेतु महर्षि साथ ही सुझा रहे हैं—*'रावणम्'* प्रबल-दुर्बलका विचार न कर जो सब जगत्‌को 'रुलानेवाला' है, उसके सामने शत्रुका बल वर्णन करना अवश्य ही उसे कठोर प्रतीत होगा। किन्तु विभीषणके लिये भी महर्षि विशेषण देते हैं *'रावणानुजः'* रावणका सामना करनेवाला भी कोई सत्त्व-प्रधान व्यक्ति ही होना चाहिये। वह उस पराक्रमीके छोटे भाई ही तो थे। इसलिये सत्त्वाधिक्य-

---

[1] 'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यसीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥'

के कारण अपना वक्तव्य उन्होंने अच्छी तरह कह दिया। दूसरे उनको तो 'हितम्' हित कहना था। इसलिये इसमें डरनेकी भी कोई बात न थी। *'रावणानुजः'* छोटे भाई होकर ज्येष्ठ भ्राताको समझा रहे थे, यह शङ्का भी हट जाती है। क्योंकि हित-कथनमें ज्येष्ठ होना ही आवश्यक नहीं। मनु तो कहते हैं—महर्षि आङ्गिरस बालक ही थे। उन्होंने अपने पिताओंको पढ़ाया और पढ़ाते समय ज्ञानवृद्ध होनेके कारण उनको 'पुत्रो!' यह सम्बोधन किया।

'पितॄनध्यापयामास शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रकानिति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥'

स्मृति तो यहाँतक कहती है कि—'अज्ञ पुरुषको बालक, और मन्त्र देनेवालेको पिता कहना चाहिये।'

'अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव च मन्त्रदम्।'

अब आता है *'आजगाम'*। जब लङ्कासे विभीषण श्रीरामके पास गये थे तब *'जगाम'* (गये) यों कहना चाहिये; आनेका क्या प्रसङ्ग? जहाँ-जहाँ ऐसा प्रसङ्ग आया है वहाँ महर्षि *'जगाम'* ऐसा ही कहते आये हैं। और तो क्या, भगवान् श्रीरामचन्द्रके विषयमें भी कहते आ रहे हैं *'जगाम मनसा सीताम्'* फिर यहाँ *'आजगाम'* कहाँसे आजगाम (आया?) सुनिये—

महर्षि दिखलाते हैं कि विभीषण दैवजीव थे। वह तो लङ्कासे वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं रखते थे। सदा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंको ही अपना घर समझते आ रहे थे। और घर आनेमें सदा यों ही कहा जाता है कि हम कल रात्रिको दस बजे घर आये, न कि गये। कहावतमें भी यों ही कहा गया है कि 'सबेरेका भूला शामको भी घर आ जाय तो भूला नहीं कहलाता।' भक्त भगवान्की ही विभूति हैं। भगवान् ही उनका आश्रय है। आश्रयके पास लौटनेमें आना ही कहा जायगा, जाना नहीं। इसी-लिये तो 'शरणागति' शरणमें 'आगति' आना कहा जाता है न कि 'गति' जाना। इसी तात्पर्यसे जाने-के प्रसङ्गमें भी महर्षि कहते हैं *'आजगाम'*।

'आजगाम' के साथ कहा है *'मुहूर्तेन'*। क्या विभीषण ज्योतिषियोंसे मुहूर्त शोधन करवाकर चले थे? नहीं नहीं। इसका अर्थ है, मुहूर्तमात्रमें, जल्दीसे। इसके द्वारा भगवद्भक्त विभीषणकी मानसिक अवस्थाका सूचन किया है। वह चिरकालसे भगवान् श्रीरामचन्द्रके दर्शनके लिये उत्सुक हो रहे थे। उनको बड़ी उतावली लग रही थी कि कब लङ्कासे छुटकारा पाऊँ और भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन करूँ। वह जब दुबारा रावणको समझाने उसके महलमें गये थे तो भीतर-ही-भीतर यह भी धुकड़-पुकड़ लग रही थी कि अब यदि समझानेसे लङ्कापति रास्तेपर आ गये तो श्रीरामचन्द्र-चरण-दर्शन नहीं हो सकेगा। खैर, ज्येष्ठ भ्राताका तो कल्याण होगा। मैं मनके द्वारा तो चरणोंकी शरणागति स्वीकार कर ही चुका हूँ। फिर और कोई उचित अवसर देखकर शरणमें चला जाऊँगा। किन्तु जब रावणने उचित सलाहको ठुकरा दिया और विभीषणका घोर अपमान किया, उस समय उन्हें लङ्का छोड़ना निश्चित करना पड़ा। अब उन्हें भगवच्छरणमें जानेके बीचका विलम्ब कैसे सहन होता?

जैसे ही प्रातःकाल हुआ कि बछड़ा देखता रहता है कि कब दोहनेका समय आवे और मैं माताके पास पहुँचूँ और स्तनपान करूँ। जैसे ही गौको चरनेके लिये छोड़नेका समय आया और दुहनेवाला दुहाली (दोहनी)लेकर पास आने लगा कि बच्छा अपने खूँटेसे बँधा ही खुलनेके लिये तड़फड़ाने लगता है। रस्सी-को खूँटेसे खोलते समय तो वह यहाँतक खींचातान मचाता है कि ग्वाला भी तङ्ग आ जाता है। आप

ही देखिये—जैसे ही रस्सी खुली कि वह माताके पास पहुँचनेतक रास्तेमें कितना समय लगाता होगा ? उस समय रास्तेकी चीज़ोंपर उसकी दृष्टितक नहीं पड़ती। वह एकदम दौड़कर, माताके स्तनतक पहुँचकर ही दम लेता है। ठीक इसी तरह विभीषण-को भी हड़बड़ाहट लग रही थी कि कब दूसरे पार पहुँचूँ और भगवान्‌का दर्शन करूँ। जो मनसे भगवान्‌के भक्त हुआ करते हैं, उन्हें भगवद्विमुखोंका सङ्ग कितना अखरता होगा, यह अपने आप सोचने-की बात है, समझानेकी ज़रूरत नहीं। किन्तु वह सङ्ग निपट परवश रहनेके कारण मन मारकर सहना ही पड़ता था। परन्तु जब वहाँसे छुटकारा मिल रहा है, तब देरी कैसी ? जिस तरह जलते हुए अँगारोंके मार्गमें पैर रखना जितना ही कम हो उतना ही अच्छा, उसी तरह मार्गमें जितने पैंड कम रखने पड़ें उतना ही अच्छा, यह विभीषणकी लालसा थी। भक्तोंके विषयमें क्या अच्छा कहा है—

वरं हुतवहज्वालापञ्जरान्तरवस्थितिः।
न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम्॥

'अग्निकी लपटोंके अन्दर रहना अच्छा, किन्तु हरिविमुखोंके साथ निवास अच्छा नहीं, वह तो 'वैशस' है, बड़ी कठोरता है।' इसीलिये विभीषणके हृदयकी व्याकुलताको सूचन करनेवाली जल्दीको प्रकाश करनेके लिये महर्षि कहते हैं—*'मुहूर्तेन।'*

आगे कहते हैं *'यत्र रामः'* जहाँ राम थे (वहाँ आये)। कहना चाहिये *'रामम् आजगाम'* रामके पास पहुँचे। जहाँ शरणागतिका निरूपण किया जा रहा है, वहाँ 'शरण' जो भगवान् उनके पास *'आगति'* यों साक्षात् भगवान्‌का उपसर्पण ही वर्णन किया जाता है। फिर यहाँ *'यत्र रामः'* कहकर रामके निवास-देशका अङ्गा क्यों लगाया ? इसका भी तात्पर्य है—विभीषण भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका मन-ही-मन ध्यान करते हुए इतने अनुरक्त हो गये थे कि चित्तमें सोचते आ रहे थे—अहा ! वह (स्थान) कितना पवित्र है, जहाँ भगवान् इस समय विराज रहे हैं। अतएव उनकी दृष्टिमें श्रीरामकी अपेक्षा भी उनके चरणारविन्दोंसे पवित्र हुए उस स्थानका बड़ा सम्मान था। भक्तगण भगवच्चरणार्चित स्थानको दूरसे देखकर ही गद्‌गद् हो उठते हैं। आहा—

'सुभगश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजोपमो गिरिः।
यस्मिन्वसति काकुत्स्थः कुबेर इव नन्दने॥

'समस्त पर्वतोंमें राजाके समान इस चित्रकूटका बड़ा सौभाग्य है, जहाँ नन्दनवनमें कुबेरकी तरह भगवान् श्रीरामचन्द्र निवास करते हैं।'

अथवा—लङ्कानिवासके 'वैशस' से घबराये हुए विभीषण जल्दी-जल्दी उड़े आ रहे थे। उन्हें समुद्र-की लम्बाई इस समय बेढब खटक रही थी। किन्तु जैसे ही श्रीरामचन्द्रजीके निवास-स्थानकी सीमापर पहुँचे कि उन्हें शान्ति मिल गयी। इसलिये उन्हें तो श्री-रामचन्द्रजीके निवाससे पवित्र हुआ वह देश ही बड़ा अच्छा लग रहा था। अतएव उनके हृदयानुसार महर्षिने कहा— *'यत्र रामः'*

किंवा—रामके पास पहुँचना ही अभी कहाँ ? कोसलराजाधिराज भगवान् श्रीरामचन्द्र इस समय विचारसभा एकत्रकर युद्धके विषयमें अत्यन्त गुप्त और गभीरतम विचार कर रहे हैं। चारों ओर बड़े-बड़े वानर-चमूपति शिबिरका खड़ा पहरा दे रहे हैं। किसीको अन्दर जानेकी आज्ञा नहीं। नये आये विभीषणको *'रामम् आजगाम'* यों कहवाकर रामके पास पहुँचनेका अवसर कौन देगा ? वह तो आगे जाकर राम-दरबारकी ड्योढ़ीपर पहुँचकर पहरेदारोंसे स्वयं अपनी अर्जी पहुँचवाते हैं—

निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने।
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम्॥

'प्राणिमात्रको आश्रय देनेवाले महात्मा श्रीरामचन्द्रजीको जल्दीसे मालूम कर दीजिये कि यह विभीषण उपस्थित हुआ है।' यह अक्षरार्थमात्र है। इसका वास्तविक तत्त्व शरणागतिमें आगे आवेगा।

वह आकाशसे नीचे उतरे, उसके पहले ही अपने अङ्गीकारके विषयमें सङ्कल्प-विकल्प कर ही रहे थे कि सुग्रीवने इन्हें देखनेमात्रमें ही शत्रु-पक्षका समझकर ठौर-की-ठौर ठण्ढा कर देनेका विचार कर लिया। विभीषण भी इस बातको नहीं समझते थे, सो नहीं था। वह भी जानते थे कि मेरा अङ्गीकार कर लेना सहज तो है नहीं। सुग्रीव-सरीखे विक्रान्त वीर मुझे देखते ही उबल पड़ेंगे। परन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्रकी दयालुताका दृढ़ विश्वास अटलरूपसे उनके हृदयपर जमा हुआ था। इसलिये शिबिरमें पहुँचते ही यकायक साक्षात् श्रीरामचन्द्रके पास ही अपने नामका 'जुबानी विज़िटिङ्ग कार्ड' पहुँचा दिया—*'विभीषणमुपस्थितं राघवाय निवेदयत।'* अब जबतक भीतर आनेकी परवानगी न मिले तबतक उस शिबिरदेशमें ही तो ठहरना पड़ा था। इसलिये यह धुकधुकी लिये ठहरना जिस देश (स्थान) में हो रहा था, उसीको प्रधानतया निर्देश करते हुए वाल्मीकि कहते हैं—*'यत्र रामः तत्राजगाम।'*

यहाँ एक गूढ बात और रह गयी। वैयाकरण पण्डितोंके इसपर कई दाव-पेंच चल सकते हैं। *'यत्र रामः'* यों खाली कर्तृपद कह दिया, क्रिया नहीं। (*'यत्र न्यवसत्'* रहते थे), (*'सैन्यसंनिवेशमकरोत्'* कैम्प डाले हुए थे) किंवा (*सभामध्यतिष्ठत्'* सभा कर रहे थे) इत्यादि कुछ तो क्रियापदका निर्देश होना चाहिये था। वास्तवमें यह शङ्का ठीक है। किन्तु महर्षि इस समय शरणागतिके लिये आते हुए विभीषणके हृदयका चित्र खींच रहे हैं। किसी भी बड़े आदमीके पास आनेवाला पुरुष पहले उसका समय और कार्य देखता है कि वह क्या कर रहे हैं। इस समय मुझे मिलनेकी आज्ञा दी जा सकेगी कि नहीं। किन्तु विभीषणको भगवान्‌की दयालुताका दृढ़ विश्वास हो चुका है जो शरणागतिमें अत्यन्त आवश्यक है। वह जानते हैं कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कुछ भी कर रहे हों, जहाँ आपको मालूम हुआ कि मेरी शरण चाहनेवाला दीन आया है, वहीं आपका चित्त दयार्द्र हो उठता है। फिर आपसे विलम्ब सहा नहीं जाता। शरणागति-रहस्यमें स्वयं भगवान् आज्ञा करेंगे—

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥'

'जो एक बार भी मनसे मेरी शरण आ जाता है, 'मैं आपका हूँ' यह मुखसे कह देता है, उसे मैं प्राणिमात्रसे अभय दे देता हूँ। यह मेरा व्रत है। व्रत जिस तरह छोड़ा नहीं जाता, छोड़नेपर अपराधभागी होना पड़ता है, इस तरह मैं भी इस अपने नियमको नहीं छोड़ सकता।' यह अक्षरार्थ है। इसका भी रहस्य आगे आवेगा।

यह भगवान्‌का स्वभाव दैवजीव विभीषण अच्छी तरह जानते थे। और यह भी उन्हें मालूम था कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको मालूम होनेके पहलेतक मेरे ऊपर जो भी सन्देह लोगोंको होंगे, हो सकते हैं। यहाँतक कि मेरा तिरस्कार, वधतक हो सकता है, किन्तु भगवान्‌को जहाँ विदित हुआ कि कोई शरणागत खड़ा है वहाँ मुझे फिर कोई भय नहीं। इसीलिये आकाशमें खड़े रहकर बड़े ऊँचे स्वरसे (जिससे स्वयं भगवान् श्रवण कर लें) वह सूचना देते हैं—*'निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने। सर्वलोक-*

शरण्याय' सब लोगोंको आश्रय देनेवाले महात्मा श्रीरामचन्द्रजीको जल्दी मेरी खबर कर दीजिये' यहाँ 'सर्वलोकशरण्याय' कहनेसे स्पष्ट प्रकाशित कर दिया कि 'आप सबको शरण देते हैं।' जहाँ आपने 'शरण' शब्द सुना कि फिर उसकी पुकार सुननेमें विलम्ब नहीं करते। इसलिये 'शरण्यके पास शरणागत आया है' यह सूचितमात्र कर दीजिये। फिर मेरी पहुँच अपने आप हो जायगी। चाहे श्रीमान् कुछ ही करते हों। श्रीरामचन्द्रकी सत्तामात्र (वहाँ मौजूद रहनामात्र) अपेक्षित है। बस, इसीलिये यहाँ और क्रियापद न लगाकर *'यत्र रामः'* यों केवल कर्तृपद ही दिया। सत्तावाचक क्रिया-पदका तो अपने आप ऊपरसे आक्षेप हो जाता है—*'यत्र काचिदपि क्रिया नास्ति तत्र अस्ति भवतीत्याद्याक्षिप्यते'* 'जहाँ और कोई क्रिया नहीं रहती वहाँ 'है' इत्यादि सत्ताद्योतक क्रिया जोड़ दी जाती है।'

'यत्र रामः' के आगे रामका एक विशेषण दिया है *'सलक्ष्मणः'* लक्ष्मणसहित। यहाँ शुद्ध साहित्यज्ञ पण्डित तो कदाचित् अपने शास्त्रके अनुसार 'साहचर्य' का अनुगम जोड़ें कि लक्ष्मण-पदके साहचर्यसे 'राम' पदका राघव ही अर्थ है, परशुरामादि नहीं। परन्तु यहाँ विभीषणका अभिप्राय कुछ गूढ़ है। अपने मतलबकी ओर झुकता हुआ है। वह कहते हैं—मैं शरण चाहनेवाला होकर राम-दरबारमें हाजिर हुआ ही हूँ और भगवान् श्रीरामचन्द्र भी शरणागतका अङ्गीकार करनेवाले स्वयं ही हैं। किन्तु यह सब अबतक भगवान्‌के दयालुत्वपर ही निर्भर करता है। भगवान् शरणागतको अभय देते हैं यह रिआयत भगवान्‌की तरफ़से ही दी हुई है। मेरा तो इसमें कुछ पुरुषार्थ नहीं। किन्तु वह व्यङ्ग्य-मर्यादासे सूचित करते हैं—नहीं, मेरी तरफ़से भी उद्योगका द्वार है। भगवान् अकेले थोड़े ही विराजे हैं, *'सलक्ष्मणः'* सौमित्रेय श्रीमान् लक्ष्मण भी तो साथ हैं। सुमित्रानन्दन शरणागतोंकी दशाको जाननेवाले हैं। क्योंकि सर्वविभूतिसम्पन्न अयोध्या यहाँतक, कि जननी और अपनी प्रियतमातकको छोड़कर वह भगवान्‌की चरणशरणमें रह रहे हैं। प्रथम तो भगवान्‌की दयासे कोई 'किन्तु' उपस्थित ही नहीं होगा। यदि कदाचित् मेरे ही दुर्दैवसे कोई सन्देह आ उपस्थित हो तो, श्रीलक्ष्मण, जो अत्यन्त दयालु हैं और साथ ही अपने आग्रहके पक्के भी हैं, मेरी विकालत कर सकते हैं। यकायक मामला डिसमिस नहीं हो सकता। इसी आशयसे महर्षि कहते हैं *'यत्र रामः सलक्ष्मणः'*

यों यह शरणागतिकी भूमिका इस प्रथम पद्यसे आरम्भ होती है। शरणागतिका पूर्ण निरूपण लम्बा हो जायगा, इसलिये इसका विभाजन अनुचित न होगा। भक्तिसाहित्यमर्मज्ञ, जो इसका आग्रह रखते हों, इस प्रतीक्षाकालके लिये क्षमा करेंगे।

(क्रमशः)

केवटका कथन

देत महेस-जटा-निकसी न किसी तपसीनतें लेत हौं पाई।
जैसो करै तिहिं तैसो मिलै यह राउरी बान पुरानन गाई॥
पार करौ भव-सागरतें करि चौगुनी चाकरी चाहौं चुथाई।
लेत मलाह मलाहतें हौं सोइ चाहत हौं तुमतें रघुराई!॥

—अर्जुनदास केडिया

श्रीभगवन्नाम

(एक दीनका अनुभव)

'अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥'

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥'

प्रिय सज्जनवृन्द ! उपर्युक्त श्रुतिवाक्योंसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि सर्वत्र व्याप्त, सर्वभूताशयस्थित श्रीप्रभुका साक्षात्कार वही कर सकता है जिसपर उनकी अहैतुक कृपा होती है। इसमें मेधा, वेदाध्ययन, वेदश्रवण, या अन्य किसी भी साधनकी शक्ति नहीं है। मेरे क्षुद्र विचारमें 'भगवन्नाम तथा भगवान्में भेद नहीं है, भगवन्नाममें भगवान्की पूर्ण शक्ति सञ्चारित है'—इन महावाक्योंमें श्रद्धा और विश्वास होना भी श्रीप्रभुकृपा-सापेक्ष है। भगवत्कृपा स्वतन्त्र है, उसका अधिकार यदि किसीको प्राप्त हो सकता है तो निष्किञ्चन दीनजनोंको ही हो सकता है, अन्यको नहीं। यथा—

'जन्मैश्वर्यश्रुतिश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥'

इस श्रीशुकवाक्यसे कोई ऐसा न समझ ले कि उच्च कुलमें जन्म, ऐश्वर्य, विद्वत्ता, धन इत्यादिसे परमात्माने जिसको सम्पन्न कर रक्खा है वे भगवत्कृपा-पात्र नहीं हो सकते। वे भी हो सकते हैं, परन्तु शर्त है अभिमानसे अत्यन्त शून्य होकर उन सामग्रियों-का सद्व्यवहार करते हुए अन्तर्हृदयसे, निष्कपट हो-कर भगवत्कृपा बिना अपनेको अकिञ्चन, महादरिद्र अनुभव करे। क्योंकि वेद, शास्त्र, पुराण, सद्ग्रन्थ, ऋषि, मुनि, सन्त, महात्मा—सब-के-सब एक स्वरसे भगवान्को 'दीनबन्धु' ही कहते आ रहे हैं और यही भगवान्की भगवत्ता है। समृद्धिशालियोंको बन्धुओंकी कमी नहीं। संसारमें बन्धुहीन कोई हैं तो अकिञ्चन दरिद्र ही हैं। जिसके कोई नहीं, जिसको कुछ भी नहीं, यदि अपार करुणासिन्धु भगवान् उसके नहीं हो रहे तो उनमें और साधारण जीवमें अन्तर ही क्या रहा ?

मेरी समझमें भगवन्नाम दीन, अकिञ्चनोंका ही परम धन है और हो सकता है। अपने बल, शक्ति और पौरुषमें विश्वास रखनेवालोंका नहीं। जबतक अपने कड़ुए अनुभवद्वारा जीव अपनी क्षुद्रता और अकर्मण्यता भलीभाँति नहीं जान लेता, तबतक उसको क्या पड़ी है कि वह 'रा+म' इन दो अक्षरोंको सच्चे हृदयसे अपना उद्धारक और तारक समझे! अतएव नाम-साधनसे पूरा लाभ वही उठा सकता है जो अपने उद्धारमें अपनी असमर्थताका अनुभव करने लगा है। तभी तो संकीर्तन-यज्ञ-भुक्, उसकी प्रतिष्ठा-स्वरूप, कलिपावनावतार, स्वयं भगवान् महाप्रभु भगवच्छ्रीकृष्ण-चैतन्यदेवने स्पष्ट शब्दोंमें उपदेश किया था कि—

'तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥'

भगवन्नाममहौषधिके अनुपानस्वरूप सच्चा विनय, सच्ची निरभिमानता तथा सच्ची कष्टसहिष्णुताके बिना उस महौषधिका सेवन कम-से-कम आशु फलप्रद नहीं होता। भवरोगकी इस महौषधिसे तभी पूरा-पूरा और शीघ्र लाभ होता है जब कि श्रीमन्महाप्रभु-कथित

धन्वन्तरिकी आज्ञानुसार सच्ची दीनता, दुःख-सहिष्णुता और अमानित्वका पूरा-पूरा विकास मानव-हृदयमें हो जाय।

दूसरी बात यह है कि—

'सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर ! नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम'

'भाव कुभाव अनख आलसहूँ। नाम लिये मङ्गल दिशि दशहूँ॥'

इन महाजनी उक्तियोंका ऐसा अर्थ करके उसके अनुसार चलना कि संसार-तारकता और माङ्गलिकता भगवन्नामके यदि वस्तुगुण हैं तो बिना आदर, सद्भाव और श्रद्धाके भी जपने और कीर्त्तन करनेसे भगवन्नाम लाभ-प्रद होगा ही। इसकी कोई आवश्यकता नहीं कि श्रद्धा, आदर और नियमितता इत्यादि सद्भावोंको अपने हृदयमें जगानेका प्रयास किया जाय। यह एक नामापराध है। इसमें सन्देह नहीं कि चुम्बकमें लोहेको अपनी ओर खींच लेनेकी शक्ति मौजूद है परन्तु जबतक लोहेमें मल लगा हुआ है तबतक चुम्बककी आकर्षणी शक्ति उसपर काम नहीं कर सकती, परन्तु इससे यह समझ लेना भारी भूल है कि चुम्बकमें आकर्षणी शक्ति है ही नहीं। शक्ति तो है, परन्तु उसके क्रियाशील होनेके लिये, उसके प्रयोगके लिये लोहेको मल-मुक्त कर लेना परमावश्यक है। उसी प्रकार भगवन्नामकी अमोघ शक्तिके क्रियाशील होनेके लिये हृदयसे अश्रद्धा, उच्छृङ्खलता, पापमें प्रवृत्ति इत्यादि विकट मलोंको निकाल फेंकना अनिवार्य है। उसके पूर्व भगवन्नामकी उपयोगिताका अनुभव बड़ी कठिनतासे होगा। पूछा जा सकता है, फिर इसका क्या उपाय है? श्रीशुकाचार्यने इसका भी उत्तर दे रक्खा है—

'सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥'

निष्कर्ष यह निकला कि सत्सङ्ग अर्थात् सत्पुरुष, अनुभवी, यथार्थ भक्तोंका सङ्ग ही जीवके कल्याणकी पहली सीढ़ी है, परन्तु यह भी प्रभुकी निर्हेतुक कृपासे ही प्राप्य है। अतएव हमलोग हरिनाम लेते हुए श्रीब्रह्माजीकी निम्न उक्तिके अनुसार ही बर्तनेकी चेष्टा करें। बस, एकमात्र प्रभुकृपा ही उपाय है, दूसरा नहीं।

'तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥'

बोलो, श्रीप्रभुकृपाकी जय! जय!! जय!!!

चार दिननकी चाँदनी, यह सम्पति संसार।
'नारायन' हरि-भजन कर, यासौं होइ उबार॥
तेरै भावैं कछु करौ, भलो बुरो संसार।
'नारायन' तू बैठिकै, अपनो भवन बुहार॥
बहुत गई थोरी रही, नारायन अब चेत।
काल-चिरैया चुगि रही, निसदिन आयू खेत॥

विवेक-वाटिका

मैं कौन हूँ ? कितना हूँ ? और कैसा हूँ ? इस बातको जानते अथवा न जानते हुए भी जो अनन्य भावसे मेरा भजन करते हैं, मेरी सम्मतिमें वे मेरे परम भक्त हैं।

—भगवान् श्रीकृष्ण

जो मूढ लोग बाहरकी कामनाओंमें लगे रहते हैं, वे विषयासक्त पुरुष आधि-व्याधिरूपसे फैले हुए मृत्युके पाशमें बँधते हैं। इसलिये धीर पुरुष नित्य अमृतत्वको जानकर अनित्य वस्तुओंकी इच्छा नहीं करते। —उपनिषद्

इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले भोग विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासनेपर भी वस्तुतः आदि-अन्तवाले और दुःखके ही हेतु हैं। अतएव हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें प्रीति नहीं करते। —श्रीमद्भगवद्गीता

शान्त स्वभाव रहो, किसीके द्वारा अपनेपर कैसा भी दोष लगाये जानेपर भी अपने मनको मत बिगाड़ो।

—भगवान् बुद्धदेव

जो लोभी विषयोंकी आशाके दास बने हुए हैं, वे तो सभीके गुलाम हैं। जिन्होंने भगवान्में विश्वास करके आशाको जीत लिया है, वे ही भगवान्के सच्चे सेवक हैं।

—गो० तुलसीदासजी

बाहरी स्वांगमें और सच्चे साधुमें उतना ही अन्तर है जितना पृथिवी और आकाशमें ! साधुका मन राममें लगा रहता है और स्वांगधारीका जगत्के विषयोंमें।—महात्मा दादूजी

जो फलके लिये भगवान्की सेवा करते हैं और मनसे कामनाका त्याग नहीं करते, वे चीजका चौगुना दाम चाहनेवाले लोग सेवक नहीं हैं। —कबीरजी

जिसका मन परमात्मामें रहता है, परमात्मा उसकी सँभाल रखते हैं। —राल्फ वाल्डो ट्राइन

मनुष्य जब किसी उत्तम कार्यमें लग जाता है, तब उसके नीची श्रेणीके कार्य दूसरे लोग आप ही सँभाल लेते हैं। इसी प्रकार मनुष्य ज्यों-ज्यों अपने ध्येयकी ओर आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसके सांसारिक और शारीरिक कार्य कुदरतके नियमसे उलटे अच्छी तरह होने लगते हैं।

—स्वामी रामतीर्थ

जिस विद्यासे लोग जीवन-संग्राममें शक्तिमान् नहीं होते, जिस विद्यासे मनुष्यके चरित्रका विकास नहीं होता और जिस विद्यासे मनुष्य परोपकारप्रेमी और पराक्रमी नहीं बनता, उसका नाम विद्या नहीं है। —स्वामी विवेकानन्द

बदला लेनेका खयाल छोड़कर क्षमा करना अन्धकारसे प्रकाशमें आना है और जीते-ही-जी नरककी जगह स्वर्गका सुख भोगना है। —जेम्स एलन

असली सत्त्वगुणी भक्त लोग रातको मशहरीमें पड़े-पड़े ध्यान किया करते हैं। लोग समझते हैं कि वे सोते हैं, परन्तु जिस समय सब लोग सोते हैं, उस समय वे परलोकका काम बनाया करते हैं। वे बाहरका दिखावा बिल्कुल ही पसन्द नहीं करते। —श्रीरामकृष्ण परमहंस

इस जगत्में करोड़ों आदमी प्रभुके उपासक कहलाते हैं परन्तु सच्चे उपासक कौन हैं तथा प्रभु किनके साथ हैं ! जो ईश्वरसे डरकर चलते हैं तथा अपने स्वार्थका नाश करके भी दूसरोंका हित करते हैं, वे ही सच्चे उपासक हैं और भगवान् भी उन्हींके साथ हैं। —अबू इसाक इब्राहीम

आन्तरिक रोगकी पाँच ओषधियाँ हैं। १-सत्संग, २-धर्मशास्त्रका अध्ययन, ३-अल्प आहार-विहार, ४-रातकी और प्रातःकालकी उपासना और ५-प्रत्येक कार्य मनकी एकाग्रता और पूरी शक्ति लगाकर करना।

—अहमद अन्ताकी

जगत्की प्रभुता कैसी है जैसा सपनेमें मिला हुआ पराया खजाना। जागनेपर जैसे उस खजानेका कुछ भी नहीं रहता वैसे ही जगत्की प्रभुता भी वास्तवमें कुछ भी नहीं है। —सूरदासजी

भक्त-गाथा

भक्त रघु केवट
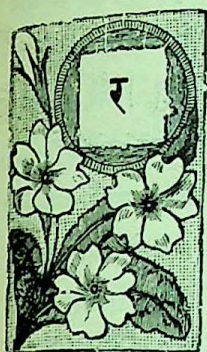
रघु जातिका केवट था । श्रीजगन्नाथपुरीसे दस कोसपर बसे हुए पिपलीचटी गाँवमें रहता था । उसके घरमें बूढ़ी माँ और जवान पत्नीके सिवा और कोई न था । रघु रोज सवेरे उठकर जाल लेकर जाता और मछलियोंको पकड़कर उन्हें बाजारमें बेचता । जो पैसे मिलते, उनसे खाने-पीनेका सामान लेकर वह घर लौट आता । पूर्व-संस्कार अच्छे थे, इससे धीवर-जातिका होनेपर भी उसका मन बार-बार भगवान्‌की ओर खिंचता रहता और वह मन-ही मन बार-बार सर्वशक्तिमान् अनाथ-नाथ प्रभुका स्मरण किया करता ।

मछलियाँ जब उसके जालमें आतीं और तड़पने लगतीं, तब वह बड़े ध्यानसे उनकी ओर देखता । उसके मनमें दयाका सञ्चार होता, अपने कार्यपर ग्लानि होती परन्तु जीवन-निर्वाहका और कोई साधन न सोचकर वह इन भावोंको भुलानेकी चेष्टा करता । 'सभी तो ऐसा करते हैं, भगवान्‌ने मछलियोंको बनाया ही इसीलिये है, नहीं तो ये खानेके काममें क्यों आतीं । मछलियोंके स्पर्शेन्द्रिय नहीं होती, इससे इन्हें काटनेमें दुःख नहीं होता ।' इस तरहकी मछलीमारोंकी दलीलोंको यह मनमें लाता, परन्तु फिर भी उसे सन्तोष नहीं होता । धीरे-धीरे रघुके मनमें वैराग्य उत्पन्न होने लगा । उसने एक दिन एक सुयोग्य गुरुसे दीक्षा ली । तुलसीकी माला गलेमें पहन ली । रोज प्रातःकाल स्नान करके भगवान्‌के नामका जप करना, भागवत सुनना और सत्संग करना उसका काम हो गया । यों करते-करते उसका अन्तःकरण शुद्ध होने लगा, उसको स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि जीवमात्रमें भगवान् विराज रहे हैं । अब जीव-हिंसासे उसका मन बहुत ही हट गया । उसने पहले बहुत जीव-हिंसा की थी और अब भी जातिके नाते तथा उदर-पूरणार्थ उसे मन मारकर थोड़ी-बहुत हिंसा करनी ही पड़ती थी, इसके लिये उसके हृदयमें पश्चात्ताप-की आग जल उठी । उसने सोचा 'मैं कितना बड़ा पापी हूँ, जिसका जन्म ही जीवोंको कष्ट पहुँचानेके लिये हुआ माना जाता है ।' वह एकान्तमें रोकर भगवान्‌से प्रार्थना करने लगा—हाय दीनानाथ ! तुमने मुझे क्यों इस धीवर-जातिमें पैदा किया ? जीवहत्या ही मेरी जीविका है । हाय हाय ! मेरी क्या गति होगी ? बेचारी गरीब मछलियाँ, जब मैं उन्हें जालमें पकड़ता हूँ और काटता हूँ, तब कितनी व्याकुल होती हैं । मैं निर्दय ज़रा भी उनकी दशा-पर विचार नहीं करता । हे दयामय ! पता नहीं, मेरा कौन-से भयानक दुःखदायी नरकोंमें निवास होगा । क्या मेरे इस हिंसाकलुषित हृदयमें तुम्हारा निवास कभी नहीं हो सकता ? क्या तुम इस पापी-पर दया नहीं कर सकते ? प्रभो ! तुम पतितपावन हो, कृपा करो, इस अधमको पापसे छुड़ाकर अपनाओ ।'

रघु पश्चात्ताप-भरे हृदयसे बार-बार इसी प्रकारकी करुण प्रार्थना करता । सच्ची प्रार्थनामें बड़ा बल होता है । रघुके अन्तःकरणमें दैवी भाव आ-आकर जुड़ने लगे । अब मछली पकड़नेका काम उसके लिये दूभर हो गया । धीरे-धीरे वह काम उससे छूट सा गया । जीवोंके दुःखसे दुखी हुआ रघु अपने तथा परिवारके भूखों मरनेकी बातको भूल गया !

कुछ दिन तो पहलेके सञ्चित अनाजसे रघुका काम चला; पर वह सञ्चय था ही कितना ? थोड़े ही दिनोंमें भोजनका अभाव हो गया। उपवास होने लगे। परन्तु उपवासपर कितने दिन मनुष्यका जीवन टिक सकता है ? घरमें त्राहि-त्राहि मच गयी। रघु पेटकी ज्वाला और माता तथा पत्नीके तिरस्कारसे जलने लगा। माता तथा पत्नीका दुःख उसके हृदयको पिघलानेमें कारण हो गया। बेचारा क्या करता। हारकर उसने वज्र-सा हृदय करके जाल उठाया और चला तालाबकी ओर। मनमें बड़ा ही कष्ट हो रहा था—उसने भगवान्‌से मन-ही-मन कहा—'हाय प्रभु ! क्या इस अधम केवटके लिये जीवन-निर्वाहका दूसरा कोई धन्धा नहीं हो सकता ? हे दीनबन्धु ! मैं क्या करूँ ? मुझे अपनी फिक्र नहीं है--वृद्धा माता और निरपराधा अबला स्त्रीका दुःख मुझसे नहीं देखा जाता। उनका त्याग भी मैं होश रहते कैसे कर दूँ ? आपने ही तो शास्त्रोंमें परिवारके भरण-पोषणकी आज्ञा दी है। हमलोगोंका भरण-पोषण जीवहिंसा बिना होता नहीं, अब मैं क्या करूँ ?'

यों प्रार्थना करते-करते रघु एक तालाबपर पहुँचा और इच्छा न रहनेपर भी माता और स्त्रीके दुःखसे दुःखी होनेके कारण उसने भगवान्‌का नाम लेकर जाल पानीमें फेंका। कुछ देरमें जालमें एक बड़ी-सी लाल मछली आकर तड़पने लगी। उसे तड़पते देखकर रघुके दुःखका पार नहीं रहा। वह सिरपर हाथ रखकर सोचने लगा—'हाय मैं बड़ा पापी हूँ। पापी पेटके लिये जीवोंको कितना दुःख देता हूँ।' इतनेमें ही उसको यह बात याद आ गयी कि सभी जीवोंमें भगवान् व्याप्त हैं। वह भावमग्न हो गया। उसे मछलीमें भगवान् दीखने लगे। उसने कहा, 'यह तो शंखासुरको मारनेवाले साक्षात् मत्स्य भगवान् हैं, भला इनका वध कोई कैसे कर सकता है ?' इसी अवसर-पर फिर उसी भूखी मा और स्त्रीकी करुणमूर्ति मानो उसकी आँखोंके सामने आ गयी। वह उनके दुःखको देखकर व्याकुल हो गया। उसने दृढ़ हृदयसे मछली-को जालसे बाहर निकाला और सूखी जमीनपर डाल-कर कहने लगा—'हे मत्स्यरूपधारी ! मेरे दुःखकी एक बात सुन ! मैं धीवर हूँ, मछली मारना मेरा स्वभाव है, वह किसी प्रकार बदलता नहीं। इसीसे आज तुझे मारना पड़ता है। तू चाहे मत्स्यावतार लेनेवाला हरि हो या और कोई; मेरे हाथसे आज बच नहीं सकता। मेरा यह स्वभाव तैंने ही बनाया है और तुझ-सरीखे जीवोंको मारकर पेट भरनेकी व्यवस्था भी तो तेरी ही की हुई है।'

इतना कहकर रघु दोनों हाथोंसे जोरसे मछलीका मुँह फाड़ने लगा। उसी समय एक अद्भुत चमत्कार हुआ। रघुको उसके अन्दरसे स्पष्ट सुनायी दिया—'रक्षा कर, नारायण रक्षा कर' रघु चकित हो गया। उसका मन बदल गया, अपूर्व आनन्दसे उसका हृदय भर गया। वह मछलीको उठाकर गहन वनकी ओर चला। वहाँ एक पहाड़ था। पहाड़मेंसे छोटे-बड़े सैकड़ों झरने बह रहे थे। उन झरनोंके जलसे वहाँ बहुत-से जलके कुण्ड भरे थे। रघुने वहाँ जाकर एक बड़े-से कुण्डमें मछलीको छोड़ दिया। जलके मिलनेसे मछलीको जितना आनन्द हुआ, उससे कहीं अधिक आनन्द और सन्तोष रघुको हुआ। रघु भगवान्‌के प्रेममें पागल-सा हो गया, वह इस बातको भूल गया कि मैं माता और स्त्रीको भूखसे तड़पती हुई घरमें छोड़-कर आया हूँ। रघु वहीं बैठ गया और हाथ जोड़कर कहने लगा—'मछलीके अन्दरसे यह प्रिय नारायणका नाम मुझको किसने सुनाया ? वह एक बार मुझे दर्शन क्यों नहीं देता ? केवल शब्द-रूप दर्शनसे ही काम नहीं चलेगा। साक्षात् अपनी दिव्य मूर्तिके दर्शन कराने पड़ेंगे। तुम्हारे अमृतमय स्वरोंको सुनकर मैं

समझ गया हूँ कि तुम बहुत ही सुन्दर हो, अब तुम कृपा करके अपनी असीम सौन्दर्यमयी छबि मुझे शीघ्र दिखलाओ। एक बार तो दिखला ही दो, मैं यह प्रण करता हूँ कि बिना तुम्हारा दर्शन पाये मैं यहाँसे नहीं उठूँगा।' इसप्रकार कहकर रघु 'नारायण' मन्त्रका जप करने लगा। तीन दिन बीत गये परन्तु रघु नामस्मरणमें इतना अधिक तल्लीन था कि उसे समयका कुछ पता ही नहीं लगा। रात-दिन भूख-प्याससे बेखबर रघु नारायणके ध्यानमें तन्मय हो गया। अन्तर्यामी भगवान्‌से कुछ भी छिपा नहीं रहता। वे भावके भूखे हैं। जहाँ असली भाव देखते हैं, वहीं चले आते हैं। आज 'नारायण' एक वृद्ध ब्राह्मणके रूपमें रघुके सामने प्रकट होकर रघुको पुकारकर कहने लगे-'अरे तपस्वी! तू कौन है? इस घोर वनमें अकेला किस बातके लिये तपस्या कर रहा है, तेरा नाम क्या है? तू किस जातिका है और कहाँ रहता है? यहाँ कबसे और क्यों बैठा है?'

भगवान्‌के वचन सुनते ही रघुकी आँखें खुल गयीं। उसने अपने पास एक वृद्ध ब्राह्मणको खड़े देखकर प्रणाम करके कहा—'ब्राह्मण देवता! आपके चरणोंमें यह दास प्रणाम करता है। मैं कौन हूँ, क्यों बैठा हूँ, इन सब बातोंके जाननेसे आपको क्या प्रयोजन है? आप अपने कामसे पधारिये। बातें करनेसे मेरे कार्यमें विघ्न पड़ता है, अतः क्षमा कीजिये।' रघुकी बात सुनकर ब्राह्मणवेशी भगवान्‌ने कहा-'भाई! मैं तो चला जाऊँगा, परन्तु तू इतना तो विचार कर, कहीं मछलीके अन्दरसे भी कोई बोल सकता है? मछलीकी बोली भी तो मनुष्यकी-सी नहीं। तुझे भ्रम हो गया होगा। जब कोई चीज़ ही नहीं, तब दर्शन किसके होंगे? तू यहाँ व्यर्थ ही क्यों बैठा है?' रघु-को ब्राह्मणके वचन सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ, उसने सोचा, 'इन्होंने मछलीकी घटना क्योंकर जान ली, यदि जान ही ली तो फिर यह ऐसी बातें क्यों कर रहे हैं? शायद मेरी परीक्षा कर रहे हों।' कुछ सोचकर रघु-ने कहा—'महाराज! मैं क्या इस बातको जानता नहीं कि एक प्रभु ही सब जीवोंमें व्याप्त हैं। व्याप्त ही क्यों, वही अनेक रूपोंसे प्रकट हो रहे हैं। माना कि मैं बड़ा पापी हूँ। जीवोंके खूनसे मेरे हाथ और मेरा हृदय रँगा हुआ है, पर क्या मुझ-जैसे पापीपर भगवान् दया नहीं करते? आप कहते हैं मछलीकी बोली मनुष्यकी-सी नहीं, सो ठीक है। परन्तु यह तो बतलाइये, मछलीके शरीरमेंसे कौन बोल रहे हैं? वह बोलनेवाले तो मेरे प्रभु ही हैं। वे कौन-सी बोली नहीं बोल सकते? क्या आप मेरी परीक्षा कर रहे हैं? प्रभो! कृपा करके मुझे ऐसा उपाय बताइये जिससे मुझे उन सर्वव्यापक करुणामय भगवान् नारायणके प्रत्यक्ष दर्शन हों। आप ही तो वे नारायण नहीं हैं, जो मुझे छल रहे हैं? नाथ! प्रकट होइये, अब क्यों इस अधमको तरसाते हैं?

भक्तकी अचल भक्ति देखकर भगवान् बहुत ही प्रसन्न हुए। उनकी आँखोंमें प्रेमाश्रु भर आये और रघु केवटको कृतार्थ करनेके लिये वे गम्भीरस्वरसे बोले—'बेटा रघु! तेरी एकनिष्ठाको धन्य है। मैं तेरे लिये ही वैकुण्ठको छोड़कर यहाँ निर्जन वनमें दौड़ा आया हूँ। मैंने ही मछलीके अन्दरसे तुझे 'नारायण' नाम सुनाया था—बता, अब तुझे विश्वास हुआ या नहीं?'

रघुने कहा—'भगवन्! आप जो कुछ कहते हैं सो सत्य है, परन्तु मैं निपट निर्बोध हूँ। मुझे अभी आपकी भक्तिके प्रतापसे वे दिव्य नेत्र नहीं मिले हैं कि मैं प्रत्येक रूपमें आपको पहचान सकूँ। मेरे सामने तो आप अपने उसी शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-धारी चतुर्भुज स्वरूपसे प्रकट होइये। हे दयानिधे! मैं अन्धा हूँ, पाप-कलुषित-हृदय हूँ; मुझे भक्तिरूपी आँखें दीजिये और परदा उठाकर अपने दिव्य दर्शन

कराइये । आपने मछलीके वेशमें दर्शन देकर मुझे अपने घर-बार, कुटुम्ब-देश, आहार-निद्रा आदिके बन्धनसे छुड़ा दिया । अब ब्राह्मण-वेशमें दर्शन देकर क्या प्राण भी छुड़ाना चाहते हैं ? अच्छी बात है, जबतक आपके वैकुण्ठविहारी स्वरूपके दर्शन नहीं होंगे, तबतक मैं अन्न, जल ग्रहण नहीं करनेका । हे करुणामय ! जब आपने स्वाभाविक करुणाकी प्रेरणासे जाति, कुल, शौच, सदाचार और पुण्य आदिका विचार न करके इस अधमको अपनालिया है, तब फिर अपनी भुवनमोहिनी मूरतिके दर्शन करानेमें क्यों हिचकते हैं ?' यों कहते-कहते रघु भगवान्‌के चरणोंमें लिपट गया ।

भक्तकी प्रेमभरी वाणी सुनते ही भगवान्‌ने अपने दिव्य चतुर्भुज स्वरूपसे प्रकट होकर उसे दर्शन दिये और वर माँगनेके लिये कहा । भक्तवत्सल भगवान्‌के दिव्य दर्शन पाकर रघु कृतार्थ हो गया । मुग्ध-हृदयसे वह टकटकी लगाये दिव्य रूपसुधाका पान करने लगा । वरदान क्या माँगे ? उसने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहाते हुए गद्गद्-वाणीसे कहा—'अहा ! मैं बहुत ही बड़भागी हूँ । मेरे समान भाग्यवान् जगत्‌में दूसरा कौन है ? देवता भी जिनके दर्शनको तरसा करते हैं वे ही वैकुण्ठनाथ प्रभु आज मुझ अधम हिंसाजीवी धीवरके लिये कुश-कण्टकोंसे भरे इस घोर जङ्गलमें खड़े हैं । इससे बढ़कर दया और क्या हो सकती है ? धन्य है प्रभु आपकी करुणाको और भक्त-वत्सलताको ! अब मेरे लिये और क्या माँगना और पाना बाकी रह गया ? आप आशीर्वाद दें जिससे मेरा हृदय निरन्तर आपके ध्यानमें ही तल्लीन रहे और ये नेत्र सदा-सर्वदा सर्वत्र आपकी दिव्य मूर्तिके दर्शन किया करें ।'

भगवान्‌ने और भी वर माँगनेको कहा । अब बेचारा रघु क्या करे ? उसने सोचा, भक्ति तथा भगवान्‌के दर्शनसे बढ़कर वरदान और क्या हो सकता है ? ये दोनों चीजें तो भगवान्‌ने दया करके दे ही दीं । अब क्या माँगूँ ? हाँ, मेरा जीव-हिंसाका स्वभाव पलट जाय, यह बात आवश्यक है । यद्यपि आज मेरे मनमें जीव-हिंसाकी भावना भी नहीं है, परन्तु जाति-स्वभाव तथा पूर्वाभ्याससे कदाचित् फिर कभी कोई कुकर्म बन जाय, इसलिये यह स्वभाव ही बदल जाना चाहिये । यह सोचकर उसने कहा—'प्रभो ! माँगनेको तो कुछ भी नहीं रह गया—परन्तु आपके आग्रहसे मैं एक बहुत छोटी-सी चीज माँगता हूँ । जातिका धीवर होनेके कारण मछली मारना ही मेरा पैतृक स्वभाव है । हमलोगोंको दूसरी बात सूझती ही नहीं । जो बेचारे भूले हुए लोग आपके नामपर या आपकी ही मातृ-मूर्ति जगज्जननीके नामपर यज्ञ या पूजामें मूक पशुओंको मारते हैं, वे तो कामनाके वशीभूत हो वह पापाचरण करते हैं । वे इस बातको भूल जाते हैं कि अपना ही अंग काटनेसे ही कोई प्रसन्न होता हो तो भगवान् भी जीवोंकी हत्यासे प्रसन्न हो सकते हैं । इसीलिये वे जीव-हत्या करते हैं । परन्तु हमलोगोंका तो धन्धा ही ऐसा है । प्रभो ! मेरा यह स्वभाव ही छूट जाय; भोजनके लिये मुझे कभी जीव-हिंसा न करनी पड़े और अन्तकालमें यह जीभ आपका नाम रटती रहे तथा उस समय आपके दिव्य स्वरूपको नेत्रोंके सामने देखते-ही-देखते मेरे प्राण निकलें । बस, यही वरदान दीजिये ।' भगवान्‌ने भक्त रघुके मस्तकपर हाथ रखकर 'तथास्तु' कहा । भक्त हरि-हरि पुकारता हुआ बेसुध हो गया । भगवान् भी अन्तर्धान हो गये ।

प्रभुके अन्तर्धानसे भक्तको एक बार तो बड़ा दुःख हुआ; परन्तु उसको तो अब सर्वत्र ही प्रभु दीखने लगे । जैसे पारसके स्पर्शसे लोहा सोना हो जाता है, इसी प्रकार भगवान्‌के स्पर्शसे रघु आनन्दमय बन गया । वह हरिका नामोच्चारण करता हरिमय बना हुआ

भगवान्‌की प्रेरणासे घर पहुँचा। घरपर पहुँचते ही गाँवके लोगोंने उसे कोसना शुरू किया। लोग कहने लगे—'तू बड़ा ही मूर्ख और निर्दयी है। बेचारी अबलाओंको छोड़कर कहाँ मरने चला गया था? हरि-हरि चिल्लाता है; देखेंगे हरि तेरा पेट भर देंगे। बेचारे जमींदार साहेब न होते तो ये दोनों स्त्रियाँ भूखों मर जातीं। तेरे मनमें जरा भी दया नहीं है। देख तो सही, तेरे लिये रोते-रोते इन अबलाओंकी क्या दशा हो गयी है।' रघुने ईश्वरको धन्यवाद दिया। उसने सोचा, मैं घरमें रहता तो जमींदार साहेब मुझे कभी पूछते भी नहीं। मेरे पीछेसे उन्होंने दोनों अबलाओंके लिये अन्नका यथेष्ट प्रबन्ध कर दिया, यह सब मेरे प्रभुकी प्रेरणासे ही हुआ है। रघुने किसीकी बातका कोई जवाब नहीं दिया। लोग अपने-अपने मनका उभारा निकालकर वहाँसे चले गये। रघुने माताके चरणोंमें प्रणाम किया। माता और पत्नी खोये हुए प्यारे पुत्र और पतिको पाकर आनन्दसे अधीर हो गयीं। रघु हरि-स्मरण करने लगा और उन्हें भी भगवान्‌का नाम जपनेके लिये कहा। रघुका इस समय पूरा परिवर्तन हो गया था। माता और पत्नीपर भी उसके वचनोंका बहुत प्रभाव पड़ा। वे भी श्रीभगवान्‌के नामका जप करने लगीं।

रघु प्रतिदिन बहुत सवेरे उठकर शौच-स्नान करता और भगवान्‌का भजन करता। फिर कीर्तन करता हुआ गाँवमें घूमता। किसीसे कुछ भी माँगता नहीं। परन्तु लोग स्वाभाविक ही उसकी ओर आकर्षित होकर उसे बुला-बुलाकर देना चाहते। यह उस अन्तर्यामीकी ही प्रेरणा थी। रघुको प्रतिदिन बिना माँगे तीनोंके भोजन-जितनी सामग्री अनायास मिल जाती। रघु उसे ले जाकर माताको दे देता। पुत्रको इसप्रकार उस छोटे-से गाँवमें प्रतिदिन बिना माँगे आवश्यक भोजन-सामग्री मिलते देखकर माताके मनमें बड़ा आश्चर्य होता। आनन्द भी होता। माता और पत्नी मिलकर भोजन बनातीं। ठाकुरजीके भोग लगाकर प्रसादरूपमें तीनों उसे पाकर प्रसन्नतापूर्वक भगवान्‌का भजन करते।

(शेष आगे)

कान्त कल्पना

(लेखक–पु० श्रीप्रतापनारायणजी 'कविरत्न')

(१)

अखिलानन्द-कन्द-रघुनन्दन! हे जगवन्दन! विश्वाधार!
अपरम्पार! तुम्हारा अबतक पाया नहीं किसीने पार।
जो चाहो सो कर सकते तुम मनमानी घरजानी नाथ!
सभी शक्तियोंको, नियमोंको रखते हो तुम अपने हाथ॥

(२)

बहुत बड़े पर्वतको पलमें करते तुम परमाणु-समान!!
तुम्हीं बना देते हो स्वामिन्! लघुतम अणुको शैल महान!!
भला बुरा कैसा ही हो वह, करते हो जो कुछ तुम काम–
वही न्याय है, वही कर्म है, वही धर्मका मर्म ललाम॥

(३)

लीला करते रहते हो तुम अपनी इच्छाके अनुसार।
शङ्काधार हो गया इससे है मेरा यह एक विचार।
जो तुम रूठ गए तो मैं फिर किसे बनाऊँगा भगवान?
मेरा कौन सहायक होगा, कौन करेगा मेरा मान?

(४)

इससे नाथ! अभी तुम कर दो एक और ईश्वर-निर्माण,
क्योंकि इस समय तुम ईश्वर हो, सभी सिद्धियोंकी हो खान।
हूँ मैं सच्चा भक्त तुम्हारा और भक्तके हो तुम वश्य—
इससे तुमने इस इच्छाको कर दी होगी पूर्ण अवश्य॥

(५)

मेरे भी अब दो ईश्वर हैं, सुनिए मेरी लीलाधाम!
एक तुम्हीं हो और दूसरा एक तुम्हारा ही है नाम।
भक्तिभावसे भजकर उसको पाऊँगा मैं पद निर्वाण।
निराकार तुम, महा-कठिन है नाथ! तुम्हारा होना ज्ञान॥

दो सन्त पुरुषोंका देहत्याग

वयोविद्यावृद्ध सन्तोंका इधर कुछ समयसे भारत-वर्षमें लगातार देहावसान हो रहा है। यद्यपि इस असार संसारमें कुछ भी सार नहीं है, अनित्य और क्षणभंगुर देहका नाश अवश्यम्भावी है परन्तु इस समय कुछ ऐसी दशा हो रही है कि जगत्की दृष्टिसे, जो जाता है उसकी स्थानपूर्ति करनेवाला कोई नहीं दिखायी पड़ता। गत मासमें ऐसे दो पुरुषोंका देहपात हो गया। एक थे हृषीकेशके सन्त श्रीकल्याणदेवजी महाराज और दूसरे पूनाके पण्डित विष्णुशास्त्रीजी वापट। स्वामी कल्याणदेवजी बरसोंसे हृषीकेशमें निवास करते थे और बहुत ही अच्छे साधु समझे जाते थे। इधर शास्त्रीजी महाराज तो एक दृष्टिसे सनातन-धर्म और शंकरसम्प्रदायके स्तम्भ-से थे। शास्त्रीजीने स्वामी प्रज्ञानन्दजीसे वेदान्तकी शिक्षा पायी थी—और लगभग ८० ग्रन्थोंका मराठी भाषान्तर किया था। भगवान् शंकराचार्यके अधिकांश ग्रन्थोंका मराठी भाषान्तर आपने किया है और यह कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न भाषाओंके भाषान्तरोंमें इनके भाषान्तर सर्वश्रेष्ठ हुए हैं। आचार्यके कट्टर अनुयायी होनेके कारण इन्होंने लोकमान्य तिलकके गीता-रहस्यके खण्डनमें रहस्य-परीक्षण नामक एक विशाल ग्रन्थ लिखा है जिसमें भाष्यके अनुवादके साथ ही गीता-रहस्यकी समालोचना की गयी है। शास्त्रीजी मराठी भाषामें 'आचार्य और वर्णाश्रम-धर्म' नामक एक सनातन-धर्मका पाक्षिक पत्र निकालते थे। इस पत्रमें उनके सनातन-धर्मपर मार्मिक लेख रहते थे। इसके सिवा आप 'आचार्य-कुल' नामक एक संस्था चलाते थे, जिसमें प्राचीन पद्धतिके अनुसार श्रीशंकराचार्यके सिद्धान्तानुकूल प्रस्थानत्रयीकी नियमित शिक्षा दी जाती थी। एक वर्ष पूर्व इन्हें लकवा हो गया था। परन्तु इनकी लगन अपूर्व थी। शिक्षा, स्वाध्याय और ब्रह्म-चिन्तनका कार्य इनका बन्द हुआ ही नहीं। रोगकी अवस्थामें ही इन्होंने ईश्वरांकके लिये लेख लिखा था। आचार्यकुलका सञ्चालन और आचार्यका सम्पादन बराबर जारी था। मृत्युके दिन भी प्रातःकाल आपने शिष्योंको पाठ दिया और पत्रका प्रूफ देखा था। स्नान करनेके समय दो लोटे जल इन्होंने शरीरपर डाले। इतनेहीमें लोटा हाथसे गिर पड़ा और इनके आधे अङ्गपर लकवा मार गया, इसी दिन, दुपहरको इनका देहावसान हो गया। ऐसे कार्यक्षम कर्तव्यपरायण सिद्धान्ती पुरुष जगत्में बिरले ही होते हैं।

पण्डित विष्णुशास्त्रीजी वापट

'कल्याण' पर इन दोनों महानुभावोंकी बड़ी कृपा थी और हर तरहसे ये सदा निष्काम सहायता करते रहते थे।

ऐसे पुरुषोंके देहावसानसे हमलोगोंको चेतना और भगवान्के स्मरणमें अधिकाधिक चित्त लगाना चाहिये।

'नारायन' निज हियेमैं, अपने दोष बिचार।
ता पीछे तू औरके, औगुन भले निहार॥

श्रीहरिः

श्रीगीता-परीक्षा-फल संवत् १९८९

उत्तमा (द्वितीय खंड)

क्रम संख्या	नाम उत्तीर्ण परीक्षार्थी	केन्द्र	पुरस्कार	क्रम संख्या	नाम उत्तीर्ण परीक्षार्थी	केन्द्र	पुरस्कार
१	हरद्वार सिंह ...	उ० प्र० काशी		...	...	...	...

उत्तमा (प्रथम खंड)

द्वितीय श्रेणी				उत्तीर्ण		
६	मुरारीलाल पोद्दार ...	चूरू ...	२१)	२	भृगुनाथ सिंह ...	उ० प्र० काशी
७	जगन्नाथ शर्मा ...	,,	२१)	५	ब्र० विन्देश्वरीनन्दन ...	,,
३	हीरालाल सिंह ...	उ० प्र० काशी	११)			

मध्यमा

प्रथम श्रेणी				द्वितीय श्रेणी			
७१	रामसागर पाण्डेय ...	सीताकुण्ड ...	२४)	३	लक्ष्मीनारायण शर्मा ...	मौलासर ...	३)
४०	दुलीचन्द्र गुप्त ...	चूरू ...	१६)	१०	विश्वम्भरदत्त शर्मा ...	लक्ष्मणझूला	३)
८७	रामनारायण शर्मा ...	सांचौर ...	१२)	११	केशवदत्त शर्मा ...	,, ...	३)
१३१	परीक्षासिंह ...	पलिया ...	८)	१८	भागवतप्रसाद पाण्डेय	पकरडीहा ...	३)
४९	वासुदेव गुप्त ...	चूरू ...	५)	२०	विजयबहादुरसिंह ...	उ० प्र० काशी	३)
८	रघुनाथ शर्मा ...	खाचरौद ...	५)	२३	रामअवतार शर्मा ...	,, ...	३)
१७	उत्तममणि त्रिपाठी ...	पकरडीहा ...	५)	३०	सत्यनारायणसिंह ...	,, ...	३)
५०	पूर्णानन्द गुप्ता ...	चूरू ...	५)	३७	रामलखनसिंह ...	,, ...	३)
१४७	रामहर्ष त्रिपाठी ...	महुआडाबर ...	५)	४१	देवीदत्त दाहिमा ...	चूरू ...	३)
७४	सूचित द्विवेदी ...	सीताकुण्ड ...	५)	४२	महावीरप्रसाद गुप्त ...	,, ...	३)
६९	चन्द्रिका पाण्डेय ...	,,	५)	४३	सत्यनारायण गुप्त ...	,, ...	३)
७७	रामचन्द्र वर्मा ...	शिकारपुर ...	५)	४८	दाऊदयाल शर्मा ...	,, ...	३)
८९	पार्वती देवी ...	चीचावतनी ...	५)	७३	पराशरमुनि पाण्डेय ...	सीताकुण्ड ...	३)
७६	रामचन्द्र शर्मा शास्त्री ...	शिकारपुर ...	५)	७८	रामचन्द्र शर्मा ...	शिकारपुर ...	३)
८१	रामचन्द्र पाण्डेय ...	हिराजपट्टी ...	५)	८२	वासुदेव पाण्डेय ...	हिराजपट्टी ...	३)
८६	विश्राम त्रिपाठी ...	,,	३)	८५	सत्यनारायण त्रिपाठी ...	,, ...	३)
११०	सदाशिव शर्मा ...	वृन्दावन ...	३)	९३	सुगुण मिश्र ...	बकुलहरमठ ...	३)
८३	राजकुमार पाण्डेय ...	हिराजपट्टी ...	३)	१३२	रामसकलसिंह ...	पलिया ...	३)
४४	डालूराम ...	चूरू ...	३)	१५८	चन्द्रभानु त्रिपाठी ...	सिहोरारोड ...	३)
७०	बहोरन शर्मा ...	सीताकुण्ड ...	३)	१६१	श्रीकृष्णचन्द्र झा ...	खगडिया ...	३)

पुरस्कार अप्राप्त

मध्यमा

द्वितीय श्रेणी—१२, १४, २५, २६, ३३, ४५, ६५, ६६, ६८, ७२, ७५, ७९, ८४, १२३।

तृतीय श्रेणी—१६, ६७, ८०।

उत्तीर्ण—४, ५, ९, १३, २१, २४, २८, ३१, ३४, ३५, ३९, ४६, ४७, ५७, ५८, ५९, १११, ११२, ११६, ११८, १२०, १२५, १३३, १३४, १३८, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १५१, १५३, १५५, १५६, १६२, १६३।

प्रथमा

प्रथम श्रेणी—२९, ३३, ३४, ६१, ९८, १०४, १३०, १३४, १४२, १५३, १५४, २०२, २२५, २५०, २५२, २६३, २७४, ३००, ३०४, ३१२, ३२४, ३२७, ३४९, ३५४, ३५८, ३६७, ३९५, ४०४, ४४७, ४४८।

द्वितीय श्रेणी—३०, ३२, ३६, ३७, ४५, ५०, ६२, ७३, ८३, ८४, ९३, ९९, १२५, १२७, १३१, १३३, १३७, १४९, १५१, २२२, २५१A, २७५, ३०१, ३०९, ३१३, ३२४, ३३४, ३३५, ३३६, ३३८, ३३९, ३४४, ३४५, ३६०, ३६६, ३७४, ३७८, ३९२, ३९३, ३९४, ४००, ४०१, ४०६, ४१२, ४२९, ४३०, ४३६, ४३७, ४४४, ४५१, ४५७।

तृतीय श्रेणी—३९, १०९, १२३, २१७, २४९, २५१, २७२, २९५, ३३२, ४०५।

बाल (प्रथम वर्ष)

प्रथम श्रेणी—४, ३४, ७०, ७१, ७३, ७७, ९१, ९३, १००, १०३, १०४, ११२, ११३, ११४, ११७, ११८, ११९, १२२, १३८, १७३, १७४, १७५, १८२, १८६।

द्वितीय श्रेणी—२०, २१, २३, ३२, ७२, ८८, ८९, ११६, १५०, १५३, १७६।

तृतीय श्रेणी—११।

उत्तीर्ण—४२, ६०, १२०, १२१, १२३, १२५, १२६, १२९, १५५।

परीक्षकोंके नाम

इस वर्षके परीक्षक श्रीपं० गोपीनाथजी कविराज एम० ए०, प्रिन्सिपल ग० सं० कालेज बनारस; श्रीपं० श्रीधराचार्यजी शास्त्री, वेदान्ततीर्थ वृन्दावन; प्रो० श्रीलौटूसिंहजी गौतम एम० ए०, एल० टी०, एम० आर० ए० एस०, काशी; ह० भ० प० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत; माशैल गोवा। श्री० ज्वालाप्रसादजी कानोड़िया कलकत्ता, श्रीजयदयालजी गोयन्दका बाँकुड़ा, स्वामी श्रीसहजानन्दजी सरस्वती (पटना), श्रीपं० चेलालालजी शर्मा शास्त्री (पंजाब), पं० श्रीगोपाल शास्त्रीजी नेने काशी। श्री० प्रिन्सिपल महोदय बिड़ला कालेज पिलानी, श्री० पं० सत्यव्रतजी ब्रह्मचारी, श्रीपरमहंसाश्रम बरहज; श्रीबद्रीप्रसादजी आचार्य चूरू, पं० श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी एम० ए०, बीकानेर। श्री० ईश्वरदासजी डागा बीकानेर; पं० श्रीमुनिवरजी मिश्र आचार्य बरहज, श्रीयतीन्द्रनाथजी झा व्याकरणतीर्थ वैद्यनाथ धाम; श्रीरामनरसिंहजी हरलालका कलकत्ता, श्री आर० डी० त्रिपाठी नरवर, श्रीगोपालजी ब्रह्मचारी गोरखपुर। श्रीगम्भीरचन्द्रजी दुजारी बीकानेर, श्रीबजरंगलालजी चाँदगोठिया बम्बई, श्रीसूरजकरणजी व्यास बीकानेर, श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार स० कल्याण, श्रीगोबर्द्धनजी पुरोहित बीकानेर, पं० श्रीअवधराज शर्मा पड़रौना, श्रीमोहनलाल गुप्त बाँकुड़ा।

संयोजक

गीता-परीक्षा-समिति, गोरखपुर।

नोट—पुरस्कारके रुपये तीन महीने बाद केन्द्र-व्यवस्थापकोंके पास भेज दिये जायँगे।

कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है ।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) यह प्रतिमासकी कृष्णा एकादशीको प्रकाशित होता है ।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांक-सहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≋) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है । एक संख्याका मूल्य ।) है । बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता । नमूना ।) मिलनेपर भेजा जाता है ।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते । ग्राहक प्रथम अंकसे १२ वें अंकतकके ही बनाये जाते हैं । एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्कतक नहीं बनाये जाते । 'कल्याण' का वर्ष श्रावणसे शुरू होता है ।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते ।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है । यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये । वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कम-से-कम सात दिन पहलेतक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये । देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी ।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण-प्रतिपदाके पहले-पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये । लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये । महीने-दो-महीने-के लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिख-कर प्रबन्ध कर लेना चाहिये ।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेप-रहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें । लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है । अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते । लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं ।

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम, पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-नम्बर अवश्य लिखना चाहिये ।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है ।

(३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये, क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं । कभी-कभी तो डेढ़-दो महीनोंतक नहीं मिलते । इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं । रुपये न मिलने-तक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं । खर्चा दोनोंमें एक ही है, परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है । जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है ।

(४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये । कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या और अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये ।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजनी चाहिये ।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये ।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि 'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर' के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि 'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर' के नामसे भेजने चाहिये ।

Registered No. A. 1724.

श्रीईश्वरांक

केवल २५०० पुनः छप गया

इसमेंसे लगभग १००० नये ग्राहकोंको भेज दिया गया है। अब केवल १५०० अंक बाकी रहे हैं। जो सज्जन ग्राहक बनना चाहें वे ४≡) शीघ्र मनिआर्डर-द्वारा भेज दें या हमें वी० पी० भेजनेकी आज्ञा दें। इनके कुछ ही महीनोंमें समाप्त हो जानेकी आशा है। फिर तीसरी बार 'श्रीईश्वरांक' छपनेकी प्रायः सम्भावना नहीं है। अतः ग्राहक बननेके लिये शीघ्रता करें।

यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि 'श्रीईश्वरांक' में क्या है और उसकी उपयोगिता कैसी है। दूसरी बार छपना ही इसका अच्छा प्रमाण है।

निवेदक

व्यवस्थापक—"कल्याण"

कल्याणके तीसरे-चौथे वर्षकी फाइलें

लेनेवाले सज्जन ध्यान दें। समाप्त हो जानेपर मिलना कठिन है।

तीसरे वर्षकी फाइल—(प्रसिद्ध श्रीभक्तांकसहित) अनेक सुन्दर चित्र और उपादेय लेख एवं कविताओंका यह संग्रह आपकी पुस्तकोंमें स्थान पाने योग्य है। सत्संग और पठन-पाठनकी अच्छी सामग्री है। धार्मिक विचारोंका सुन्दर संग्रह और स्थायी साहित्य है। भक्तोंकी कथाएँ विशेष मनोहर हैं। पूरी १२ अंकोंकी फाइलका मूल्य केवल ४≡) मात्र, डाकखर्च माफ। (भक्तांक अलग नहीं मिलता)

चौथे वर्षकी फाइल—(सुविख्यात श्रीगीतांकसहित) लगभग २०० चित्र और १४०० पृष्ठ। मूल्य केवल ४≡), डाकव्यय माफ। (गीतांक अलग नहीं मिलता)

जब श्रीगीतांक निकला तब कल्याणकी ग्राहक-संख्या ७५०० से लगभग १३००० हो गयी थी। यह गीताके सम्बन्धमें अपने ढंगका अनोखा ग्रन्थ है। बहुत थोड़ा बचा है। पहले-दूसरे या पाँचवें-छठे वर्षकी तरह ये फाइलें भी समाप्त हो जानेपर मिलनी कठिन हैं। भेंट आदिमें देनेके लिये भी यह उत्तम सामग्री है।

पता—**व्यवस्थापक—"कल्याण"**

गोरखपुर

ॐ

विषय-सूची

पृ० सं०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥

केवल २५०० पुनः छप गया

इसमेंसे लगभग १००० नये ग्राहकोंको भेज दिया गया है । अब केवल १५०० अंक बाकी रहे हैं । जो सज्जन ग्राहक बनना चाहें वे ४≡) शीघ्र मनिआर्डर द्वारा भेज दें या हमें वी० पी० भेजनेकी आज्ञा दें । इनके कुछ ही महीनोंमें समाप्त हो जानेकी आशा है । फिर तीसरी बार 'श्रीईश्वरांक' छपनेकी प्रायः सम्भावना नहीं है । अतः ग्राहक बननेके लिये शीघ्रता करें ।

यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि 'श्रीईश्वरांक' में क्या है और उसकी उपयोगिता कैसी है । दूसरी बार छपना ही इसका अच्छा प्रमाण है ।

निवेदक
व्यवस्थापक—"कल्याण"

कल्याणके तीसरे-चौथे वर्षकी फाइलें

लेनेवाले सज्जन ध्यान दें । समाप्त हो जानेपर मिलना कठिन है ।

तीसरे वर्षकी फाइल—(प्रसिद्ध श्रीभक्तांकसहित) अनेक सुन्दर चित्र और उपादेय लेख एवं कविताओंका यह संग्रह आपकी पुस्तकोंमें स्थान पाने योग्य है । सत्संग और पठन-पाठनकी अच्छी सामग्री है । धार्मिक विचारोंका सुन्दर संग्रह और स्थायी साहित्य है । भक्तोंकी कथाएँ विशेष मनोहर हैं । पूरी १२ अंकोंकी फाइलका मूल्य केवल ४≡) मात्र, डाकखर्च माफ । (भक्तांक अलग नहीं मिलता)

चौथे वर्षकी फाइल—(सुविख्यात श्रीगीतांकसहित) लगभग २०० चित्र और १४०० पृष्ठ । मूल्य केवल ४≡), डाकव्यय माफ । (गीतांक अलग नहीं मिलता)

जब श्रीगीतांक निकला तब कल्याणकी ग्राहक-संख्या ७५०० से लगभग १३००० हो गयी थी । यह गीताके सम्बन्धमें अपने ढंगका अनोखा ग्रन्थ है । बहुत थोड़ा बचा है । पहले-दूसरे या पाँचवें-छठे वर्षकी तरह ये फाइलें भी समाप्त हो जानेपर मिलनी कठिन हैं । भेंट आदिमें देनेके लिये भी यह उत्तम सामग्री है ।

पता—व्यवस्थापक—"कल्याण"
गोरखपुर

❀ श्रीहरिः ❀

विषय-सूची

तैयार हो गयीं　　नयी पुस्तकें　　तैयार हो गयीं

श्रीमद्भगवद्गीता (मराठी-अनुवाद-सहित)

इसका कुछ परिचय यह है—

आकार डिमाई आठ पेजी, पृष्ठ ५७०, मोटा-चिकना कागज, भगवान्‌के ४ सुन्दर बहुरंगे चित्रोंमें भगवान्‌का एक नया चित्र बहुत ही सुन्दर है। हाथसे बुने हुए देशी कपड़ेकी सुन्दर जिल्द, मूल्य केवल १।) मात्र, डाकखर्च अलग, छपाई शुद्ध-सुन्दर, मूल श्लोक, पदच्छेद, अन्वय, सरल अर्थ और यत्र-तत्र टिप्पणियाँ, संक्षिप्त माहात्म्य, गीताकी महिमा, अध्यायोंके प्रधान विषयोंकी सूची, प्रत्येक श्लोकके विषयकी सूची, त्यागद्वारा भगवत्प्राप्ति नामक उपयोगी निबन्ध भी जोड़ दिया गया है। छपाईका ढंग बड़ा सुन्दर है। प्रत्येक मूल वाक्यके सामने ही उसका मराठी अर्थ छपा है, इससे संस्कृतका अर्थ ठीक-ठीक समझमें आ सकता है। एक पुस्तकपर पैकिंग, डाकखर्च, मनिआर्डर खर्च आदि ॥।-) (०-१३-०) होते हैं। कई सज्जनोंके साथ मिलकर अधिक पुस्तकें मँगवानेसे खर्च कम पड़ेगा।

भगवान् शिवजीद्वारा वर्णित

श्रीअध्यात्मरामायण

(सातों काण्ड—मूल और हिन्दी-अनुवाद-सहित)

प्रत्येक काण्डमें असली आर्ट पेपरपर छपा एक-एक अति सुन्दर चुना हुआ चित्र। कुल चित्र ८, साइज २२×२९ आठ पेजी, कागज चिकना, पृष्ठ-संख्या ४०२, मूल्य साधारण जिल्द १॥), कपड़ेकी जिल्द २) मात्र।

छपाई बहुत सुन्दर और साफ, ढंग हमारे शांकरभाष्य नामक पुस्तकवाला अर्थात् एक तरफ मूल श्लोक और उनके सामने उनका हिन्दी-अनुवाद। पढ़नेमें बड़ी सुगमता। टाइप नये, सुन्दर और बड़े। इसमें माहात्म्य भी छापा गया है।

यह तो हुई पुस्तककी ऊपरी बातें। अब इसमें जो मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके परम पावन चरित्रका वर्णन है उसका क्या परिचय लिखा जाय! अनन्तकालसे जिसको सुन-सुनकर लोग असाधुसे साधु, पापीसे पुण्यात्मा, सांसारिकसे पारमार्थिक और अभक्तसे भक्त एवं अज्ञानीसे ज्ञानी, जीवसे शिव बने, बन रहे हैं और आगे भी बनते रहेंगे उसका क्या हाल लिखा जाय! स्वयं भगवान् शिवजीद्वारा वर्णित इस ग्रन्थमें रामचरित्रके साथ-साथ भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदिका विषय भी है। इतने सुलभ मूल्यमें इससे पहले कहीं यह ग्रन्थ छपा हो ऐसा जान नहीं पड़ता।

ज्ञानयोग

पं० श्रीभवानीशङ्करजी महाराजके उपदेशके आधारपर एक दीनजनद्वारा सम्पादित। पृ० १२५ मूल्य।) एक मानचित्र।

विवेक, वैराग्य, शमादि षट्-सम्पत्ति, आचार्यसे उपदेश, ज्ञान-अज्ञान, परब्रह्म, महेश्वर, परमेश्वर, सृष्टि, प्रकृति, सांख्य, वेदान्त, महद्‌ब्रह्म, सप्तलोक, हिरण्यगर्भ, विश्वानर, मनुष्यके अनेक शरीर, माया, प्रणव, कोश, तीन अवस्था, साधनकी आवश्यकता, ज्ञान और भक्ति आदि ४७ विषयोंका वर्णन इस छोटी-सी उपयोगी पुस्तकमें है।

इसपर आयी हुई कुछ सम्मतियाँ

पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०—It is an interesting...nice little book and will amply repay a careful perusal...... the work is deserving of every encouragement in circles where Hindi language and Hindu religion are studied.

पं० श्रीबलभद्रदासजी परमहंस—जटिल प्राचीन शास्त्रीय विषयोंको ऐसी सुन्दरता और सरलतासे समझाया गया है कि विषय बोधगम्य और चित्ताकर्षक हो गया है।

श्रीकाशीप्रसादजी जायसवाल, एम०ए०—एक बहुत बड़ी विशेषता इसमें यह है कि द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैतके विवाद और योग, ज्ञान और भक्तिकी विभिन्नताको हटाकर उनकी एकता सिद्ध की है जो बड़े महत्त्वका विषय है।

रामगीता

मूल और हिन्दी-अनुवादसहित छोटा साइज, मूल्य केवल)॥। मात्र। यह प्रसिद्ध पुस्तक है। इसमें श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीको उपदेश दिया है। छपाई आदि अच्छी है।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

गीताप्रेसकी पुस्तक-सूची
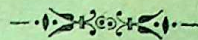
गीता-[श्रीशांकरभाष्यका सरल हिन्दी-अनुवाद] इसमें मूल भाष्य तथा भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है, भाष्यके पदोंको अलग-अलग करके लिखा गया है और श्रुति, स्मृति, इतिहासोंके उद्धृत प्रमाणोंका सरल अर्थ दिया गया है तथा गीतामें आये हुए हरेक शब्दकी पूरी सूची है, २ तिरंगे, १ इकरंगे चित्र, पृष्ठ ५०४, मू० साधारण जिल्द २॥), बढ़िया जिल्द २॥।)

गीता-मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं त्यागसे भगवत्-प्राप्तिसहित, मोटा टाइप, मजबूत कागज, सुन्दर कपड़ेकी जिल्द, ५७० पृष्ठ, ४ बहुरंगे चित्र, सातवाँ संस्करण (अबतक ५६००० छप चुकी है) । बिना अधिक परिश्रमके ही समझ सकते हैं, विद्यार्थियोंके भी बड़े कामकी है । अर्थमें खींचातानी नहीं है, ऐसी सस्ती गीता और न मिलेगी । मू० ... १।)

गीता-प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान, श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, चार बहुरंगे चित्र, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, यह १५००० छप चुकी है । मू० ॥≡) स० ... ॥≠)

गीता-श्लोक और साधारण भाषाटीकासहित आकार २० × ३० सोलहपेजी, पृ० ३१६, टिप्पणी, प्रधान विषय और त्यागसे भगवत्-प्राप्ति नामक निबन्धसहित मोटा टाइप मू० ॥) स० ... ॥≡)

गीता-भाषाटीका, सचित्र, त्यागसे भगवत्-प्राप्तिसहित, पाकेट-साइज (३५०००० छप चुकी है), सभी विषय आठ आनेवालीके समान, मूल्य =)॥ सजिल्द ... ... ≡)॥

गीता-मूल, मोटे अक्षरवाली, माहात्म्य, अंगन्यास, करन्याससहित, सचित्र, मूल्य।-) सजिल्द ... ।≡)

गीता-केवल भाषा, संस्कृत श्लोक न पढ़ सकनेवालोंके लिये बड़ी उपयोगी है । मू० ।) सजिल्द ... ।≠)

गीता-मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, पृ० १३२ । आठवाँ संस्करण (१७६०० छप चुकी है) सचित्र और सजिल्द =)

गीता-मूल, ताबीजी, साइज २ × २॥ इन्च, सजिल्द और सचित्र, इसमें माहात्म्य, करन्यास, ध्यानादि भी दिये गये हैं, मूल्य ... ... ≠)

गीता-दो पन्नोंमें सम्पूर्ण १८ अध्याय, मू० ... ... -)

गीता-केवल दूसरी अध्याय, मूल और अर्थसहित, पाकेट-साइज, यह पुस्तक बाँटनेके लिये बड़ी उपयोगी है)।

गीता-सूची (Gita List)-भिन्न-भिन्न भाषाओंकी गीताओंकी सूची, मू० ... ... ॥)

गीताका सूक्ष्म विषय-गीताके प्रत्येक श्लोकोंका हिन्दीमें सारांश है । मू० ... ... -)।

श्रीकृष्ण-विज्ञान-गीताका श्लोकोंसहित हिन्दी-पद्यानुवाद । सचित्र १) स० ... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता गुजराती भाषामें

सभी विषय १।) वाली गीताके समान, मूल्य ... ... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता मराठी भाषामें

सभी विषय १।) वाली गीताके समान, मूल्य ... ... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता बंगला भाषामें

सभी विषय ॥।=) वाली गीताके समान, मूल्य १) सजिल्द ... ... १।)

पता-गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी पुस्तकें—

तत्त्व-चिन्तामणि [भाग १]–(सचित्र नया संस्करण) यह ग्रन्थ परम उपयोगी है । इसके मननसे धर्ममें श्रद्धा, भगवान्‌में प्रेम और विश्वास एवं नित्यके वर्तावमें सत्य व्यवहार और सबसे प्रेम, अत्यन्त आनन्द एवं शान्तिकी प्राप्ति होती है । पृष्ठ ३५२, मूल्य ॥।-) सजिल्द १) से घटाकर ॥=) स० ॥।-) कर दिया है ।

परमार्थ-पत्रावली–(सचित्र)कल्याणकारी ५१ पत्रोंका छोटा-सा संग्रह, पृष्ठ १४४, मू० ।)

गीता-निबन्धावली—यह गीताकी अनेक बातें समझनेके लिये उपयोगी है । पृ० ८८, मू० ≡)॥

गीताके कुछ जानने योग्य विषय—गीताके कुछ विषय समझानेकी चेष्टा की गयी है, पृ० ४३, मूल्य -)॥

सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय—साकार और निराकारके ध्यानादिका रहस्यपूर्ण वर्णन मू० -)॥

गीतोक्त सांख्ययोग और निष्कामकर्मयोग–विषय नामसे ही प्रकट है । मू० ... -)॥

श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश–(सचित्र) इसमें भगवान्‌की प्रार्थना तथा मानसिक पूजा आदिका वर्णन है । मूल्य -)

त्यागसे भगवत्प्राप्ति—त्यागोंके द्वारा मोक्षमन्दिरकी प्राप्तिके लिये पथप्रदर्शक है । मू० -)

भगवान् क्या हैं ?—इसमें परमार्थतत्त्व भर देनेकी चेष्टा की गयी है । मू० ... -)

धर्म क्या है ?—नामसे ही पुस्तकके विषयका पता लग जाता है । मू० ...)।

गजलगीता—लड़कोंके गाने योग्य एवं नित्य पाठ करने योग्य सरल हिन्दीमें गजलके ढङ्गपर गीताके १२ वें अध्यायके कुछ उपदेशोंका अनुवाद है, पाँचवीं बार १०००० छपी है । मूल्य ... आधा पैसा

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा लिखित और सम्पादित पुस्तकें—

विनय-पत्रिका—सरल हिन्दी-टीका-सहित पृष्ठ ४५०, चित्र ३ सुनहरी, २ रंगीन, १ सादा मू० १)स० १।) स्वामीजीके पदोंका सरल हिन्दी भाषामें सबके समझने योग्य भावार्थ लिखा गया है, प्रचारके विचारसे मूल्य बहुत अनुकूल रक्खा गया है ।

नैवेद्य—धर्म-सम्बन्धी चुने हुए २८ लेख और ६ कविताओंका सचित्र संग्रह । मू० ॥=) स० ... ॥।-)

तुलसी-दल—इसमें इतने विषय हैं कि सबके लिये कुछ-न-कुछ अपने मनकी बात मिल सकती है । पृ० २६४, मूल्य ॥) सजिल्द ... ॥≡)

भक्त-बालक—इसमें गोविन्द, मोहन, धन्ना जाट, चन्द्रहास और सुधन्वाकी कथाएँ हैं । ५ चित्र, पृ० ८०, ।-)

भक्त-नारी—इसमें शबरी, मीरा, जना, करमैती और रबियाकी प्रेमपूर्ण कथाएँ हैं । ६ चित्र, पृ० ८०, ।-)

भक्त-पञ्चरत्न—इसमें रघुनाथ, दामोदर और उसकी पत्नी, गोपाल, शान्तोबा और उसकी पत्नी और नीलाम्बरदासके चरित्र हैं । मू० ... ।-)

पत्र-पुष्प—(सचित्र, कविता-संग्रह) पृष्ठ-संख्या ६६, मू० ≡)॥ स० ... ।)॥

मानव-धर्म—इसमें धर्मके दस लक्षणोंपर अच्छा विवेचन है । पृ० ११२, मू० ... ... ≡)

साधन-पथ—सचित्र, पृष्ठ ७२, मू० ... =)॥

स्त्री-धर्मप्रश्नोत्तरी—नये संस्करणमें १ तिरंगा चित्र भी है । पृ० ५६ मू० ... ... -)

आनन्दकी लहरें—इसमें हम दूसरोंको सुख पहुँचाते हुए खुद कैसे सुखी हों, यह बताया गया है । मू० -)॥

मनको वशमें करनेके उपाय-इसमें एक चित्र भी है, -)।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्यकी रक्षाके अनेक सरल उपाय । मू० -)

समाज-सुधार—समाजके जटिल प्रश्नोंपर प्रकाश डाला गया है । मू० ... -)

दिव्य सन्देश—वर्तमान दाम्भिक युगमें किस तरहसे शीघ्र भगवत्-प्राप्ति हो सकती है, इसमें उसके सरल उपाय बतलाये गये हैं । मू० ... ...)।

पता–गीताप्रेस, गोरखपुर

स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजीद्वारा लिखित पुस्तकें

श्रुति-रत्नावली—(सचित्र) वेद-उपनिषद् आदिके चुने हुए मन्त्रोंका अर्थसहित संग्रह । मूल्य ॥)

श्रुतिकी टेर—(सचित्र) पृष्ठ-संख्या १५०, पुस्तक सीधी-सादी बोलचालकी कवितामें लिखी गयी है, वेदान्तके विषयकी है । मूल्य केवल ।)

वेदान्त-छन्दावली—(सचित्र) इसमें वेदान्तके विचारणीय प्रश्न और उपदेश हैं, पुस्तक सुन्दर कवितामें लिखी गयी है । पृष्ठ-संख्या ७५ मू० =)॥

श्रीवियोगी हरिजीकी पुस्तकें

प्रेम-योग—आपकी भावुकतापूर्ण लेखनीसे लिखा हुआ यह ग्रन्थ अपने ढंगका एक ही है । सजीव भाषा और दिव्य भावोंसे सना हुआ यह प्रेम-योग प्रेम-साहित्यका एक पूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है । दो खण्ड, पृ० ४२०, मूल्य १) सजिल्द १॥)

गीतामें भक्ति-योग— आपके अन्य ग्रन्थोंकी तरह यह पुस्तक भी सुन्दर हुई है । पृष्ठ १०८, दो चित्र, मू० ।-)

भजन-संग्रह पहला भाग—इस भागमें तुलसीदासजी, सूरदासजी, कबीरजीके भजन हैं । मू० =)

भजन-संग्रह दूसरा भाग—इसमें हितहरिवंश, स्वामी हरिदास, गदाधर भट्ट, व्यासजी, श्रीभट्ट, सूरदास, नागरीदास, नारायणस्वामी, ललितकिशोरी, दादूदयाल, रैदास, मलूकदास, चरनदास, गुरु नानक आदिके भजन हैं । मू० ... ≠)

भजन-संग्रह तीसरा भाग—इसमें मीराबाई, सहजोबाई, बनीठनी, प्रतापबाला, श्रीयुगलप्रिया, श्रीरामप्रिया, रानी रूपकुँवरि आदिके भजन हैं । मू० =)

चतुर्वेदी पं० श्रीद्वारकाप्रसादजीकी पुस्तकें

भागवतरत्न प्रह्लाद—यह पवित्र चरित्र हम माँ, बहिन, बेटी, भाई, भौजाई आदि सबके हाथोंमें पढ़नेके लिये दे सकते हैं । पृष्ठ ३४०, ३ रंगीन और ५ सादे चित्र, मू० १) सजिल्द ... १।)

देवर्षि नारद—जैसे भगवान्के चरित्रोंसे हमारे धर्मशास्त्र भरे पड़े हैं, वैसे ही नारदजीकी पुण्यमयी गाथाएँ भी हमारे शास्त्रोंमें ओतप्रोत हैं । पृष्ठ २४०, २ रंगीन, ३ सादे चित्र मू० ॥।) स० १)

कुछ अन्य लेखकोंकी पुस्तकें

श्रीअरविन्द घोष

माता—इस पुस्तकका इतना ही परिचय देना बहुत होगा कि यह श्रीअरविन्दकी विचारधारा या एक प्रिय श्रेष्ठ रचना है । मूल्य ... ।)

श्रीमालवीयजी

ईश्वर—महामना मालवीयजीने इस पुस्तकमें ईश्वरके स्वरूपका और धर्मका वेदशास्त्र-सम्मत बहुत ही सुन्दर निरूपण किया है । मूल्य केवल ... -)।

श्रीगान्धीजी

सप्त-महाव्रत—इसमें सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अस्वाद और अभय इन सात महाव्रतोंपर महात्मा गान्धीजी द्वारा लिखित बड़ी ही सुन्दर अनुभवपूर्ण व्याख्या है । मूल्य केवल -)

श्रीशङ्कराचार्य श्रीभारती कृष्णतीर्थ

आचार्यके सदुपदेश—पृष्ठ-संख्या २२, मूल्य -)

श्रीनारायणस्वामी

एक सन्तका अनुभव—साधकों और सच्चे सुखके अभिलाषियोंके लिये बहुत ही कामकी चीज है, पुस्तक नित्य मनन करने योग्य है । मूल्य ... -)

पं० श्रीभवानीशङ्करजी महाराज

ज्ञानयोग—पृष्ठ १२५, मूल्य ... ।)

रायबहादुर लाला श्रीसीतारामजी

चित्रकूटकी झाँकी—इसमें पावन तीर्थ चित्रकूटका और उसके आस-पासके तीर्थोंका विशद वर्णन है । चित्रकूट-सम्बन्धी २२ चित्र हैं । मूल्य ... =)

श्रीज्वालासिंहजी

मनन-माला—सचित्र, गद्यके साथ-साथ अनेक पद्य भी हैं । मूल्य ... =)॥

श्रीअरण्डेल

सेवाके मन्त्र—सच्ची सेवा क्या है ? और सच्चा सेवक कौन है, इस बातका यह छोटी-सी पुस्तिका पढ़नेसे कुछ पता लग जायगा । पृष्ठ-संख्या ३२, मूल्य ...)॥

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

अन्य ग्रन्थ

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली(खण्ड १)—(सचित्र) श्रीचैतन्यकी इतनी बड़ी जीवनी अभीतक हिन्दीमें नहीं निकली। यह पाँच खण्डोंमें सम्पूर्ण होगी। बहुत ही सुन्दर ग्रन्थ है। मूल्य ॥।≈) सजिल्द १=)

श्रीएकनाथ-चरित्र—(सचित्र) दक्षिणके महान् भगवद्भक्तकी यह जीवनी अलौकिक है। भगवान् स्वयं आपके नौकर थे, पढ़ने योग्य है। मू० ॥)

श्रीरामकृष्ण परमहंस—(सचित्र) आप कुछ ही दिन पहले अत्यन्त प्रसिद्ध भगवद्भक्त हो गये हैं। आपका नाम विलायत और अमेरिकातक प्रसिद्ध है। इस पुस्तकमें ३०० उपदेश भी संग्रहीत हैं, मूल्य ।≡)

भक्त-भारती—(७ चित्र) सरल कवितामें सात भक्तोंकी सुन्दर रोचक कथाओंका वर्णन है, सबके लिये सुगम है। मूल्य ... ।≡)

श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध—सचित्र-सटीक, भागवतमें दशम और एकादश स्कन्ध सर्वोपरि हैं। लगभग ४२० पेजकी पुस्तकका दाम केवल ॥।) स० १)

विवेक-चूडामणि—(सचित्र) मूल श्लोक और हिन्दी-अनुवाद। पृष्ठ २२४, मू० ।≡) स० ... ॥=)

प्रबोध-सुधाकर—(सचित्र) विषय-भोगोंकी तुच्छता और आत्मसिद्धिके उपाय बताये गये हैं, ≡)॥

अपरोक्षानुभूति—(सचित्र) मूल श्लोक और हिन्दी-अनुवाद-सहित, मू० ... =)॥

मनुस्मृति—केवल दूसरा अध्याय और उसका हिन्दी-अनुवाद, मू० ... -)॥

विष्णुसहस्रनाम—मूल्य)॥। सजिल्द -)॥

हरेरामभजन—मूल्य ...)॥।

पातञ्जलयोगदर्शन—मूल)।

बलिवैश्वदेवविधि—मूल्य)॥

प्रश्नोत्तरी—इसमें भी मूल श्लोकोंसहित हिन्दी-अनुवाद है, मू०)॥

सन्ध्या—हिन्दी-विधि-सहित, मू०)॥

चित्र

छोटे, बड़े, रंगीन और सादे धार्मिक चित्र

श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीविष्णु और श्रीशिवके दिव्य दर्शन।

जिसको देखकर हमें भगवान् याद आवें, वह वस्तु हमारे लिये संग्रहणीय है। किसी भी उपायसे हमें भगवान् सदा स्मरण होते रहें तो हमारा धन्य भाग हो। भक्तों और भगवान्के स्वरूप एवं उनकी मधुर मोहिनी लीलाओंके सुन्दर दृश्य-चित्र हमारे सामने रहें तो उन्हें देखकर थोड़ी देरके लिये हमारा मन भगवत्-स्मरणमें लग जाता है और हम सांसारिक पाप-तापोंको भूल जाते हैं।

ये सुन्दर चित्र किसी अंशमें इस उद्देश्यको पूर्ण कर सकते हैं। इनका संग्रहकर प्रेमसे जहाँ आपकी दृष्टि नित्य पड़ती हो, वहाँ घरमें, बैठकमें और मन्दिरोंमें लगाइये एवं चित्रोंके बहाने भगवान्को यादकर अपने मन-प्राणको प्रफुल्लित कीजिये। भगवान्की मोहिनी मूर्तिका ध्यान कीजिये।

कागजका साइज १० इञ्च चौड़ा, १५ इञ्च लम्बा, सुनहरी चित्रका -)॥, रंगीन चित्रका मूल्य -), दो रंगके और सादे चित्रका मूल्य)॥।, यह छोटे ब्लाकोंसे ही बेल (बार्डर) लगाकर बड़े कागजोंपर छापे गये हैं।

कागजोंका साइज ७॥ × १० इञ्च, सुनहरीका मूल्य -)।, रंगीनका मूल्य)।॥, सादेका)॥ मात्र।

इनके सिवा १८×२३, १५×२० और ५×७॥ के बड़े और छोटे चित्र भी मिलते हैं।

दूकानदार और थोक खरीदारोंको कमीशन भी दी जाती है।

चित्रोंकी बड़ी सूची अलग मुफ्त मँगवाइये!

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुह्य बलेन यस्याश्वेतः कथं शरणमेषि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७ | गोरखपुर, फाल्गुन १९८९ मार्च १९३३ | संख्या ८ पूर्ण संख्या ८०

राम राम

रुचिर रसना तू राम राम क्यों न रटत ।
सुमिरत सुख सुकृत बढ़त अघ अमंगल घटत ॥
बिनु श्रम कलि-कलुष-जाल कटु कराल कटत ।
दिनकरके उदय जैसे तिमिर-तोम फटत ॥
जोग जाग जप बिराग तप सुतीर्थ अटत ।
बाँधिबेको भव-गयन्द रेनु कि रजु बटत ॥
परिहरि सुर-मुनि सुनाम गुञ्जा लखि लटत ।
लालच लघु तेरो लखि तुलसि तोहिं हटत ॥

—गो० तुलसीदासजी

पूज्यपाद श्रीउड़िया स्वामीजी महाराजके उपदेश

कुछ भी हो, बिना संयमके कुछ भी नहीं हो सकता । संयमके द्वारा ही दिव्य-दृष्टिकी प्राप्ति होती है । संयमरहित जीवन व्यर्थ है । दृढ़ अभ्यासकी निरन्तर आवश्यकता है । शिथिल अभ्याससे कुछ नहीं होनेका । सावधान चित्तसे निरन्तर अभ्यासमें लगे रहो । यह पुस्तकी विद्या नहीं है । यह अनुभवका पथ है ।

× × ×

प्रकृतिकी आदिम उच्छृङ्खल अवस्था और नरकका गम्भीरतम हाहाकार चाहे क्यों न हो, चाहे प्रलय हो रही हो, समुद्र सूख रहा हो, पहाड़ टूक-टूक हो रहे हों, विश्वकी प्रत्येक चीजोंमें, अपने नाशके लिये—घोर संग्राम क्यों न छिड़ा हो, आत्मदर्शीके चित्तमें किसी प्रकारका भी विकार नहीं उत्पन्न होता ।

× × ×

अभ्यासके द्वारा चित्तको शान्त करो, विषयोंका चिन्तन करना मनको आहार प्रदान करना है । संकल्पपुरके पदार्थ-स्मरणसे ही पतन हो जाता है ।

मनोराज्यकी कामिनीके स्मरणमात्रसे भी मनमें विकार उत्पन्न हो जाता है । इसीलिये गीतामें कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

× × ×

किसीके सम्बन्धमें स्मरण करना, विचार करना उसका संग करना है । संगसे वस्तु समीपताका रूप धारण कर लेती है । संगका त्याग करनेसे त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं ।

चित्तमें शुभ विचारोंको भरो, शुभ विचारोंके साथ खेल करो । उसके साथ जीवन बिताओ ।

सारा अभ्यास मनसे सम्बन्ध रखता है । भगवत्तत्त्व समझनेके लिये मनका अभ्यास अपेक्षित है । केवल शारीरिक तपसे कुछ नहीं होगा । शारीरिक तपसे देह-बुद्धि कम होती है । देहकी आसक्ति कम होती है, यह स्थूल चित्तवालोंके लिये है ।

वाणीका तप भी आवश्यक है । प्रायः लोग अभ्यासमें वाणीकी साधना भूल जाते हैं । मैं तो कहता हूँ केवल 'सत्य भाषण' से ही आत्मसाक्षात्कार हो सकता है । किन्तु सत्यमें सरलता भी निहित है । सरलता सत्यसे पृथक् नहीं ।

ऐसे अभ्यासकी आवश्यकता है, जिसमें वाणीका उद्वेग न हो । जिस वाणीमें कटुता है, उद्विग्नता है, चञ्चलता है, वह वाणी अभ्याससे रहित है । जो व्यक्ति वाणीद्वारा चित्तमें विक्षोभ पैदा कर देता है वह सत्यके यथार्थ स्वरूपसे बहुत दूर चला जाता है ।

इसलिये आवश्यकता है कि यदि किसीको समझाया भी जाय तो मधुर वाक्योंसे ही समझाया जाय । यदि शत्रुको किसी प्रकारकी सूचना देनी हो तो मीठे शब्दोंसे ही सूचना देनी चाहिये ।

शारीरिक तपद्वारा देह-बुद्धिका नाश कर दो ।

वाणीके तपद्वारा सरलता, सुशीलता, पवित्रता एवं मधुरता आदि कोमल एवं शान्त सद्गुणोंकी प्राप्ति करो ।

मानस तपद्वारा मनमें भरे हुए सारे संकल्पोंका नाश कर दो । सारी वासनाओंका क्षय कर दो । कोई भी वासना क्यों न हो, उसका तिरस्कार कर दो । वासनारत मनुष्योंके संसर्गमें भी मत जाओ ।

× × ×

जिसे राग है, भय है, अपमानका खयाल है, वह साधु, भक्त, ज्ञानी नहीं कहा जा सकता ।

प्रतिकूलताका नाश

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

प्रतिकूलताके अनुभवमें ही दुःख है, अतएव दुःखोंके आत्यन्तिक अभावके लिये प्रतिकूलताका त्याग करना चाहिये । इसके लिये भक्ति और ज्ञान ये दो उपाय हैं एवं दोनों ही उत्तम हैं । अधिकारी-भेदके अनुसार ज्ञानियोंके लिये ज्ञानयोग और भक्तोंके लिये कर्मयोग भगवान्ने (गीता अध्याय ३ श्लोक ३ में) बतलाया है । तथापि ज्ञानकी अपेक्षा सर्वसाधारणके लिये भक्तिका उपाय ही सुगम है । ईश्वर-भक्तिके प्रतापसे सम्पूर्ण दुःखोंके मूल प्रतिकूलताका अत्यन्त अभाव हो जाता है । ईश्वर-भक्तको किसी भी जीवमें और किसी भी पदार्थमें प्रतिकूलता नहीं रहती, क्योंकि वह समझता है कि ईश्वर ही सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंके हृदयमें आत्मारूपसे विराजमान हो रहे हैं, अतएव किसीसे भी द्वेष करना परमेश्वरसे ही द्वेष करना है । इसके अतिरिक्त वह सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाशमें भी ईश्वरकी अनुकूलताका ही दर्शन करता है । इस हालतमें वह किससे कैसे द्वेष करे ? जीवोंके कर्मोंके अनुसार ही उनके सुख-दुःख-भोगके लिये परमेश्वर सम्पूर्ण पदार्थोंको रचते हैं । जो पुरुष इसप्रकार समझता है, वह ईश्वरके किये हुए प्रत्येक विधानमें वैसे ही प्रसन्नचित्त रहता है, जैसे मित्रके किये हुए विधानमें मित्र और पतिके विधानमें उत्तम स्त्री रहती है । उत्तम पतिव्रता स्त्री पतिकी अनुकूलतामें ही अपनी अनुकूलता जानती है । अर्थात् पतिकी अनुकूलता ही उसके लिये अपनी अनुकूलता है । पति जो भी कुछ भली-बुरी चीज लाता है अथवा जो कुछ भी चेष्टा करता है, वह उसीमें प्रसन्न रहती है, इसी प्रकार भगवान्का भक्त भी, भगवान् जो भी कुछ करते हैं हमारे अच्छेके लिये करते हैं, यह समझकर उनकी की हुई प्रत्येक चेष्टामें, एवं पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाशमें सदा प्रसन्नचित्त रहता है; यानी परेच्छा या अनिच्छासे जो भी कुछ अच्छे-बुरे पदार्थोंकी एवं सुख-दुःखोंकी प्राप्ति होती है वे सब ईश्वरकी इच्छासे होनेके कारण ईश्वरकी लीला हैं, इसप्रकार समझकर वह हर समय आनन्दमें मग्न रहता है । वस्तुतः पतिव्रता स्त्रीका उदाहरण भी ईश्वरके साथ लागू नहीं हो सकता । क्योंकि मनुष्यमें स्वार्थ रहता है, एवं ज्ञानकी कमी होनेके कारण उससे भूल भी हो सकती है किन्तु ईश्वर निर्भ्रान्त हैं, इसलिये उनकी लीला न्याय और ज्ञानसे पूर्ण है, और उसमें जीवोंका हित भरा हुआ है ।

विचार-दृष्टिसे देखा जाय तो सांसारिक पदार्थोंमें होनेवाली अनुकूलता भी त्याज्य है, क्योंकि सांसारिक सुख क्षणिक, नाशवान् एवं परिणाममें दुःखरूप होनेके कारण सांसारिक अनुकूलतामें होनेवाला सुख भी वस्तुतः दुःख ही है । जहाँ संसारके पदार्थोंमें अनुकूलता होती है, वहीं उनके प्रतिपक्षमें प्रतिकूलता रहती है और जहाँ अनुकूलता प्रतिकूलता है, वहीं राग-द्वेष पैदा होते हैं। राग-द्वेषसे काम-क्रोधादि अनेक प्रकारके विकार उत्पन्न होकर महान् दुःखोंकी उत्पत्ति होती है, अतएव सांसारिक अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनोंहीको अनन्त दुःखोंका कारण समझकर त्याग करना चाहिये । इसीलिये भगवान्ने गीता अ० १३ श्लोक ९ में लिखा है कि इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें सदा-सर्वदा समचित्त रहना चाहिये ।

इसप्रकारकी समता ईश्वरकी शरण होनेसे अनायास ही प्राप्त हो जाती है । ईश्वर सुहृद् हैं, दयालु हैं, प्रेमी हैं और ज्ञानस्वरूप हैं, इसप्रकार समझने-

वाला पुरुष अपनी इच्छाका सर्वथा त्याग करके केवल एक ईश्वरकी इच्छाके ही परायण हो जाता है। वह अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको ईश्वरके अर्पण कर देता है, ईश्वरकी कठपुतली बन जाता है। ईश्वर ज्यों कराता है त्यों ही करता है, अपनी इच्छासे कुछ भी नहीं करता एवं ईश्वरके किये हुए विधानमें सदा-सर्वदा प्रसन्नचित्त रहता है। इसीका नाम शरण है।

सुखकारक पदार्थमें अनुकूलता और दुःखकारक पदार्थमें प्रतिकूलता स्वभावसिद्ध है। विचार करनेसे संसारका कोई भी पदार्थ वास्तवमें सुखकारक नहीं है। परम आनन्दस्वरूप एवं परम आनन्ददायक परम हितकारी केवल एक परमात्मा ही हैं; इसलिये वास्तवमें परमात्मामें ही अनुकूलता होनी चाहिये। जो इस रहस्यको समझता है वह परमात्माके अनुकूल बन जाता है और उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ परमात्माके अनुकूल हो जाती हैं। वह उन लीलामयकी प्रत्येक लीलामें उन लीलामयका दर्शन करता रहता है; इससे उसके लिये प्रतिकूलताका एवं सम्पूर्ण दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। वह उन लीलामयकी लीलाको और प्रेमास्पद परमात्माको अपने परम अनुकूल देखकर प्रतिक्षण मुग्ध होता रहता है।

ज्ञानकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो सांसारिक अनुकूलता और प्रतिकूलता वास्तवमें कोई वस्तु ही नहीं ठहरती; क्योंकि संसार स्वप्नवत् है और स्वप्नके पदार्थ सब मायामय हैं, इसलिये उससे उत्पन्न होने-वाली अनुकूलता और प्रतिकूलता भी मायामयी ही हैं। जब मनुष्य स्वप्नसे जागता है तब स्वप्नके किसी पदार्थ-को भी नहीं देखता और स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले पदार्थोंको मायामय समझता है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंको मायामय समझता है। इसप्रकार जब मनुष्य सम्पूर्ण पदार्थोंको स्वप्नसदृश मायामय समझ लेता है तब अनुकूलता और प्रतिकूलताकी कुछ भी सत्ता नहीं रह जाती। फिर एक चेतन विज्ञानानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त कोई भी वस्तु उसको प्रतीत नहीं होती। उसकी दृष्टिमें एक सर्वव्यापी नित्य विज्ञानानन्दघन ही रहता है और वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है। इसलिये जिसकी स्थिति उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे हो जाती है, उसकी दृष्टि भी सम्पूर्ण संसारमें सम हो जाती है और सांसारिक अनुकूलता और प्रतिकूलताकी दृष्टिका अत्यन्त अभाव हो जाता है। जब अनुकूलता और प्रतिकूलताका अत्यन्त अभाव हो जाता है तब राग-द्वेषादि सम्पूर्ण अनर्थोंका एवं सम्पूर्ण दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है, एवं उसे परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। वास्तवमें वह परम आनन्द ब्रह्म ही परम अनुकूल है एवं वही सब-का आत्मा होनेसे अपना आत्मा है। जब इसप्रकार-का ज्ञान हो जाता है तब फिर उसकी प्रतिकूल बुद्धि कहीं नहीं हो सकती क्योंकि अपने आपमें प्रतिकूलता नहीं होती। इसप्रकारके ज्ञानके द्वारा या उपर्युक्त ईश्वर-भक्तिद्वारा सम्पूर्ण दुःखोंके मूल प्रतिकूलताका सर्वथा नाश करना चाहिये।

कल्याण

आजकल शिक्षा-प्रचारकी ओर लोगोंका ध्यान लगा है, लगना भी चाहिये। शिक्षासे ही जीवन यथार्थ मनुष्य-जीवन बनता है परन्तु जितना ध्यान परीक्षामें उत्तीर्ण होने तथा करानेका रहता है, उतना यथार्थ योग्यता बढ़ानेका नहीं। यही कारण है कि आजकल बहुत-से उपाधिधारी सज्जन उक्त विषयकी यथार्थ जानकारीसे शून्य ही पाये जाते हैं। परीक्षाके समय पाठ रटकर उत्तीर्ण होनेसे वास्तविक योग्यता नहीं बढ़ती, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।

× × ×

परन्तु यथार्थ सच्चा जीवन तो कोरी योग्यतासे भी नहीं बनता। आजकल कलाओंपर बड़ा ज़ोर है; लेखन-कला, वक्तृत्व-कला और काव्य-कला आदिमें निपुण होनेकी बड़ी चेष्टा होती है। मेहनत करनेवाले पुरुष सफल भी होते हैं। किसी भी विषयपर लेख लिखकर, वक्तृता सुनाकर या काव्य-रचनाकर वे लोगोंको कुछ कालके लिये मुग्ध और प्रभावित कर सकते हैं। परन्तु वास्तविक अनुभव बिना केवल कला उनके जीवनका केवल बाह्य प्रदर्शनमात्र होती है, निर्जीव शरीरकी भाँति उससे कोई प्रकृत लाभ नहीं होता।

× × ×

वेदान्तके परीक्षोत्तीर्ण विद्वान् वेदान्तपर लिखने और बोलनेमें प्रत्येक प्रक्रियाका सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतम विवेचन कर देंगे। परन्तु क्रियारूपमें उनके पास कुछ भी नहीं मिलेगा, वे स्वयं शोक-सागरमें डूबे हुए मिलेंगे। उनका वेदान्त केवल अध्ययन, शास्त्रार्थ या लोक-प्रदर्शनकी वस्तु होगा। यही हाल भक्तिकी उपाधि धारण करनेवाले वक्तृत्व और लेखन-कलामें कुशल भक्त नामधारियोंका मिलेगा। कार्यक्षेत्रमें भक्ति विषयोंमें ही मिलेगी परन्तु वक्तृता या लेखमें भक्तिका स्रोत बह जायगा। यह बाह्य जीवन है।

× × ×

तुलसी, सूर, दादू, कबीर, मीरा आदिकी रचनाओंमें और केवल कविताके भाव और सौन्दर्यकी दृष्टिसे काव्य-रचना करनेवालोंके महाकाव्योंमें यही बड़ा भारी अन्तर है। सम्भव है, इनकी कविता कलाकी दृष्टिसे तुलसी, सूरके टक्करकी हो, या दादू, कबीर, मीरा आदि सन्तोंकी कविताओंसे बहुत बढ़ी-चढ़ी हो, परन्तु दादू, कबीर, मीराका-सा हृदय और अनुभव उनमें कहाँसे मिलेगा ?

× × ×

ज्ञान, भक्ति, योग, वैराग्य, धर्म और विज्ञान आदि विषयोंमें इसीलिये गुरु और शिष्य दोनोंके अधिकारकी प्रधानता है। ये बाजारू चीज़ें नहीं हैं। इसीलिये यह सब विषय गुरु-मुखसे पढ़नेके माने जाते हैं। लेख या व्याख्यानबाजीके नहीं। जबसे अनुभवरहित लोगोंने केवल किताबी ज्ञानके आधारपर इधर-उधरसे मसाला एकत्र करके लिखना और उपदेश देना शुरू किया, जबसे ये बाजारकी वस्तुएँ हो गयीं, तभीसे इनका महत्त्व कम हो गया। क्योंकि अनुभवशून्य लेखों और व्याख्यानोंके अनुसार आचरण करनेवालों-को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, इससे उनकी श्रद्धा घट गयी।

× × ×

वर्षों तपस्या और साधना करके गुरु-कृपा और भगवत्कृपासे जिन्होंने तत्त्वकी उपलब्धि की है वे ही उस तत्त्वका उपदेश देनेके अधिकारी हैं, और जो तप और साधनाके द्वारा उस तत्त्वको पानेका सच्चा अभिलाषी है वही गुरु और हरिका भक्त मनुष्य

सुननेका अधिकारी है। आज प्रायः इन दोनोंका अभाव है, इसीसे असली लाभ नहीं होता।

× × ×

सभी बातोंमें दिखौआपन आ जानेसे लोग केवल ऊपरकी बातें देखते हैं, क्योंकि वे भी भीतर प्रवेश करना नहीं चाहते। कौन कैसा बोल सकता है, कैसा लिख सकता है, किसकी रचना कैसी होती है, इसी ओर लोगोंका ध्यान है, सच्चे अनुभवी-हृदयकी खोज नहीं है। परन्तु यह नियम है कि सच्चे अनुभवी बिना यथार्थ तत्त्वका पता नहीं लग सकता। जो जिस विषयका तत्त्वज्ञ होता है, वह चाहे दूसरे विषयमें बिल्कुल अनभिज्ञ हो, चाहे वह कलाकी दृष्टिसे दूषित भाषामें ही बोलता हो, परन्तु उस तत्त्वका पता उसीसे लग सकता है। चित्रकार या स्वर्णकार अथवा अन्य कोई कलाकार चाहे शुद्ध संस्कृत या अंगरेजीमें अपने विषयका प्रतिपादन न कर सकते हों, चाहे उन विषयोंपर सुन्दर कविता न लिख सकते हों, परन्तु उनकी विद्या सीखनेके लिये बड़े-बड़े विद्वानोंको भी उन अनुभवियोंके पास ही जाना पड़ेगा। बड़े-से-बड़े महाराजा और महान् कवि भी रोगकी चिकित्साके लिये अनुभवी वैद्यकी ही शरण लेंगे। वस्तुतः अनुभव ही बड़ा है; विद्या या कला उसके साथ हो तो सोना और सुगन्ध दोनों है। तुलसी, सूर आदिमें दोनों बातें थीं।

× × ×

परन्तु जिसको अनुभव हो और विद्या न हो तो, चाहे वह दूसरोंको उतना लाभ न पहुँचा सके, चाहे वह दूसरोंको आकर्षित न कर सके, पर उसको तो उस तत्त्वकी उपलब्धि हो ही गयी। अनुभवहीन विद्या या कला प्राणहीन शरीरके समान निरर्थक होती है। इसीलिये भगवान् श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात्परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥
(११।११।१८)

जो पुरुष वेदको पूरा पढ़ गया—वेदमें पारंगत हो गया, परन्तु जिसने परब्रह्मको नहीं जाना, उसे बाँझ गौको पालनेवालेके समान केवल परिश्रम ही हाथ लगता है। यही हाल अनुभवहीन विद्याका है। विद्या न होकर भी जिसके पास अनुभव हो—वस्तु हो, उसीकी सेवा करके, आदर करके उससे उस वस्तुके प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। कलाहीन समझकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

× × ×

मनुष्यको अनुभवकी प्राप्तिके लिये—तत्त्वकी उपलब्धिके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये और वास्तविक तत्त्वकी उपलब्धिके बाद ही उस तत्त्वके सम्बन्धमें कुछ बोलना या लिखना चाहिये। तभी उस बोलनेवालेका यथार्थ प्रभाव पड़ता है और उससे काम होता है। यदि ऐसा नहीं होगा और केवल कलाके नामपर अनुभवरहित लेखों, उपदेशों, वक्तृताओं और कविताओंकी शब्दाडम्बरभरी बाढ़ यों ही बहती रहेगी तो इसीके साथ अनुभवी पुरुषोंके वचनोंकी भी कोई कीमत नहीं रह जायगी और इसलिये उनका प्राप्त होना, पहचानना तथा समझना भी कठिन हो जायगा।

× × ×

हर एक विषयपर हर एकके बोलनेका अधिकार इसीलिये नहीं माना जाता था। परन्तु आजकी दशा विपरीत है। आज तो महान् मिथ्यावादी सत्यपर, विषयी वेदान्तपर, कायर शूरतापर, व्यभिचारी ब्रह्मचर्यपर, असती पातिव्रतपर, स्वेच्छाचारी मर्यादा-पर, भोगी वैराग्यपर, असाधु साधुतापर और नास्तिक भक्तिपर लिखते तथा बोलते हैं। सभी क्षेत्रोंमें यही गड़बड़झाला हो रहा है। इसीलिये आज सब धान बाईस पसेरी हो रहे हैं और अच्छे-बुरेकी पहचान प्रायः नष्ट हो चली है।

"शिव"

मानव-संस्कृति-विज्ञान

(लेखक—साधु श्री टी० एल० वास्वानीजी)

मेरी समझमें प्राचीन भारतीय महर्षियोंके आश्रम ज्ञान एवं संस्कृतिके आधुनिक केन्द्रोंमेंसे बहुतोंकी अपेक्षा अधिक समुन्नत एवं श्रेष्ठ थे। वे आश्रम प्रकृतिके सम्पर्कमें रहते थे। अंग्रेजीके महाकवि शेली (Shelly) ने एक स्थानपर कहा है—हमें काव्यमय जीवन चाहिये (We want the poetry of life), इन महर्षियोंका जीवन वैसा ही—काव्यमय—था। आधुनिक सभ्यता अशान्तिमय है; क्योंकि उसमें विश्व-भावना (Cosmic sense) का अभाव हो गया है। भारतीय महर्षियोंका जीवन विश्वबन्धुताका जीवन था। अहा! वेदों एवं उपनिषदोंके मन्त्र एवं ऋचाएँ कैसी उल्लासपूर्ण हैं! कई पाश्चात्य समीक्षक यह कहते हैं कि ये महर्षि निराशावादी (Pessimistic) थे, किन्तु मैं तो नम्रतापूर्वक यह निवेदन करूँगा कि उनकी यह धारणा भ्रममूलक है। वे महान् आशावादी थे, आनन्दकी सजीव मूर्ति थे। यही नहीं, वे आध्यात्मिक नैष्कर्म्यका मर्म समझते थे। आधुनिक सभ्यता कई प्रकारकी नयी-नयी बातोंके समावेश एवं अपने क्षेत्रके विस्तारके कारण जटिल हो गयी है। इधर आर्थिक सङ्कट भी कम नहीं है। हमारा अधिकांश समय तो जीवनकी भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्तिमें ही व्यतीत हो जाता है। ऋषिकालीन सभ्यता सादगीसे पूर्ण, सुसंस्कृत एवं सौन्दर्यकी भावनासे युक्त थी। उनके पास समयका अभाव नहीं था। अवकाश (Leisure) का अर्थ निठल्लापन नहीं है, किन्तु आन्तरिक शक्तियोंको जीवनके गहन तत्त्वोंकी खोजमें लगाना है।

इसप्रकार उन ऋषियोंने एक ऐसे विज्ञानकी पुष्टि की जो वर्तमान युगकी जनताके लिये भी महत्त्वपूर्ण एवं उपदेशप्रद है। आजकल जहाँ-तहाँ कृषि-विज्ञान (Agriculture), रेशमके कीड़े पालनेकी विद्या (Seficulture), उद्यानविद्या (Horticulture) इत्यादिकी चर्चा सुननेमें आती है, परन्तु एक विद्या ऐसी है जो इन सारी विद्याओंमें सर्वोपरि है। उस विद्याका नाम है—मानव-संस्कृति-विज्ञान (The science of man-culture) ऋषियोंकी प्रकाशयुक्त बुद्धिके अनुसार मानव-संस्कृतिकी समस्या मनुष्यको दिव्य मानव (Superman) बनानेकी समस्या थी। किन्तु वह दिव्य मानव कैसा? पाश्चात्य दार्शनिक निट्शे (Nietzsche) की कल्पनाका अहंकारपूर्ण एवं मदोन्मत्त पुरुष नहीं, अध्यात्मप्रधान पुरुषपुङ्गव सम्राट् सीज़र (Caesar) अथवा नेपोलियन (Napolean) की कोटिका नररत्न नहीं, किन्तु श्रीकृष्ण, गौतमबुद्ध एवं ईसामसीहकी श्रेणीका दिव्य पुरुष।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि मानव-संस्कृति-विज्ञानका तात्पर्य उस विज्ञानसे नहीं है जिसे आजकल अंग्रेजीमें Anthropology (मानव-विज्ञान) के नामसे पुकारते हैं। इस समय उपर्युक्त विज्ञान (Anthropology) की दो शाखाएँ प्रचलित हैं। एकका नाम है—Physical Anthropology (मानव-शरीर-विज्ञान) जिसमें अन्य जीवधारियोंकी भाँति मानव-शरीरपर विचार किया गया है। दूसरी शाखा Cultural Anthropology (संस्कृति-प्रधान मानव-विज्ञान) कहलाती है, जिसमें सभ्यताकी नींव डालनेवालेके रूपमें मनुष्यकी अवस्थाओंपर विचार किया गया है।

परन्तु ऋषियोंके मानव-संस्कृति-विज्ञानमें आत्माकी प्रधानता है । 'आत्मा' शब्दका यौगिक अर्थ प्राण अथवा उच्छ्वास है । प्राचीन समयके लोगोंने उच्छ्वास-के आधारपर सृष्टि-विकास-क्रम (Cosmic process) की व्याख्या की है । ऋषियोंकी दृष्टिमें ब्रह्मका श्वास (Breathing in) एवं उच्छ्वास (Breathing out)–विश्वकी जीवन-सरणि (Life process) के ये दो रूप हैं ।

इसप्रकार ऋषियोंकी जागरूक बुद्धिने सामञ्जस्य-के तत्त्वको खोज निकाला था जो मेरी समझसे विकासका मूल है । मैं एक बार फिर कहूँगा कि ऋषियोंके मानव-संस्कृति-विज्ञान-सिद्धान्तका आधार आत्मा है । प्राचीन भारतकी विदुषीशिरोमणि मैत्रेयीके प्रश्नका महर्षि याज्ञवल्क्यने इसी भावको लिये हुए उत्तर दिया था । याज्ञवल्क्यजीने कहा—जिसप्रकार वीणा एवं तूतीमेंसे शब्द निकलता है उसी प्रकार वेद-शास्त्रोंकी उत्पत्ति आत्मासे हुई है । अहा ! कैसी भाव-हृदयङ्गम उक्ति है कि वेद-शास्त्र आत्माके ही निःश्वास हैं !

मानव-संस्कृति-विज्ञानके लिये तीन बातें आवश्यक हैं । वे निम्नलिखित हैं—

(१) ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्यका अर्थ केवल अविवाहित जीवन अथवा स्त्री-प्रसङ्गका त्याग ही नहीं है, जैसा कि साधारणतया लोग समझते हैं । मैं ब्रह्मचर्यका अर्थ उत्पादक-शक्तिके प्रति सम्मानका भाव समझता हूँ । ऋषिलोग मानव-देहको ब्रह्मकी ही अभिव्यक्ति मानते थे । श्रीकृष्ण प्राकृतिक सौन्दर्यके उपासक थे । जबसे भारतवासियोंको प्रकृतिसे वैराग्य होने लगा तभीसे उसका पतन प्रारम्भ हो गया । ब्रह्मचर्यके सिद्धान्तसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि हमें अपने शरीरको आत्माका मन्दिर समझकर उसका आदर करना चाहिये, प्रत्येक मनुष्यमें उत्पादक-शक्ति होती है । वह शक्ति दिव्य है । जीवन-शक्तिकी दिव्यताका जितना ही अधिक अनुभव किया जायगा उतना ही अधिक मनुष्य ब्रह्मचर्यकी भावनामें अग्रसर होगा । ब्रह्मचर्यके कई अङ्ग होते हैं । एक ब्रह्मचर्य नेत्रोंका होता है, जिसका अभिप्राय है, किसीको विकारयुक्त दृष्टिसे न देखना । दूसरा ब्रह्मचर्य श्रवणेन्द्रियका है, जिसका अर्थ है किसीके प्रति घृणा अथवा द्वेषके शब्द न सुनना । इसी प्रकार रसनेन्द्रियका भी ब्रह्मचर्य होता है, जिसका तात्पर्य जिह्वाके स्वादको वशमें करना है । इसी तरह विचारोंका ब्रह्मचर्य होता है, जिसके द्वारा अपने विचारोंको संयत करके उन्हें सेवाके कार्यमें नियुक्त करना होता है । इन सबके ऊपर हार्दिक अर्थात् मानसिक ब्रह्मचर्य है जिससे काम-क्रोध एवं हर्ष-शोकादि विकारोंका दमन किया जाता है । किसी अंग्रेज विद्वान्ने कहा है कि हृदयसे ही प्राणोंकी पुष्टि होती है (Out of the heart are the tissues of life) । ज्यों-ज्यों हमारे अन्दर ब्रह्मचर्यकी भावना दृढ़ होती है, त्यों-ही-त्यों हमारे शरीरका क्रमशः रूपान्तर होता जाता है । हम उस परमात्माके दिव्यालोककी रश्मि बन जाते हैं, आत्मा हमपर विजय कर लेती है । हमारी मुखमुद्रा जगमगा उठती है । हमारे अन्दरसे अपने प्रियतमकी ज्योति झलमलाने लगती है ।

(२) आत्मविद्या—आत्म-संस्कृति-विज्ञानका दूसरा आवश्यक अङ्ग आत्मविद्या है । आत्मविद्याका अर्थ यथार्थ ज्ञान है । जिसे हमलोग आजकल ज्ञान कहते हैं वह तो निरा उपयोगितामूलक अथवा कामचलाऊ ज्ञान है, वह वस्तुविषयक ज्ञान है, वह किसी पदार्थ-को केन्द्र बनानेवाला ज्ञान है, स्वयं उसका परिधि-रूप है । यथार्थ ज्ञान अपने विषयके अन्दर ओतप्रोत होकर रहता है । वह अभ्यन्तरप्रसूत होता है, केन्द्रसे प्रादुर्भूत होता है । वह सरल-सीधी क्रियाके

रूपमें होता है। वह ज्ञान ऐसा होता है जो सीधा हमारे जीवन-स्रोतमें जाकर प्रवाहित होता है। वह जीवनकी वह गति है जिसकी ज्ञेयके रूपमें अभिव्यक्ति होती है। ऋषियोंका, कलाकोविदोंका, कवियोंका तथा अन्य प्रतिभासम्पन्न महापुरुषोंका ज्ञान प्रायः इसी प्रकारका होता है, वह केन्द्रसे प्रस्फुटित होता है। उस ज्ञानमें भक्तिका पुट रहता है, वह प्रेमसे अनुस्यूत रहता है। विज्ञान (Science) तथा अनुकम्पा (Sympathy) इन दोनोंका भेद बतलाना उचित ही है; किन्तु यह कहना ठीक नहीं है कि वह भेद पार्थक्यका पर्यायवाचक है।

(३) *योग*—जिसका पहला अर्थ है प्रकृतिके साथ संयोग। उपनिषदोंमें जिस प्रकृति-योग (Nature-mysticism) का वर्णन है उसका बीज यही है। इस योगकी स्थितिमें प्रवेश करना इस बातका अनुभव करना है कि यह शरीर भी हमारा गुरु है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति भी परमात्मासे ही है; इस संसारमें जन्म लेना ईश्वरीय प्रादुर्भाव है, न कि आत्माका पतन, और प्रकृति उस नित्य तत्त्व-का ही आभास (Apparition) है।

योगका दूसरा अर्थ है जीवनका इतिहास तथा मानव-जातिके साथ संयोग। इस योगमें आरूढ़ होना मत-प्रवर्तकों (पैगम्बरों) और अन्य पथ-प्रदर्शकों, (Pioneers) आचार्यों एवं कलाकोविदों, तथा सन्तों एवं जनसमाजके सेवकोंके साथ समानताका अनुभव करना है। इसप्रकारकी समानताका अनुभव करना इस बातको जानना है कि सारे धर्मों एवं धर्म-ग्रन्थोंमें आत्माके विचित्र (Many coloured) ज्ञानका ही विकास है।

योगका तीसरा अर्थ है अन्तरात्माके साथ संयोग। वह अन्तरात्मा प्रभुओंका प्रभु, सनातन सद्गुरु है। वह सबकी हृदय-गुहामें सन्निविष्ट है। कुरानमें एक स्थानपर लिखा है कि मुस्लिमों (आस्तिकों) के हृदय खुदाके सिंहासन हैं। इसप्रकारके योगमें स्थित होना प्रेमके साथ घुल-मिल जाना एवं इस बातका अनुभव करना है कि प्रेम ही उत्सर्ग है, यज्ञ है। आत्म-साक्षात्कारका नाम ही यज्ञ है और आत्मोत्सर्ग ही आत्माका साक्षात्कार है।

ऐसे योगी कुरानके शब्दोंमें परमात्मामें लीन हो जाते हैं, उनकी स्थिति सदा परमात्मामें ही रहती है। ऋषियोंके सूक्तोंमें भी बार-बार जगह-जगहपर यज्ञ अर्थात् आत्मोत्सर्गका ही महान् राग अलापा गया है। यह यज्ञ दो प्रकारका है—एक तो मानसिक यज्ञ, जिसका अर्थ है मनकी अधोमुखी वृत्ति अर्थात् हिसाब-किताब करने (Calculation) तथा विवेक (दूरदर्शिता) की शक्तिका संयम अथवा हवन। दूसरा यज्ञ है मानसिक प्रकृति अर्थात् वासना-तत्त्वका हवन। इस द्विविध यज्ञका अर्थ है अहङ्कार (Egoism) अथवा व्यक्तित्वका हवन करना। प्रत्येक व्यष्टि चेतनके पीछे परमपुरुष (Super-purusha) का निवास रहता है। अहङ्कार-का पर्दा हट जानेपर श्रीकृष्णका प्रकाश, प्रभुकी ज्योति जगमगाने लगती है। इस निम्नवृत्तिका हवन हुए बिना प्रेमके तत्त्वकी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती। अहङ्कारशून्य हो जाना ही प्रेमके द्वारमें पदार्पण करना है।

बस, आत्म-समर्पण, आत्मोत्सर्ग ही मानव-संस्कृति-विज्ञानका चरम लक्ष्य है। आत्म-समर्पण-विज्ञान ही मानव-संस्कृति-विज्ञानकी पूर्ण स्थिति है। आत्म-समर्पित जन ही यथार्थ दिव्य मानव (Super-man) है। आत्म-समर्पणका स्थान मुक्तिसे भी ऊँचा है और उस आत्म-समर्पणका स्वरूप है प्रियतमके साथ तादात्म्य हो जाना, अपनेको इसप्रकार नगण्य, नाचीज़ बना देना जिससे कि सर्वत्र बाहर-भीतर एक प्रियतम ही रह जाय, उसके अतिरिक्त और कुछ रहे ही नहीं।

साधन-तत्त्व

(लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया)

परम पुरुषार्थ क्या है ? इस बातको चाहे सब लोग न जानते हों, पर इतना तो किसीको समझाना नहीं होगा कि दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और अनन्त परमानन्दकी प्राप्ति तो सभी (अज्ञ और विद्वान्) चाहते हैं। वास्तवमें इसीका नाम परम पुरुषार्थ है । इसकी सिद्धिके लिये जगत्‌में अनेक साधन हैं और उन साधनोंमें बहुत कुछ मतभेद भी देखा जाता है। यहाँ इस विषयका बहुत विस्तार न करके संक्षेपमें ही अपने विचार प्रकट किये जाते हैं। कल्याण-कामी सज्जन अपने-अपने विचारानुसार साधन करते ही हैं और वे सभी वन्दनीय हैं । यदि नीचे लिखे विचार किसीके कुछ कामके होंगे तो आनन्दकी बात होगी । प्रायः ऐसा कहा जाता है कि साधन तेज नहीं होता अथवा इच्छा रहते हुए भी साधन बिल्कुल ही नहीं बनता । विचार करना चाहिये कि इसका क्या कारण है ? मेरी समझसे साधनका रहस्य न समझनेके कारण ही ऐसा होता है । यहाँ साधनके चार प्रकार लिखे जाते हैं, यदि कुछ गम्भीरतासे विचार किया जायगा तो चार प्रधान भेद स्पष्ट दिखलायी देंगे । इनको जानकर अपनी रुचि और अधिकारानुसार इनका अलग-अलग या यथाक्रम समुच्चय करके प्रयोग करना चाहिये ।

१–*क्रिया-साध्यसाधन*—उसको कहते हैं जिसको करना अपने अधिकारमें हो । जो विद्या, धन, बल, प्रारब्ध या अन्य किसीकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखता हो, तथा जिसको सभी केवल इच्छामात्रसे कर सकते हैं । जैसे—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, भगवत्-नाम-जप इत्यादि ।

२–*अभ्यास-साध्यसाधन*—उसको कहते हैं, जो विद्या, धन, बल, प्रारब्ध आदिकी अपेक्षा तो नहीं रखता, पर जिसमें पुनः-पुनः आवृत्तिकी आवश्यकता है । जैसे—निरन्तर जप, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंका सहन, अक्रोध इत्यादि ।

३–*बोध-साध्यसाधन*—उसको कहते हैं जो विचार और समझके आधारपर किया जा सके । यह साधन विचार और समझके बिना नहीं बन सकता, जैसे परमात्माकी सर्वव्यापकताका अनुभव, सबमें भगवद्-दर्शन, ध्यान, संसारकी अनित्यताका ज्ञान, भगवान्‌के सुहृदता, दयालुता आदि गुणोंका जानना इत्यादि।

४–*भगवत्-कृपा-साध्यसाधन*—उसको कहते हैं जिसमें साधनकी अपनी कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं रहती । यह साधन अपनी इच्छामात्रसे नहीं बनता। केवल प्रभुकृपासे ही बनता है, यही चरम-साधन है, परम पुरुषार्थ-प्राप्तिका यही साक्षात् साधन है। इसीको श्रीनन्दनन्दनने इन शब्दोंमें कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

'उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको (मैं) वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं ।'

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

'उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही मैं स्वयं उनके अन्तःकरणमें एकीभावसे स्थित हुआ अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपक-द्वारा नष्ट करता हूँ ।'

जिस कालमें यह साधन होने लगता है, उस कालमें बिना ही परिश्रम सब साधन अपने आप होने लगते हैं, बिना ही समझाये सब तत्त्व समझमें आने लगते हैं, अपार प्रेमका प्रवाह बहने लगता है और साधक अहर्निश प्रभुके प्रेममें निमग्न रहता है।

साधन-तत्त्वसे अनभिज्ञ साधक क्रिया-साध्य साधनको भगवत्-कृपा-साध्य मानकर अविवेकसे निश्चिन्त हो बैठते हैं। अभिमानके नाशके लिये सभी अवस्थाओंमें भगवत्-कृपाका मानना सर्वसम्मत है और इसकी आवश्यकता भी है। परन्तु ऐसे लोग तो अकर्मण्यता, आलस्य और प्रमादजन्य दोषसे सदाचार और सत्क्रियाओंको करनेकी सामर्थ्य और स्वतन्त्रता रहते हुए भी उन्हें नहीं करते। जैसे गोस्वामीजीने कहा है—*'कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाय'* साधन-सम्बन्धमें स्वयं कुछ भी नहीं करना चाहते। सांसारिक कर्मोंमें पूर्ण कुशल और उद्योगी रहते हैं परन्तु अपने हितकर कल्याणकारी कामोंमें प्रभु-कृपाका बहाना बतलाकर उदासीनता, असमर्थता प्रकट करते हैं। ऐसे ही लोग *'सो परत्र दुख पावही सिर धुनि धुनि पछिताय'* गोस्वामीजीके इन वचनोंको चरितार्थ करते हैं। ऐसे मनुष्योंको कुछ लाभ नहीं होता, वरं इनका अधःपतन ही होता देखा जाता है।

अभ्यासजन्य साधनके विषयमें पतञ्जलि ऋषिने कहा है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

'यह साधन दीर्घकाल निरन्तर और सत्कार-पूर्वक करनेपर दृढ़ होता है।' जल्दी ही सिद्धि पानेकी उमंगमें जो साधक यह साधन करता है, वह आगे चलकर अपने मन-इच्छित समयमें यथार्थ लाभ न देखकर हताश हो जाता है। एक मन्दबुद्धि मनुष्यने किसीके खेतमें गेहूँसे लदे हुए पौधोंको देखकर अपने खेतमें भी वैसे ही गेहूँ पैदा करनेके लालचसे उससे पूछा कि 'भैया! मेरे खेतमें गेहूँ कैसे हो सकते हैं?' उक्त मनुष्यने कहा कि जमीनमें अच्छी तरह अन्न छींटकर उसे पानीसे सींचते रहो। आप ही अन्नसे भरे पौधे तैयार हो जायँगे। उसने अपने खेतमें अन्न छींट दिया और जल भी सींच दिया पर मन्दबुद्धिवश उचित समयकी बाट न देखकर एक-ही-दो दिनोंके बाद खेतमें गेहूँके वैसे पौधे न देखकर हताश हो गया और जल सींचना बन्द कर दिया तथा पश्चात्ताप करता रहा। इसी प्रकार शीघ्रतासे फल चाहनेवाले लोग अभ्यासजन्य साधन नहीं कर पाते।

क्रिया-साध्यसाधन और अभ्यास-साध्यसाधन होनेपर भी कभी-कभी साधकके हृदयमें समत्व और उदार भाव प्रकट नहीं होते। इसका कारण है बोध-साध्यसाधनका अभाव। यह साधन विचारसे प्राप्त होता है, चाहे वह विचार किसीके समझानेसे या शास्त्रोंके गम्भीर विचारसे उदय हो। इस-प्रकार जब बोध-साध्यसाधन होने लगता है तब किसी पक्षविशेषका आग्रह नहीं रहता। वह साधक भगवत्-तत्त्वमें हर समय सावधान रहता है।

प्रभु-कृपा-साध्यसाधन प्रभुकी अनन्यशरणको ही कहते हैं। परन्तु आजकल इसके चाहे जैसे मनमाने अर्थ लगाये जाते हैं, अन्याय-दुराचार करते हुए भी लोग अपनेको प्रभुशरण कहते रहते हैं और प्रभु-आज्ञाका किञ्चित्मात्र भी पालन नहीं करते। इन्हीं सब कपट-व्यवहारोंके कारण वे लोग प्रभु-कृपासे वञ्चित रहते हैं। जो लोग अपनी शक्तिके अनुसार क्रिया-साध्यसाधन करते हैं, बुद्धिके अनुसार विचार करते हैं तथा दीर्घकालतक इसीमें लगे रहते हैं और सब साधनोंको प्रभुके ही आश्रित मानते हैं उनके कल्याणका जिम्मेवार स्वयं भगवान्‌को होना पड़ता है। गीता अ० ९। २२ और १२। ७

ईश्वर-कृपा

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

श्यामा—हे बहिन ! लोकोक्ति है कि ईश्वरको किसीने आँखोंसे देखा नहीं है । ईश्वर बुद्धिसे जाननेमें आता है । श्रुति कहती है कि ब्रह्म—ईश्वर मन-वाणी-का विषय नहीं है यानी मनसे जाना नहीं जाता और वाणीसे कहा नहीं जाता । श्रुति यह भी कहती है कि सूक्ष्म बुद्धिसे ईश्वर जाननेमें आता है । गीतामें भगवान्‌का वचन है कि मैं योगमायासे ढका हुआ होनेसे सबका प्रकाश नहीं हूँ यानी सबके जाननेमें नहीं आता, यह मूढ लोक मुझ अजन्मा और अव्ययको नहीं जानता । बहुत-से बहिन-भाई ईश्वरको मानते भी नहीं हैं । इन सब बातोंसे सिद्ध है कि ईश्वर दुर्विज्ञेय है यानी ईश्वरको जानना कठिन है, इसलिये हे बहिन ! यद्यपि तू कई बार समझा चुकी है, फिर भी आज मैं तेरे मुखसे ईश्वरका स्वरूप समझना चाहती हूँ और यह भी जानना चाहती हूँ कि ईश्वरकी मनुष्यपर कब कृपा होती है ।

कोकिला—हे बहिन ! इस दीखनेवाले जगत्‌का और जगत्‌के अभावका जो साक्षी है और जो सबका आत्मा है, उसको वेदवेत्ता ब्रह्म अथवा ईश्वर कहते हैं । यदि कोई कहे कि इस जगत्‌को तो आँख देखती है, तो यह बात नहीं है, क्योंकि आँख जगत्‌को नहीं देखती, आँखके द्वारा कोई अन्य ही इस जगत्‌को देखता है । जो आँखके द्वारा इस जगत्‌को देखता है यानी सब इन्द्रियोंके द्वारा जो इस जगत्‌को देखता है, वह ईश्वर है । तब कोई कहे कि मन इन्द्रियोंद्वारा इस जगत्‌को देखता है, क्या मन ईश्वर है, तो मन ईश्वर नहीं है, क्योंकि मन भी किसीका दृश्य है, इसलिये मन ईश्वर नहीं है किन्तु मनका देखनेवाला ईश्वर है । यदि कोई कहे कि मनको तो बुद्धि जानती है, क्या बुद्धि ईश्वर है, तो बुद्धि भी दृश्य है, इसलिये ईश्वर नहीं है, बुद्धिका देखनेवाला ईश्वर है । यदि कोई कहे कि बुद्धिका देखनेवाला अहंकार है, क्या अहंकार ईश्वर है, तो अहंकार भी दृश्य है, दृश्य होनेसे अहंकार ईश्वर नहीं है, किन्तु अहंकारका साक्षी ईश्वर है । अहंकारका ही साक्षी ईश्वर नहीं है किन्तु अहंकार करनेवालेका भी साक्षी ईश्वर है । जैसे एक देहमें अहंकार करनेवालेका साक्षी ईश्वर है, वैसे ही सब देहोंमें अहंकार करनेवालेका साक्षी ईश्वर है । सारांश यह है कि समस्त दृश्य, दर्शन और द्रष्टाका साक्षी और उन तीनोंके अभावका जो साक्षी है, वह ईश्वर है और वही सबका आत्मा है ।

हे बहिन ! यह ईश्वर जगत्‌का स्वामी है, करुणा-का समुद्र है, ईश्वर सब जीवोंके ऊपर महती कृपा करता है और समान ही कृपा करता है । ईश्वरकी यह कृपा भोगके लिये नहीं है क्योंकि भोगसे किसीको कुछ लाभ नहीं है । विचारकर देखा जाय तो भोग तो रोग है । भला ! करुणासागर जगदीश्वर अपने भक्तोंको रोग क्यों देगा ? इसलिये श्रेयाभिलाषीको चाहिये कि भोगकी इच्छा छोड़कर जगदीश्वरकी भक्ति करे । भक्ति ही जन्म-मरणरूप संसारकी ओषधि है, ईश्वरकी भक्ति करनेसे ईश्वर प्रसन्न होता है और जन्म-मरणरूप संसारसे भक्तको मुक्त करके अपना धाम ही दे देता है । ऐसे करुणासिन्धु जगदीश्वरको छल-कपट छोड़-कर जो नहीं भजते, उन भाई-बहिनोंका दुर्भाग्य ही है ।

हे बहिन ! ईश्वरने ही सब किया है, ईश्वर ही सब कुछ करता है, मैं कुछ नहीं करता या कुछ नहीं करती, इस कथनको विद्वान् ज्ञान कहते हैं, क्योंकि ऐसा ज्ञान ही भव-बन्धनसे मुक्त करनेवाला है । यह

जगत् ईश्वरके अधीन है, स्त्री-पुरुषोंको उसकी कृपाका ही बल है। उस जगदीश्वरकी कृपा ही संसाररूप रोगकी ओषधि है। विश्वनाथ महादेवका सर्वदा सर्व इन्द्रियोंसे पूजन करना चाहिये अर्थात् कानोंसे भगवदवतारोंके चरित और भगवत्-तत्त्वका निरूपण सुनना चाहिये, नेत्रोंसे भगवत्की मूर्तिके और भगवद्भक्तों-के दर्शन करने चाहिये, जिह्वासे भगवद्गुणगान और सत्शास्त्रोंका पठन-पाठन कर्तव्य है। सारांश यह है कि मनसे, वाणीसे और कर्मसे भगवत्परायण होना चाहिये। गीतामें भगवान्का अर्जुनके प्रति वचन है कि 'हे अर्जुन ! जो कुछ तू करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ तू होमता है, जो कुछ तू दान देता है, जो कुछ तू तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर अर्थात् मेरी प्रीतिके लिये कर, ऐसा करनेसे तू पुण्य-पापसे छूट जायगा और मुझको ही प्राप्त होगा।' हे बहिन ! भगवत्के इस वचनसे सिद्ध है कि भगवत्के लिये कर्म करनेसे कर्म बन्धनके हेतु नहीं होते, प्रत्युत मोक्षका कारण होते हैं, इसलिये कल्याणकी इच्छावाले-को सब कर्म भगवत्की प्रीतिके लिये करने चाहिये, किसी फलकी कामनासे नहीं।

हे कल्याणी ! ईश्वर जगत्रूप है और जगत् ईश्वररूप है, ईश्वरके सिवा अन्य कुछ नहीं है, चराचर जो कुछ देखनेमें आता है, सब ईश्वर ही है, वही दाता है, वही ग्रहीता है, वही विश्वेश्वर कर्ता है, वही भोक्ता है, वही पाता है यानी रक्षक है और वही इस जगत्का आश्रय यानी अधिष्ठान है। उस नित्यमें यह समस्त जगत् स्थित है, वह एक ही सब विश्वका कारण है, उसी नित्य पूर्ण पर-से-परमें यह सब जगत् प्रलयमें लीन हो जाता है। वह स्वयं-ज्योति यानी स्वयंप्रकाश है, वह अपने आप ही प्रकाशता है, उसका प्रकाश करनेवाला कोई दूसरा नहीं है। वह मायाका पति होकर भी मायातीत है, निर्गुण होता हुआ भी अपने भक्तोंपर अनुकम्पा—कृपा करने-के लिये दिव्य विग्रह—मूर्ति धारण करके सगुण हो जाता है।

हे सुशीले ! उस परमेश्वरका कोई नाम नहीं है, क्योंकि वह द्रव्य, गुण, जाति आदिसे हीन है, फिर भी भक्तोंने अपनी-अपनी भावनाओंके अनुसार उसके अनेक नाम रक्खे हैं। हे बहिन ! माया सबसे बड़ी है, ईश्वर मायासे भी बड़ा है, इसलिये भक्त उसको 'परंब्रह्म' कहते हैं। काल, वायु, अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि देवता श्रेष्ठ हैं, ईश्वर इन सबसे श्रेष्ठ है, इस-लिये भक्त ईश्वरको 'परात्पर' कहते हैं। ब्रह्मवैवर्त-पुराणमें भगवान्का वचन है कि हे देवियो ! मैं काल-का काल हूँ, विधाताका विधाता हूँ, संहारकर्ताका संहारकर्ता हूँ और रक्षकका रक्षक हूँ, इसलिये परात्पर परसे पर हूँ। कोई ईश्वरको परा संवित् कहते हैं क्योंकि वह ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनोंको प्रकाशित करता है। कोई ईश्वरको परम शिव कहते हैं, क्योंकि वह कल्याणस्वरूप है अथवा अशुभका नाश करता है। कोई ईश्वरको परमात्मा कहते हैं, क्योंकि वह चैतन्यात्मा है। एक आत्मा ही चैतन्य है। कोई ईश्वरको महाविष्णु कहते हैं क्योंकि वह विश्वमें प्रवेश करता है और विश्वको व्याप्त करता है, अथवा विश्व-को धारण करता है, सींचता है और लय करता है अथवा भक्तोंको मायासे या संसारसे विमुक्त करता है, अथवा वह सब भूतोंमें प्रवेश करता है और सब भूत उसमें प्रवेश करते हैं। कोई ईश्वरको भगवान् कहते हैं क्योंकि वह ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, यश, श्री और शक्ति छः गुणोंसे युक्त है अथवा भूतोंकी उत्पत्ति, प्रलय, गति, अगति, विद्या और अविद्याको जानता है। कोई ईश्वरको कृष्ण कहते हैं क्योंकि वह सब-को अथवा सबके हृदयको खींचता है अथवा सदानन्द-रूप है। कोई ईश्वरको राम कहते हैं क्योंकि वह

सबके मनका जाननेवाला है अथवा भक्तोंके साथ, प्रकृति-के साथ, ब्रह्माण्डके साथ रमण करता है अथवा प्रकृतिका और जीवोंका रमण-स्थान है। कोई ईश्वर-को शिव कहते हैं, क्योंकि वह कल्याणका देने-वाला है। कोई ईश्वरको नारायण कहते हैं, क्योंकि वह नारका यानी सारूप्य मुक्तिका अयन—स्थान है। हे बहिन! इसप्रकार ईश्वरके अनेक नाम भक्तोंने रक्खे हैं। उस हृषीकेश, परेश, सच्चिदानन्द, अव्यय ईश्वरका पवित्र होकर आस्तिक-बुद्धिसे पूजन करना चाहिये, क्योंकि उसकी कृपासे मुक्ति और भुक्ति दोनों हाथमें आ जाती हैं, इसलिये भक्तोंके अनुग्राहक उस देवका अनन्य बुद्धिसे पूजन करना चाहिये।

हे बहिन! उस देवकी कृपा-दृष्टिसे गुणहीन भी गुणवाला हो जाता है, जिसके ऊपर उसकी लेश भी कृपा हो जाय, वही धन्य है और वही प्रशंसनीय है, हे बहिन! जिस दिन शिवका पूजन न किया जाय और कथामृत सुननेमें न आवे, वह दिन निश्चय ही दुर्दिन है और निष्फल ही चला गया, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि यह मनुष्य-शरीर देवताओंको भी दुर्लभ है। ऐसे मनुष्य-शरीरको पाकर जो भगवान्का अर्चन नहीं करते और भगवान्की कथा नहीं सुनते उनका जीवन पशुओंके समान है। उनके लिये विद्वान् शोक करते हैं। यदि एक मुहूर्त्त भी भगवत्-स्मरण बिना चला जाय, तो उसके लिये पश्चात्तापपूर्वक रोदन करना चाहिये। जिन लोगोंको संसाररूपी सर्पने डस रक्खा है, उनके लिये हरि-चिन्तन ही सर्वोत्तम भेषज अथवा गारुडी-मन्त्र है, इसके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है। विद्वानोंका कथन है कि एक क्षण भी भगवद्भजन बिना नहीं जाना चाहिये। भगवत्का नाम उच्चारण करे, भगवत्को भजे, भगवत्का श्रवण करे, भगवत्का चिन्तन करे। अन्यका उच्चारण, भजन, श्रवण, चिन्तन न करे। सदा, सर्वत्र, सर्वथा भगवन्मय हो जावे। जो कोई सर्वाधार, निराधार, पूर्ण प्रेमस्वरूप मुकुन्द भगवान्का चिन्तन करता है, वह भगवान्की करुणाके प्रभावसे भगवान्, भवेश्वर, परमात्माकी भक्ति प्राप्त करता है। जहाँ भगवान्की भक्ति प्राप्त हुई कि भाग्यवान् अधिकारीकी समस्त इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं और उसको परम प्रेम-समुद्र शम्भुमें अनन्य ममता प्राप्त होती है। शम्भुमें अनन्य ममता बड़े भाग्यसे प्राप्त होती है, यही मनुष्योंके लिये संसारसे पार होनेका एकमात्र अवलम्बन है, यही परम अवलम्बन है। इस अवलम्बनके बिना परमेश्वरकी प्राप्ति नहीं होती और परमेश्वरकी प्राप्ति बिना शान्ति नहीं हो सकती। जैसे भोजन बिना भूखकी निवृत्ति नहीं हो सकती, इसी प्रकार ब्रह्मकी प्राप्ति बिना जीवोंके दुःखका अन्त नहीं होता। जैसे अग्निकी समीपतासे छाछ जल जाती है, इसी प्रकार ईश्वरकी समीपतासे समस्त दोष लीन हो जाते हैं। दोष ही दुःखका कारण है, जहाँ दोष निवृत्त हुए कि प्राणी परम सुखी हो जाता है। जैसे जलती हुई अग्निसे सूखा काठ शीघ्र ही भस्म हो जाता है, इसी प्रकार ब्रह्मके दर्शनरूप अग्निसे शोक, मोह आदि समस्त दोष जल जाते हैं। हे बहिन! जगत्की चिन्ताको छोड़कर जो विद्वान् नित्य ब्रह्मका चिन्तन करता है, वह गोपदके समान इस संसार-शोक-सागरसे तर जाता है। अतएव भगवद्भजनमें कभी प्रमाद न करना चाहिये। सर्वदा सावधान होकर भगवच्चिन्तन करना चाहिये। भगवत् अद्भुत रसके समुद्र हैं, जो कोई भगवत्का ध्यान करता है, वह परमानन्दका अनुभव करता है इसमें संशय नहीं है।

हे बहिन! जबतक ईश्वरकी कृपा नहीं होती, तबतक प्राणीको संसारसे वैराग्य और ईश्वरमें प्रेम नहीं होता। यद्यपि ईश्वरकी कृपा प्रत्येक प्राणीपर सर्वदा ही है परन्तु अविवेकके कारण उसको ईश्वरकी कृपा-का भान नहीं होता, इसलिये वह ईश्वरकी शरण

नहीं लेता और स्त्री, पुत्र, धन, धाम आदिमें ही रत होता है, परन्तु स्त्री-पुत्रादि स्वयं ही नाशवान् हैं, ऐसे नाशवान् स्त्री-पुत्रादिसे सुखकी आशा ही नहीं की जा सकती। सुख तो अविनाशी पदार्थमें ही हो सकता है और वह अविनाशी पदार्थ सबका आत्मा ईश्वर ही है। हे बहिन ! अब तेरे उस प्रश्नका उत्तर देती हूँ कि मनुष्यको कब समझना चाहिये कि मुझपर ईश्वरकी कृपा है।

हे बहिन ! जब कोई बहिन या भाई अपने हाड़-मांसके पुतले शरीरसे घृणा करने लगे, क्योंकि वह अपवित्र पदार्थोंका बनाया हुआ शरीर ही सब अनर्थोंकी जड़ है। भूख-प्यास, आधि-व्याधि, शोक-चिन्ता, आये दिन इस शरीरको लगे ही रहते हैं, दुर्गन्धिवाला और कुरूप तो यह प्रत्यक्ष है ही, यदि ऐसा न हो, तो इसको चन्दन-इत्र आदि लगाकर सुगन्धवाला कोई न बनावे और सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और उत्तम-उत्तम भूषणोंसे इसको कोई अलंकृत न करे। सब इसको पुष्प-माला आदि पहिनाकर सुगन्धित बनाते हुए और वस्त्राभूषणों आदिसे सुसज्जित करते हुए देखनेमें आते हैं। इससे सिद्ध होता है कि शरीर दुर्गन्धवाला और कुरूप है, उसकी दुर्गन्धि और कुरूपता ढकनेके लिये ही सब उसको सजाते हैं। इसलिये जब इस अपवित्र और अनर्थकारक शरीरपर जिस किसीको वैराग्य हो, तो समझना चाहिये कि उसपर ईश्वरकी कृपा है।

हे बहिन ! जब कोई बहिन-भाई सब कर्म ईश्वरकी प्रीतिके लिये करने लगे यानी खाना, पीना, सोना, बैठना, उठना आदि स्वाभाविक कर्म; यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्म, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, पाँच यम और शौच, सन्तोष आदि नियम, ये सब फलकी कामनासे रहित अन्तः-करणकी शुद्धिके लिये जो कोई करने लगे, तो समझना चाहिये कि उसके ऊपर ईश्वरकी कृपा है। जिस किसीको कुल, जाति, वर्ण, आश्रम, धन, जन, विद्या आदिका अभिमान नहीं है, इन्द्रियोंके विषयोंमें राग नहीं है, जन्मनेमें, मरनेमें, बुढ़ापेमें अनेक प्रकारके दोष दिखायी देते हैं, उसको समझना चाहिये कि मुझपर ईश्वरकी कृपा है।

हे बहिन ! जो कोई बड़ोंका सम्मान करता है, छोटोंको प्यार करता है, बराबरीवालोंके साथ यथा-योग्य बर्तता है, आप किसीसे सम्मान कराना नहीं चाहता, सरल सीधा व्यवहार करता है, छल-कपट, दम्भ-पाखण्डसे रहित है, मनसे, वाणीसे, कर्मसे किसीको पीड़ा नहीं देता, किसीकी चोरी करना तो दूर रहा, बिना दामकी किसीकी वस्तु नहीं लेता, इन्द्रियोंको वशमें रखता है, पराया धन धूलके समान और परायी स्त्री माताके समान समझता है, न किसी-से राग करता है, न द्वेष करता है, सबमें एक ईश्वरको देखता है, निन्दा-स्तुतिसे रहित होता है यानी न किसीकी निन्दा करता है, न किसीकी स्तुति करता है, उसके ऊपर ईश्वरकी कृपा है।

हे कल्याणी ! जो बहिन ईश्वरमें प्रीति करती है, ईश्वरके भक्तोंका आदर-सत्कार करती है, बड़े-बूढ़ों-की यथायोग्य सेवा करती है, अधिक नहीं बोलती, कठोर नहीं बोलती, झूठ नहीं बोलती, सच्ची, मधुर, सरल वाणी बोलती है, ईश्वर-सम्बन्धी ग्रन्थोंका पठन-पाठन, श्रवण-श्रावण करती है, ईश्वरका नाम उच्चारण करती है, सब वस्तुएँ ईश्वरकी समझकर किसीमें आसक्ति नहीं करती, सबसे प्रेम करती है, वस्त्रा-भूषणोंमें प्रेम नहीं करती, भोजन भी सादा करती है, चटपटे, मीठे, खट्टे भोजनोंकी इच्छा नहीं करती, यथाप्राप्तमें सन्तुष्ट रहती है, ईश्वरके भजन गानेके सिवा अन्य संसारी गीत नहीं गाती, सब काम नियमसे करती है, आलस्य नहीं करती, लड़के-बालों-

को साफ-सुथरे रखती है, नियममें उनको चलाती है, वृथा खेलने, कूदने और वृथा सोने नहीं देती, समय-पर सुलाती है और समयपर जगाती है, ईश्वर-भजन स्वयं करती है और लड़के-बालोंको सिखाती है, शोक, मोह, चिन्ताके वश नहीं होती, सदा प्रसन्न-मन रहती है, हानिमें खिन्न नहीं होती और लाभमें मन ऊँचा नहीं करती और सबके बच्चोंको अपने बच्चोंके समान प्यार करती है, उस बहिनके ऊपर ईश्वरकी कृपा है ।

हे बहिन ! माताके उदरमें यह जीव नव मास-तक उलटा लटका रहता है और वहाँ नरकसे भी अधिक दुःखका अनुभव करता है, अन्तमें जब इसको अपने अनेक जन्मोंकी याद आती है, तब वह पश्चात्ताप करता है कि मैं बड़ा मूर्ख हूँ, जो इस नश्वर देहका भजन करके बारम्बार जन्मता-मरता रहता हूँ और अनेक प्रकारके कष्ट पाता रहता हूँ । अब मैं इस कारागृहसे मुक्त हो जाऊँ, तो ईश्वरका भजन करूँगा जिससे इस देहसे छूटकर ईश्वरके परम-धामको प्राप्त हो जाऊँ, जहाँसे लौटकर फिर जीव इस जन्म-मरणरूप संसारमें नहीं आता किन्तु सर्वदा-के लिये अजर-अमर हो जाता है । पेटसे बाहर आते ही यह जीव अपनी पूर्व-वासनाओंके कारण ईश्वरकी मायासे मोहित होकर अपनी प्रतिज्ञाको भूल जाता है। ईश्वरका भजन नहीं करता, देहका ही भजन करने लग जाता है यानी **'सोऽहम्' 'सोऽहम्'** भजनेके बदले **'देहोऽहम्' 'देहोऽहम्'** भजने लगता है । जो जिसको भजता है, वह उसीको प्राप्त होता है, ऐसा ईश्वरका नियम है। इसलिये देहका भजन करने-से यह जीव बारम्बार ऊँच-नीच योनियोंमें जन्मता हुआ कष्ट पाता रहता है, सुखी नहीं होता। इसलिये वेद-वेत्ता इसको गर्भमें की हुई प्रतिज्ञाका स्मरण कराते हैं, यदि किसी जीवको ब्रह्मवेत्ताओंके कथनसे उस प्रतिज्ञाका स्मरण हो जाय तो समझना चाहिये कि उसके ऊपर ईश्वरकी कृपा है ।

हे बहिन ! ईश्वर सबका आत्मा है यानी सबका अपना आप है, उसके खोजनेके लिये कहीं बाहर जाना नहीं पड़ता, क्योंकि वह सबके हृदयमें ही विद्यमान है, फिर भी वह किसीको दिखायी नहीं देता यानी किसीके जाननेमें नहीं आता, क्योंकि जीवकी दृष्टि बाहरकी ओर हो रही है । ईश्वरके न जाननेसे ही जन्म-मरणरूप अनेक प्रकारके अनर्थरूप संसारकी प्रतीति होती है और जीव महान् कष्ट पाता है । यदि जीव प्रेमपूर्वक ईश्वरके नामका जप करने लगे तो उसकी दृष्टि तुरन्त ही अन्तर्मुखी हो जाय और उसे ईश्वरके दर्शन हो जायँ, परन्तु जीवोंको दुर्भाग्यवश ईश्वर-नामके ऊपर विश्वास नहीं होता । यदि किसी जीवको यह विश्वास हो जाय कि ईश्वर-नाम जपनेसे मेरा निश्चय कल्याण हो जायगा, तो समझना चाहिये कि उसके ऊपर ईश्वरकी कृपा है ।

हे बहिन ! जीव और ईश्वरमें भेद नहीं है, परन्तु अहंता-ममताकी आड़ आ जानेसे जीव अपनेको कर्ता-भोक्ता समझकर दुःखी होता है, यदि कोई बहिन या भाई अहंता-ममताका त्याग कर दे यानी 'मैं' और 'मेरा' ऐसा अभिमान न करे, तो समझना चाहिये कि उस बहिन या भाईके ऊपर ईश्वरकी बहुत ही कृपा है । सच कहा है—

कु०-'मैं' 'मेरा' संसार है, अन्य नहीं संसार ।
'मैं' 'मेरा' जाता रहे, बेड़ा है भव पार ॥
बेड़ा है भव पार, जहाँ ना दुःख जरा है ।
सुखसागर भरपूर, एक-सा नित्य भरा है ॥
जयदेवी ! तज मोह, देह भी नाहीं तेरा ।
क्यों करती अभिमान गेह मेरा, धन मेरा ॥

पूर्ण समर्पण

(गतांकसे आगे)

५–जबतक प्रभुपर पूर्ण विश्वास नहीं होता, जबतक उनकी अतुलनीय गुणावलिपर श्रद्धा नहीं होती, तबतक मनुष्य उनकी तुलनामें सबको नीचा समझकर केवल उन्हींको भजनेके लिये प्रयत्न नहीं कर सकता। विश्वास और श्रद्धा ही भगवत्-प्राप्तिके मार्गके प्रधान संबल हैं। इस पाथेयको साथ लिये बिना मनुष्य परमार्थके मार्गपर दो चार पैंड भी आगे नहीं बढ़ सकता। भगवान् ऐसी वस्तु नहीं हैं जो अपनी सिद्धिके लिये हम-सरीखे जन्तुओंसे प्रमाणपत्र लेनेकी इच्छा रक्खें। जिसकी सिद्धिसे हम सबकी सिद्धि है, जिसके प्रमाणसे हम सब प्रमाणित हैं, जिसके अस्तित्वसे हम सबका अस्तित्व है, उस प्रभुको हमारी सीमाबद्ध बुद्धिके प्रमाणोंसे सिद्ध करनेकी चेष्टा वातुलता और वाचालतामात्र है। जिन स्वाभाविक दैवी-सम्पदासम्पन्न सन्त आप्त पुरुषोंने प्रबल साधन करके भगवत्कृपासे भगवान्को जान लिया है, उनके वचनोंपर परम विश्वास करने और उनके बतलाये हुए मार्गपर चलनेसे ही परमात्माका साक्षात्कार हो सकता है। विश्वास ही सारे साधनोंकी जड़ है, लौकिक कार्योंमें भी जब श्रद्धा-विश्वास बिना कार्य सिद्ध नहीं होता,—सिद्ध होना तो दूर रहा, उसके करनेमें मन ही नहीं लगता, तब मानवीदृष्टिसे सर्वथा अदृष्ट परमात्माकी प्राप्ति और प्राप्तिके मार्गपर गति बिना श्रद्धा-विश्वासके कैसे हो सकती है। पहले यह ध्रुव विश्वास करना होगा कि परमात्मा हैं, फिर उन निर्गुणकी महान् गुणावलिपर इतना अधिक विश्वास करना होगा कि उनके समस्त सद्गुणोंका वर्णन तो हो ही नहीं सकता, सन्त और शास्त्र जो कुछ वर्णन करते हैं, सो तो समुद्रकी तुलनामें एक जलकणके बराबर भी नहीं है। उनकी दया, करुणा, शक्ति, प्रेम, ज्ञान आदि सभी अनन्त और अनिर्वचनीय हैं।

परमात्माके मिलनेमें देर नहीं है, जो कुछ देर है सो हमारे यथार्थ विश्वास करके उन्हें चाहने और पुकारनेमें ही है। परमात्माका विश्वासी भक्त और किसकी आशा करेगा? और किससे अपनी रक्षा या मनोरथकी पूर्ति चाहेगा? सर्वलोकमहेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वैश्वर्याधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वतोचक्षु, सर्वोपरि, सहजसुहृद्, करुणावरुणालय प्रभुको पाकर वह किसके सामने हाथ फैलायेगा? जबतक वह दूसरेको स्वामी मानता है, दूसरेसे सुखकी आशा करता है, दूसरेके सामने हाथ फैलाता है, तबतक उसे परमात्माके स्वरूप और गुणोंपर विश्वास ही नहीं है। रामचरितमानसमें महात्मा कागभुशुण्डिजीने कहा है—

> कवनिउ सिद्धि कि बिनु विश्वासा।
> बिनु हरिभजन न भवभय नासा॥
> बिनु विश्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
> राम-कृपा बिनु सपनेहु, जीव कि लहइ विश्राम॥
> असि विचारि मति धीर, तजि कुतर्क संशय सकल।
> भजहिं राम रघुवीर, करुनाकर सुन्दर सुखद॥

भगवान्के वचन हैं—

> मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहाँ विश्वासा॥

विश्वास होनेसे अनन्य भजन होता है और भजनसे भगवान्की कृपाका प्रसाद प्राप्त होता है जिससे यह आधार परमात्माका नित्यक्रीड़ानिकेतन बन जाता है। अनन्य विश्वासी भक्तके हृदयमें ही भगवान् बसते हैं। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

> जाति पाँति धन धरम बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
> सब तजि तुमहिं रहइ लव लाई। तेहिके हृदय बसो रघुराई॥

६–जो परमात्माको सर्वोपरि, सर्वज्ञानमय, सर्व-

शक्तिमान् और परमहितैषी मानकर उनके शरण होना चाहेगा उसके लिये परमात्माके अनुकूल आचरण करना अनिवार्य है। इस स्थूल संसारमें भी मनुष्य जिसको शक्ति, बुद्धि और सुहृदतामें अपनेसे बढ़कर मानकर जिसका सहारा ले लेता है, स्वाभाविक ही उसके अनुकूल आचरण करने लगता है, तब जो परमात्माके शरण है, वह परमात्माके प्रतिकूल आचरण कैसे कर सकता है? उससे स्वाभाविक ही प्रभुके अनुकूल कर्म होते हैं। जबतक अनुकूलाचरणका स्वभाव नहीं बन जाता, तबतक वह बड़ी सावधानीके साथ मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली प्रत्येक चेष्टा, संकल्प और भावको प्रभुकी प्रतिकूलतासे बचाकर अनुकूल बनानेका दृढ़ प्रयत्न करता रहता है। यह सावधानी ही साधना है। उसे प्रतिक्षण इस बातकी चिन्ता बनी रहती है कि मुझसे कोई भी चेष्टा स्वामीकी रुचिके प्रतिकूल न बन जाय। मेरा प्रत्येक श्वास स्वामीकी रुचिके अनुसार ही चले। जिस बातमें स्वामी प्रसन्न होते हैं, उसी बातमें वह परम प्रसन्न रहता है। जगत्के सुख-दुःख, हानि-लाभकी कुछ भी चिन्ता न कर वह प्रतिक्षण प्रभुकी आज्ञा और अनुकूलताका ध्यान रखता है। बड़ी-से-बड़ी विपत्तिमें भी वह धीर पुरुष स्वामीकी अनुकूलताके पथसे—धर्ममार्गसे विचलित नहीं होता। और जो प्रभुके अनुकूल आचरण करता है, उसीको प्रभु अपना परम प्यारा समझते हैं।

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानहिं जोई॥

अनुकूलताका संकल्प शरणागतिका प्रधान अंग माना गया है।

७—मनुष्यकी बुद्धि ममतारूपी रातमें सो रही है, इसीसे वह जगत्के पदार्थोंको अपना समझता है और उनकी रक्षा तथा प्राप्तिके लिये सदा प्रयत्न करता रहता है। संसारमें जो कुछ भी है सो सब परमात्माका ही है। वस्तुतः तो एक परमात्मा ही हैं, उनसे अभिन्न कुछ है ही नहीं। मनुष्यकी जड़-बुद्धि ही चिन्मय परमात्मामें जड़-जगत्का आरोप करती है। परन्तु कम-से-कम इतना तो मनुष्यको अपनी परमात्माभिमुखी स्थूल दृष्टिसे भी देखना ही चाहिये कि यहाँ जो कुछ भी है, सब परमात्माकी सम्पत्ति है। वही मायाधीश्वर सुनिपुण नटराज अपनी मायासे जगन्नाटकका अभिनय कर रहे हैं। हम सब मनुष्य उनके इङ्गितपर खेल करनेवाले पात्र हैं। उन सूत्रधारके इशारेपर नाचना ही हमारा काम है, इसीमें मनुष्यत्व है। जो मनुष्य अपनी पात्रताको भूलकर नाटकके स्वांगको और खेलको सत् और नित्य, एवं खेलकी सामग्रीको अपनी मान लेता है, वह बड़ी भूल करता है। नाटकके अभिनयमें स्वांग धारण किये हुए पात्रोंके स्वांगका सम्बन्ध स्टेजतक ही है। जबतक वे स्टेजपर रहते हैं तभीतक परस्पर स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, राजा-प्रजाका यथायोग्य अभिनय करते हैं, स्टेजसे हटकर पर्देके अन्दर जाते ही उनका सारा दिखाऊ सम्बन्ध मिट जाता है। यहाँतक कि उनकी पोशाकतक बदल दी जाती है या उतार देनी पड़ती है। इसी प्रकार इस जगन्नाटकमें भी हमारे सारे नाते तथा सारे खेल केवल मालिककी प्रसन्नताके लिये—उसके खेलको पूर्ण करनेके लिये हैं। इसीलिये स्वामीने हमें ये स्वांग देकर अपने-अपने स्वांगके अनुसार नियमित अभिनय करनेकी आज्ञा दी है। यदि हम इस खेलको और खेलकी सामग्रियोंको उनकी लीला और सम्पत्ति न मानकर अपनी मान लेते हैं तो वैसे ही मूर्ख और अपराधी सिद्ध होते हैं, जैसे नाटकका पुरुषपात्र नाटकके अभिनयमें बनी हुई स्त्रीको अपनी सगी पत्नी और नाटककी सामग्रियोंको अपनी सम्पत्ति मान लेनेपर होता है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह जगत्के समस्त पदार्थोंको परमात्माकी सम्पत्ति समझे। और सेवाके लिये

अपनेको मिले हुए समझकर बिना आसक्ति और फल-कामनाके केवल प्रभुकी लीला सम्पन्नकर—उन्हें प्रसन्न करनेके लिये उचित रीतिसे उन पदार्थोंकी—स्वजन, परिवार, गृह आदिकी सच्चे मनसे, बेगार न मानकर सेवा और सँभाल करे तथा आवश्यकतानुसार प्रभुकी आज्ञाके अनुकूल प्रभुकी उन चीजोंको प्रभुके ही कार्यमें समर्पण करता रहे ।

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'

—में भक्तका यही भाव दिखलाया गया है। इस-प्रकार जो नाट्य-निपुण विवेकी पुरुष है, वही मनुष्य है; शेष माया-मुग्ध दर्शकश्रेणीके पशु हैं जो बात-बातमें अनुकूलता और प्रतिकूलताका अनुभव कर हर्ष-शोकके प्रवाहमें ही निरन्तर बहा करते हैं । उनके हँसने-रोनेकी अज्ञानसम्भूत क्रिया कभी बन्द होती ही नहीं। दिन-रात उसीमें रचे-पचे रहना उनके जीवन-का स्वरूप होता है । ऐसे लोग परमात्माका यथार्थ भजन नहीं कर सकते । परन्तु जो लोग सब कुछ परमात्माका जानते हैं, वे लौकिक योगक्षेमकी परवा न कर निष्कामभावसे परमात्माका भजन किया करते हैं । वे परमात्मासे कभी कुछ माँगते ही नहीं । असलमें तो उस अवस्थामें माँगनेकी बुद्धि ही उदय नहीं हो सकती, क्योंकि वे सारे विश्वप्रपञ्चको भग-वान्‌की लीला समझकर अपनी पात्रतामें ही परम सुखी रहते हैं । उनकी दृष्टिमें परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु रह ही नहीं जाती । फिर परमात्माके इशारेपर नाचनेमें उन्हें जो दिव्य सुख मिलता है, उसकी तुलनामें जगत्‌का कोई पदार्थ रक्खा भी नहीं जा सकता । इसके अतिरिक्त यदि बचे-खुचे मोहवश कभी संसारके पदार्थ सत् भी प्रतीत होते हैं तो सर्वज्ञ परम दयालु भगवान्‌के शरणागत भक्त भगवान्‌से उनको माँगते नहीं। क्योंकि वे इस बातको जानते हैं कि भगवान् सर्वज्ञ हैं, तथा हमारे परम हितैषी हैं; हमारा यथार्थ हित कौन-सी बातमें है, इसको वे भलीभाँति जानते हैं । हम अदूरदर्शी हैं, निर्बोध बालकके साँप माँगनेकी भाँति हम अज्ञानवश परिणाममें महान् दुःखदायिनी आपातरमणीय वस्तुको माँग सकते हैं, परन्तु प्रभु हमारा सच्चा हित देखकर हमारे लिये जो वस्तु उप-योगी होगी, वह आप ही दे देंगे । वास्तवमें बात भी यही है । प्रभुसे माँगना तो ठगाना ही है । क्योंकि हम अपने हितकी उतनी दूरतककी कल्पना ही नहीं कर सकते, जितनी दूरतकका हमारा हित भगवान् समझते हैं । इसीलिये भक्तगण भगवान्‌की सेवा-भजन-को छोड़कर मोक्षतककी इच्छा नहीं करते । वे यदि कभी माँगते हैं तो भक्त प्रह्लादकी भाँति बस यही कि—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥

(श्रीमद्भा० ७ । १० । ७)

हे स्वामिन् ! हे वरदानियोंमें श्रेष्ठ ! यदि आप मुझे मनमाना वर देना ही चाहते हैं तो यही दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी कुछ माँगनेका अङ्कुर ही न पैदा हो। मैं यही वर माँगता हूँ । अथवा यह कि—

बार बार बर माँगौ, हरषि देहु श्री रङ्ग ।
पदसरोज अनपायिनी भगति सदा सत्सङ्ग ॥

८—ऐसे शरणागत भक्त भगवान्‌के प्रत्येक मङ्गल-मय विधानमें सतत सन्तुष्ट होते हैं । उनका यह दृढ़ निश्चय है कि भगवान् कभी अमङ्गल-विधान कर ही नहीं सकते, शिव कभी अशिव नहीं हो सकते । सद्वैद्यकी कड़वी दवा या डाक्टरद्वारा चीर-फाड़की भाँति उनका कठोर-से-कठोर भी प्रत्येक कार्य जीवके कल्याणार्थ ही हुआ करता है । वैद्य या डाक्टर तो हितैषी होनेपर भी भूल कर सकते हैं, परन्तु सर्वज्ञ भगवान्‌से कभी भूल नहीं होती । वैद्य-डाक्टरोंके पास ऐसे जहर भी रहते हैं जिनके प्रयोगसे आदमी मर सकता है, परन्तु भगवान्‌के अमृत-भण्डारमें जहर है

ही नहीं। उनके किसी भी प्रयोगसे किसीका परिणाममें अनिष्ट हो ही नहीं सकता। लौकिक जहर भी यदि उनके स्पर्श हो जाता है तो वह भी 'मीराके जहरके प्याले' की भाँति अमृत बन जाता है। अवश्य ही उनकी कृपाका स्वरूप कभी बड़े मधुर, कोमल, मृदुरूपमें प्रकट होता है, तो कभी भयानकरूपमें। यह भयानकता और मधुरता भी हमें अपने भावके अनुसार ही दीखती है वस्तुतः भगवत्कृपा सदा ही कोमल और मधुर है। विश्वासी शरणागत भक्त सुदर्शन हाथमें लिये मारनेको प्रस्तुत भगवान्‌की भयावनी मूर्तिमें भी उनकी कोमलता और मधुरताके दर्शन पाकर उनका स्वागत करते हैं। हाथमें चक्र लेकर मारनेको सामने आते हुए कालरूप भगवान्‌को देखकर भक्तवर भीष्मजी कहते हैं—

एह्येहि पुण्डरीकाक्ष ! देवदेव नमोऽस्तु ते।
मामद्य सात्वतश्रेष्ठ ! पातयस्व महाहवे॥
त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममाऽनघ।
श्रेय एव परं कृष्ण ! लोके भवति सर्वतः॥
संभावितोऽस्मि गोविन्द ! त्रैलोक्येनाद्य संयुगे।
प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ॥

'आओ, आओ ! हे पुण्डरीकाक्ष ! आओ ! हे देवदेव ! तुम्हें नमस्कार है। हे सात्वतश्रेष्ठ ! आज इस महायुद्धमें मेरा बध करो ! हे परमात्मन् ! हे कृष्ण ! हे गोविन्द ! तुम्हारे हाथसे मरनेपर मेरा कल्याण हो जायगा। मैं आज त्रैलोक्यमें सम्मानित हो गया। हे निष्पाप ! मुझपर मनचाहा प्रहार करो। मैं तुम्हारा दास हूँ।'

भगवान्‌के इस भक्तवत्सल परमप्रिय कालरूपको भीष्मजी जीवनमें नहीं भूले। प्राण छोड़ते समय भी उन्होंने इसी रूपमें दर्शन देनेकी प्रार्थना की। भक्त सूरदासने भीष्मके भावका बर्णन यों किया है—

वा पटपीतकी फहरान।
कर धरि चक्र चरनकी धावनि, नहिं बिसरति वह बान॥
रथतें उतरि अवनि आतुर ह्वै, कच-रजकी लपटान।
मानों सिंह सैलतें निकस्यौ, महामत्त गज जान॥
जिन गुपाल मेरो पन राख्यो, मेंटि बेदकी कान।
सोई सूर सहाय हमारे, निकट भये हैं आन॥

भगवान्‌के विधानको बदलनेमें असमर्थ और निरुपाय होनेके कारण सन्तुष्ट रहना दूसरी बात है और उसमें पहले प्रतिकूल रहनेपर भी, भगवान्‌का दिया हुआ दान समझकर उसमें सहज अनुकूलताका अनुभव करके परम सन्तुष्ट होना दूसरी बात है। भक्त वास्तवमें निरुपाय होनेके कारण मन मारकर सन्तुष्ट नहीं रहता, बल्कि प्रत्येक प्रतिकूल-से-प्रतिकूल विधानमें मङ्गलरूप भगवान्‌का मङ्गलमय हाथ देखकर अनुकूलताका प्रत्यक्ष अनुभव करता हुआ परम प्रसन्न होता है। उसे उसमें वस्तुतः अतिशय आनन्द मिलता है। वह प्रभुकी रङ्ग-विरङ्गी आकृति और लीलाओंको देख-देखकर पद-पदपर प्रमुदित होता है। यह भी शरणागतिका एक प्रधान साधन है।

९—भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

हे अर्जुन ! इस समस्त जगत्‌का धारण करनेवाला और कर्मफलोंको देनेवाला, पिता, माता, पितामह, जाननेयोग्य पवित्र ओंकार-तत्त्व, ऋक्, साम और यजुर्वेद, सबकी परम और चरम गति, सबका भरण-पोषण करनेवाला, सबका एकमात्र स्वामी, सबके समस्त शुभाशुभका द्रष्टा, सबका मूल निवासस्थान, सबका शरण्य, सबका सुहृद्, सबको अपनेसे उत्पन्न और अपनेमें लीन करनेवाला, सबका आधार, सबके सूक्ष्म शरीरोंका निधान और अव्यय-बीज (कारण) मैं ही हूँ।

जो भगवान्‌को इसप्रकार जान लेता है, वह भगवान्‌का ही भजन (नाम-गुण-श्रवण, कीर्तन, स्मरण)

करता है। और पद-पदपर भगवान्‌के इन स्वरूपोंका अनुभव करता हुआ विलक्षण आनन्द प्राप्त करता है। ऐसे भक्तका हृदय भगवान्‌का निवासस्थान बन जाता है। महर्षि वाल्मीकिने भगवान् श्रीरामसे यही बात कही थी—

स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिन्हके सब तुम तात।
मनमन्दिर तिनके बसहु, सीयसहित दोउ भ्रात॥

भक्त एक ओर भगवान्‌में इन सब सम्बन्धोंको स्थापित करता है, दूसरी ओर इन सम्बन्धोंमेंसे, जिन सम्बन्धोंके सम्बन्धी उसके होते हैं, उनमें भगवान्‌का स्वरूप देखता है। इसप्रकार दोनों ओरसे भगवान्‌में ही मन रमाता हुआ कभी उन्हें पिता समझकर अपनेको उनकी गोदमें देखता है, कभी स्नेहमयी जननी जानकर उनका मधुर स्तन पान करता है, कभी स्वामी समझकर उनकी सेवामें लग जाता है, कभी परम गुरु समझकर उनका सेवापरायण शिष्य बन जाता है, कभी सखा समझकर उनके साथ निःशङ्क खेलता है, कभी पति मानकर पत्नीभावसे अपना तन, मन उनके अर्पणकर उनके नाम-गोत्रको ग्रहण कर लेता है, कभी पुत्र समझकर वत्सल-भावसे उनके लालन-पालनकी लीला करता है और कभी उन्हें परम धन समझकर प्राणपणसे हृदयमें रक्षा करता है। इसप्रकार उसका मन नित्य-निरन्तर श्रीपरमात्मामें ही लगा रहता है। वह उन्हींके पवित्र नामका उच्चारण करता है, उन्हींके गुण-नामका गान करता है, उन्हींका गुण-श्रवण करता है, उन्हींके ध्यानमें रहता है और पल-पलमें उन प्रभुकी दया और प्रेमका प्रत्यक्ष अनुभवकर उन्मत्तकी भाँति प्रभुकी महिमामें मग्न हुआ नाचता है। श्रीमद्भागवतमें ऐसे भगवत्-सर्वस्व प्रेमी भक्तका गुण वर्णन करते हुए श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
यथाग्निना हेममलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते स्वरूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥

जिसकी वाणी गद्गद् हो जाती है, चित्त प्रेमसे पिघल जाता है, जो (मेरा) स्मरण करके कभी जोर-जोरसे रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोड़कर ऊँचे स्वरसे गुणगान करने लगता है और कभी नाच उठता है। ऐसा मेरा परम भक्त तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है। जैसे अग्निसे तपाये जानेपर सुवर्ण मैलको त्यागकर अपने निर्मल स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार मेरे (प्रेमयुक्त भजन-कीर्तनरूप) भक्तियोगके द्वारा आत्मा भी कर्मजालसे छूटकर अपने स्वरूप मुझ परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

१०—यों तो जगत्‌की प्रवृत्तिमात्र ही भगवान्‌की सत्ता-स्फूर्तिसे होती है। प्रत्येक स्फुरणा और क्रियाके मूल-सूत्र वे ही हैं परन्तु यह सिद्धान्त समझमें आना बहुत कठिन है। कहीं-कहीं तो इस सिद्धान्तका मर्म न समझनेके कारण सभी शुभाशुभ कर्मोंमें भगवान्‌को प्रत्यक्ष सञ्चालक और प्रेरक मानकर और अपनी जिम्मेवारी भूलकर मनुष्य पाप-कर्मोंमें लग जाते हैं। इसीलिये सन्त पुरुषोंने केवल शुभ कर्मोंमें भगवान्‌को सञ्चालक और प्रेरक माना है। और यह सिद्धान्त युक्तियुक्त होनेके साथ ही सर्वथा निरापद भी है। मनुष्यके हृदयमें आत्माकी जो प्रेरणा होती है, वह स्वाभाविक ही शुभ होती है। जिनके आचरण बुरे होते हैं, उनके अन्दरसे भी आत्माकी आवाज़ बुरे आचरणोंके विरुद्ध और सत्कर्मोंके लिये प्रेरक आती है। परन्तु कुसंगति तथा आसक्तिवश मनुष्य उस आत्मध्वनिकी अवहेलना कर कुकर्म कर बैठता है। इससे

यह सिद्ध होता है कि मनुष्यके अन्दर आत्मा—क्षेत्रज्ञ-रूपसे विराजमान प्रभु सदा ही शुभ प्रेरणा करते रहते हैं। जो लोग सत्-संगके प्रभावसे परमात्माकी कृपाका विशेष अनुभव करते हैं, वे प्रेरणाके साथ शुभ ही कर्मोंमें प्रभुका सञ्चालन भी देख पाते हैं। प्रभु ही उनके हृदयमें शुभ कर्मकी प्रेरणा करते हैं और प्रभु ही अपनी शक्तिसे उसका सञ्चालन भी करते हैं। भक्त साधकके हृदयमें यह बात प्रत्यक्ष-सी भासती है। वह इसका अनुभव करता है और बार-बार कृतज्ञ हृदयसे प्रभुको धन्यवाद देता है। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसू। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसू॥
रामभगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥

अतएव मनुष्यको यह निश्चय करना चाहिये कि मेरेद्वारा जो कुछ भी शुभ कर्म होते हैं, वे सब भगवान्‌की कृपासे उनकी प्रेरणा तथा सञ्चालनमें ही होते हैं।

११—जो कार्य प्रभुके प्रतिकूल है, उसे प्रभुका शरणागत भक्त कभी नहीं कर सकता। इसी प्रकार जो वस्तु प्रभुके प्रतिकूल है, वह भी उस भक्तको प्रतिकूल ही भासती है। यही नाता भक्तसे भगवान्‌का है। भगवान्‌ने महाभारतमें यह स्पष्ट कहा है कि जो पाण्डवोंके मित्र हैं वे मेरे मित्र हैं और जो उनके शत्रु हैं, वे मेरे शत्रु हैं। अपने प्रियतमके मनसे प्रतिकूल कार्य प्रेमी कैसे कर सकता है? और कैसे वह उस वस्तुसे ही प्रेम कर सकता है जो प्रियतमको दुःख देनेवाली होती है। सच्चा प्रेमी अपने प्रियतमके प्रतिकूल किसी वस्तुविशेषकी तो बात ही क्या है, जीवनकी भी बलि चढ़ा देता है। हमारे लिये जीवन बहुत ही मूल्यवान् और प्रिय पदार्थ है परन्तु यदि प्रियतमकी प्रसन्नता हमारे इस जीवनकी बलि लगनेमें ही है तो इस अवस्थामें क्या हम प्रियतमके मनके प्रतिकूल जिन्दा रहना चाहेंगे? अपने प्रियतमकी रुचिपर जीवन और जीवनके सारे सुखोंको न्योछावर कर देना तो सच्चे प्रेमियोंका स्वभाव ही होता है। ऐसे असंख्य प्रेमी हो गये हैं जिन्होंने अपने प्रियतमके प्रतिकूल समझकर, जीवनको सुख देनेवाले समस्त भोगोंका तृणवत् नहीं, विषवत् त्याग कर दिया है। धन-मान परिवार किसको अच्छे नहीं लगते? परन्तु उनमें जब प्रेमीको प्रियतमके प्रतिकूलताकी गन्ध आने लगती है तो फिर वे सब उसे सुहाते नहीं। इसीसे स्त्री-पुत्र, धन-धान्य और स्वजन-परिवारसे भरे हुए घरको छोड़कर प्रेमी लोग फकीरीका बाना धारण कर लेते हैं। तरुणी पत्नी, इकलौते बच्चे और धन-सम्पत्तिसे पूर्ण राज्यको छोड़कर बुद्धदेव भिक्षु बन गये। महाप्रभु चैतन्यदेव माता और पत्नीके स्नेह-बन्धनको तोड़कर फकीरीका बाना धारण करनेके लिये माघके जाड़ेमें सूर्योदयसे पहले ही गंगामें कूदकर उस पार जा पहुँचे। क्या ये सब पागल थे? अवश्य ही जिनके हृदयमें प्रियतम परमात्माका स्थान विषयने ग्रहण कर रक्खा है, उनकी दृष्टिमें पागल ही थे। परन्तु वस्तुतः वे ही सच्चे सयाने थे, वे इस बातको जान गये थे कि इस संसारके प्रपञ्चमें पड़े रहना उस प्रियतमके प्रतिकूल है, इसीसे वे सब कुछ छोड़-छाड़कर संन्यासी हो गये। इधर प्रभु नित्यानन्दजी महाप्रभु चैतन्यदेवके मनके प्रतिकूल होनेके कारण चिरकालके संन्यास-धर्मको त्यागकर पुनः गृहस्थी बन गये! भक्त भीलकुमार एकलव्यने गुरु द्रोणके मनके प्रतिकूल होनेके कारण प्रसन्नताके साथ अपने दाहिने हाथका अंगूठा काटकर दे दिया था।

सारांश यह कि प्रभु या प्रियतमके प्रतिकूल कार्य करना या प्रतिकूल वस्तुमें प्रेम रखना सेवक या प्रेमीके लिये असम्भव है। इसीलिये भक्तगण भगवान्‌के प्रतिकूल कोई कार्य भूलकर भी नहीं करते।

१२—शरणागतिके यथार्थ रहस्यका उद्घाटन भगवान्‌

के शरण-प्राप्त सन्त ही कर सकते हैं, इसीलिये सत्सङ्गकी इतनी महिमा है । सच्चे सन्तोंका क्षणभरका सङ्ग भी बहुत अधिक लाभदायी हुआ करता है । सभी शास्त्रों और अनुभवी पुरुषोंने तथा स्वयं भगवान्ने भी सत्सङ्गकी बड़ी महिमा गायी है । यथार्थमें है भी यह सची बात । सत्सङ्गके बिना भगवान्का महत्व नहीं जाना जाता, महत्व जाने बिना उनकी शरणके साधन नहीं होते । शरणागति बिना जीवका उद्धार सहजमें नहीं होता । परमार्थके साधनमें तो श्रद्धाके बाद दूसरा नम्बर सत्सङ्गका ही है परन्तु सच्ची श्रद्धा भी सत्सङ्गसे ही प्राप्त होती है । सत्सङ्गमें दो बातें खास ध्यान देनेकी हैं । १-जिनका सङ्ग किया जाय वे सच्चे सन्त पुरुष हों । और २—आचरणमें लानेके लिये तत्त्व जाननेकी सच्ची जिज्ञासाके साथ निष्कपट भावसे श्रद्धापूर्वक उनका सङ्ग किया जाय । इन दोनोंमेंसे किसी एकका अभाव होनेसे शीघ्र यथार्थ लाभ नहीं होता । यद्यपि इस जमानेमें भगवान् श्रीकृष्ण-सरीखे उपदेशक गुरु और भक्त अर्जुन-उद्धव-सरीखे जिज्ञासु शरणागत शिष्य मिलने असम्भव हैं, तथापि जहाँतक सम्भव हो, तत्त्वज्ञानी, शक्तिसम्पन्न, सच्चे सद्गुरुकी खोज की जाय और सच्चे अधिकारी पात्रको ही तत्त्वका उपदेश किया जाय, तो बड़ा लाभ हो सकता है । साधारणतः सन्तके लक्षण बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । ११ । २९—३१)

जो सब जीवोंपर कृपा करता है, किसीसे भी द्रोह नहीं करता, जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें तितिक्षु है, सत्यव्रती है, शुद्ध-चित्त है, समदर्शी है, सबका उपकार करनेवाला है, जिसकी बुद्धि कामनाओंसे घिरी हुई नहीं है, जो जितेन्द्रिय है, कोमल-हृदय है, बाहर और भीतरसे पवित्र है, जो सर्वस्व परमात्माके अर्पण करके अकिञ्चन हो चुका है, निरपेक्ष है, मिताहारी है, शान्तचित्त है, मुझ परमात्मामें स्थिर-बुद्धि है, मेरी एकमात्र शरणको प्राप्त है, नित्य मेरे मननमें लगा रहता है, मेरी भक्तिमें कभी प्रमाद नहीं करता, गम्भीर-हृदय है, बड़ी-से-बड़ी विपत्तिमें भी जिसका धैर्य नहीं छूटता, जिसने (भूख-प्यास, सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु इन प्राण, बुद्धि और देहके) छः गुणोंको जीत लिया है, जो स्वयं सर्वथा मानरहित है, दूसरोंको मान देता है, चतुर है, सबका मित्र है, दीनोंपर दया करनेवाला है और परमात्माके तत्त्वका ज्ञाता कवि है ।

ऐसे सन्तोंके सङ्गसे अवश्य ही लाभ होता है परन्तु शीघ्र सच्चा लाभ उन्हींको होता है, जो निष्कपट-हृदयसे लाभकी इच्छासे सत्सङ्ग करते और तदनुकूल आचरण करते हैं, और जैसे वर्षाका जल यथास्थान ग्रहण करनेके लिये किसान खेतको भली-भाँति तैयार रखता है, वैसे ही हृदयरूपी खेतको सन्तवचनरूपी अमृत-धाराके ग्रहण करनेके लिये शुद्ध करके तैयार रखते हैं । ग्राहक-भाव-शून्य विकारी और पूर्ण विश्वासरहित हृदयमें शक्तिका सञ्चार सहजमें नहीं होता । गुरु चाहता भी है और शक्तिका प्रयोग भी करता है, परन्तु यदि शिष्यका हृदय उसे ग्रहण नहीं करता तो वह शक्ति बार-बार वहाँसे प्रतिहत होकर लौट आती है । आधारकी योग्यतासे ही शक्तिका ग्रहण हो सकता है । इसीलिये गुरुमें श्रद्धा करके उसकी सेवामें लगे रहनेकी विधि है । परीक्षाके लिये, कौतूहल-निवृत्तिके लिये या मनोरञ्जनके लिये जो लोग सत्सङ्ग करते हैं, उन्हें

बहुत ही कम लाभ होता है। सद्गुरुकी परीक्षा साधारण मनुष्य अपनी विद्या-बुद्धि या योग्यतासे कदापि नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी विद्या-बुद्धि और योग्यता गुरुके गुणों तथा शक्तियोंकी छायाको भी छूनेकी योग्यता नहीं रखती। ऐसी हालतमें श्रद्धायुक्त सच्ची जिज्ञासा ही लाभदायक होती है। जो पुरुष गुरुमें दोष देखा करते हैं या उनके कार्योंको अपनी कसौटीपर कसकर उनके अच्छे-बुरे होनेकी मीमांसा किया करते हैं, वे प्रायः कोरे ही रह जाते हैं। यद्यपि आजकल ऐसे महात्मा पुरुषोंका मिलना बहुत ही कठिन है, परन्तु असम्भव नहीं है। भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेपर भगवान् स्वयं सच्चे जिज्ञासुके लिये ऐसे सद्गुरुकी व्यवस्था कर देते हैं जो शिष्यके समस्त अज्ञानको हरनेमें समर्थ होता है।

१३—जो मनुष्य अपनेको प्रभुका दास मानता है अर्थात् जो दास्यरतिसे प्रभुके चरणोंमें आत्म-समर्पणकर प्रभुका बन जाता है, प्रभु उसपर बड़ी भारी कृपा करते हैं। श्रीहनूमान्‌जी, श्रीभरतजी प्रभृति महान् भक्त इस दास्यरतिके ही परम उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसीलिये श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

अस अभिमान जाइ नहिं भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

इस साधनमें साधकको भ्रमवश गिरनेका भय नहीं है। वह स्वामीके असीम बलसे सदा सुरक्षित और बलवान् रहता है। स्वामीके भयसे पाप-ताप उसके समीप नहीं आ सकते। काम-क्रोधादि चोर-डाकू उसका पीछा नहीं कर सकते। सरकारका छोटा-सा नौकर भी जैसे सरकार समझा जाता है, उसके अपमानसे सरकारका अपमान, उसके तिरस्कारसे सरकारका तिरस्कार, उसके कार्यमें हस्तक्षेप करनेसे सरकारी कार्यमें हस्तक्षेप करना माना जाता है, तथा उसके कार्योंकी जिम्मेवारी सरकारपर रहती है, इसी प्रकार भगवान्‌के सेवक भक्तका अपमान या तिरस्कार भगवान्‌का अपमान या तिरस्कार माना जाता है। अतएव कोई भी पाप-ताप आदि भगवान्‌के भयसे उसको नहीं सता सकते। उसके कार्यकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर रहती है, क्योंकि वह बिना किसी वेतन या पुरस्कारके सङ्कल्पके दिन-रात तन-मनसे प्रभुकी सेवामें लगा रहनेके कारण उन्हींका स्वरूप या खास प्रतिनिधि-सा बन जाता है। '*मालिकको गोत गोत होत है गुलामको।*' गुसाईंजी महाराजका यह कथन देवर्षि नारदजीके इस सूत्रसे भी समर्थित होता है—

'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'

अर्थात् भगवान्‌में और उनके सेवकमें भेदका अभाव होता है। दोनों एक रूप ही हो जाते हैं। यह स्थिति उसी सेवककी हो सकती है, जो सेवाके लिये ही सेवा करता है, सेवाके बदलेमें देनेपर भी कुछ नहीं लेता, सेवाको छोड़कर मोक्ष भी नहीं चाहता। सेवामें ही उसे परम आनन्द मिलता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् स्वयं अपने ऐसे सेवककी स्थिति बतलाते हैं—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
(श्रीमद्भा० ३। २९। १३)

वे सेवक मेरी सेवाको छोड़कर मेरी दी हुई सालोक्य (भगवान्‌के लोकमें वास), सार्ष्टि (भगवान्‌के समान ऐश्वर्य-प्राप्ति), सामीप्य (भगवान्‌के समीप रहना), सारूप्य (भगवान्‌के समान स्वरूप प्राप्त होना) और सायुज्य (ब्रह्ममें आत्माका मिल जाना) इन पाँचों प्रकारकी मुक्तिको भी ग्रहण नहीं करते।

भगवान्‌ने जब प्रह्लादजीसे वर माँगनेको कहा तो उन्होंने जवाब दिया—'हे स्वामिन्! मालूम होता है आप चाकरकी परीक्षाके लिये ही इन कामनाओंकी ओर मुझे प्रेरणा कर रहे हैं जो कामनाएँ संसारकी बीज और हृदयकी ग्रन्थिरूप हैं। नहीं तो हे जगद्-

गुरो ! आप करुणामय, अपने भक्तोंको अनर्थरूप विषयोंकी ओर प्रवृत्त नहीं कर सकते । प्रभो ! जो मनुष्य आपके दर्शन पाकर आपसे सांसारिक सुख चाहता है, वह तो सेवक नहीं, लेन-देन करनेवाला बनिया है । स्वामीसे जो पुरुष सेवाके बदलेमें लाभकी आशा करता है वह सेवक नहीं है । और जो अपने प्रभुत्वकी इच्छासे सेवकका भला करता है वह प्रभु नहीं है । मैं आपका बिना मोलका चाकर हूँ और आप मेरे अभिसन्धिशून्य दयालु स्वामी हैं । अतएव दूसरे साधारण मालिक और नौकरोंकी तरह मुझको और आपको किसी भी अभिसन्धिका प्रयोजन नहीं है ।' उन निष्काम सेवकोंकी यह स्थिति होती है । वे लेनेकी तो बात भी नहीं सुनना चाहते परन्तु सेवा करनेमें एक क्षणके लिये भी विराम नहीं लेते । आलस्य और प्रमाद छोड़कर सदा स्वामीकी सच्ची और अनुकूल सेवामें लगे रहना ही उनका सहज स्वभाव होता है । भगवान् कहते हैं, मैं ऐसे सेवकका ऋणी बन जाता हूँ । बदलेमें मोक्ष ले ले, तब भी किसी तरह ऋण उतर जाता है, पर जो कुछ लेता ही नहीं, और सेवा भी छोड़ता नहीं, उसका ऋण कैसे उतरे ? भगवान् श्रीरामने हनूमान्‌जीसे कहा—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर-नर-मुनि तनुधारी
प्रतिउपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा ॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

भगवान्‌के सच्चे दासकी क्या चाह रहती है, इस विषयपर, मरते हुए भक्तराज दैत्यपति वृत्रासुरके उद्गार पढ़िये—

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः ॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥
(श्रीमद्भा० ६ । ११ । २४-२६)

हे हरे ! मैं मरकर भी फिर आपके दोनों चरण ही जिनके आश्रय हैं उनके दासोंका दास ही होऊँ । हे प्राणनाथ ! मेरा मन आपके गुणोंके स्मरणमें, वाणी गुण-कीर्तनमें और शरीर आपकी सेवामें ही लगा रहे । हे सर्वसौभाग्यनिधि ! मैं आपके दासत्वको छोड़कर स्वर्गका राज्य, ब्रह्माका पद, सार्वभौमराज्य, पातालका राज्य, योगसिद्धि, यहाँतक कि अपुनर्भव-मोक्ष भी नहीं चाहता । जैसे पक्षियोंके बिना पाँखके बच्चे भूखसे व्याकुल हो माताके आनेकी बाट देखा करते हैं, जैसे रस्सीमें बँधे छोटे भूखे बछड़े गौका दूध पीनेके लिये छटपटाया करते हैं और जैसे कामपीड़िता स्त्री परदेश गये हुए पतिको पानेके लिये व्याकुल होती है । हे कमलनयन ! वैसे ही मेरा मन आपके दर्शनकी अभिलाषा करता है ।

सेव्य-सेवक-भावके आचार्य गोसाईं तुलसीदासजी महाराज अपनी मनोकामना प्रकट करते हैं—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं ।
और आस बिस्वास भरोसो, हरौ जीव-जड़ताई ॥
चहौं न सुगति, सुमति, सम्पति कछु, रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई
हेतुरहित अनुराग रामपद बढ़ै अनुदिन अधिकाई ॥
कुटिल करम लै जाइ मोहि जहँ, जहँ अपनी बरिआई ।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़िये, कमठ अण्डकी नाँई ॥
या जगमें जहँलगि या तनुकी, प्रीति प्रतीति सगाई ।
ते सब तुलसिदास प्रभुहीसों, होहिं सिमिटि इक ठाँई ॥

भक्तकवि कुलशेखर कहते हैं—

नास्था धर्मे न वसुनिचये नव कामोपभोगे
यद् यद् भाव्यं भवतु भगवन्! पूर्वकर्मानुरूपम् ।

एतत् प्राथ्र्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु ॥

१४–मनुष्यके द्वारा जितने पाप होते हैं, उनमें आसक्ति ही प्रधान कारण है । यद्यपि सञ्चित और प्रारब्धके कारण पापकी स्फुरणाएँ मनमें हो सकती हैं, परन्तु आसक्ति न होनेसे अथवा महान् सत्संगके प्रभावसे वे स्फुरणाएँ क्रियारूपमें परिणत नहीं हो सकतीं । भगवान्से अर्जुनने पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ॥
(गीता ३ । ३६)

हे भगवन् ! पाप करनेकी इच्छा न रहनेपर भी यह मनुष्य, मानो कोई बलात्कारसे उसे पाप करनेके लिये बाध्य करता है, ऐसे बाध्य होकर किसकी प्रेरणासे पाप करता है ?

भगवान्ने उसी क्षण स्पष्ट कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(गीता ३ । ३७)

'(आसक्तिरूप) रजोगुणसे उत्पन्न काम ही क्रोध है, यही महाअशन (अग्निकी भाँति भोगोंसे कभी तृप्त न होनेवाला) पापी शत्रु है, (जिसकी प्रेरणासे मनुष्य पाप करता है ।) हे अर्जुन ! तुम इसीको बैरी समझो ।'

'जैसे धुएँसे अग्नि, मलसे दर्पण और जेरसे गर्भ ढका जाता है, वैसे ही यह काम ज्ञानको ढक लेता है । यह ज्ञानका नित्यवैरी काम इन्द्रियों, मन और बुद्धिमें रहता है और उन्हींके द्वारा ज्ञानको ढककर जीवको मोहमें डालकर पाप करवाता है; इसलिये सबसे पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान-विज्ञानके नाशक पापी कामका वध करो । यह न समझो कि इन्द्रियाँ तुमसे बलवान् हैं । इन्द्रियाँ बलवान् हैं; परन्तु इनसे बलवान् मन है और मनसे श्रेष्ठ बुद्धि है एवं तुम आत्मा तो बुद्धिसे भी अति श्रेष्ठ हो । तुम्हारा बल अप्रतिम है । इसप्रकार अपनेको बुद्धिकी अपेक्षा श्रेष्ठ और बलवान् जानकर बुद्धिके द्वारा मन और इन्द्रियोंको वश करके हे महाबाहो ! इस दुर्जय कामरूपी शत्रुको मार डालो ।'

दयामय भगवान्के इस उपदेशसे यह सिद्ध हो गया कि पाप होनेमें आसक्तिसे उत्पन्न काम ही प्रधान कारण है और इसका नाश मनुष्य चाहे तो कर सकता है । नहीं करता तो, वह आसक्तिके वश होकर अपने कर्तव्यको भूल रहा है । इसीसे पापका कर्ता और उसके फलका भोक्ता मनुष्य माना जाता है । जो मनुष्य इस सिद्धान्तको न समझकर पापमें प्रभुको प्रेरक मानकर पापकी जिम्मेवारी भगवान्पर मँढ़ना चाहते हैं, वे अभक्त और मूढ़-धी हैं । भक्तको तो ऐसा ही मानना चाहिये कि मुझसे जो कुछ भी पाप-कर्म बनते हैं, उनका कर्त्ता मैं हूँ । और भगवान्से बलकी प्रार्थना करके भगवत्कृपा प्राप्त करके पापोंसे छूटना चाहिये ।

१५–भगवान्की सच्ची प्रार्थनामें बड़ा बल है। प्रार्थना दो तरहकी होती हैं । एक भगवान्के गुणोंका निष्काम गान और दूसरी कष्ट-निवारणार्थ या शक्ति प्राप्त करनेके लिये आर्त्त-करुण-क्रन्दन । इनमें पहलीको स्तुति कहते हैं और दूसरीको प्रार्थना । दोनों भावोंका मिश्रण भी कहीं-कहीं हो जाता है । प्रार्थना सच्ची होनी चाहिये, फिर उसका फल तत्काल होता है । भगवान् सबकी सच्ची पुकार सुनते हैं । अपनी साधारण भाषामें सच्ची आर्तिके साथ भगवान्की प्रार्थना करनेसे जैसे माता बच्चेका करुण क्रन्दन सुनकर सारे काम छोड़ उसके हितार्थ दौड़ी आती है, इसी प्रकार भगवान् भी दौड़े आते हैं । प्रार्थनामें प्रधान बातें दो होनी चाहिये—भगवान्पर पूरा भरोसा

और अपनेमें यथार्थ आर्तता । जहाँ ये दोनों बातें होती हैं, वहाँ प्रार्थनामें हाथोंहाथ सफलता मिलती है। यह अनुभूत सत्य है । पापसे बचनेके लिये, पाप-नाशके लिये, किसी कामनाके लिये, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये, शरणके साधन बननेके लिये, शरण-प्राप्तिके लिये, आत्म-शक्तिकी प्राप्ति और विकासके लिये या अन्य किसी भी सद् हेतुसे प्रार्थना की जा सकती है। दूसरेके अनिष्ट या पाप-कर्ममें सफलता पानेके लिये कभी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये। सकाम भावसे भी बचता रहे तो अति उत्तम है। परन्तु यदि नहीं रहा जाय तो सकाम प्रार्थना भी करे। भगवान्‌में प्रयुक्त होनेवाला सकाम भाव भी भगवत्कृपासे अन्तमें प्रेमके रूपमें परिणत हो जाता है और भगवत्प्राप्तिका कारण बनता है। भगवान्‌ने श्रीगीतामें कहा है। मुझको कोई कैसे भी भजे अन्तमें मुझको ही पाता है। *'मद्भक्ता यान्ति मामपि'* यही भगवद्भजनकी विशेषता है।

श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

जग जाँचिय कोउ न जाँचिय तो
जिय जाँचिय जानकि-जानहि रे।
जेहि जाँचत जाँचकता जरि जाय
जो जारत जोर जहानहि रे॥
गति देखु बिचारि बिभीषणकी
अरु आनि हिये हनुमानहि रे।
तुलसी भजु दारिद-दोष-दवानल
संकट कोटि कृपानहि रे॥

(कवितावली)

अतएव प्रभु-प्रार्थनामें विश्वास रखकर प्रार्थना करनी चाहिये।

इसप्रकार शरणागतिके पन्द्रह साधनोंका यह संक्षिप्त वर्णन है। विशेष बातें सुयोग्य और विज्ञ गुरु-से जानकर तदनुकूल आचरण करने चाहिये। ज्यों-ज्यों आधार शुद्ध होकर समर्पणके योग्य होगा, त्यों-ही-त्यों अशान्ति, विषाद, शोक, अहंता और ममता आदि नाश होते दिखायी देंगे। प्रत्येक स्थितिमें प्रभुके मंगलमय विधानका प्रत्यक्ष अनुभव होनेसे चित्त सदा प्रफुल्लित रहने लगेगा। धीरे-धीरे प्रत्येक कार्यमें भी प्रभुकी प्रेरणा भासने लगेगी, तदनन्तर सञ्चालनमें भी प्रभुका हाथ दिखलायी देगा। इसके बाद प्रत्यक्ष यह प्रतीत होगा कि मानो भागवती शक्ति स्वयं इस आधारमें अवतीर्ण होकर अपना काम करने लगी है। बस, इस स्थितिके अनन्तर ही प्रभु इस आधारपर पूर्ण अधिकार जमा लेंगे। सब कुछ स्वयमेव समर्पण हो जायगा। यही दिव्य जीवन है। ऐसे भगवान्‌के क्रीड़ाकेन्द्र पुरुषके कर्म ही दिव्य-कर्म हैं। उसीकी वाणी शास्त्र है। वह तो तर ही गया, पर वह उन सबको भी तार सकता है जो किसी प्रकारसे भी उसके सम्बन्धमें आकर उसके हृदयका स्पर्श पा जाते हैं। उसका जन्म, जीवन, कर्म, आचार सर्वथा धन्य है! उसके निवाससे भूमि पवित्र और धन्य होती है। उसके स्नानसे तीर्थ तीर्थ बन जाते हैं। उसके गुण-गानसे वाणी पवित्र होती है। उसके जन्मसे कुल और देश कृतार्थ हो जाते हैं। उसके आदर्श जीवनकी लीलाओंसे पीढ़ियोंको प्रकाश मिलता है और उस प्रकाशके सहारे शताब्दियों और युगोंतक लोग जगत्‌के अन्धकारमय गहन वनसे निकलकर नित्यनिकेतन प्रभुके धाममें पहुँचकर सुखी हो सकते हैं।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

ब्रह्मवेत्ताको शास्त्रकी व्यर्थता ।

जैसे स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा विद्वान्‌के लिये शास्त्र व्यर्थ है इसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुषोंके लिये जाग्रत्‌में शास्त्र व्यर्थ है क्योंकि श्रुति-स्मृतिरूप शास्त्रसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे जीवोंके जिस अज्ञानका नाश होता है, वह अज्ञान विद्वान्‌को नहीं होता। इसलिये ज्ञानीके लिये शास्त्र व्यर्थ है। यदि सब जीवोंके उपदेशमें शास्त्रकी साधारण प्रवृत्ति हो तो श्रुति, स्मृति-शास्त्रमें व्यर्थता प्राप्त हो परन्तु सबके लिये शास्त्रकी साधारण प्रवृत्ति नहीं है। अनधिकारी पुरुषको त्यागकर अधिकारी पुरुषके उपदेशमें शास्त्रकी प्रवृत्ति होती है। जैसे वैश्यष्टोम नाम यज्ञ करनेका वैश्यको अधिकार है, ब्राह्मण क्षत्रियको नहीं। बृहस्पतिसर्व नामका यज्ञ करनेका ब्राह्मणको अधिकार है, क्षत्रिय वैश्यको नहीं। और राजसूय-यज्ञ करनेका क्षत्रियको अधिकार है, ब्राह्मण वैश्यको नहीं है। इसप्रकार जिस वर्णको जिस यज्ञके करनेका अधिकार है, उसीके करनेसे उसकी कामना पूर्ण होती है। इसप्रकार अधिकारीके लिये शास्त्र व्यर्थ नहीं है, अनधिकारीके लिये व्यर्थ है। इसी प्रकार मुक्तिप्रतिपादक शास्त्र सब जीवोंके लिये सार्थक नहीं हैं, आत्मज्ञानसे रहित विवेकादि-सम्पन्न मुमुक्षुओंके लिये सार्थक हैं। जैसे विराट् भगवान् आदि ब्रह्मविद्यासे सर्वात्मभावको प्राप्त हुए हैं इसी प्रकार वर्तमान कालमें बहुत-से महात्मा सर्वात्मभावको प्राप्त हुए हैं और आगे भी कई मुनि प्राप्त होंगे।

ब्रह्मविद्यामें विलक्षणता

हे इन्द्र ! जैसे पक्षियोंको आकाशमें उड़नेकी और मछलियोंको जलमें चलनेकी चतुराई जन्मसे ही होती है, किसी यत्नसे प्राप्त नहीं होती, इसी प्रकार विराट् भगवान्, कपिलमुनि तथा सनत्कुमारादिको अदृष्टादि कारणके बिना ही ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है, और वाल्मीकि तथा वामदेवादिमें तो फलको उत्पन्न करनेवाले पुण्य-पापरूप निमित्तसे ही ब्रह्मविद्या उत्पन्न होती है। जैसे यौवन-कालमें किसी एक पुरुषको अपने पूर्वकृत पुण्य-कर्मसे यश, धन तथा पुत्रादि प्राप्त हो जाते हैं इसी प्रकार वामदेवादिको अपने पूर्वके पुण्य-कर्मोंसे ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है। जैसे नेत्रसे सबको रूपका ज्ञान होता है, इसी प्रकार गुरुके उपदेश किये हुए शास्त्रसे सब अधिकारियोंको ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है।

इन्द्र–हे भगवन् ! पूर्वमें आपने विराटादिमें स्वभावसे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति कही, और वर्तमानमें सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याको शास्त्रकी कारणता कही, इसलिये आपके कथनमें विरोध है, इसका क्या कारण है?

दध्यङ–हे इन्द्र ! मैंने जो पहले विराटादिमें स्वभावसे और वामदेवादिमें पुण्य-कर्मके प्रभावसे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति कही है, उसका कारण इतना ही है कि जैसे अस्मदादि जीवोंको ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेके लिये गुरुके समीप निवास करनेकी और अध्ययन आदिकी आवश्यकता है, इसप्रकार विराट् और कपिलादिको नहीं है। वामदेवादिके समान उनको शास्त्र-अध्ययनकी भी आवश्यकता नहीं है। जैसे पक्षी स्वभावसे ही उड़ने लगता है, यह तो ठीक है

परन्तु उसे पंखोंकी तो जरूरत पड़ती ही है, इसी प्रकार शास्त्र-अध्ययनकी सबको जरूरत पड़ती है। विराट् भगवानको और कपिलादि मुनियोंको स्वभावसे, वामदेवादिको अपने पुण्य-कर्मके प्रभावसे और सब अधिकारियोंको गुरुके उपदेश किये हुए वाक्यसे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होती है, इन सबमें शास्त्र मुख्य कारण है और शास्त्रका श्रवण भी कारण है। जिसप्रकार भूखेकी भोजनके बिना किसी अन्य प्रकारसे तृप्ति नहीं होती, इसी प्रकार श्रवण बिना किसीको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति नहीं होती। विराटादिको भी श्रवणसे ही उसकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मविद्याका स्वरूप

हे इन्द्र! 'ब्रह्म' शब्दसे, 'आत्म' शब्दसे और 'ब्रह्म' तथा 'आत्म' शब्दसे उत्पन्न हुए वृत्तिरूप ज्ञानसे रहित 'ब्रह्म' तथा 'आत्म' शब्दका सबसे अधिक और अन्तर्व्यापकरूप जो अर्थ है, वह 'मैं ही हूँ', इसप्रकारके अभेद-ज्ञानको ब्रह्मविद्या कहते हैं, इसप्रकारकी अभेद्ज्ञानरूप ब्रह्मविद्या जब उत्पन्न होती है तब सर्वात्मभावरूप फलकी प्राप्ति होती है, सर्वात्मभावरूप फलमें ब्राह्मणादि उत्तम जातिकी कोई आवश्यकता नहीं है, ब्रह्मविद्यासे जैसे ब्रह्म सर्वात्मभावको प्राप्त होता है, इसी प्रकार देव, दानवादि सभी श्रवणादि साधनोंद्वारा जो ब्रह्मविद्याको प्राप्त होते हैं, वे भी सर्वात्मभावको प्राप्त होते हैं, 'मैं ब्रह्म हूँ' इसप्रकारके अभेद-ज्ञानसे अनेक ब्राह्मण, मुनि तथा अनेक असुर सर्वात्मरूप ब्रह्मको प्राप्त हुए हैं। ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणोंको ब्रह्मविद्याका फल परोक्ष नहीं है, उनके अनुभवसे सिद्ध है। हे इन्द्र! पूर्वमें एक वामदेव नामका मुनि था, वह मुनि माताके गर्भमें ही ब्रह्मज्ञानको प्राप्त होकर ब्रह्मविद्याके फलमें विश्वास करानेके लिये अधिकारीजनोंपर कृपा करके इसप्रकार कहने लगा—

वामदेव-हे अधिकारी ब्राह्मणो! ब्रह्मविद्याके प्रभावसे माताके गर्भमें ही मुझे सर्वात्मभावकी प्राप्ति हुई है। इसलिये ब्रह्म-विद्याके फलरूप सर्वात्मभावमें विश्वास करानेके लिये मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसको सुनो—'तुम्हारी दृष्टिमें तुममेंका एक वामदेव नामका मैं पूर्वके शरीरको त्यागकर अब माताके गर्भमें हूँ। यद्यपि मैं सर्वात्मारूप हूँ और पूर्वमें मुझको और अन्य सब अधिकारियोंको सनकादि मुनियोंने एक ही समान ब्रह्म-विद्याका उपदेश किया था परन्तु उस समय विषयासक्त होनेके कारण मैं आत्माको जान न सका। जैसे जन्मका अन्धा मनुष्य अपने हाथमें रक्खी हुई अत्यन्त प्रकाशयुक्त मणिको देख नहीं सकता इसी प्रकार विषयासक्तिके दोषसे हृदयमें स्थित आत्माको मैं नहीं जान सका। इसलिये उस समय मुझको आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ और इसी कारण अब मुझको बन्धनरूप शरीरकी प्राप्ति हुई है। जैसे इस शरीररूप बन्धनकी मुझे प्राप्ति हुई है इसी प्रकार दूसरोंको प्राप्ति न हो, इसका उपाय आत्मज्ञानके सिवा दूसरा कोई नहीं है, इसलिये आत्मज्ञान-प्राप्तिके लिये सब अधिकारियोंको यत्न करना चाहिये। ब्रह्म-विद्याके प्रभावसे मैंने गर्भमें ही सर्वात्मभावका अनुभव किया है इसलिये इस ब्रह्म-विद्यामें तुममेंसे किसीको सन्देह करना उचित नहीं है। चारों युगोंमें ब्रह्म-विद्यासे सर्वात्मभावकी प्राप्ति होती है। हे ब्राह्मणो! मैं तुमसे ब्रह्मविद्याका फल कहता हूँ, सुनो। हे अधिकारी ब्राह्मणो! मनुष्यादि सृष्टिका कारण स्वायम्भू मनु मैं ही हूँ, सारे जगत्का प्रकाश करनेवाला सूर्य मैं ही हूँ, कक्षी नामका मुनि मैं ही हूँ और सूर्यको प्रकाश करनेवाला चैतन्य भी मैं ही हूँ, इसप्रकार मुझमें सब प्रकारसे ईश्वर-भाव है। अब मैं अपनेमें जीव-भाव बताता हूँ, उसको सुनो। चौदह लोकमें जितने शरीर हैं, वे सब मुझको प्राप्त हो चुके हैं। तात्पर्य यह कि जन्ममरणसे रहित होनेपर भी शरीरादिकी उपाधिसे मैं अपनेमें जन्म-मरण मानता था। भृगुका पुत्र शुक्र मैं ही हूँ, मैंने ही परशुरामका अवतार धारण करके

कश्यपके समान ब्राह्मणोंको पृथिवी दानमें दी थी। पुण्य-पापरूप कर्मसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज, इन चार प्रकारके जीवोंको मेघरूप होकर मैं जल देता हूँ। यह वृष्टि पुण्य-पापरूप फलसे ऊँच-नीच शरीरोंकी तथा सर्व जीवोंके सुख-दुःखकी कारण है। मैं तीनों लोकोंमें रहकर सूर्यरूप होकर जलका आकर्षण करता हूँ। जैसे क्षुधातुर बालक अपनी माताके शरण जाता है इसी प्रकार दैत्यादि-से अभिभवको प्राप्त हुए इन्द्रादि देवता मेरे ही शरणमें आते हैं। तारकासुरके पक्षवाले शङ्खासुर नामके असुरको मायासे रची हुई नव्वे पुरियोंका मैं कार्तिकेयरूप धारण करके इसप्रकार नाश करता हूँ, जैसे कि मुमुक्षुजन प्रणवरूप मन्त्रसे हृदयके अज्ञानका नाश करते हैं।

दध्यङ—हे इन्द्र! इसप्रकारके वचनोंसे वामदेव नामक ऋषिने सब ब्राह्मणोंसे सर्वात्मभावकी प्राप्ति-रूप ब्रह्म-विद्याका फल कहा। वामदेवके वचन श्रुतिमें विद्यमान हैं। सर्वात्मभावरूप फलकी प्राप्ति-का साधन एक ब्रह्म-विद्या ही है। इसलिये अधिकारियोंको ब्रह्म-विद्याका सम्पादन अवश्य करना चाहिये। हे इन्द्र! ब्रह्म तथा आत्माके अभेद-रूप ज्ञानसे सर्वात्मभावरूप फलकी प्राप्ति होती है। जिसको यह ब्रह्म-विद्या प्राप्त हुई है, उसको देवता भी वश नहीं कर सकते, क्योंकि देवता देवताओंको वश नहीं कर सकते। भाव यह है कि जैसे अग्नि काष्ठादिको जला देती है परन्तु अपनेको नहीं जला सकती, इसी प्रकार देवता अपनेसे भिन्न पुरुषोंको वश करनेमें समर्थ हैं, अपनेको वश करनेमें समर्थ नहीं हैं। जो विद्वान् ब्रह्म-विद्याके प्रभावसे सर्वात्मभावको प्राप्त होता है, वह देवताओंसे भिन्न नहीं रहता, उनका आत्मा ही हो जाता है।

इन्द्र—हे भगवन्! हम देवता अपने आपको वश नहीं कर सकते, पर अपनेसे भिन्न विद्वान्को वश क्यों नहीं कर सकते?

दध्यङ—हे इन्द्र! विद्वान् ब्रह्म-विद्याके प्रतापसे सर्वात्मभावको प्राप्त हो जाता है इसलिये विद्वान् देवताओंसे भिन्न नहीं है, वह सब देवताओंका आत्मा है अतएव तुम देवतालोग अपने आत्मा-रूप विद्वान्को वश नहीं कर सकते। यदि तुम ऐसा मानो कि विद्वान् स्थूल शरीरसे बाहर दीखता है इसलिये वह हमारा आत्मा नहीं हो सकता तो यह तुम्हारा मानना ठीक नहीं है क्योंकि जैसे घटाकाश सर्वत्र व्यापक नहीं है तो भी घटरूप उपाधिसे भिन्न होकर सबके हृदयमें स्थित है, इसी प्रकार ब्रह्म-विद्याके प्रभावसे देहाभिमानरहित विद्वान् तुम सबका आत्मा है। यदि तुम सर्वात्मभावको प्राप्त हुए विद्वान्के अनुकूल या प्रतिकूल कुछ करोगे तो तुम्हारा किया हुआ वह तुम्हींको प्राप्त होगा, क्योंकि उस असङ्ग विद्वान्को अनुकूलता या प्रतिकूलता स्पर्श नहीं कर सकती, जैसे कोई एक मनुष्य दूसरेका मस्तक धारण करके अपने मस्तकपर मारे तो उसी-के मस्तकमें चोट लगती है, इसी प्रकार विद्वान् सब-का आत्मा होनेसे उसको मारनेसे अपनेको ही चोट लगती है। प्राणिमात्रमें सम्बन्ध और असम्बन्ध दो प्रकारके रूप हैं, विद्वान् प्राणिमात्रसे असम्बन्ध-रूप है और अविद्यासे अपनेको भोक्ता माननेवाले जीव सम्बन्धरूप हैं। असम्बन्धरूप विद्वान्का यदि कोई मूढ़ पुरुष किसी प्रकार प्रतिकूल करे तो वह प्रतिकूलता उस सम्बन्धवाले मूढ़ जीवको ही होती है, विद्वान्को स्पर्श नहीं कर सकती। जैसे किसी मूढ़ बालकके सामने दर्पण रक्खा हो और वह मन्द-मन्द मुस्करा रहा हो तो वह ऐसा मानता है कि सामने दूसरा बालक मुस्करा रहा है। यदि वह प्रतिबिम्बके बालकमें कुछ विलक्षणता करना चाहे तो उसे पहले अपने मुखमें फेरफार करना पड़ता है, तभी प्रतिबिम्बमें विलक्षणता होती है, ऐसा करने-से असम्बन्ध प्रतिबिम्बवाले मुखको किसी प्रकार-का दुःख नहीं होता परन्तु उस फेरफार करनेवालेको

ही दुःख होता है। इसी प्रकार ताड़नादि करनेसे विद्वान्‌को प्रतिकूलता नहीं होती और पूजनादि करनेसे अनुकूलता नहीं होती। वह अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता कर्ता-भोक्ता माननेवाले तुम देवताओंको ही होती है।

इन्द्र–हे भगवन्! देवताओंसे अभिन्न विद्वान्‌को दुःख नहीं होता किन्तु हम देवताओंको दुःख होता है, इसका क्या कारण है?

दध्यङ–हे इन्द्र! जैसे शरीरको अलंकृत करनेसे प्रतिबिम्बित शरीर अलंकृत दीखता है, इसी प्रकार विद्वान् तुम्हारा शरीररूप है और तुम उसके प्रतिबिम्बरूप हो, इसलिये विद्वान्‌को सुख-दुःख पहुँचानेसे तुम्हींको सुख-दुःख होता है। इसी प्रकार जो कोई विद्वान्‌का पूजन करता है, उसको पूजन करनेसे सुख होता है, जैसे कोई सूर्यको धूलसे ढाँक दे तो सूर्य धूलसे नहीं ढकता, धूल डालनेवाला आप ही ढक जाता है, इसी प्रकार पूजनादि-सम्बन्धसे रहित विद्वान्‌को पूजनादिका स्पर्श नहीं होता। उस पजनादिका फल करनेवालेको ही होता है।

अविद्याका स्वरूप

हे इन्द्र! जो पुरुष अपनेसे भिन्न मानकर तुम देवताओंकी उपासना करता है, उस उपासकके तुम स्वामी हो, क्योंकि अज्ञानी जीव देवताओंके पशुओंके समान हैं। जैसे गौशाला काष्ठ तथा मृत्तिकाकी बनी हुई होती है इसी प्रकार अज्ञानरूपी मृत्तिका और काष्ठसे ब्रह्माने इस संसारको उत्पन्न किया है, यह संसाररूपी गौशाला भेददर्शी अज्ञानी जीवोंके रहनेका स्थान है। अज्ञानी जीव तुम देवताओंको हव्य-कव्यादि देते हैं। इसलिये वे तुम्हारे आश्रयमें हैं। जैसे दूध देनेवाली एक गौको धनी अपने आश्रय मानता है, इसी प्रकार सब अज्ञानी जीवोंको तुम देवता अपने आश्रय मानते हो। जैसे गौशालामें अनेक खूँटे होते हैं, उन खूँटोंमें एक मोटा रस्सा और अनेक छोटी रस्सियाँ बँधी हुई होती हैं और उनमें गायें बँधी रहती हैं, इसी प्रकार इस संसाररूपी शालामें काम-क्रोधादि अनेक खूँटे हैं और 'यज्ञ-यागादि करना' यह विधि-वाक्य और 'ब्राह्मणकी हिंसा न करना' आदि निषेध-वाक्य, ये दो प्रकारके वाक्य एक मोटा रस्सा है। यह रस्सा काम-क्रोधादि खूँटोंमें बँधा हुआ है। और 'अग्निहोत्रादि करना' इसप्रकारका बोध करानेवाले ब्राह्मण छोटी रस्सीरूप हैं। ब्राह्मणादिरूप छोटी डोरी विधि-निषेधरूप मोटे रस्सेके साथ बँधी हुई हैं। एक-एक छोटी डोरीके साथ एक-एक अज्ञानी जीव पशु बँधा हुआ है। यद्यपि ब्राह्मणरूपी डोरीसे बँधे हुए सभी अज्ञानी जीव पशु हैं तो भी जो अज्ञानी गृहस्थ यज्ञ-यागादि करते हैं, वे सब कामधेनुके समान हैं क्योंकि वे तुम सब देवताओं, पितरों, अतिथियों और सर्व मुनियोंका पालन करते हैं इसलिये वे अज्ञानी गृहस्थ तुम देवताओंकी कामधेनु नामकी गाय हैं। जैसे इस लोकमें एक-एक कुटुम्बी गृहस्थके घर अनेक पशु होते हैं, इस प्रकार देवताओंके पास अनेक पशु नहीं हैं। एक अज्ञानी गृहस्थ ही कामधेनुके समान तुम्हारा पालन करता है। जैसे एक गाय चोरी चली जाय तो गायके धनीको महान् दुःख होता है और बहुत-सी जाती रहें तो और भी अधिक दुःख होता है। इसी प्रकार जब यह अज्ञानी जीव ब्रह्म-ज्ञानद्वारा तुम्हारे पाससे चोरी चला जाता है तो तुमको बड़ा दुःख होता है। जैसे चोरी जानेके डरसे गोपाल रात-दिन गायोंकी रक्षा करता है इसी प्रकार ब्रह्मचर्यादि साधन करनेवालोंके प्रति तुम अनेक उपद्रव करते हो, किन्तु तुम उसकी हानि नहीं चाहते, इसलिये ब्रह्म-विद्याकी इच्छावालोंको प्रथम श्रद्धापूर्वक तुम्हारी आराधना करनी चाहिये, यदि तुम इन साधनोंसे प्रसन्न होते हो तो तुम अधिकारीको सद्बुद्धि देते हो और बन्धनमेंसे उसकी रक्षा करते हो। शास्त्रमें कहा है—

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यं हि रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम्॥

अर्थात् जैसे पशुपाल पुरुष हाथमें डण्डा लेकर हिंसकादिसे पशुकी रक्षा करता है, इस प्रकार हाथमें लकड़ी लिये देवता जोवोंकी रक्षा नहीं करते, वे सद्बुद्धि देकर उनकी रक्षा करते हैं। इसलिये प्रतिबन्धके नाशके लिये मुमुक्षुओंको देवताओंकी आराधना अवश्य करनी चाहिये। जो मुमुक्षु प्रथम दवोंकी आराधना नहीं करते उनको देवता अनेक विघ्न करते हैं। जैसे कुटुम्बीको गायका चोर प्रिय नहीं लगता इसी प्रकार ब्रह्म-विद्याको प्राप्त करनेवाला विद्वान् चोर देवताओंको प्रिय नहीं लगता। यद्यपि सबके आत्मारूप विद्वान्पर देवताओंका द्वेष नहीं होता, तो भी चित्त-शुद्धिसे रहित, कर्मके अधिकारी, कर्मसे रहित जीवपर देवताओंका द्वेष होता है, इसलिये चित्त-शुद्धिके अर्थ कर्मके अधिकारी जीवको विद्वान् कर्मसे निवृत्त नहीं करके उसको शुभ कर्ममें ही प्रवृत्त करता है। सारांश यह है कि ब्रह्म-विद्याकी उत्पत्तिसे पूर्व यद्यपि देवता विघ्न करते हैं परन्तु ब्रह्म-विद्याकी उत्पत्ति होनेपर वे विघ्न नहीं कर सकते। विद्वान् सबका आत्मा है, अद्वितीय रूप है और देवताओंसे भी अधिक है।

पुत्रादि अनात्म-पदार्थोंसे आत्मा अधिक प्रिय है, ऐसा न जाननेवालेको आनन्द-स्वरूप आत्मा जन्म-मरणसे रक्षा नहीं करता। गुरु तथा ग्रन्थ पास हों, तो भी गुरु-मुखसे वेदाध्ययन किये बिना वे वेद पवित्र नहीं कर सकते। गुरु-मुखसे अध्ययन करनेके बाद ही वेद ब्राह्मणकी रक्षा करते हैं। गुरु-मुखसे प्राप्त किये हुए शास्त्र उपदेशद्वारा आत्मा जीवकी रक्षा करता है। जैसे यज्ञादि कर्म जाननेपर भी यज्ञका अनुष्ठान किये बिना कर्मफल नहीं मिलता, इसी प्रकार गुरु-मुखसे शास्त्र जाननेपर भी पुरुषार्थ किये बिना पुरुषको आत्म-ज्ञानका फल नहीं मिलता, यदि कोई पुरुष आत्माको जाने बिना अश्वमेधादि यज्ञ करता है तो उस यज्ञके पुण्यसे वह थोड़े समय स्वर्गमें रहकर पुण्यके क्षय होनेपर परम दुःखको प्राप्त होता है। इसलिये जिस पुरुषको नित्य आनन्द-की प्राप्तिकी इच्छा हो उसको अन्य सब उपाय त्यागकर आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिके लिये ही पुरुषार्थ करना चाहिये। आत्म-ज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ पुरुषको उपासना और निष्काम कर्म करने चाहिये। उपासना और निष्काम कर्मके प्रभावसे चित्तकी शुद्धि होती है। चित्त शुद्ध होनेसे इस लोकमें अथवा ब्रह्मलोकमें उपासकको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होती है क्योंकि उपासनाका मुख्य फल ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति है।

उपासक संसारमें रहता हुआ भी हिरण्यगर्भ-के समान ऐश्वर्यको प्राप्त होता है। भाव यह है कि जैसे हिरण्यगर्भ भगवान्को जिस पदार्थकी इच्छा होती है, उस पदार्थको वे अपनी इच्छामात्रसे उत्पन्न कर लेते हैं। इसी प्रकार उपासक भी उपासनाके प्रभावसे सब पदार्थोंको अपनी इच्छा-मात्रसे उत्पन्न कर लेता है। जिस पुरुषको 'मैं ब्रह्म हूँ' इसप्रकारकी बुद्धिसे आनन्द-स्वरूप आत्माका साक्षात्कार करना हो उसको सर्व अनात्म-पदार्थों-का त्याग करना चाहिये। जैसे वमन किया हुआ अन्न त्याग दिया जाता है इसी प्रकार अनात्म-पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये। आनन्दस्वरूप आत्माको न जानकर जो दूसरे अनात्म-पदार्थोंको जानता है, उसको शास्त्रवेत्ता अनात्मज्ञ कहते हैं, जैसे बालाकि ब्राह्मण आत्माके वास्तविक स्वरूपको न जानकर प्राणको ही आत्मा जानता था, इसलिये उस अनात्मज्ञ बालाकिको काशीमें अजातशत्रु राजाका शिष्य होना पड़ा था। श्रेयाभिलाषीको आनन्द-स्वरूप आत्माके सिवा दूसरे किसी अनात्म-पदार्थको जानना योग्य नहीं है।

आत्माके सिवा सभी अनात्मा हैं

हे इन्द्र ! इस स्थूल शरीरके अभिमानी जीवको

नेत्रादि इन्द्रियोंसे जो पदार्थ दीखते हैं, उसको जाग्रदवस्था कहते हैं। जाग्रत्-अवस्था ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय और ध्याता, ध्यान तथा ध्येय, इन तीन प्रकारके स्वरूपवाली है। चैतन्यद्वारा भासनेवाले सभी पदार्थ दृश्यरूप हैं, ये दृश्यरूप सभी पदार्थ अनात्मा हैं। जैसे घटादि पदार्थ दृश्य होनेसे अनात्मा हैं इसी प्रकार त्रिपुटीरूप जाग्रत् प्रपञ्च भी दृश्य होनेसे अनात्मरूप है। स्वप्नके पदार्थ मायामात्र हैं, क्योंकि रथादि पदार्थोंकी उत्पत्तिके लिये देश-काल आदिकी अपेक्षा है। देश-कालादिके अभाव होनेपर भी पूर्वकी वासनावाला मन अनेक प्रकारके पदार्थ स्वप्नमें उत्पन्न करता है। स्वप्नके पदाथ भी मिथ्या हैं। अर्थात् जैसे देश-काल बिना आकाशमें दीखनेवाला गन्धर्वनगर मिथ्या है, इसी प्रकार स्वप्नके पदार्थ भी मिथ्या हैं। ये स्वप्नके पदाथ उत्पत्ति-नाशवाले होनेसे अनात्मारूप हैं। इस शरीररूप पुरीकी हृदयरूप गुफामें नाड़ियाँरूपी मार्गद्वारा सुषुप्ति-अवस्थामें यह जीव प्रवेश करता है। यह अज्ञानयुक्त जीव शुद्ध आत्मासे भिन्न है इसलिये वह भी घटादिके समान अनात्मा है। इससे सिद्ध हुआ कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंके सब पदार्थ मिथ्या होनेसे अनात्मा हैं।

इन्द्र–हे भगवन्! जब जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओंके सब पदार्थ आत्मा नहीं हैं तो इन सबसे भिन्न आत्माका क्या स्वरूप है? यह आप कहिये।

दध्यङ–हे इन्द्र! आत्मा स्वप्रकाश है। स्वप्रकाश होनेसे अपने प्रकाशके लिये अथवा दूसरे पदार्थको प्रकाश करनेके लिये आत्मा किसी अन्य प्रकाशकी अपेक्षा नहीं रखता। आत्माके सिवा अन्य सब पदार्थ पर-प्रकाशरूप हैं यानी अपने प्रकाशके लिये अन्य प्रकाशकी अपेक्षा रखते हैं।

इन्द्र–हे भगवन्! स्वप्रकाशरूप आत्माके लक्षण-की सूर्यादि भौतिक प्रकाशमें अतिव्याप्ति होती है क्योंकि सूर्यादि प्रकाश भी अपने प्रकाशके लिये अथवा घटादि पदार्थोंके प्रकाशके लिये अन्य किसी प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करते। जो लक्षण अपने लक्ष्य-के सिवा अन्य लक्ष्यमें भी रहे, वह लक्षण अति-व्याप्ति-दोषवाला होता है।

दध्यङ–हे इन्द्र! सूर्यादि भौतिक प्रकाश अपने और अन्य पदार्थोंके प्रकाशके लिये दूसरे किसी भौतिक प्रकाशकी अपेक्षा तो नहीं करते, परन्तु चैतन्यरूप अलौकिक प्रकाशकी अवश्य अपेक्षा रखते हैं। इसलिये सूर्यादि प्रकाशमें स्वप्रकाश आत्माके लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं है। शास्त्रमें सुषुप्ति-अवस्थामें आत्माका निवास हृदय-देशमें, स्वप्ना-वस्थामें मन-देशमें और जाग्रदवस्थामें स्थूल शरीर-में कहा है। इसप्रकारके स्वप्रकाश आत्माका निषेध-मुख-वाक्योंसे मैं तुमको उपदेश करता हूँ। 'यह पदार्थ ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है' इसप्रकार जिस वाक्यसे किसी पदार्थका वर्णन किया जाता है, उस वाक्य-को निषेधमुख-वाक्य कहते हैं। सुषुप्ति-अवस्थामें जीवकी श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और गुदा पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार चार अन्तःकरण, इन सबका अज्ञानमें लय हो जाता है, सुषुप्ति-अवस्थाके नाश होनेपर इन्द्रियोंसहित अन्तःकरण उस अज्ञानमेंसे उत्पन्न हो आता है। उत्पत्ति और नाशवाले सब पदार्थ घटादिके समान असत्य होते हैं। इसलिये उत्पत्ति और नाशवाला होनेसे इन्द्रियोंसहित अन्तःकरण असत्य है। सुषुप्ति-अवस्था प्राप्त होनेपर भी प्राण लय नहीं होता और सुषुप्तिके नाश होनेपर प्राणकी उत्पत्ति भी नहीं होती, इसलिये प्राण सत्य है। प्राण सत्य होनेपर भी वस्तुतः सत्य नहीं है, आनन्दस्वरूप आत्मा ही परमार्थसे सत्यस्वरूप है इसलिये आत्मा सत्य प्राणसे भी अत्यन्त सत्य है। प्राण जड और अनात्मारूप है इसलिये आनन्दस्वरूप आत्मासे

प्राण निकृष्ट समझा जाता है। इसीलिये श्रुतिमें ब्रह्मको सत्यका भी सत्य कहा है। प्रथम सत्य शब्दसे प्राणसहित सर्व भौतिक प्रपञ्च समझना चाहिये, इस प्रपञ्चरूप कार्यका आनन्दस्वरूप आत्मा उपादान-कारण है इसलिये परमात्मा सत्यका भी सत्य है।

इन्द्र—हे भगवन्! जब प्राणसहित सर्व प्रपञ्च अनित्य है, तो उसको सत्य कैसे कह सकते हैं? जिस वस्तुका तीनों कालमें भी नाश न हो, वह वस्तु सत्य कहलाती है, प्राणसहित प्रपञ्च ऐसा सत्य नहीं है, फिर उसको सत्य कैसे कहा जाय?

(क्रमशः)

प्रत्येक भक्तका महत्व पृथक् है

(लेखक—श्रीसबनाराइनजी चित्रगुप्त)

[कहानी]

सत्ययुगका जमाना था। महात्मा नारदजी, जो अमरमण्डलके एक सदस्य हैं, घूमते-घामते एक किसानके दरवाज़ेसे होकर जा निकले। किसान धनीराम चौपालमें बैठा चिलम सुलगा रहा था। बाबाजीको जाता देख, चिलम रखकर, उनके चरणोंमें जा लिपटा। महात्माजी उसके साथ उसकी चौपालमें आ बैठे। किसानोंमें महात्माओंके प्रति श्रद्धा विशेष परिमाणमें हुआ करती है। धनीराम एक कलसा पानी और एक बट्टी मिठाई लाया। महात्माके चरण धोये और उनको जलपान कराया। महात्माजीने सोचा कि इसका कोई स्वार्थ होगा तभी तो इसने इतनी सेवा की? स्वार्थहीन सेवक तो महावीरकी तरह अधिक नहीं हो सकते।

महात्मा–तुम क्या चाहते हो?

किसान–कुछ नहीं, बाबा!

महात्मा– नहीं, कुछ तो?

किसान–मेरे पास सौ बीघा पक्के मारूसी जमीन है। एक हज़ार मन गेहूँ खत्तीमें भरे हैं। बारह गाय और पाँच भैंसें लगती हैं और तीन भैंसें गाभिन हैं। घरमें औरत भी लक्ष्मी है। गुप्त-दान दिया करती है और सीतारामका नाम हर समय रटा करती है। मुझे किसी चीज़की दरकार नहीं है, महात्माजी!

महात्मा–और पुत्र?

किसान–पुत्रसे तो हाथ धो बैठा हूँ। ज्योतिषीने भी कहा है और हम दोनोंका भी निश्चय है कि इस जीवनमें पुत्रका मुख देखनेको नहीं मिलेगा। विवाह हुए बीस साल हो गये। कभी सपनेमें भी अपने लालको नहीं देखा। पुत्रकी चरचा बेकार है, बाबा!

महात्मा–मैं ब्रह्मा, विष्णु और शंकर तीनों देवताओंके दरबारमें आया-जाया करता हूँ। महात्मा है भी वही कि जो इन तीनों दरबारोंसे पूर्ण परिचित हो। मैं किसी समय विधातासे पूछकर तुमको सन्तानके विषयमें बताऊँगा।

किसान–अच्छी बात है, महाराज!

× × ×

विधाता–उस किसान धनीरामका रजिस्टर मैंने देख लिया है। नारदजी! आप बार-बार उसके लिये

पुत्रका सवाल न किया करें । तकदीरवाला हाकिम, जिस जीवके लिये जो कर्मफल बनाकर भेजता है उसको मैं उसी जीवकी मिसिलमें दर्ज कराता हूँ और उसीके अनुसार जीवोंको दुःख-सुख दिया करता हूँ ।

नारद—प्रारब्ध-विधायक अफ़सरके खिलाफ़ आप उसको एक पुत्र मेरे अनुरोधसे नहीं दे सकते ?

विधाता—नहीं !

नारद—ऐसी नौकरीसे आपको क्या लाभ कि जिसमें ज़रा भी स्वतन्त्रता न हो ? आप इस्तीफ़ा लिखिये ।

विधाता—आप भगवान् विष्णुजीके पास जायँ । उनको विशेष अधिकार है । वह अगर चाहें तो लेखपर भी मेख मार सकते हैं ।

× × ×

नारद—यदि आप मुझे 'भक्त' मानते हों तो मेरा एक अनुरोध स्वीकार कीजिये !

विष्णु—कहिये ।

नारद—शिवपुरके धनीराम किसानको एक पुत्र दीजिये ।

विष्णु—उसको सात जन्मतक पुत्र नहीं है ।

नारद—आप अपने विशेष अधिकारद्वारा उसको एक पुत्र दे सकते हैं । मैं उसे वचन दे आया हूँ ।

विष्णु—मैं लाचार हूँ । अकारण विशेष अधिकार-का उपयोग मना है । कृपया इस विषयको हटाइये । मैं कुछ भी नहीं कर सकता ।

× × ×

एक दिन महात्माजी फिर उसी धनीराम किसान-के द्वार होकर निकले । वह अपनी एक बछियाके गलेमें एक घण्टी बाँध रहा था । उसने बाबाजीको सादर बैठाया । महात्माजीने विधाता और भगवान् विष्णुजीकी बातचीत उसको कह सुनायी । किसान बोला—'मैंने तो पहले ही कहा था ।'

(२)

भादोंके दिन थे । मचानपर बैठा हुआ धनीराम अपने मक्काके खेतकी रखवाली कर रहा था । तब-तक एक साधुने आकर कहा—'तुम मुझे मीठे पुआ खिलाओ तो तुम जो माँगो सो पाओगे !' धनीराम हँसा । मेरी माँग जब देवता नहीं पूरी कर सके तब यह कैसे पूरी करेंगे ? धनीरामने कहा—'इस मचान-पर आकर विराजमान हो । मैं घरपर जाकर अभी पुए कराये लाता हूँ । माँगना मुझे आपसे कुछ भी नहीं है ।'

बाबाजी मचानपर बैठ गये और धनीराम आध घण्टेमें थालीभर गरम-गरम पुए करा लाया । जब बाबाजी भोजन कर चुके तब उन्होंने झोलीमेंसे थोड़ी-सी राख निकाली और उसे बायीं हथेलीपर रखकर दहिने हाथके अँगूठे और पासकी अँगुलीसे एक चुटकी भरी और बोले—'जल्दी माँगो तुम क्या चाहते हो ?

किसान—पुत्रके सिवा मुझे कुछ नहीं चाहिये ।

बाबाने चुटकी खोल दी । फक्से राख ऊपरको उड़ गयी । बाबा बोले 'एक' । दूसरी चुटकी भरकर खोली । फक्से वह राख भी ऊपरको उड़ गयी । बाबा बोले 'दो' । फिर तीसरी चुटकी वैसे ही उड़ायी, उन्होंने कहा 'तीन' । पर चौथी चुटकी भरकर खोली तो राख नीचे गिर पड़ी । बाबाने कहा—बस । और तुरन्त मचानसे कूदकर किसी तरफ राह पकड़ी !

(३)

एक दिन महात्मा नारदजी फिर उसी किसानकी चौपालसे होकर निकले । देखा कि धनीराम तीन बच्चोंको खिला रहा है । महात्माजीका माथा ठनका !

समझा—किसी पड़ोसीके बच्चे होंगे। धनीरामने उनको सादर बैठाया और जलपान कराया। महात्माजीके पूछनेपर किसानने कहा कि बाबा गरीबदासके आशीर्वादसे यह तीन बच्चे तीन सालमें पैदा हुए हैं। नारदजी सनाका खा गये। वहाँसे उठकर उन्होंने सीधे विष्णुलोकका रास्ता लिया। भगवान्‌के सामने जाकर अपनी वीणा पटक दी।

भगवान्—कहिये महात्मन् ! आज आप क्रोधित-से क्यों हैं ?

नारद—आपने तो कहा था कि धनीरामको सात जन्म पुत्र न होगा ?

भगवान्—कहा तो था।

नारद—फिर उसे इसी जन्ममें तीन पुत्र कैसे मिल गये ?

भगवान्—वह मैंने नहीं दिये हैं। भक्त गरीबदासने दिये हैं !

नारद—हूँ ! भक्त गरीबदास नारदसे भी बढ़कर भक्त हो गया ? आपने मेरा अनुरोध न माना और उसका मान लिया !

भगवान्—आपको तो मैं अपना ही एक स्वरूप मानता हूँ और गरीबदासको अपना भक्त मानता हूँ। मेरी इच्छा चाहे रह जावे पर भक्तकी इच्छा मुझे पूरी करनी ही पड़ती है।

नारद—इसी समय मेरे साथ चलकर भक्त गरीबदासकी भक्तिकी परीक्षा लीजिये। मैं भी तो जानूँ कि वह कितना गहरा भक्त है।

भगवान्—प्रत्येक भक्तकी भक्तिका मोल पृथक्-पृथक् होता है।

नारद—वही तो मैं जानना चाहता हूँ कि उसकी भक्तिका मोल, मेरी भक्तिसे कैसे ज्यादा माना गया !

× × ×

जमालपुरके जङ्गलमें गरीबदासकी कुटी थी। किसानोंने मिट्टीके द्वारा एक कोठरी बना दी थी और पत्थरोंसे छत पाट दी थी। कुटीमें किवाड़ न थे। उस समय कुटीमें लकड़ी और कण्डी भी न थी। एक अहीरनी आज बाबाजीको एक सेर घी दे गयी थी। उसने मनौती मानी थी कि मेरी भैंस जब बच्चा देगी तो पहले पहलका एक सेर घी बाबाजीको दूँगी। हाँडीमें वही घी रक्खा था और धूनीमें दो पतली लकड़ियाँ जल रही थीं। बरसातके दिन थे और बादलोंकी सेना लिये हुए राजा इन्द्र देख रहे थे कि कहाँपर पानी बरसाना मुनासिब है। थोड़ी देरमें बिजली चमकी और मूसलधार पानी बरसने लगा। यह पानी भगवान् विष्णुजीके हुक्मसे बरस रहा था, क्योंकि भक्त गरीबदासकी परीक्षा लेनी थी। पानीसे तर और थर-थर काँपते हुए एक महात्माने आकर गरीबदाससे कहा—'देखो ! मेरा नाम नारद है। भगवान् विष्णु और मैं दोनों कहीं जा रहे थे कि घनघोर बरसात शुरू हो गयी। हम दोनों भीग गये और जाड़ेसे काँप रहे हैं। तुम जल्दी आग जलाओ। मैं अभी भगवान्‌को लेकर आता हूँ।' नारदने वही किया कि जो भगवान्‌ने उनको सिखाकर भेजा था। थोड़ी देर बाद भगवान् और नारदजी दोनों गरीबदासकी कुटीके द्वारपर जा पहुँचे।

वहाँका हाल देखकर नारदजीके होश उड़ गये। देखा कि लकड़ी न होनेके कारण, गरीबदासने सारा घी अपने शरीरमें लपेट लिया और आग लगा दी। नारदजीने देखा कि गरीबदासका शरीर जल रहा है और भगवान् खड़े-खड़े ताप रहे हैं। नारदजीने

सजल-नयन होकर कहा—'अब अपनी लीला बन्द कीजिये । प्रभो ! मुझे मालूम हो गया कि गरीबदासकी भक्तिका कितना मूल्य है ।'

भगवान्ने भक्तके ऊपर हाथ फेरा । आग बुझ गयी । वर्षा भी बन्द हो गयी । गरीबदासके झुलसे हुए अङ्ग भगवान्के अमृतमय हाथोंके स्पर्शसे पुनः स्वस्थ हो गये । मानो कुछ भी न हुआ था । नारदजी और भगवान् वहाँसे अन्तर्धान हो गये । गरीबदास अपनी परीक्षामें पास हो गये ।

सच है—भक्त-भक्तका दरजा अलग है ।

वाल्मीकि-रामायण और भगवच्छरणागति

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी भट्ट, कविरत्न)

[गतांकसे आगे]

धर्मज्ञ होकर विभीषणने ज्येष्ठ भ्राताको कैसे छोड़ दिया ?

शरणागतिका निरूपण हो, इसके पहले एक शंका यह आती है कि आप विभीषणको 'भक्त' और 'धर्मज्ञ' बताते हैं, फिर उन्होंने पिताके समान अपने बड़े भाईका संकटके समय साथ कैसे छोड़ दिया ? आज-कल प्रत्येक ग्रन्थमें पात्रोंके 'चरित्र' को सँभालनेवाले करेक्टरके 'कलेक्टर' समालोचक महोदय साथ-ही-साथ रहते हैं । विशेषतः रामचरित्रपर तो आलोचनाओं-का स्रोत अनन्त-सा मालूम हो रहा है । कोई लक्ष्मणपत्नी 'ऊर्मिला' को वाल्मीकिने भुला दिया, कहते हैं । कोई भगवान् श्रीरामको कूटनीतिज्ञ और भरतको उदारचरित सिद्ध करते हैं । अस्तु, यहाँ इस प्रसंगको नहीं लेना है, किन्तु चरित्रके आधारको पकड़कर यह उन लोगोंकी शङ्का जोरदार-सी मालूम होती है कि विभीषणका चरित्र ठीक धार्मिकके-जैसा नहीं मालूम होता । वह राक्षसकुलोत्पन्न थे इसलिये हजार अच्छे होनेपर भी उनसे धर्मानुगमन नहीं हो सका, यह भी उत्तर नहीं हो सकता । क्योंकि स्वयं महर्षिने विभीषणको अपने पितामह विश्रवाका वरदान दिलाया है कि 'इसको धर्मतत्त्व मालूम होंगे ।' जगह-जगह उनकी प्रशंसा भी रामायणमें आती है—*'विभीषणस्तु धर्मात्मा न तु राक्षसचेष्टितः'* 'विभीषण धर्मात्मा थे, उनकी चेष्टा राक्षसोंके समान न थी ।' फिर यह किसके समान चेष्टा हुई कि बड़े भाईको मृत्युमुखमें जाते देखकर भी मदद देना तो दूर रहा, उसको छिटका कर चले गये ?

बड़ा भाई पिताके समान होता है यह केवल शास्त्रानुरोध ही न था । जन्मसे रावणके आश्रयमें वह पले भी तो थे । फिर अपने पोषकको संकटके समय छोड़कर चले जाना किसकी-सी चेष्टा है ? पोषकको भी तो पिताके समान ही माना जाता है । अगर भाईको छोड़ भी दिया था तो कम-से-कम अपने बड़े भाईके शत्रुसे तो जा मिलना उचित न था । शत्रुसे जा भी मिले थे तो अपने भाईका स्थान तो स्वीकार नहीं करना था । खैर, सोनेकी लंका-जैसे स्थानका ही इतना लोभ छातीपर चढ़ बैठा था तो कम-से-कम इतना तो न करते जो अपने बड़े भाई और उसके कुटुम्बके मरनेके सब उपाय स्वयं चला-चलाकर बतलाते । इस विषयमें उनका चरित्र तो यहाँतक सर्टीफिकेट पा चुका है कि आजतक भी यह कहावत जारी है—*'घरका भेदी लंका ढावै'*

ठीक है । आपकी शंका है कि धर्मात्मा होकर भी विभीषणने अपने आवश्यक धर्मका त्याग कैसे किया ? और वह धर्मत्याग उचित कोटिमें कैसे गिना गया ? इस धर्मकी शंकाका धर्मसे ही समाधान सुनिये—

जिस धर्मकी आप दुहाई देते हैं, उसीमें कहा है कि—

'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥'

'जो पिता या 'गुरु' घमण्डके कारण कार्य-अकार्यको नहीं जाने, फिर केवल अज्ञान ही नहीं, खोटे रास्तेपर चलने भी लग जाय तो धार्मिक पुरुषको उसका परित्याग कर देना चाहिये ।' यहाँ *'विधीयते'* कहा है अर्थात् परित्याग कर देना ही विधिवाक्य है । इस फैसलेकी नज़ीर भी पहलेकी मौजूद है । ध्रुव, प्रह्लाद आदिने सौतेली माता और सगे पिताका साथ कहाँ दिया था ?

भक्तिसम्प्रदाय ही क्यों, धर्मशास्त्रकी व्यवस्थानुसार भी समाधान सुनिये—

आप जान चुके हैं कि विभीषणको पितामहके वरदानसे ज्ञान, विज्ञान, सब धर्मका तत्त्व मालूम था । उन्होंने विज्ञानदृष्टिसे जान लिया था कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सर्वलोकशरण्य, सर्वलोकेश्वर साक्षात् नारायण ही हैं । भक्तोंके उद्धारार्थ अवतार लेकर यहाँ पधारे हैं । मन्दोदरी आदिको भी यह अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो चुकी थी । धर्मतत्त्वोंका यथावद्विवेक करनेवाले विभीषण जानते थे कि सामान्य धर्मकी अपेक्षा विशेष धर्म प्रबल हुआ करता है । ज्येष्ठ भ्राताका अनुवर्तन करना यह शास्त्रोक्त सामान्य धर्म है । सबके लिये लागू है । जो कार्य त्रैवर्गिक फल अर्थात् धर्म-अर्थ-काम इनके साधनभूत हुआ करते हैं वह सामान्य धर्मके अन्तर्गत गिने जाते हैं । ज्येष्ठ भ्राताके अनुगमन करनेसे धर्म-सिद्धि होकर, तद्द्वारा उत्तम अदृष्ट बनकर, फिर उसके साधकको परमात्माका लाभ होगा । यों परम्परासे परमात्माके आराधनमें यह (ज्येष्ठ भ्राताका अनुवर्तन) सहायक होगा । और तो क्या, इसके द्वारा यदि मोक्ष भी हो जाय तो भी यह परमात्माकी उपासनाका एक अङ्ग ही गिना जायगा । इसके विरुद्ध, भगवान् श्रीरामचन्द्रकी शरणमें जाना तो साक्षात् परमात्माराधन है, इसलिये यह विशेष धर्म हुआ । क्योंकि यज्ञादि करना जो धर्मकोटिमें गिना जाता है, उसको करके भी लोग यही चाहते हैं कि सर्वेश्वर भगवान् प्रसन्न हों । फिर यहाँ जब साक्षात् भगवान्का ही सेवन हस्तगत है, तो फिर सामान्य धर्मके पीछे कौन पड़े ?

सामान्य धर्मका अनुष्ठान शास्त्रोक्त है । उसका पालन अवश्य करना चाहिये । किन्तु जहाँतक वह सामान्य धर्म विशेष धर्मका विरोधी न हो, वहींतक । अर्थात् अविरोध-दशामें दोनोंका सेवन करना शास्त्रोक्त है । परन्तु जब सामान्य धर्म विशेष धर्मका विरोधी हो पड़े, उस समय उसका त्याग कर देना ही शास्त्रकी अनुमति है । विभीषण कष्ट पाते हुए भी, मन मारकर भी, लङ्कामें रह रहे थे । अर्थात् ज्येष्ठ भ्राताके अनुवर्तनरूप सामान्य धर्मका सेवन कर रहे थे । जिस समय सागरतटपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका पधारना सुना, उस समय वह सोच रहे थे कि देखिये ज्येष्ठ भ्राताका अनुवर्तन करते हुए भी मुझे श्रीरामचन्द्रजीकी शरणमें जानेका अवसर मिलता है कि नहीं ? इसी आशासे उन्होंने रावणको बहुत कुछ समझाया । अपमान सहकर भी, भय-प्ररोचना देकर भी, इस सङ्कटसे बचानेका बार-बार प्रयत्न किया । किन्तु जब देख लिया कि यह भगवान्की ही इच्छा है कि रावणको हितमार्ग इस समय नहीं दीखता । आसुर-प्रकृति

होनेके कारण यह कलुषभाव इसके हृदयसे नहीं जा सकता। तब लाचार होकर वहाँसे हट जाना ही उनको कल्याणकर प्रतीत हुआ। यों विशेष धर्मके साथ विरोध होनेपर ही सामान्य धर्म छोड़ा गया है। यह सभी जानते हैं कि सामान्यकी अपेक्षा विशेष बलवान् हुआ करता है।

और भी देखिये—सबसे पहले मनुष्य अपनी आत्माका भला सोचता है। जिस समय घरमें अग्नि लग जाती है, उस समय अपनी सारी प्यारी चीजोंको छोड़कर मनुष्य एकदम घरसे बाहर निकल खड़ा होता है। यहाँतक कि पुत्र-पत्नीतककी फिक्र पीछे होती है। पहले आप अपनेको बचाता है, फिर चाहे सर्वस्व देकर भी लोगोंसे मदद चाहे कि—'जो कोई मेरे पुत्रको मकानके अन्दरसे निकाल लाये, उसे मैं इतने हज़ार वा लाख रुपये इनाम दूँगा।' किन्तु आप अपनी आत्माको आँच लाना नहीं चाहता। विस्तारकी जरूरत नहीं। बम्बई आदि प्रदेशोंमें ऐसे शतशः दृष्टान्त देखे गये हैं। ठीक है। पुत्र आदि भी अपने सुखके लिये ही प्रिय प्रतीत हुआ करते हैं—'*आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति*।' इसी तरह जब विभीषणने देखा कि रामसे वैर करके रावणका अकल्याण तो अवश्यम्भावी है, फिर मैं प्रभुका विद्वेषी बनकर क्यों आत्म-नाश करूँ ?

अब जो यह कलङ्क लगाया जाता है कि 'राज्य-की लालसासे रामके पास गये' यह भी रामायणसे तो सिद्ध नहीं होता। शरणागतिके समय '*त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः*' (मैं स्त्री-पुत्रादि सब कुछ छोड़कर श्रीरामचन्द्रकी शरणमें आया हूँ) यों अन्य विषयका वैराग्य स्वयं विभीषण कण्ठरवसे कहते हैं। बल्कि जिस समय श्रीरामचन्द्रकी शरणमें जाकर प्रार्थना करने लगे, उस समय यही कहा कि 'मैं तो सर्वविध पुरुषार्थ आपमें ही समर्पण कर चुका हूँ। आप ही मेरे राज्य हैं। आप ही मेरे जीवित हैं। आप ही मेरे सुख हैं। मैं तो लङ्का, सुहृत्, सम्बन्धी तथा धनादि सब कुछ छोड़ चुका हूँ।'

'परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च।
भवद्गतं मे राज्यं च जीवितं च सुखानि च॥'

फिर यह किस तरह कहा जाय कि राज्यके लोभसे वह श्रीरामके पास गये थे और यह पहलेसे मालूम भी कहाँ था कि श्रीरामचन्द्र जाते ही मुझे लङ्का-का राजा ही बना देंगे। उन्हें तो अपने अङ्गीकार कर लेनेतककी फिक्र पड़ रही थी।

हाँ, यह जरूर है कि विभीषणके नहीं चाहनेपर भी भगवान् श्रीरामचन्द्रने बिना सोच-विचारके ही उन्हें लङ्काका राज्य दे दिया था। बात यह थी कि—विभीषणके पहुँचनेपर भगवान् श्रीरामने बातचीतका प्रसङ्ग छेड़कर विभीषणकी शङ्काको हटाना चाहा था। इसलिये वे उनसे लङ्का और राक्षसोंका वृत्तान्त पूछने लगे। विभीषणने एक-एकका ऐसा प्रभाव दिख-लाया कि जिसकी सीमा नहीं। इन्द्रजित्के लिये कहा कि वह जिस समय अच्छेद्य कवचको धारणकर, धनुष ले युद्धमें आता है, अदृश्य हो जाता है। उसे अग्निका वरदान है। वह अन्तर्हित हुआ ही सबको मार डालता है। प्रहस्तके लिये कहा कि उसने कुबेर-के सेनापति मणिभद्रको कैलासमें ही पछाड़ दिया था। वही रावणका सेनापति है। अभिप्राय यह कि, उन्होंने रावणका वह प्रभाव बतलाया कि जो दूसरा होता तो लङ्काके फतह करनेकी आशा ही छोड़ बैठता। किन्तु जिस जोशसे विभीषणने रावणका बल-विक्रम वर्णन किया उसी स्वरमें श्रीरामचन्द्रने भी दिखलाया कि मुझपर इस प्रभावका कुछ भी असर नहीं हो सकता। मैं सब कुछ समझ गया हूँ। मैं उसी रावणको प्रहस्त और इन्द्रजित् प्रभृति बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर तुम्हें ही राजा बनाऊँगा,

जिससे तुम्हें उसके उस प्रभावका प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाय । मैं यह सत्य-सत्य कहता हूँ—

'अहं हत्वा दशग्रीवं सप्रहस्तं सबान्धवम् ।
राजानं त्वां करिष्यामि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥'

इसके पहले विभीषणने कोई बातचीत ही नहीं की थी कि जिससे राज्य-प्रार्थना जानी जाती । भगवान् श्रीरामचन्द्रने ही अपनी तरफसे विभीषणको लङ्काका राज्य दे डाला । यहींतक भी नहीं, श्रीकोसलेन्द्रने सुमित्रानन्दनको तत्काल हुकुम भी दिया कि इसी समय राज्याभिषेक भी हो जाना चाहिये । समुद्रमें सब नदियाँ मिलती हैं, इसलिये इसीके जलसे अभी राज्याभिषेक हो जाना उचित है । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् विभीषणको यह दिखाना चाहते हैं कि तुम रावणका इतना प्रताप बतलाते हो किन्तु मैं उसके प्रभावको कितना समझता हूँ, यह यों ही समझ लो कि मैं पहलेसे ही तुम्हें लङ्काका राज्यतक दे देता हूँ इसीलिये तो '*करिष्यामि*' (करूँगा) कह कर, फिर सोचते हैं 'शायद विभीषणको भविष्यत्पर भरोसा न हो' अतएव उसी समय अभिषेक भी कर देते हैं । यह रावण-प्रभावको '*न किञ्चित्*' दिखानेके लिये ही है, विभीषणकी लालसासे जल्दी नहीं है ।

बात तो यह है कि जब विभीषण श्रीरामचन्द्रजीकी शरणमें आ चुके और उनपर भगवान्का अनुग्रह हो चुका तो बेचारी लङ्काका ही राज्य क्या, सम्पूर्ण त्रैलोक्यका राज्य उनके नीचे था । भगवान्की प्रसन्नता होना ही कठिन है, फिर राज्य-भोगादि तो क्या, यावन्मात्र वैभवकी उपलब्धि अपने-आप हो जाती है । परन्तु भक्त उसपर नज़रतक नहीं डालते । समुद्रका प्रवाह जब किसी तरफ चल निकलता है तब क्या वह रास्तेमें आये हुए वृक्षादिको चलाकर बहा ले जानेकी चेष्टा थोड़े ही करता है । वह तो अपने-आप टूट-टूटकर बहते चले जाते हैं । इसी तरह जब भगवान्की प्रीतिका प्रवाह किसी भाग्यवान्के अभिमुख हो जाता है तब त्रैलोक्यकी विभूति अपने-आप उसके पीछे-पीछे चली आती है । क्या अच्छा कहा है—

'आयुरारोग्यमर्थांश्च भोगांश्चैवानुषङ्गिकान् ।
ददाति ध्यायतां नित्यमपवर्गप्रदो हरिः ॥'

'भगवान् तो पुनः पुनर्जन्म-मरणरूप भवबन्धसे छुड़ानेवाले हैं, वह अपने भजन करनेवालोंको दीर्घायु, नीरोगता तथा अर्थ और काम-भोगोंको आनुषङ्गिकरूपसे अपने-आप दे डालते हैं' फिर विभीषण चलाकर लङ्काका राज्य क्यों माँगने लगे ?

बल्कि जिस समय श्रीरामने '*राजानं त्वां करिष्यामि*' कहकर लङ्काका राज्य उन्हें दिया, उस समय उसका प्रतिवचन न देकर विभीषणने सेवा करनेके अधिकारकी ही प्रार्थना की । कहा कि—'हे प्रभो ! मैं लङ्काके प्रधर्षणमें आपकी सहायता करूँगा और जबतक प्राण हैं सेनाका सञ्चालन करूँगा ।'

'राक्षसानां वधे साह्यं लङ्कायाश्च प्रधर्षणे ।
करिष्यामि यथा प्राणं प्रवक्ष्यामि च वाहिनीम् ॥'

उत्तर-काण्डमें तो स्पष्ट दिखलाया है कि विभीषणकी लङ्का-राज्य-स्वीकारकी ज़रा भी इच्छा न थी । श्रीरामचन्द्रजीने अपनी मित्रताकी शपथ देकर ज़बरदस्ती उनसे राज्य स्वीकार कराया है—

यावत्प्रजा धरिष्यन्ति तावत्त्वं वै विभीषण ।
राक्षसेन्द्र महावीर्य लङ्कास्थस्त्वं धरिष्यसि ॥
शापितस्त्वं सखित्वेन कार्यं वै मम शासनम् ।
प्रजाः संरक्ष धर्मेण नोत्तरं वक्तुमर्हसि ॥

'तुम मुझसे यदि मित्रता रखते हो तो उसीकी तुम्हें शपथ है । और यदि तुम मुझे बड़ा समझते हो तो मेरी आज्ञा तुम्हें माननी पड़ेगी । तुम धर्मपूर्वक

प्रजाकी रक्षा स्वीकार करो। अब इसका कुछ उत्तर सुननेका मैं अवकाश देना नहीं चाहता।'

श्रीरामचन्द्रजीने धर्म-स्थापनार्थ अवतार लिया है, यह वह जानते थे। जब श्रीरामकी ही धर्म-राज्य चलानेकी आज्ञा हो गयी तब उन्हें लाचार चुप होना पड़ा। फिर यह भी तो उन्हें विचार था कि जिस लङ्कामें भगवद्विमुख ही जीव रहते आये हैं वह यदि किसी तरह सन्मार्गपर आ जाय तो कितनोंका उद्धार हो जायगा। श्रीराम यदि अपनी मित्रताकी ही शपथ दिलाते तो भी विभीषण शायद टाल देते किन्तु जब *'कार्यं वै मम शासनम्'* ('मेरी आज्ञाका पालन करना पड़ेगा') कहा तब विभीषणसे जवाब नहीं बना। जो विभीषण श्रीरामको आरम्भसे ही अपने सर्वस्वके स्वामी मान चुके थे, उनकी आज्ञाका उल्लंघन वह कैसे करते? यह स्वीकार लालचसे न था, किन्तु अपनेको भगवत्किङ्कर मानकर उनकी आज्ञाको शिरोधारण करना था।

यही पितृ-त्यागका सवाल लक्ष्मणपर भी एक बार आ चुका है। वह जिस समय श्रीअयोध्यासे भगवान् श्रीरामचन्द्रकी सेवकतामें वनको जाने लगे तब कहा गया कि पिताको छोड़कर आपका जाना कैसे ठीक होगा? उसपर श्रीसुमित्रानन्दनने कहा—

अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये।
भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः॥

'मैं महाराजमें अपना पितृभाव उपलक्षित नहीं करता। मेरे भ्राता समझिये, स्वामी समझिये, बन्धु समझिये, पिता समझिये, सब कुछ श्रीरामचन्द्र हैं।'

श्रीसौमित्रेय श्रीरामके अनन्य भक्त थे। वह उनकी महिमाको जानते थे। इसलिये शरीर-सम्बन्धसे सोपाधिक पिता दशरथको छोड़कर निरुपाधिक सकल प्राणीमात्रके बन्धु श्रीरामसे ही आपने प्रार्थना की—

'अग्रतस्ते गमिष्यामि पन्थानमकुतोभयम्।'
'अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते॥'

'मैं वनके रास्तेमें निर्भय होकर आपके आगे-आगे चलूँगा। आपके शयन करनेपर, जगनेपर आपकी सब सेवा करूँगा।'

यों श्रीरामचन्द्रकी परिचर्यारूपी फलकी ही लक्ष्मणने प्रार्थना की। श्रीरामने जब उन्हें अयोध्यामें ही छोड़नेका अभिप्राय प्रकट किया उस समय लक्ष्मणने आतुर होकर, जोरसे श्रीरामके चरण पकड़कर शरणागति स्वीकार की!

'स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः'

यहाँ विभीषण भी सोपाधिक बन्धु अपने भ्राताको छोड़कर श्रीरामचन्द्रके दास्यभावकी आशासे ही शरणमें आये थे, यह स्पष्ट दीख रहा है। यही कारण है कि जब विभीषण उदास होकर रावणको खरी बात सुनाते हुए उसकी सभासे उठ खड़े हुए, उस समय महर्षि वाल्मीकि भी ध्वनि-मर्यादासे उनकी तारीफ करते हैं। वे उन्हें 'श्रीमान्' कहकर अभिनन्दन करते हैं—*'अन्तरिक्षगतः श्रीमान्।'* अन्यथा जो विभीषण ***'परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च'*** (मैंने लङ्का, मित्र, धन सब छोड़ दिये हैं)। यों सब 'श्री' को छोड़कर जो आ रहे हैं वह कहाँसे श्रीमान् हुए? पर नहीं, अबतक श्रीरामके प्रतिकूल संसर्गमें थे। आज उनके सम्मुख जानेके लिये वह आकाशमें चढ़ रहे हैं, इससे बढ़कर और कौन-सा सौभाग्य होगा? इसीलिये महर्षि प्रहृष्ट होकर बधाई देते हैं *'अन्तरिक्षगतः श्रीमान्।'*

अन्यान्य स्थलोंमें भी महर्षि जहाँ-जहाँ प्रशंसा सूचित करना चाहते हैं, वहाँ उसका कुछ चिह्न रख देते हैं। जैसे—*'स तु नागवरः श्रीमान्।'* *'लक्ष्मणो लक्ष्मसम्पन्नः।'*

इस तरह जब श्रीरामकी किङ्करता ही विभीषणका लक्ष्य है, तब उनपर अधर्मकी शंका कैसे ठहर सकती है?

महात्मा दादूदयालजी

(लेखक—श्रीसूर्यप्रसादसिंहजी 'विशारद')

संसारके साहित्यमें सन्त-महात्माओं-की कृतियोंको समाज बड़े आदर और भक्तिकी दृष्टिसे देखता चला आ रहा है और भविष्यमें भी देखते रहनेकी आशा है; इसका कारण यही है कि सन्त-महात्मा अपने समयके प्रतिनिधि होते हैं और सांसारिक बन्धनोंमें लिप्त मनुष्योंके उद्धारार्थ उन दिव्य सन्देशोंको लेकर समय-समय-पर प्रकट हुआ करते हैं, जिनसे मानव-जीवन सुख-शान्तिमय बन सके। इनके साहित्यमें अन्यान्य कवियोंकी भाँति नरेशोंकी झूठी प्रशंसा, लौकिक प्रपञ्चोंके नीच पचड़े, कोरी कलाका कौशल और मनोविनोदकी क्षणिक सामग्री नहीं रहती, बल्कि वह परोक्ष सत्ताके अगम्य भावनाओंसे सर्वथा ओतप्रोत रहता है। इसीलिये समाज उनके दिव्य सन्देशोंका हृदय खोलकर स्वागत करता है और उनका पालनकर कष्टोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। यह लेख आज एक ऐसे ही परम सन्तकी जीवन-चर्चाके लिये लिखा है। हिन्दी-साहित्यका इतिहास देखनेसे ज्ञात होता है कि जिस समय हिन्दू-समाज-की अधोगति असहनीय हो गयी थी, चारों ओर यवनोंका हृदय-विदारक आतंक छाया हुआ था; उस समय सान्त्वना देनेवाली कोई ऐसी शक्ति न थी जो हिन्दू-जातिके मुरझाये हुए जीवन-को प्रफुल्लता प्रदान करती। यद्यपि उस समयके कतिपय उदार मुसलमान कवियोंने अपनी प्रौढ़ रचनाओंसे एकता स्थापित करनेके लिये यथासाध्य प्रयत्न किया, किन्तु उनका यह प्रयास धर्मान्ध विचारोंमें कुछ विशेष परिवर्तन न कर सका। ऐसी अवस्थामें यदि कोई शक्ति सहायक हो सकती थी, तो वह भगवान्‌की अनन्त शक्ति और करुणा ही थी, जो भगवान्‌के प्रतिनिधिरूप सन्तोंद्वारा समाजपर बरसती थी। महात्माओंके शुभागमनने ही भगवान्‌की उपासनापर लोगोंका ध्यान आकर्षित किया। सुतरां इसी भावनासे हिन्दी-साहित्यमें सन्त-साहित्यकी सृष्टि हुई। आचार्योंके अतिरिक्त महात्मा श्रीरामानन्दजी, कबीरजी, तुलसीदास-जी, धमदासजी, गुरु नानकदेवजी, सुन्दरदासजी, चरणदासजी, मलूकदासजी, मीराबाई, सहजोबाई आदि सन्त पुरुषों और महिलाओंने जो कुछ अपनी वाणीसे कहा, वही उस समय लोगोंका पथप्रदर्शक बन गया और उसे पाकर हिन्दू-जाति शक्ति-शालिनी हो गयी। महात्मा श्रीदादूदयालजी भी इन्हीं महात्माओंमेंसे एक हैं।

लोक-परिचय

आपका जन्म सं० १६०१ वि० में हुआ बतलाते हैं। आप अहमदाबादके रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इनकी जातिके विषयमें मतभेद भी है; कोई इन्हें गुजराती ब्राह्मण बताता है, तो कोई धुनियाँ। गुजराती ब्राह्मण बतानेवाले लोग महात्मा कबीरकी भाँति इनको साबरमती-नदीमें बहते लोदीराम नामक नागर-ब्राह्मणको मिलना बताते हैं। कुछ भी हो 'जाति न पूँछै साधुकी पूँछ लीजिये ज्ञान।' इनके गुरु परम पुरुष थे, जिन्होंने एक बूढ़े साधुके भेषमें इन्हें दर्शन दिया था। इन्होंने साखीमें कहा है—

गैब माँहि गुरुदेव मिल्या, पाया हम परसाद।
मस्तक मेरे कर धरया, दीक्षा अगम अगाध॥
सतगुरु सों सहजैं मिल्या, लीया कंठ लगाइ।
दाया भई दयालकी, तब दीपक दिया जगाइ॥

इनमें क्षमा और दयाका इतना आधिक्य था कि लोग इन्हें दादूदयाल कहते थे।

चमत्कार

अन्य सन्त-महात्माओंकी तरह इनका जीवन-

चरित्र भी चमत्कारपूर्ण और अद्भुत है। इनकी योगशक्ति इतनी प्रबल थी कि कितने ही मनुष्य इनकी दृष्टिमात्रसे ही आकर्षित होकर आत्मानन्दमें मस्त हो जाते थे। रज्जबजी और बखनाजीका वर्णन इसका प्रमाण है। रज्जबजी घोड़ेपर सवार होकर अपने विवाहमें जा रहे थे कि मार्गमें महात्मा-की दृष्टि उनपर पड़ी; दृष्टि पड़नी ही थी कि रज्जबजी घोड़ेपरसे उतरकर इनके चरणोंमें गिर पड़े और सिरका मौर उतारकर अपने छोटे भाईको विवाह करनेके लिये पहना दिया और आप आजन्म यति रहनेका निश्चयकर आनन्दमें निमग्न हो गये।

जिस समय बखनाजी निराणां ग्राममें (फुलेराके पास) जाकर होली गा रहे थे, उस समय दादूजीने कहा—

ऐसी देह रची रे भाई। राम निरञ्जन गावो आई ॥

इस शब्दने बखनाजीको इतना तन्मय कर दिया कि वह तत्काल उनके शरणागत हो गये। महात्मा दादूजीकी ख्याति जब सुदूर स्थानोंमें फैलने लगी तब एक बार बादशाह अकबरने भी इन्हें फतहपुर सीकरी बुलाया और चालीस दिनतक इनसे ज्ञान-चर्चा करनेके पश्चात् इलाही कलमा चलाया जो उनके सिक्कोंसे प्रमाणित होता है।

विचार-धारा

निर्गुणवादियोंमें महात्मा कबीर और दादू-दयालका हिन्दी-साहित्यमें विशेष स्थान है। इसका यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिये कि इस भावके पोषक अन्यान्य सन्तजनोंका अभाव था। पर यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो महात्मा कबीरजी और दादूजीमें भी कबीरकी अपेक्षा इनकी विचार-धारा अधिक सरस और लोकप्रिय सिद्ध होती है।

महात्मा कबीरका ज्ञान इतना उच्चकोटिका था कि साधारण समाज उस ज्ञानतक पहुँच ही नहीं सकता था। उनके वचनमें रामानन्दजीका निगुण-वाद, सूफियोंका प्रेम और वैष्णवोंके अहिंसा-मिश्रित भावोंने निरुपाधि, निर्गुण, सववाद और भेदयुक्त ईश्वरके तीन वादोंकी सृष्टि की थी, इससे जनता उनका पूरा अनुकरण नहीं कर सकी।

परन्तु दादूदयालकी निर्गुण उपासना-विधि इतनी सरल और सुविधापूर्ण हुई कि प्रायः सभी उसके अनुयायी हो गये। इनका उपासना-मार्ग बहुत ही शुद्ध, उच्च और वेदानुकूल था और इसका निर्माण भी इसी दृष्टिसे किया गया था कि सब श्रेणीके लोग इसे सरलता और सुगमतासे ग्रहण कर सकें। इनके पवित्र विचारोंको देखिये—

भाई रे ! ऐसा पंथ हमारा।
द्वै पखरहित पंथ गह पूरा, अबरन एक अधारा।
वाद विवाद काहुसौं नाहीं, माँहि, जगततैं न्यारा ॥
समदृष्टी सुभाइ सहजमें, आपहि आप विचारा।
में, तैं, मेरी यह मति नाहीं, निरवैरी निरकारा ॥
काम कल्पना कदे न कीजे, पूरन ब्रह्म पियारा।
एहि पथ पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहज सँभारा ॥

रहन-सहनकी सुन्दर रीति, कुरीतियोंका त्याग, परस्पर समानभाव, ईश्वरीय ज्ञानके सब अधिकारी आदि उच्चादर्श और उपयोगी भावनाएँ समाजके लिये बहुत ही कल्याणकारी सिद्ध हुईं। इनकी दिव्य भावना और विचारोंने ही इन्हें पथप्रदर्शक बनानेको बाध्य किया। इनकी चेतावनी वास्तविक और सच्ची चेतावनी थी। न तो उनमें अहम्मन्यता-की गन्ध थी और न व्यंगका ही पुट था। यही विशेषता थी कि सभी सम्प्रदायवालोंने इनके उपदेशामृत-वचनोंको पढ़कर स्वर्गीय शान्तिका अनुभवकर इनके विचारोंका स्वागत किया। अब ज़रा इनकी हृदयानुभूत भावनाओंको पढ़कर आनन्द उठाइये। संसारी भावनाओंसे मनको हटाइये और उस ब्रह्मके चरणोंमें चित्त लगाइये। सन्त-साहित्यमें प्रायः दो प्रकारके विषय होते हैं। एक साखी और दूसरे शब्द। साखी दोहोंमें कही जाती है और शब्द भिन्न-भिन्न छन्दोंमें। यहाँपर मैं कुछ साखियोंका ही दिग्दर्शन कराना चाहता हूँ—

हिन्दू-मुसलमानोंमें एकता स्थापित करनेके लिये—

दोनों भाई हाथ पग, दोनों भाई कान।
दोनों भाई नैन हैं, हिन्दू मूसलमान॥

उपास्यदेवकी सर्वव्यापकता और उसकी अटूट भक्तिके विषयमें—

घीव दूधमें रमि रह्या, व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढ़ैं ते और॥
दादू देख दयालको, सकल रहा भरपूर।
रोम रोममें रमि रह्या, तू जनि जानै दूर॥
केते पारिख पचि मुए, कीमत कही न जाइ।
दादू सब हैरान हैं, गूँगेका गुड़ खाइ॥
(दादू) जबतें हम निरपख भये, सबै रिसाने लोक।
सतगुरके परसादतैं, मेरे हरष न सोक॥
(दादू) बल तुम्हारे बापजी, गिणत न राणा राव।
मीर मलिक परधानपति, तुम बिन सब ही बाव॥

अब ज़रा उस अनन्त ज्योतितक पहुँचनेके लिये जिन-जिन उपादेय साधनोंकी आवश्यकता होती है, उन्हें देखिये—

सतगुर माला मन दिया, पवन सुरति सूँ पोइ।
बिन हार्थों निस दिन जपै, परम जाप यूँ होइ॥
(दादू) सब बातनकी एक है, दुनिया ते दिल दूर।
साँई सेती संगकर, सहज सुरति ले पूर॥
एक मुहूरत मन रहे, नाम निरंजन पास।
दादू तब ही देखता, सकल करमका नास॥
(दादू) पंचोंसे परमोद ले, इनहींको उपदेश।
यो मन अपणे हाथ कर, तो चेला सब देश॥
दादू दुखिया तबलग, जबलग नाँव न लेइ।
तब ही पावन परम सुख, मेरा जीवन येह॥

कर्ता

जाती नूर अलाहका, सिफ़ाती अरवाह।
सिफ़ाती सिजदा करै, जाति बे परवाह॥
वार पार नहिं नूरका, दादू तेज अनन्त।
कीमत नहिं करतारकी, ऐसा है भगवन्त॥
जीयें तेल तिल्लीनमें, जीयें गंध फुलिन्न।
जीयें माषण षीरमें, जीयें रब रूहिन्न॥

सार गहनी

दादू हंस परेखिये, उत्तिम करणी चाल।
बगुला बैसे ध्यान धरि, परतषि कहिये काल॥
गऊ बच्छका ज्ञान गहि, दूध रहै लौ लाइ।
सींग पूँछ पग परिहरै, अस्थन लागै धाइ॥

सुमिरन

हरि भज साफल जीवना, पर उपगार समाइ।
दादू मरणा तहँ भला, जहँ पसु पंखी खाइ॥
सब सुख सरग पयालके, तोल तराजू वाय।
हरि सुख एक पलक्कका, ता सन कह्यो न जाय॥

लव

जहँ आतम तहँ राम है, सकल रहा भरपूर।
अंतर गति ल्यौ लाइ रहु, दादू सेवग सूर॥
दीन दुनी सदकै करौं, टुक देखण दे दीदार।
तन मन भी छिन छिन करौं, भिस्त दोजख भी वार॥
कर बिन सर बिन कमान बिन, मारै खैंचि कसीस।
लागी चोट सरीरमें, नख सिख सालै सीस॥

प्रेम

ज्यूँ अमलीके चित अमल है, सूरेके संग्राम।
निरधनके चित धन बसै, यों दादूके राम॥
जबलग सीस न सौंपिये, तबलग इश्क न होइ।
आसिक मरणै ना डरै, पिया पियाला सोइ॥
इश्क मुहब्बत मस्त मन, तालिब दर दीदार।
दोस्त दिल हरदम हज़ूर, यादगार हुसियार॥
इश्क अलहकी जाति है, इश्क अलहका अंग।
इश्क अलह मौजूद है, इश्क अलहका रंग॥

पतिव्रता

प्रेम प्रीति इस नेह बिन, सब झूँठे सिंगार।
दादू आतम रत नहीं, क्यों मानै भरतार॥
हूँ सुख सूती नींदभरि, जागै मेरा पीव।
क्योंकरि मेला होइगा, जागै नाहीं जीव॥
तन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा पिंड परान।
सब कुछ तेरा तू है मेरा, यह दादूका ज्ञान॥

सूरमा

काइर काम न आवई, यहु सूरेका खेत।
तन मन सौंपै रामकौं, दादू सीस सहेत॥

काया कबज कमान करि, सार सबद करि तीर।
दादू यहु सर साँधि करि, मारै मोटे मीर॥

विनय

तिल तिलका अपराधी तेरा, रती रतीका चोर।
पल पलका मैं गुनही तेरा, बकसौ औगुण मोर॥
तुमकूँ हमसे बहुत हैं, हमकूँ तुमसे नाँहि।
दादूकूँ जनि परिहरौ, तूँ रहु नैनहुँ माँहि॥

कथनी

दादू कथणी और कुछ, करणी करैं कुछ और।
तिनतें मेरा जिव डरै, जिनके ठीक न ठौर॥

चेतावनी

दुख-दरिया संसार है, सुखका सागर राम।
सुख-सागर चलि जाइये, दादू तजि बेकाम॥
आपा पर सब दूरि करि, राम नाम रस लागि।
दादू औसर जात है, जागि सकै तो जागि॥

निश्चय

जहाँ राम तहँ मैं नहीं, मैं तहँ नाहीं राम।
दादू महल बारीक है, दुइको नाहीं ठाम॥

इन विचारोंसे पाठक यह स्वयं अनुभव कर सकते हैं कि उनकी अनन्त-वेदनाकी अनुभूति और उनके आनन्दका अनुभव किस चरम सीमाका था! वास्तवमें महात्माओंकी ही अमर कृतियाँ साहित्य-भण्डारका स्थायी साहित्य हो सकती हैं।

साहित्य

हिन्दी-साहित्य-भण्डार भरनेका श्रेय जैसे नामदेवजी, तुलसीदासजी, सूरदासजी, नानकजी, रैदासजी, हरिदासजी, कबीरदासजी और अन्यान्य सन्तों तथा वैष्णव-सम्प्रदायके प्रेमी महात्माओंको प्राप्त है, उसी प्रकार हमारे महात्मा दादूजीको भी अतुल सामग्रीसे साहित्य-काननके अलंकृत करनेका श्रेय प्राप्त है। महात्मा दादूजीकी इस दूरदर्शिताकी भूरि-भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है जब यह देखा जाता है कि उन्होंने अपने उत्तमोत्तम विचार उस समयकी प्रचलित हिन्दी-भाषाद्वारा ही बतलाये, जिसकी पुष्टि उनके साम्प्रदायिक विद्वान् स्वामी निश्चलदासजीके इस वचनसे होती है।

ब्रह्मरूप है ब्रह्मविद्, ताकी बाणी वेद।
भाषा अथवा संस्कृत, करत भेदभ्रम छेद॥

मैं अन्यान्य महात्माओंकी साहित्य-सामग्रीसे दादू-सम्प्रदायके साहित्यको कम नहीं समझता। यद्यपि उनकी सब साखियाँ उपलब्ध नहीं, किन्तु प्राप्य साहित्य भी उनको उच्च स्थान देनेके लिये कम नहीं है। यदि देखा जाय तो इस सम्प्रदायकी सारी कृतियाँ एक लाख पद्योंसे कम नहीं हैं। इस अतुल साहित्यका श्रेय दादूजीके मान्य शिष्योंको प्राप्त है जिनमें मोहनदासजी, सुन्दरदासजी, कुम्भारी पाव योगेन्द्र, जगन्नाथजी, गरीबदासजी, माधोदास-जी, जगजीवनजी, राघवदासजी, निश्चलदासजी, रज्जबजी और बखनाजी आदिके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, जिनकी ज्ञान-गर्भित साहित्यिक साखियोंसे दादूजीके पवित्र विचारोंको सर्वत्र फलनेमें बड़ी भारी सहायता मिली!

मरणासन्नके प्रति

गायौ नहिं राम-नाम जनम गमायौ बृथा, तू न सुरझाइ पायौ माया-उरझन है।
आँखि फारि दोऊ दीन बदन बिलोकै कहा, कोऊ है न तेरो अबै नेरो ही मरन है॥
कहत 'कुमार' हैं गुलाबनके बन तेरे ? सोभन सदन है कि सुन्दरी स्वजन हैं ?
भ्रातनके गन हैं कि तन हैं कि पूतनके, तनके रतन हैं कि तन है कि मन है ?

—शिवकुमार केडिया 'कुमार'

मेरी भूल

(लेखक—स्वामी श्रीमित्रसेनजी महाराज)

भूल जो आवे भूलमें, आवे सुमिरण माहिं । गङ्गा राम सुमिरण भला, भूल रहै फिर नाहिं ॥

जब मैं अपनी भूलको देख लेता हूँ तो फिर अपने अन्दर कोई भूल पाता ही नहीं, क्योंकि जब भूल मेरी दृष्टिमें आ गयी तो मानो स्मरण ही हो गया । उस समय मेरी वह भूल भूलके रूपमें कैसे रह सकती है, कदापि नहीं रह सकती । और यदि मैं अपनी भूलको भूल जाता हूँ तो इसप्रकार अपनी भूलको भूल जाना भी स्मरण ही है, क्योंकि स्मरण होनेपर ही भूलमें भूल होती है । इसी प्रकार जब भूलको स्मरण करता हूँ तब भी स्मरण ही होता है । उस समय भूल कहाँ रह सकती है ? इसलिये हे मेरी भूल ! तू तो बहुत ही गहरी भूल है । इतनी गहरी है कि किसी प्रकार मेरी पकड़में ही नहीं आती ! परन्तु जिस समय मैं यह कहता हूँ कि मैं भूल गया, उस समय मेरी द्विविध गति होती है । एक तो यह कि स्मरण हो जानेपर यही कहना होता है कि मैं भूल गया था । और दूसरी बात यह है कि जहाँ अपनी भूलका पता लगा वहीं भूलके साथ-ही-साथ स्मरणकी चेष्टा भी अपने अन्दर स्फुरित हो जाती है । और स्मरणकी चेष्टा होनेपर भूल कहाँ रह सकती है, अन्ततोगत्वा वह स्मरणमें ही परिणत हो जाती है । इसके अतिरिक्त जबतक स्मरण नहीं होता तबतक उसकी चेष्टा बनी ही रहती है और जबतक भूलका स्मरण नहीं होता तबतक जीवको किसी प्रकार विश्राम नहीं मिलता, ज्यों-त्यों उसे स्मरणकी कोटिपर पहुँचना ही पड़ता है ।

इसप्रकार जब मैं अपनी भूलके सम्बन्धमें यह विचार करता हूँ कि मेरे अन्दर यह भूल क्या वस्तु है तो उस समय मैं यह देखता हूँ कि यह तो स्मरण-का ही एक साधन है । मेरे अन्दर यदि भूलका अस्तित्व ही न हो तो फिर स्मरणकी कोटिपर पहुँचना कैसे सम्भव हो सकता है ? परन्तु खेद तो इस बातका है कि यदि वह स्मरण फिर भूलमें परिवर्तित हो जाय और मैं यह कहने लगूँ कि मैं तो फिर भूल गया तब फिर स्मरण कहाँ रहा ? वह तो मेरी भूल ही हो गयी । वास्तवमें यह मेरी भूल भूलके रूपमें नहीं रह सकती, क्योंकि जिस समय मैं यह जाननेकी चेष्टा करता हूँ कि मैं क्या भूल गया, उसी क्षण मानो मेरे अन्दर उस भूलकी खोज प्रारम्भ हो जाती है । और जबतक स्मरण नहीं हो जाता तबतक वह खोज अथवा पुरुषार्थ जारी रहता है, इसप्रकार मेरी यह भूल क्या है, मानो मेरा पुरुषार्थ ही है और यह पुरुषार्थ ही मेरा जीवन है इसलिये मेरी यह भूल ही मेरा जीवन है यह कहना असंगत न होगा।

हे मेरी भूल ! मेरी प्यारी भूल ! मेरी गहरी भूल ! जब तू मेरा जीवन ही है, तब बता मैं तुझे कैसे भूल जाऊँ ? तू मेरे जीवनका मूल है, तू ही मुझे स्मरणके क्षेत्रमें पहुँचानेका साधन है। परन्तु इस साधनको भी मैं किस रूपमें देखूँ ! क्योंकि जब मैं यह कहता हूँ, कि मैं अपने प्रभुको भूल गया, तो मेरा यह कथन भी तभी सम्भव है जब अपने अन्दर अपने प्रभुका स्मरण होता है । ऐसी दशामें मेरी भूल क्या हुई ?

बात यह है कि जब मैं यह देखनेकी चेष्टा करता हूँ कि मेरी भूल क्या है, कैसी है और कहाँ रहती है तो उस समय मानो मेरा मरण ही हो जाता है और जब इस मरणावस्थासे बाहर निकलता हूँ तो

फिर जीवनके क्षेत्रमें आ जाता हूँ। इसप्रकार जब मेरी भूल नहीं तो मेरा मरना भी कैसा ? जब मैं यह खोज करता हूँ कि मेरी भूल कहाँ रहती है, तो देखता हूँ कि वह संसारहीमें रहती है। क्योंकि जब मैं भूलकी दशामें रहता हूँ तो मैं यही देखता हूँ कि मैं किसी सांसारिक पदार्थ अथवा मनुष्यका नाम भूल जाता हूँ। परन्तु इस भूलको ईश्वरके अन्दर कभी नहीं पाता। यदि मैं ऐसा कहूँ कि मैं अपने ईश्वरको भूल गया तो वह मेरा कथनमात्र ही होगा, वास्तवमें ईश्वरका भूलना क्या ? ईश्वरके विस्मरणका स्मरण भी तो स्मरण ही है। ईश्वरमें भूल ही क्या हो सकती है ? मेरा यह कहना कि मैं ईश्वरको भूल रहा हूँ ईश्वरका स्मरण ही तो है। क्योंकि ऐसा कहते समय ईश्वर स्मरणगत ही रहता है। उस समय अपने स्मरणकी गति ऐसी नहीं होती जैसी संसारी भूलमें होती है। इसमें हेतु यह है कि ईश्वर एक है, उसमें भूलका कारण क्या हो सकता है ? इसके विरुद्ध जगत्के अनेक रूप हैं। उनमेंसे एक दूसरेको भुला देता है। सारांश यह है कि यह दृश्यमान जगत् सारा भूल-ही-भूल है।

यदि ईश्वरके सम्बन्धमें मैं ऐसा कहूँ कि मैं उसे भूल गया तो मेरा यह कथन संसारी दशामें ही सम्भव हो सकता है। ईश्वरीय दशामें यह कथन बन नहीं सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वरमें मन लगाये रहना ही अपना स्मरण है और यही अपना जीवन है। इसमें यदि भूल हो तो किसके द्वारा और कैसे हो ? साथ ही यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि ईश्वरके अथवा अपने स्मरणमें लगानेवाली अपनी भूल ही है, क्योंकि भूलसे ही स्मरण होता है। इसीलिये यह भूल मुझे बहुत प्यारी है।

हे मेरे प्रभो ! मैं तुम्हें भूलकर देखूँ तो कैसे देखूँ ? तुम यदि मेरी भूलमें आओ तो कैसे आओ ? तुम तो मेरी स्मृतिमें ऐसे चिमट गये कि उसे एक क्षण भी नहीं छोड़ते। फिर मेरी यह भूल तुमने क्यों बनायी ? जब बनायी है तो इसे भी एक बार देखो तो सही ! अहा ! हे मेरे प्रभो ! तेरी भूल, प्यारी भूल, यह तो मेरी भूल, मेरी ही भूल है ! तू तो तू-ही-तू और तू-ही-तू है।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

तत्त्व

छील-छील थालीमें रक्खा फल खाया तो क्या खाया।
घरके पैसेसे ख़रीद कर मधु लाया तो क्या लाया॥
हो आनन्द-मगन सुखमें गाना गाया तो क्या गाया।
घर बैठे-बैठे कुबेरका धन पाया तो क्या पाया॥

छिदा-छिदा काँटोंसे फल खाओ, मधु लाओ तो जानूँ।
दुखमें गाओ, छान-छान बालू धन पाओ तो मानूँ॥

—श्रीगोपालसिंह नेपाली

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

(गतांकसे आगे)

७२९–यद्यपि चेतना (सर्वत्र) एक ही है तथापि बिच्छूके डंक मारनेपर केवल जगन्नाथको ही व्यथा होती है, समीपमें खड़े हुए उसके मित्र विश्वनाथको नहीं। अन्तः-करण अथवा मन प्रत्येक व्यक्तिके अलग-अलग होते हैं। केवल अन्तःकरण ही मनुष्यको परिच्छिन्न बनाता है, अविद्याके आवरणके दूर होनेपर वह वस्तुतः ब्रह्मके साथ तादात्म्य हो जाता है।

७३०–मेरे मित्र, नारायण, जो मेरे सामने खड़े हैं मेरी निजी मानसिक सृष्टि हैं। हिरण्यगर्भ भी मेरी अपनी मानसिक सृष्टि है।

७३१–आदर्शवाद-सिद्धान्तके अनुसार यथार्थमें जगत् है ही नहीं; सब कुछ मानसिक कल्पना है। यह बौद्धोंका विज्ञानवाद है।

७३२–सत्कार्यवाद-सिद्धान्तके अनुसार जगत् एक मौलिक तत्त्व है। यहाँतक कि मध्वाचार्यके द्वैतवाद, श्री-रामानुजके विशिष्टाद्वैतवाद तथा महर्षि पतञ्जलिके राज-योगके अनुसार जगत् सत्य है।

७३३–कुण्डलिनीके जागृत होनेपर प्राण, मन और अग्निके साथ सुषुम्ना अथवा ब्रह्म-नाड़ीके द्वारा ऊर्ध्वमुखी होता है। योगी भौतिक चेतनासे मुक्त हो जाता है। कुण्डलिनीके जागृत करनेके बाद तुम्हें इसको कार्य-कारण, शक्तिचलन, अश्विनीमुद्रा, ताड़न, प्रचरणके द्वारा उठाना होगा, यह सभी कुण्डलिनीके जगानेमें सहायक होते हैं। महाभेद कुण्डलिनीको उच्च स्थानमें उठानेमें सहायक होता है।

७३४–वृत्ति कहाँसे उठती है? चित्त या मनसे। वृत्ति क्यों उठती है? यह अन्तःकरणका स्वभाव ही है। इसका परिणाम क्या होता है? यह आवरण-भङ्गका हेतु है, (अर्थात् वस्तुओंको आच्छन्न करनेवाले स्थूल अविद्याके पर्देको हटाती है।) मनुष्यको पूर्णत्वकी प्राप्तितक यह सहायता पहुँचाती है।

७३५–चेतना (संवित्) सदा एकरस बनी रहती है। स्वप्नसे जगनेपर तुम्हें मालूम होता है कि तुम सुषु-वस्थामें भी थे। तुम्हें अनुभव होता है कि तुम सदा स्थित रहते हो। यह आन्तरिक भावना है।

७३६–परिच्छिन्न मन जो देश-काल-पात्रपर अवलम्बित है, जगत्के मूल उद्देश्य और कारणको नहीं जान सकता। यह तो उसकी शक्तिके परेकी बातें हैं। इस प्रश्नका उत्तर तो आजतक न किसी मनुष्यने, न शास्त्रोंने और न तत्त्व-दर्शी आचार्योंने ही दिया है। इस विषयपर अपने मनको व्यर्थ न लगाओ। इस साध्यकी सिद्धि तुम्हें कभी नहीं प्राप्त हो सकती। यह तो ब्रह्मकी मौज है जिसके द्वारा यह सृष्टि होती है। यह उसका लीला-विलास है, यह उसकी माया है, यह उसका स्वभाव है।

७३७–विषय तुम्हें बन्धनमें नहीं डालते। वृत्तियाँ तथा उनके सम्बन्ध ही बन्धन और आसक्तिके कारण हैं।

७३८–आसन शरीरको स्थिर करता है, मुद्राओंसे शरीर दृढ़ होता है। प्राणायामसे शरीर हल्का होता है। नाड़ी-शुद्धिसे मनकी साम्यावस्था प्राप्त होती है। इन विशेषताओंके प्राप्त करनेपर तुम ब्रह्ममें मनको लगा सकोगे। तब ध्यान सुखपूर्वक निर्विघ्न हो सकेगा।

७३९–एक वैज्ञानिक अपने मनको एकाग्रकर अनेकों आविष्कार करता है। ध्यानके द्वारा वह स्थूल मनके तहों-को खोलता है तथा मनके उच्चतम प्रदेशमें खूब गम्भीरता-पूर्वक प्रवेशकर अति गम्भीर ज्ञानको प्राप्त करता है। वह अपनी सारी मानसिक शक्तिको एक केन्द्रमें केन्द्रीभूत करता है और उनको उस सामग्रीमें लगाता है जिसका वह विश्लेषण कर रहा है और इसप्रकार उनके रहस्यका ज्ञान प्राप्त करता है।

७४०–जिस मनुष्यने मनको स्वेच्छानुसार चलाना सीख लिया है वह समस्त प्रकृतिको वशीभूत कर सकता है।

७४१–मन समस्त पदार्थोंको विषय करता है और भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्कालमें व्याप्त होता रहता है। मन एक ही है परन्तु इसके परिणाम विभिन्न हैं।

७४२–आत्मा ही एक शाश्वत तत्त्व है। हमें एक आन्तरिक इन्द्रियके अस्तित्वको मानना पड़ेगा जिसके अवधान तथा अनवधानके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है।

७४३–बृहदारण्यक उपनिषद्के भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्य मनके अस्तित्वके विषयमें दो प्रमाण देते हैं। पहला यह है कि मनके द्वारा ही ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा समस्त ज्ञान सम्भव होते हैं। इसे 'सर्वकर्मविषययोगी' कहते हैं। दूसरा प्रमाण निर्णय करनेकी क्षमता है जो हम सबमें होती है। कोई मनुष्य, जिसे हम देखते नहीं, आकर हमें छू देता है और हम अनुमानके द्वारा जान लेते हैं कि छूनेवाला एक मनुष्य है। केवल स्पर्शसे ही हम इस तथ्यको नहीं जान सकते। वह गुण, जिसके द्वारा हम यह अनुमान निकालते हैं, मन है।

७४४–प्रत्यक्ष ज्ञानके अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार आन्तरिक चेतनाके द्वारा ही प्रत्यक्ष सम्भव होता है। हमारी आन्तरिक चेतना विषय-गत चेतनासे मिलती है और परिणाम प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है। इसलिये इससे यह नहीं कहा जा सकता कि मन और इन्द्रियाँ निरर्थक हैं; तत्तद्विषयोंके प्रत्यक्षको ग्रहण करनेके लिये इन्द्रियोंकी आवश्यकता है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है—इससे यह नहीं निकलता कि इन्द्रियाँ व्यर्थ हैं क्योंकि वह प्रत्येक अपने-अपने विशिष्ट विषयोंके निश्चय करनेका काम करती हैं।

७४५–आत्मा अथवा ब्रह्मका स्वभाव क्या है? वह सत्-चित्-आनन्द है, आत्मा व्यापक है। तब वैयक्तिक आत्मदृष्टिको परिच्छिन्न कौन करता है? यह केवल मनके द्वारा होता है। इससे एक अन्तरिन्द्रिय मनका अस्तित्व सिद्ध होता है।

७४६–यदि गुरुवारकी रात्रिमें तीन दृढ़ विचार तुम्हारे मनमें उठे हैं तो शुक्रवारके प्रातःकाल पहले वही क्रियारूपमें उपस्थित होंगे। जितने ही दृढ़ विचार होंगे उतना ही शीघ्र उनका परिपाक होगा।

७४७–धृत्ति ही ज्ञानीके भीतर कुण्डलिनीको अग्निचक्रमें खोलती है और उसे सहस्रारचक्रसे मिलाती है यह एकमार्ग है।

७४८–मन ही माया है। मन ही जगत् है। जब मन शुद्ध हो जाता है तो केन्द्रमें एक रन्ध्र हो जाता है जिसके द्वारा पवित्रता, प्रकाश और ज्ञान ब्रह्मकी ओरसे प्रवाहित होने लगते हैं।

७४९–जब हवाके वेगसे दीपककी ज्योति झिलमिलाती रहती है तब तुम्हें वस्तुएँ साफ-साफ नहीं दीखतीं। इसी प्रकार जब बुद्धि द्वेषके द्वारा क्षुब्ध रहती है तो उसमें अस्तव्यस्तता उत्पन्न होती है और तुम विषयोंको ठीक-ठीक समझने और देखनेमें समर्थ नहीं होते। बुद्धि ही प्रकाश है।

७५०–मन भौतिक पदार्थ है। यह विचार इस सिद्धान्तपर अवलम्बित है कि आत्मा ही ज्ञानका एकमात्र स्रोत है। यह स्वयंसिद्ध है, स्वयंज्योति है। परन्तु मन और इन्द्रियाँ अपनी क्रियाशीलता तथा जीवन आत्मासे ही प्राप्त करती हैं। स्वयं तो वह निर्जीव होती हैं। अतः आत्मा सदा विषयी है, विषय नहीं; मन आत्माका विषय हो सकता है। और वेदान्तका यह मुख्य सिद्धान्त है कि जिसका अस्तित्व दूसरेके लिये है, तथा जो किसी विषयीका विषय है वह जड है। यहाँतक कि अहंप्रत्ययविशेषत्व अर्थात् अहंकारका सिद्धान्त भी अचेतन है, वह अपनी ज्योतिसे प्रकाशित नहीं होता। यह आत्माके स्व-ज्ञानका कारणभूत है।

७५१–दृढ़ सुषुप्तिमें मनका स्थान हृदय होता है, सुप्तावस्थामें मन गलेमें निवास करता है और जाग्रत्-अवस्थामें वह दाहिनी आँख अर्थात् अग्निचक्रमें रहता है। ध्यान दो कि आलोचना करते समय तुम्हें क्या करना पड़ता है? अपनी अंगुली तुम ठुड्डीपर रखते हो, गर्दनको दाहिनी ओर घुमाते हो, भृकुटीके ऊपर ध्यान जमाते हो और तब अपने दिमाग़में आये हुए विषयपर गम्भीरतापूर्वक सोचते हो। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मनका स्थान अग्निचक्र है।

एक राजा, यद्यपि अपने सम्पूर्ण राज्यपर अपना अधिकार रखता है, यद्यपि सम्पूर्ण राज्य उसका है तथापि वह अपने रहनेके लिये एक विशेष महल रखता है। राजधानीमें उसका एक भव्य महल होता है और ग्रीष्ममें रहनेके लिये दूसरा एक सुन्दर महल मंसूरी या आबू पर्वतपर होता है। इसी प्रकार यद्यपि मन समस्त

शरीरमें व्याप्त है तथापि तीनों अवस्थाओंमें जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें अग्निचक्र-कण्ठ-हृदय तीन स्थानोंपर रहता है। जहाँ प्राण रहता है, मन भी वहीं रहता है। यहाँतक कि प्रश्वासमें बाह्य श्वासके साथ मन युक्त होता है।

७५२–मनकी शुद्धिसे स्वयमेव ब्रह्म-ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो जाती। शुद्ध होनेपर मन दिव्य प्रकाश और आनन्दके प्राप्त करनेके योग्य होता है। मनके शुद्ध हो जानेपर तुम्हें श्रवण-मनन और निदिध्यासनका आश्रय लेना पड़ेगा।

७५३–जीवन्मुक्त जीते हुए भी जन्म और मृत्युके पाशसे मुक्त होता है। व्यवहार-दशामें वह अपने मन और शरीरको करणके समान प्रयोग करता है। यदि तुम कहो कि ज्ञानके प्राप्त होते ही उसका मन पूर्णतया विनष्ट हो जाता है तो जीवन्मुक्त दशा असम्भव है। राजा जनकके समान जीवन्मुक्त पुरुषोंके उदाहरण पाये जाते हैं जिन्होंने ज्ञान प्राप्तकर अपने मन और शरीरको मानव-जातिके हित-साधनमें लगाया था।

७५४–जीवन्मुक्त पुरुषको यद्यपि असीम शक्ति प्राप्त होती है तथापि वह अपने अवच्छिन्न मनके द्वारा अपनी समस्त सिद्धियोंका प्रकाश नहीं कर पाता।

७५५–विचार और कर्मके प्रभावोंकी समीचीन व्याख्या (Detailed explanation) करना बहुत ही कठिन है। प्रत्येक कर्मके दो प्रकारके प्रभाव होते हैं—एक तो वैयक्तिक मनपर और दूसरा जगत्के ऊपर।

७५६–तुम्हारे विचार वाणीके अनुरूप होने चाहिये। यही आर्जव कहलाता है। इसका अभ्यास करो, तुम्हें विलक्षण लाभ प्राप्त होगा।

७५७–यदि तुम बारह वर्षतक सत्यका अभ्यास करो तो तुम्हें वाक्सिद्धि प्राप्त हो जायगी। जो कुछ तुम कहोगे वह हो जायगा, चिन्ता दूर हो जायगी। सत्य-भाषणके द्वारा तुम बहुतेरे दोषोंसे बच जाओगे।

७५८–भौतिक शरीर और वाणीका पहले संयम करो। तब धीरे-धीरे विचारोंको वशमें करनेके लिये आगे बढ़ो। दूसरेका दोष मत देखो। वागिन्द्रियका संयम पहले करो। धीरे-धीरे मन दूसरोंमें दोष-दृष्टि छोड़ने लगेगा। मन स्वयमेव कहेगा—'जब वाणी प्रकट करनेके लिये तैयार नहीं है तो मैं ही क्यों दूसरोंके दोषोंका चिन्तन करूँ?' आचार शुद्ध होनेहीसे कर्मोंपर तुम्हारा अधिकार हो सकेगा। जब तुम किसी मनुष्यके दोषोंको प्रकट करते हो तो कितने मनुष्योंके मनको तुम विषाक्त कर देते हो। दूसरोंका दोष दिखलाना बड़ा ही घृणित कर्म है। परन्तु यथासमय निष्पक्ष आलोचना की जा सकती है।

७५९–मनके अभिनय-कृत्योंको देखो, परन्तु उसमें रत न हो जाओ।

७६०–यदि एक नादमें तुम पानी पीना चाहते हो तो तुम्हें अपने शरीरको झुकाना पड़ेगा। इसी प्रकार एक उन्नत मनके सामने एक तुच्छ मनको झुकना ही होगा, यदि वह उसके गुणोंको अपनाना चाहता है।

७६१–गङ्गा तथा नर्मदाका तट, हिमालयके सुरम्य दृश्य, सुन्दर पुष्पोंकी वाटिकाएँ, पवित्र मन्दिर—ये ऐसे स्थान हैं जो मनको ध्यान तथा एकाग्रताके लिये उठाते हैं। उनके ही शरणापन्न होओ।

७६२–एकान्त स्थान, उत्तर काशी, ऋषिकेश, बद्रीनारायण-जैसे आध्यात्मिक भावोंको उत्तेजन देनेवाले स्थान, शीतप्रदेश और अनुकूल जलवायु—ये अवस्थाएँ मनको एकाग्र करनेके लिये अत्यन्त ही आवश्यक हैं।

७६३–वासना-क्षय, मनोनाश तथा तत्त्वज्ञानका जब दीर्घकालतक अभ्यास होता है तभी वह फलीभूत होते हैं। इनका क्रमशः अभ्यास होना चाहिये। इन तीनोंका जबतक बारम्बार अभ्यास नहीं होता तबतक सैकड़ों वर्ष बीत जानेपर भी परम तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यहाँतक कि इनमेंसे एकका ही बहुत समयतक अभ्यास किया जाय तो उससे फलीभूत होनेकी आशा नहीं रहती। चिरकालतक इन तीनोंके अभ्याससे निस्सन्देह कमल-दण्ड-के युग्म खण्डके जोड़नेवाले तन्तुके टूटनेके समान हृदयकी दृढ़ ग्रन्थि कट जाती है।

(क्रमशः)

तिगरानेवाले परमहंसजी

(लेखक—पं० श्रीबालकृष्णजी शर्मा)

आज जिस सौम्य-मूर्तिका दर्शन कल्याण-प्रिय पाठकोंको कराया जाता है वे भिवानी-नगरीके समीपवर्ती तिगराना नामक ग्रामको पवित्र करनेवाले परमात्माके परम प्यारे परमहंसकी है । इनके तेजोमय ललाट, प्रतापपूर्ण मुखमण्डल, हृष्ट-पुष्ट शरीरको देखकर बड़ा ही आनन्द प्राप्त होता है । इनके दिव्य-दर्शनोंको नित्य सैकड़ों मनुष्य दूर-दूरसे आया करते थे, और पूर्णमनोरथ होकर लौटते थे ।

कोई तीस-चालीस वर्ष हुए ये महापुरुष तिगरानेके समीप वनमें पूलियोंके झोरोंमें रहा करते थे । एक समय तिगरानेमें प्लेगका प्रकोप हुआ और लोग अपने-अपने प्राण लेकर ग्रामसे भागने लगे । किसी सज्जनको इनका भी स्मरण हो आया और वह इनके पास जाकर इनसे भी चले जानेकी प्रार्थना करने लगा । पहले तो आपने उसकी बात सुनी-अनसुनी कर दी, परन्तु जब और भी लोगोंने कहा, तब आप उठ खड़े हुए और 'कूँ-कूँ' करते हुए उसी तिगरानेकी ओर चल दिये, जहाँ महामारी फैल रही थी । आगे-आगे आप, और पीछे-पीछे जनता चली आ रही थी । जब आप मूलचन्दजी पटवारीकी हवेलीके पास आये, उसमें घुसकर कोठेपर जा चढ़े । उसी दिनसे प्लेग तिगराना छोड़कर भाग गयी ।
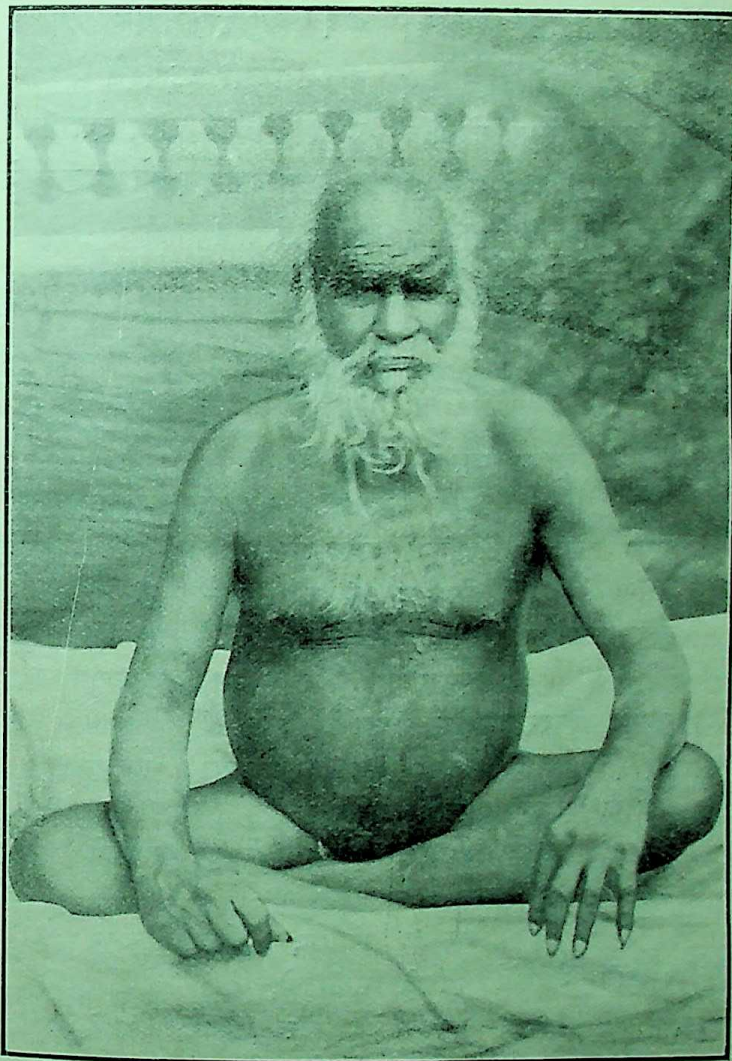
जिस दिन आप उस हवेलीके कोठेपर चढ़े, तबसे शरीर त्यागनेतक वहीं रहे । कहते हैं आप कोई पन्द्रह सोलह वर्षतक उस कोठेपर रहे और उस भाग्यशाली पटवारीके घरको आपने पवित्र तीर्थ बना दिया । उसने भी समझ लिया कि मानो साक्षात् भगवान्‌ने मेरे घरमें पदार्पण किया है । वह और उसके कुटुम्बी बड़े प्रेमसे आपकी सेवा करने लगे । आप बिल्कुल नग्न रहते थे और खड़े-खड़े ही मल-मूत्र भी त्यागा करते थे, परन्तु धन्य है मूलचन्द पटवारीको कि जिन्होंने पिताके समान

इनकी सेवा करना, नित्य स्नान कराके तिलक-चन्दन लगाना, आरती उतारना और जो कुछ रूखा-सूखा आप खाना वही पहले इन्हें खिलाना, इतने दिनों-तक अपना परम कर्तव्य समझा। इन महात्माका भी यह हाल था कि जिस प्रेमसे उस प्रीति-प्रसादको पाकर आप प्रसन्न होते थे, अमीरोंके मिष्टान्न, पक्वान्न-से वैसा न होते थे।

आपका स्वभाव था कि कोई भी मिलने आता था तो आप 'दारिका, दारिका, दारिका' कहते हुए उसकी ओर दौड़ते और यदि पकड़ लिया, तो भींच डालते अथवा कोई वस्तु हाथ लग गयी तो उसे ही दे मारते थे। कई विश्वस्त साक्षियोंकी जबानी ज्ञात हुआ है कि इसप्रकारके प्रसाद पानेवालेका भाग्य खुल जाता था। एक बार उस पटवारीकी गर्भवती स्त्री भोजन लेकर आयी। आपने उसे ऊपरसे चौकमें धक्का दे दिया। स्त्रीके ज़रा भी चोट न आयी और दो-ही-चार दिनों बाद उसके पुत्र हुआ।

आपको दही-बड़े बहुत भाते थे और दर्शना-भिलाषी जन भेंटके लिये प्रायः ये ही ले जाया करते थे। परन्तु दही-बड़ोंका पात्र इनके हाथमें पहुँचा कि बालक इनपर टूट पड़ते थे और छीन-झपटकर खाने लगते थे। यह लीला दर्शनीय हुआ करती थी।

कुछ वर्ष हुए इन महात्माने इस नश्वर शरीरको त्याग दिया।

वह विभूति

क्षितिजके कूलपर ऊषाका कलोल यह,
मन्द मन्द मलय समीरका महकना।
प्रणयी विरहमें विहङ्गोंका प्रणय-गान,
कोयलका कलित निकुञ्जमें कुहकना॥
नृत्य बालरविका सलिल-वीचियोंके सङ्ग,
चूमना प्रसून और मोतीका ढुलकना।
रङ्गमञ्च सुन्दर प्रकृतिका बताता किसी
परदेकी ओट नाट्यकारका झलकना॥
प्रकृतिकी क्रोड़में, वनस्थलीके अञ्चलमें,
विकसित फूलोंकी विमल मुसकानमें।
मधुर पराग-मदिराकी मनमोहिनीमें,
झरनोंके निर्झरमें, सरिताके गानमें॥
कविताके जीवनमें, चित्रकी सजीवतामें,
नायकके नेह और गायककी तानमें।
वही एक सुन्दर विभूति राजती है नित्य,
जल, थल, अनल, अनिल, आसमानमें॥

—सन्तप्रसाद वर्मा

ब्रह्मविद्या-रहस्य

(अनुवादक तथा लेखक—श्रीनृसिंहदासजी वर्मा)

[अर्थात् ईशावास्योपनिषद्‌के शांकरभाष्यसहित प्रथम मन्त्रका अक्षरशः अनुवाद तथा विस्तारपूर्वक भाष्य-रहस्य-निरूपण]

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

भवसागरसे तरनेके लिये शास्त्रोंमें दो मार्गोंका विधान किया गया है—एक कर्ममार्ग और दूसरा ज्ञानमार्ग। तीसरा जो उपासनामार्ग बतलाया गया है वह तो एकमात्र ध्येयको ही विषय करनेवाली अन्तःकरणकी वृत्तिका परिणामरूप व्यापार होनेके कारण एक प्रकारका मानसिक कर्म ही है। इसप्रकार जो शारीरिक चेष्टाद्वारा किया जाता है उसे कायिक कर्म और उपासनाको मानसिक कर्म कहते हैं। अतः कर्ममार्ग कहनेसे उपासनामार्ग उसके भीतर ही आ जाता है। इस समय हमें ब्रह्मविद्यापर विचार करना है; इसलिये कर्म और उपासनाका ज़िक्र न करते हुए हम अपने अभिधेय विषयका ही प्रतिपादन करते हैं।

ब्रह्मविद्या—इन शब्दोंमें ही ऐसी मधुरता, ऐसी लावण्यता, ऐसी चित्ताकर्षकता, ऐसी मादकता और ऐसी महत्त्वपूर्णता पायी जाती है कि कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य जिसे अपने त्रिविध दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिकी उत्कण्ठा हो, नाना प्रकारके द्वन्द्व सहकर भी इसे येन-केनोपायेन सम्पादन किये बिना नहीं रह सकता। उसपर भले ही आपत्तियोंके पहाड़ टूट पड़ें, उसका सर्वस्व छिन जाय, शरीर काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया जाय, तो भी वह धीर और मतिमान् पुरुष ब्रह्मविद्या सम्पादनकर अपने प्रियतम आत्मदेवरूप भगवान् श्यामसुन्दरका साक्षात्कार किये बिना नहीं रह सकता। वह प्राणप्रिय मनमोहन ही इस ब्रह्मविद्याका चरम लक्ष्य तथा इसका वेद्य है।

इस ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें केवल हिन्दू-शास्त्रोंमें वर्णित महात्माजन ही कटिबद्ध नहीं हुए, वरं अन्य मतानुयायी धीर महानुभावोंने भी इस परम पावनी गङ्गाकी धारामें डुबकी लगानेके लिये भरसक प्रयत्न करनेमें कसर नहीं छोड़ी। शम्स तब्रेज़की खाल खींची गयी, मन्सूर सूलीकी भेंट हुए, सर्मदका सिर उतारा गया—ये सब बातें इन मुसलमान फक़ीरोंने खुशीसे स्वीकार कीं परन्तु ब्रह्मविद्या-मात्रैकगम्य उस प्रियतम प्यारेको अपना आत्मस्वरूप बतलानेसे एक तिलभर भी नहीं हटे। यह है ब्रह्मविद्याकी महत्ता जाननेवालोंका सिदक़ (औदार्य)। इस आनन्दको वही तो अनुभव कर सकता है जो ब्रह्मशरका घायल हो चुका है; दूसरे विषयलम्पट पुरुष इसे क्या जानें?

शास्त्रोंमें इस परम पुनीत ब्रह्मविद्यासे बढ़कर और किसी वस्तुकी प्रशंसा नहीं पायी जाती। उदाहरणके लिये कुछ प्रमाण उद्धृत करते हैं—

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्ता च सर्वाऽवनि-
र्यज्ञानां च सहस्रमिष्टमखिला देवाश्च सम्पूजिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरः त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्॥

(वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलिः)

अर्थात् जिस मनुष्यका चित्त ब्रह्मचिन्तनमें एक क्षणके लिये भी स्थिर हो गया उसने सारे तीर्थोंके जलमें स्नान कर लिया, समग्र पृथिवीका दान कर दिया, हजारों यज्ञ कर लिये, अखिल देवताओंका पूजन किया तथा अपने पितरोंका संसारसे उद्धार कर दिया और वही तीनों लोकका पूजनीय है।

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलिमें कहा है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसच्चित्सुखसागरेऽस्मि-
ल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

अर्थात् जिसका मन अपार सच्चिदानन्दसमुद्र परब्रह्ममें लीन हो गया है, उसका कुल पवित्र हो जाता है, माता

कृतार्थ हो जाती है और उसके कारण पृथिवी भी पुण्यवती हो जाती है।

शास्त्रमें ऐसे एक नहीं, अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। इसी प्रकार एक उच्च कोटिके मुसलमान फक़ीर ख़्वाजा मुईनुद्दीन साहिब चिश्ती जिनका अजमेरमें बड़ा भारी मक़बरा बना हुआ है, जिन्हें मुसलमान लोग पीराने-पीर कहते हैं, अपने दीवानमें लिखते हैं—

दमें ज़ हस्तिये ख़ुद बिगुज़री बेह अज़ सद साल॥
के रोज़ रोज़ा बदारी या शब निमाज कुनीं।

अर्थात् जितनी देर साँस लेनेमें लगती है उतनी देर भी यदि तू तल्लीन होकर प्यारेका चिन्तन करे और अपनी हस्तीसे अर्थात् देहात्मबुद्धिसे दृष्टि उठा ले, तो वह एक दमभरका समय सैकड़ों वर्षोंकी दिन-रातकी नमाज़ों तथा प्रतिदिनके रोज़ोंसे कहीं बढ़कर है। इसप्रकार सारे संसारमें किसी-न-किसी रूपमें ब्रह्मविद्याकी उच्चता अङ्गीकार की गयी है।

ब्रह्मविद्या प्रतिपादक उपनिषद्—ब्रह्मविद्याके याथातथ्य प्रतिपादक हैं उपनिषद्। इन्हीं उपनिषदोंसे दुग्धरूप गीतामृत दूहनेके लिये परब्रह्म, सच्चिदानन्द, उपनिषदैकप्रतिपाद्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र दोग्धारूपसे अवतीर्ण हुए और इन्हीं उपनिषदोंके मन्त्ररूप मणियोंको उत्तरमीमांसारूप वेदान्तदर्शनके सूत्रोंमें पिरोनेके लिये कृष्णद्वैपायन भगवान् वेदव्यासका आविर्भाव हुआ। अतः इन तीनोंको यानी उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीगीताजीको 'वेदान्त-प्रस्थानत्रयी' भी कहते हैं। इन उपनिषदोंके मन्त्रोंका ही श्लोकोंमें कथारूपसे हम-जैसे मन्दबुद्धि पुरुषोंके उपकारके लिये पुराणमें संग्रह किया गया है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मविद्याका भण्डार तथा आदिस्रोत सबने उपनिषदोंको ही माना है। उपनिषदोंके महावाक्यरूप शरसे बिना बिंधे आत्मोपलब्धि प्रायः असम्भव ही बतलायी गयी है। उपनिषदोंका सर्वोच्च महत्त्व केवल शास्त्रसम्मत ही नहीं बल्कि पाश्चात्य विद्वानोंने भी मुक्तस्वरसे स्वीकार किया है। पाठकोंके अवलोकनार्थ यहाँ कुछ यूरोपियन विद्वानोंकी सम्मतियाँ उद्धृत की जाती हैं। प्रोफेसर मैक्समूलर (Prof. Maxmuller) लिखते हैं—

I spend my happiest hours in reading Vedantic books. They are to me like the light of the morning, like the pure air of the mountains,—so simple, so true, if once understood.

'The Upanishads are the........sources of........the Vedanta philosophy, a system in which human speculation seems to me to have reached its very acme.'

अर्थात् मैं अपने सबसे अधिक आनन्दके घण्टे वेदान्त ग्रन्थोंके स्वाध्यायमें व्यतीत करता हूँ। मेरेलिये वे प्रातःकालीन प्रकाश तथा पर्वतोंकी शुद्ध वायुके समान हैं। यदि एक बार समझमें आ जायँ तो वे बड़े ही सरल और बड़े ही सच्चे हैं।

उपनिषद् वेदान्त फिलॉसफीका आदिस्रोत हैं। और यह एक ऐसा निबन्ध है जिसमें मेरे विचारसे मानवी भावना उच्चतम शिखरपर पहुँच गयी मालूम होती है।

एक और विद्वान्, विक्टर कज़न (Victor Cousin) कहते हैं—

'When we read with attention the poetical and philosophical monuments...of India,......we discover there so many truths and truths so profound, and which make such a contrast with the meanness of the results at which the European genious has sometimes stopped, that we are constrained to bend the knee before that of the east, and to see in this cradle of the human race the native-land of the highest philosophy.'

अर्थात् जब हम दार्शनिक तथा मार्मिक भारतीय ग्रन्थोंको ध्यानसे पढ़ते हैं तो हमें पता चलता है कि इनमें कितने सत्य भाव भरे हुए हैं और वे सत्य भाव भी इतने गहरे हैं कि जिनके सामने वे सारे परिणाम जिनपर कि कभी-कभी यूरोपियन फिलॉसफर उन्हें ही अन्तिम समझकर

ठहर गये हैं अत्यन्त तुच्छ मालूम पड़ते हैं। हमें भारत-के ऐसे उच्च भावोंको देखकर उनके आगे घुटने टेकनेके लिये मजबूर होना पड़ता है और मानव-जातिकी इस आदि भूमिको हमें फिलॉसफीका जन्म-स्थान मानना पड़ता है।

शोपेनहर (Schopenhauer) साहबके शब्द पढ़िये—

'From every sentence (of the Upanishads of the Vedant) deep, original and sublime thoughts arise, and the whole is pervaded by a high, holy and earnest spirit.........In the whole world there is no study.........so beneficial, and so elevating as that of the Upanishads (the Vedant).........(they) are a product of the highest wisdom.........it is destined sooner or later to become the faith of the people.'

अर्थात् वेदान्त-प्रतिपादक उपनिषदोंके प्रत्येक वाक्यसे अत्यन्त गम्भीर, सत्य और शिक्षाप्रद मार्मिक भाव टपकते हैं। वे सभी अति उच्च, पवित्र और तत्परतापूर्ण मर्मोंसे पूर्ण हैं। सारे विश्वमें ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है, जो उपनिषदोंके समान लाभदायक अथवा आत्मोन्नतिके शिखरपर ले जानेवाला हो। वे उच्चतम बुद्धिकी उपज हैं। यह अटल बात है कि वे एक-न-एक दिन सब मनुष्यों-की श्रद्धाका विषय बन जायँगे।

डाक्टर गोल्डस्टकर (Dr. Goldstuker) की सम्मति है—

'The Vedant is the sublimest machinery set into motion by oriental thought.'

अर्थात् वेदान्त सबसे ऊँचे दर्जेका यन्त्र है जिसे पूर्वीय विचारधाराने प्रवृत्त किया है।

इसप्रकार उपनिषदोंका अत्यन्त भावपूर्ण एवं सर्वोच्च होना अन्यान्य धर्मियोंको भी स्वीकृत है, जैसा कि उनके शब्दोंसे साफ-साफ मालूम होता है। वे पश्चिमी विद्वान् इससे बढ़कर और लिख भी क्या सकते हैं?

अस्तु, ऐसे अत्युच्च कोटिके वेदशिरोभाग उपनिषद्के-और उनमें भी जो वेदके मन्त्रभागान्तर्वर्तिनी होनेके कारण सबसे मुख्य मानी जाती है, उस (ईशोपनिषद्) के मन्त्रोंकी व्याख्या करना या उसके भाष्यके अर्थका जो साक्षात् शङ्करने ही अवतार लेकर लिखा है, निरूपण करनेका साहस करना मेरे जैसे अल्पज्ञ और क्षुद्रबुद्धिके अधिकारसे सर्वथा परे है और यद्यपि मेरा यह साहस विद्वानोंके उपहासका पात्र हो सकता है, तथापि मैंने जो बालवत् धृष्टतासे अपने अधिकारसे बढ़कर क़दम रखा है उसके लिये मैं आशा करता हूँ कि विज्ञ महानुभाव मुझे इस मार्गका धृष्ट एवं अनजान पथिक समझकर क्षमा करेंगे और इस भाष्यकी हिन्दी-व्याख्या एवं रहस्य-निरूपण करनेमें जो त्रुटि रही होगी उसके लिये मुझ अनुचरको क्षमा करके स्वयं उसकी पूर्ति करनेकी कृपा करेंगे। आशा है यदि भगवान्की कृपा रही तो शायद इस उपनिषद्के शेष मन्त्रोंका अर्थ भी कल्याणके आगामी अङ्कोंमें सुज्ञ पाठक महानुभावोंको दृष्टिगोचर कराया जा सकेगा। मेरा यह प्रयत्न यदि कल्याणके एक भी पाठकके लिये लाभकारी सिद्ध हुआ तो मुझे अत्यन्त आनन्द होगा। नहीं तो इस अनुवाद तथा रहस्यादिमें श्रीनन्दनन्दन भगवान् मुरलीमनोहरके ईशादि अनेक नामोंका ही इतनी बार आ जाना मेरी सफलताका कम सूचक नहीं होगा।

इस अनुवादमें पहले मूल-मन्त्रपर शाङ्करभाष्य मूल लिखकर भाष्यका भाषार्थ लिखा गया है। तदनन्तर भाष्य-रहस्यमें, भाष्यमें आये हुए क्लिष्ट शब्दोंको एक-एक करके भलीभाँति खोला गया है। उसके पश्चात् जिसप्रकार वैष्णव-सम्प्रदायाचार्यचरणोंने इस मूल-मन्त्रकी व्याख्या की है वह दिखलायी गयी है। फिर अन्वयसहित पदोंका अर्थ लिखा गया है। जहाँ-तहाँ उपयुक्त टिप्पणी भी दी गयी है। अस्तु,

अब हम ईशोपनिषद्के पहले मन्त्रका मूल शाङ्करभाष्य नीचे लिखकर भाष्य-व्याख्या प्रारम्भ करते हैं—

हरिः ॐ। ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ १ ॥

शांकरभाष्यम्

ईशा वास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्तास्तेषामकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रकाशकत्वात्।

याथात्म्यं चात्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वादि वक्ष्यमाणम्।

तच्च कर्मणा विरुद्ध्येतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः।

न ह्येवंलक्षणमात्मनो याथात्म्यमुत्पाद्यं विकार्यमाप्यं संस्कार्यं कर्तृभोक्तृरूपं वा येन कर्मशेषता स्यात्।

सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैवोपक्षयात्

गीतानां मोक्षधर्माणां चैवंपरत्वात्।

तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वपापविद्धत्वादि चोपादाय लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहितानि।

यो हि कर्मफलेनार्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनाऽदृष्टेन स्वर्गादिना च द्विजातिरहं न काणकुब्जत्वाद्य-

भाष्यार्थ

इस संहितोपनिषद्[1]के ईशा वास्यमित्यादि मन्त्रोंका विनियोग कर्ममें नहीं हो[2] सकता, क्योंकि वे अकर्मशेष आत्मदेवके यथार्थ स्वरूपका प्रकाश करनेवाले हैं।

और उस आत्मदेवका यथार्थ स्वरूप जैसा कि आगे मन्त्रोंमें विधान करेंगे—शुद्ध, पापरहित, एक नित्य[3], अशरीरी[4] और सर्वगत[5] (सबमें ओतप्रोत—विभु) इत्यादि है।

और वह कर्मसे विरुद्ध सिद्ध होता है। अतः इन मन्त्रोंका कर्ममें विनियुक्त न होना (अर्थात् कर्मपरक न होना ही शास्त्रसम्मत और) युक्तियुक्त है।

और न आत्माका ऐसे लक्षणोंवाला स्वरूप, उत्पत्तिशील[6], विकारी[7] (परिवर्तनशील), दूसरोंसे ग्रहण किये जाने योग्य, संस्कार योग्य अथवा कर्ता-भोक्तारूप[8] ही है (अर्थात् आत्मा उत्पत्त्यादि विकारयुक्त नहीं है) जिससे कि वह कर्मका शेष (अंग) बन सके।

क्योंकि सब-की-सब उपनिषदें आत्मदेवके यथार्थ स्वरूपका निरूपण करनेमें ही समाप्त होती हैं।

गीता और मोक्ष-धर्म भी इसी बातको जनाते हैं।

अतः साधारण जनताकी बुद्धिको दृष्टिगोचर रखकर ही इस (परम पुनीत) आत्मदेवमें अनेकता[9], कर्ता-भोक्तापन तथा अशुद्धता और पापविद्धता आदि (दोषों) की कल्पना (आरोप) करके (जिज्ञासुके हितेच्छु पूर्वमीमांसादि शास्त्रोंमें) विविध कर्मोंका[10] प्रतिपादन किया गया है।

जो मनुष्य कर्मके ब्रह्मवर्चसादि दृष्ट फलके तथा स्वर्ग-प्राप्त्यादि अदृष्ट फलके इच्छुक होते हैं और जो (देहाध्यासवश[11]) अपने-आपको ऐसा मानते हैं कि 'मैं

१–यजुर्वेदसंहितारूप मन्त्रभागका चालीसवाँ अध्याय होनेके कारण इसे संहितोपनिषद् तथा ब्रह्मविद्या-विधायक होनेके कारण ब्रह्मविद्योपनिषद् और ईशावास्योपनिषद् कहते हैं। २–ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, तथा तटस्थ लक्षण 'जन्माद्यस्य यतः' अथवा 'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि ३–'नित्यो नित्यानाम्' (श्रुति) 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो' (गीता) ४–'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' (गीता) 'अकायमव्रणम्' (श्रुति) ५–'सर्वगतश्च नित्यः' तथा 'अन्तर्बहिश्च सर्वत्र व्याप्य नारायण स्थितः' (श्रुति) ६–'अजो नित्यः' (गीता) ७–'अविकार्योऽयमुच्यते' (गीता) ८–'न कर्ताहं न भोक्ताहं' (श्रुति) ९–'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' (श्रुति) १०–पूर्णमाससे लेकर अश्वमेधपर्यन्त नाना कर्म। ११–रज्जौ सर्पवत् वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः रज्जुमें सर्पके समान वस्तुमें अवस्तुका आरोप अध्यारोप कहलाता है। उसीका नाम अध्यास है।

नधिकारप्रयोजकधर्मवानित्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कर्मस्विति ह्यधिकारविदो वदन्ति ।

द्विज हूँ, कानापन, कुबड़ापन आदि अनधिकारप्रयोजक धर्मवाला नहीं हूँ' उन्हींका कर्ममें अधिकार है (अन्यका नहीं)—ऐसा कर्माधिकारके जाननेवाले (पूर्वमीमांसक) कहते हैं।

तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेनात्मविषयं स्वाभाविकमज्ञानं निवर्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञानमुत्पादयन्ति ।

अतः ये (अठारह) मन्त्र आत्माका यथार्थस्वरूप प्रकाशित करके आत्मविषयक स्वाभाविक अज्ञानकी निवृत्ति करते हुए शोक-मोहादिक सांसारिक धर्मके मूलोच्छेदके साधनभूत आत्मज्ञानको ही उत्पन्न करते हैं (अर्थात् जीवात्मपरमात्मैकत्व विज्ञानको उत्पन्न करते हैं)।

इत्येवमुक्ताधिकार्यभिधेयसम्बन्धप्रयोजनान्मन्त्रान्संक्षेपतो व्याख्यास्यामः ।

इसप्रकार अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजनरूप अनुबन्धचतुष्टययुक्त इन मन्त्रोंकी हम संक्षेपसे व्याख्या करते हैं।

हरिः ॐ । ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

ईशा वास्यमित्यादि । ईशा ईष्ट इतीट् तेनेशा । ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य । स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन्प्रत्यगात्मतया तेन स्वेन रूपेणात्मनेशा वास्यमाच्छादनीयम् ।

ईशा वास्यमिति[2]। (ईशऐश्वर्येऽस्य क्विबन्तं तृतीयान्तं रूपमीशेति, ईष्ट इतीट् तेनेशा। जो पूर्ण ऐश्वर्यशाली सबका नियमन और शासन करता है, उसे 'ईश' कहते हैं। उसी ईशका तृतीयान्त रूप 'ईशा' है। परमात्मा परमेश्वर ही सबका ईशन (नियमन) करनेवाला है, वही सब प्राणियोंका आत्मा होकर प्रत्यगात्मभावसे सबका नियमन करता है। उस अपने आत्मभूत ईश्वरके द्वारा (यह सब) आच्छादन किये जानेयोग्य है।

किम्—

प्रश्न—क्या आच्छादन किये जानेयोग्य है?

इदं सर्वं यत्किञ्च यत्किञ्चिज्जगत्यां पृथिव्यां जगत्तत्सर्वं स्वेनात्मनेशेन प्रत्यगात्मतयाऽहमेवेदं सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणानृतमिदं सर्वं चराचरमाच्छादनीयं स्वेन परमात्मना ।

उत्तर—यह सब-का-सब, जो कुछ भी पृथिवीपर दिखायी देनेवाला (दृश्य प्रपञ्चरूप) जगत् है (जो लोकान्तररूप अदृश्य प्रपञ्चका भी उपलक्षण है) इस सबको अपने आत्मारूप परमेश्वरसे—ऐसा भाव रखकर कि अपने परमार्थसत्यस्वरूपसे सबका अन्तरात्मा होनेके कारण यह सब कुछ मैं ही हूँ और यह समस्त स्थावर-जंगम-रूप प्रपञ्च असत्य है-आच्छादन करना चाहिये।

यथा चन्दनागर्वादेरुदकादिसम्बन्धजक्लेदादिजमौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूपनिघर्षणेनाच्छाद्यते स्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन, तद्वदेव हि स्वात्मन्यध्यस्तं स्वाभाविकं

जिसप्रकार चन्दन और अगरु आदिमें जलादिके सम्पर्कसे उत्पन्न हुई आर्द्रता (गीलापन) आदिके कारण होनेवाली औपाधिक दुर्गन्ध उन (चन्दनादि) के स्वरूपके घिसनेसे उनकी स्वाभाविक गन्धसे ढँक जाती है उसी प्रकार जिस समय यह भावना दृढ़ हो जाती है कि परमा-

१–'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (श्रुति) २-वस आच्छादने। ऋहलोर्ण्यदिति ण्यत्प्रत्ययो णित्वात्स्वरितः।

कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जगद् द्वैतरूपं जगत्यां पृथिव्यां जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वात्सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकारजातं परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यात् ।

एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मसु । तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः ।

न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वाऽऽत्मसम्बन्धिताया अभावादात्मानं पालयत्यतस्त्यागेनेत्ययमेव वेदार्थः । भुञ्जीथाः पालयेथाः ।

एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः, गृधिमाकाङ्क्षां मा कार्षीर्धनविषयाम् ।

कस्यस्विद्धनं कस्यचित्परस्य स्वस्य वा धनं मा काङ्क्षीरित्यर्थः । स्विदित्यनर्थको निपातः ।

अथवा मा गृधः । कस्मात् । कस्यस्विद्धनम् इति आक्षेपार्थो न कस्यचिद्धनमस्ति यद् गृध्येत ।

आत्मैवेदं सर्वमिति ईश्वरभावनया सर्वं त्यक्तमत

र्थतया आत्मा ही सत्य है उसी समय आत्मामें जो स्वाभाविक कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि लक्षणवाला द्वैतरूप जगत्का अध्यास है वह निवृत्त हो जाता है (अर्थात् अधिष्ठानका ज्ञान हो जानेपर अध्यस्त वस्तुका पूर्णतया अभाव हो जानेकी भाँति प्रवाहरूपसे आनेवाले इस अनादि-सान्त संसारका ज्ञानीकी दृष्टिमें बाध हो जाता है। अतः अज्ञानीकी दृष्टिमें पूर्ववत् रहनेपर भी ज्ञानीको सर्वत्र ब्रह्मका ही अनुभव होनेके कारण यह प्रतीत ही नहीं होता)। 'जगत्याम्' (पृथिव्याम्) से यहाँ तात्पर्य समस्त नामरूप-कार्यात्मक विकारजात (दृश्य और अदृश्य प्रपञ्च) से है जो ईश्वरात्मैकत्व-भावके उत्पन्न होनेपर ज्ञानीको मिथ्या (मरुमरीचिकावत्) प्रतीत होने लगता है।

इसप्रकार ईश्वरात्मभावनासे युक्त मनुष्यको पुत्रादि एषणात्रयके संन्यास[1] अर्थात् परित्यागमें ही अधिकार है कर्ममें[2] नहीं । इसलिये 'तेन त्यक्तेन'—त्यागेन अर्थात् एषणात्रयके त्यागपूर्वक 'आत्मरक्षा करे'।

परित्यक्त अर्थात् मरा हुआ पुत्र या सेवक आत्माके साथ सम्बन्धका अभाव हो जानेके कारण आत्माकी रक्षा नहीं करता, अतः 'त्यागेन' अर्थात् एषणात्रयके त्यागपूर्वक (आत्माका) भोग अर्थात् पालन करे (क्योंकि निष्क्रिय आत्मतत्त्वके अनुकूल होनेके कारण त्यागद्वारा ही आत्माकी रक्षा की जा सकती है।) यही वेदका तात्पर्य है।

इसप्रकार पुत्रादि एषणात्रय (पुत्रैषणा, वित्तैषणा[3], लोकैषणा) का त्याग करनेवाला तू धनविषयक आकांक्षा मत कर । (गृधु अभिकांक्षायामिति)

किसीके अर्थात् अपने या पराये धनकी इच्छा न कर। यहाँ स्वित् अर्थहीन निपात है।

अथवा इच्छा न कर क्योंकि धन किसका हो सकता है ? अर्थात् यह धन, जिसकी चाहना की जाती है किसीका नहीं है। इसप्रकार स्वित्का आक्षेपसूचक अर्थ भी हो सकता है। (यहाँ धन कहनेसे पुत्र-कलत्रादि समस्त प्रपञ्च समझना चाहिये ।)

यह सर्व प्रपञ्च आत्मारूप[4] ही है। इस ईश्वरभावना-द्वारा यह नाम-रूपात्मक सारा मिथ्या संसार निरस्त हो

१–'ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति' (श्रुति) २–कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते । तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति पण्डिताः तत्त्वदर्शिनः ॥ (मोक्षधर्म महा० भा०)

३–धन कहनेसे समस्त विषय समझने चाहियें । ४–'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (श्रुति) 'वासुदेवः सर्वमिति' (गीता)

आत्मन एवेदं सर्वमात्मैव च सर्वमतो मिथ्याविषयां गृधिं मा कार्षीरित्यर्थः ॥ १ ॥

गया। अतः यह सब आत्माका ही (पसारा) है और यह सब आत्मा ही है। इसलिये मिथ्या पदार्थोंकी आकांक्षा न कर। यह मन्त्रका अर्थ है।

भाष्य-रहस्य

भावार्थ—सब वेदोंका पर्यवसान ब्रह्ममें ही होता है अर्थात् 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' ऐसा अद्वैत तत्त्ववेत्ताओंका कथन है। और उस ब्रह्मका उपदेश यथोक्त अधिकारीको ही करना उचित है। उपनिषद्में कहे मन्त्रानुसार अधिकारी वही है जो शान्तचित्त तथा जितेन्द्रिय हो और निष्काम कर्मोंके करनेसे जिसके मल और विक्षेपरूप अन्तःकरणके दोष निवृत्त हो चुके हों, जो गुरुके कथनानुसार चलनेवाला हो तथा गुणयुक्त और गुरुका अनुकरण करनेवाला यानी उसके श्रेष्ठ मार्गको उल्लंघन करनेवाला न हो और मोक्षका तीव्रतर इच्छुक हो। निम्नलिखित श्रुति भी इसीका विधान करती है—

'प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय
प्रहीनदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय नित्यं
प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षवे॥

किन्तु यह अधिकार चित्तशुद्धि बिना सिद्ध नहीं होता। चित्तकी शुद्धि स्ववर्णाश्रमोचित कर्मकाण्डसे होती है। 'कर्मणा शुद्धचित्तस्य' इत्यादि। अतः वेद भगवान्‌ने, जिस शुक्ल यजुर्वेदका यह चालीसवाँ अध्याय है, पहले उनतालीस अध्यायोंमें दर्शपूर्णमासाद्यश्वमेधान्तकर्मकाण्डका ही विस्तारपूर्वक निरूपण किया है और उसके पीछे अब यथोक्त गुणवान् शुद्धचित्त अधिकारीके लिये, जो विवेकादि साधन-चतुष्टयसम्पन्न हो, इस अन्तिम अध्यायमें ज्ञानकाण्ड आरम्भ किया है।

इस उपनिषत्‌का नाम ब्रह्मविद्योपनिषद् भी है। क्योंकि यह ब्रह्मविद्यापरायण मनुष्योंके संसारबन्धनका, उसके कारण अविद्याके सहित मूलोच्छेद करके परमानन्दकी प्राप्ति करानेवाली है। निम्नलिखित प्रमाणके अनुसार उपनिषत् शब्दका अर्थ भी यही है—

'उपनीयेममात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं पुनः॥ निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषन्मतेति वचनाच्च'। अन्तर्भावितण्यर्थस्य विशरणार्थस्य सद् धातोः क्विपि रूपम्॥ 'उपनितरां सादयति संसारहेतुभूतामविद्यां नाशयति॥ गत्यर्थस्य वा ब्रह्म प्रापयतीति॥'

सारांश यह है कि जो आत्माको ब्रह्मकी सन्निधिमें ले जाकर एकीभाव करा दे तथा अविद्या और उसके कार्यका बाध कर दे वह उपनिषत् कहलाती है।

इस ईशोपनिषद्‌में पाये जानेवाले मन्त्रोंका विनियोग कर्ममें नहीं है। यदि कर्ममें होता तो 'ईषेत्वोर्जे' मन्त्रवत् पूर्वमीमांसा आदि कर्मसम्बन्धी ग्रन्थोंमें जैसे दूसरे मन्त्रोंके विषयमें आता है कि अमुक मन्त्रसे अमुक कर्म करना चाहिये उसी प्रकार इन ईशा वास्यादि मन्त्रोंका भी प्रयोग किसी कर्मविशेषमें दिखलाया गया होता। परन्तु ऐसा कहीं भी देखनेमें नहीं आता। अतः इनको कर्मपरक समझना अयुक्त एवं असङ्गत है। दूसरे पुत्रेष्टि तथा श्येनादि याग और इष्टापूर्त्तादि कर्म प्रायः कर्ता-भोक्तापनके अभिमानी, आसक्त एवं रागयुक्त मनुष्य ही करते देखे जाते हैं। किन्तु यह ज्ञानमार्ग अनासक्त और रागरहित मनुष्यका है।

आत्मा कर्मका शेष भी नहीं है। क्योंकि शेष वह होता है जो उत्पाद्यादि छः विकारोंवाला तथा जड और दुःखरूप हो अथवा ऐसा समझिये कि जिसके करनेसे किसी वस्तुविशेषकी प्राप्ति हो वह 'शेषी' और जिस वस्तुकी प्राप्ति हो वह 'शेष' कहलाती है। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् स्वर्गकी कामनावाला यज्ञ करे—यहाँ स्वर्ग उत्पाद्य तथा आप्य है अतः वह यज्ञरूप कर्मका शेष है और यज्ञरूप कर्म उत्पादक तथा प्रापक है इसलिये उसे स्वर्ग-प्राप्तिका शेषी समझना चाहिये। इसी प्रकार अन्य शेष-शेषी-सम्बन्ध भी समझने चाहिये। इसके सिवा पहले अप्राप्त और अब प्राप्त होनेवाले इन स्वर्गादिमें उपर्युक्त अन्य दोष भी प्राप्त हो जायँगे। उनका दिग्दर्शन कराया जाता है—

स्वर्ग पहले अप्राप्त था अब प्राप्त किया, अतः 'उत्पाद्य' हुआ, उसकी प्राप्तिकी कामना थी जो अब निवृत्त हो गयी। अतः वह 'आप्य' हुआ; पुण्य क्षीण होनेपर वह छिन जायगा, इसलिये 'विकारी' हुआ; मैंने यह स्वर्ग अपने शुभ कर्मोंसे प्राप्त किया है और अब इसका आनन्द भोग रहा हूँ, इसलिये 'कर्ता-भोक्तारूप अभिमानका विषय' हुआ; प्रति

इन्द्र इसकी घटना भी विलक्षण होती है, अतः 'संस्कार्य' भी है। इसप्रकार जो भी वस्तु कर्मशेष होगी; उसीमें ये दोष बलात्कारसे आ प्राप्त होंगे। आत्मा नित्य और सबका अपना-आप होनेसे सदा प्राप्त है, इस नित्य-प्राप्तकी प्राप्तिके लिये प्रतीक्षा भी नहीं करनी पड़ती। अतः यह उत्पाद्य या आप्य नहीं है; सदा एकरस रहता है इसलिये 'विकारी' भी नहीं है; वह विभु है और उसके अतिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं, इसलिये उसमें कर्त्ता-भोक्ता-पन भी नहीं पाया जाता, स्वयं शुद्ध और सबका अन्तर्यामी है, अतः 'संस्कार्य' भी नहीं है। इसप्रकार इन सब दोषोंसे मुक्त होनेके कारण आत्मा कर्मशेष नहीं हो सकता। सारे-के-सारे दृश्य पदार्थ बिना हुए भी हुएकी भाँति इसीमें झलक मार रहे हैं। अतः यही सबका अधिष्ठान तथा शेषी है। फिर, स्वयं शेषी शेष कैसे हो सकता है? सारे पदार्थ इसीके शेष हैं, यही सर्वशास्त्र-सम्मत मत है।

अब प्रश्न यह होता है कि कर्मोंका विधान क्यों किया गया? जिसका उत्तर यही है कि साधारण मनुष्योंकी बुद्धिके अनुकूल बिना हुएकी भी कल्पना करके उस आरोपित प्रपञ्चका धीरे-धीरे अपवाद करनेके लिये ही कर्मकाण्डकी रचना हुई है, क्योंकि प्राप्त होनेपर ही निषेध किया जाता है—यह शास्त्रकी विधि है। इसीलिये शास्त्रने पहले अध्यारोप करके फिर उसका निषेध किया है 'जैसा रोगी वैसी चिकित्सा' इस कहावतके अनुसार ही शास्त्रने अप्राप्त-आत्मसाक्षात्कार मनुष्योंके लिये, जिनकी संख्या बहुत अधिक है, कर्म और उपासनामार्गका विधान किया है, जो प्रायः सबके लिये अत्यावश्यक है, और जिसके बिना उन्नतिके शिखरपर चढ़ना अत्यन्त कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है।

इसके सिवा कर्मविधायक शास्त्रोंमें यह भी विधि पायी जाती है कि अमुक कर्म केवल ब्राह्मणको और अमुक केवल क्षत्रियको ही करने चाहिये तथा अमुक-अमुक गुण ब्राह्मण या क्षत्रियके शरीरमें होने चाहिये। अमुक गुण तथा अमुक जातिसे हीन अन्य पुरुष अमुक कर्म नहीं कर सकता। ऐसा नियम है। परन्तु इन ब्रह्मविद्याप्रतिपादक मन्त्रोंमें धारणा करनेके लिये ऐसा कोई नियम नहीं है। अपने वर्णाश्रम-धर्ममें तत्पर, साधनचतुष्टयसम्पन्न, श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेवाला तथा त्वंपद और तत्पदके शोधनद्वारा आत्महितका इच्छुक (ऐसा ज्ञानके आठ साधनोंसे युक्त) द्विजमात्र इसमें सुदृढ़ निष्ठा करनेपर परमानन्दका आस्वादन कर सकता है। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि ये उपनिषद्-मन्त्र किसी भी तरह कर्मोंमें विनियुक्त नहीं हैं; केवल आत्माके यथार्थ स्वरूपको ही प्रकाशित करनेवाले हैं।

शुक्ल यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायरूप इस ईशोप-निषद्का दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि है, अनुष्टुप् आत्म-देवत्य छन्द है और आत्मा देवता है। तथा दैशिक आचार्यने अथवा स्वयं गुरुरूपा भगवती श्रुतिने इसका उपदेश किसी ऐसे पुत्र या शिष्यके प्रति किया है जो गर्भाधानादि संस्कारोंसे संस्कृत हो, वेदविद्या पढ़कर पुत्रोत्पादन कर चुका हो, 'कौन वस्तु नित्य है और कौन अनित्य'—इस विवेकसे युक्त हो, इस लोकसे लेकर ब्रह्मलोकतकके सभी भोगोंको तुच्छ समझनारूप वैराग्यसे सम्पन्न हो, शम-दमादि षट् सम्पत्तिसे सम्पन्न हो और मोक्षकी तीव्रतर इच्छावाला हो।

शास्त्रोंका सङ्केत है कि अनुबन्धचतुष्टयसे अलङ्कृत ग्रन्थ ही जिज्ञासुको उपादेय है। यह उपनिषद् उक्त गुणसे भी युक्त है जैसा कि संक्षेपसे नीचे दिखलाते हैं—

अनुबन्ध चार प्रकारका है—१ अधिकारी, २ सम्बन्ध, ३ विषय, ४ प्रयोजन। विवेकादि चार साधनोंसे युक्त मनुष्य इस उपनिषद्का अधिकारी है, इसी कारण श्रुतिने मन्त्रमें अधिकार-सूचक 'त्यक्तेन' शब्दका प्रयोग किया। प्राप्तव्य ब्रह्मविद्याके साथ इसका प्रतिपादक-प्रतिपाद्य-सम्बन्ध है। तथा जिज्ञासुके साथ इसका पाठक-पाठ्य या देशिक-शिष्य-सम्बन्ध है। दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति इसका प्रयोजन है, जिसकी सूचना 'को मोहः कः शोकः' द्वारा श्रुतिने दी है और ब्रह्मात्मैक्य-निरूपणरूप अभेद-प्रदर्शन इसका 'विषय' है, जिसका ज्ञापक 'ईशा वास्य-मिदꣳ सर्वं' यह मन्त्र है। इसप्रकार इन अनुबन्ध-चतुष्टयसे अलंकृत यह ग्रन्थ जिज्ञासुको परम हितकर और भवसागरसे पार करनेवाला है।

क्योंकि श्रुति-षड्लिङ्गके जाने बिना ऐसे गम्भीर, भावपूर्ण, सर्वोच्च, क्लिष्ट, वेदशिरस्क और श्रेयःमार्ग-प्रदर्शक इस मन्त्रभागरूप यजुर्वेदीय उपनिषद्के अभि-प्रायको जानना अत्यन्त कठिन है इसलिये प्रसङ्गवश यहाँ उसका भी निरूपण करते हैं—

शास्त्रोंमें यह बात पुनः-पुनः आती है कि फल उसी कार्यका होता है जो शास्त्रोक्त विधिसे किया जाय । अतः उपनिषदोंका अर्थ निर्णय करनेके लिये भी षड्लिङ्गोंका जानना शास्त्रने अत्यावश्यक बतलाया है; जैसा कि कहा है—

'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥'

अर्थात् उपक्रम और उपसंहार इन दोनोंकी एकता, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—यह छः तात्पर्य-निर्णयमें लिङ्ग हैं । इन सबकी भिन्न-भिन्न व्याख्या अन्यत्र करेंगे, यहाँ विस्तारभयसे नहीं करते । अब इन्हें संक्षेपसे इस ईशोपनिषद्में लगाते हैं ।

१ उपक्रम और उपसंहार–'ईशा वास्यमित्यादि' अर्थात् समस्त प्रपञ्च ईश्वर करके आच्छादन करनेयोग्य है इस पहले मन्त्रसे उपक्रम करके 'स पर्यगाच्छुक्रम्' अर्थात् वह सब प्रपञ्चके चारों ओर फैला हुआ है; यानी आकाशवत् व्यापी है-इस मन्त्रद्वारा उपसंहार किया गया है ।

२ अभ्यास–'अनेजदेकं' (अचञ्चल)—इस मन्त्र अथवा 'तदन्तरस्य सर्वस्य' (वह सबके अन्तर है)—यह अद्वैतका अभ्यास है ।

३ अपूर्वता–'नैनद्देवाप्नुवन्' (इसको चक्षु आदि इन्द्रिय नहीं पहुँच सकीं) इससे प्रत्यक्षादि प्रमाणकी अगम्यतारूप अपूर्वता सिद्ध होती है ।

४ फल–'को मोहः कः शोकः' इस मन्त्रसे फलवत्ता निरूपण की गयी है ।

५ अर्थवाद–'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इस मन्त्रसे भेद-दर्शी जीवितेच्छु अपक्वकषाय मनुष्यके लिये कर्मका अनुवाद करनेके अनन्तर श्रुतिने 'असुर्या नाम' इस मन्त्रद्वारा अन्धतामिस्र लोकोंकी प्राप्ति कथन करके भेदज्ञान-की निन्दा और अभेद-ज्ञानकी प्रशंसा की है । इसीको अर्थवाद कहते हैं ।

६ उपपत्ति–'तसिन्नपो' इस मन्त्रसे युक्तिविधान-द्वारा श्रुतिने इस उपनिषद्को एकात्मतत्त्व अर्थात् अभेद-परक सिद्ध किया है । इन लिङ्गोंसे भी यह उपनिषद् जीवब्रह्मैकत्वनिरूपणपरक और समस्त प्रपञ्चको कल्पित तथा मिथ्या निरूपण करनेवाली सिद्ध होती है, कर्मकाण्ड विधान करनेवाली सिद्ध नहीं होती ।

इस उपनिषद्के निरन्तर स्वाध्यायरूप अभ्याससे अवश्य ही ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होती है । अतः मुमुक्षुको ब्रह्मविद्या-सम्पादनके लिये इसका पुनः-पुनः अवलोकन तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके इसमें निष्ठा करनी चाहिये । क्योंकि 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'—इस मन्त्रसे उस ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त होना उपनिषद्द्वारा सिद्ध होता है और यह श्रुतिवाक्य सर्वथा प्रामाण्य एवं अकाट्य है ।

इस ईशा वास्यादि मन्त्रका रहस्य दो शब्दोंमें यह है कि यदि विधिमुखसे विचारा जाय तो सब-का-सब प्रपञ्च ब्रह्मसे ही आच्छादित है; जैसे लोहेके हथियार लोहेसे और सुवर्णके आभूषण सुवर्णसे ही सर्वथा आच्छादित होते हैं और यदि निषेधमुखसे देखा जाय तो यह नाम-रूप-क्रियात्मक विकारजात (संसार) प्रागभाव तथा प्रध्वंसा-भावका प्रतियोगी और आगमापायी होने तथा ब्रह्मसत्तासे पृथक् स्वयं सत्ताहीन होनेके कारण तीनों कालमें है ही नहीं । नामरूप केवल कल्पनामात्र है । अस्ति, भाति और प्रियरूपसे केवल ब्रह्म ही सत्य है । जिसप्रकार लोहा और सुवर्णके निकाल लेनेपर हथियार और आभूषणोंकी कोई स्थिति ही नहीं रहती; और विचारदृष्टिसे अर्थात् एक दार्शनिककी दृष्टिसे देखा जाय तो लोहे या स्वर्णमें नाम और रूप तो किसी कालमें थे ही नहीं । वे अज्ञान-कालमें ही भ्रान्तिसे प्रतीत होते हैं । किन्तु 'प्रामाणिकी न भवति भ्रान्त्या मोहितकल्पना' अर्थात् भ्रान्तिकालमें मोहवश जो कल्पना की जाती है वह प्रामाणिकी नहीं होती ।

इसप्रकार दोनों रीतिसे यानी विधि और निषेध दोनों प्रकारसे संसार है ही नहीं, इस तत्त्वको जानकर अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको ब्रह्म-दृष्टिद्वारा मिथ्या और भ्रान्त दृष्टिका निरास करना ही उचित है परन्तु यह हो उसीसे सकता है जो पुत्रादि एषणात्रयको त्याग चुका है । जो एषणा-त्रयमें फँसा हुआ है वह तो उपर्युक्त युक्तियोंके अनुसार भ्रान्तदर्शी तथा असत्य, तुच्छ, अनृत और अध्या-रोपित पदार्थको ग्रहण करनेवाला है । झूठी आजीविका-

द्वारा टुकड़े माँगकर खानेवाला भिखमंगा भला चक्रवर्ती राजाके ऐश्वर्यजन्य सुखका आस्वादन कब कर सकता है ? अतः सांसारिक पदार्थोंसे विरक्त और अनासक्त होकर सर्वदा ब्रह्मदृष्टि रख जीवनकालमें ही ब्रह्मानन्दके अथाह और अगाध क्षीरसागरमें गोते लगाता हुआ जीवन्मुक्तिकी स्थिति प्राप्त करे और देहपातके अनन्तर जन्म-मरणकी फाँसी काटकर विदेहमुक्तिको प्राप्त हो जाय। मिथ्या-भ्रान्ति-कल्पित, जड और दुःखरूप प्रपञ्चमें कदापि चित्त न लगावे । यही इस मन्त्रके भाष्यका रहस्य है और यही श्रुतिका तात्पर्य है । ऐसा ज्ञानी मनुष्य सदा मुक्त ही है । 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' 'तत्रैव समवलीयन्ते' 'न च पुनरावर्तते' यह श्रुतियोंकी घोषणा है । इसी सम्बन्धमें श्रीगीताजीमें भी 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' इत्यादि सर्वोच्च और अकाट्य प्रमाण पाये जाते हैं। इसलिये अपने स्वरूपमें स्थित होना ही मनुष्य-शरीरका एकमात्र ध्येय है ।

यह भगवान् भाष्यकार शङ्करावतार श्री १०८ स्वामी शङ्कराचार्यजीके ईशावास्योपनिषद्भाष्यरूप महोदधिके पहले मन्त्रके रहस्यका एक बिन्दुमात्र है, जो श्रीभाष्यकारके दासानुदासोंके चरणरेणु मुझ मन्दमतिने अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार अपने मनोविनोद और कल्याण-कामियोंको खद्योतके समान श्रेयःपथ प्रदर्शित करनेके लिये लिपिबद्ध किया है । मुझे भय है कि कहीं मेरा यह प्रयास विद्वानोंके उपहासका विषय न बन जाय। विशेष भाष्यपरिचयके लिये विज्ञ महानुभाव दूसरी भाष्यानुगामिनी संस्कृत व्याख्याएँ देख सकते हैं। अलमतिविस्तरेण ।

दूसरी प्रकारकी भाष्य-व्याख्या ।

ऊपर शाङ्करभाष्यकी व्याख्या करनेके अनन्तर भाष्य-रहस्य दिखलाया गया है। अब इसी मन्त्रके केवल मूल-मात्रकी दूसरी प्रकार व्याख्या करते हैं।

यह जितना ब्रह्माण्ड है सारेका सारा ईश्वरसे व्याप्त तथा निवासनीय है (वस निवासे) अर्थात् ब्रह्मद्वारा ही उत्पादित, स्थापित तथा नियमित है । इसलिये उसके प्रदान किये हुए (त्यागेन त्यक्तेन विसृष्टेन प्रदत्तेन) सांसारिक पदार्थोंको भोगो । अर्थात् मुझे इससे अधिक प्राप्त हो ऐसी कामना मत करो । अपने और पराये धन (विषयों) की लालसा मत करो, क्योंकि सब बातें ईश्वराधीन हैं इसलिये तुम्हारा यदृच्छाप्राप्त पदार्थोंसे अधिकके लिये उत्कण्ठित होना अन्यथासिद्ध और व्यर्थ है। ये धनादि काम्य पदार्थ भला किसके हैं ? अर्थात् किसीके नहीं। अतः अपने अदृष्टानुसार जो कुछ प्राप्त हुआ है उससे अधिक पानेकी आकाङ्क्षा न करे। तथा प्राप्त वस्तुओंमें 'मैं-मेरा' ऐसा स्वस्वामित्वभाव त्यागकर वैराग्यपूर्वक योगमें स्थित हो। पूज्यपाद वैष्णव आचार्य महानुभावोंने इस मन्त्रकी ऐसी ही व्याख्या की है । मुमुक्षुके लिये दोनों ही प्रकारके अर्थ हितकर और उपादेय हैं । इसलिये जिसमें जिज्ञासुकी अधिक रुचि हो उसे ही धारण करे। सभी ईश्वररूप हैं या यह सब ईश्वरका या ईश्वरसे है—ये दोनों पथ तुल्य महिमावाले हैं, दोनोंका लक्ष्य एक ही है। अतः इन दोनों मार्गोंमें कुछ भी भेद नहीं है। दोनोंहीका प्रयोजन भगवत्प्राप्ति है, जैसा कि भगवान् स्वयं श्रीमुखसे श्रीगीताजीमें कहते हैं—

> 'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
> एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥'
> (५।४)

इसलिये आत्मान्वेषीके लिये ये दोनों ही पुष्प-वाटिकाएँ खुली हुई हैं जिसमें इच्छा हो यथेष्ट भ्रमण करे, परन्तु लक्ष्यच्युत न हो । बल्कि भगवच्चरणारविन्दका भृङ्ग बनकर अपने जीवात्माको, जो वास्तवमें ईश्वररूप ही है, परमात्मामें लय कर दे ।

अन्वय और पदार्थ

अब इसी मन्त्रका अन्वय और पदार्थ दिखलाते हैं। (जगत्याम्) नामरूप क्रियात्मक विकारजात, प्रत्यक्ष-गम्य तथा सावरण ब्रह्माण्डमें (यत्किञ्च) जो कुछ भी (जगत्) चराचरात्मक नश्वर प्रपञ्च (अस्ति) है (इदम्) यह (सर्वम्) सारा (ईशा) परमात्माद्वारा (वास्यम्) व्याप्त आच्छादनीय अथवा निवासनीय (है) (तेन) उस समस्त प्रपञ्चसे (या दूसरी प्रकार अर्थ करना हो तो इस 'तेन' का अर्थ ईश्वरसे) (त्यक्तेन) अपनेपनके सम्बन्ध-को छोड़कर (या दूसरी प्रकार अर्थ करना हो तो 'त्यक्तेन' का अर्थ 'विसृष्टेन प्रदत्तेन' दिये हुए) (आत्मानम्) आत्मा-को (अथवा दूसरी तरह अर्थ करें तो 'भोगान्'–भोगोंको) (भुञ्जीथाः) भोग अर्थात् अनुभवकर (कस्यस्वित्) किसी-के (धनम्) धन अर्थात् विभूतिको (मा गृधः) मत आकाङ्क्षा कर ।

ब्राह्म-मुहूर्त

(लेखक—चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)

इस विश्वमें ऐसा कोई कर्म, दृश्य अथवा अदृश्य पदार्थ नहीं है जिसका उपयुक्त परिणाम न हो। किन्तु परिणामकी मात्रा रूप, समय और कर्मकी कुशलतापर निर्भर है। यह कुशलता कर्मकी मात्रा, देश, काल, उद्देश्य, शक्ति आदिकी उपयोगितापर निर्भर रहती है। इसी निमित्त गीताका वचन है *'योगः कर्मसु कौशलम्।'* एक ही प्रकारका कर्म उपयुक्त समय अथवा स्थानमें करनेसे सफल होता है किन्तु वही अनुपयुक्त समय और देशमें करनेसे विफल हो जाता है। देशसे भी काल प्रबल है। इसी कारण लिखा है कि काल सब कर्मोंका मुख्य कारण है। चारों युगोंमें जो बहुत बड़ा भेद पाया जाता है वह केवल कालकी ही विभिन्नताके कारण है। जैसे प्रत्येक मन्वन्तरमें चारों युग आते जाते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक दिनमें भी चारों युग बीतते हैं। प्रत्येक दिनमें रात्रिका शेष और दिनका प्रारम्भ-भाग, जो ब्राह्म-मुहूर्त कहा जाता है, दिनकी चौ-युगीका सत्य-युग है। इसी कारण शास्त्रका वचन है कि ब्राह्म-मुहूर्तमें केवल धर्म-चिन्तन, ब्रह्मोपासना आदि परमार्थ-सम्बन्धी कार्य ही करने चाहिये। उक्त समयको सांसारिक स्वार्थ-सम्बन्धी कार्यामें बिताकर उसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। देखा जाता है कि ब्राह्म-मुहूर्तमें पाठ याद करनेवाले विद्यार्थी जितना शीघ्र उसे हृदयस्थ और कण्ठस्थ कर लेते हैं अन्य समय अधिक कालमें भी उतना कदापि नहीं कर पाते। कारण यह है कि जितने ऋषि, महर्षि, सिद्ध और देव आदि हैं, वे सब-के-सब ब्राह्म-मुहूर्तमें ही ब्रह्म-चिन्तन करते हैं। उनके चिन्तनका प्रभाव तेजरूपमें उस समय विश्वभरमें छाया रहता है। जो लोग उस समय उपयुक्त प्रकारसे उपयुक्त मानसिक-भावमें स्वयं ब्रह्म-चिन्तनमें नियुक्त रहते हैं वे उस तेजको यथायोग्य प्राप्त करते हैं। यह नियम है कि समान समानको आकर्षित करता है और इसी नियमके अनुसार बेतारके तारका और दूरके शब्दका सुनना सम्भव हो गया। इसी समानाकर्षणके कारण इस तेजकी प्राप्ति होती है। प्रातःकाल जन-समुदाय किसी विशेष कार्यमें नियुक्त न होकर प्रायः स्थिरभावमें रहता है, जिससे जन-समुदायकी भावनाके द्वारा जो एक दूसरेके मनमें विक्षेपभाव आता है, वह उस ब्राह्म-मुहूर्तमें न रहनेके कारण मनकी स्थिरतामें विशेष बाधा नहीं होती।

अनेक लोग निरन्तर भजन-स्मरण करते हैं किन्तु दीर्घकालतक करनेपर भी अपनेमें कुछ विशेष परिवर्तन नहीं पाते, इस कारण उनमेंसे बहुतोंको भजन-स्मरणके प्रभावमें अविश्वास हो जाता है और वे उसे छोड़ देते हैं। सकाम भजन-स्मरण उत्तम पक्ष तो नहीं है किन्तु सकाम अथवा निष्काम दोनोंका परिणाम कर्मकी कुशलताके अनुसार कुछ-न-कुछ अवश्य होता है। निष्काम साधकमें भी शान्ति आती है, श्रद्धा-विश्वास बढ़ता है और यह बोध होता है कि वह जो कुछ क्षुद्र और तुच्छ सेवा करता है, वह स्वीकृत है। इसका प्रमाण किसी-न-किसी रूपमें उसे अवश्य मिल जाता है। किन्तु यह परमावश्यक है कि निष्काम साधकको भी कर्मकी कुशलताकी ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये, नहीं तो अकुशलताके कारण विलम्ब अवश्यम्भावी है। इस कुशलतामें उपर्युक्त ध्यान-स्मरणके उपयुक्त समयकी कुशलता भी आवश्यक है। अभिप्राय यह कि साधकको नाम-स्मरण और ध्यान

आदि ब्राह्म-मुहूर्तमें अवश्य करना चाहिये। उस अपूर्व और अमूल्य पवित्र सत्य-युगी समयको भगवच्चिन्तनमें न बिताकर आलस्यके कारण व्यर्थ निद्रा अथवा सांसारिक स्वार्थके कार्योंमें कदापि व्यय नहीं करना चाहिये। सबके लिये यह आवश्यक नहीं है कि ब्राह्म-मुहूर्तका भगवच्चिन्तन स्नान करके ही किया जाय। बिना स्नानके भी किया जा सकता है। किसी प्रकार भी हो, इस अमूल्य समयको जो केवल भगवच्चिन्तनके निमित्त ही नियत है, निद्रा, आलस्य, प्रमाद अथवा इन्द्रियके व्यापार आदि अनात्मीय कार्योंमें कदापि नहीं लगाना चाहिये। इस समयको इन कामोंमें लगाना ऐसा ही है जैसे कोई चिन्तामणि-रत्नको काँच लेकर बदल ले। यदि सायं-सन्ध्याके समय भी, जो सूर्यास्तके पूर्वसे प्रारम्भ होती है, ब्राह्म-मुहूर्तका भजन-स्मरण दोहराया जाय, तो वह सोनेमें सुगन्ध हो जायगा। प्रायः सभी अच्छे-अच्छे विरक्त और उदासी लोग, सूर्योदयके पूर्व ही भजनमें प्रवृत्त हो जाते हैं। देखा गया है कि जिन निष्काम साधकोंने नियमसे ब्राह्म-मुहूर्तमें स्मरण-ध्यान किया, उनको भगवत्कृपाका प्रमाण अवश्य मिल गया। अवश्य ही धैर्य नहीं छोड़ना चाहिये।

ब्राह्म-मुहूर्तके विषयमें यह एक बात भी स्मरण रहे कि ब्राह्म-मुहूर्तमें सोते रहना स्वास्थ्य और परमार्थ दोनों दृष्टिसे ही बड़ा हानिकर है। इसीसे शास्त्रमें सूर्योदयके समय सोते रहनेको बहुत ही निन्दनीय कहा है। सूर्योदयके समय सोनेसे कफकी अधिकता होकर तमोगुणकी वृद्धि होती है जो एक अत्यन्त हानिकर गुण है और जिसका बुरा प्रभाव चित्तपर भी पड़ता है। तमोगुणकी वृद्धिसे व्याधि भी होती है। इसके विरुद्ध सूर्योदयके समय जगे रहनेसे उस समयकी उत्तम वायु मिलती है जिसमें शक्ति-प्रदायक अंश अधिक रहता है। उससे केवल स्वास्थ्यका ही सुधार नहीं होता, चित्त भी किसी अंशमें शान्त हो जाता है। ऐसे समयमें भगवच्चिन्तन करनेके प्रभावका तो कहना ही क्या है?

तमोगुणके आलस्य-स्वभावके कारण ब्राह्म-मुहूर्तमें जागने, शीत-कालमें शीतके भयसे और गर्मीमें प्रातः-कालकी निद्रा ठण्डकके कारण प्रिय होनेसे उस समय बिछौनेसे उठनेमें बड़ी अनिच्छा होती है किन्तु इन बातोंकी परवा न कर जो कर्तव्य-पालनके निमित्त ब्राह्म-मुहूर्तमें उठकर अपने प्रातःकृत्य भगवच्चिन्तनमें प्रवृत्त हो जाता है, वह तमोगुणको अपने वशमें कर लेता है और शीघ्र ही उससे मुक्त हो जाता है। प्रातःस्मरणका यह भी एक बड़ा लाभ है।

प्रभुका व्रत

अरि होय मीत होय मीठो चहै तीत होय, मेरो अवलम्ब तो बिलम्ब ना लगाऊँ मैं।
पातक प्रचुर होय चाहै धर्मधुर होय, मेरो होन चाहै ताहि आपनो बनाऊँ मैं॥
'द्विजश्याम' धर्म कर्म मेरो यही जानो सत्य, मर्मबात आपने स्वभावकी बताऊँ मैं।
कौनहू बरन होय कैसो आचरन होय, आवै जो सरन ताहि सद्य अपनाऊँ मैं॥
स्वपच किरात होय अघ ना अघात होय, नीच हूँ सों नीच ढिग आपने बिठाऊँ मैं।
कीट औ पतंग होय दुर्मद मतंग होय, ताके हित आवत मैं देर ना लगाऊँ मैं॥
कैसहू अधम सों अधम होय चाहै ताहि, अंक भरि लाऊँ मनो रंक धन पाऊँ मैं।
साँची कहौं प्यारे रेख खाँची कहौं 'द्विजश्याम' साँचे चित आवै ताहि आपनो बनाऊँ मैं॥

तुलसीकृत रामायणमें करुणा-रस

(३)

भरत और हैमलेट

[गतांकसे आगे]

१—प्रस्तावना

(लेखक—श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा एम० ए०, एल-एल० बी०)

डा० मिलरका कथन है कि 'शेक्सपियरकी रचनाओं-मेंसे 'हैमलेट' ही सबसे अधिक उस महाकविके मस्तिष्कमें बस रहा था। कारण कि वह उसे लगभग अपने रचना-कालके अन्तिम अवस्थातक बराबर संशोधित करता रहा' (Of all his works Hamlet dwelt most in Shakespeare's mind, since he continued to touch and retouch it down probably to the close of his career of authorship.) अब यदि हम इसकी तुलना तुलसीकृत रामायणके 'वनवास' वाले भागसे, जो दुःखान्त नाट्य-कविताका एक अपूर्व नमूना है, करें तो संसारके इन दोनों महाकवियोंमेंसे किसीके प्रति तनिक भी अनौचित्य न होगा। फिर ब्रेडली (Bradly) महोदयके कथनानुसार भी कि 'हैमलेटकी सम्पूर्ण कथा नायकके चरित्रकी विशेषता-पर निर्भर है......वह विशेषता ऐसी है जिसने स्वयं कदाचित् समस्त संसारके साहित्यमें अधिकतम आकर्षण उत्पन्न किया है और वह निश्चय ही सबसे अधिक वाद-विवादका विषय रही है। (The whole story of Hamlet 'turns upon the peculiar character of the hero......the character itself has probably exerted a greater fascination and certainly has been the subject of more discussion than any other in the whole literature of the world.') जब हम यह देखते हैं कि चित्रकूटमें रानी सुनैनासे भेंट करते समय स्वयं महारानी कौशल्याके मुखसे तुलसीदासजी यह कहलाते हैं कि महाराज दशरथ 'जानेहु सदा भरत कुलदीपा' ही कहा करते थे तो हमें अनुभव होने लगता है कि तुलसीदासजी भी अपनी रामायणके इस भागका केन्द्र भरतको ही समझते हैं। तुलसीजी परखनेके लिये पहले हमें यह कसौटी देते हैं कि—

'कनक कसं मणि पारिख पाये। पुरुष परखिये समय सुभाये ॥'

और फिर भरतके चरित्रके अङ्ग-अङ्गको इस सुन्दरता-से, ऐसी भावपूर्ण आत्माको हिला देनेवाली और हृदयको विदीर्ण करनेवाली भाषामें रखते हैं कि, देखते ही बनता है। भरत प्रत्येक अवस्था एवं घटनापर विजय पाते हैं और दुःखान्त-कविताको सुखान्त-कवितामें परिवर्तित कर देते हैं। साथ ही वह अयोध्यामें बहुत-सी ऐसी बहु-मूल्य सामग्रीको बचा लेते हैं जो डेन्मार्क (Denmark) में 'हैमलेट' की दुःखान्तक-घटनाओंके भँवरमें पड़कर नाश हो गयी थी। इस कसौटीपर कसनेसे भरतजी अवश्य ही हैमलेटसे खरे उतरते हैं। चूँकि हमें दोनोंके चरित्रोंकी प्रत्येक दृष्टिकोणसे तुलनात्मक आलोचना करनी है अतः यहाँ इतना ही कहना अलम् है कि स्वयं तुलसीदासजीने भरतके प्रति समष्टिरूपेण यह कह दिया है कि—

सिय-राम-प्रेम पियूष पूरन होत जन्म न भरतको,
मुनि मन अगम यम नियम शम दम विषम व्रत आचरत को।
दुख दाह दारिद दम्भ दूषण सुयश मिसु अपहरत को,
कलिकाल तुलसी-से सठहि हठि राम सन्मुख करत को॥

क्या अब भी यह प्रत्यक्ष नहीं होता कि तुलसीजीके हृदय एवं मस्तिष्कपर भरतजीके चरित्रका ही साम्राज्य था और उसीने दिशासूचक यन्त्रकी सुईकी तरह तुलसीजीके जीवनको रामरूपी ध्रुवताराकी ओर फेर दिया था? साहित्य-मर्मज्ञोंद्वारा की गई शताब्दियोंकी खोजके पश्चात् भी ब्रेडली महोदयको स्वीकार करना पड़ता है कि हैमलेट-के पूर्ण रहस्यको कोई समझ नहीं सका। कुछ ऐसी ही धारणा हमारे महापुरुषोंकी भरतके विषयमें भी रही है। जब गुरु वशिष्ठने चित्रकूटमें कठिन समस्याको हल करनेके लिये यह प्रस्ताव पेश किया कि—

तुम कानन गौनहु दोउ भाई। फेरिय लखन सीय रघुराई॥

तो उन्हें स्वयं यह सन्देह था कि कदाचित भरत उसे स्वीकार न करेंगे, परन्तु भरतने उसे इस शीघ्रता, दृढ़ता और उत्साहके साथ इन शब्दोंमें स्वीकार कर लिया कि 'कानन करउँ जन्मभर बासू' वशिष्ठजी हैरान रह

गये । तुलसीजीने गुरु वशिष्ठजीकी तत्कालीन मानसिक अवस्थाका वर्णन इन शब्दोंमें किया है—

'भरत महा महिमा जलरासी । मुनि-मति ठाढ़ि तीर अबलासी ॥'

महाराज जनकने भी जिन्हें स्वयं भगवान् कृष्ण अपनी गीतामें एक अपूर्व कर्मयोगी मानते हैं, यह स्वीकार किया है कि—

धर्म राजनै ब्रह्मविचारू । यहाँ यथामति मोर प्रचारू ॥
सो मति मोर भरत महिमाही । कहौं काह छल छुवत न छाहीं ॥

हम इस लेखमें यह दिखलानेका प्रयत्न करेंगे कि भरतके विषयमें उनके उपर्युक्त दोनों समकालीन महापुरुषोंने जो कुछ कहा है वह अक्षरशः सत्य ही है—विशेषतः इस कारण कि उनके कथनोंकी प्रतिध्वनि शताब्दियोंसे उसी तरह बराबर गूँजती चली आ रही है और भरतजी कर्मयोगियों, भक्तों तथा त्यागियों, सभीके लिये सदा ही आदर्शवत् बने रहे हैं ।

हमें यह हमेशा याद रखना चाहिये कि तुलसीदासजीके प्रति न्याय करनेमें हम कहीं महाकवि शेक्सपियरके प्रति अन्याय न कर बैठें । इसी विचारसे मैं प्रथम ही अपने प्रिय पाठकोंसे कुछ शब्द चेतावनीकी रीतिपर कहना चाहता हूँ । बर्नार्ड शा (Bernard Shaw) ने सत्य ही कहा है कि इस संसारका साहित्य 'हैमलेट' तथा 'डानजुआन' के चारों ओर चक्कर लगा रहा है जिसका अभिप्राय यह है कि संसारके बड़े-बड़े लेखकोंने या तो हैमलेट-जैसे आदर्शवादी या डानजुआन-जैसे इन्द्रियारामीके चरित्रोंकी ही व्याख्या की है—चाहे नाम अथवा श्रेणी जो भी हों । मैं तो यहाँतक कहूँगा कि मानव-जीवनके इन्हीं दोनों दृश्यपटोंकी व्याख्यामें संसारका सारा ज्ञान संलग्न रहा है । यदि एक समुदाय त्यागका प्रचार करता है जो आदर्शवादका दूसरा नाम ही है, तो दूसरा समुदाय 'खाओ, पियो और मौज उड़ाओ' के सिद्धान्तका समर्थक है । संस्कृत-साहित्यमें इसका वर्णन एक सुन्दर उपाख्यानके रूपमें यों पाया जाता है । एक समय देव और दानव-समुदाय दोनों ब्रह्माजीके पास गये । उन्होंने यह प्रार्थना की कि 'भगवन्, आप हमें एक ऐसा साधारण उपदेश दें जिसे हम सरलतापूर्वक अपने जीवनमें चरितार्थ कर सकें ।' ब्रह्माजीने उत्तर दिया कि 'अपनेको पहचानो ।' उन्होंने फिर पूछा 'हम कौन हैं ?' तो ब्रह्माजीने एक प्यालेमें जल भरकर कहा कि 'अपनेको इसमें देखो ।' दोनों समुदाय सन्तुष्ट हो गये । परन्तु दोनोंके दृष्टिकोण पृथक् रहे । दानव-समुदायने केवल अपना बाह्य रूप देखा और अपने शरीरके पालन-पोषणमें लगकर उसीको अपना सर्वस्व जाना । इसप्रकार वह केवल प्रकृतिवादी रह गया । इसके विरुद्ध देव-समुदाय मननशील था और उसने सोचा कि वह आत्मा है जो आँखोंसे देखता और कानोंसे सुनता है और जिसका प्रकटीकरण कभी मुसकानमें, कभी रोमचिह्नोंमें और कभी चिन्ताजनित ललाट-रेखाओंमें होता है । वह केवल इतनेहीसे सन्तुष्ट नहीं हुआ, प्रत्युत उसने अपनी अन्तरात्मामें और गहरी डुबकी लगायी और उस सर्वव्यापी आत्माको ढूँढ़ निकाला जो असंख्य आत्माओंद्वारा प्रकट होता है । एक समुदाय कहता है कि 'आक़ब़तकी खबर ख़ुदा जाने, अब तो आरामसे गुज़रती है ।' पर दूसरेका कथन है—

शक्ले इन्साँमें खुदा है हमें मालूम नहीं ।
चाँद बदलीमें छुपा है हमें मालूम नहीं ॥

और मानो हमसे फ़ारसी-भाषाके प्रसिद्ध रहस्यवादी कविके शब्दोंमें यह कहता है—

कि बचश्माने दिल मुबीं जुज़ दोस्त ।
हरचि बीनी विदाँ कि मज़हरे ओस्त ॥

दिलकी आँखोंसे दोस्तके सिवा और किसीको न देखो और जो कुछ देखो उसे उसका ही उदय-स्थान समझो । एक बातका स्मरण मुझे बार-बार हो आता है अतः उसे ज्यों-की-त्यों, बिना किसी विस्तृत व्याख्याके लिखे देता हूँ । तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (Comparative philology) के मर्मज्ञोंका कथन है कि 'डेन' (Dane) और 'दानव' धातुरूपसे एक ही हैं । कौन जाने कि भगवान्ने ही शेक्सपियरकी अन्तरात्माको प्रेरित किया हो कि वह अपनी कवितामें उन दुःखात्मक परिणामोंका निरीक्षण करे, जिन्हें मानवी-जीवनको अत्यन्त भौतिक बना देनेके फलस्वरूप समझना चाहिये । हैमलेटकी असफलताका कारण केवल उसकी आत्मिक दुर्बलता ही न थी प्रत्युत यह सड़न भी थी जो डेन्मार्क-देशकी व्यवस्थामें फैल रही थी । (Something rotten in the state of Denmark)

बेचारे हैमलेटका जो एक ही सच्चा मित्र है वह भी केवल उसकी प्रतिध्वनिमात्र है, जिसमें उसका व्यक्तित्व

बहुत कम जान पड़ता है। वशिष्ठजीके स्थानमें, जिनकी विद्वत्ता तपस्याद्वारा शुद्ध हो चुकी थी और सहृदयतासे ओतप्रोत थी, हमें 'हैमलेट' में प्लोनियस (Polonius) मिलता है जिसकी पुस्तकीय लोकोक्तियाँ हमारे कानोंमें खटकती हैं। भरतकी विजय 'अयोध्या' में स्पष्ट है। कौन अयोध्या ? जिसका अर्थ ही शान्ति-नगर है और जो उस शान्ति-नगर 'अयोध्या' की प्रतीक-सी जान पड़ती है जिसका उल्लेख वेदोंमें हुआ है। इस विजयका कारण यह था कि लगभग सब लोगोंको भरतके साथ सहानुभूति थी। अब रही उनकी माताकी कुटिलता, सो वह भी केवल नष्ट ही नहीं हो गयी थी प्रत्युत उसके स्थानमें उनकी अन्ततः आत्म-शुद्धि ही हो गयी थी। शेक्सपियर हमारे समीप एक ऐसी महान् आत्माका हृदय-विदारक चित्र पेश करता है जो स्वार्थपूर्ण भौतिक जगत्की कठिनाइयोंमें पड़कर पागल-सी हो गयी थी। आह, भौतिक जगत्में आदर्शवादका कैसा दुःखमय परिणाम होता है ? तुलसीदासजी हमारे समीप उन कठिनाइयोंका चित्रण अवश्य करते हैं जो आदर्शवादको संसाररूपी अग्नि-कुण्ड (Flaming forge of life) में झेलनी पड़ती हैं, परन्तु उनके आदर्शवादमें पर्याप्त शक्ति है और उनके जगत्में भी पर्याप्त आध्यात्मिकता और सहानुभूति है। इसीसे तो भरतका आदर्शवाद जीवनकी उस त्रुटिपर विजय पाता है जो उनकी माताके जीवनमें निहित थी। भरतमें नैराश्यकी वह अन्तिम दशा कभी नहीं पायी जाती जिसका प्रकटीकरण 'हैमलेट' के इन शब्दोंमें होता है—'समय अस्त-व्यस्त है। ऐ निन्दनीय विग्रह ! अच्छा होता कि मैं तेरे सुधारके लिये पैदा ही न होता।' (The time is out of joint; O cursed spite that I was born to set it right) जहाँ एक कवि पाश्चात्य भौतिकताका दुःखान्त-रोना रोता है वहाँ दूसरा कवि पौर्वात्य आदर्शवादके विजयका सरस गान सुनाता है। या यों कहो कि शेक्सपियर निराशारूपी (Melancholy) रुग्णताके मर्मोकी व्याख्या करता है जो हैमलेटमें इस कारण पैदा हो गयी थी कि उसका मननशील आदर्शवाद ऐसी परिस्थितियोंमें उत्पन्न हुआ था जिनपर विजय पानेकी क्षमता उसमें न थी। इसके विपरीत तुलसीदासजी निराशारूपी परिस्थितियोंके साथ-साथ उनपर विजय पानेके साधन भी प्रस्तुत करते हैं। वे साधन आन्तरिकरूपमें भरतकी इच्छा-शक्तिका प्रयोग और बाह्यरूपमें वशिष्ठ, कौसल्या, एवं श्रीरामका सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार है। इसप्रकार सांसारिक समस्याको हल करनेके लिये इन दोनों महाकवियोंकी आवश्यकता है और दोनों एक दूसरेकी सम्पूर्ति करते हैं। परन्तु यह ज़रूर मानना पड़ेगा कि रोगका केवल मार्मिक निरीक्षण—चाहे वह कितना ही विद्वत्तापूर्ण हो—इतना लाभदायक नहीं है जितना निरीक्षणके साथ ही उसके निराकरण एवं उपचारका परिचय भी देना। जान पड़ता है सरस्वतीजी दोनोंको एक दूसरेका पूरक बनाना चाहती थीं, क्योंकि उन्होंने दोनोंकी आत्माओंमें अपनी स्फूर्तिका लगभग एक ही समयमें प्रादुर्भाव किया था। कालचक्रके प्रभावसे अब यह दोनों महाकवि भारतमें एकत्रित हो गये हैं। परन्तु हमें शीघ्रतासे इस बातको ले न भागना चाहिये कि भौतिक जीवनमें कोई लाभ ही नहीं है। देखिये न, भौतिक-विज्ञान कितना लाभदायक है। हाँ, साथ ही यह स्मरण रखना चाहिये कि शेक्सपियरने स्वयं ही 'पाइन्ट्समैन' के रूपमें पाश्चात्य जगत्को खतरेका 'सिगनल' इसलिये दिया है कि वह भौतिकताके दुष्परिणामोंसे सुरक्षित रहे। इधर गत योरपीय महायुद्धने पाश्चात्य जगत्की आत्माको एक बार फिर आन्दोलित कर दिया है और अब वहाँ आध्यात्मिकताकी कुछ-न-कुछ सुनाई फिर होने लगी है। अब देखना है कि उसकी वह पुरानी सड़न (Rottenness) कब दूर होती है।

डा० मिलरका कथन है कि 'हैमलेट' में ईसाके पूर्वकी पाशविकताका वर्णन है (The days of pre-christian ferocity) निस्सन्देह ही महाकवि शेक्सपियर-जैसे शीघ्र प्रभावित होनेवाले ईसाई महाकविके हृदयपर उस पाशविकतासे, जिसमें हिंसा, स्वार्थ एवं सुरा-सुन्दरीकी कोलाहल-पूर्ण विलासिताका उन्माद भरा था, कड़ी ठेस लगी होगी। उसी ठेसने उसको कुछ समयके लिये तो अवश्य ही बहुत कुछ निराशावादी बना दिया था। कारण, ईसाने शुद्ध आध्यात्मिकतावाले उच्च कोटिके भाव अवश्य छोड़े, परन्तु आदर्श-पूर्तिके हेतु किसी मार्गको निर्धारित नहीं किया था, इसके विपरीत योगवाशिष्ठ (जिसे रामायणके तत्त्वका सार कहना चाहिये) और गीता (जिसे समस्त हिन्दू-धर्मके तत्त्वका सार कहना चाहिये) इत्यादि हमें अपने आत्मिक उन्नतिके मार्गपर अग्रसर

होनेके लिये कुछ निश्चित नियमोंकी ओर संकेत करते हैं। यही कारण था कि ईसाई-जगत्का ऐसा बड़ा कवि भी आदर्शवादको पाश्चात्य जगत्की ओर भौतिकताके वातावरणमें सफल न बना सका। इसके विपरीत तुलसीदासजीको पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

हमें यह भी न भूलना चाहिये कि शेक्सपियरने अपनी कविताके लिये यह आदर्श चुना था कि कविता भौतिकताका दर्पण है (Holding mirror to nature) यद्यपि अब उसके प्रसिद्ध समालोचक जान मेसफ़ील्ड उस आदर्शकी व्याख्या इसप्रकार करते हैं कि 'जब हम किसी दर्पणमें गौरसे देखते हैं, तो उसमें अधिकतर अपना ही प्रतिबिम्ब पाते हैं।' मैं जहाँतक समझता हूँ, इस व्याख्याका यही अर्थ है कि महाकविके मानसिक विचारोंका प्रतिबिम्ब उसकी कवितामें पाया जाता है। तब भी समालोचक महोदय यह दावा कदापि नहीं कर सकते कि महाकवि शेक्सपियर उस गहराईतक पहुँच सका था जहाँ वह जगन्नियन्ता परमात्माके मानसिक विचारोंका प्रतिबिम्ब देख सके। कहीं-कहीं केवल अस्पष्ट संकेतके रूपमें यह कहना कि 'एक ऐसी ईश्वरीय सत्ता है जो हमारे अन्तिम परिणामोंकी व्यवस्था करती है' (There's a divinity that shapes our ends) पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त हम रामायणमें विश्वकी समस्याओंका हल बहुत साफ़-साफ़ पाते हैं और रामचरित-मानसमें ईश्वरीय शक्तियोंका विकास बहुत ही स्पष्ट दीखता है। तब यह प्रश्न होता है कि तुलसीदासजीसे तुलना करनेके लिये वैसे कविकी रचनाओंको ग्रहण ही क्यों करें? कारण स्पष्ट है। महाकवि मिल्टन इतना शुष्क है और उसमें नाटकीय कौशल इतना कम है और उसकी कविता शृङ्गारी गान-कला एवं हास्यरससे इतनी शून्य है कि वह तुलसीदासके साथ तुलना करनेमें तनिक भी नहीं ठहर सकता। महाकवि शेक्सपियरकी रचनाओंमें धार्मिक आदर्शवादका इतना अभाव नहीं है जितना सर्व-साधारण समझते हैं। ब्रेडली महोदय भी यद्यपि यह स्वीकार करते हैं कि हैमलेट किसी विशेष अर्थमें एक धार्मिक नाटक नहीं कहा जा सकता परन्तु उन्हें भी मानना पड़ता है कि इस नाटकमें साधारण धार्मिक सिद्धान्तोंका प्रचुर प्रयोग हुआ है। साथ ही इस नाटकमें महाकविके अन्य दुःखान्त नाटकोंकी अपेक्षा ऐसे अधिक काव्योपम संकेत मिलते हैं जिसमें उस ईश्वरीय सत्ताका अनुभव होता है जो मानवी जीवनकी भलाई-बुराईको व्यवस्थित करती है। (There is in it nevertheless both a freer use of the popular religious ideas and a more decided though always imaginative intimation of a Supreme Power concerned in human evil and good than can be found in any of the Shakespeare's tragedies.) डा० मिलरने कदाचित् भारतवर्षके आध्यात्मिक परिस्थितियोंसे प्रभावित होकर महाकवि शेक्सपियरके विषयमें और भी बड़ा दावा किया है। उनका कथन है कि शेक्सपियरकी रचनाओंमें महान् अलौकिक शक्ति (Power beyond the world) का साफ पता लगता है। डाक्टर महोदयका कहना है कि हमें शेक्सपियरकी रचनाओंमें यह साफ दीखता है कि 'किसप्रकार बुराई और गलती दुःख और लज्जासे सम्बद्ध हैं, और सत्याचरणसे वास्तविक सुखकी प्राप्ति होती है।' (How evil and error by their very nature are linked with shame and sorrow, while right doing tends towards the true weal) परन्तु यह कथन शेक्सपियरकी अपेक्षा तुलसीपर अधिक लागू होता है। शेक्सपियरकी एक विवशता यह भी थी कि जैसा पहले लेखमें बतलाया जा चुका है, वह अरस्तूके दुःखान्त नाटककी संकुचित परिभाषाके अनुसार ही सीमित रहकर काम करता था, यद्यपि हमें यह मानना पड़ेगा कि ऐसा करते हुए भी उसने यवन-देशके आदर्शको बहुत कुछ उदार बनाया। इन्हीं सब कारणोंसे हमें ईश्वरीय सत्ताका वैसा उत्साहपूर्ण एवं स्पष्ट दर्शन नहीं मिलता, जैसा रामायणके इन शब्दोंमें—

सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी॥

पाठकोंको ये बातें स्वयं ही स्मरण रखनी चाहिये और आगेकी तुलनात्मक व्याख्यामें आवश्यकतानुसार ख़याल कर लेना चाहिये। कारण, अब हम हैमलेट और भरतकी हर बातपर तुलनात्मक दृष्टि डालेंगे और उपर्युक्त सिद्धान्तोंको दुहरा न सकेंगे।

(क) आकृति (Appearance)

हैमलेटके सम्बन्धमें कहा गया है कि उसका रंग स्कैन्डीनेविया (Scandinavia) वाला साफ रंग था

और उसका शरीर कुछ स्थूल (Phlegmatic) जिसके अन्तर्गत शरीरकी स्थूलताके साथ कफ तथा जलप्रधान प्रकृति और सुस्त स्वभावका होना शामिल है। वह सुशील और सुन्दर था। उसकी माता उसे देख-देखकर जीती थी (Lived upon his looks)। और आकर्षणवश द्रष्टाओंकी दृष्टि उसपर तुरन्त ही पड़ जाती थी (The observed fall observers)। स्थूल शरीरमें आदर्शवादी आत्माका होना विरोधाभासपूर्ण ही है। मेरी समझमें शेक्सपियरकी यह मंशा थी कि उसके चरितनायक-की देह एवं आकृति उसके स्वभावकी पूर्ण परिचायक बनें। ठीक जिसप्रकार आदर्शवादीका जीवन ठोस भौतिक परिस्थितियोंमें होकर असङ्गत-सा जान पड़ता है और उसकी दशा 'जिमि दसनन महँ जीभ बिचारी' के अनुसार ही होती है, वैसे ही आदर्शपूर्ण आत्माका ठोस स्थूल शरीरमें होना उसकी उड़ानको पृथिवीकी ओर झुका देता है। महाकवि बाइरन (Byron) ने ठीक ही कहा है कि एक शृङ्खला ऐसी है जो हमारी आत्माको नीचे घसीटती है, यद्यपि उसकी झङ्कार सुनायी नहीं देती। हैमलेटका पूरा नाटक ही उस रुग्ण परिस्थितिकी व्याख्या है जिसमें हमारे पार्थिव अस्तित्व और उस आत्माके बीच संघर्षण होता है जो आकाशकी ओर जाना चाहती है। शेक्सपियर-ने उस बाह्य एवं आन्तरिक आत्मासम्बन्धी संघर्षणको ऐसी सूक्ष्म एवं करुणजनक भाषामें व्यक्त किया है कि विवशतः उसके चरणोंपर आँसुओंकी श्रद्धाञ्जलि चढ़ानी ही पड़ती है। टालसटाय (Tolstoy) का भी कहना है कि एक ओर त्यागकी बातें करना और दूसरी ओर जीवन-पर्यन्त शरीरको खान-पानद्वारा स्थूल बनानेकी ही फ़िक्र में रहना पारस्परिक विरोधके ही सूचक हैं। अतः हम उस महापुरुषके लेखों एवं पत्रों (Essays and Letters) में यह देखते हैं कि उसने आत्मासम्बन्धी उत्थानके लिये उपवास और जितेन्द्रियता-इन दो श्रेणियोंका होना आवश्यक बतलाया है।

समूचे पूर्वी साहित्यमें आदर्शवादी आत्माके लिये सदा कृश शरीरका होना ही उचित समझा गया है जो ठीक ही है। कोई मनुष्य 'मजनूँ' या 'फ़रहाद' जैसे आदर्श प्रेमिकोंकी कल्पना भी बड़े पेटवाले शरीरोंके साथ नहीं कर सकता। इसी बातपर जोर देनेके लिये हमारे यहाँ यह व्यंगपूर्ण कहावत है कि (बनावटी) प्रेमिक 'घुल घुलके हो गया हाथी'। महाकवि तुलसीदासने भी आदर्श-वादी भरतको कृश शरीरको ही उपमा दिया है और साँवला वर्ण बताया है-यद्यपि उनके कर्मवीर क्षत्रिय होनेके कारण वह कृश तनु भी पक्के फौलादका बना हुआ है। वह कोई प्रेमाक्रान्त 'मजनूँ' नहीं है, अपितु इतनी शक्ति रखता है कि हनूमान्-जैसे योद्धाको आकाशमार्गसे जाते देख और उसे रावण-पक्षका सिपाही समझ अपने 'बिनु फर शायक' से ही उसे धराशायी कर देता है। इससे भरतकी सावधानी-का पता चलता है। यदि 'बिनु फर शायक' न होता तो हनूमान्के साथ लक्ष्मण और लक्ष्मणके साथ कितने ही और लोगोंकी मृत्यु होकर परिणामस्वरूप वही दुःखान्तक दृश्य उपस्थित हो जाता जैसा सहसा 'हैमलेट' की कटारसे पोलोनियसकी मृत्यु और तत्पश्चात् कितने ही मृतपुरुषोंका दृश्य उपस्थित हो गया था। परन्तु इस बातको इस समय अप्रासङ्गिक होनेके कारण, केवल संकेतरूप ही समझना चाहिये। हाँ, यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि आदर्शवादका अर्थ न तो 'सहसा करि पाछे पछिताहीं' है और न ऐसी एकाङ्गी तन्मयताका होना ही जिसमें परिणामका कुछ विचार ही न हो। इसमें सन्देह नहीं कि आदर्शवाद, ध्येयके हेतु, ऐसी लगनके होनेका नाम है जिसमें दुःख-सुखरूपी परिणामोंका कोई विचार न हो परन्तु भरत-जैसे महापुरुषोंके ज्ञानमय आदर्शवादके यह विपरीत नहीं है कि ध्येय-प्राप्तिके निमित्त प्रत्येक प्रकारके सुगम उपायका शनैः-शनैः प्रयोग किया जाय।

तुलसीदासजीने तपस्वी आदर्शवादी भरतका अत्यन्त ही सुन्दर चित्र खींचा है। भरतका यह तपस्वी जीवन किसी वनमें नहीं व्यतीत होता, जहाँ वैसा होना बहुत सुगम है किन्तु वह ऐसे नगरमें व्यतीत होता है जो रामकी राजधानी है और जहाँ भरत राज्यका प्रबन्ध एक सुपुर्ददारकी रीतिपर ही करते हैं। हमें आशा है कि वह साम्राज्यवादी भी, जो बात-बातमें 'सुपुर्ददारी' का दावा करते हैं, तनिक इन बातोंपर विचार करेंगे—

जटाजूट सिर मुनि पट धारी। महि खन कुश सायरी सँवारी॥
असन बसन आसन दृढ़ नेमा। करत कठिन व्रत धर्म सप्रेमा॥
भूषण बसन भोग सुख भूरी। मन तनु वचन तजे तृण तूरी॥
अवधराज सुरराज सिहाहीं। दशरथ धन लखि धनद लजाहीं॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥

भरतकी 'सुपुर्ददारी' के जीवनका चित्र उपर्युक्त सरल पँक्तियोंमें किस सुन्दरतासे किया है। भोगकी सामग्रीसे परिवेष्टित होते हुए विरागी भरतकी उपमा चंपक-बागके चंचरीकसे देना कितना भावपूर्ण है। कारण भी स्पष्ट ही है जैसा तुलसीदासजीने स्वयं कहा है—

राम प्रेम भाजन भरत बड़ी न यह करतूत।
चातक हंस सराहियत टेक विवेक विभूति॥

हाँ, भरतके आदर्शवादमें एक ओर चातककी टेक है तो दूसरी ओर हंसका विवेक। तुलसीदासजी आगे फिर कहते हैं—

देह दिनहि दिन दूबरि होई। बढ़त तेज बल मुखछबि सोई॥

शरीरके साधारण कष्टोंको देखते हुए स्वेच्छापूर्ण तप-जनित कष्टोंमें यही विशेषता है कि तपके कष्टसे आत्माकी शुद्धि होती और तज्जनित आनन्दका विकास 'कृश तनु' में भी 'मुख छवि' रूपमें झलकता रहता है। तुलसीदास-जी एक बार फिर राम और भरतकी तपस्याओंकी तुलना करते हुए भरतको प्रधानता देते हैं और कहते हैं—

लषनरामसिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तनु कसहीं॥
दुइ दिशि समुझि कहत सब लोगू। सबबिधि भरत सराहन योगू॥

यही कारण है कि भरतकी प्रशंसा करते हुए तुलसी-जी कहते हैं कि भरत वह है कि—

जग जपु राम राम जपु जेही।

(क्रमशः)

—·—
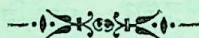
योगवाशिष्ठ-सार

(लेखक—श्रीकन्हैयालालजी मास्टर)

१—वैराग्य-प्रकरण

उस ईश्वर सच्चिदानन्दघन परमात्माको धन्यवाद है कि जिसकी कृपासे हमें मनुष्यका वह शरीर प्राप्त हुआ जिसके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। कर्म और ज्ञान दोनोंसे मोक्षकी सिद्धि होती है। अच्छे कर्म करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, फिर ज्ञान उपजता है और ज्ञानसे मुक्ति होती है।

महारामायण अर्थात् श्रीवशिष्ठजी और श्रीराम-चन्द्रजीका संवाद सुनने और उसके तात्पर्यको हृदयमें धारण करनेसे मनुष्य जीवन्मुक्त होकर विचरता है। इस महारामायणका विषय है कि यह सत्-चित्-आनन्दरूप और अचिन्त्यचिन्मात्र आत्मा-को जताना। परमानन्द आत्माकी प्राप्ति प्रयोजन है और ब्रह्म-विद्या एवं मोक्ष उपायसे आत्म-पद-प्रतिपादन सम्बन्ध है। इसके पढ़नेका अधिकारी वही मनुष्य है जो अपनेको इस संसारके बन्धनसे छुड़ाना चाहता है। इस संसारको भ्रममात्र जानकर सर्वथा विस्मरण करना ही मुक्ति है। इसके बन्धनका कारण वासना है जिसके क्षय होनेसे परम पदकी प्राप्ति होती है।

मन वासनाका पुतला है। जब ज्ञान होता है तब संसारकी सत्यता निवृत्त हो जाती है, मन नष्ट हो जाता है और परम कल्याण होता है अर्थात् परम पदकी प्राप्ति होती है। मन मूर्खतासे भोगोंकी इच्छा करता है। भोग भी आगमापायी हैं। जो मनुष्य भोगोंके यत्नमें अपना जन्म गँवा देता है, वह सदा आवागमनमें पड़ा रहता है और कभी सुखी नहीं हो सकता।

यह लक्ष्मी भी परम अनर्थकारिणी है। जब लक्ष्मी प्राप्त होती है तब वह शील, सन्तोष, धर्म, उदारता, कोमलता, वैराग्य, विचार और दया आदि-का नाश कर देती है। लक्ष्मीरूपी अग्निकी प्राप्ति

होनेपर सब शुभ गुण जल जाते हैं। लक्ष्मीकी इच्छा ही मूर्खता है। यह क्षणभङ्गुर है। इससे भोग उपजते और नाश होते हैं। पुरुषमें शुभ गुण तभीतक हैं, जबतक तृष्णाका स्पर्श न हो। लक्ष्मी देखनेमात्रको ही सुन्दर है पर आत्मानन्दका नाश करनेवाली है। जब लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है तब वह बड़े भोग भुगताती है और उसीसे तृष्णारूपी काजल उपजता रहता है। जब उसका अभाव होता है तब वह तृष्णाकी वासनाको छोड़ जाती है, जिसके कारण जीवको बारम्बार जन्म और मरणकी प्राप्ति होती है। वह कभी शान्ति नहीं पाता। तृष्णारूपी सर्पका विष बढ़ानेके लिये लक्ष्मी-रूपी दूध है और वैराग्यरूपी कमलिनीका नाश करनेके लिये लक्ष्मीरूपी बरफ़ है।

यह जीवन तभी श्रेष्ठ है, जब आत्म-पदकी प्राप्ति हो, नहीं तो सर्वथा व्यर्थ है। जिस पुरुषने मनुष्य-शरीर पाकर आत्म-पद पानेका यत्न नहीं किया, उसने स्वयमेव अपना नाश कर लिया। वही आत्म-हत्यारा है। इस जगत्को असत्‌रूप जानकर वासना-रहित होनेकी इच्छा करनी चाहिये।

अहङ्कार अज्ञानसे उदय हुआ है और यह सब दुःखोंकी खान है। जीव अहङ्कारसे जो कुछ भजन-पूजन, दान-पुण्य करता और लेता-देता है, वह सभी व्यर्थ है। विवेक उत्पन्न होनेपर अहङ्कारका अभाव होता है और तभी तृष्णाका नाश होता है जो कि परम दुःखकी कारण है। वैराग्य, विचार, धैर्य और सन्तोष महापुरुषोंके गुण हैं। चित्त भोगके पदार्थोंसे कभी सन्तुष्ट नहीं होता। बल्कि अन्तःकरण-में सदा तृष्णा बढ़ती रहती है। यह चित्त सङ्कल्प-विकल्पसे सदा खेद पाता है। मनुष्य अज्ञानके कारण आत्माको अनात्मासे भिन्न नहीं कर सकता। आत्माके ज्ञान बिना मनुष्य मृतक-समान है। चित्तका जीतना महा कठिन है। यह सदा ही चलायमान रहता है, कदापि स्थिर नहीं होता। चित्तके उदयसे ही तीनों लोकोंकी उत्पत्ति है और इसके लीन होनेसे जगत् भी लीन हो जाता है। चित्त जब सुख जानकर भोगोंको भोगने लगता है, तब तृष्णारूपी खाईमें गिर पड़ता है। तृष्णा परम दुःख-का मूल है। इसीने स्त्री, पुरुष, पुत्र और कुटुम्बका जाल बिछाया है, जिसमें फँसा हुआ मनुष्य निकल नहीं सकता। आशारूपी फाँसीमें बँधा हुआ वह कभी ऊपरको जाता है और कभी उसका अधःपात होता है। तृष्णारूपी बादल आत्मरूपी सूर्यके आगे आवरण करता है। जब ज्ञानरूपी पवन चले, तब तृष्णारूपी बादलका नाश होकर आत्मपदका साक्षात्कार हो। जब तृष्णा आती है तब सत्य-असत्यका विचार नहीं रहता। तृष्णारूपी वृद्धा स्त्री है। जो पुरुष इसका त्याग करता है यह उसके पीछे लगी ही रहती है। कभी त्याग नहीं करती। तृष्णारूपी डोरीमें जीव-रूपी पशु बँधे फिरते हैं। सिवा वैराग्यके और किसी भी उपायसे यह तृष्णा निवृत्त नहीं होती।

यह अमङ्गलरूप शरीर जो जगत्‌में उत्पन्न हुआ है, बड़ा अभाग्यरूप है। इससे कुछ भी अर्थ सिद्ध नहीं होता। इस शरीरको जड़ नहीं कह सकते, क्योंकि इससे कार्य भी होता है। और यह चैतन्य भी नहीं है क्योंकि इसको अपने आप कुछ ज्ञान नहीं होता। यदि ज्ञान होता तो चैतन्य आत्मा जो इसमें व्याप रहा है, प्राप्त हो जाता। इसमें जो अहंभावकी स्फुरणा होती है, वही दुःखका कारण है। अहंकारसे रहित पद ही उत्तम है और सब व्यर्थ है। शरीररूपी नौका भोगरूपी रेतमें पड़ी है इसका पार होना कठिन है। जब वैराग्यरूपी जल बढ़े और अभ्यासरूपी पतवारका बल लगे, तब कहीं यह संसारके उस पार किनारेपर पहुँचे। जब मनुष्य

अपने परिवार अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदिसे अहंभाव और ममत्वका त्याग करे तब मुक्ति हो। शरीररूपी गृहमें तृष्णारूपी चण्डी स्त्री रहती है, वह इन्द्रियरूपी द्वारसे देखती रहती है और नित्य नयी-नयी कल्पना करती रहती है, जिससे शम-दमादिरूप सम्पदाका प्रवेश ही नहीं होता। उस घरमें सुषुप्तिरूप शय्या है, जब जीव उसके ऊपर विश्राम करता है, तब कुछ सुख पाता है परन्तु तृष्णाका परिवार अर्थात् काम-क्रोधादि उसे विश्राम नहीं करने देते। जिस पुरुषने काष्ठरूपी शरीरको ज्ञानाग्निसे जला डाला उसका परम अर्थ सिद्ध हो गया, जिसने नहीं जलाया उसीने परम दुःख पाया। जितने दुःख हैं, सब शरीरके संयोगसे होते हैं। जिसको देहका अभिमान नहीं है वही मनुष्योंमें उत्तम और वन्दना करने योग्य है और उसीको समस्त सम्पदा भी प्राप्त है। जो शरीरकी आस्था करके अहंकार करते हैं और जगत्के पदार्थोंके निमित्त यत्न करते हैं वे महामूर्ख हैं। जैसे स्वप्न मिथ्या है वैसे ही यह जगत् भी मिथ्या है। जो इसको सत्य जानता है वह अपने बन्धनके निमित्त यत्न करता है। शरीरका अभिमान परम दुःख देनेवाला है।

इस जीवको संसारमें जन्म पानेपर पहले बाल-अवस्था प्राप्त होती है जो परम दुःखका मूल है। इसमें अशक्तता, मूर्खता, इच्छा, चपलता, दीनता, दुःख, सन्ताप आदि बहुत-से अवगुण होते हैं। इस अवस्थामें बालक भिन्न-भिन्न पदार्थोंकी ओर दौड़ता है, उसे किसी प्रकार शान्ति प्राप्त नहीं होती। बाल्यावस्थामें स्वरूपके अज्ञानसे कष्ट होता है। यह अवस्था विवेक-रहित और अपवित्र है। जैसे स्त्रीके नयन चञ्चल हैं, वैसे ही मन और बालक चञ्चल रहते हैं। जब बालक गुरुके यहाँ विद्या पढ़ने जाता है, तब वह बहुत ही भयभीत होता है। जब शरीरमें कोई कष्ट प्राप्त होता है तो उस दुःखको निवारण नहीं कर सकता और दुखी होता है, यह महामूढ़-अवस्था है।

इसके अनन्तर युवावस्था आती है जो और भी दुःखदायक है। इस अवस्थामें कामरूपी पिशाचका आवेश होता है जो चित्तको भ्रमाता है। भोग देखनेमात्रको सुन्दर भासते हैं परन्तु जीव जब इनको भोगता है तब तृष्णासे उन्मत्त और पराधीन हो जाता है। काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार आदि चोर युवारूपी रात्रिको देखकर आत्मरूपी धन लूटने लगते हैं। इससे जीव दीन हो जाता है। विषयकी तृष्णा निवृत्त नहीं होती, जिसके कारण वह जन्म-जन्मान्तरोंतक दुःख पाता है। युवावस्था जीवकी परम शत्रु है। वह बुद्धिमान् पुरुषकी बुद्धि-को भी मलिन कर डालती है। युवावस्था वैराग्य-सन्तोषादि गुणोंका अभाव करती है। वह शास्त्र और लोककी मर्यादाको मेटकर चलती है। उसको अपना विचार भी नहीं रहता। जिसको विचार नहीं रहता उसको शान्ति कहाँसे हो? मनुष्य-जन्म महान् उत्तम है परन्तु विषयासक्तिके कारण इसमें आत्मपद-की प्राप्ति नहीं होती। युवावस्थामें निर्दोष रहना कठिन है। इस अवस्थामें वैराग्य, विचार, शान्ति और सन्तोष होना बड़ा कठिन है। जिस काम-विलासके निमित्त पुरुष स्त्रीकी वाञ्छा करता है वह स्त्री अस्थि, मांस, रुधिर, मूत्र और विष्ठासे पूर्ण है और इन्हींकी पुतली बनी हुई है। यह नागिनिकी भाँति कोमल मालूम होती है परन्तु इसका स्पर्श काटकर मार डालता है। इस चित्तरूपी हाथीपर जब महावतरूपी गुरु उपदेशरूपी अंकुशका बारम्बार प्रहार करता है तब कहीं यह निर्बन्ध हो पाता है। युवावस्थाको नाश करनेवाली स्त्रीरूपी अग्नि है, जो इसकी इच्छा करते हैं वे महामूर्ख और अज्ञानी हैं। जिसने स्त्रीकी आसक्तिका त्याग किया

है, उसने संसारका त्याग किया है और वही सुखी है। संसारका बीज स्त्री है जिससे जरा-मृत्यु आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

बाल्यावस्था और युवावस्थाके अनन्तर जब वृद्धावस्था आती है, तब शरीर जर्जरीभूत हो जाता है। इसीके बाद मनुष्य मृत्युको पाता है। वृद्धावस्थामें स्त्री-पुत्रादि सब उस वृद्धका त्याग कर देते हैं। जरावस्था दुःखका घर है। इस अवस्थामें तृष्णा उन्मत्त होकर बढ़ जाती है। इसप्रकार शरीरकी तीनों अवस्थामें कोई भी सुखदायी नहीं है। बाल्यावस्था महामूढ़ है, युवावस्था महा विकारी है और जरावस्था महान् दुःखसे पूर्ण है। जरावस्थाको मृत्यु ग्रास कर लेती है। संसाररूपी गड़हा है उसमें अज्ञानी गिर गया है। संसाररूपी गड़हा तो छोटा है और अज्ञानी बड़ा हो गया है। सङ्कल्प-विकल्पकी अधिकतासे वह बढ़ गया है। जो ज्ञानवान् पुरुष है वह संसारको मिथ्या जानकर संसाररूपी जालमें नहीं फँसता।

यह काल बड़ा बलिष्ठ है, सबको खा जाता है। काल किसीसे जाना नहीं जाता, क्योंकि कालकी मूर्ति प्रकट नहीं है। जगत्‌रूपी गूलरका फल है। उसमें जीवरूपी बहुत कीड़े रहते हैं और काल उस फलको भक्षण करता है। काल किसीपर दया नहीं करता। सबको चट कर जाता है। जैसे मृग सब कमलोंको खा जाता है वैसे ही काल भी सबको खाता है। परन्तु एक कमल बचता है जिस कमलके शान्ति और मैत्री अंकुर हैं और चेतनामात्र प्रकाश है इसी कारण वह बचा है क्योंकि कालरूपी मृग वहाँतक पहुँच नहीं सकता। बल्कि इसमें प्राप्त हुआ काल भी लीन हो जाता है। कालकूपका चक्र जीवरूपी हँड़ियाको शुभ-अशुभ कर्मरूपी रस्सीसे बाँधकर फिराता है और जीवरूपी वृक्षको रात्रि और दिनरूपी कुल्हाड़ेसे छेदता है। जीवरूपी अन्नके दाने जगत्‌रूपी तौलीमें पड़े हुए रागद्वेषरूपी अग्निपर चढ़े हैं और कर्मरूपी करछीसे कभी ऊपर जाते हैं और कभी नीचे आते हैं। यह काल प्रलयमें सबका प्रलय कर डालता है और इसकी जो चण्डिका शक्ति है उसका बड़ा उदर है। वह कालिका सबका ग्रास करके पीछे नृत्य करती है। महाकालरूप काली है। उसका बड़ा भयानक आकार है। कालके हाथमें त्रिशूल और मूसल आदि शस्त्र हैं और कालिकाके हाथमें तन्द्रारूपी फाँसी है, उससे वह जीवोंको मारती है। ऐसी कालिकादेवी सब जीवोंको ग्रास करके महाभैरवके आगे नृत्य करती है। स्थावर-जङ्गम जगत् सब कालके मुखमें हैं।

इस जगत्‌में जितने भोग हैं सभी रोग हैं। जिसको सम्पदा कहते हैं वह आपदा है। जिसको सत्य कहते हैं वह असत्य है। जिन सम्बन्धियोंको मित्र मानते हैं वे सब बन्धनके कर्ता हैं। इन्द्रियाँ महा शत्रु हैं। देह विकाररूप है। मन महा चञ्चल और अशान्तरूप है। और अहङ्कार महा नीच है। इसीने दीनताको प्राप्त किया है। विचार बिना जीव अपना नाश आप ही करता है। इसका कल्याण करनेवाला बोध है। जब यह सत्य बोधके शरण जाता है तो कल्याण होता है। जब तृष्णा आती है तब आनन्द और धीरजका नाश कर देती है। तृष्णारूपी एक बड़ी नदी है, उसमें राग-द्वेषादि बड़े-बड़े मगर-मच्छ रहते हैं, उनसे जीव बहुत ही दुःख पाता है। इन्द्रियरूपी समुद्रमें जो मनोवृत्तिरूपी तरङ्ग उठते हैं उस समुद्रके तर जानेवालेको शूर समझना चाहिये। तृष्णारूपी नदीमें बड़ा प्रवाह है, उसके किनारेपर वैराग्य और सन्तोष दो वृक्ष खड़े हैं। तृष्णा-नदीके प्रवाहसे इन दोनोंका नाश होता है।

ऐसे विरक्तात्मा दुर्लभ हैं जिनको भोगकी इच्छा नहीं और जो सर्वदा ब्रह्मकी स्थितिमें रहते हैं । स्त्री-पुत्रादिमें स्नेह करना मूर्खता है । जिनकी बुद्धि देह और इन्द्रियोंके साथ बँधी हुई है, उनको आत्मपद-की प्राप्ति होना अति दुष्कर है । जब मनुष्य आत्मपद-की ओर आता है तब संसार उसको बहुत ही नीरस लगता है । जैसे बालकका चित्त स्थिर नहीं रहता वैसे ही जगत्का एक भी पदार्थ स्थिर नहीं रहता । जो पुरुष दीर्घदर्शी है उसको तो जगत्के सभी पदार्थ नीरस मालूम होते हैं । वह किसी पदार्थकी इच्छा नहीं करता । वह अपनी आयुको बिजलीकी चमकके समान देखता है । जिसको अपना मरना सम्मुख भासता है उसको किसी पदार्थकी इच्छा नहीं रहती । जो पुरुष जगत्-को सत्यरूप विचारता रहता है, उसे यह जगत् रम-णीय भासता है, वह इसे रमणीय जानकर नाना प्रकारके संकल्प और कर्म करके जगत्में भटकता है । जिसको आत्म-विचारकी प्राप्ति है, उसको यह जगत् भ्रमरूप भासता है ।

इस संसारमें भोगरूपी अग्नि लगी है, जिसमें सब जलते हैं और दीन हो जाते हैं । काम, क्रोध और दुराचारसे शुभ गुण नष्ट हो जाते हैं । इस जीवको भोग-की इच्छा ही बन्धनका कारण है, उसीसे यह भटकता है और शान्ति नहीं पाता । सुख आत्मज्ञानसे होता है, अन्य किसी भी पदार्थसे नहीं होता । विषयरूपी सर्प जिसको काटता है वह अनेकों जन्मपर्यन्त मरता ही चला जाता है । अतएव विषय-भोग ही परम दुःख-का कारण है । संसाररूपी गड्हे और मोहरूपी कीचड़-में मूर्खका मन गिर जाता है, जिससे वह दुःख ही पाता है । शान्तिको प्राप्त कभी नहीं होता । जिस पुरुषने अपने सुखके निमित्त देह और इन्द्रियादिका आश्रय लिया है वह मूर्ख संसाररूपी अन्धकूपमें गिरता है और कभी निकल नहीं सकता । अज्ञानीका चित्त भोगका त्याग कदापि नहीं करता ।

मनुष्यको चाहिये कि संसारकी चीज़ोंसे चित्त-को हटाकर परमानन्द परमात्म-पदके पानेका यत्न करे । आत्मज्ञानके प्रकाशसे मोहरूपी अन्धकारका नाश हो जाता है । आत्मज्ञानरूपी चन्द्रमाके प्रकाश-से बुद्धिरूपी कमलिनी खिल उठती है और अमृतरूपी किरणोंसे तृप्तवृत्ति होती है । जब अज्ञानरूपी मेघ वर्षा करता है तब दुःखरूपी मञ्जरी बढ़ने लगती है । लोभरूपी बिजली क्षण-क्षणमें प्रकट हो-होकर नष्ट हो जाती है और तृष्णारूपी जालमें फँसे हुए जीवरूपी पक्षी महान् दुःख पाते हैं । चित्तरूपी चन्द्रमामें काम-रूपी कलङ्क लगा है इससे वह उज्ज्वल नहीं भासता । यह चित्त पारेकी भाँति कभी स्थिर नहीं रहता । सदा विषयकी ओर दौड़ता है । मनुष्य-शरीरका यही फल है कि इसमें संसार-समुद्रके पार होनेकी इच्छा करे और पुरुषार्थ करके ब्रह्मपदको प्राप्त करनेका यत्न करे ।

मुखमें

आन नँदरानी सौं कह्यौ है काहू टेरि आज, माटी खात देख्यौ सुत तेरो या सदन मैं ।
सुनिकै रिसाइ सुत बोलि मुख खोलि देख्यौ, एक ब्रह्म दोऊ भेद तीनौं देवतन मैं ॥
चारौं बेद पाँचौं भूत छहौं ऋतु सातौं ऋषि, आठौं बसु नवौं ग्रह दसहौं दिसन मैं ।
ग्यारहौं महेस औ दिनेस बारहौं बिलोकि, तेरहौं रतन लोक चौदहौं बदन मैं ॥

प्रताप कवि

भक्त-गाथा

भक्त रघु केवट

(गतांकसे आगे)

भक्त रघु अब पूर्ण साधु-स्वभावको प्राप्त है। किसीसे कुछ भी कहना-सुनना नहीं, किसीके मनमें उद्वेग हो, ऐसी कोई भी चेष्टा करनी नहीं। दिन-रात श्रीहरिका नाम-कीर्तन करना और भगवान्‌में मनको लगाये रखना, यही उसका काम था। नाम-कीर्तन करते-करते रघुको प्रेम-समाधि हो जाया करती। गाँवके कुछ दुष्ट बालक रघुको छेड़ते, उसके पीछे-पीछे दौड़ते, परन्तु रघु कुछ भी जवाब नहीं देता। इससे लड़कोंका साहस बढ़ गया। कुछ बदमाश लड़के गालियाँ देने लगे और एक-दोने तो ढेले फेंकने भी शुरू कर दिये। रघु पहाड़के सदृश अचल था। कोई कुछ भी करे, उस प्रेम-सिन्धुमें डूबे हुएको तो कुछ पता ही नहीं था। रघुकी ऐसी स्थिति हो गयी थी कि उसको जब बाह्य ज्ञान रहता था, तब भी उसपर गालियोंका और मारका कोई असर नहीं होता था। क्रोध, क्षोभ और दुःख मानो उसके हृदयसे सदाके लिये बहिष्कृत हो गये थे। फिर प्रेम-समाधिकी अवस्थामें, जब कि बाहरी होश बिल्कुल ही नहीं रहता, तो क्रोध या क्षोभ होता ही कहाँसे? परन्तु रघुकी इस उदासीनतासे लड़कोंका उपद्रव बहुत बढ़ गया। बिना ही कारण रघुको सताना और मारना गाँवके आवारा लड़कोंके मनोरञ्जनका सहज साधन बन गया। रघु कहीं भी जाता तो लड़कोंकी टोली अपना काम करती हुई उसके पीछे रहती। भले लड़के तो केवल हँस-हँसाकर ही रह जाते—परन्तु बदमाशोंको धूल फेंके और ढेला मारे बिना आनन्द नहीं आता। गाँवके भले लोग लड़कोंको ऐसा करनेसे रोकते, तब जो अच्छे लड़के होते वे तो अलग हो जाते परन्तु ढीठ लड़के किसीकी भी नहीं मानते। एक दिन रघु गाँवसे भीख लेकर अपने घरकी ओर जा रहा था, इतनेमें ही पीछेसे आकर एक दुष्ट लड़केने उसकी पीठपर एक काँटोंवाला डण्डा मार दिया। रघुने कुछ भी नहीं कहा। अब तो लड़का बार-बार घुमा घुमाकर डण्डा मारने लगा। रघुका शरीर लहूलुहान हो गया। खूनकी धारा बह निकली। तो भी रघुने अपने मुँहसे एक शब्द नहीं कहा। परीक्षा हो चुकी। अब भक्तोंके योग-क्षेमका वहन करनेवाली भगवती-शक्तिने अपना कार्य शुरू किया। रघु कुछ ही आगे बढ़ा था कि उसे मारनेवाला लड़का बेहोश होकर धड़ामसे गिर पड़ा और गिरते ही उसके प्राणपखेरू उड़ गये। लोग एकत्र हो गये। कुछ लोगोंने उसके घर जाकर माँ-बापको खबर दी। घरके लोग दौड़े आये। लड़केको बार-बार उठाकर बैठानेकी चेष्टा की गयी। आखिर नाकके पास रूई रखकर देखा गया तो मालूम हुआ कि श्वास ही नहीं है। माँ-बाप रोने लगे। हाहाकार मच गया। परन्तु इससे क्या होता? माता-पिताको अपने लड़केके दुष्टस्वभाव और निर्दय आचरणोंका पता पहले ही लग चुका था। उन लोगोंने सोचा अवश्य ही यह निरपराध भक्त रघुको मारनेका फल है। गाँवके लोगोंने भी एकस्वरसे यही कहा। अन्तमें सर्वसम्मतिसे यही निश्चय हुआ कि 'रघुके घर चलकर उससे प्रार्थना की जाय। भक्त बहुत ही कोमल-हृदय होते हैं, उनका चित्त दूसरेका दुःख देखकर सहज ही पिघल जाता है। रघु महान्

भक्त है, वह यदि बालकका अपराध क्षमा कर देगा तो लड़का जी उठेगा, इसमें सन्देह नहीं है।' यह विचारकर बालकके माता-पिता घरके अन्यान्य लोगों-के साथ मृत-शरीरको लेकर रोते-कराहते रघुके घरपर आये और दोनों वृद्ध स्त्री-पुरुष रघुके चरणोंमें पड़कर दीन-वाणीसे कहने लगे—'भक्त रघु ! हम आज बड़े ही दुखी हैं। हम जानते हैं कि हमारा लड़का बहुत ही दुष्ट था और उसने तुमको जो तकलीफें दी हैं वे कभी क्षमाके योग्य नहीं हैं। परन्तु माँ-बापके नाते हम आज सर्वथा निराश्रय हो गये हैं। हम अन्धोंकी तो वही एकमात्र लकड़ी था। उसकी दुष्टताकी ओर देखते तो हम तुम्हें मुँह भी नहीं दिखला सकते, परन्तु तुम्हारी दयालुतापर भरोसा करके हम तुम्हारे सामने रो रहे हैं। अब तुम अपनी ओर देखकर इस अज्ञान बालकका अपराध क्षमा करो और हमें प्राणदान दो। यह बच्चा नहीं जीयेगा तो हम दोनों भी नहीं जी सकेंगे। तुम भक्त हो, तुम्हारे कोई शत्रु-मित्र नहीं है, फिर इस बालकपर इतनी कठोरता क्यों की गयी ?'

रघु वृद्ध दम्पतिको चरणोंमें पड़ते देखकर और उनका करुण क्रन्दन सुनकर चकित-सा रह गया। उसे अभी-तक यह नहीं मालूम था कि उसको मारनेवाला लड़का मर गया है। अब सारी बात समझकर रघुने कहा—'हैं, हैं, आप क्या करते हैं, मैं अधम केवट हूँ, मेरे पैरोंके हाथ न लगाइये।' यों कहकर बड़ी ही विनयके साथ रघुने उन्हें उठाकर बैठाया और कहा—'आप क्या कह रहे हैं ? मैंने तो कभी नहीं चाहा कि आपका बालक मर जाय। यदि मेरे कारण ही उसकी मृत्यु हुई है तो वस्तुतः मैं बड़ा ही अपराधी हूँ। मेरा इस अपराधसे कैसे छुटकारा होगा ? यह सच है कि उसने मुझको मारा था, परन्तु इसमें उसका क्या कसूर था ? निजकृत कर्मरूपी कारण हुए बिना ईश्वरके राज्यमें किसीको कोई दण्ड नहीं मिल सकता। मुझे जो यह शारीरिक दण्ड मिला, यह अवश्य ही मेरे किसी पूर्वकृत कर्मका ही फल है। वह तो बेचारा केवल मूर्खतावश निमित्त बन रहा था। हा! परमेश्वर, मैं कैसा अन्यायी और पापी हूँ कि आज मुझ अधमके कारण इन वृद्ध स्त्री-पुरुषोंपर महान् संकट पड़ रहा है। यदि वास्तवमें मेरे मनमें उस बालकके प्रति उसके द्वारा मुझपर मार पड़ते समय भी कोई द्वेष न उपजा हो तो हे प्रभु ! दयाकर बालकको जीवन-दान दीजिये।' यों कहते-कहते रघुकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। उसने प्रेमावेशमें कहा—'भाइयो, ! आओ, हम सब मिलकर श्रीहरिनामकी धुन लगावें और बालकसे उठ बैठनेके लिये कहें।' इतना सुनकर सबने मिलकर हरिकीर्तन आरम्भ कर दिया। मृत बालकके चारों ओर घूम-घूमकर गाँवके सब लोग कीर्तन करने लगे। रघु केवट प्रेममें पागल होकर नाचने लगा और सब लोग मिल-कर बालकको पुकार-पुकारकर उठ बैठनेके लिये कहने लगे। भक्तकी दृढ़ भावना, भगवन्नामके माहात्म्य और भक्तवत्सल भगवान्की कृपासे देखते-ही-देखते बालक अंग मरोड़कर नींदसे जागनेकी भाँति उठ बैठा। बालकको जीवित देखकर माता-पिताको जो आनन्द हुआ, उसकी कोई सीमा नहीं है। अब सभी लोग प्रेम-मतवाले होकर परमोल्लासके साथ हरि-हरिकी ध्वनि करने लगे। दुष्ट बालककी भी मति बदल गयी, वह भी हरि-कीर्तनमें मत्त हो गया। आनन्दका सागर उमड़ उठा। सब लोग प्रेमानन्द-सुधाका पान करके मस्त हो गये। कुछ समय बाद रघुने सबको भगवत्-प्रेमका उपदेश प्रदान करके अपने-अपने घर जानेको कहा। लोग विस्मय और आनन्दमें डूबे हुए घरोंको लौटे। इधर रघु भगवान्के भजनमें तल्लीन हो गया।

भगवत्-भजनके प्रतापसे रघुमें इतनी शक्ति आ गयी कि उसके मुँहसे जो कुछ भी निकल जाता, वही

सत्य हो जाता। होते-होते देशभरमें रघु केवटकी ख्याति फैल गयी। सभी लोग उसे महान् भक्त और वचन-सिद्ध महात्मा मानने लगे। ख्याति बढ़नेके साथ ही भिन्न-भिन्न कामनावाले दर्शनार्थी स्त्री-पुरुषोंकी भीड़ उनके घरपर रहने लगी। रघु इस प्रपञ्चसे घबरा गया। वास्तवमें प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि भजनके प्रधान शत्रु हैं। जो प्रभुको भजना चाहते हैं, प्रभुको प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये तो ये महान् हानिकारक प्रतिबन्धक हैं ही, परन्तु सिद्ध पुरुषोंके लिये भी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धिका त्याग ही परम आदर्श माना गया है। जो साधक प्रतिष्ठाके चक्करमें पड़ जाते हैं, उनका भजन-ध्यान बिल्कुल छूट जाता है, वे भगवत्प्राप्तिके मार्गसे सर्वथा गिरकर बहुत दूर चले जाते हैं। रघु केवट बड़ा भाग्यवान् था, इससे उसने इस लोक-प्रतिष्ठाको शूकरी-विष्ठाके समान समझकर सर्वथा त्याग कर दिया। वह घर छोड़कर निर्जन एकान्त स्थानमें रहने लगा। अब उसके चौबीसों घण्टे केवल श्रीभगवान्‌के भजनमें ही बीतने लगे। अपने प्राणाराध्य प्रभुके प्रेममें निमग्न हुआ रघु सब प्रकारसे निश्चिन्त हो गया।

एक दिन रघुको ऐसा भान हुआ मानो नीलाचलनाथ भगवान् श्रीजगन्नाथजी उससे कुछ खानेको माँग रहे हैं। उसके मनमें इससे बड़ा आनन्द हुआ। वह एकान्त स्थानमें भोजन-सामग्री लेकर भगवान्‌को निवेदन करने लगा। भगवान् तो भक्तके अधीन हैं। जहाँ प्रेम देखते हैं, अपना ऐश्वर्य भूलकर प्रकट हो जाते हैं। जहाँ रघुने शुद्ध अन्तःकरणसे भगवान्‌का आह्वान किया, वहीं आप प्रकट होकर हँसते-हँसते उसका दिया हुआ भोग पाने लगे।

इधर ठीक उसी समय पुरीके महाराजने श्रीप्रभुके भोगके लिये नाना प्रकारके उत्तमोत्तम पक्वान्न भोग-मण्डपमें भेजे थे। भोग-मण्डपसे प्रभुका मूल-मन्दिर कुछ दूर है, इससे भोगमण्डपके रक्खे हुए दर्पणमें प्रभु-विग्रहका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसीके नैवेद्य चढ़ाया जाता है। जब सब सामग्रियाँ आ गयीं, तब पण्डा भगवान्‌को भोग निवेदन करने लगे, परन्तु आश्चर्य कि, दर्पणमें उस समय उन्हें प्रभुका प्रतिबिम्ब नहीं दीख पड़ा। दर्पण जहाँ-का-तहाँ था, बीचमें कोई आड़ भी नहीं थी। पण्डाजीने आश्चर्यचकित होकर राजासे कहा कि 'महाराज! इस नैवेद्यमें कुछ-न-कुछ दोष होना चाहिये। नहीं तो प्रभु इसे अङ्गीकार क्यों नहीं करते? आज प्रभुका प्रतिबिम्ब ही दर्पणमें नहीं पड़ता। अब क्या उपाय किया जाय?' श्रद्धालु राजा पण्डाजीकी बात सुनकर उदास हो गये और गरुड़-स्तम्भके पास जाकर पड़ रहे। पड़े-पड़े बड़े ही खिन्न चित्तसे वे मन-ही-मन प्रभुसे प्रार्थना करने लगे—'हाय प्रभु! मुझसे ऐसा कौन-सा अपराध बन गया कि जिससे आप मेरा चढ़ाया हुआ नैवेद्य स्वीकार नहीं करते? क्या मेरे अपराधसे यह सारी सामग्री ही दूषित हो गयी है? यदि ऐसा ही है तो प्रभु! कृपा करके मुझे प्रायश्चित्त बताइये! हे दीनबन्धो! मुझे किसी प्रकार भी अपराध-मुक्त करके आप नैवेद्य स्वीकार कीजिये।'

यों प्रार्थना करते-करते राजाको तन्द्रा-सी आ गयी। उन्होंने स्वप्नमें देखा प्रभु प्रकट होकर कह रहे हैं—'राजा! तू इतना दुखी क्यों होता है? क्या मैं इस समय नीलाचलमें था जो मेरा प्रतिबिम्ब पड़ता? मैं तो इस समय पिपली ग्रामके समीप रघु केवटकी कुटियामें भोजन कर रहा हूँ। यद्यपि वह जातिका धींवर है परन्तु उसका मुझपर अकृत्रिम प्रेम है। वह सबसे बढ़कर मुझसे ही प्रेम करता है। मेरे लिये उसने मनसे सर्वस्वका त्याग कर दिया है। वह जबतक मुझे नहीं छोड़ता, तबतक मैं यहाँ आकर तेरा प्रसाद स्वीकार नहीं कर सकता। तू जानता है, मैं पक्वान्न-

का नहीं, पर सच्चे अनन्य प्रेमका भूखा हूँ। मैंने गीतामें स्पष्ट कहा है कि जो भक्त हृदयके प्रेम-भावसे मुझे पत्र-पुष्प-फल-जल कुछ भी अर्पण करता है, मैं स्वयं प्रकट होकर उस प्रेमोपहारको सानन्द स्वीकार करता हूँ। भक्तका भाव ही मुझे खींचनेकी प्रबल डोरी है। यदि तू मुझे अभी यहाँ बुलाना चाहता है तो पीपलीचटीमें जाकर एकान्तवासी मेरे प्रिय भक्त रघुको उसकी पत्नी तथा मातासहित नीलाचलक्षेत्रमें ले आ।'

भगवान् अन्तर्धान हो गये, राजाका सपना भंग हुआ। वह उसी समय घोड़ेपर सवार होकर पीपलीचटी पहुँचे और किसी प्रकार पूछ ताछकर रघुकी कुटियाका पता लगाया। राजा कुटियाके बाहर खड़े होकर पुकारने लगे। परन्तु वहाँ सुनता कौन? रघु तो इस समय भक्त-वत्सल प्रभुकी सेवाके आनन्दमें मतवाला हो रहा है। वह तन-मनकी सुध भुलाकर प्रभुके प्रेमानन्दका पान कर रहा है, बाहरकी आवाज कौन सुने?

जब बाहरसे पुकारते-पुकारते राजा थक गये, उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला, तब निरुपाय होकर राजाने कुटियामें प्रवेश किया। राजा देखते हैं रघु रोमाञ्चित शरीरसे बैठा है, हाथमें ग्रास लेकर मानो किसीके मुखमें दे रहा है। ग्रासका देना तो दीखता है, परन्तु ग्रास ग्रहण करनेवाला मुख राजाको नहीं दीखता। वह मानो किसी आवरणसे ढका है। जबतक वह आवरण दूर नहीं होता, तबतक उस मुखको कोई भी नहीं देख सकता। और आवरण दूर करना किसीके हाथमें भी नहीं है। यह प्रभुके हाथकी बात है। प्रभुके देव-दुर्लभ दिव्य मुखड़ेके यथार्थ दर्शन उसीको होते हैं, जिसको प्रभु कराते हैं—जिसके नेत्रोंसे आवरण हटा लेते हैं। यह मानव-पुरुषार्थसे सिद्ध होनेवाला कार्य नहीं है। जो महानुभाव भक्त संसारके सुख-दुःखोंका देखना छोड़कर सर्वथा सर्वभावसे प्रभुपरायण हो रहते हैं, उन्हींको कभी दया करके भगवान् अपना दिव्य दर्शन देते हैं। अस्तु।

कुछ ही देरमें प्रभु अन्तर्धान हो गये। अब रघुकी विचित्र दशा हो गयी। वह जलसे निकाली हुई मछलीके सदृश तड़पने लगा। 'अरे प्रभु! कहाँ चले गये, कहाँ चले गये?' यों पुकारता हुआ रघु रो पड़ा। उसकी आँखोंसे चौधार आँसू बहने लगे। इस दृश्यको देखकर राजा चकित हो गये। उन्होंने मन-ही-मन कहा, 'ठीक ही तो है। ऐसा न होता तो प्रभु नीलाचलका राज-भोग त्यागकर धींवरके घर क्यों पधारते?' राजाने आगे बढ़कर रघुको उठाकर अपनी गोदमें बैठा लिया और धीरेसे कहा—'धन्य रघु दास, तुम्हें धन्य है! अहा! तुमने प्रभुको वश करनेवाला यह मन्त्र कहाँ सीखा? अब मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगा। चलो, अपनी भाग्यवती पत्नी और धन्यजीवन जननीको साथ लेकर नीलाचल चलकर रहो। तुम्हारी कृपासे नीलाचलनाथकी दया होगी तो मैं भी कृतार्थ हो जाऊँगा।'

अब रघुको होश हुआ। वह अपनेको पुरीनरेशकी गोदमें बैठा देखकर चकित हो गया। वह जल्दीसे उठकर राजाको प्रणाम करने लगा। परन्तु राजाने उसे रोककर स्वयं उसके चरणोंमें प्रणाम किया और अबतकका सारा हाल सुनाया। तथा प्रभुकी आज्ञा सुनाकर उससे सपरिवार नीलाचल चलनेकी प्रार्थना की। प्रभुकी आज्ञा समझकर रघु भी अस्वीकार न कर सका। राजाकी आज्ञासे उसी समय सवारीकी उत्तम व्यवस्था हो गयी। श्रद्धालु भक्त राजा भक्त-परिवारको लेकर नीलाचलमें पधारे। इसी समय भोग-मण्डपके दर्पणमें प्रभुका प्रतिबिम्ब दिखायी दिया। पण्डाजीने आनन्द-विह्वल होकर नैवेद्य निवेदन किया। भक्त-वत्सल भगवान्‌की जय-ध्वनिसे मन्दिर गूँज उठा।

पुरीनरेशने श्रीमन्दिरके दक्षिणकी ओर रघुके

लिये आवश्यक सामग्रियोंसे पूर्ण सुन्दर घरकी व्यवस्था कर दी। रघु अपनी माता और पत्नीके साथ प्रभुका भजन करता हुआ वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगा और अन्तमें प्रभुकी प्रेरणासे इस लोकका त्यागकर तीनों परमधामको पधार गये।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

भगवत्-प्रेमकी वृद्धिका एक सहज साधन

(लेखक—स्वामी श्रीशान्तयोगानन्दजी)

मैं अपने एक वर्षके अनुभवसे लाभ उठाकर भगवत्प्रेमी सज्जनोंको एक सम्मति देना चाहता हूँ, वह यह कि सबलोग अपने-अपने निवास-स्थानोंको भगवान्के विविध प्रकारके सुन्दर-सुन्दर चित्रोंसे सुशोभित करें। आत्माकी उन्नति चाहनेवाले प्रत्येक पुरुषके लिये यह एक बहुत ही अच्छा सहायक साधन है। जिस कमरेमें भाँति-भाँतिके प्रभु-लीलाका स्मरण करानेवाले धार्मिक चित्र लगे रहते हैं, वह कमरा प्रतिदिन समय-समयपर भगवत्प्रेमकी वृत्ति जाग्रत् करता रहता है। बड़े कठिन साधनोंसे अथवा महान् विचारोंसे मालिकके प्रति जो मुहब्बत पैदा की जाती है, वह इस उपायसे सहज ही हो सकती है। अतएव भगवान्के और भगवद्भक्त ज्ञानी महात्माओंके रमणीय चित्रोंसे कमरेकी दीवारोंको भक्तिवर्द्धक बनाना चाहिये। जिन स्थानोंमें भगवान्के और महात्माओंके मनहरण चित्र लगे होते हैं, उनका शुद्ध पुरुषोंके हृदयपर तो तत्काल प्रत्यक्ष असर पड़ता है। दूसरे पुरुषोंपर भी सूक्ष्म रीतिसे प्रभाव अवश्य पड़ता है। एक बार कुछ अर्थ व्यय करके सारी आयुपर्यन्त इस साधनसे मनुष्य न केवल अपना ही कल्याण करता है परन्तु अपने सम्बन्धी मित्रोंके (जो घरपर मिलने आते हैं) हृदयोंमें भी परमात्माके प्रति प्रेम पैदा करनेका कारण बनता है। और इसप्रकार परोपकारीकी पदवीको प्राप्त करता हुआ वह भगवान्की विशेष कृपाका अधिकारी बनता है।

आजकल प्रायः देखा जाता है कि घरोंके कमरोंमें खुले अङ्गोंवाली रूपवती औरतोंके चित्र लटकाये जाते हैं। यह बहुत ही बुरी बात है। इससे मनुष्य विषय-परायण होता है। परमार्थमार्गी जीवको भूलकर भी ऐसे चित्र कमरेमें तो रहने ही नहीं देने चाहिये, देखने भी नहीं चाहिये। जो लोग ऐसी तसवीरोंका प्रचार करते और उन्हें कमरोंमें लगाते हैं, वे लोगोंकी मनोवृत्ति बिगाड़नेके पापके भागी बनते हैं। ऐसी तसवीरोंसे पहले बहुत सूक्ष्मरूपसे मनपर प्रभाव पड़ता है और आगे चलकर इनसे वह शैतानी शक्ति उत्पन्न होती है जो भगवान्से मनको खींचकर जीवको चौरासी-के चक्करमें भरमाती है।

इसमें सन्देह नहीं कि भगवान्में प्रेम होना पूर्वके और इस जन्मके महान् शुभ कर्मोंका फल है। दीर्घ कालसे विषयभोगोंमें फँसे रहनेके कारण जिनकी बुद्धि पशुवत् हो गयी है, उन लोगोंको तो भगवद्भक्ति एक झूठा विषय प्रतीत होता है। ऐसे लोगोंके लिये भी पहली सीढ़ी प्रतिमा-दर्शन या पूजन ही है। इससे शनैः-शनैः भगवान् उत्तम बुद्धि प्रदान करते हैं, जिससे जीव महाकल्याणका अधिकारी बन जाता है।

अन्तमें मैं पुनः जोरसे निवेदन करता हूँ कि भगवान्के चित्रोंको लोग अपने-अपने स्थानोंमें अवश्य ही लगावें। इससे सहजहीमें परमार्थ कमाया जा सकता है और शुद्धभावोंका प्रचार हो सकता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

विवेक-वाटिका

जिसको लोग सत्-असत्, अव्यक्त-व्यक्त और अक्षर-क्षर कहते हैं, वह सब मेरा ही रूप है। सत्-असत् तथा असत् और सत् एवं असत्से भी परे जो विश्व है, वह सब मुझ सनातन देव-देवके सिवा और कुछ भी नहीं है।

—भगवान् श्रीकृष्ण

❀ ❀ ❀ ❀

जैसे एक ही अग्नि भिन्न-भिन्न काठोंमें प्रवेश करके अनेक प्रकारके रूपवाला हो जाता है, इसी प्रकार एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारका हो जाता है।

—उपनिषद्

❀ ❀ ❀ ❀

जैसे एक ही सूर्य इस समस्त ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, वैसे ही एक ही आत्मा समस्त शरीरोंको प्रकाशित करता है।

—श्रीमद्भगवद्गीता

❀ ❀ ❀ ❀

अहंकारके कारण ही आत्माको 'मैं देह हूँ' ऐसी बुद्धि होती है। और उसीके कारण यह सुख-दुःखादिके देनेवाले जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त होता है। —अध्यात्मरामायण

❀ ❀ ❀ ❀

यदि कोई पिता या पुत्र मर जाता है तो मूढ़ लोग ही उसके लिये छाती पीटकर रोया करते हैं। ज्ञानियोंके लिये तो इस असार संसारमें किसीका वियोग होना वैराग्यका कारण होता है और वह सुख-शान्तिका विस्तार करता है।

—वशिष्ठ मुनि

❀ ❀ ❀ ❀

कछुएकी पीठपर चाहे बाल उग जायँ, वन्ध्याका पुत्र किसीको मार डाले, आकाशमें फूल फूल जायँ, मृग-जलसे प्यास मिट जाय, खरगोशके सींग आ जायँ, अन्धकार सूर्यका नाश कर दे और बर्फमें अग्नि प्रकट हो जाय परन्तु रामसे विमुख मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता।

—गोसाईं तुलसीदासजी

❀ ❀ ❀ ❀

ज्ञानीकी बुद्धिमें फल और हेतुसे आत्माकी पृथक्ता प्रत्यक्ष है, इसलिये उसके मनमें अनात्म-पदार्थोंमें 'मैं यह हूँ' ऐसा आत्मभाव नहीं हो सकता।

—श्रीशंकराचार्य

❀ ❀ ❀ ❀

गोविन्द-विरहमें मेरा निमेषकाल भी युगके समान बीतता है। मेरी आँखोंने वर्षा-ऋतुका रूप धारण किया है और समस्त जगत् मुझे शून्य-सा प्रतीत होता है।

—श्रीचैतन्य महाप्रभु

❀ ❀ ❀ ❀

प्रभुको प्राप्त करनेका पहला साधन है—प्रभुको प्राप्त करनेका निश्चय! यह निश्चय होनेपर ही इन्द्रियोंको अपने वशमें रखनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। कुविचार क्षीण हो जाते हैं और उच्च अवस्था प्राप्त हो जाती है।

—सहल तस्तरी

❀ ❀ ❀ ❀

अरी बुद्धि चकई! तू भगवान्के चरण-सरोवरमें जा बस, जहाँ न तो कभी प्रेम-वियोग होगा और न रोग, दुःख या शोक ही है, तथा रात-दिन 'राम-राम' की वर्षा हो रही है।

—सूरदासजी

❀ ❀ ❀ ❀

कल करना हो सो आज ही कर लो और जो आज करना हो, उसे अभी कर लो, पलमें मृत्यु हो जायगी, फिर कब करोगे। लोग कैसे बावले हैं जो झूठे सुखको सुख कहते हैं और मनमें मोद मानते हैं। अरे, यह जगत् तो कालका चबेना है, कोई कालके मुखमें है, तो कोई गोदमें।

—कबीर

❀ ❀ ❀ ❀

जगत्का जीवन पानीके बुदबुदेके समान है, एक उठता है तो दूसरा बिला जाता है।

—जायसी

❀ ❀ ❀ ❀

लोगोंके सामने अपने दोष स्वीकार करनेमें जिसको जरा भी संकोच नहीं होता, बल्कि जो इसमें अपना कल्याण मानता है; और जो अपने अच्छे कार्य लोगोंको जनाना नहीं चाहता, तथा जो दृढनिश्चयी है, वही सत्यनिष्ठ और सच्चा साधक है।

—हारस महासभी

❀ ❀ ❀ ❀

श्रीभगवन्नाम

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

गत पौषकी संख्यामें कल्याणके पाठक-पाठिकाओंसे फाल्गुन शुक्ला १५ तक उपर्युक्त १६ नामके मन्त्रका सब मिलकर दस करोड़ जप करने-करानेके लिये प्रार्थना की गयी थी । अनेक स्थानोंसे जप होनेकी सूचना आयी है, परन्तु जिन महानुभावों और देवियोंने अभी सूचना नहीं भेजी है, वे अपने यहाँकी जप-संख्याकी सूचना शीघ्र भेज देनेकी कृपा करें । आशा है कि इस वर्ष भी मन्त्रजप हमारी प्रार्थनासे कहीं अधिक होगा ।

नाम-जप-विभाग
कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

होलीपर हमारा कर्तव्य

होलीके सम्बन्धमें कुछ लोगोंमें यह भ्रम फैला हुआ है कि इस अवसरपर गन्दी जबान बोलना, गन्दे-अश्लील इशारे करना, कीचड़ उछालना और नशा करना आदि धर्म है । कुछ लोग इस तरहके दो-चार श्लोक भी प्रमाणरूपमें पेश कर दिया करते हैं । परन्तु यह बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये कि असदाचार या दुराचार कभी धर्म नहीं हो सकता । धर्म तो वही है जिससे इस लोकमें सात्त्विक उन्नति हो और अन्तमें मोक्षकी प्राप्ति हो । सम्भव है किसी समय वाममार्गियोंने अथवा इन्द्रियोंकी गुलामीमें लगे हुए विषयी पुरुषोंने यह गन्दी प्रथा धर्मके नामसे चलायी हो और ऐसे श्लोक भी बना लिये हों, परन्तु किसी भी धर्मशास्त्रके विधिवाक्यसे अश्लील क्रिया करना धर्म सिद्ध नहीं होता । इसके अतिरिक्त प्रत्यक्षमें भी इससे स्पष्ट नुकसान दीखता है । परस्त्रियोंका परपुरुषोंके प्रति और परपुरुषोंका परस्त्रियोंके प्रति गन्दे भाव रखना ही व्यभिचार है, क्रियाकी तो बात ही दूसरी है । व्यभिचार कभी धर्म नहीं हो सकता । अतएव सब पाठक-पाठिकाओंसे निवेदन है कि होलीके अवसरपर भूलकर भी न गन्दे भाव मनमें आने दें, न गन्दी जबान बोलें, न गन्दे गीत—रसिया, धमार या फाग गावें, न स्त्री-पुरुष परस्पर होली खेलें, न कीचड़ उछालें और न दूसरी किसी प्रकारकी गन्दी क्रिया करें ।

होलीके अवसरपर निम्नलिखित कार्य करने चाहिये ।

१—हरि-नाम-कीर्तन
२—नगर-संकीर्तन
३—होम
४—जप
५—सदाचारका प्रचार
६—भगवत्-लीला-कथाका आयोजन
७—श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुका जन्मोत्सव
८—भक्तराज प्रह्लादकी कथा

Registered No. A. 1724.

कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है ।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) यह प्रतिमासकी कृष्णा एकादशीको प्रकाशित होता है ।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांक-सहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४ℌ) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है । एक संख्याका मूल्य ।) है । बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता । नमूना ।) मिलनेपर भेजा जाता है ।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते । ग्राहक प्रथम अंकसे १२ वें अंकतकके ही बनाये जाते हैं । एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्कतक नहीं बनाये जाते । 'कल्याण' का वर्ष श्रावणसे शुरू होता है ।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते ।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है । यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये । वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कम-से-कम सात दिन पहलेतक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये । देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी ।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण-प्रतिपदाके पहले-पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये । लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये । महीने-दो-महीनेके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्ट-मास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये ।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेप-रहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें । लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है । अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते । लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं है ।

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-नम्बर अवश्य लिखना चाहिये ।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है ।

(३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये, क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं । कभी-कभी तो डेढ़-दो महीनोंतक नहीं मिलते । इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं । रुपये न मिलनेतक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं । खर्चा दोनोंमें एक ही है, परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है । जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है ।

(४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये । कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या और अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये ।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजनी चाहिये ।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये ।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि 'व्यवस्थापक' 'कल्याण' गोरखपुर के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि 'सम्पादक 'कल्याण' गोरखपुर' के नामसे भेजने चाहिये ।

ॐ
कल्याण
प्रसीद देवेश जगन्निवास
चैत्र
१९९०
भाग ७
अङ्क ९

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण—२०५००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥≈)
(१० शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय अखिलात्मन् जगमय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

ईश्वराङ्कका मूल्य
परिशिष्टाङ्कस०
विदेशमें
साधारण प्रति
विदेशमें

Edited by Hanuman prasad poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas at the Gita Press, Gorakhpur.

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

सूचना

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका यहाँसे रवाना होकर चैत्र बदी ३० रविवारके लगभग ऋषिकेश पहुँचनेका विचार है। वहाँ कम-से-कम डेढ़ महीने ठहरनेका विचार है। खास ऋषिकेश या उसके आस-पास किसी स्थानमें ठहरनेवाले हैं।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा॥

[संस्करण—२०५००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥≈)
(१० शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय अखिलात्मन् जगमय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

ईश्वराङ्कका मूल्य
परिशिष्टाङ्कस०।
विदेशमें
साधारण प्रति
विदेशमें

Edited by Hanuman prasad poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas at the Gita Press, Gorakhpur.

❀ श्रीहरिः ❀

विषय-सूची

श्रीमद्भगवद्गीता (मराठी-अनुवाद-सहित)

इसका कुछ परिचय यह है—

आकार डिमाई आठ पेजी, पृष्ठ ५७०, मोटा-चिकना कागज, भगवान्‌के ४ सुन्दर बहुरंगे चित्रोंमें भगवान्‌का एक नया चित्र बहुत ही सुन्दर है। हाथसे बुने हुए देशी कपड़ेकी सुन्दर जिल्द, मूल्य केवल १।) मात्र, डाकखर्च अलग, छपाई शुद्ध-सुन्दर, मूल श्लोक, पदच्छेद, अन्वय, सरल अर्थ और यत्र-तत्र टिप्पणियाँ, संक्षिप्त माहात्म्य, गीताकी महिमा, अध्यायोंके प्रधान विषयोंकी सूची, प्रत्येक श्लोकके विषयकी सूची, त्यागद्वारा भगवत्प्राप्ति नामक उपयोगी निबन्ध भी जोड़ दिया गया है। छपाईका ढंग बड़ा सुन्दर है। प्रत्येक मूल वाक्यके सामने ही उसका मराठी अर्थ छपा है, इससे संस्कृतका अर्थ ठीक-ठीक समझमें आ सकता है। एक पुस्तकपर पैकिंग, डाकखर्च, मनिआर्डर खर्च आदि ॥।-) (०-१३-०) होते हैं। कई सज्जनोंके साथ मिलकर अधिक पुस्तकें मँगवानेसे खर्च कम पड़ेगा।

भगवान् शिवजीद्वारा वर्णित

श्रीअध्यात्मरामायण

(सातों काण्ड—मूल और हिन्दी-अनुवाद-सहित)

प्रत्येक काण्डमें असली आर्ट पेपरपर छपा एक-एक अति सुन्दर चुना हुआ चित्र। कुल चित्र ८, साइज २२×२९ आठ पेजी, कागज चिकना, पृष्ठ-संख्या ४०२, मूल्य साधारण जिल्द १॥), कपड़ेकी जिल्द २) मात्र।

छपाई बहुत सुन्दर और साफ, ढंग हमारे शांकरभाष्य नामक पुस्तकवाला अर्थात् एक तरफ मूल श्लोक और उनके सामने उनका हिन्दी-अनुवाद। पढ़नेमें बड़ी सुगमता। टाइप नये, सुन्दर और बड़े। इसमें माहात्म्य भी छापा गया है।

यह तो हुई पुस्तककी ऊपरी बातें। अब इसमें जो मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके परम पावन चरित्रका वर्णन है उसका क्या परिचय लिखा जाय! अनन्तकालसे जिसको सुन-सुनकर लोग असाधुसे साधु, पापीसे पुण्यात्मा, सांसारिकसे पारमार्थिक और अभक्तसे भक्त एवं अज्ञानीसे ज्ञानी, जीवसे शिव बने, बन रहे हैं और आगे भी बनते रहेंगे उसका क्या हाल लिखा जाय! स्वयं भगवान् शिवजीद्वारा वर्णित इस ग्रन्थमें रामचरित्रके साथ-साथ भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदिका विषय भी है। इतने सुलभ मूल्यमें इससे पहले कहीं यह ग्रन्थ छपा हो ऐसा जान नहीं पड़ता।

ज्ञानयोग

पं० श्रीभवानीशङ्करजी महाराजके उपदेशके आधारपर एक दीनजनद्वारा सम्पादित। पृ० १२५ मूल्य।) एक मानचित्र। विवेक, वैराग्य, शमादि षट्-सम्पत्ति, आचार्यसे उपदेश, ज्ञान-अज्ञान, परब्रह्म, महेश्वर, परमेश्वर, सृष्टि, प्रकृति, सांख्य, वेदान्त, महद्‌ब्रह्म, सप्तलोक, हिरण्यगर्भ, विश्वानर, मनुष्यके अनेक शरीर, माया, प्रणव, कोश, तीन अवस्था, साधनकी आवश्यकता, ज्ञान और भक्ति आदि ४७ विषयोंका वर्णन इस छोटी-सी उपयोगी पुस्तकमें है।

इसपर आयी हुई कुछ सम्मतियाँ

पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०—It is an interesting...nice little book and will amply repay a careful perusal...... the work is deserving of every encouragement in circles where Hindi language and Hindu religion are studied.

पं० श्रीबलभद्रदासजी परमहंस—जटिल प्राचीन शास्त्रीय विषयोंको ऐसी सुन्दरता और सरलतासे समझाया गया है कि विषय बोधगम्य और चित्ताकर्षक हो गया है।

श्रीकाशीप्रसादजी जायसवाल, एम०ए०—एक बहुत बड़ी विशेषता इसमें यह है कि द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैतके विवाद और योग, ज्ञान और भक्तिकी विभिन्नताको हटाकर उनकी एकता सिद्ध की है जो बड़े महत्त्वका विषय है।

रामगीता

मूल और हिन्दी-अनुवादसहित छोटा साइज, मूल्य केवल)॥। मात्र। यह प्रसिद्ध पुस्तक है। इसमें श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीको उपदेश दिया है। छपाई आदि अच्छी है।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-सूची

१–श्रीमद्भगवद्गीता–शांकरभाष्य सरल हिन्दी-अनुवाद, इसमें मूल भाष्य है और भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है। श्रुति, स्मृति, इतिहासोंके प्रमाणोंका सरल अर्थ दिया गया है, भाष्यके पदोंको अलग-अलग करके लिखा गया है और गीतामें आये हुए हरेक शब्दकी पूरी सूची है। पृष्ठ ५०४, ३ चित्र, साधारण जिल्द मू० २॥) पक्की जिल्द २॥।)

२–श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारणभाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, मोटा टाइप, मजबूत कागज, सुन्दर कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७०, बहुरंगे ४ चित्र १।)

३–श्रीमद्भगवद्गीता–गुजराती टीका, गीता १।) वालीकी तरह १।)

४–श्रीमद्भगवद्गीता–मराठी टीका, गीता १।) वालीकी तरह १।)

५–श्रीमद्भगवद्गीता–प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, मूल्य ॥≡) सजिल्द ॥।=)

६–श्रीमद्भगवद्गीता–बंगला टीका, गीता नं० ५ की तरह, मूल्य १) सजिल्द १।)

७–श्रीमद्भगवद्गीता–श्लोक, साधारणभाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय और त्यागसे भगवत्-प्राप्ति नामक निबन्धसहित, साइज मझोला, मोटा टाइप, ३३२ पृष्ठकी शुद्ध छपी और अच्छे कागजकी सचित्र पुस्तकका मू० ॥) स० ॥≡)

८–गीता–साधारणभाषाटीका, त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, सचित्र ३५२ पृष्ठ, मूल्य =)॥ सजिल्द ≡)॥

९–गीता–मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र मूल्य ।-) सजिल्द ।≡)

१०–गीता–भाषा, इसमें श्लोक नहीं हैं। केवल भाषा है, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र भी लगा है, मू० ।) सजिल्द ।=)

११–गीता–मूल ताबीजी, साइज २ × २॥ इञ्च, सजिल्द =)

१२–गीता–मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द =)

१३–गीता–७॥ × १० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण -)

१४–गीता-सूची–(Gita-List) संसारकी अनुमान २००० गीताओंका परिचय ॥)

१५–गीता-डायरी–सन् १९३३ की ।-) सजिल्द ।-)

१६–अध्यात्मरामायण–(सातों काण्ड) सम्पूर्ण मूल और हिन्दी-अनुवाद-सहित, ८ रंगीन चित्र, मूल्य साधारण जिल्द १॥।) कपड़ेकी जिल्द २)

१७–प्रेम-योग–सचित्र, लेखक–श्रीवियोगी हरिजी, पृष्ठ ४२०, बहुत मोटा एण्टिक कागज, अजिल्द १।) सजिल्द १॥)

१८–श्रीकृष्ण-विज्ञान–अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद (सचित्र) पृष्ठ २७५, मोटा एण्टिक कागज, गीताके श्लोकोंके ठीक सामने ही कवितामें अनुवाद छपा है। भगवान्के दो सुन्दर चित्र भी हैं मूल्य १) सजिल्द १।)

१९–विनय-पत्रिका–सरल हिन्दी-भावार्थ-सहित ६ चित्र, अनुवादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, मू० १) सजिल्द १।)

२०–श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड १)–सचित्र, श्रीचैतन्यदेवकी इतनी बड़ी जीवनी अभी हिन्दीमें कहीं भी नहीं छपी। यह ५ खण्डोंमें पूर्ण होगी। पृष्ठ ३६०, मूल्य ।॥=) सजिल्द १=) मात्र।

२१–श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड २)–९ चित्र, ४५० पृष्ठ। अभी छपकर तैयार हुआ है। अवश्य पढ़िये मूल्य १=) सजिल्द १।=)

२२–तत्त्व-चिन्तामणि भाग १–सचित्र, लेखक–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४०६ एण्टिक कागज, मू० ॥=) सजिल्द ॥।-)

२३–भागवतरत्न प्रह्लाद–३ रङ्गीन, ५ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ ३४०, मोटे अक्षर, सुन्दर छपाई, मूल्य १) सजिल्द १।)

२४–एकादश स्कन्ध–(श्रीभागवत) सचित्र, हिन्दी-टीका-सहित। यह अध्याय बहुत ही उपदेशपूर्ण है। मू० ॥।) स० १)

२५–देवर्षि नारद–२ रंगीन, ३ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ २४०, सुन्दर अक्षर मू० ॥।) सजिल्द १)

२६–नैवेद्य–(सचित्र) ले०—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृ० ३५०, मूल्य ॥=) सजिल्द ॥।-)

२७–तुलसी-दल–(सचित्र) ले० [illegible] पृष्ठ ३६४, मूल्य ॥) सजिल्द ॥≡)

२८-श्रीएकनाथ-चरित्र-(सचित्र) एक महान् भगवद्भक्तकी बड़ी सुन्दर जीवनी, पृष्ठ २४०, मूल्य ॥) मात्र

२९-दिनचर्या-(सचित्र) उठनेसे सोनेतक करनेयोग्य धार्मिक नित्यकर्मकी बातोंका वर्णन है। इसमें अनेक स्तोत्र, भजन, वर्ण और आश्रम धर्म आदिकी बातें भी जोड़ दी गयी हैं। पुस्तक अत्यन्त रुचिकर है। मूल्य ॥) मात्र

३०-विवेक-चूडामणि-(सचित्र) मूल श्लोक और हिन्दी-अनुवाद-सहित, पृष्ठ २२४। मूल्य ।≡) सजिल्द ।॥≡)

३१-श्रीरामकृष्ण परमहंस-(सचित्र) जीवनीके साथ-साथ इसमें ३०१ उपदेशमय वचनोंका संग्रह भी है। पृष्ठ-संख्या २५०। मू० ।≡)

३२-श्रुति-रत्नावली-(सचित्र) लेखक-श्रीभोलेबाबाजी, वेद और उपनिषदोंके चुने हुए मन्त्रोंका अर्थसहित बहुत सुन्दर संग्रह। मू० ॥)

३३-भक्त-भारती (७ चित्र) कवितामें सात भक्तोंके चरित्र। मू० ।≡)

३४-भक्त-बालक—५ चित्रोंसे सुशोभित ।-)

३५-भक्त-नारी—६ चित्रोंसे सुशोभित ।-)

३६-भक्त-पञ्चरत्न—५ चित्रोंसे सुशोभित ।-)

३७-गीतामें भक्ति-योग (सचित्र) ले०-वियोगी हरिजी।-)

३८-श्रुतिकी टेर (सचित्र) ले०-श्रीभोलेबाबाजी ।)

३९-परमार्थ-पत्रावली-श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके कल्याणकारी ५१ पत्रोंका स्वर्ण-संग्रह ।)

४०-माता—श्रीअरविन्दकी अंग्रेजी पुस्तक (Mother) का हिन्दी-अनुवाद ।)

४१-ज्ञानयोग-इसमें जाननेयोग्य अनेक पारमार्थिक विषयोंका सुन्दर वर्णन है। मू० ।)

४२-पत्र-पुष्प-सचित्र, भावमय भजनोंकी पुस्तक≡)॥ स०।)॥

४३-गीता-निबन्धावली ≡)॥

४४-प्रबोध-सुधाकर (सचित्र) सटीक ≡)॥

४५-मानव-धर्म-ले०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ≡)

४६-साधन-पथ—ले०— " " =)॥

४७-वेदान्त-छन्दावली-ले०-श्रीभोलेबाबाजी =)॥

४८-अपरोक्षानुभूति-मूल श्लोक और अर्थसहित =)॥

४९-मनन-माला-सचित्र भक्तोंके कामकी पुस्तक है। =)॥

५०-भजन-संग्रह प्रथम भाग सं०-श्रीवियोगी हरिजी =)

५१- " " दूसरा भाग " " =)

५२- " " तीसरा भाग " " =)

५३-चित्रकूटकी झाँकी (२२ चित्र) =)

५४-स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी (नये संस्करणमें १० पृष्ठ बढ़े हैं) =)

५५-सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय -)॥

५६-गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग -)॥

५७-मनुस्मृति द्वितीय अध्याय अर्थसहित -)॥

५८-श्रीमद्भगवद्गीताके कुछ जाननेयोग्य विषय -)॥

५९-आनन्दकी लहरें (सचित्र) -)॥

६०-मनको वशमें करनेके उपाय (सचित्र) -)।

६१-गीताका सूक्ष्म विषय, पाकेट-साइज -)।

६२-ईश्वर-लेखक-पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय, सबके लिये मन लगाकर पढ़नेयोग्य है। मू० -)।

६३-प्रेम-भक्तिप्रकाश, दो रंगीन चित्र -)

६४-त्यागसे भगवत्प्राप्ति (सचित्र) -)

६५-ब्रह्मचर्य-ले०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार -)

६६-भगवान् क्या हैं ? -)

६७-समाज-सुधार -)

६८-आचार्यके सदुपदेश -)

६९-एक सन्तका अनुभव -)

७०-सप्त-महाव्रत -)

७१-हरेरामभजन २ माला)॥

७२-विष्णुसहस्रनाम मूल, मोटा टाइप)॥ सजिल्द -)॥

७३-रामगीता-सूल और अर्थसहित मू०)॥

७४-सेवाके मन्त्र)॥

७५-सीतारामभजन)॥

७६-प्रश्नोत्तरी श्रीशङ्कराचार्यकृत (भाषासहित))॥

७७-सन्ध्या (हिन्दी-विधिसहित))॥

७८-बलिवैश्वदेव-विधि)॥

७९-पातञ्जलयोगदर्शन (मूल))।

८०-गीता द्वितीय अध्याय अर्थसहित, पाकेट-साइज)।

८१-धर्म क्या है ?)।

८२-दिव्य सन्देश)।

८३-श्रीहरि-संकीर्तन-धुन आधा पैसा

८४-लोभमें ही पाप है आधा पैसा

८५-गजलगीता २॥≡)

८६-रामायणांक पृ० ५१२, चित्र १६७। मूल्य (इनमें कमीशन नहीं है। डाकखर्च हमारा) ॥≡)

८७-भगवन्नामाङ्क पृष्ठ ११०, चित्र ४१। मूल्य २॥≡)

८८-श्रीकृष्णांक पृष्ठ ५२३, चित्र १०७। मूल्य ३)

८९-ईश्वरांक पृ० ६२६, चित्र ६१। मूल्य

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुह्य बलेन यस्याश्चेतः कथं शरणमेषि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७ | गोरखपुर, चैत्र १९९० अप्रैल १९३३ | संख्या ९ पूर्ण संख्या ८१

गिरधर-छवि

मो मन गिरधर-छविपै अटक्यो ।
ललित त्रिभंग चालपै चलिकै
चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो ॥
सजल स्यामघन बरन लीन है
फिर चित अनत न भटक्यो ।
कृष्णदास किये प्रान निछावर
यह तन जग सिर पटक्यो ॥

—कृष्णदासजी

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

मैंने इस प्रान्तके एक बहुत विद्वान् पण्डितसे पूछा—'पण्डितजी ! आपने शास्त्रोंका पूर्ण अध्ययन किया है, कुछ अपना अनुभव भी बताइये ।'

पण्डितजीने कहा—'निरन्तर अभ्यास करते रहने तथा पूर्णरूपेण वासनारहित होनेपर ही अनुभव होता है, शास्त्रके केवल पढ़ लेनेसे नहीं । जबतक वासना है, चित्तमें शान्ति आ नहीं सकती । वासनाका नाश करते ही चित्तमें शान्तिका उदय होता है । वासनारहित चित्त ही परमतत्त्वके चिन्तन-का अधिकारी है ।'

× × ×

एक बारकी बात है। मैं एक बूढ़े विद्वान् पण्डितके घर भिक्षा करने गया । भिक्षा पा लेनेके उपरान्त मैंने पण्डितजीसे कहा—'पण्डितजी ! आप वृद्ध हो गये, घरमें पुत्र-पौत्र सभी हैं । घरकी कोई चिन्ता नहीं । अब आप कहीं श्रीगङ्गा-तटपर एकान्त-शान्तमें निवास करें !'

पण्डितजीने कहा—'गंगा कहती है,—जिसने परस्त्री, परद्रव्य, परनिन्दासे अपनेको पृथक् रक्खा है, उसके लिये मैं प्रतीक्षा करती रहती हूँ, अपनेको पवित्र करनेके लिये ।'

गंगाजीका माहात्म्य बहुत विचित्र है । एक बार-की बात है । गंगाजीने भगीरथसे कहा—'श्रीमन् ! मैं पुण्यकी सदैव प्यासी रहती हूँ, कलियुगमें पापकी ही प्रधानता रहेगी तो बताइये मैं क्या करूँगी ?'

भगीरथने कहा—'तुम्हारे दिव्यतटपर घोर कलियुगमें भी विरक्त, विद्वान्, भक्त, तत्त्वदर्शी विचरण करते रहेंगे । इससे तुम्हारा तट सदैव पवित्र रहेगा । वे तुममें स्नान करेंगे, तुम पवित्र रहोगी ।

यथार्थमें गंगाका तट अलौकिक है । किसी समयमें भी गंगा-तट विरक्तोंसे रहित न होगा ।

देखो न ! गंगा-तटपर व्यभिचारियोंका नाश हो जाता है । यदि कोई ढोंगी साधु (ऊटपटाङ्ग जीवन बितानेवाला) गंगा-तटपर आ जाता है तो कोई-न-कोई विघ्न हो जाता है । या तो वह बीमार हो जायगा या चित्तमें उद्विग्नता पैदा हो जाती है । चोरी हो जाती है, पीटा जाता है, इसी तरहके विघ्न हो जाया करते हैं ।

गंगा-तटपर तत्त्वदर्शी विरक्त लोग ही ठहर सकते हैं ।

× × ×

पढ़ने-पढ़ानेसे कुछ नहीं होता । पढ़ना-पढ़ाना एक कला है, ईश्वरसे सम्बन्ध नहीं रखता । यह जरूर है कि जड़वादियोंकी अपेक्षा पढ़ने-पढ़ानेवालोंका जीवन अच्छा है । कम-से-कम शुभ संस्कार ही होते हैं ।

इसीलिये शास्त्रकारोंने अभ्यासके ऊपर बहुत जोर दिया है । अभ्यास करो, सफलता होगी । निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे ही परमतत्त्वकी उपलब्धि होती है । वासनायुक्त जीवनमें अभ्यास नहीं हो सकता । अतः आवश्यकता है, प्रथम वासना त्याग करनेकी ।

मरनेके पश्चात् तो कुत्ते भी शान्त हो जाते हैं । इस जीवनमें ही अन्तिम तत्त्व, अन्तिम पदकी प्राप्ति करनी है । जीवन्मुक्त होनेका निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये ।

यह जरूर है कि तुम्हें नित्यप्रतिके अभ्यासमें, इस संघर्षणमय नियन्त्रणमें कठिनाई होगी, बड़ी-बड़ी असुविधाओंका सामना करना पड़ेगा; किन्तु तुम्हें सावधान रहना पड़ेगा ।

कल्याण

जिनके मनमें भगवत्प्रेमकी इच्छा जाग उठी है, उन्हें दूसरी सारी इच्छाओंका सहज ही त्याग करना पड़ेगा। ऐसी वस्तुमात्रका ही संग छोड़ना पड़ेगा, जो भगवत्प्रेमके पथमें बाधक हों। फिर, चाहे वे वस्तु लौकिक दृष्टिसे कितने ही गौरवकी और परम सुखदायिनी ही क्यों न समझी जायँ। जो प्रियतमके पथका कण्टक है वह चाहे कितना ही आवश्यक या कीमती क्यों न हो, प्रेमीके लिये सर्वथा त्याज्य है।

ऊँचे-से-ऊँचा पदगौरव, बड़ी-से-बड़ी सम्पत्ति, दुनियाभरका सम्मान, अटल कीर्ति, अत्यन्त गौरवमयी विद्या, लौकिक विज्ञानका अद्भुत आविष्कार, साहित्यकी सरस मार्मिकता, नैसर्गिक कवित्वशक्ति, मनचाहा सुखद परिवार और स्नेहमय हृदयसे पालन-पोषण करनेमें समर्थ माता-पिता आदि, कोई भी सहज आकर्षक या परम आवश्यक प्रिय वस्तु यदि भगवान्के प्रेमसे रहित है, यदि भगवत्प्रेममें सहायक नहीं है, तो उसके त्यागमें ही भगवत्-प्रेमीको सुख मिलता है। जगत्का कोई पदार्थ रहे तो प्रभु-प्रेमको बढ़ानेवाला होकर रहे—प्रभुके पूजनकी सामग्री होकर रहे, नहीं तो उसकी कोई भी आवश्यकता नहीं। जितना शीघ्र उसका संग छूटे, उतना ही मंगल है।

जो देश, स्थान, समाज, व्यक्ति, संयोग, वियोग, वेष, भाषा, साहित्य, विज्ञान, भोजन, वस्त्र भगवान्के प्रेमको जगानेवाला है, भगवत्प्रेमको बढ़ानेवाला है, भगवत्प्रेमसे पूर्ण है, बस, प्रेमी अपना सब कुछ खोकर, किसी भी बातकी तनिक भी परवा न करके उसीको चाहता है, उसीको ग्रहण करता है, उसीमें रमण करता है। वह प्रियतमकी प्रिय स्मृति दिलानेवाला होनेके कारण उसके मनको परम प्रिय है, फिर चाहे लौकिक दृष्टिसे वह पदार्थ कितना ही हीन और दुःखदायी क्यों न माना जाता हो।

जिसके हृदयमें प्रभुके प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया, जो हृदय निर्मल प्रेमके कारण भगवान्के विरह-तापसे तप्त हो उठा, उसमें दूसरी वस्तु रह नहीं सकती—समा नहीं सकती। वहाँ अन्यके लिये गुंजायश ही नहीं रह जाती। जिनका हृदय ऐसा अनन्य प्रभु-प्रेममय हो गया है, उन्हींका जीवन सार्थक है, वे धन्य हैं।

ऐसे प्रभु-प्रेमकी प्राप्तिमें प्रभुकी अहैतुकी दया और उनकी सुहृदता ही प्रधान उपाय है। यों तो प्रभुकी दया सभीपर है, प्रभु जीवमात्रके नित्यसुहृद् हैं, परन्तु उनकी दया और सुहृदताका लाभ वही भाग्यवान् लोग उठाते हैं, जो प्रत्येक अनुकूल और प्रतिकूल स्थितिमें उनकी दया ढूँढ़ते हैं और दया देखनेका यत्न करते हैं। उनकी दयाका रहस्य समझमें आ जानेपर कोई प्रतिकूलता रह ही नहीं जाती। प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक पदार्थ प्रभुसे व्याप्त दीखनेके कारण उसके लिये सभी कुछ अनुकूल हो जाता है। न वह प्रतिकूल स्थितिका अनुभव करता है और न कोई इन्द्रिय या मन आदि ही उसके प्रतिकूल होते हैं। जिनपर भगवान्की दया होती है, उनपर सबको दया करनी पड़ती है। सबको भगवत्प्रेरणासे स्वाभाविक ही उनके अनुकूल बन जाना पड़ता है। बाधक साधक हो जाते हैं और विघ्न पथप्रदर्शकका काम देते हैं।

असलमें भगवत्कृपा असीम है, इतनी है कि मनुष्य अपनी बुद्धिसे उसकी कल्पनातक नहीं कर सकता।

परन्तु वह जितना-जितना अधिक देखता है, उतना-ही-उतना उसे शान्ति और आनन्दकी लहरोंका स्पर्श मिलता है। कुछ आगे बढ़नेपर तो वह आनन्दके असीम सागरमें एकरूप होकर निमग्न हो जाता है।

सत्संग, सद्‌बुद्धि, सद्‌ग्रन्थ, सदाचार आदि मनुष्यको भगवत्कृपासे ही प्राप्त होते हैं, बड़ी-बड़ी विपत्तियोंसे और पापोंके गड़हेमें गिरनेसे मनुष्य भगवत्कृपासे बचता है। भगवत्कृपा इतनी है कि मनुष्य तो भूल करनेमें नहीं थकता और भगवत्कृपा उसकी रक्षा करनेमें नहीं चूकती।

कभी-कभी मनुष्यको ऐसा अवसर प्राप्त होता है, जब कि वह महान् दुःखोंसे घिर जाता है, चारों ओरसे आफतोंके पहाड़ टूटने लगते हैं, उस समय भी वास्तवमें भगवान्‌की दयाका ही कार्य हो रहा है। भगवान्‌का दण्डविधान भी दयासे पूर्ण होता है। उस दण्डसे ही मनुष्य विषयोंके दुःखमय स्वरूपको समझकर सुखमय सच्चिदानन्दकी ओर अग्रसर होता है।

भगवान् अपने प्रति शत्रुता करनेवालेके साथ भी स्नेहमयी जननीका-सा बर्ताव करते हैं। माताके दण्ड-विधानमें हृदयका स्नेह सन्निहित रहता है। जब माता ही कभी अपने बच्चेके प्रति निर्दय नहीं हो सकती, तब संसारकी सारी भूत, भविष्यत्, वर्तमानकी माताओंका स्नेह जिन श्यामसुन्दरके स्नेह-सागरकी एक नन्हीं-सी बूँद है, वे भगवान् जीवोंके प्रति कैसे निर्दय हो सकते हैं?

भगवान्‌की दयाका अवलम्बन जीवके लिये परम अवलम्बन है। इससे बड़ा सहारा और कोई हो ही नहीं सकता। दयापर विश्वास करनेवाले मनुष्योंको तो इसके प्रमाणकी आवश्यकता ही नहीं होती। जिसने भगवान्‌की दयाका आश्रय लिया, वही स्नेहमयी जननीकी सुखद गोदकी भाँति भगवान्‌की निरापद गोदमें सदाके लिये जा बैठा। परन्तु विश्वास बिना ऐसा नहीं हो सकता।

विश्वास हुए बिना भगवान्‌की दयाका मनुष्य आश्रय नहीं लेता, भगवान्‌की दया बिना मनुष्यके मनसे जगत्‌के विषयोंका आश्रय नहीं छूटता और जबतक विषयोंका आश्रय है तबतक किसी प्रकार भी सच्चे सुख और सच्ची शान्तिकी झाँकी नहीं हो सकती। विषयोंका आश्रय तो दूरकी बात है, विषयोंकी सूक्ष्म वासना भी वास्तविक शान्तिका उदय नहीं होने देती।

वासना-नाशका सर्वोत्तम उपाय है, मनका भगवत्प्रेमकी कामनासे सर्वथा भर जाना और इसका प्रथम साधन भगवान्‌की दयापर विश्वास करना ही है।

"शिव"

जय असरन-सरन

तिलक भाल बनमाल अधिक राजत रसाल छबि।
मोरमुकुटकी लटक छटक बरनत अटकत कबि॥
पीताम्बर फहराय मधुर मुसुकान कपोलन।
रच्यो रुचिर मुख पान तान गावत मृदु बोलन॥
रति कोटि काम अभिराम अति दुष्ट निकंदन गिरिधरन।
आनन्दकन्द ब्रजचन्द प्रभु जय जय जय असरन-सरन॥

—अज्ञात कवि

चित्त-निरोधके उपाय

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

सी भाईका प्रश्न है कि 'चित्त बड़ा चञ्चल एवं प्रमादी है। इसे रोकना बड़ा कठिन है, यद्यपि शास्त्रकारोंने इसके निरोधके अनेक उपाय बतलाये हैं। उन उपायोंको पढ़ने, सुनने और समझनेकी चेष्टा भी की जाती है एवं उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार साधन करनेका यत्किञ्चित् प्रयत्न भी किया जाता है; किन्तु फिर भी मन स्थिर नहीं होता। अतः इसके निरोधका सुगम उपाय क्या है ?'

दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्तिके लिये चित्तका निरोध आवश्यक है। श्रुति, स्मृति तथा शास्त्रोंमें बतलाये हुए साधनोंके अनुसार तत्पर होकर चेष्टा करनेसे इसका निरोध हो सकता है किन्तु असल बात तो यह है कि साधकगण इसके लिये यथेष्ट प्रयत्न तो करते नहीं, केवल सुगम उपाय ही पूछते रहते हैं। इसीलिये अधिक मनुष्योंकी प्रायः यही शिकायत रहती है कि मन स्थिर नहीं होता। शास्त्रकारोंने चित्त-निरोधके अनेक उपाय बतलाये हैं। उनमेंसे किसीके लिये कोई उपाय सुगम पड़ता है और किसीके लिये कोई। स्वभावकी विभिन्नताके कारण महर्षियोंने अधिकारीभेदसे नानाविध साधनोंका उल्लेख किया है। उनमेंसे मुझे अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो सुगम प्रतीत होता है, वही बतलाया जाता है।

सबसे पहले इस बातको ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है कि मन वशमें हुए बिना उसका निरोध होना कठिन है और पवित्र हुए बिना मनका वशमें होना कठिन है। इसलिये सर्वप्रथम मनको शुद्ध बनाना चाहिये। उसकी शुद्धिके लिये महात्माओंने एवं स्वयं भगवान्‌ने अनेक साधन बतलाये हैं। महर्षि पतञ्जलिने सुखी पुरुषोंसे मित्रता, दुखियोंपर दया, पुण्यात्माओंको देखकर हर्ष और पापियोंके प्रति उदासीनता रखनेको चित्त-शुद्धिका साधन बतलाया है और चित्तके शुद्ध होनेसे ही प्रसन्नता होती है।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(योग० १।३३)

भगवान् श्रीकृष्णने गीता अध्याय ५ श्लोक ११ में मन-शुद्धिके लिये आसक्तिको त्यागकर कर्म करनेकी आज्ञा दी है। अन्य सभी साधु-महात्माओंने भी लगभग इसी प्रकार कहा है।

इन सबका निचोड़ यही निकलता है कि सब भूतोंके हितमें रत रहकर निरभिमान एवं निःस्वार्थभावसे सबकी आत्माको सुख पहुँचाना ही अन्तःकरण-शुद्धिका उत्तम उपाय है। किन्तु इससे भी बढ़कर एक और उपाय है और वह है हरिके नाम-गुणका कीर्तन।

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
यदृच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥

बिना इच्छाके स्पर्श करनेपर भी जिसप्रकार अग्नि निश्चय ही जला देती है, उसी प्रकार दुष्टचित्तवाले मनुष्योंद्वारा भी स्मरण किये हुए हरि पापोंको हर लेते हैं।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९ । ३०-३१)

अर्थात् कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त हुआ, निरन्तर मुझे भजता है वह साधु ही माना जानेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

उपर्युक्त साधनोंसे पापोंका नाश हो जानेपर मन शुद्ध और स्वाधीन हो जाता है। फिर एकाग्र और स्थिर हो जाना तो अत्यन्त ही सहज है। इसप्रकार शुद्ध और स्वाधीन हुआ मन परमानन्द-प्राप्तिके योग्य बन जाता है।

प्रथम यह समझ लेनेकी आवश्यकता है कि मनका स्वरूप क्या है ? इस सम्बन्धमें शास्त्रकारोंने अनेक बातें बतलायी हैं।

महर्षि पतञ्जलिने भी—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः
(योग० १ । ६)

अर्थात् प्रमाण, विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), विकल्प (कल्पना), निद्रा और स्मृति चित्त (मन) की ये पाँच वृत्तियाँ बतलायी हैं। इनके निरोधका नाम ही योग है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (योग० १ । २)

किसी महात्माने चित्तकी क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ, एकाग्र और निरुद्ध—ये पाँच अवस्थाएँ या भूमियाँ बतलायी हैं और किसीने केवल संकल्पको ही इसका स्वरूप कहा है। अपने-अपने सिद्धान्तोंके अनुसार सभीकी मान्यता ठीक है। अतः साररूपसे यह कहा जा सकता है कि संकल्पोंका आधार अर्थात् संकल्प जिसमें उत्पन्न होते हैं उसका नाम मन है। संकल्पोंका आधार होनेके कारण मन संकल्परूप भी कहा जा सकता है। अब विचारणीय विषय यह है कि संकल्पोंका निरोध किस सहज और सुगम उपायसे हो सकता है। किन्तु इससे भी पूर्व यह जान लेनेकी आवश्यकता है कि संकल्पोंके बार-बार उठने तथा साधनके लिये रुचि न होनेमें प्रधान हेतु कौन-से हैं ? इसके साथ ही साधनकालमें उपस्थित होनेवाले विघ्नोंको भी समझ लेना नितान्त आवश्यक है।

इन विघ्नोंके विषयमें महर्षि पतञ्जलि अपने योगदर्शनमें इसप्रकार लिखते हैं—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः। (१ । ३०-३१)

अर्थात् रोग, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद (व्यर्थ चेष्टा), आलस्य, वैराग्यका अभाव, भ्रम, चित्तकी चञ्चलता, चित्तका विशेष समयतक स्थिर न रहना—ये नव चित्तके विक्षेप हैं।

दुःख, क्षोभ, अङ्गोंका फड़कना और श्वासोंका आना-जाना—ये सभी उपर्युक्त नव विक्षेपोंके साथ रहनेवाले हैं। अन्य शास्त्रकारोंका भी न्यूनाधिकरूपसे प्रायः यही कहना है। इन सब विघ्नोंमें व्याधि, अकर्मण्यता, प्रमाद, आलस्य, आसक्ति और स्फुरणा—ये छः प्रधान हैं और इनमें भी आलस्य और स्फुरणा विशेष बाधक हैं।

अन्तःकरणमें अनेक सङ्कल्पोंके उत्पन्न होनेमें पूर्वार्जित सञ्चित एवं प्रारब्ध कर्मोंका संस्कार और

विषयोंकी आसक्ति तथा साधनकी ओर रुचि न होनेमें पूर्वकृत पाप-कर्मोंका समुदाय एवं संशय, भ्रम और अश्रद्धा ही प्रधान हेतु हैं ।

आसक्तिके नाशके लिये इस संसारके अनित्य, नाशवान् और क्षणभङ्गुर सम्पूर्ण पदार्थों और विषय-भोगोंमें दोष और दुःखोंका बार-बार विचारकर उनमें वैराग्य एवं उनका यथोचित त्याग करना चाहिये ।

प्रारब्ध कर्मका क्षय तो प्रायः भोगसे ही होता है और सञ्चित कर्मों एवं सम्पूर्ण पापोंका नाश निष्काम-भावसे दुःखी मनुष्योंकी सेवा तथा ईश्वरके नाम-जप-से होता है ।

संशय, भ्रम और अश्रद्धाके नाशके लिये सत्पुरुषों-का सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका विचार ही विशेष लाभप्रद है ।

मन-निरोधके विषयमें गीता अ० ६ । ३४ में लगभग इसी प्रकारका प्रश्न अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्ण-से किया था । अर्जुनकी शङ्काको स्वीकारकर उन्होंने यही उपदेश दिया कि यद्यपि मन चञ्चल और अस्थिर है तथापि अभ्यास और वैराग्यसे वह स्थिर हो सकता है ।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
(गीता ६ । ३५)

हे अर्जुन ! निस्सन्देह मन चञ्चल है; पर अभ्यास और वैराग्यसे यह वशमें होता है ।

महर्षि पतञ्जलिका भी यही कथन है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।
(योग० १ । १२)

अर्थात् अभ्यास और वैराग्यसे उसका निरोध होता है ।

सांख्यके रचयिता भगवान् कपिलदेवने भी अभ्यास और वैराग्यका चित्त-निरोधका साधन बतलाया है—*'वैराग्याभ्यासात्'* अन्य सभी शास्त्रकारोंका भी इस विषयमें प्रायः यही सिद्धान्त है । किसी भक्तका कहना है—

मन फुरनासे रहित कर, जौने विधिसे होय ।
चहै भक्ति चहै योगसे, चहै ज्ञानसे खोय ॥

उपर्युक्त विवेचनसे यही सिद्ध होता है कि अभ्यास और वैराग्य ही चित्त-निरोधके उत्तम उपाय हैं । इसलिये विषयोंसे वैराग्य करके मनके निरोधार्थ कटिबद्ध होकर अभ्यास करना चाहिये । इस प्रसङ्ग-पर अभ्यास और वैराग्यका स्वरूप समझ लेनेकी आवश्यकता है । त्रिगुणात्मक संसारके विषय-भोगों और समस्त पदार्थोंमें तृष्णा और आसक्तिके आत्यन्तिक अभावका नाम ही वैराग्य है । इस सम्बन्ध-में अन्य शास्त्रोंकी भी प्रायः यही मान्यता है । अभ्यास एक व्यापक शब्द है । उसकी व्याख्या विस्तृत है किन्तु विस्तार न कर केवल सार बातें ही बतलायी जाती हैं । इस विषयमें महर्षि पतञ्जलिजीका कहना है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः (योग० १ । १३)

अर्थात् परमात्मामें स्थितिके लिये यत्न करनेका नाम अभ्यास है ।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।
(योग० १ । १४)

वह अभ्यास निरन्तर दीर्घकालतक आदरपूर्वक किया हुआ दृढभूमि स्थितिवाला होता है । भगवान् श्रीकृष्णका भी प्रायः यही कहना है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
(गीता ६ । २६)

अर्थात् स्थिर न रहनेवाला यह चञ्चल मन जिस-

जिस कारणसे सांसारिक पदार्थोंमें विचरता है उस-उससे रोककर बार-बार परमात्मामें ही निरोध करे। समस्त विघ्नोंके नाश एवं मनकी स्थिरताके लिये सबसे उत्तम और सहज उपाय ईश्वरके नामका जप और उसके स्वरूपका चिन्तन ही है। महर्षि पतञ्जलिका भी यही कथन है--

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (योग० १। २३)

ईश्वरकी भक्तिसे चित्तकी वृत्तिका निरोध होता है।

तस्य वाचकः प्रणवः।

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥

(योग० १। २७, २८, २९)

अर्थात् उस ईश्वरका नाम ॐकार है। उस ईश्वरके नामका जप और उसके स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये। फिर उससे समस्त विघ्नोंका अभाव और आत्माका साक्षात्कार भी हो जाता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

अर्थात् हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मुझे स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ। इसलिये ईश्वरके नामका जप और स्वरूपका चिन्तन निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर करना चाहिये।

अभ्यासके विषयमें और भी अनेक युक्तियाँ शास्त्रोंमें मिलती हैं। उनमेंसे किसी एकके अनुसार साधन करनेपर मन स्थिर होना सम्भव है। उनमेंसे कतिपय प्रधान युक्तियाँ आगे लिखी जाती हैं। (क्रमशः)

नँदलाल सुनिसिदिन गाइये

कलह कलपना काम कलेस निवारनौ।
परनिन्दा परद्रोह न कबहुँ विचारनौ॥
जगप्रपंच चटसाल न चित्त चढ़ाइये।
व्रजनागर नँदलाल सुनिसिदिन गाइये॥
अन्तर कुटिल कठोर भरे अभिमानसों।
तिनके घर नहिं रहैं सन्त सनमानसों॥
उनकी संगति भूलि न कबहूँ जाइये।
व्रजनागर नँदलाल सुनिसिदिन गाइये॥
कहूँ न कबहूँ चैन जगत दुखकूप है।
हरि-भगतनको संग सदा सुखरूप है॥
इनके ढिग आनन्दित समै बिताइये।
व्रजनागर नँदलाल सुनिसिदिन गाइये॥

—नागरीदासजी

तन्त्र-सिद्धान्त

(लेखक—श्रीदेवराजजी विद्यावाचस्पति)

तन्त्र किसे कहते हैं ?

तन्त्र एक प्रकारकी कला है जिसके द्वारा एक ऐसा दृश्य उपस्थित किया जाता है जिसका कारण आसानीसे समझमें नहीं आता और जिसे देखकर मनुष्य आश्चर्यचकित हो जाता है। वह मनुष्य जो इसप्रकारकी कलामें प्रवीण हो जाता है, समाजमें आदर और सम्मानकी दृष्टिसे देखा जाता है। लोग उसे प्रकृतिकी अव्यक्त शक्तियोंका अधिकारी अथवा आध्यात्मिक पुरुष समझकर उसकी प्रतिष्ठा करते हैं।

मुझे सन्देह होता है कि अंग्रेजीका Magic शब्द जो तन्त्रका पर्याय है संस्कृतके मह् धातुसे ही निकला है, जिसका अर्थ होता है प्रतिष्ठा और महानता। और मेरे इस विचारकी सत्यता और भी दृढ़ हो जाती है जब मैं Magic शब्दकी व्युत्पत्तिको अंग्रेजी-डिक्शनरियोंमें इसप्रकार देखता हूँ—Magic—L. magicus, from magia; Gr. mageia, the theology of the magians, magic, magi. Magi शब्दकी व्युत्पत्ति इसप्रकार मिलती है—L. magus, from Gr. magos, a magian, from Per. Mag, a priest, same root as L. magnus, great. प्राचीन कालके पारसियोंमें मैजी (Magi) शब्द पुरोहित वर्णके लोगोंके लिये प्रयुक्त होता था, इसलिये Magi शब्दका अर्थ है प्राच्य देशके महात्मा या पुण्यात्मालोग।

अब यह स्पष्ट हो गया कि तन्त्र एक कला है, जिसके द्वारा अलौकिक और अव्यक्त प्राकृतिक शक्तियोंका निदर्शन किया जाता है। इसप्रकार मेरे इस तन्त्र-सिद्धान्त-सम्बन्धी लघु निबन्धमें इतनी ही बातोंका समावेश होता है—'अव्यक्त शक्तियाँ कौन-सी हैं, उनका फल कैसे उत्पन्न होता है, उनके फलीभूत होनेका सामान्य सिद्धान्त क्या है, वे किस रूपमें फलीभूत होती हैं, उन स्वरूपोंका प्रभाव क्या होता है, विभिन्न प्रकारके यन्त्र, उन यन्त्रों तथा उनके अन्तर्गत रहनेवाले अंकों और अक्षरोंका अर्थ क्या है, एवं उनका उपयोग तथा उनके प्रमाण क्या हैं इत्यादि। तन्त्र-सिद्धान्तके आठ भाग हैं, जिनका आगे वर्णन किया जाता है।

अव्यक्त शक्तियाँ कौन-सी हैं और वह किसप्रकार काम करती हैं ?

संसारमें ऐसी नाना प्रकारकी शक्तियाँ हैं जो प्रतिदिन प्राणियोंके अनुभवमें आती हैं और कुछ इसप्रकारकी भी शक्तियाँ हैं जिनका न तो हमें ज्ञान है और न जिनका अनुभव ही होता है। उष्णता, प्रकाश, ध्वनि और विद्युत् एक रूपमें अनुभूत होते हैं और इनका हमें ज्ञान भी होता है, परन्तु इन्हीं शक्तियोंके कुछ ऐसे भी रूप हैं जिनका हमें अनुभव नहीं होता। बेतारके तारवाले यन्त्रोंमें विद्युत्का प्रवाह, चुम्बककी शक्ति तथा ऐसे ही अन्य रूप हमें अनुभूत नहीं होते।

जीवन एक शक्ति है और प्रकृतिके ऊपर जीवनी-शक्ति किसप्रकार काम कर रही है, अबतक यह बात अज्ञेय ही है, और मैं समझता हूँ यह सदाके लिये अज्ञेय ही रहेगी। इन्हीं गुप्त शक्तियोंको हम अव्यक्त शक्तियोंके नामसे पुकारते हैं। कौन जानता है कि किसप्रकार जीवनी-शक्ति प्रकृतिके ऊपर काम कर रही है ? इसके काम करनेके ढंग असंख्य और अनन्त हैं। अव्यक्त शक्तियोंकी गिनती हो ही नहीं सकती। अव्यक्त शक्तियाँ ब्रह्माण्ड और पिण्ड, जगत् और मनुष्य एवं ईश्वर और जीवमें समान रूपसे व्याप्त हैं।

विशिष्ट क्रियायोगके साधनके द्वारा मनुष्य बहुतेरी अव्यक्त शक्तियोंको प्राप्त कर सकता है और उसके द्वारा वह छोटे रूपमें अपने जीवनमें दैवी शक्तियोंका प्रदर्शन कर सकता है। वह प्रकृतिका प्रभु बन जाता है तथा उसपर अधिकार प्राप्त करता है। फिर किसी प्रकार-की बाधा उसके मार्गमें नहीं आती। वह पास और दूरकी प्रत्येक वस्तुको अपनी इच्छानुसार देख सकता है, सुन सकता है तथा अनुभव कर सकता है। बिना किसी कठिनाईके वह जहाँ चाहे जा सकता है। उसे शारीरिक या मानसिक कोई रोग नहीं होता। अपनी शक्तिके प्रयोग-से वह दूसरोंके रोग और पीड़ाका शमन कर सकता है। वह सदा प्रसन्न रहता है। इसप्रकारकी ईश्वरमें रहनेवाली

अव्यक्त शक्तियोंका प्रमाण सिद्ध योगी अपने उदाहरणके द्वारा दे सकता है ।

वह मनुष्य जो ईश्वरके समीप पहुँच जाता है अथवा जो अपनी व्यक्तिगत आत्माको परमात्मामें लीन कर देता है, उसकी आत्मा दिव्य, अव्यक्त शक्तियोंसे प्रकाशित हो जाती है । अव्यक्त शक्तियोंके विषयमें तो इतना कहा जा सकता है, परन्तु यह शक्तियाँ कैसे प्रयुक्त होती हैं? यह प्रश्न आसान नहीं, क्योंकि यदि इन शक्तियोंके प्रयोगोंको स्पष्ट किया जाय तो इनकी अव्यक्तता ही जाती रहती है । तथापि हम कह सकते हैं कि मन, शरीर और आत्माकी शुद्धिके द्वारा अव्यक्त शक्तियाँ जागृत की जाती हैं और तब वे स्वयमेव स्वभावतः उन उपकरणोंको उपस्थित करती हैं जिनके द्वारा उनकी उत्पत्ति या प्राप्ति होती है । यद्यपि यह विषय अज्ञात-सा है, तथापि हम उनके फलीभूत होनेके मुख्य सिद्धान्तोंका निरूपण कर सकते हैं ।

अव्यक्त शक्तियोंके फलीभूत होनेके मुख्य सिद्धान्त

अँधेरी रातमें एक बिजलीके प्रकाशको देखो । तुम्हें उसके चारों ओर एक प्रकाशमय वृत्त दिखलायी देगा । जो वस्तु उस वृत्तके अन्दर आयगी वह प्रकाशित हो उठेगी । इसी प्रकारका प्रभाव एक सिद्ध पुरुषका होता है । जिसने प्रकाशको प्राप्त कर लिया है, वही औरोंको प्रकाश प्रदान कर सकता है । जिसने अपनी अव्यक्त शक्तियोंको जागृत किया है, वही दूसरोंके अन्दर भी उन्हें जागृत कर सकता है । यह जागृति ही अव्यक्त शक्तिका फल है ।

साधनके स्वरूप

कोई भी शक्ति उसकी किसी विशेष स्वरूपके बिना नहीं अनुभूत हो सकती । एक विशेष स्वरूपके द्वारा एक विशिष्ट शक्तिकी एक विशेष क्रियाका भान होता है । योगी और तान्त्रिक सब प्रकारकी अव्यक्त शक्तियोंके स्वरूपको पाँच भागोंमें विभक्त करते हैं—पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश । वह स्वरूप जिसमें हम स्थायित्व और दृढ़ताका अनुभव करते हैं, पार्थिव शक्तिकी क्रियाओंका परिणाम है । अपके द्वारा हम उस स्वरूपको प्राप्त करते हैं जिसमें हमें शान्ति, प्रेम और सौन्दर्यकी प्राप्ति होती है । तेजके द्वारा शरीरमें हमें आकर्षण, प्रकाश और दीप्तिकी प्राप्ति होती है । वायुके द्वारा हमें गति, शक्ति और शुष्कताकी प्राप्ति होती है । सबके प्रति सहानुभूति, सब भूतोंके अन्दर अपनी ही आत्माको देखना उस शक्तिका परिणाम है, जो आकाशके द्वारा प्राप्त होती है ।

जहाँ इन शक्तियोंका सामञ्जस्य होता है वहाँ हर्ष, तथा जहाँ इनका संघर्ष होता है वहाँ शोककी प्राप्ति होती है । इन ऊपर कहे हुएमेंसे किसीके द्वारा भी अव्यक्त शक्तियोंकी अथवा आत्माकी अनुभूति होती है । तान्त्रिकोंका सारा प्रयत्न शरीर और मनकी शुद्धिके द्वारा सब प्रकारके अव्यक्त स्वरूपोंका सामञ्जस्य करना होता है ।

उन स्वरूपोंका परिणाम

मुख्य संस्कार तेरह हैं, जिनके द्वारा शरीर और मनकी शुद्धि होती है । वह हैं गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, चूडाकर्म, उपनयन, वेदाध्ययन, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ और संन्यास । इनसे मन, शरीर और आत्माकी शुद्धि होती है । विभिन्न तन्त्रोंमें इनकी संख्या विभिन्न ही पायी जाती है ।

शुद्ध होकर किसी भी जाति या धर्मका माननेवाला पुरुष या स्त्री उस महान् शक्तिके अव्यक्त स्वरूपकी प्राप्तिके लिये तान्त्रिक अनुष्ठानका अधिकारी हो सकता है । तन्त्रशास्त्र कहते हैं कि जो मनुष्य इस क्षेत्रमें अग्रसर होनेकी चेष्टा करते हैं, उन्हें धार्मिक और मन-वचन-कर्मसे सत्यनिष्ठ होना चाहिये । उनका ब्रह्मचारी तथा सब प्राणियोंके प्रति प्रेम होना अत्यावश्यक है । उन्हें मद्य, मांस, मीन, मैथुन और तुच्छ पाशविक वृत्तियोंसे बचना चाहिये । तन्त्र यथा-योगशास्त्रकी ही व्याख्या है । योग-साधन करनेवाले उस समय मानसिक विकारोंपर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु महानिर्वाणतन्त्रमें हमें दो परस्पर-विरोधी स्थल प्राप्त होते हैं । उसके प्रथम और छठें उल्लासमें हमें स्पष्टरूपसे मद्य, मांस और मीनके ग्रहण करनेका आदेश मिलता है । उल्लास १।६७ का अभिप्राय यह है कि योग पञ्च मकारके बिना असम्भव है । इसप्रकार यह निश्चित किया गया है कि जो मनुष्य महानिर्वाणतन्त्रके अनुसार योग-साधन करता है, उसे पाप नहीं लगता और उसे संसारसे मुक्ति मिल जाती है । परन्तु उसी तन्त्रके उल्लास [illegible]१३७, ५१ में हम देखते हैं कि वहाँ

पन्द्रह गुणोंका पुष्पके रूपमें वर्णन किया गया है और उन्हें देवी अथवा शक्तिके शृङ्गारके लिये अर्पण करनेके लिये कहा गया है। इन पुष्पोंमें एक अत्यन्त लुभावना पुष्प है अहिंसा अर्थात् प्राणियोंके प्रति प्रेम। आगे पञ्च मकारों-को भौतिक रूपसे नहीं, बल्कि आध्यात्मिक रूपसे वर्णन किया गया है। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इसका जो भाग पञ्च मकारोंको भौतिक रूपसे वर्णन करता है वह प्रक्षिप्त है। हमारा यह विचार स्वामी तारानन्द तीर्थके द्वारा संग्रहीत 'तन्त्र-तत्त्व-प्रकाश' पुस्तकके पढ़नेसे और भी दृढ़ हो जाता है। वह भैरव-यामलतन्त्रके अनुसार पञ्च मकारोंकी व्याख्या बड़े ही सुन्दर ढंगसे करते हैं। हम अपनी ओरसे कुछ न जोड़कर उनके ही शब्दोंको यहाँ उद्धृत करते हैं—

तारारहस्यतन्त्रे तु ताराराधनहेतवे ।
दिव्यभावः प्रधानश्च गृहीतो वै क्रियान्वितः ॥ ४३ ॥
वीरभावात्कुलं दिव्यं तस्माद्दिव्यः प्रशस्यते ।
अशक्तत्वाद्भवेद्वीरो न पशुस्तु कदाचन ॥ ४४ ॥
संगृहीतमिदं वाक्यं ब्रह्मानन्देन भिक्षुणा ।
अतो दिव्येन भावेन तारामाराधयेत्सुधीः ॥ ४५ ॥
तस्मात्तेऽहं प्रवक्ष्यामि दिव्यभावे शृणु प्रिय ।
मकाराः पञ्च सम्प्रोक्ताः यथा भैरवयामले ॥ ४६ ॥

ब्रह्मस्थानसरोजयन्त्रलसिता ब्रह्माण्डतृप्तिप्रदा
या शुभ्रांशुकलासुधाविगलिता सा पानयोग्या सुरा ।
सा हाला पिबतामनर्थफलदा[1] श्रीदिव्यभावाश्रिते
यामित्वा मुनयः परार्थसुकुला निर्वाणमुक्तिं गताः ॥४७॥
कामक्रोधसुलोभमोहपशुकाञ्छित्त्वा विवेकासिना
मांसं निर्विषयं परात्मसुखदं खादन्ति तेषां बुधाः ।
ते विज्ञानपरा धरातलसुरास्ते पुण्यवन्तो नराः
नाश्नीयात्पशुमांसमात्मविमतेर्हिंसापरं सज्जनः ॥४८॥

अहंकारो दम्भो मदपिशुनतामत्सरद्विषः
षडेतान्मीनान्वै विषयहरजालेन विधृतान् ।
पचन्सद्विद्याग्नौ नियमितकृतिर्धीवरकृतिः
सदा खादेत्सर्वान् न च जलचराणां तु पिशितम् ॥ ४९ ॥

आशातृष्णाजुगुप्साभयविशदघृणामानलज्जाप्रकोपाः
ब्रह्माग्नावष्टमुद्राः परसुकृतिजनः पाच्यमानाः समन्तात् ।
नित्यं सम्भक्षयेत्तानवहितमनसा दिव्यभावानुरागी
योऽसौ ब्रह्माण्डभाण्डे पशुहतिविमुखो रुद्रतुल्यो महात्मा ॥५०॥
या नाडी सूक्ष्मरूपा परमपदगता सेवनीया सुषुम्ना
सा कान्ताऽऽलिङ्गनार्हा न मनुजरमणी सुन्दरी वारयोषित् ।
कुर्याच्चन्द्रार्कयोगे युगपवनगते मैथुनं नैव योनौ
योगीन्द्रो विश्ववन्द्यः सुखमयभवने तां परिष्वज्य नित्यम् ॥
इति मे दिव्यभावानां मकाराः पञ्चकाः शुभाः ।
कथिताः शङ्करेणापि तारिणीचक्रपूजने ॥ ५२ ॥

दिव्य भावसे सम्बन्ध रखनेवाले पञ्च मकार

तारारहस्यतन्त्रमें ताराकी अर्चाके लिये अर्थात् ब्रह्मविद्या-की प्राप्तिके लिये परम अनुष्ठानके साथ-साथ दिव्यभावका होना आवश्यक माना गया है। भावकी महानतापर यहाँ क्यों जोर दिया गया है? और यह महानता ही क्या वस्तु है? ये प्रश्न यहाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। हम जानते हैं कि तन्त्रमें 'कुल' एक पारिभाषिक शब्द माना गया है। महानिर्वाण-तन्त्रमें 'कुल' शब्दके द्वारा नौ वस्तुओंका बोध होता है, वे हैं—जीव, प्रकृति, दिक्, काल, पृथिवी, अप, तेज, वायु और आकाश। वैशेषिकदर्शनमें कुछ अन्तरके साथ इनको द्रव्यके नामसे पुकारा गया है। वहाँ इनका इसप्रकार उल्लेख हुआ है—

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव ।
(तर्कसंग्रह)

पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। यह संसार इन्हीं नौ तत्त्वों अर्थात् कुलोंकी सृष्टि है। वस्तुतः यह अखिल जगत् उस महाशक्ति-की छाया है। जब साधक शक्ति और सृष्टिकी एकताका अनुभव करता है, तभी वह कुलाचारमें दीक्षित होता है। एकताकी इस अनुभूतिको दिव्य भावके नामसे पुकारते हैं। इस दिव्य भावकी सहायतासे साधक पशुभावको नष्ट करता है। इसीलिये वह 'वीर' कहलाता है। वीरभावके बिना 'कुल' दिव्य नहीं हो सकता, एकताका दिव्य भाव प्रशंसनीय है। वह पशु जिसने अपने पाश* या बन्धनको नष्ट नहीं किया है, वह शक्तिहीन है और 'वीर' नहीं कहला सकता। इसलिये दिव्य भावसे युक्त साधकके द्वारा ही ताराकी अर्चा होनी चाहिये।

उस दिव्य भावमें पञ्च मकारोंका प्रमुख स्थान है। इस

[1] अनर्थफलदा= अयाचितफलदा, बिना माँगे हुए फलको प्रदान करनेवाली।

* घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी ।
कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः ॥

मकारोंमें मद्यका प्रथम स्थान है। यहाँ मद्यका अर्थ मदिरा नहीं है। साधक अपने सहस्रदलकमलचक्रमें शक्तिका ध्यान करता है और वहाँ वह दिव्य भावमें मत्त करनेवाले रसका आस्वादन करता है, जो रस चन्द्रगर्भसे स्रवित होता है।

दूसरा मकार मांस है। साधकके लिये किसी भी प्राणीका मांस भक्षण करना अत्यन्त ही निषिद्ध है। उसे तो अज्ञानावस्थामें भी मांस नहीं खाना चाहिये, क्योंकि मांस जीवित प्राणियोंके मारनेसे प्राप्त होता है। ज्ञानी पुरुष निर्विषयताके मांसका आस्वादन करते हैं जिससे आत्माको परमानन्दकी प्राप्ति होती है। वह मांस काम, क्रोध, लोभ, मोहरूपी पशुओंको विवेकके कृपाणसे मारनेपर प्राप्त होता है।

तीसरा मकार मीन है। इस सम्बन्धमें छः प्रकारके मीनोंका वर्णन मिलता है। वे हैं क्रमशः—मद, वञ्चना, पाखण्ड, हर्षातिरेक, पिशुनता, ईर्ष्या और द्वेष। इन छहों मीनोंको (मछलियोंको) साधक सांसारिक विषयोंसे बचानेवाले जालमें पकड़ता है और इन्हें सत्यज्ञानकी अग्निमें भूनता है। इसप्रकारसे एक प्रवीण मछुएके द्वारा मछलियाँ खायी जाती हैं और वह जलमें रहनेवाले जीवोंके मांससे बचता है।

चतुर्थ मकार मुद्रा है। मुद्राका अर्थ है बन्द करना। मुद्राएँ आठ प्रकारकी हैं, जिन्हें ब्रह्माग्निमें पचाना चाहिये। त्यागी पुरुष इन आठ प्रकारकी मुद्राओंको पकाता है और उन्हें सावधानीके साथ प्रतिदिन खाता है। वह पशुहिंसासे सदा अलग रहता है। यह आठ मुद्राएँ हैं—आशा, कामना, निन्दा, सन्देह, आलस्य, द्वेष, अहङ्कार और लज्जा।

पाचवाँ मकार मैथुन है। मेरुदण्ड स्नायुसूत्रसे ग्रथित है। मेरुदण्ड ही एक सुन्दर रमणी है। वह आलिङ्गन करनेयोग्य है। जब श्वासप्रश्वास दोनों नासिका-छिद्रोंमें समान होते हैं तभी उस रमणीसे सम्भोग करनेका ठीक समय आता है। यही सम्भोग साधकोंके लिये विहित है और मानवी स्त्रीके साथ सम्भोग करना अत्यन्त निषिद्ध है। इस सम्भोगके पश्चात् साधकको अवर्णनीय आनन्दका अनुभव होता है और वह जगत्में पूज्य बनता है तथा योगियोंकी उच्चतम अवस्थाको पहुँचता है।

इसप्रकार दिव्य भावसे सम्बन्ध रखनेवाले पञ्च मकारोंकी व्याख्या की गयी है, यहाँतक कि शङ्करने भी तारिणी अर्थात् ब्रह्मविद्याकी आराधनाके लिये इनका प्रयोग करनेका समर्थन किया है। अब यह स्पष्ट हो गया कि पञ्च मकार मुक्ति तथा योगसिद्धिकी प्राप्तिके लिये प्रमुख साधन हैं।

योग किसे कहते हैं?

साधक और साध्य वस्तुकी अभेद एकताको योग कहते हैं। एकताकी प्राप्ति अथवा योगकी सिद्धिके लिये साधकको कुछ विशेष अनुष्ठान करना पड़ता है। यह अनुष्ठान बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धिके द्वारा दो प्रकारका होता है। बाह्य शुद्धि आभ्यन्तर शुद्धिपर अवलम्बित होती है। अन्तर्शुद्धि मुख्य है और बाह्य शुद्धि गौण। इसलिये यहाँ हम दिव्य शक्तिकी आराधनाके लिये कुछ आन्तरिक लक्षणोंका वर्णन करेंगे। इससे हमारा तन्त्र-सिद्धान्त भी स्पष्टरूपसे समझमें आ जायगा। दिव्य शक्ति मेरुदण्डसे लेकर मस्तिष्कतक भरी हुई होती है। इसका प्रमुख स्थान मस्तिष्कमें है। वहाँसे ही वह समस्त शरीरका नियन्त्रण करती है। उसका काम तीन भागोंमें बँटा हुआ है—वही शरीरजालकी रचना करती है, रचना करनेके बाद इसका पालन करती है, तत्पश्चात् यथाकाल और यथावसर उसमें परिवर्तन करती है। वह एक होते हुए भी कर्मके अनुसार अनेक नामसे पुकारी जाती है। सृजनशक्तिके कारण वह ब्रह्मा कहलाती है, पालनशक्तिके कारण विष्णु और संहारशक्तिके कारण वह शङ्कर कहलाती है। सृष्टि, पालन और संहारका काम प्रत्येक क्षण शरीरमें होता रहता है। वे क्रियाएँ परस्परापेक्षित हैं, सबकी गति एक साथ होती रहती है। जिनका प्रभुत्व होता है वह दीख पड़ती है और दूसरी अज्ञातावस्थामें पड़ी रहती हैं।

शरीररचनाशास्त्रके अनुसार हम उस दिव्य शक्तिके कामको दो भागोंमें विभाजित कर सकते हैं—केन्द्रीय स्नायुजाल और क्रियात्मक स्नायुजाल। केन्द्रीय स्नायुजालमें शक्ति चेतनावस्थामें रहती है। ज्ञानतन्तुओं और क्रियातन्तुओंसे इस जालका निर्माण होता है। ज्ञानतन्तुके द्वारा वह चैतन्य रहती है और क्रियातन्तुके द्वारा अपने सङ्कल्पको क्रियान्वित करती है। उसकी यह क्रिया शिव कहलाती है। वह शिव समस्त घटनाओंको जानता है और इच्छानुसार उनमें परिवर्तन करता है। दूसरा भाग है क्रियात्मक स्नायुजाल। इसके दो भाग हैं—पहला असंवेदनीय और दूसरा संवेदनीय। क्रियात्मक स्नायुजालमें व्याप्त होकर शक्ति अनिच्छापूर्वक काम करती है। हमारे शरीरमें बहुतसे काम अज्ञातरूपसे ही हो रहे हैं। असंवेदनीय

जालके स्नायु हृदय और उदरगत अँतड़ियोंको संकुचित करते हैं और संवेदनीय जालके स्नायु उन्हें बढ़ाते हैं। असंवेदनीय जालके लिये दूसरा नाम क्रैनिओ-सैक्रल (Cranio-sacral) स्वयंशासित प्रणाली कह सकते हैं क्योंकि इस प्रणालीमें कुछ स्नायु शिरोस्थिके ऊपरी (cranium) भागसे उठते हैं और कुछ उसके निचले भागसे उठते हैं और पीठस्थ अस्थिके प्रथम हृदग्रन्थिसे लेकर तीसरी ग्रन्थितक, इस सीमाके भीतर संवेदनीय स्नायु उठते हैं। क्योंकि संवेदनीय प्रणाली असंवेदनीय प्रणालीके मध्यभागसे उठती है, इसलिये असंवेदनीय प्रणालीको विष्णु और संवेदनीय प्रणालीको ब्रह्मा कह सकते हैं। यह नाम उनकी क्रियाओंसे भी सिद्ध हो सकते हैं।

इस विषयमें अनावश्यक विवरण बढ़ाकर हम लेखके कलेवरको बढ़ाना नहीं चाहते। परन्तु इस सम्बन्धमें कुछ और कह देना चाहते हैं, जिससे आगे आनेवाले विषयके समझनेके लिये कुछ आधार मिल जाय। इन स्नायुओंके बहुतेरे शिरोभाग होते हैं। और यह शिरोभाग उन स्नायुरन्ध्रके भाण्डार होते हैं। इन शिरोभागसे जो स्नायु निकलते हैं, वह नाडीजालका निर्माण करते हैं। यह नाडीजाल बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। इन्हें चक्र कहते हैं, क्योंकि शक्ति इनमें घूमती रहती है और इनके द्वारा प्रत्येक इन्द्रियोंका व्यापार करती है। इन इन्द्रियोंके साथ शिरोभाग शक्तिके भाण्डार होते हैं। यदि शिरोभागको हटा दें तो उस इन्द्रियका विकास बन्द हो जायगा, चाहे उसको प्रचुर परिमाणमें रक्त प्राप्त क्यों न होता हो। इसलिये शिरोभाग और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले नाडीजाल शरीरके विकास और क्रियाशील बनानेके लिये बहुत ही उपयोगी हैं।

योगी और तान्त्रिक उस दिव्य शक्तिके ध्यानके द्वारा शिरोभागकी क्रियाको सदा नियमित करनेकी चेष्टा करते हैं। इस छोटेसे लेखमें हम नाडीजालका पूर्ण विवरण नहीं दे सकते। केवल ग्रे महाशय (Grey) के अङ्गशास्त्र (Anatomy) के अनुसार उसका सङ्केतमात्र कर देते हैं और इसके पूर्ण विवरणके लिये पाठकोंको उस पुस्तकका अवलोकन करनेकी प्रार्थना करते हैं। वे नाडीजाल जिनका यहाँ उल्लेख किया गया है गिनतीमें सत्रह हैं, परन्तु योगियोंके कथनानुसार उनमेंसे यह सात प्रधान हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार। शक्ति सुषुम्नानाडीमें होकर सञ्चार करती है और महान् सहस्रार-चक्रमें निवास करती है। तान्त्रिक साहित्यमें केवल शक्तिकी आराधनापर ही ज़ोर दिया गया है। शक्तिके काली, दुर्गा, चण्डी, सरस्वती, ब्रह्मविद्या, तारा तथा अन्य अनेक नाम हैं। यह अखिल विश्व उसका अपना स्वरूप है। संसारकी प्रत्येक वस्तु आकृतिविशेषमें किसी गुणको परिलक्षित करती है जिसमें वह वस्तु हमारे सामने दीखती है। प्रत्येक मनुष्य, पशु अथवा प्राणी अपना एक विशेष रूप रखते हैं जिनमें शक्तिका एक गुणविशेष प्रकट होता है। जगत्के विकास-प्रवाहमें प्रत्येक वस्तुका एक विशेष नाम और संख्या होती है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक नाम और संख्याका एक रूपविशेष होता है जो प्रकृतिमाता अर्थात् शक्तिके एक गुणविशेषको प्रकट करता है। क्योंकि जगत्के समस्त दृश्य कम्पनसे उत्पन्न होते हैं, इसलिये प्रत्येक नाम, अङ्क और आकृति कम्पनके परिणाम हैं। पतञ्जलिने इस सिद्धान्तका अच्छा निरूपण किया है।*

उन्होंने ठीक ही कहा है कि 'मनुष्य वही है जैसा वह सङ्कल्प करता है।' आत्मा स्वयमेव मनुष्यके सङ्कल्पके द्वारा प्रकाशित होती है। सङ्कल्प उसकी शक्ति है और वह इसको एक रूपविशेषमें व्यक्त करता है। रूपविशेष मनको एक आकारविशेषमें बदलता है। वह आकारविशेष एक प्रवृत्ति है। वह प्रवृत्ति अपने स्वभावके अनुसार शारीरिक उष्णताको विशेष आघात पहुँचाती है। और वह आघात प्राण या स्नायवीय शक्तिको हृदयमें प्रवृत्त करता है और उस स्नायवीय प्रवृत्तिसे एक विशेष कम्पनात्मक ध्वनि होती है।

इसप्रकार नाम, अङ्क और आकृतिके समस्त दृश्य कम्पनके द्वारा ही प्रकट होते हैं और वह कम्पन वे विशेष भाव हैं जिनका निवास परब्रह्म अथवा दिव्य शक्तिके ज्ञानमें होता है।

नाम, अङ्क और आकृति क्या वस्तुएँ हैं ?

योगी या तान्त्रिक एक विशेष दृष्टिकोणसे नाम और

---

* आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान्मनो युंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयते स्वरम्।
(महाभाष्य)

अङ्कोंको पाँच मूल-तत्त्वोंमें विभाजित करते हैं, जैसा उन्हें विकास क्रमके अनुकूल जान पड़ता है । नाम अक्षरों-से बनते हैं और पाणिनिके अनुयायी वैयाकरणोंके अनुसार अक्षर विभिन्न शक्तिसम्पन्न ध्वनियाँ हैं । सतत पुनरा-वृत्तिके द्वारा अक्षर स्पष्ट कम्पनोंको उत्पन्न करते हैं और अक्षर स्वयमेव कम्पनोंसे उत्पन्न होते हैं । भ्रमर अपने निरन्तरके गुञ्जारके द्वारा तितलीके डिम्भ (अण्डे) को अपनी आकृतिका बना लेता है ।

यथा ध्यानस्य संसर्गात्कीटको भ्रमरायते ।
तथा समाधियोगेन ब्रह्मीभूतो भवेन्नरः ॥
(कर्पूरस्तव श्लो० ८)

उपवीतके समय गुरु मन्त्रशक्तिसे शिष्यको पवित्र करता है, जिसमें मन्त्रगत अक्षरोंके कम्पनकी शक्तिका प्रभाव पड़ता है, क्योंकि वे अक्षर प्रयोजनविशेषके द्वारा परस्पर संयुक्त होते हैं । मन्त्र देनेके बाद वह शिष्यको अपना स्वरूप बना लेता है और इसके बाद उसे समयानुसार नियमपूर्वक उस मन्त्रके जपका आदेश करता है । एक विशिष्ट तालयुक्त ध्वनिके सतत प्रयोगके द्वारा रोग दूर हो जाते हैं । इस-प्रकार यहाँ मन्त्रके सिद्धान्तका संक्षेपमें वर्णन किया गया । अब मैं इसे विशेष बढ़ाना नहीं चाहता, परन्तु तन्त्रसारके एक कोष्टकद्वारा यहाँ अक्षरोंका उनके अनुरूप तत्त्वोंके साथ सम्बन्ध दिखलानेकी चेष्टा की जाती है—

अ वात	आ मरुत्	ए चर	क प्राण	च वायु	ट नाद	त रयः	प जवी	य व्याप्तम्	ष स्पर्शः
इ अग्नि	ई वह्नि	ऐ शुचि	ख तेज	छ प्रभा	ठ दाव	थ शिखी	फ द्युति	र दाह	स ग्रासः
उ धरा	ऊ क्ष्मा	ओ क्षौणी	ग ज्या	ज कु	ड गोत्रा	द भूमि	ब रसा	ल स्थिरा	ळ इला
ऋ जल	ॠ वारि	औ वनम्	घ वाः	झ कम्	ढ पाथः	ध तोयम्	भ रसम्	व अम्बु	श हृत
ऌ विभु	ॡ स्वम्	अं खम्	ङ द्यौः	ञ रम्भुः	ण व्योम	न शून्यम्	म नभः	श विपत्	ह हंसः

यहाँ एक और मुख्य विषय विचारणीय है । अंक-विज्ञानके प्रायः सभी लेखक नामों और अंकोंका सम्बन्ध ग्रहोंसे मिलाते हैं । उनका विचार है कि समस्त नाम, अंक और आकृति उन कम्पनोंके परिणामसे बनते हैं जो सूर्य, चन्द्र तथा तारोंसे आते हैं । इसप्रकार अक्षरोंका सम्बन्ध उनके अनुरूप ग्रहोंसे स्पष्ट हो जाता है । प्रत्येक अक्षरकी एक विशेष ध्वनि होती है, प्रत्येक ध्वनिका एक विशेष कम्पन होता है और प्रत्येक कम्पनमें एक विशेष नाम और अंक होते हैं । प्रत्येक अक्षरके अपने एक विशेष संख्याके कम्पन होते हैं, यह कम्पन ग्रहोंके प्रकाशके द्वारा आते हैं और वे उन्हें सूर्यसे प्राप्त करते हैं, जो विशेष गुणोंसे पूर्ण होते हैं । उनके सम्पर्कसे प्रकाश कम्पन या ध्वनिको उत्पन्न करता है जिसे हम विभिन्न दृश्यों, स्वरों, अक्षरों, नामों और आकृतियोंमें प्रत्यक्ष करते हैं । ध्वनि और प्रकाश सापेक्ष वस्तुएँ हैं । दीपक रागमें हम जानते हैं कि ध्वनिविशेषके द्वारा प्रकाश उत्पन्न होता है ।

ग्रहोंका हमारे ऊपर प्रभाव पड़ता है, इसे इस-प्रकार समझा जा सकता है कि सूर्यमण्डलका अखिल ब्रह्माण्डके साथ वही सम्बन्ध है जो एक परिवारका जगत्के साथ है, उसी प्रकार ग्रहका वही सम्बन्ध सूर्यलोकसे है जो सम्बन्ध एक मनुष्यका उसके कुटुम्बके साथ होता है । जिसप्रकार एक परिवारमें मनुष्य अपने साथ रहनेवाले प्राणियोंसे अच्छे-बुरे नाना प्रकारसे

प्रभावित होता है उसी प्रकार हमारी पृथिवी हमारे साथ-साथ अपने सम्बन्ध रखनेवाले ग्रहों और अन्यान्य तारकोंसे प्रभावित होती है। यह प्रभाव केवल प्रकाशके कम्पनके रूपमें होते हैं। सूर्यमण्डलकी रङ्गभूमिमें ग्रहोंका एक विशेष स्थान होता है और इस विचित्र प्रकृति-नाट्यशाला-के दर्शक—हम लोगोंके ऊपर उनका विशेष प्रभाव पड़ता है। उनकी प्रत्येक क्रिया हमारे हृदयपटपर तथा पृथिवीके प्रत्येक वस्तुके आकारपर अङ्कित है।

जिसप्रकार पृथिवीपर आकृतियाँ हैं, वैसे ही कल्पनामें भी आकृतियाँ होती हैं। इसप्रकारकी अनेक आकृतियोंका वर्णन तन्त्रशास्त्र तथा अंकशास्त्रमें प्राप्त होता है। क्योंकि ये आकृतियाँ ग्रह-सम्बन्धी बुरे अथवा अच्छे प्रभावोंका निदर्शन करती हैं। इसलिये इन शास्त्रोंका ज्ञाता स्वयमेव अपनी तथा औरोंकी अवस्थाके विषयमें चाहनेपर सूचना दे सकता है। तन्त्र और अङ्क-शास्त्रके ग्रन्थ ऐसी अनेकों आकृतियोंका वर्णन करते हैं, जिन्हें यन्त्र कहते हैं। ये यन्त्र चाहे हुए अच्छे या बुरे परिणामके उत्पन्न करनेकी युक्तियाँ हैं। ये यन्त्र उन अक्षरोंकी सहायतासे जो दिव्य-शक्तिसे प्रभावित होते हैं, साधकके मन या शरीरपर अच्छा या बुरा प्रभाव डाल सकते हैं। यन्त्रोंमें अंकोंका भी प्रयोग किया जाता है क्योंकि उनमें भी विभिन्न प्रकृतिके मनुष्योंके ऊपर विभिन्न प्रकारके प्रभाव डालनेकी शक्ति होती है। वे अक्षर 'बीज' कहलाते हैं अर्थात् वह कारण हैं जिनके द्वारा आचारका बीज बढ़ता है। इसे हम सारांशमें इसप्रकार कह सकते हैं कि यन्त्र तान्त्रिक क्रियाके सम्पादन करनेका एक साधन है, अंक उस क्रियाका मूल्य है जो सम्पादन की जानेवाली है और अक्षर एक सम्भाव्य शक्ति है जिससे जाना जाता है कि वह क्रिया कैसे सम्पादित होती है। हम यहाँ अंकोंका अर्थ अथवा कम्पन-का संक्षिप्त उल्लेख करते हैं *—

* The science of Numerology by walter B. Gibson.

अंक	ग्रह	चिह्न	अर्थ
१	सूर्य	एकता; केन्द्रका चिह्न	सरल और शक्तिमान्, निर्दिष्ट प्रयोजन, दृढ़ कर्म, यश, पराक्रम, आक्रमण, अभिलाषा।
२	चन्द्र	नीति; तुलाका चिह्न	द्वैधी प्रकृति, विरोध, तुलना, विरोध दिखलाना, प्रकाश-अन्धकार, अच्छा-बुरा, उष्ण-शीत, धन-दरिद्रता, जीवन-मृत्यु, न्यायप्रियता।
३	मंगल	चपलता; त्रिकोणका चिह्न	स्वतन्त्रता, शक्तिमान्, बलवान्, निर्भय, योग्यता।
४	बुध	दृढ़ता; वर्गका चिह्न	कार्यका निर्दिष्टक्षेत्र, दृढ़ता, सहनशीलता, नियमनिष्ठता और विचार।
५	बृहस्पति	अनिश्चयता; पञ्चभुजक्षेत्र-का चिह्न	उत्साह और अस्थिरता; अवर्ण्य, साहस, आसानीसे नये मित्र बना लेना।
६	शुक्र	तारतम्य; षट्भुजक्षेत्र-का चिह्न	विश्वासपात्रता, ईमानदारी, प्रसन्नता, सुखवाद, उत्साह-हीनता।
७	शनि	रहस्य; एक प्रकारके तुलाका चिह्न तीन-तीनके दो जोड़ोंका एक केन्द्रीय संयोग	रहस्य, अध्ययन, ज्ञान, प्रोत्साह, ध्यान, सुन्दरता, अप्रसन्नता।
८	राहु	भौतिक उन्नति; अष्ट-भुजक्षेत्र अथवा सम-बहुभुजक्षेत्र-का चिह्न	भौतिक सफलता; महान् व्यावहारिक ज्ञान।
९	केतु	सार्वजनिक प्रभाव; त्रिगुण किये हुए त्रिशूलकाचिह्न	पूर्णता; मानसिक और आध्यात्मिक विकास।

ध्वनि और अङ्कोंके नियमके प्रधान सङ्केत

१ नाम	'नाम' उसके अधिकारी (नामी) की क्रियाओं और गुणोंका विभेदक है।
२ अंक और अक्षर	अक्षर अंकोंकी ही प्रतिमा है, क्योंकि दोनों प्रकृतिकी क्रियात्मिका शक्ति और उसके गुणोंके चिह्न हैं। केवल नामके उच्चारणमें ध्वनित होनेवाले अक्षर ही संख्याके द्वारा निर्णीत होते हैं, मूक अक्षर नहीं।
३ सांकेतिक नाम	सांकेतिक नाम, नामके संख्यात्मक परिमाणके सामने उतने महत्त्वपूर्ण नहीं होते, परन्तु उस परिमाणके साथ तारतम्यमें आनेसे उनकी शक्ति द्विगुणित हो जाती है।
४ ध्वनि (ग्रहसम्बन्धी)	ग्रहसम्बन्धी ध्वनियाँ ग्रहोंकी गतिसे उत्पन्न होती हैं। उनकी विभिन्न गति और परिमाणसे ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, जो अक्षरों और अंकोंके तारतम्यसे मिलकर एक-ताल हो जाती हैं।
५ समय	समय एक नियोजक है जो अंकों, अक्षरों और ध्वनियोंके विभिन्न शक्तियों और प्रभावोंको नियन्त्रित करता है।
६ कारण	प्राकृतिक दृश्य एक जलाशयके समान है, जिससे अंकोंके द्वारा आविद्ध होकर जीवनके कारण प्रवाहित होते हैं। समयके वैज्ञानिक विभाजनके लिये भी इनसे स्वभावतः सहायता मिलती है।

इसके साथ हम इतना और कहेंगे कि पाणिनिने* प्रत्येक अक्षरकी ध्वनिमें स्थान और समयके सम्बन्धको भलीभाँति समझाया है और वह सम्बन्ध तन्त्र-सिद्धान्त-के विचारके लिये बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। लेखके बहुत बढ़ जानेके भयसे हम पाठकोंके विचार करनेके लिये इस विषयको यहाँ ही छोड़कर विश्राम लेते हैं। (क्रमशः)

* वर्णोच्चार-शिक्षा

भगवान् किसपर प्रसन्न रहते हैं ?

जो मनुष्य दूसरोंकी निन्दा, चुगली अथवा मिथ्या-भाषण नहीं करता तथा ऐसा वचन भी नहीं बोलता जिससे दूसरोंको खेद हो, उससे निश्चय ही भगवान् केशव प्रसन्न रहते हैं। हे राजन्! जो पुरुष दूसरोंकी स्त्री, धन और हिंसामें रुचि नहीं करता उससे सर्वदा ही भगवान् केशव सन्तुष्ट रहते हैं। हे नरेन्द्र ! जो मनुष्य किसी प्राणी अथवा (वृक्षादि) देहधारीको पीड़ित अथवा नष्ट नहीं करता उससे श्रीकेशव सन्तुष्ट रहते हैं। जो पुरुष देवता, ब्राह्मण और गुरुजनोंकी सेवामें सदा तत्पर रहता है, हे नरेश्वर ! उससे गोविन्द सदा प्रसन्न रहते हैं। जो व्यक्ति स्वयं अपने और अपने पुत्रोंके समान ही समस्त प्राणियोंका भी हितचिन्तक होता है वह सुगमतासे ही श्रीहरिको प्रसन्न कर लेता है। हे नृप ! जिसका चित्त रागादि दोषोंसे दूषित नहीं है उस विशुद्ध-चित्त पुरुषसे भगवान् विष्णु सदा सन्तुष्ट रहते हैं।*

(विष्णुपुराण अंश ३, अ० ८। १३-१८)

* श्रीविष्णुपुराणका मूल श्लोक और हिन्दी-अनुवाद-सहित एक सुन्दर संस्करण गीताप्रेसमें छप रहा है। यह उसीके एक अध्यायका कुछ अंश है। —सम्पादक

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

अद्वितीय ब्रह्मके दो रूप

दध्यङ–हे इन्द्र ! श्रुतिमें अद्वितीय ब्रह्मका साक्षात्कार करनेके लिये ब्रह्मके दो रूप कहे हैं। उन दोनोंमेंसे एक रूप सत्य, स्थितिमान्, मूर्त और मर्त्य–इन चार प्रकारके विशेषणोंसे युक्त है। प्रत्यक्ष प्रमाण-का विषय होनेसे यह रूप सत्य कहलाता है, देश-कालादि परिच्छेदवाला होनेसे स्थितिमान् कहलाता है, अवयवोंसे रचा हुआ होनेसे मूर्त कहा जाता है और नाशवान् होनेके कारण मर्त्य कहलाता है। इस प्रथम प्रत्यक्ष सत्य रूपका सार सूर्यमण्डलमें स्थित है, क्योंकि वह सर्व रूपादिका प्रकाशक है और प्रमाणसे सिद्ध है। ब्रह्मका दूसरा रूप त्यत्, गतिमान्, अमूर्त और अमृत—इन चार विशेषणोंसे युक्त है। यह रूप परोक्ष होनेसे शास्त्रके प्रमाणसे जाना जाता है इसलिये त्यत् कहलाता है, सर्वत्र व्यापक होनेसे गतिमान् कहलाता है, दृश्यमान अवयवोंकी रचनासे रहित होनेसे अमूर्त कहलाता है और नाशरहित होनेसे अमृत कहलाता है। सूर्यमण्डलमें स्थित हिरण्यगर्भ त्यत् अर्थके सार-रूप हैं क्योंकि हिरण्यगर्भके शरीरको आरम्भ करने-के लिये सूक्ष्म भूतोंकी उत्पत्ति है। अध्यात्मरूप संघातमें स्थित ब्रह्मके दो रूप हैं। वे दोनों साररूप हैं। चक्षु सत् पदार्थका साररूप है और दक्षिण नेत्रमें स्थित अभिमानी पुरुष त्यत् शब्दका साररूप है, उन दोनों रूपोंसे भिन्न पञ्चभूत असाररूप हैं। इन पञ्चभूतोंमें पृथिवी, जल और तेज प्रत्यक्ष-ज्ञानके विषय हैं, इसलिये सत् कहलाते हैं। वायु और आकाश परोक्ष-ज्ञानके विषय हैं, इसलिये त्यत् कहलाते हैं। सूर्यमण्डल और पुरुषका दक्षिण नेत्र ये दोनों पृथिवी, जल और तेजरूप हैं इसलिये परस्पर भिन्न नहीं हैं। सूर्यमण्डलमें और दक्षिण नेत्रमें स्थित अमूर्त पुरुष एक ही है, इसीको आत्मा कहते हैं।

इन्द्र–हे भगवन्! यदि स्थूलको पृथिवी, जल और तेजरूप माना जायगा, और सूक्ष्मको वायु तथा आकाशरूप माना जायगा तो स्थूल-सूक्ष्मको शरीर-रूप मानना नहीं बनेगा क्योंकि श्रुतिमें सब शरीरों-को पञ्चभूतरूप कहा है। इसलिये श्रुतिसे विरोध होगा।

दध्यङ–हे इन्द्र ! पञ्चीकरणकी क्रियाकी रीतिसे पृथिवी, जल और तेज–इन तीन स्थूल भूतोंमें आकाश और वायु सूक्ष्मभूतस्थित हैं इसलिये स्थूलकी शरीररूपता बनती है। इसी प्रकार वायु तथा आकाश इन दोनों सूक्ष्म भूतोंमें पृथिवी, जल और तेज ये तीनों सूक्ष्मरूपसे स्थित हैं इसलिये अमूर्त सूक्ष्मकी भी शरीररूपता सम्भव है। पूर्व-पूर्वकी वासनाओंसे उत्पन्न हुए सूक्ष्म शरीरों-में अनेक प्रकारके रूप होते हैं, उनमेंसे कुछ मैं कहता हूँ, उनको तुम सुनो! जब रजोगुणयुक्त पुरुष स्त्री आदि पदार्थोंको देखता है तब वह पुरुष हल्दीसे रँगे हुए वस्त्रके समान पीले रंगवाला हो जाता है। जब सत्त्वगुणके प्रभावसे पुरुष श्रद्धादि गुणवाला होता है तब वह श्वेत रूपवाला हो जाता है। जब पुरुष रजोगुणके प्रभावसे एकान्त स्थलमें विषयोंका स्मरण करता है तब वह इन्द्रगोप—वीरबहूटीके समान रक्त वर्णवाला हो जाता है। जब सत्त्वगुणके प्रभावसे विद्यावाला होकर भी रजोगुणके कारण ईर्षावाला होता है तब वह दाह और प्रकाश-शक्ति-

वाली अग्निकी ज्वालाके समान रूपवाला हो जाता है। जैसे श्वेत कमल स्वभावसे ही शुद्ध और कोमल होता है इसी प्रकार कभी-कभी सत्त्वगुणके प्रभावसे पुरुष जन्मसे ही शम-दमादि गणवाला तथा कोमल स्वभाववाला होता है। जब पुरुष शुद्ध स्वभाववाला होता है तो वह बिजलीके समान सर्वप्रकाशक ज्ञानवाला होता है। जैसे हिरण्यगर्भ सर्वपदार्थ-विषयक ज्ञानवाले हैं, इसी प्रकार शुद्ध स्वभाववाला पुरुष सर्वविषयक ज्ञानवाला होता है। सकामी पुरुषको उपासनाके प्रभावसे हिरण्यगर्भके समान सर्वज्ञता प्राप्त होती है किन्तु वह सर्वज्ञता उपासना-रूप मानसिक कर्मसे उत्पन्न हुई होनेसे अनित्य होती है इसलिये मुमुक्षुओंको सर्वज्ञताकी भी इच्छा रखनी उचित नहीं है। भाव यह है कि सर्वपदार्थोंकी कामना आनन्दस्वरूप आत्माके जाननेमें प्रतिबन्धक है। इसलिये मुमुक्षुओंको सवकामनाओंका त्याग ही करना चाहिये। इसप्रकार पुण्य-पापरूप कर्मसे और जन्म-जन्मान्तरकी वासनाओंसे उत्पन्न होने-वाले हजारों सूक्ष्म अमूर्त रूप पुरुषमें हैं, उन सब रूपोंका मैं और श्रुति भी वर्णन करनेमें समर्थ नहीं है।

मूर्तादि रूपोंमें अविद्याका कारणपन

हे इन्द्र! तन्तुओंके कार्यरूप पटमें जैसे तन्तु जुड़े रहते हैं इसी प्रकार अविद्यासे उत्पन्न हुए स्थूल-सूक्ष्मरूप प्रपञ्चमें कारणरूप अविद्या संयुक्त रहती है। जैसे पटादि पदार्थ और उनका कारण तन्तु दृश्य होनेसे अनात्मा हैं इसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च और उसका कारण अविद्या दृश्य होने-से अनात्मरूप है

इन्द्र-हे भगवन्! स्थूल-सूक्ष्मरूप प्रपञ्च तथा उसका कारण माया दृश्य होनेसे आत्मारूप न सही, परन्तु उन दोनोंका अभावरूप निषेध आत्मा-रूप क्यों नहीं हो सकता?

दध्यङ-हे इन्द्र! जैसे प्रपञ्चरूप कार्य तथा अविद्या-रूप कारण आत्मा नहीं हैं, इसी प्रकार उनका अभाव-रूप निषेध भी आत्मारूप नहीं है क्योंकि जैसे सत्ता प्रतियोगीकी है वैसी ही सत्ता उसके अभावकी है। जैसे सीपीमें माना हुआ रूपा कल्पित है, इसी प्रकार कल्पित रूपेका अभाव भी कल्पित है। इसी प्रकार अनात्म-प्रपञ्चका अभाव भी कल्पित होनेसे अनात्मा ही है। अनात्म-प्रपञ्चके निषेधद्वारा मैंने तुमको जिसप्रकार आनन्दस्वरूप आत्माका उपदेश किया है, उससे अधिक कोई भी ब्रह्मवेत्ता गुरु शिष्यको उपदेश नहीं करता। सर्वब्रह्मवेत्ता गुरु सर्व-प्रपञ्चका निषेध करके ही आनन्दस्वरूप आत्माका अपने शिष्योंको उपदेश करते हैं।

इन्द्र-हे भगवन्! प्रपञ्चके निषेध किये विना विधि-मुख-वाक्योंसे आनन्दस्वरूप आत्माका उपदेश गुरु अपने शिष्योंको क्यों नहीं करते?

दध्यङ-हे इन्द्र! यह आनन्दस्वरूप आत्मा मन-वाणीका विषय नहीं है। इसलिये विधि-मुख-वाक्योंसे आत्माका उपदेश करनेमें कोई समर्थ नहीं है। सर्व-ब्रह्मवेत्ता गुरु अनात्म-प्रपञ्चका निषेध करके ही आत्माका उपदेश कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मका उपदेश दो प्रकारका है—एक विधिमुख-उपदेश और दूसरा निषेध-मुख-उपदेश। अन्तर्यामी, आत्मा, ब्रह्मस्वरूप, सत्यरूप, ज्ञानरूप, आनन्दरूप तथा परिपूर्णरूप है। यह विधि-मुख-उपदेश है। और आनन्दस्वरूप आत्मा कार्यरूप नहीं है, कारण-रूप नहीं है, स्थूल नहीं है, सूक्ष्म नहीं है, यह निषेध-मुख-उपदेश कहलाता है। इन दोनोंमें निषेध-मुख-उपदेश श्रेष्ठ है, यही बात अब स्पष्ट करके समझाता हूँ, ध्यान देकर सुन—

निषेध-मुखकी श्रेष्ठता

हे इन्द्र! 'तुम ब्रह्मरूप हो' और 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' इसप्रकारके विधि-मुख-वाक्य कहनेसे विधि-ज्ञान उत्पन्न होता है। ऐसे ज्ञानसे मन तथा वाणीके अविषय आत्मामें विधि-मुख-वाक्योंसे बोध नहीं हो सकता। और 'तत्त्वमसि' तू ब्रह्म है, इसप्रकार विधि-

मुखसे किये हुए उपदेशमें तत्पदके अर्थका और त्वं-पदके अर्थका भेद प्रतीत होता है, इसलिये विधि-मुख-वाक्यसे बोध होना असम्भव है क्योंकि तत्पदार्थके अर्थरूप मायाविशिष्ट ईश्वरमें सर्वज्ञपना और परोक्षपना है, और त्वं-पदके अर्थरूप अविद्यावाले जीवमें अल्पज्ञपना, अपरोक्षपना और दुःखीपना है। इसलिये निषेधी धर्मवाले तत् और त्वं-पदार्थका परस्पर अभेद नहीं हो सकता किन्तु जैसे अग्नि और बर्फ परस्पर विरुद्ध धर्मवाले हैं इसलिये उनका परस्पर भेद है, इसी प्रकार तत् और त्वं-पदार्थ परस्पर-विरुद्ध धर्मवाले हैं इसलिये उनमें भेद है। इस शंका-के निवारण करनेके लिये तत् और त्वं-पदार्थका अभेद सिद्ध करनेको तत् और त्वं—इन दोनों पदोंमें भागत्यागलक्षणा माननी पड़ेगी। जहाँ पदके वाच्य अर्थके एक देशका त्याग करके एक देशका ग्रहण किया जाय, वह भागत्यागलक्षणा कहलाती है। तत्पदके वाच्य अर्थ ईश्वरमें दो भाग हैं, एक चैतन्य, दूसरा माया और मायासे किया हुआ सर्वज्ञत्वादि भाग। इन दोनोंमेंसे माया और सर्वज्ञत्वादि धर्मरूप दूसरे भागका त्याग करनेसे प्रथम चैतन्य-भागमें लक्षणा करनी पड़ती है, इसी प्रकार त्वं-पदके वाच्य अर्थ जीवके दो भाग हैं। एक चैतन्य और दूसरा अविद्या। अविद्याके किये हुए अल्पज्ञत्वादि धर्म उनमेंसे अविद्या और अल्प-ज्ञत्व आदि धर्मरूप दूसरे भागका त्याग करके प्रथम भागमें त्वं-पदकी लक्षणा करनी पड़ती है। इसप्रकार लक्षणासे दोनों चैतन्यका परस्पर अभेद हो सकता है। यों लक्षणावृत्ति माननेसे विधि-मुख-उपदेश होता है और यह उपदेश केवल क्लेशका कारण है, इसके सिवा विधि-मुखसे आत्माका उपदेश करने-में अनुमान-प्रमाणकी अपेक्षा होती है, यह और भी दूषण है, क्योंकि सच्चिदानन्दरूप जो त्वं-पदका अर्थ है, उस अर्थका जैसे अधिकारी पुरुषके स्वरूपमें भेद नहीं है, इसी प्रकार सर्वजीवोंके आत्मामें और तत्पदार्थमें भी उसका भेद नहीं है। इस-प्रकारका अर्थ सिद्ध करनेमें अनुमान-प्रमाणकी जरूरत पड़ती है। त्वं-पदका अर्थरूप जीव परमात्मासे भिन्न नहीं है, क्योंकि वह अधिकारी पुरुषके आत्माके समान सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है। इसप्रकारके विधि-मुख-उपदेशको अनुमान-प्रमाणकी अपेक्षा है इसलिये वह युक्त नहीं है। विधि-मुख-उपदेशमें तत्पदार्थ और त्वं-पदार्थके शोधन बिना उन दोनोंका परस्पर अभेद नहीं हो सकता, इसलिये तत्पदार्थ और त्वं-पदार्थका शोधन अवश्य करना पड़ता है। देहादि जड पदार्थोंकी व्यावृत्ति—बाध किये बिना तत्पदार्थ और त्वं-पदार्थका शोधन नहीं होता इसलिये देहादि जड पदार्थोंकी व्यावृत्तिके लिये अनेक प्रकारके अनुमानोंकी जरूरत पड़ती है। इस कारणसे भी विधि-मुख-उपदेश कनिष्ठ है। इसके सिवा विधि-मुख-उपदेशमें जो-जो अनुमान लगाने पड़ते हैं, वे अनुमान भी स्वतन्त्र रीतिसे किसी अर्थकी सिद्धि नहीं करते किन्तु अन्य प्रमाणोंकी अपेक्षा रखते हैं। जो अनुमान-प्रमाण अन्य प्रमाणकी अपेक्षा न रखता हो, वह अनुमान-प्रमाण ही नहीं है क्योंकि अनुमानका अर्थ पीछे होने-वाला प्रमाण है। जीव सच्चिदानन्दरूप होनेसे अधिकारी पुरुषके आत्माके समान ब्रह्मसे अभिन्न है, इसप्रकार जीव और ब्रह्मका अभेद करनेवाला एक अनुमान है। और देहादि घटादिके समान जड, दृश्य और परिच्छिन्न होनेसे अनात्मा हैं, यह दूसरा अनुमान है। इन दोनों अनुमानोंका कोई मूलरूप प्रमाण कहना चाहिये कि जिस मूलरूप प्रमाणकी सहायतासे विधि-मुख-उपदेशमें अनुमान सहायक हो। उन दोनों अनुमानोंका प्रत्यक्ष-प्रमाण मूल नहीं है क्योंकि हम अपने घरमें प्रत्यक्ष-प्रमाणसे देखते हैं कि जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है। इस प्रत्यक्ष-प्रमाण-के पीछे पर्वतपर धूम होनेके कारण अग्नि है, ऐसा अनुमान होता है, इसमें प्रत्यक्ष-प्रमाण पर्वतमें

अग्निके अनुमानका मूलरूप है इसलिये इस अनुमान-में प्रत्यक्ष-प्रमाणकी अपेक्षा है। इसी प्रकार प्रसंगमें देहादिमें अनात्मता सिद्ध करनेके लिये अन्य प्रत्यक्ष-प्रमाणकी जरूरत है। यहाँ तो प्रत्यक्ष-प्रमाण अनुमानका मूल हो ही नहीं सकता, क्योंकि यद्यपि घटादिमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जडत्व सिद्ध होता है तो भी घटादिमें अनात्मता प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं होती, क्योंकि आत्माके भेदका नाम अनात्मता है और यह आत्माका भेद अन्योन्याभाव-रूप है। प्रतियोगीके ज्ञान बिना अभावका ज्ञान नहीं होता इसलिये प्रतियोगीरूप आत्माके प्रत्यक्ष बिना उसके भेदका भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसलिये पूर्वोक्त अनुमानका प्रत्यक्ष-प्रमाण मूल नहीं हो सकता। जडत्वरूपसे देहादिमें अनात्मता सिद्ध करनेके लिये घट एक दृष्टान्त है किन्तु घटादिमें प्रत्यक्ष-प्रमाणसे जो अनात्मता सिद्ध होती है, वह घटादिसे भिन्न देहादिमें सिद्ध नहीं होती। जैसे घटको विषय करनेवाला 'यह घ है' इसप्रकारका ज्ञान घटमें स्तम्भपनेके धर्मका विषय नहीं करता तो भी यह स्तम्भपनेका धर्म स्तम्भमेंसे निवृत्त नहीं करता। किन्तु स्तम्भमें स्तम्भपना है ही, इसी प्रकार घटादिमें आत्माका धर्म चाहे न हो तो भी 'आत्माका धर्म देहादिमें है' ऐसे विपरीत अर्थको माननेमें कोई भी बाधक तर्क नहीं है।

इन्द्र—हे भगवन्! आत्मा चैतन्य होता है, यदि देह आत्मा हो तो देहमें जडता नहीं होनी चाहिये और देहमें जडता प्रत्यक्ष दिखायी देती है इसलिये देह आत्मा नहीं है, यह तर्क देहके आत्मापनेका बाध करनेवाला है।

दध्यङ—हे इन्द्र! चार्वाक जो आत्माका वास्तविक धर्म देहका ही स्वभाव मानते हैं, उनके सामने तुम्हारा यह तर्क चल नहीं सकता क्योंकि जैसे घटादिमें रहनेवाला प्रत्यक्ष धर्म जडत्व घटादिके स्वभावको नाश नहीं कर सकता, इसी प्रकार देहमें रहनेवाले जडत्व और दृश्य आदि धर्म भी देहके आत्मपनेके स्वभावको नाश नहीं कर सकते, नैयायिकोंके मतानुसार सत्ता नामकी जाति द्रव्य, गुण तथा कर्म, इन तीनों पदार्थोंमें रहती है तो भी वह सत्ता द्रव्यादिके स्वभावका नाश नहीं करती। इसी प्रकार जडत्व तथा दृश्यादि धर्म आत्मा और अनात्मा दोनोंमें रहते हैं, किन्तु वे आत्मा और अनात्माके स्वभावको अन्यथा नहीं करते। इसप्रकार-से माननेमें देहात्मवादी चार्वाकके मतका बाधक कोई भी तर्क नहीं है कि जिस बाध करनेवाले तर्कके भयसे जडत्व, दृश्यत्व आदि धर्म आत्मामें अंगीकार न किये जायँ।

तात्पर्य यह है कि जहाँ धूमरूप हेतुसे अग्निका अनुमान होता है, वहाँ धूमरूप हेतु कार्यरूप है और अग्नि धूमका कारण है। यदि अग्नि बिना धूमकी स्थिति मानी जाय तो धूम और अग्निका कार्य-कारण-भाव ही न रहे। इसप्रकारका तर्क इसमें बाध करनेवाला है। और प्रसङ्गमें अनात्मता सिद्ध किये बिना जडत्वादि धर्म माने जायँ तो उसमें बाध नहीं है क्योंकि यदि जडत्व-धर्म अनात्म-धर्मका कारण हो तब तो अनात्म-धर्म सिद्ध किये बिना जडत्व आदि धर्म न रहें, परन्तु जडत्व-धर्म अनात्मताके कारण नहीं हैं। इसलिये जडत्व-धर्म बिना भी अनात्मता रह सकती है अतएव आत्मामें जडत्वादि-धर्म माननेमें देहात्मवादीको किसी प्रकारकी रोक नहीं है। आत्मा तो सर्वत्र चैतन्य-रूपसे अनुभवमें आता है इसलिये जड देहको आत्मा मानें तो इसमें विरोध क्यों न आवे? इस शङ्काका समाधान चार्वाक इसप्रकार करता है कि आत्माके चैतन्यरूप अनुभव करनेमें नेत्रादि बाह्य इन्द्रियाँ साधनरूप हैं अथवा मन साधनरूप है? यदि नेत्रादि बाह्य इन्द्रियाँ अन्दरके आत्माका विषय करती हों तो वे बाह्य ही न कहलावें इसलिये नेत्रादि आत्माके अनुभवमें साधन नहीं हैं, आत्मा-

को मन चैतन्यरूपसे ग्रहण करता है, यह मानना भी युक्त नहीं है क्योंकि आत्माका जडत्व आदि धर्मोंसे विरोध है इसलिये मन आत्माको चैतन्यरूपसे ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु 'मैं हूँ' ऐसी आत्माकी सत्तामात्रको ही मन ग्रहण करता है इसलिये आत्मामें जडत्व आदि धर्मोंका निवारण नहीं हो सकता।

इन्द्र–हे भगवन्! यद्यपि 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान चैतन्यरूपसे आत्माको विषय नहीं करता तो भी 'मैं जानता हूँ' ऐसा ज्ञान आत्माका चैतन्यरूपसे अनुभव क्यों नहीं करता?

दध्यङ–हे इन्द्र! जैसे ताम्बूल चबानेसे पुरुषके मुखमें लाली उत्पन्न होती है इसी प्रकार मनके योगसे आत्मामें उत्पन्न होनेवाले चैतन्यपनेको 'मैं जानता हूँ' ऐसा अनुभव विषय करता है; शुद्ध आत्माकी चैतन्यताका अनुभव विषय नहीं करता इसलिये आत्माके जडत्व आदि धर्मके विरोधी चैतन्यको कोई प्रत्यक्ष-प्रमाण विषय नहीं करता। जब आत्माके चैतन्यपनेमें प्रत्यक्ष-प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं है तो नित्य तथा परोक्ष ऐसे आत्माके धर्ममें प्रत्यक्ष-प्रमाणकी प्रवृत्ति किसप्रकार हो? प्रत्यक्ष प्रमाणका अभाव होनेसे आत्माके निर्णयमें अनुमान-की भी प्रवृत्ति नहीं होती। श्रुति-प्रमाण ही प्रत्यक्षरूपसे मानना पड़ता है। श्रुति कहती है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, आनन्दो ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त तथा आनन्दस्वरूप है। इसप्रकारके श्रुतिके मूल-प्रमाणको माननेसे विधि-मुखमें अनुमान सहायता करता है परन्तु जिस श्रुति-प्रमाणमें अनुमान विधि-मुख-उपदेशका सहायक है, वह श्रुति-वाक्य भी निषेध-मुखसे प्रथम उसका बोध कराता है क्योंकि सत्यादि पदोंकी शक्ति-वृत्तिसे शुद्ध ब्रह्ममें प्रवृत्ति किसी विद्वान्ने नहीं मानी है किन्तु भागत्याग-लक्षणासे सत्यादि शब्द ब्रह्मको बतलाते हैं। सत्य शब्द असत्यकी व्यावृत्ति करके ब्रह्मको जताता है, ज्ञान-शब्द अज्ञानकी व्यावृत्ति करके ब्रह्मका बोधन करता है, अनन्त शब्द देश, काल तथा वस्तुके परिच्छेदद्वारा ब्रह्मका लक्ष्य कराता है और आनन्द-शब्द दुःखकी व्यावृत्ति करके ब्रह्मको बताता है। इसप्रकार सर्वसत्यादि शब्द असत्यादि धर्मके निषेधद्वारा शुद्ध ब्रह्मको समझाते हैं इसलिये सब श्रुति-वाक्य निषेध-मुख-उपदेशसे ब्रह्मका बोधन करते हैं। श्रुति-वाक्य निषेध-मुखसे ब्रह्मको क्यों जतलाते हैं? इस शङ्काके समाधानमें कहा है कि अद्वितीय ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत-भेदसे रहित अपनी महिमामें स्थित है। ऐसे निर्गुण ब्रह्मको यदि किसी गुणविशिष्टरूपसे बताया जायगा तो श्रुति-वाक्यमें अप्रमाणता-दोषकी प्राप्ति होगी। जैसे सर्पत्व-धर्मसे रहित रज्जुको कोई सर्प नहीं मानता, इसी प्रकार सर्वधर्मसे रहित निर्गुण ब्रह्मको गुणवाला जतानेवाला विधि-वाक्य अप्रमाण-रूप है। अप्रमाणताका दोष निवारण करनेके लिये सर्वसत्यादि वाक्य निर्गुण ब्रह्मका निषेध-मुखसे बोध कराते हैं। लोकप्रसिद्ध वस्तुको ही शास्त्र जनावे, ऐसा नियम सर्वत्र नहीं है। जैसे यूप-शब्दका अर्थ लोकमें प्रसिद्ध नहीं है तो भी 'यूपं तक्षति' ऐसे वेद-वचनमें यूप-शब्द संस्कारविशिष्ट काष्ठविशेष यूप-शब्दका अर्थ प्रतीत होता है, इसी प्रकार लोकमें अद्वितीय ब्रह्म प्रसिद्ध नहीं है तो भी 'सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वेद-वचनोंपर विश्वास करनेसे बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मका साक्षात्कार करता है।

विधि तथा निषेध-मुखका वर्णन

आनन्दस्वरूप आत्माके बोध करानेको विधि तथा निषेध-मुख दो प्रकार वचनोंकी प्रवृत्ति है। जैसे 'मेरी गाय कहाँ है?' इसप्रकार पूछनेपर ग्वाला गायकी टोलीमेंसे गायका सींग पकड़कर बता देता है, इसप्रकार आत्मा बताया नहीं जाता। विधि-वाक्यसे आनन्दस्वरूप आत्माको कोई जान नहीं सकता, क्योंकि आत्मा मन तथा वाणीका अविषय है, इस-

लिये 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि विधि-वाक्य भी असत्यादिकी व्यावृत्तिद्वारा शुद्ध आत्मामें प्रवृत्त होते हैं। भ्रान्त पुरुषके लक्ष्यरूप माने हुए अनेक पदार्थोंके निषेधद्वारा जो वाक्य सच्चे लक्ष्य-पदार्थका बोधन करे, वह निषेध-मुख-वाक्य कहलाता है। जैसे कि रथ-अश्वादिसे युक्त राजाको न पहचानकर कोई मूढ़ बालक पूछे कि इनमें राजा कौन है तो उसका पिता इसप्रकार कहता है—हे पुत्र ! यह वृक्ष जो तू देखता है वह राजा नहीं है, यह अश्व भी राजा नहीं है, यह हाथी, रथ, पैदल आयुध धारण करनेवाले पुरुष, छत्र-चामर धारण करनेवाले पुरुष, काले, पीले, रक्त, विचित्र वस्त्र पहननेवाले और धनुष धारण करनेवाले पुरुष भी राजा नहीं हैं इत्यादि वचनोंसे पिता राजासे भिन्न सर्वपदार्थोंका निषेध करता है और कहता है कि इन सब निषेध किये हुए पदार्थोंसे परिशेष रहे हुए विलक्षण रूपवाले पुरुषको तू राजा जान। इसी प्रकार निषेध-मुख-वाक्य आत्माके सिवा अन्य सब स्थूल पदार्थोंका निषेध करते हैं और सूक्ष्म प्रपञ्चका निषेध करते हैं। निषेध करनेके बाद अधिकारी पुरुष सर्वप्रपञ्चसे विलक्षणरूप आत्माको जानता है। यह निषेध-मुख-उपदेश ही आत्माका बोध करानेमें श्रेष्ठ उपाय है। यदि निषेध-मुख-उपदेश न अङ्गीकार किया जाय तो भाव तथा अभावसे रहित निर्गुण परमात्माका बोध नहीं हो सकता। निषेध-मुख-उपदेशके सिवा निर्गुण परमात्माका बोध करानेमें कोई भी वाक्य समथ नहीं है। महावाक्यका लक्ष्यरूप अद्वितीय आत्मा मन, वाणीका विषय नहीं है। जाति, गुण तथा क्रियादिसे रहित है, शब्दकी प्रवृत्ति उसमें नहीं होती। इस कारण श्रुति-वाक्य भी आत्माका साक्षात् उपदेश नहीं कर सकते। ऐसे अद्वितीय आत्माको कौन पुरुष मनसे विषय कर सकता है ? कोई भी पुरुष मनसे आत्माको जाननेमें समर्थ नहीं है। जब निषेध-मुख अद्वितीय आत्माका बोध करानेके लिये स्थूल, सूक्ष्म सर्वप्रपञ्चका निषेध करते हैं तब आनन्दस्वरूप आत्मा अपने-आप ही अधिकारीके हृदयमें प्रकाशता है। जैसे दीपक आँखोंसे दीखनेवाले अन्धकारका ही नाश करता है और अन्धकार नाश होनेके बाद नेत्रवाला पुरुष स्वयं घटादि पदार्थोंको देखता है, इसी प्रकार भावाभावरूप स्थूल-सूक्ष्मरूप तथा कार्य-कारणरूप यह जगत् आत्मा नहीं है। इसप्रकारके निषेध-वाक्यसे अधिकारी स्वयं ही आत्माका साक्षात्कार करता है अद्वितीय आत्माके बोधके लिये निषेध-मुख ही श्रेष्ठ है क्योंकि जैसे विधि-मुख-उपदेशमें तत्त्वं-पदार्थोंके शोधनके लिये अनुमानकी आवश्यकता है, इसप्रकार निषेध-मुख-उपदेशमें किसी अनुमानकी आवश्यकता नहीं है।

इन्द्र—हे भगवन् ! 'नेति-नेति' यह श्रुति मूर्त और अमूर्त प्रपञ्चका निषेध करती है, किन्तु प्रपञ्चसे भिन्न जड पदार्थोंका निषेध नहीं करती, इसलिये जड पदार्थ और आत्माका तादात्म्याध्यास होनेसे अधिकारीको शुद्ध आत्माका भान किसप्रकार होगा?

दध्यङ—हे इन्द्र ! कारण-अज्ञानवाला मूर्त तथा अमूर्त प्रपञ्च जड है, इसके सिवा अन्य कोई पदार्थ जड प्रपञ्च नहीं है इसलिये उस जड प्रपञ्चका निषेध करनेसे आत्मसाक्षात्कार होता है। इसी लिये 'नेति-नेति' यह श्रुति अद्वितीय आत्माके सिवा सब जड पदार्थोंका निषेध करती है। प्रथम नकारसे कार्य-कारणरूप स्थूल-सूक्ष्म सर्व-भाव-प्रपञ्चका निषेध होता है और दूसरे नकारसे भाव-प्रपञ्चके अभावका निषेध होता है। जब भावाभावरूप जड प्रपञ्च आनन्दस्वरूप आत्मासे भिन्न हो जाता है तब स्वप्रकाश बच रहता है। जैसे अग्निके विशेष भावका कारण काष्ठ जब अग्निसे जल जाता है तब काष्ठरहित अग्नि विशेषरूपको त्यागकर अपने सामान्य स्वरूपमें स्थित हो जाता है, इसी प्रकार जब आत्माके विशेषरूप कारण-

भाव और अभावरूप जड प्रपञ्चका नाश हो जाता है तब आनन्दस्वरूप आत्मा उपाधिकृत विशेषरूपको त्यागकर अपने सामान्य सच्चिदानन्द स्वरूपमें स्थित होता है। 'यह मैं', 'यह तू', 'यह दृश्य प्रपञ्च', 'यह जीव' यह सब भेद जो मूर्त-अमूर्त उपाधिके भेदसे हैं, वह आनन्दस्वरूप आत्मामें नहीं बनते। जैसे भेदसे रहित आकाशमें धूम, विद्युत्, तथा मेघ नाना प्रकारके भेद उत्पन्न करते हैं, इसी प्रकार भेदरहित आत्मामें स्थूल-सूक्ष्म शरीर नाना प्रकारके भेद उत्पन्न करते हैं। आकाशमें भेद दिखलानेवाले कारण मेघादि हैं परन्तु भेदका उपादान-कारण आकाश नहीं है, परन्तु आत्मामें भेद दिखलानेवाले स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्चका कारण आत्मा ही है।

इन्द्र–हे भगवन् ! असङ्ग आत्मामें जगत्का कारणत्व सम्भव नहीं है।

दध्यङ–हे इन्द्र ! असङ्ग आत्मामें जगत्की कारणता सम्भव नहीं है, यह बात सत्य है। असङ्ग आत्मामें जगत्की कारणता हम नहीं मानते किन्तु मायाविशिष्ट परमात्मामें जगत्की कारणता मानते हैं इसलिये स्थूल-सूक्ष्मरूप सर्वप्रपञ्च परमेश्वरकी मायासे कल्पित है और कल्पित होनेसे मिथ्या है।

इन्द्र–हे भगवन् ! मायासे सब जगत्की रचना है, माया तो मायाकी रची हुई है नहीं, इसलिये माया सत्य होनी चाहिये। यदि एक माया दूसरी मायासे रची हुई हो तो दूसरी तीसरीसे रची हुई हो, इसप्रकार अनवस्था-दोष आता है। वेदान्तमें मायाको अनादि माना है इसलिये मायामें मायाका कार्यपना सम्भव नहीं है।

दध्यङ–हे इन्द्र ! जो मायाका कार्य होता है, वह मिथ्या होता है। मिथ्या प्रपञ्चका जो लक्षण कहा है, वह लक्षण केवल कार्य-प्रपञ्चका नहीं है किन्तु यह मिथ्यारूप लक्षण कारणरूप मायाका भी है। कार्य-प्रपञ्चके समान माया भी मिथ्या है इसलिये अधिष्ठान-चैतन्यमें जो माया रहती है, वह भी मिथ्या है। मिथ्यापनेका लक्षण माया और मायाके कार्य दोनोंमें है क्योंकि जैसे स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च अधिष्ठान-चैतन्यमें रहता है इसप्रकार माया भी रहती है इसलिये दोनों मिथ्या हैं। जादूगरकी फैलायी हुई माया और मायासे उत्पन्न हुए पदार्थ जैसे मिथ्या हैं इसी प्रकार माया और मायासे रचा हुआ सर्व-प्रपञ्च मिथ्या है। जैसे मायावी जादूगरके रचे हुए स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ सब लोगोंको दीखते हैं, इसी प्रकार मायावी इन्द्रका रचा हुआ मायिक प्रपञ्च सब जीवोंको दीखता है।

इन्द्र तथा श्वानकी समानता

इन्द्र–हे भगवन् ! तीनों लोकोंमें मैं ही इन्द्ररूप हूँ, मेरे सिवा दूसरा कोई इन्द्र नहीं है।

दध्यङ–हे इन्द्र ! सर्वात्मरूपसे आत्माको जानने-वाले परमात्माने इन्द्र-शब्दसे तुमको स्थापित किया है परन्तु तुमको अपने सर्वात्मरूप आत्माका ज्ञान नहीं है, इसलिये तुम इन्द्र नहीं हो। और इन्द्र शब्दका अर्थ भी सर्वात्मज्ञानसे युक्त परमात्मामें ही घटता है, तुममें नहीं घटता क्योंकि जिस ऐश्वर्यके समान तथा जिससे अधिक ऐश्वर्य न हो, उस ऐश्वर्यको परम ऐश्वर्य कहते हैं। ऐसा परम ऐश्वर्य तुम्हारा नहीं है क्योंकि तुम्हारे ऐश्वर्यसे हजारगुणा ऐश्वर्य हिरण्यगर्भ भगवान्का है इसलिये सर्वात्म-भावसे युक्त परमात्मा ही इन्द्र है और वही सर्व-जगत्का कारण है। स्थूल-सूक्ष्म शरीरके साथ तादात्म्याध्यास होनेसे परमात्मारूप इन्द्रसे तुम उत्पन्न हुए हो, इसलिये तुममें इन्द्रत्व नहीं है।

इन्द्र–हे भगवन् ! यदि मैं इन्द्र नहीं हूँ तो सब लोग मुझे इन्द्र क्यों कहते हैं ?

दध्यङ–हे इन्द्र ! सब लोगोंके पास जो ऐश्वर्य है, उससे अधिक ऐश्वर्य तुम्हारे पास है, इसलिये सब लोग तुमको इन्द्र कहते हैं परन्तु सम्यक विचारने-

से तो ब्रह्मात्म-साक्षात्कारवाला ही इन्द्र कहलाता है। अज्ञानसे हुए देहाभिमानके समयमें तो तुम्हारा और कुत्तेका ऐश्वर्य समान है क्योंकि जैसे तुम्हारी आसक्ति नाना प्रकारके ऐश्वर्यमें, अपने देवताके शरीरमें तथा स्वर्गकी स्त्रियोंमें है इसी प्रकार कुत्तेकी भी अपने ऐश्वर्यवाले पदार्थोंमें आसक्ति होती है।

इन्द्र–हे भगवन्! जो पदार्थ सुन्दर होता है, उसको रमणीक समझनेसे आसक्ति होती है, असुन्दर पदार्थमें रमणीक-बुद्धि नहीं होती, इसलिये उसमें आसक्ति नहीं होती। मेरे पास सुन्दर पदार्थ हैं इसलिये उन पदार्थोंमें मेरी आसक्ति है। श्वानके पास सुन्दर पदार्थ नहीं हैं इसलिये श्वानको आसक्ति न होनी चाहिये।

दध्यङ–हे इन्द्र! 'मेरे पास सुन्दर पदार्थ हैं, श्वानके पास सुन्दर पदार्थ नहीं हैं' यह केवल तुम्हारा अभिमान है क्योंकि निरपेक्ष ऐश्वर्य आदि पदार्थ न तो तुम्हारे पास हैं और न श्वानके पास हैं। अस्मदादि जीवोंकी समझमें तुम महान् ऐश्वर्यवाले हो, इसी प्रकार कीट, पतङ्गादि क्षुद्र जन्तुओंकी समझसे श्वान भी महान् ऐश्वर्यवाला है। जैसे अस्मदादि जीवोंकी अपेक्षासे तुम्हारा शरीर कोमल है इसी प्रकार शूकरादिकी अपेक्षासे श्वानका शरीर भी कोमल है। जैसे तुम्हारे शरीरपर इन्द्राणी तथा अप्सराओंकी प्रीति है इसी प्रकार कुत्तेके शरीरमें कुतियोंकी प्रीति है, जैसे देवताओंको अमृत प्रिय लगता है इसी प्रकार श्वानको वमन किया हुआ अन्न प्रिय लगता है। जैसे अपने उपकार करनेवालेपर तुम प्रीति करते हो इसी प्रकार श्वान भी अपने स्वामीपर प्रीति करता है। जैसे अपने अपकार करनेवालेपर तुम क्रोध करते हो इसी प्रकार श्वान भी क्रोध करता है। 'मैं तीनों लोकोंका पालन करता हूँ इसलिये मैं तीनों लोकोंपर उपकार करता हूँ किन्तु श्वान किसीपर उपकार नहीं करता' ऐसा अभिमान करना तुमको युक्त नहीं है क्योंकि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत्, मेघ, आकाश, धर्म, सत्य वाक्य, मनुष्यत्वादि जाति, मन, बुद्धि, प्राणादिरूप हिरण्यगर्भ, विराट् भगवान्का शरीर, चिदाभास और सर्वस्थूल-सूक्ष्म पदार्थ सर्वप्राणियोंपर उपकार करते हैं। श्वानादि प्राणियोंके स्थूल-सूक्ष्म शरीर भी अदृष्टद्वारा पृथिवी आदि सर्वपदार्थोंपर उपकार करते हैं। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ जिस प्राणीके सुखका कारण होता है, वह पदार्थ उस प्राणीके पुण्यरूप अदृष्टसे उत्पन्न होता है और जो पदार्थ जिस प्राणीके दुःखका कारण होता है, वह पदार्थ उस प्राणीके पापरूप अदृष्टसे उत्पन्न होता है, ऐसा शास्त्रका नियम है। इसलिये श्वानादि सर्वप्राणी अपने पुण्य-पापरूप अदृष्टद्वारा पृथिवी आदिके कारण हैं अतएव वे सब प्राणी पृथिवी आदिपर उपकार करते हैं। इसी प्रकार पृथिवी आदि पदार्थ भी श्वानादि सर्वप्राणियोंको सुखादि देते हैं इसलिये पृथिवी आदि पदार्थ भी श्वानादि प्राणियोंपर उपकार करते हैं। अतएव सबपर उपकार करनेका धर्म तुममें और श्वानमें समान है इसलिये तुमको यह अभिमान कभी न करना चाहिये कि मैं सबपर उपकार करता हूँ। (क्रमशः)

श्यामसे

उतरी थी यह बूँद किसी दिन, बोध-धामसे! मिलन हुआ फिर नहीं, आजतक, उसी श्यामसे!!
माया धूल समेट, बूँद नीचेको ढरकी! बीता समय अनन्त, सुरति भी बिसरी घरकी!!
मुझे सजग कर, विकल कर विरह-सिन्धुमें डाल दो!
जा पहुँचूँ फिर आपमें ऐसी एक उछाल दो!!

नयनजी

ब्रह्मचर्यकी परमोपयोगिता और उत्तम सन्तति

(लेखक—चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)

स्त्रोंमें कहा गया है कि कलियुगमें ब्रह्मचर्य और गृहस्थ केवल दो ही आश्रम रहेंगे। पर आजकल इन दोनोंमें भी चतुर्वर्गके मूल कारण ब्रह्मचर्याश्रमका लोप-सा ही दीख रहा है। ब्रह्मचर्यका अर्थ सारी इन्द्रियोंका निग्रह करना है परन्तु सब इन्द्रियोंमें जननेन्द्रिय बहुत बलवान् है एवं इसके निग्रह न होनेसे सर्वनाशकी सम्भावना है, इसलिये ब्रह्मचर्यका प्रधान अर्थ जननेन्द्रियका निग्रह ही किया जाता है।

जननेन्द्रियका निग्रह केवल विद्यार्थियोंके लिये ही नहीं है, इसकी आवश्यकता बाल, युवा, वृद्ध आदि सभी आश्रमोंको है। गृहस्थाश्रममें भी इसकी विशेष जरूरत है। विद्यार्थी-अवस्थाको तो ब्रह्मचर्याश्रम केवल इसीलिये कहा जाता है कि इस प्रारम्भिक किशोरावस्थामें ब्रह्मचर्य पालन न होनेसे फिर इसकी प्राप्ति असम्भव है। इस अवस्थामें ब्रह्मचर्यका नाश हुआ तो मानो जीवनका ही सर्वनाश हो गया। क्योंकि फलयुक्त नवजात वृक्षोंमें मञ्जरी लगनेपर वह इसीलिये तोड़ दी जाती है कि छोटे वृक्षमें फल लगनेसे वह फल खराब होगा और वृक्ष भी बिल्कुल निकम्मा हो जायगा। अब सोचनेकी बात है कि जब ब्रह्मचर्यके अभावसे जड वृक्षकी ऐसी दुर्दशा होती है तो फिर चेतन मनुष्यकी क्या दशा होगी? पर दुःख है, यह सब देखकर भी आज ब्रह्मचर्यके महत्त्वकी और उसके नाशसे होनेवाली बहुत बड़ी हानियोंकी ओर लोगोंका कुछ भी खयाल नहीं है। बाल, युवा, वृद्ध सभी बेधड़क ब्रह्मचर्यका नाश कर रहे हैं। महाभारत अनुशासनपर्वमें कहा है—

'आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह।
न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप॥'
(७५।३५)

'हे राजन्! जो आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करता है उसे कुछ भी अप्राप्य नहीं है।'

छान्दोग्य उपनिषद्के अष्टम अनुवाकके १-५ में कहा है कि 'ब्रह्मचर्यसे यज्ञ, इष्ट, आत्माका लाभ और ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है।' धर्मशास्त्रका कथन है कि गृहस्थ केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये ऋतुकालमें वर्जित तिथि और पर्वदिनोंको छोड़कर स्त्री-सहवास करे तो उसका ब्रह्मचर्य नाश नहीं होता। वह ब्रह्मचारी ही बना रहता है।

ब्रह्मचर्य-पालनसे ही भीष्मपितामहको अपरमित पौरुष, अमोघ ज्ञान और इच्छा-मृत्यु प्राप्त हुई थी, श्रीलक्ष्मणजीने ब्रह्मचर्यके बलसे ही मेघनादका वध किया था। ब्रह्मचर्यके प्रभावसे ही श्रीशुकदेवजी पिता वेदव्यासजीसे भी उच्च समझे गये थे। कुमार-गण और नारदका ब्रह्मचर्यके कारण ही उच्च स्थान है। इस समय भी ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जिस गृहस्थने युवावस्थामें ब्रह्मचर्यके विरुद्ध चलकर भी पीछे सचेत होकर ब्रह्मचर्यका पालन किया वह सर्व प्रकारसे बड़ा प्रभावशाली होकर लोकनायक बन गया।

भारतवर्षकी वर्तमान अवनतिका प्रधान कारण भारतवासियोंका शरीर, मन, बुद्धि और शक्तिमें हीन होना है। अधिकांश भारतवासी आज रोगग्रस्त हैं। यदि किसीको बड़ा रोग नहीं है तो वह शरीरसे कमजोर है। किसीका शरीर बाहरसे कुछ ठीक भी है

तो उसके अन्दर मेधा और बुद्धि-बल नहीं है, और न कार्य करनेकी और सोचनेकी शक्ति ही है। इस-प्रकार आज जो अधिकांश भारतवासी जीते हुए ही मुर्देके तुल्य बने हुए हैं, इसका प्रधान कारण ब्रह्मचर्यका नाश है। यह अटल और निश्चित बात है कि ब्रह्मचर्य-पालनके बिना हजार चिल्लानेसे या दूसरे प्रकारकी उन्नतियोंसे समाजका यथार्थ अभ्युदय और कल्याण कभी सम्भव नहीं। अतएव बालक-बालिकाओंके ब्रह्मचर्य-रक्षाकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये एवं इसके लिये विद्यालयोंका भलीभाँति निरीक्षण करना चाहिये। सत्संगसे ब्रह्मचर्य-पालन और कुसङ्गसे ब्रह्मचर्यका नाश होता है। बालकोंको अच्छी सङ्गतिका विशेष ध्यान होना चाहिये।

सन्तान हृष्ट-पुष्ट और मेधावी कैसे हो ?

यदि हमलोग विवाह-संस्कारको कामाचार न समझकर परम यज्ञ और पवित्र संस्कार समझें एवं स्त्री-सहवासको भी पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये सुसन्तानकी उत्पत्तिका साधन समझकर परम यज्ञ मानें तो सुसन्तान अवश्य ही उत्पन्न हो सकती है।

स्त्री-सहवासको भोग-लिप्सा बनानेसे स्त्री-पुरुष दोनोंके स्वास्थ्य खराब होते हैं और आन्तरिक वृत्तियाँ कलुषित हो जाती हैं। ऐसे सहवाससे उत्पन्न सन्तान भी कलुषित भावोंवाली ही होती है। पर यज्ञ समझकर कर्तव्यरूपसे अनासक्त होकर स्त्री-सहवास करनेसे उत्तम, प्रभावशाली और तेजस्वी सन्तानका उत्पन्न होना सहज और अवश्यम्भावी है। खोजसे यह सिद्ध हो गया है कि दम्पतिके सहवास-समयके मानसिक भाव एवं गर्भाधानसे लेकर जन्मतकके मानसिक भावोंका अच्छा या बुरा प्रभाव गर्भस्थ सन्तानपर बहुत ज्यादा पड़ता है और वह आजन्म उसमें रहता है। अतएव यह पूर्ण निश्चित है कि यदि गर्भाधानसे प्रसवपर्यन्त दम्पति अपने चित्तमें कोई काम-वासना न आने दें, वैसी कोई क्रिया न करें एवं गर्भकालमें कभी सहवास न करें; दोनों स्त्री-पुरुष खासकर माता केवल उत्तम भावनाओंको ही मनमें स्थान दे, उत्तम कामोंमें लगी रहे, सत्सङ्ग और उत्तम बातें करे, उत्तम पुस्तकोंको पढ़े या सुने, साधु, सज्जन और धर्मवीरोंके चरित्रोंका पठन-पाठन एवं उन्हींकी आलोचना करे और सदा-सर्वदा श्रीभगवान्‌के गुण, यश, नाम और सामर्थ्यका स्मरण करे तो सन्तान अवश्य ही शरीरसे पुष्ट और बलिष्ठ होगी। उसे कभी कोई रोग नहीं होगा। वह निश्चय ही दीर्घायु होगी। वह मेधा, बुद्धि, विवेक, धर्म और नीतिके भाव आदि सद्गुणोंसे युक्त होगी। उसे विद्या, बुद्धि, बल, धर्म, भाव, ज्ञान, भक्ति आदिकी प्राप्तिमें कोई कठिनता नहीं पड़ेगी। वह अनायास ही बड़ी सुगमतासे इन्हें अवश्य प्राप्त करेगी। इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें लिखा है कि गर्भवती स्त्रीसे सहवास करनेवाला मातृ-सङ्गमके पापका भागी होता है यानी गर्भिणी स्त्रीको प्रसवके पूर्वतक मातृवत् समझना चाहिये। क्योंकि उस समय उसकी और गर्भस्थ सन्तानकी एकता है इसलिये उसके साथ सहवास करना मातृ-सङ्गमके समान है। इसका परिणाम बड़ा भयङ्कर होता है—क्योंकि उस समयकी माता-पिताकी काम-चेष्टाका प्रभाव गर्भस्थ सन्तानपर अङ्कित हो जाता है एवं इसके कारण वह सन्तान शक्तिहीन, कमजोर और अल्पायु ही नहीं होती, उसमें काम-वासनाका प्रबल बीज भी अङ्कुरित हो जाता है एवं माता-पिताके दोषसे उसे इसका दुष्परिणाम जन्मभर भोगना पड़ता है।

लेखकको ऐसे बहुत उदाहरण ज्ञात हैं कि जिनके माता-पिताके गर्भावस्थामें ब्रह्मचर्य पालन करनेसे जो सन्तान उत्पन्न हुई उसे कभी कोई रोग ही नहीं हुआ। वह बहुत पुष्ट, दीर्घायु और नीरोग हुई। विद्या-बुद्धिमें भी उसने सहजहीमें बहुत उन्नति की।

अतएव प्रार्थना है कि अन्य समयमें ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय तो बहुत ही उत्तम है, पर कम-से-कम गर्भावस्थामें तो गर्भिणीको माता समझकर इस नियमका पालन अवश्य ही करना चाहिये । आवश्यक तो यह भी है कि सन्तान जबतक माताका दूध पीती रहे तबतक ब्रह्मचर्यकी रक्षा की जाय, क्योंकि भावनाका प्रभाव माताके दूधपर पड़ता है और उस दूधका प्रभाव दूध पीनेवाली सन्तानपर असर करता है। पर इसके लिये सन्तानका दूध जल्दी नहीं रोकना चाहिये, क्योंकि सन्तानको माताका दूध जितने अधिक दिन मिलेगा, वह उतनी ही पुष्ट और नीरोग होगी ।
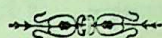
वाल्मीकि-रामायण और भगवच्छरणागति

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, भट्ट कविरत्न)

(गतांकसे आगे)

पहले पद्यमें—दैन्य, दृढ़ विश्वास, आत्म-समर्पण आदि कल्याण-गुण शरणागतिके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं । उनसे सम्पन्न, लङ्कानिवासरूप प्रतिकूल प्रपञ्चसे घबराये हुए दैवजीव विभीषण भक्तवत्सल भगवान्‌के भावी अनुग्रहकी प्रेरणासे लंकाको छोड़कर 'यत्र रामः तत्र आजगाम'—'जहाँ श्रीरामचन्द्र विराजते थे, वहाँ आये' यह कहकर शरणागतिकी भूमिका आरम्भ की गयी ।

आगे महर्षि कहते हैं—

'तं मेरुशिखराकारं दीप्तामिव शतह्रदाम् ।
गगनस्थं महीस्थास्ते ददृशुर्वानरोत्तमाः ॥'

'मेरुके शिखरकी तरह उन्नत, चमकती हुई बिजलीकी तरह कान्तियुक्त, आकाशमें स्थित उन विभीषणको भूमिमें स्थित उन वानरश्रेष्ठोंने देखा ।'

ऊँचे पूरे थे, हृष्ट-पुष्ट थे, त्रैलोक्यविभवाधिष्ठाता लंकेश्वरके भाई, भरी लंकाको छोड़कर आ रहे थे इसलिये रत्नाभूषणादियुक्त भी थे, इन कारणोंसे तो 'मेरुशिखराकारम्' सुमेरुके शिखरसदृश कहना ठीक ही है, किन्तु सुवर्णमय सुमेरुके शिखर-सदृश कहनेसे यह भी ध्वनित होता है कि तपाया हुआ सोना ठण्डे पानीमें बुझाया जाकर जिस तरह शीतलता प्राप्त करता है, वनाग्निसे तपा हुआ मेरुशिखर तापसे गलकर जिस तरह शीतल ह्रद (झील) में गिरना चाहता हो, इसी तरह सन्तप्त विभीषण शान्तिकी लालसासे इस तरफ आ रहे थे, अतएव महर्षिने कहा 'तं मेरुशिखराकारम् ।'

'मेरु' पदसे यह भी सूचित होता है कि विभीषण अबतक भगवान् श्रीरामचन्द्रके प्रतिपक्षसमूहमें थे, अतएव बालिवधादिसे प्रकट-पराक्रम भगवान् श्रीरामचन्द्रके सम्मुख स्थिरताकी आशा ही क्या थी ? कौन-सा भगवद्विरोधी स्थिर रह पाया है ? किन्तु अब 'यत्र रामस्तत्राजगाम' अर्थात् भगवान्‌के अभिमुख हुए हैं, इसलिये अब विभीषणको सब प्रकार स्थिरता मिल गयी । अस्थिरताकी कोई शङ्का न रही । पातालतक जड़ जम गयी । अतएव स्थिरतासे गगनमें स्थित हैं । इस बातको सूचित करते हुए महर्षि कहते हैं—'मेरुशिखराकारम्' । मेरुशिखरकी उपमासे यह भी ध्वनित करते हैं कि मेरुशिखर जिस-प्रकार अचलतया कुछ करनेमें समर्थ नहीं, वैसे मैं भी यहाँ आ तो गया हूँ, पर मेरे पास कौन-सा ऐसा

साधन है जिससे आपकी मुझे किंकरता मिल जाय। मैं तो यहाँ आकर अचल स्थित हूँ। अब आपकी वत्सलता–दयालुताका ही भरोसा है। विभीषणके इस मनोभावको सूचित करते हुए कहते हैं— 'मेरुशिखराकारम्'

मेरुशृंगाकार विभीषण श्रीरामके पास आये, इससे रावणकी तरफ शृंग-भङ्ग और श्रीरामकी तरफ शृंग-लाभ भी सूचित किया गया है।

इस प्रथम उपमासे विभीषणकी कान्ति सूचित हो चुकी थी, फिर भी दूसरी उपमा दी है 'दीप्तामिव शतह्रदाम्' 'चमकती हुई बिजलीके सदृश।' इससे यह तो सूचित होता ही है कि प्रतिकूल संसर्गसे व्याकुल हुए विभीषण श्रीरामकी शरणमें आनेके लिये आकाशमें इतनी तेजीसे चले आ रहे थे कि उनके शरीरकी कान्तिसे आकाशमें एक श्वेत प्रकाशकी लीक-सी बँध गयी थी। अतएव उनके लिये दूसरी उपमा देनी पड़ी 'जैसे चमकती हुई बिजली।' विभीषणमें स्वाभाविक तेज और रत्नाभूषणादिकी कान्ति तो थी ही और फिर वह आकाशमें आ रहे थे, तब बिजलीसे बढ़कर कौन-सी सुन्दर उपमा होती? तेज चलना बिजलीसे बढ़कर हो भी किसका सकता है? किन्तु 'तम्' इस पुँल्लिङ्गके साथ 'दीप्तामिव शतह्रदाम्' यों स्त्रीलिङ्ग बिजलीकी उपमा देना शायद कुछ लोगोंको खटके। पुराने कवियोंके प्रयोग देकर समाधान भी कर दिया जा सकता है कि तेजीके कारण आकाशमें कान्तिकी लीक-सी बाँधकर आनेमें दूसरी उपमा ठीक बैठती ही नहीं, फिर किया क्या जाय? परन्तु बिजलीकी उपमासे ध्वनिका जो प्रयोजन महर्षि सूचित करते हैं, वह बड़ा अद्भुत और अनुपम है। बिजलीमें तड़पन (कम्पविशेष) और शीघ्रता दोनों साथ-साथ रहती हैं। यहाँ भी 'ददृशुर्वानरोत्तमाः' वन्दरोंने विभीषणको जैसे ही देखा वैसे ही उन्हें शङ्का हुई कि ये लोग रामभक्त हैं, मुझ अपरिचितको उनके पास कब जाने देंगे। हाय, यहाँ आकर भी शरणमें पहुँचनेका सौभाग्य न मिला। यों विरहोज्जृम्भित एक तड़पन हुई। तथा अब बहुत शीघ्र इसका कोई उपाय होना चाहिये, अन्यथा चैन कहाँ? यह त्वरा। यह दोनों बातें विभीषणमें थीं, उन्हींको ध्वनित करनेके लिये महर्षि उपमा देते हैं—'दीप्तामिव शतह्रदाम्'

'तं गगनस्थं' ददृशुः' 'आकाशमें स्थित उन्हें देखा।' वह वानरचमूपति इतने सावधान होकर शिबिर (कैम्प) रक्षाका कार्य कर रहे थे कि नीचे उतरकर आना तो कैसा, जिस समय चले आ रहे थे और दूर (आकाशमें ही) थे, उसी समय अत्यन्त दूरसे ही उन्हें देख लिया, इसी तात्पर्यसे कहा-'गगनस्थम्'

अस्तु, विभीषण और उनके वे चारों अनुचर अभी आकाशमें ही थे कि—

'तमात्मपञ्चमं दृष्ट्वा सुग्रीवो वानराधिपः।
वानरैः सह दुर्धर्षश्चिन्तयामास बुद्धिमान्॥'

महापराक्रमी और बुद्धिमान् वानरसेनापति सुग्रीव आत्मासे पाँचवें अर्थात् चार अनुचर और स्वयं पाँचवें उन विभीषणको देखकर वानरोंके साथ विचार करने लगे।

'दुर्धर्ष' पदका अर्थ है जो किसी प्रकार भी दबाया न जा सके। इस पदसे भी महर्षि विभीषणकी हृदयदशाका स्पर्श करते हैं। शरणागतवत्सल भगवान् श्रीरामचन्द्र आगे स्वयं आज्ञा करते हैं कि 'जो शरण आनेकी बुद्धिसे एक बार भी मेरी ओर आ जाता है उसे मैं अभय दे देता हूँ यह मेरा व्रत है।' इस उद्धारदीक्षाका मैंने गण्डा बँधवाया है। अतएव भगवान् श्रीरामचन्द्रके पास तो रोक होनेका डर नहीं था, किन्तु सुग्रीवने तो अभयदानदीक्षाका कंकण नहीं बँधवाया है। वह तो सेनापति हैं। अपना हो चाहे पराया। वह अपनी सेनाध्यक्षताकी ड्यूटीपर अविचल

हैं। उन्हें डराकर दबा लेना तो दूर रहा, कोई रो-गाकर भी पिघला नहीं सकता। वह किसी भी लोभ-से दबनेवाले नहीं। अतएव शरणागतिके इस पुण्यमय पर्वपर आये हुए शरणाकांक्षीका भी अगर पीछा पैर हटानेवाला कोई है तो वह है सुग्रीव। क्योंकि उनके पास कोई दया-माया नहीं चलती। विभीषणके इसी करुणभावको सूचित करनेके लिये कहा—'दुर्धर्षः।'

कहते हैं, 'सुग्रीव' पद भी विशेष अभिप्रायको सूचित करनेके कारण बड़े सुन्दर अवसरपर आया है। साहित्यवाले तो 'परिकर' का 'अङ्कुर' खोज निकालें या 'निरुक्ति' का अलङ्कार जड़ दें। गगन-स्थित विभीषणको देखनेके लिये शीघ्रतासे मस्तकको ऊँचा करके रामपरिचर्यामें सावधान, हितानुप्राणित वह जिस उत्सुकतासे देख रहे थे, उस दर्शन-व्यतिकरमें उनकी ग्रीवा बड़ी सुन्दर भङ्गीसे उठी हुई थी इसी-लिये कहते हैं 'सुग्रीवः'।

इसका दूसरा विशेषण है 'वानराधिपः'। इसकी भी कुछ दूरसे 'ध्वनि' आ रही है। सुनिये—सेनाधिप। 'सेना' लड़ने-मारनेका साधन होनेके कारण सतर्कताका स्थान है। उसीका चाहे 'अधिप' क्यों न हो, पर है वह एक 'अधिप' ही। अतएव 'अफसर' होनेकी हैसियतसे उसके सब काम अधिका-रोचित गाम्भीर्यसे ही होने चाहिये। परन्तु सुग्रीव हैं 'वानराधिप'। जातिका गुण कहाँ जा सकता है? अतएव बड़ी जल्दीसे उछलकर ऊपर देखने लगे। इसीसे कहा—'वानराधिपः'।

'अधिप' पदसे भी सूचित किया कि वानरसेना श्रीरामकी अत्यन्त प्रीतिपात्र है। महर्षिने इसके विषयमें कहा है—'राघवार्थे पराक्रान्ताः' वानर भगवान् श्रीरामके लिये जी-जानसे लड़े हैं, इसलिये भगवान् भी उन्हें अत्यन्त प्रणयभाजन मानते हैं। किन्तु यह उनके भी 'अधिप' हैं। अतएव यह भगवान्‌के और भी अधिक प्रीतिपात्र हैं। इसीलिये श्रीरामके हितानुचिन्तनमें अतिसावधान होकर देख-भाल कर रहे हैं। अथवा—जो सेना भगवान् श्रीरामकी रक्षारूप परिचर्या करनेसे श्रीरामकी दृष्टिमें पूर्ण गौरव पा चुकी है उस सेनाकी भी अच्छी तरह रक्षा करनेवाले 'अधिकं पातीति' यही हैं। अतएव उस गौरवका सब श्रेय सुग्रीवको ही है। इसलिये अपनी बड़ी भारी जिम्मेवारी समझनेके कारण वह अति सतर्कतासे देख रहे थे इसीलिये कहा-'वानराणाम् अधिपः।'

'बुद्धिमान्'। सेनामें रात-दिन मार-काटके संसर्गसे वह केवल वीरताश्रय ही हों, सो नहीं, बुद्धिमान् भी थे। विभीषणका निर्भयतासे आगमन देखा, मुखपर भी एक उल्लास दिखायी दे रहा था जो प्रतिपक्षीमें नहीं हुआ करता। इन लक्षणोंसे वह जान तो गये थे कि यह निर्दोष हैं, किन्तु श्रीरामविषयक हितचिन्ताके कारण उन्होंने अपने अधीनस्थ वानरोंके साथ इसपर फिर भी विचार कर लेना उचित समझा। इसीसे उनकी प्रशस्त बुद्धिको सूचित करते हुए महर्षिने कहा—'बुद्धिमान्'

अस्तु। श्रीहनूमत्प्रमुख वानरोंसे यह बोले—

'एष सर्वायुधोपेतः कश्चिद्राक्षसः अस्मान् हन्तुम-भ्येति, पश्यध्वम्।'

सम्पूर्ण शस्त्रोंको लिये हुए यह कोई राक्षस हम लोगोंको मारनेके लिये सामने आ रहा है, देखो। यहाँ 'सर्वायुधोपेतः' पर पण्डितोंमें आयुध चल गये! विभीषण सन्तप्त होकर शरण लेने आ रहे थे या श्रीरामसे दो-दो हाथ करने, जो सब हथियारोंसे सज-धज कर आये। स्वयं महर्षि भी पहले कह चुके हैं—'उत्पपात गदापाणिः' विभीषण गदा हाथमें लिये ही 'उत्पपात' आकाशमें उड़े। 'गदापाणिः' के स्वारस्यपर भी दृष्टि दीजिये। 'गदाम् आदाय' (गदा लेकर) कहनेसे

इरादा रखकर गदा लेना प्रतीत होता है, किन्तु 'गदापाणिः' में बात ही और है। उन दिनों लङ्कामें रणचण्डीकी प्रचण्ड भेरी बज उठी थी। सभी राजकीय पुरुष शस्त्र लेकर ही इधर-उधर आना-जाना कर रहे थे। विभीषण लंकेश्वरके अनुज थे। वह स्वयं इस फौजी आर्डरको कैसे न मानते? विशेषतः, वह स्वयं लङ्काधिपतिसे मिलने, उन्हें समझाने राजभवनमें जब जा रहे थे तब भला कुछ भी शस्त्र न रखते, यह कहाँ-तक ठीक था? अतएव इच्छा न होनेपर भी बल-गाम्भीर्यसूचक एक गदामात्र हाथमें लिये रावणके पास गये थे। समझानेके समय जब रावणकी समझका ही टोटा देखा, तब वहाँ ठहरना ठीक न समझा। उन्हें श्रीरामकी शरणमें जानेकी लौ तो पहलेसे ही लग रही थी, मनमें उनके चरणदर्शनकी उत्कण्ठा बढ़ ही रही थी, अतएव अन्यमनस्कताके कारण संरम्भवश उसी हालतमें विभीषण आकाशमें उड़ चले। इसीलिये महर्षिने कहा था 'गदापाणिः'। परन्तु यह यहाँ 'सर्वायुधोपेतः' कैसे हो उठे? कोई तो इसपर कहते हैं कि सुग्रीवको रामहित-व्यग्रताके कारण लङ्काकी तरफसे जो भी आता था, वही महान् शङ्काजनक प्रतीत होता था। अनुकूल भी विभीषण उन्हें प्रतिकूल दीख पड़े। इसीलिये प्रेमान्ध होनेके कारण, एक शस्त्र क्या था, उन्हें तो वह सब शस्त्रोंसे भी बढ़कर दीखा। इसलिये कहा—'सर्वायुधोपेतः'।

दूसरे कहते हैं—'नहीं, जब इसने एक शस्त्र बड़े चातुर्य, और लेनेकी रीतिके अनुसार ले रक्खा है तब प्रतीत होता है जरूर यह युद्धनिपुण है। इसे सभी शस्त्र चलानेमें क्या बाधा पड़ेगी। अतएव इसे 'एकायुधयुक्त' न कहकर 'सर्वायुधोपेतः' कहना चाहिये।'

किन्तु आप और भी थोड़े अन्तःप्रविष्ट होइये। सुग्रीव श्रीरामचन्द्रके स्वभावको नहीं जानते थे, यह तो था ही नहीं। वह श्रीरामकी दया, भक्तवात्सल्य आदिका पूर्ण अनुभव कर चुके थे। यों कहिये, वह स्वयं श्रीरामकी दयाके प्रत्यक्ष नमूने थे। जिस दिन उन्होंने श्रीहनुमान्की सलाहसे श्रीरामकी शरण ग्रहण की, उसी दिन बल्कि उसी समय श्रीरामने उन्हें केवल विश्वास ही नहीं दिया, मैत्रीग्रहणपूर्वक किष्किन्धाराज्यका वचन दिया और शीघ्र ही किष्किन्धाधिपति बना भी दिया। ऐसी दशामें क्या वह श्रीरामके हृदयको नहीं जान पाये होंगे? वह जानते थे कि श्रीरामके पास कैसा भी दोषी-अहित-प्रतिकूल चला आवे, वह उसे दुःख-व्यग्र देखकर अवश्य दया करेंगे। अतएव जब यह निर्भय चला आ रहा है तब अवश्य ही शरणार्थी है। फिर इसके हाथमें तो श्रीरामको वशीभूत करनेवाला 'शरणागति' ही एक ऐसा ब्रह्मास्त्र है जिसमें सब आयुधोंसे बढ़कर शक्ति है। अतएव विभीषणके लिये उन्होंने कहा—'एष सर्वायुधोपेतः।'

'कश्चिद्राक्षसः' कोई राक्षस। राक्षसपदसे उसकी नैसर्गिक क्रूरता सूचित की है। 'बदला लेनेमें यह तो सर्प है' यहाँ 'सर्प' पदसे जिस तरह अन्योंसे बढ़कर क्रूरता सुझायी जाती है इसी भाँति 'राक्षस' पदसे अत्यन्त क्रूरता दिखायी गयी है। निर्दयता सूचित करनेके लिये जब दूसरोंको राक्षसकी उपमा दी जाती है तब यहाँ तो यह साक्षात् राक्षस ही आ रहा है। अतएव सावधान होनेका अवसर है यह सुग्रीवने कहा। यह सुनते ही, वे सब वानर तो थे ही, वृक्ष और पर्वतोंको हाथोंमें ले-लेकर कहने लगे—हमें हुक्म दीजिये, हम इन्हें अभी मार गिरायें। इनका दम ही कितना है? 'अल्पचेतनाः'

इस तरह 'अन्योऽन्यं सम्भाषमाणानां तेषाम्' आपसमें बातचीत करते रहनेपर भी विभीषण समुद्रके दूसरे तटपर पहुँचकर '*स्वस्थ एव व्यातिष्ठत*' स्वस्थ ही,

निःशंकचित्त ही अवस्थित रहे । यहाँ 'तेषां सम्भाषमाणानाम्' में वैयाकरण लोग कारकके 'षष्ठी चानादरे' सूत्रकी चादर हटाकर देख लें, यह अनादर अर्थमें षष्ठी है । अर्थात् 'यह बन्दर हैं जो चाहें सो कहते रहें, परन्तु सर्वज्ञ परमदयालु सर्वलोकैकशरण्य श्रीरामचन्द्र अवश्य मेरी रक्षा करेंगे । यह उन्हें दृढ़ विश्वास था । इसलिये छोटे-मोटेपर तो शायद दृष्टि न भी पड़े परन्तु पहाड़पर तो सबकी दृष्टि पड़ती ही है, किन्तु यहाँ पहाड़ हाथमें लिये इन दूसरे पहाड़ बन्दरोंपर भी अनादरके कारण दृष्टि न डालते हुए विभीषण दूसरे तटपर उनके सामने आ ही पहुँचे । वे तो मार-काटके लिये तैयार थे, किन्तु यह 'स्वस्थः' निर्विकार स्वस्थचित्त थे । इनको कोई भय-संशय न था । यहाँ 'स्वस्थः' की जगह 'खस्थः' ऐसा भी पाठ है । उन बन्दरोंकी उपेक्षा करते हुए छिपना तो कैसा, निडर रहकर सबको अपना आना सूचित करनेके लिये आकाशमें ही खड़े रहे । यहाँ *'खस्थः व्यतिष्ठत'* यों 'स्था' धातुका दो बार कहना बहुतोंको अखरेगा । 'खे व्यतिष्ठत' 'आकाशमें खड़े रहें' यही पर्याप्त था, किन्तु यहाँ कुछ विशेष अभिप्राय है । 'खस्थः' के प्रथम 'स्था' धातुसे साधारण 'अवस्थान' खड़े रहना अर्थ हुआ । और दूसरी बार उसी 'स्था' धातुके कथनसे अवस्थान-विशेष अर्थात् निर्भयावस्थान सूचित हुआ । मारनेके लिये पहाड़ोंको लिये हुए कुछ क्रुद्ध उन बन्दरोंके इस तरह बोलते रहनेपर भी वह आकाशमें निर्भय-निष्कम्प खड़े रहे अर्थात् विचलन होनेसे उनका अवस्थान नहीं टूटा । इसीको सूचित करनेके लिये कहा— *'खस्थ एव व्यतिष्ठत'* (कुछ भी विचलित न होनेसे उनके अवस्थानमें अन्तर नहीं पड़ा ।)

विभीषण उत्तर-तीरपर पहुँचकर निर्भयतासे आकाशमें खड़े ही न रहे, महर्षि कहते हैं—'उवाच च, च' (और) बोले—

'उवाच च महाप्राज्ञः स्वरेण महता महान् ।
सुग्रीवं तांश्च सम्प्रेक्ष्य सर्वान्वानरपुङ्गवान् ॥'

'च' का पूर्वसे सम्बन्ध है । *'खस्थ एव व्यतिष्ठत उवाच च'* 'आकाशमें खड़े रहे और बोले ।' इसलिये पूर्वार्थसम्बद्ध इस पद्यका यह शब्दार्थ हुआ कि 'महा-बुद्धिमान् और गभीराशय विभीषण सुग्रीव और उन सब वानरश्रेष्ठोंको देखकर कुछ देरतक आकाशमें ही खड़े रहे और फिर ऊँचे स्वरसे बोले ।'

यहाँ 'च' कार पूर्व अर्थका सम्बन्ध दिखाता हुआ ही एक अपूर्व (अद्भुत) अर्थको भी सूचित करता है । उसपर कुछ ध्यान दीजिये—'उवाच च' 'और बोले भी ।' महर्षि सूचित करते हैं कि भगवान् श्रीरामचन्द्रकी आगे प्रतिज्ञा है कि—

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥'

जो एक बार भी मेरी तरफ आ जाता है, अर्थात् 'प्रपत्ति' स्वीकार कर लेता है, उसको मैं प्राणिमात्रसे अभय दे देता हूँ यह मेरा व्रत है, इस प्रतिज्ञाके अनुसार एक बार भगवान्के पास आ जाना ही स्वीकारके लिये, सर्वाभय-प्राप्तिके लिये, पर्याप्त है किन्तु यहाँ तो विभीषण शरणमें आये और 'उवाच च ।' बोले भी । बड़ा भारी एहसान हो गया । अहा हा ! भगवान् आज्ञा करते हैं कि मुझसे संकटमें पड़े हुए भक्तका दुःख देखा नहीं जाता । कोई मुझे कितना ही अटकावे परन्तु मुझसे रुका नहीं जाता । यह मेरा स्वभाव ही है, मैं क्या करूँ । जिस समय दुःखमें पड़ा हुआ दीन मेरा स्मरणमात्र कर लेता है, मैं स्वयं वहाँ जाता हूँ और उसको उसी समय दुःखसे छुड़ाता हूँ । देखिये—यहाँ 'प्रपत्ति' की रस्म भी पूरी नहीं

की जाती । यों कहिये भक्तकी तरफसे कोई चेष्टा ही नहीं होती । वह तो पड़ा-पड़ा स्मरणमात्र कर लेता है। जाड़ेके दिनोंमें हम पलंगपर लेटे हैं । उस कड़ाकेकी सर्दीमें भी प्यास तो लगती ही है । इच्छा हुई पानी पियें । पर उस समय उठा किससे जाय । चुप हो गये । फिर तकाजा हुआ । पानीकी बहुत जरूरत है । कोई दूसरा पिला जाय तो बड़ा अच्छा हो । चाहिये था हमें कि उठकर पानीके पास जाते और पी आते, परन्तु आलस्यने पैर तोड़ दिये । लालसा हुई हमारी आत्मतृप्ति भी दूसरा ही कर जाय । इसके लिये बड़े-से-बड़े बादशाहतकको अपनी आवश्यकता सूचन करनेके लिये मुखसे तो बोलना ही पड़ता है । अर्थात् हम नौकरको आवाज देते हैं—'थोड़ा पानी पिला जाना !' किन्तु हमको तो जुबान हिलाना भी परिश्रम माल्रम होता है । ऐसी अवस्थामें खूब प्यासकी हालतमें यदि नौकर बिना कहे ही आकर हमें पानी पिला जाय तो कैसा आनन्द आता है ? इसीके अनुसार भगवान्ने अपनी भक्तवत्सलतासे भक्तोंको इतना सिर चढ़ा दिया है, इतना अलस बना दिया है कि वे अपनी तरफसे कुछ भी चेष्टा नहीं करते । पड़े-पड़े यादमात्र कर लेते हैं । जैसे हम पलंगपर पड़े-पड़े जलका स्मरणमात्र कर लेते हैं । अब स्मरण-मात्र करते ही कोई वैज्ञानिक या चतुरचूडामणि भृत्य स्वयं ही आकर जैसे पानी पिला देता है, उसी तरह भगवान् भी स्मरणमात्र करते ही स्वयं वहाँ जाकर उनकी रक्षा करते हैं । क्योंकि—

'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम'

—सबको भयसे बचाना इसका भगवान्ने गण्डा बँधा रक्खा है ।

इसकी नजीर भी लीजिये—संकटमें पड़े गजेन्द्रने, जिस समय उसकी तिलमात्र सूँड़ बाहर थी, भगवान्का स्मरण किया । ध्यान रहे, यहाँ स्तोत्र-पाठादिसे अथवा 'वाचा' वाणीसे ही स्मरणका अवकाश न था। केवल हृदयमें ध्यान किया था । बस, भगवान् आतुर होकर, जल्दीके मारे गरुड़को भी ढकेलकर स्वयं पधारे और उसकी रक्षा की । इसलिये भगवान् आज्ञा करते हैं—'मैंने सैकड़ों बार देख लिया है कि मुझे ही ऐसे अवसरपर जाना पड़ता है ।' किन्तु यहाँ तो विभीषण स्वयं इतनी दूर चलकर आये । यह क्या थोड़ा एहसान है ? उनको बड़ा भारी कष्ट हुआ। आप आज्ञा करते हैं—'आगमनमपि भाराय' दुःख-पीड़ितका मेरे पास अपने पैरोंसे चलकर आना भी मेरे ऊपर बड़ा भार चढ़ा देता है । उसपर भी जले-पर नमक यह छिड़का जा रहा है कि यह आकर मुझसे प्रार्थना भी कर रहे हैं ! हद हो गयी ! मुझे रक्षा करनेके लिये स्वयं इतनी दूर जाना चाहिये था, उसपर तो यह स्वयं यहाँ आ गये । अब तो यहाँ आते ही मुझे स्वयं सँभाल लेना था परन्तु बोलना भी इन्हींको पड़ा ! यह तो स्पष्ट ही मेरे लिये 'क्षते क्षार-प्रयोगः' 'कटेपर खार छिड़कना है ।' बस, इसी भक्त-वत्सलताके कारण विभीषणका परम उपकार ध्वनित करते हुए महर्षि कहते हैं 'च उवाच' और बोले।

विभीषणके लिये एक विशेषण दिया है 'महाप्राज्ञः' 'महाबुद्धिमान् ।' क्योंकि विभीषणको यद्यपि दृढ़ विश्वास था कि मैं कैसी भी दशामें होऊँ, भगवान् मुझे अवश्य स्वीकार करेंगे तो भी भगवान्के अन्तरङ्ग सेवकोंकी सहायता लेना आवश्यक है । राजा चाहे जितना दयालु हो परन्तु चतुर लोग राजाके पास रहनेवाले अन्तरङ्ग लोगोंसे मिलकर ही राजासे परिचय बाँधते हैं, क्योंकि उंसमें फिर विघ्नकी शंका नहीं रहती । इसी प्रकार विभीषणने भी सोचा कि श्रीरामके जो पार्श्ववर्ती हैं उनके द्वारा ही मैं अपनी प्रार्थना पहुँचाऊँ, जिससे बाधाकी शंका ही न रहे।

मान लीजिये, भगवान् श्रीरामचन्द्रने स्वीकार कर भी लिया और सेवक अनुकूल न हुए तो कठिनता पड़ेगी । 'जलमें रहना और मगरमच्छसे वैर ।' इसलिये पहले अन्तरङ्गोंकी प्रार्थना करूँ, यही मेरा पुरुषार्थ है । इसी सोच-विचारमें वह क्षणभर आकाशमें खड़े रहे । सुग्रीव और सब बन्दरोंको पहले देखा । अर्थात् उन्होंने पहले राम-दरबारकी परिस्थितिको जान लेना उचित समझा । पासमें रहनेवाले कौन-कौन हैं, उन्हींको अनुकूल करके प्रार्थना पहुँचानी चाहिये । यह भी उनकी बुद्धिमत्ता ही है कि इतनी ही देरमें जान गये कि यह सेनापति हैं, श्रीरामके विश्वासी हैं और ये वानर इनके अधीन हैं । अतएव पहले 'सुग्रीवम्' गिनाया और फिर 'सर्वान् वानरपुङ्गवान्' से सबका 'साकल्य' कर दिया । अन्यथा 'सर्वान् वानरपुङ्गवान्' से बचकर वह कहाँ गये थे ?

यह भी वह हृदयमें जानते थे कि ये बन्दर लोग जो मेरेपर पहाड़ ढानेको तैयार हैं, कोई द्वेषके कारणसे नहीं । श्रीराममें इनकी एकान्त प्रीति है इसीके कारण ऐसा कर रहे हैं । अतएव यह इन लोगोंका गुण है, दोष नहीं । इन सब बातोंको थोड़ी देरके ठहरनेमें विभीषणने देख लिया और जान लिया था । अतएव महर्षिने यहाँ कहा—'सम्प्रेक्ष्य,' 'सम्' अच्छी तरह । केवल उन्हें ऊपरसे देखमात्र न लिया किन्तु भीतरी नजरसे जाँच लिया था, इसी बुद्धिमानीको सूचित करते हुए महर्षि कहते हैं—'महाप्राज्ञः ।'

आगे है 'महता स्वरेण ।' ऊँचे स्वरसे अर्थात् बड़े जोरसे बोले । कारण यह था कि जिन पार्श्ववर्तियों-को मैं अपने अनुकूल करना चाहता हूँ वह सब सुन लें । न जानें उनमेंसे मेरा कौन सहायक बन जाय और वह इस समय न जाने कहाँ बैठा हो ! अथवा यदि कोई पार्श्ववर्ती सहायताको तैयार न भी हों तो स्वयं भक्तवत्सल ही मेरा आर्त-स्वर सुन लें । फिर मुझे क्या करना है । बस, इसलिये वह वीरोचित ऊँचे स्वरसे बोले ।

यहाँ 'महाप्राज्ञः' यह विशेषण देकर भी महर्षि एक विशेषण विभीषणके लिये और देते हैं—'महान् ।' क्या 'महाप्राज्ञः' कम था ? 'महाप्राज्ञः' के आदिका आधा टुकड़ा ही तो 'महान्' है । फिर यह दुबारा 'महान्' क्यों ? सुनिये, महर्षि सूचित करते हैं—यह 'महाप्राज्ञः' ही क्या हैं, यह तो सब तरहके महत्त्वके भाजन हैं । 'महाबुद्धिमान्' से बुद्धिकृत महत्त्व ही प्रतीत होता है किन्तु महान् कहनेसे यावन्मात्र महत्त्व आ गया । जबसे विभीषणने श्रीरामको अच्छा मानकर यहाँ आनेकी हृदयमें धारणा की थी तभीसे वह बड़े बड़भागी थे, परन्तु आज यहाँ वह शरणमें आ गये और उसपर इस तरह ऊँचे स्वरसे अपना आर्त-निवेदन भगवान्को सुना रहे हैं, इनसे बढ़कर भला और कौन भाग्यवान् होगा ? जिनके अच्छे भाग होते हैं वही तो सब कुछ रहते भी उन्हें छोड़कर, अकिञ्चनता स्वीकार करके भगवान्की शरणमें आया करते हैं । आहा, क्या कहा है—

'आकिञ्चन्यैकशरणाः केचिद्भाग्याधिकाः पुनः ।
मामेव शरणं प्राप्य मामेवान्ते समश्नुते ॥'

निष्किञ्चनता ही जिनका एक अवलम्बन है, ऐसे होकर भी बड़े भाग्यवान्, 'केचित्' कोई असंख्योंमें एक, दुर्लभतम केवल मेरी ही शरण लेकर अन्तमें मुझहीको प्राप्त होते हैं । बस, शरणागतिके इसी गूढ़ तात्पर्यको सुझाते हुए महर्षि विभीषणको बधाई देते हैं 'महान् ।'

वह 'महान्' 'विभीषणः' 'किम् उवाच' क्या बोले, वह उनका वक्तव्य 'रावणो नाम दुर्वृत्तः' इत्यादि

बारहवें पद्यसे लेकर 'निवेदयत मां क्षिप्रम्' इत्यादि १७ वें पद्यतक ६ पद्योंमें बतलाया गया है। यह विभीषणका वक्तव्य ही शरणागतिका आरम्भ है। इसलिये विचारकी दृष्टिसे यह बड़ा महत्त्व रखता है। या यों कहिये कि जब कोई मुकदमा दायर होता है, तो उसमें पहले मुद्दईका जो बयान होता है उसीपर सारे मुकदमेका दारमदार रहता है। शरणागतिके भी जो छः अंग पहले कह आये हैं उनका भी इन छः पद्योंमें बीजरूपसे सूचन कर दिया गया है। बात यह है कि ऊपर कहे हुए 'आनुकूल्यस्य संकल्पः' आनुकूल्यका संकल्प इत्यादि शरणागतिके अंकुर जब किसी भाग्यवान्की उर्बरा हृदय-भूमिमें फूट आते हैं और वह प्रतिकूल संसर्गसे छूटकर साधु-समागमादि अनुकूल संसर्गके द्वारा भगवान्के अभिमुख आने लगता है तो उसके पहले ही उसका हृदय स्वच्छ (कपटादि दोषोंसे शून्य) हो चुका है यह मानना पड़ेगा। अन्यथा अशुद्ध क्षेत्रमें पूर्वोक्त बीज उगेंगे ही कैसे ? और जब उसका हृदय स्वच्छ हो चुका है तो शरणागतिके प्रारम्भिक बयानमें वह उसकी स्वच्छ-हृदयता अवश्य सूचित होनी चाहिये। इसीके अनुसार विभीषण अपने प्रारम्भिक वक्तव्यमें अपनी हृदय-शुद्धिको सूचित कर रहे हैं। उसका यह स्वरूप है कि अभियोक्ता (मुद्दई) अपने दोषोंको अपने मुखसे सत्य-सत्य कह दे। किसी मनुष्यसे कोई बड़ा अपराध बन गया और वह धार्मिक बुद्धिसे उसका प्रायश्चित्तादिद्वारा शोधन करना चाहता है तो धर्म-शास्त्रोंमें उसकी शुद्धिके लिये पहले अनुताप (मैंने यह अपराध क्यों किया यों हृदयसे पछताना) बताया है। फिर वह निरभिमान-भावसे अपने दोषका उद्घोषण करता हुआ प्रतीकारका प्रार्थी हो। इसीलिये प्रायश्चित्ती शोधन-व्यवस्था देनेवालोंमेंसे एक-एकके पास स्वयं जाता है और बड़ी नम्रतासे प्रार्थना करता है। अपना दोष सत्य-सत्य कहता है। यहाँ विभीषण भी अपने स्वरूपको छिपाते नहीं। अपना दोष स्वयं सत्य-सत्य कह रहे हैं। इसलिये गर्व-हानि होकर कार्पण्य (दीनता) प्रदर्शनरूप शरणागतिका अंग सूचित होता है। उसीको वक्तव्यके आरम्भमें कहते हैं—

'रावणो नाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वरः।
तस्याहमनुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः॥'

'दुष्ट आचरणवाला, जातिसे राक्षस और राक्षसोंका ही स्वामी, रावण नामका है। मैं विभीषण नामसे प्रसिद्ध उसका छोटा भाई हूँ।'

यहाँ 'रावणः' (रुलानेवाला) पदसे सब लोगोंको पीड़ा पहुँचाना, 'दुर्वृत्त' पदसे अकार्य करना, 'राक्षस' पदसे जातिगत क्रूरता, 'राक्षसेश्वर' पदसे नौकर-चाकर भी सब उसके क्रूर हैं यों दुष्टपरिकरता, रावणकी सूचित की गयी। 'रावण इस तरहका दुष्ट है' इस कथनसे यह सब दोष रावणमें सिद्ध होते हैं, होने दो। तुम्हें इससे क्या ? उसपर कहते हैं— 'तस्याहमनुजो भ्राता' मैं उसका 'छोटा' भाई हूँ। ऐसे घोर अपराधीके भाई होनेसे अपनेमें पूर्ण दोष सिद्ध हो गया। धर्मशास्त्रकी गद्दीपर बैठकर प्रायश्चित्त-की व्यवस्था देते समय 'सहया नासनाशनात्' एक यानमें चलना, एक स्थानमें बैठना, साथ भोजन, इत्यादिसे ही जब संसर्गप्रायश्चित्तका दण्ड देना आवश्यक हो पड़ता है तब यहाँ तो यह खास भाई ही हैं। भाई भी 'छोटा'! बड़ा भाई होता तो मुझे उसकी आज्ञामें चलनेकी क़ैद न रहती। देखिये— कुबेर रावणके भाई ही हैं परन्तु बड़े हैं, वह अलग रहते हैं, उनके दोषोंसे बचे हैं। किन्तु वह कहते हैं कि मैं छोटा हूँ। इच्छा अथवा अनिच्छासे उसके किये अपराधोंमें मुझे योग देना ही पड़ता है।

'उस दुर्वृत्तने जनस्थानसे जटायुको मारकर सीताको हरण किया। सीता इस समय बड़ी दीन-दशामें है। उसे कठिन स्थानमें रोक रखा है।' कदाचित् इससे भगवती सीताके चारित्र्यपर सन्देह हो जाय इसलिये वहीं आगे कह देते हैं कि 'राक्षसीभिः सुरक्षिता' अकेली नहीं, क्रूर राक्षसियाँ उसपर कड़ा पहरा दे रही हैं। यदि चारित्र्यपर कोई धब्बा आ जाता तो राक्षसियोंद्वारा उसपर इस तरह क्रूरता करवानेकी क्या आवश्यकता रहती ? अस्तु, आगे कहते हैं कि मैंने उसे उपपत्तियुक्त वाक्योंसे बार-बार समझाया कि सीताको श्रीरामके पास लौटा दो, किन्तु मरनेवाला जिस तरह औषध नहीं लेता उस तरह कालप्रेरित रावणने इस बातको स्वीकार नहीं किया। प्रत्युत उसने मुझको बहुत 'परुष' असहनीय कठोर बातें कहीं और 'दासवच्चापमानितः'। उच्छिष्ट-भोजी दासको जिस तरह ठुकराते हैं, मेरा अपमान किया। अपमान अपमानमें अन्तर है। बड़ा भाई अभिमानी छोटे भाईको दो कड़ी बात कहकर उस भाईकी दृष्टिमें अपमान कर सकता है परन्तु वह अपमान सीमाके भीतर है। भाईने भाईके भाईपनको स्मरणमें रखते हुए वह अपमान किया है, अतएव वह भाई सहन कर जाता है। किन्तु यदि जुठखोरे तुच्छ दासको जिस तरह सरेबाज़ार ठुकराते हैं, हम छोटे भाईको वैसे ठुकरायेंगे तो वह अपमान भाईकी दृष्टि रखते हुए न होनेके कारण असहनीय हो जायगा। इसी दुःखवेदनाको सूचित करते हुए वह कहते हैं, 'दासवच्चापमानितः।'

अब यहाँ दृष्टि दीजिये। इस अपमान होनेके कारण प्रतिकूल संसर्गपर वैराग्योत्पत्ति दिखायी है जो शरणागतिमें आवश्यक है। भक्ति-ग्रन्थोंमें कहा है कि जब भगवान्की किसीपर निर्हेतुक कृपा हो जाती है, तब वह उसपर कोई ऐसा घोर दुःखजनक अपमानादि डाल देते हैं जिससे वह दुनियाँके सब प्रयोजनोंसे विरक्त हो जाता है और उसकी निवृत्तिके लिये भगवान्के अभिमुख हो जाता है। यहाँ विभीषण भी भगवान्का अनुग्रह होनेके कारण इस दासवत् अपमानसे विरक्त हो उठते हैं। यहाँतक—शरणागतिके लिये आवश्यक जो वैराग्य है उसका निरूपण हुआ। अब इस दुःखकी निवृत्तिके लिये तुम क्या करना चाहते हो ? यज्ञ-याग, तन्त्र-मन्त्रसे उसे उड़ाना चाहते हो या और कुछ ? इसपर—'प्रयोजनान्तरसे विमुख होकर परम पुरुषार्थस्वरूप भगवान् श्रीरामकी ही शरण लेना मैं चाहता हूँ' यह आगे प्रकट करते हैं—

'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः ॥'

'स्त्री-पुत्रादिको छोड़कर श्रीरामकी शरण आया हूँ' श्रीरामकी शरण आये हो तो शायद जिन दुनियावी कामनाओंसे खिन्न हुए हो, उन मनोरथोंको पूर्ण करना चाहते होगे। तो कहते हैं—'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च' मैंने स्त्री-पुत्रादि सबको छोड़ दिया है। यहाँ 'पुत्रांश्च दारांश्च' यह उपलक्षणमात्र है। यावत् लङ्काकी विभूति छोड़ दी है यह उनका अभिप्राय है। क्योंकि विभीषणकी जो दूसरी प्रार्थना श्रीरामके सामने आगे चलकर होगी, उसमें उन्होंने साफ ही कहा है—

'परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च ॥'

'मैंने सम्पूर्ण लङ्का, मित्र और सब प्रकारकी विभूतियाँ छोड़ दी हैं।'

यह दरख्वास्त तो नायबोंके द्वारा हाकिमके पास पहुँचायी जा रही है, परन्तु जहाँ स्वयं विभीषणका बयान साक्षात् श्रीरामके दरबारमें होगा वहाँ उन्होंने अपना वक्तव्य खुलकर साफ़-साफ़ कहा है। अतएव यह उन्होंने स्पष्ट ही सूचित कर दिया है कि मुझे दुनियावी प्रयोजन नहीं, क्योंकि उनको तो मैं स्वयं

छोड़कर आया हूँ। अब तो—'राघवं शरणं गतः' परमपुरुषार्थ श्रीभगवान् रामचन्द्रका आश्रय लेना ही मेरा प्रधान प्रयोजन है।

हाकिमसे प्रयोजनकी अर्ज़ करनेवाले लोग दरवाज़े-पर तो कह जाते हैं कि—'नहीं हमें तो सिर्फ़ सलाम ही करना है' जिससे कि दरवान उन्हें न रोके किन्तु भीतर जाकर फिर अपने मतलबकी बात छेड़ बैठते हैं। इसी तरह शायद विभीषण भी पहले निःस्वार्थता दिखाते हैं फिर कोई प्रयोजन माँग बैठें, सो नहीं है। उन्होंने श्रीरामचन्द्रके सम्मुख भी, जिस समय श्रीराम उन्हें लङ्काका राज्य देने लगे, उसपर ध्यान ही नहीं दिया। उन्होंने तो यही कहा है कि 'राक्षसानां वधे लङ्कायाश्च प्रधर्षणे ते साह्यं करिष्यामि' 'मैं राक्षसों-के वधमें तथा लङ्काविजयमें आपके साथ-साथ रहकर परिचर्या करूँगा' इस तरह रामपरिचर्याको ही वह फलस्वरूप मानते हैं। इस बातसे विभीषणपर जो स्वार्थिताका दोष लगाया जाता है वह बिल्कुल निर्मूल हो जाता है। (क्रमशः)
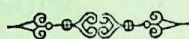
मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[गतांकसे आगे]

७६४—ब्रह्मभावनाके द्वारा तुम जितना ही वासनाको क्षीण बनाओगे, उतना ही निर्मन होते जाओगे। वासना जिस परिमाणमें क्षीण होगी मन भी उसी परिमाणमें क्षीण होता जायगा। मन केवल वासनाओंकी एक गठरी है।

७६५—भ्रमात्मक सांसारिक वासना जो सैकड़ों जीवन-के अभ्यासद्वारा निर्मित हुई है केवल चिरकालीन यौगिक क्रियाके द्वारा ही नष्ट हो सकती है। इसलिये साधक विवेकके द्वारा भोगकी कामनाको दूर हटा उपर्युक्त तीनों साधनाओंका आश्रय लेते हैं। ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि वासनामय मन बन्धनकी ओर ले जाता है, तथा वासना-हीन मन मोक्षरूप कहा जाता है। मनको वासनाहीन करनेका अभ्यास करो। विचार, ब्रह्मध्यान, वैराग्य और त्यागके द्वारा वासनाका नाश होता है।

७६६—वासनाके क्षय होनेपर स्नेहहीन दीपकके समान मन शान्ति प्राप्त करता है।

७६७—छः वर्ष बाद अपने प्रिय मित्रसे मिलनेपर जो आनन्द तुम्हें प्राप्त होता है वह उस मनुष्यसे नहीं मिलता बल्कि तुम्हारी अपनी अन्तरात्माकी ओरसे आता है। कुछ समयके लिये मन एकाग्र हो जाता है और तुम्हें अपनी अन्तरात्माकी ओरसे आनन्दकी प्राप्ति होने लगती है।

७६८—जब मनकी किरणें विभिन्न विषयोंपर बिखरी होती हैं तो तुम्हें कष्ट मिलता है, जब वही किरणें अभ्यासके द्वारा सञ्चित की जाती हैं तो मन एकाग्र हो जाता है और तुमको भीतरसे आनन्द मिलने लगता है।

७६९—सुखकी कामना मनमें जड़ जमाये हुए है, तुम्हें बहुत ही सावधान रहना होगा। मन सुखाभिलाषी, सुखान्वेषी तथा सुखावलम्बी है। तुम्हें उसके इस स्वभावको रोकना होगा।

७७०—जब मन बढ़ता है तो तुम्हारा मानसिक प्रवाह तथा समीप और दूरके मृत और जीवित पुरुषोंके मनके साथ चेतनात्मक सम्बन्ध होता है।

७७१—विचारोंके प्रत्येक परिवर्तनके साथ विचारद्रव्यमें (मानसिक) कम्पन होता है। शक्तिके समान विचार-को भी क्रियाशील होनेके लिये सूक्ष्म द्रव्यकी आवश्यकता होती है।

७७२—जिस प्रकार नमक पानीमें घुल-मिल जाता है उसी प्रकार सात्त्विक मन ध्यानावस्थामें अपने अधिष्ठान ब्रह्ममें घुल-मिल जाता है।

७७३-विचारमें प्रत्येक परिवर्तनके साथ मानसिक शरीरमें कम्पन उठता है और जब यह भौतिक शरीरको प्रेषित होता है तो तुम्हारे मस्तिष्कके स्नायु-तत्त्वोंमें क्रिया उत्पन्न करता है। स्नायु-कोषों (Nervous Cells) में इस क्रियाके द्वारा अनेकों वैद्युत और रासायनिक परिवर्तन होते हैं। विचार-क्रियाके द्वारा ही यह परिवर्तन होते हैं।

७७४-विभिन्न पुरुषोंमें मानसिक शरीर विभिन्न प्रकारके होते हैं। इसके साथ सम्बन्धित अधिक या कम विकसित चेतनाकी आवश्यकताके अनुसार यह सूक्ष्म या स्थूल तत्त्वोंसे निर्मित होता है। शिक्षित पुरुषमें यह सुस्पष्ट और क्रियात्मक होता है तथा संकुचित हृदयके पुरुषमें यह धुँधला और अस्पष्ट होता है।

७७५-क्रोधावेशमें मन पूर्णतः ईर्ष्या और द्वेषके काले रंगसे लबालब भरा होता है जिससे वह कालिमामय उद्घोष प्रकट होता है जिसके द्वारा क्रोधके अग्निवाण छूटने लगते हैं और उसको हानि पहुँचानेकी चेष्टा करते हैं जिसके ऊपर क्रोध उत्पन्न होता है।

७७६-दार्शनिक ग्रन्थोंका अध्ययन, सम्यक् चिन्तन, शुभ और भद्र भावोंका अभ्यास, प्रार्थनाएँ और दयाके प्रयत्न और सबसे बढ़कर नियमित और अनवरत ध्यानके द्वारा मानसिक उन्नति होती है। इनसे मनका शीघ्रातिशीघ्र विकास होता है।

७७७-समस्त दूषित विचार मनको गन्दा करते हैं और हानि पहुँचाते हैं और यदि उन्होंने घर किया तो नाना प्रकारकी व्याधियाँ उत्पन्न करेंगे जिससे मनकी वह दुर्गति होगी कि जिससे जीवनपर्यन्त छुटकारा न मिलेगा।

७७८-नवीन जन्म लेनेपर प्रत्येक व्यक्तिके लिये एक नवीन मानसिक शरीर निर्मित होता है।

७७९-मनकी गठन दैनिक नहीं, बल्कि प्रति घण्टे बनती जाती है। प्रतिक्षण यह गिरगिटके समान अपना रंग और रूप बदला करता है। यह बहुत ही चञ्चल और अस्थिर होता है।

७८०-भोजनका सूक्ष्मतम भाग ऊपर हृदयमें पहुँचता है और वहाँसे Hita नामक प्रणालियोंमें प्रवेशकर वागिन्द्रियको उत्तेजित करता है तथा मनके रूपमें परिवर्तित हो उसे वर्द्धित करता है। अतः भोजनके द्वारा वर्द्धित मन भौतिक पदार्थ है, वैशेषिक सिद्धान्तके अनुसार नित्य नहीं।

७८१-उच्च और सात्त्विक अभिलाषायें करुणा तथा सर्वप्रियताकी प्रवृत्ति और दया-यह सब मनके सात्त्विक अंशको अत्यधिक उन्नत करते हैं। इनसे उच्चतम मनका विकास होता है।

७८२-अमूर्त्त-चिन्तन और तर्क, नियमित ध्यान, ब्रह्मचिन्तन, उपनिषद्, योगवाशिष्ठ तथा ब्रह्मसूत्रके अध्ययनके द्वारा विज्ञानमय कोष विकसित होता है।

७८३-शिशु अपने संस्कारोंके साथ उत्पन्न होता है। शिशु अतीत अनुभवोंको मानसिक तथा आचार-सम्बन्धी प्रवृत्ति और शक्तिके रूपमें परिणतकर जन्म लेता है। बौद्धिक विशेषताओंमें भौतिक अनुभवोंका पर्यवसान होता है।

७८४-जो लोग सामने आयी हुई किसी वस्तुसे सन्तुष्ट नहीं होते वह दुर्बल मनके होते हैं। सन्तोष परम सुख है। सन्तोष महान् धर्म है। मुक्तिके विस्तृत साम्राज्यके चार द्वारोंमें एक यह भी है। यदि सन्तोष होगा तो उससे तुम्हें सत्संग, विचार और शान्तिकी प्राप्ति होगी।

७८५-निर्दोष मनका निर्णय वाणी, मुखाकृति और नेत्रोंके द्वारा हो सकता है। इन लक्षणोंके द्वारा निर्दोष मनके मनुष्योंके विषयमें सम्मति दी जा सकती है।

७८६-सुखद या दुःखद अनुभवोंके द्वारा मनुष्य वह सामग्री एकत्रित करता है जिसके द्वारा मानसिक और सदाचार-सम्बन्धी तत्त्वोंका निर्माण किया जाता है।

७८७-अधःचेतनावाले मनकी चित्त-संज्ञा है। चित्त अधिकांशमें अतीत अनुभवों तथा स्मृतियोंमें ही सन्निहित रहता है जो परोक्षमें रहते हुए भी ग्राह्य हो सकती हैं।

७८८-जिसप्रकार एक व्यापारी गतवर्षके खातेको बन्दकर नये वर्षका खाता खोलते समय पुराने खातेका समस्त विवरण नये खातेमें नहीं शामिल करता बल्कि केवल बाकी रकमें ही उतारता है, उसी प्रकार जीव गतजीवनके अनुभवों, प्राप्त परिणामों, स्थिर निश्चयोंको अपने नये जीवनके मस्तिष्कमें स्थान देता है। यही सामग्री वह नवजीवनको हस्तान्तरित करता है, जो नये महल-यथार्थ स्मृतिके लिये मानसिक उपकरणके रूपमें है।

७८९-ब्रह्मानुभव केवल मनके द्वारा ही हो सकता है, जब वह सङ्कल्प-विकल्पसे रहित होता है। इस जगत्का

उद्भव और प्रलय, जो केवल चेतनाकी एक दशा है, मनके सङ्कल्पोंके उद्भव और प्रलयके साथ-साथ होती रहती है। मनके सङ्कल्प ही समस्त चराचर जगत्‌को व्यक्त करते हैं।

७९०–मन जो इच्छाओंके उत्थान और पतनके साथ उठता और गिरता है अपनी अज्ञानताके कारण इस मायात्मक जगत्‌को सत्य कल्पना करता है। परन्तु जगत्‌की वास्तविक दशाका ज्ञान होते ही यह स्वयं ब्रह्मरूप हो जायगा—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

७९१–मन मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है। मन ही मनुष्यको इस संसारसे बाँधता है। जहाँ मन नहीं है, वहाँ बन्धन भी नहीं है। मन अज्ञान और अविवेकके द्वारा कल्पना करता है कि आत्मा इस शरीरमें आबद्ध और निवसित है और इसप्रकार उसे बद्ध मानता है। मन जीवात्माके साथ अपना अभेद अनुभव करता है और इसप्रकार अपनेको 'अहम्' कहते हुए सोचता है कि 'बृद्धोऽहम्'। अहंकार बन्धनका कारण है। निरहंकार मोक्षका मूल है। मन अपने अज्ञान और अविवेकके द्वारा अपनी असत्य व्यक्तिको सत्य समझता है और अपनेको समस्त कर्मोंका कर्त्ता समझता हुआ अहंकार-रूप हो जाता है। वह अपनेको बन्धनमें मानता है। जीवात्माके साथ तादात्म्य अनुभव करता हुआ वह स्वयं जीवात्मा हो जाता है तथा शुभाशुभ कर्मोंके करनेका एवं उनके सुख-दुःखरूप फलोंका उत्तरदातृत्व अपने ऊपर ले लेता है।

७९२–मन कर्मोंका कर्त्ता है और उनका उत्तरदायित्व भी उसीके ऊपर है।

७९३–मन और जीवात्मा सदा एक साथ रहते हैं। वे कभी अलग नहीं किये जा सकते। मन जीवात्माको विषयोंमें घसीटता है। मनमें जीवात्मा आभास-चैतन्यरूप है।

७९४–तुम केवल विषयोंको देख सकते हो परन्तु साक्षी या कूटस्थ ब्रह्म मनको, उसके रूपोंको, जीवात्माको तथा जगत्‌के विभिन्न विषयोंको भी देखता है।

७९५–मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही बनता है, और इसप्रकार वह अपने आचारका निर्माण करता है। वह दूसरोंके ऊपर अपने कर्मोंके प्रभावके द्वारा अपने भावी जीवनकी परिस्थितियोंका निर्माण करता है। यदि तुम सौम्य विचार करते हो तो तुम क्रमशः एक सौम्य आचारका निर्माण करोगे; परन्तु यदि तुम तुच्छ विचार करते हो तो उससे एक तुच्छ आचारका निर्माण होगा। मनुष्य विचारोंके द्वारा निर्मित होता है। एक जीवनमें उसके जैसे विचार होते हैं दूसरे जीवनमें वह वैसा ही बन जाता है।

७९६–यदि मन सतत एक प्रकारके विचारोंके ऊपर लगा रहता है तो उससे एक ऐसी प्रणालीका निर्माण होता है जिनमें विचार-शक्ति यन्त्रवत् प्रवाहित होती है। और इस प्रकारके विचार-साधनसे मृत्युपर भी विजय प्राप्त हो सकती है। तथा अहङ्कार-युक्त होनेके कारण यह विचार-प्रवृत्ति तथा क्षमताके रूपमें अग्रिम भौतिक जीवनमें पदार्पण करता है।

७९७–मन आत्माका नाश करनेवाला है। यह एक चोर है। श्रवण, मनन और निदिध्यासनके द्वारा आत्माके नाश करनेवाले मनको मार डालो।

७९८–सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माके अतिरिक्त दूसरा कौन मनकी विलक्षण प्रगतिको सहज ही ठीक-ठीक समझ सकता है?

७९९–शरीर-इन्द्रियोंके साथ दूसरी वस्तु नहीं, मन ही है। मन शरीरका चिन्तन करते स्वयं शरीर बन जाता है और तब उसमें मिला हुआ वह उसके द्वारा दुःख भोगता है।

८००–मनकी क्रियाएँ ही वास्तविक क्रियाएँ हैं, परन्तु शारीरिक क्रियाएँ वैसी नहीं।

८०१–जब मन खूब गहरा किसी वस्तुमें आसक्त रहता है तो शरीरके नाशकी आशङ्का होनेपर भी उसे कष्टकी अनुभूति नहीं होती। जब मन पूर्णतया किसी विषयमें मग्न होता है तो शरीरकी चेष्टाओंके द्वारा दूसरा कौन अनुभव करता तथा प्रत्यक्ष करता है?

८०२–समस्त शरीरोंका अवस्थान केवल मनमें ही होता है। क्या पानीके बिना वनका अस्तित्व रह सकता है? मन ही समस्त व्यवहारोंका सञ्चालक है और यह सब शरीरोंसे श्रेष्ठ है। यहाँतक कि भौतिक शरीरके नष्ट होते ही बहुत शीघ्र यह अपने अनुकूल नवीन शरीर धारण कर लेता है, यदि मनके चेतनाशून्य होनेसे शरीर हमारे ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं करता।

८०३–अमूर्त-सिद्धान्तोंके सतत अध्ययनका परिणाम दूसरे भौतिक जीवनमें पड़ता है। अमूर्त-चिन्तन संवर्द्धित शक्तिके रूपमें तथा अस्थिर और शीघ्रतापूर्वक चिन्तनके द्वारा आनेवाले जीवनमें एक अशान्त और असंयत मनकी सृष्टि होती है।

८०४-दूसरोंकी अधिकृत वस्तुपर स्वार्थवश जो प्रलोभित होता है वह चाहे इस जन्ममें क्रियात्मकरूपमें उस वस्तुके लिये ठग न बने, परन्तु दूसरे जन्ममें उसे चोर बनना ही पड़ता है तथा ईर्ष्या-द्वेषको हृदयमें बराबर स्थान देनेसे मनुष्य दूसरे जन्ममें हत्यारा बन जाता है। उसी प्रकार परोपकारी पुरुष दूसरे जन्ममें विश्वप्रेमी सन्त बन जाते हैं तथा उनके प्रत्येक दयाके विचार सर्वजीवोंके हित करनेवाले सुन्दर और करुणामय आचार-का रूप धारण करते हैं।

८०५-इस मनका विस्तार ही संकल्प है; और संकल्प अपने भेदभावनाकी शक्तिद्वारा इस जगत्‌को उत्पन्न करता है। अपनेको सर्वसंकल्पशून्य करके निर्विकल्प बनो, तब तुम पूर्ण शान्ति और आनन्द प्राप्त करोगे।

८०६-प्रत्येक कर्मका कुछ अदृष्ट होता है जो उसे वहाँ पहुँचाता है। प्रत्येक कर्मका भविष्य होता है जो उससे उत्पन्न होता है। एक कर्मके लिये एक इच्छाकी आवश्यकता होती है जो उसे उकसाती है और एक विचारकी आवश्यकता होती है जो उसे रूप देती है। प्रत्येक कर्मके साथ एक अनादि कार्य-कारणकी शृंङ्खला लगी हुई है। प्रत्येक कारण कार्यका रूप धारण किये हुए है और प्रत्येक कार्य कारणका रूप। और अनन्त शृंङ्खला-की प्रत्येक लड़ इच्छा, विचार और क्रियारूप तीन विशेषणोंसे सुसज्जित होती है। इच्छा विचारको उत्तेजित करती है और विचार कर्मका रूप धारण करते हैं।

८०७-'जैसा मनुष्य सोचता है, वैसा ही वह है।' 'मनुष्य विचारोंके द्वारा सृजा जाता है।' 'मनुष्य जो सोचता है वही हो जाता है।' यदि तुम साहसका विचार करते हो, तो तुम अपने आचारमें साहसको क्रियान्वित करते हो। यही बात शुचिता, सन्तोष, निःस्वार्थता तथा आत्मशासनकी भी है। दृढ़ चेष्टासे युक्त विचार मनको एक विशेष अभ्यासमें लगाता है और वह अभ्यास स्वयं आचार-सम्बन्धी एक गुणके रूपमें व्यक्त होता है। नियमानुकूल कार्य करते हुए तुम भी निश्चय-पूर्वक अपने आचारका उसी प्रकार निर्माण कर सकते हो जैसे एक राजगीर एक दीवालका निर्माण करता है।

८०८-श्रद्धा होनेसे मन ज्ञेय वस्तुपर आसानीके साथ जमाया जा सकता है; और तब ज्ञान शीघ्रतापूर्वक प्राप्त होता है।

८०९-केवल वृत्तियाँ तुम्हें विषयोंके साथ बाँधती हैं। यह रहस्य है। मनकी वृत्तियोंके साक्षी बनो और तब अधिक समयतक बन्धन न रह जायगा।

८१०-हे शिव! तुम काम-क्रोधादिसे क्यों डर रहे हो? वे तुम्हारे दास हैं। तुम सच्चिदानन्द आत्मा हो। आत्माके ऐश्वर्य और महत्ताका अनुभव करो।

८११-ध्येय विषयमें मनकी अल्पकालिक स्थिति मनोलय कहलाती है। जब तुम भगवान् श्रीकृष्णके रूपका ध्यान करते हो तो तुम्हारा मन कुछ समयके लिये भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें लय हो जाता है। मनोलय तुम्हें बन्धनसे नहीं बचा सकता। मनोलय तुम्हें मुक्ति नहीं प्रदान कर सकता। मनोनाशहीसे तुम्हें मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। वह मनोनाश ब्रह्मज्ञानके द्वारा प्राप्त होता है।

८१२-ब्रह्मभावना और विचारके द्वारा वासना-क्षय होता है। वैराग्य और त्याग भी उसके नाशमें सहायक होते हैं। ब्रह्ममें वासना नहीं होती। वासनाओंका पूर्ण उच्छेद केवल निर्विकल्प समाधिमें ही होता है।

८१३-ज्ञानकी प्राप्तिके लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन तीन वेदान्तिक क्रियाएँ होती हैं। यदि तुम श्रुतिका श्रवण करते हो तो दस बार उसका मनन करो और सौ बार निदिध्यासन करो। तभी श्रवणका यथार्थ फल मिलेगा।

८१४-मानसिक और नैतिक गुणोंमें विचारके सूत बुने गये हैं। इन्हीं गुणोंकी समष्टिको आचार कहा जाता है।

८१५-जब मनुष्य किसी विशेष विचारकी ओर मुड़ता है और उसके ऊपर जमता है तो एक विशिष्ट प्रकारका तत्त्व-कम्पन होने लगता है और जितना ही यह कम्पन बढ़ता है उतना ही अधिक यह अभ्यास तथा यान्त्रिक-रूप धारण करनेके लिये प्रवृत्त होता जाता है। शरीर मनका अनुसरण करता है तथा उसके परिवर्तनका अनुकरण करता है; यदि तुम अपने विचारको केन्द्रीभूत करो तो आँखें दृढ़ हो जाती हैं।

८१६-स्वेच्छानुसार यदि तुम अपने आचारको बनाना चाहते हो तो तुम्हें उन गुणोंको चुनना होगा जिनका समावेश उस आचारमें होता है और तब दृढ़तापूर्वक उन्हीं गुणोंके विषयमें चिन्तन करना होगा। चिरकालमें तुम्हें उन गुणोंके अनुभव करनेकी प्रवृत्ति होगी और फिर कुछ ही दिनोंमें तुम्हारा साधन अभ्यसित हो जायगा। विचार ही आचारका निर्माण करते हैं। तुम विचाररूपी सूतके द्वारा अपने भाग्यको बुनते हो।

अभ्यास-वैराग्य

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

श्यामा–हे बहिन कोकिला ! जबसे मुझे तेरे साथ सहवास करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है और तूने मुझे गीता पढ़ायी है तबसे मैं नित्यप्रति गीताका पाठ किया करती हूँ और उसके अर्थका भी विचार करती रहती हूँ । ऐसा करनेसे मेरा मन पूर्वकी अपेक्षा बहुत ही शान्त रहता है । विष्णुसहस्रनामका पाठ करनेका तो मेरा नित्य नियम ही है, यह बात तो तू जानती ही है । ऊपरके गीताके श्लोकका अर्थ बहुत-से टीकाकारोंने विस्तारसहित समझाया है, फिर भी हे बहिन ! उसका अर्थ मैं तेरे मुखसे सुनना चाहती हूँ, क्योंकि समझानेकी तेरी शैली बहुत ही उत्तम है, तेरा समझाया हुआ तुरन्त मनमें बैठ जाता है और फिर कभी उसकी विस्मृति नहीं होती, इसलिये उपर्युक्त श्लोकमें आये हुए अभ्यास और वैराग्यका अर्थ विस्तारसे और रोचक वाणीमें मुझे समझानेकी कृपा कर ! यह तो मैं जानती हूँ कि ज्ञान, वैराग्य, भक्ति-सम्बन्धी प्रश्नोंके उत्तर देनेमें तुझे विक्षेप नहीं होता और आलस्य भी नहीं होता, उलटे ऐसे प्रश्नोंके उत्तर देनेमें तेरी बुद्धि विनोद मानती है, इसीलिये मैं भी संकोचरहित होकर बारम्बार तुझसे ऐसे प्रश्न करती ही रहती हूँ ।

कोकिला–(प्रसन्न होकर) बहिन ! तेरी-सी सहेली पाकर मैं अपनेको धन्य समझती हूँ, क्योंकि तू स्वयं भगवद्भजनमें लगी रहती है और मुझे भी भगवत्का स्मरण कराती रहती है । तेरे प्रश्न करनेसे मुझे भगवत्का स्मरण हो आता है । वृद्धाओंका कथन है कि जिस घरमें हरिचर्चा न हो वह घर भूतोंका निवासस्थान है, जो जिह्वा भगवत्-कीर्तन नहीं करती, वह मेंढककी जिह्वाके समान निरर्थक है । जो बहिनें भगवत्की कथा छोड़कर संसारी दन्तकथाओंमें लगी रहती हैं, उनका जन्म निष्फल ही है, क्योंकि ऐसोंके जीनेसे न तो अन्य किसीको लाभ है और न स्वयं उनको किसी प्रकारका लाभ है । इसलिये पशुओंके समान अथवा लोहारकी धौंकनीके समान उनका जीवन निरर्थक ही है । जो बहिनें आप भगवत्-कथामें लगी रहती हैं और दूसरोंको भी लगाये रहती हैं, उन्हींका जीवन सफल है, क्योंकि वे अपना और दूसरोंका कल्याण करनेवाली हैं । भगवत्-सम्बन्धी प्रश्न करनेसे तू मुझे बहुत ही प्यारी है, मुझे तेरा प्रश्न सुनकर बहुत ही आनन्द होता है, क्योंकि तेरा प्रश्न सुनते ही आनन्दस्वरूप भगवान् साक्षात् मेरे हृदयमें आ जाते हैं । भगवान्‌के हृदयमें आनेसे काम-क्रोधादि सब दूर भाग जाते हैं और अन्तःकरण अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है । स्वच्छ अन्तःकरणमेंसे निकले हुए शब्द श्रोता और वक्ता दोनोंको पवित्र कर देते हैं । तेरा प्रश्न मुझे बहुत प्यारा है, क्योंकि यह सभी भाई-बहिनोंका हित करनेवाला है । इसको सुनकर मुझे अपनी कुमारावस्थाका एक वृत्तान्त स्मरण हो आया है, उसीको सुनाती हूँ, ध्यान देकर सुन—

जब मैं कोई नौ-दस वर्षकी थी, तभी मेरी माताने मुझे गीता कण्ठ करा दी थी । मैं गीताका नित्य पाठ किया करती थी, कुछ-कुछ अर्थ भी समझ लेती थी । एक दिन मेरी माता श्रीमद्भागवतका प्रवचन कर रही थी, बहुत-सी बहिनें सुन रही थीं, मैं भी माताके पास बैठी हुई थी । माता देवहूति और कपिल

भगवान्‌का संवाद था । भगवान्‌ने अपने सगुणस्वरूप-का ध्यान बताते हुए जब मकराकार कुण्डलोंका वर्णन किया, तो मैंने अपनी बालक-बुद्धिसे अपनी मातासे इसप्रकार प्रश्न किया—

मैं—माताजी ! आप भगवान्‌के कुण्डलोंको बिजली-की-सी कान्तिवाले बताती हैं, क्या किसी बहिन या भाईके कानोंमें ऐसे कुण्डल हैं ? मैं भी ऐसे कुण्डल पहनना चाहती हूँ ।

माता—(हँसकर) बेटी ! भगवान्‌के कुण्डल तो दिव्य हैं । ऐसे कुण्डल इस लोकमें नहीं मिल सकते, जो भगवान्‌के सच्चे भक्त हैं, वे भगवान्‌से कुण्डल माँगते भी नहीं हैं । वे तो भगवान्‌को ही प्रत्यक्षमें अथवा ध्यानमें चाहते हैं, जब भगवान् मिल जाते हैं, तो कुण्डल आप ही मिल जाते हैं । हे बेटी ! तुझे तो भगवान्‌ने दोनों कुण्डल दे ही रक्खे हैं, यदि तू उन्हें सँभालकर उत्साहसहित धारण करेगी, तो तुझे भगवान्‌का ज्ञान और दर्शन बहुत ही शीघ्र हो जायगा और भगवान्‌की प्राप्ति भी हो जायगी ।

मैं—(आश्चर्य करती हुई) माताजी ! मेरे पास कुण्डल कहाँ है ? मेरे तो वाली भी नहीं है । आप तो कभी झूठ नहीं बोलतीं और दूसरोंको भी झूठ न बोलनेका और सर्वदा सत्य बोलनेका उपदेश दिया करती हैं, फिर आज झूठ क्यों बोलती हैं ?

मेरी बातको सुनकर सब बहिनें एक साथ ठहाका मारकर हँसने लगीं । एक कहने लगी ।

एक बहिन—हाँ ! लड़की सच तो कहती है ! बेचारीके कानोंमें लोहेतककी भी तो बाली नहीं है, आप कहती हैं कि भगवान्‌ने तुझे कुण्डल दे रक्खे हैं, बताइये, कहाँ दे रक्खे हैं ?

माता—हे भावुकाओ ! हे बेटी ! सांख्य और योग—ये ही दोनों भगवान्‌के कुण्डल हैं, (देखो भागवत १२ । ११ । १२) ऐसा वेदवेत्ता कहते हैं । ये दोनों सभी भक्तोंको भगवान्‌ने दे रक्खे हैं और हे बेटी ! तुझे तो प्रत्यक्ष ही दे दिये हैं, क्योंकि तू गीतामें दोनोंको देखती है, कुछ-कुछ उनका स्वरूप समझने भी लगी है, यदि ऐसा ही करती रही, तो तुझे भगवान्‌की प्राप्ति होनेमें कुछ सन्देह नहीं है ।

मैं—हाँ ! माताजी ! समझ गयी, सांख्य और योग—ये दोनों भगवान्‌के मकराकार कुण्डल हैं, ऐसा आपने एक दिन और भी कहा था, और इन दोनोंके अभ्यास और वैराग्य दो मोती बताये थे, इन दोनों मोतियोंका स्वरूप भी बताया था, परन्तु मुझे स्मरण नहीं रहा । आज इन दोनोंका स्वरूप फिर समझाइये !

माता—हे कल्याणियो ! क्षयीरोग (तपेदिक) असाध्य रोग है, ऐसा चिकित्सक कहते हैं । इस रोगकी कोई ओषधि नहीं है, केवल एक उपाय है कि यदि कोई रोगी हजार दिनतक यानी तीन वर्ष-तक मूँग और अरहरकी मिली हुई दाल और गेहूँकी बिना चुपड़ी रोटी खाता रहे और इसके सिवा कुछ न खाय, तो यह असाध्य रोग भी साध्य हो सकता है । जैसे यह क्षयीरोग असाध्य रोग है, इसी प्रकार यह संसार असाध्य रोग है । क्षयीरोग तो एक जन्मका रोग है और संसार अनादि और अनन्त-रोग है । क्षयीरोगसे संसार-रोगमें यह विशेषता है कि क्षयीरोग तो एक बार ही मारता है और संसार-रोग जन्म-जन्मान्तरमें मारता ही रहता है, इसलिये संसार-रोग महान् दारुण रोग है । जैसे क्षयीरोगकी निवृत्ति-का उपाय केवल गेहूँकी रोटी और मूँग-अरहरकी मिली हुई दाल है, इसी प्रकार इस संसाररूप रोगकी निवृत्तिका उपाय केवल एक ईश्वर-भजन है । जैसे क्षयीरोगमें दाल-रोटीके सिवा अन्य सब कुपथ्य है, इसी प्रकार संसार-रोगमें ईश्वर-भजनके सिवा अन्य कुपथ्य है । परन्तु इतना निश्चय है कि क्षयीरोग तो चाहे

उक्त साधनसे न भी मिटे पर ईश्वर-भजनसे संसार-रोग जरूर नष्ट हो जाता है ।

हे भावुकाओ ! किसी कार्यको बारम्बार करनेका नाम अभ्यास है और किसी कार्यमें राग न करनेका नाम वैराग्य है । यहाँ ब्रह्मविद्याका प्रसंग है, इसलिये ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये ईश्वर-भजन बारम्बार करना अभ्यास है और संसारके भजनमें राग न करनेका नाम वैराग्य है । भाव यह है कि जैसे क्षयी-रोगके दूर करनेको तीन वर्षतक दाल-रोटी खानी पड़ती है और दाल-रोटीके सिवा अन्य वस्तुएँ त्यागनी पड़ती हैं, इसी प्रकार संसाररूप रोग दूर करनेके लिये ब्रह्मका साक्षात्कार होनेतक ईश्वर-भजनरूप ओषधि करनी चाहिये और संसारके भजनरूप कुपथ्यका त्याग करना चाहिये । जैसे ईश्वर-भजन-रूप ओषधि सेवन करनेयोग्य है और संसार-भजन-रूप कुपथ्य त्याज्य हैं, इसी प्रकार ईश्वर-भजनरूप ओषधिके अंग भी सेवन करनेयोग्य हैं और संसार-भजनरूप कुपथ्यके अंग भी त्यागनेयोग्य हैं, क्योंकि अंग बिना अंगी नहीं रहता, इसलिये श्रेयाभिलाषियोंको क्या सेवन करना चाहिये यानी किसका अभ्यास करना चाहिये और क्या त्याग करना चाहिये यानी किससे वैराग्य करना चाहिये, यह बतलाती हूँ—

हे बहिनो ! श्रेयाभिलाषी भाई-बहिनोंको सबसे पहले दुर्जनोंका संग छोड़ना चाहिये और सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये, क्योंकि *'जैसा संग, वैसा रंग'* यह कहावत लोकमें प्रसिद्ध है । जैसे चमारकी दूकान-पर बैठनेसे दुर्गन्धकी और गन्धीकी दूकानपर बैठनेसे सुगन्धकी प्राप्ति होती है, इसी प्रकार दुर्जनोंका संसर्ग करनेसे दोषकी प्राप्ति होती है और सज्जनोंका संग करनेसे गुणोंकी प्राप्ति होती है, इसलिये बहिन-भाइयों-को दुर्जनोंके संगसे सदैव बचना चाहिये और सज्जनों-का संग आदरपूर्वक सदा करना चाहिये । विद्वानों-का वचन है कि दुर्जनके पास जानेसे, उससे भाषण करनेसे, उसके साथ भोजन करनेसे और बैठनेसे मनुष्यको पाप लगता है । कुसंगको, कुचिन्ताको, कुपुस्तकको, कुकथाको, कुदृश्यको, कुकर्मको, कुमित्रको, शीघ्र ही त्याग दे । दुराचारियोंका संग जैसे भयदायक है, वैसे ही सदाचारियोंका संग संसार-दुःखकी ओषधि है ।

हे बहिनो ! हम सबको सज्जनोंका संग करना, सत्-शास्त्रोंका अवलम्बन लेना, सत्यका विचार करना और सुकृति—सत्कर्म सर्वदा करने चाहिये । कायासे, मनसे, वाणीसे पुण्यकर्मपरायण होना चाहिये । धर्म-कर्ममें कभी आलस्य न करना चाहिये, क्योंकि अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सज्जनों और सत्-शास्त्रोंके अवल-म्बनसे ही प्राप्त होते हैं । सज्जनों और सत्-शास्त्रोंकी सहायता बिना न तो कोई लौकिक अथवा पारलौकिक ज्ञान ही होता है और न कोई कार्य ही होता है । सज्जन और सत्-शास्त्र ये दो नेत्र हैं, जो इन दो नेत्रोंसे हीन हैं, वे जहाँ जाते हैं, ठोकरें ही खाते हैं । आप गड्ढेमें गिरते हैं और अपने साथियोंको भी गिराते हैं, जो लोग सज्जन और सत्-शास्त्ररूप नेत्रवाले हैं, उनको सर्वदा विजय प्राप्त होती है, कहीं उनकी पराजय नहीं होती और कहीं उनको दुःख भी नहीं प्राप्त होता ।

हे कल्याणियो ! सत्पुरुषों और सत्-शास्त्रोंके सम्बन्धमें विद्वानोंका ऐसा कथन है कि सत्संग और सत्-शास्त्र ये दो नीरोग नेत्र हैं, जो इन दोसे हीन है, वह निश्चय अन्धा है । जो केवल बाहरके नेत्रोंसे हीन है, वह निश्चय अन्धा नहीं है, क्योंकि वह अपना हिताहित समझता है परन्तु जो सत्संग और सत्-शास्त्ररूप नेत्रोंसे हीन है, वह निश्चय अन्धा है, क्योंकि वह अपना हिताहित नहीं जानता । जो अपना हिताहित ही नहीं जानता, वह दूसरोंका हित तो कर ही कैसे सकता है ? इसलिये वही निश्चय अन्धा है । यह संसार-

रूप वन अन्धकारसे घिरा हुआ है, जो लोग काम और कर्मकी रस्सीसे बँधे हुए हैं और कालरूप व्याल-ने जिनको डस रक्खा है, उनके लिये इस संसारमें सज्जन और सत्-शास्त्र ये ही दो मार्गदर्शक हैं।

हे सुशीलाओ ! यह संसार महा भयानक सागर है, इसमें काम-क्रोधादि अनेक नाके भरे हुए हैं, जो दिन-रात इस जीवको कष्ट देते रहते हैं, इन्द्रियोंके अनेक थपेड़े लगते रहते हैं। ऐसे संसार-सागरसे पार करने-वाला सज्जन ही है।

प्रश्न—हे देवि ! सज्जनका क्या लक्षण है ?

उत्तर—हे भावुकाओ ! जो सिवा एक ब्रह्मके दूसरा कभी नहीं देखता, उसी सज्जनका सर्वदा सेवन करना चाहिये, क्योंकि वही महामोहको निवारण कर सकता है। चाहे वह बहिन हो या भाई हो, वही सज्जन है जो भगवान् विष्णुके प्रेममें डूबा हुआ हो, तप और वैराग्यसे युक्त हो, वही चित्तकी एकाग्रता-के लिये सेवन करनेयोग्य है। जो सर्व प्राणियोंपर दया करनेवाला हो, सर्व भूतोंसे कपटरहित व्यवहार करनेवाला हो, सदा सत्यपरायण हो, स्वधर्ममें प्रीति करनेवाला हो, निःस्वार्थ भक्त हो, निर्मल अन्तःकरण-वाला हो, उसीका नाम सज्जन है, वही सेवा करने-योग्य है, उसीके समागमसे शुभ इच्छाकी वृद्धि होती है।

प्रश्न—हे देवि ! सत्-शास्त्र किसको समझना चाहिये ?

उत्तर—हे बहिनो ! जो सब आश्रमवासियोंपर कृपासे नित्य शासन करे और सब पापोंसे तार दे, वही शास्त्र कहलाता है। जिस शास्त्रमें ईश्वर-तत्त्वका निरूपण हो, ईश्वरावतारोंका वर्णन हो, ईश्वरके भक्तों-की कथाओंका वर्णन हो और जो ज्ञान, वैराग्य, भक्तिका उपदेश दे, वही शास्त्र ग्राह्य है। जिस ग्रन्थमें ईश्वरका प्रतिपादन न हो, वह शास्त्र दूरसे ही त्यागने-योग्य है यानी उसका दर्शन करना भी उचित नहीं है। सारांश यह है कि जिससे धर्मकी वृद्धि हो, वही सज्जन सेवन करनेयोग्य है और वही शास्त्र पढ़ने-योग्य है।

प्रश्न—हे शुभशासिके ! धर्म क्या है और अधर्म क्या है ?

उत्तर—हे बहिनो ! धर्मके लक्षण शास्त्रकारोंने अनेक कहे हैं, परन्तु जो कर्म मनुष्यको ईश्वरके समीप ले जाय, वह धर्म है और जो मनुष्यको ईश्वर-से दूर ले जाय, वह अधर्म है। जो मनुष्यको ब्रह्मके समीप ले जाय, वह ग्राह्य है और जो मनुष्यको संसाररूप नरकमें ले जाय, वह त्याज्य है। स्त्री-पुरुषोंको सर्वदा वही करना चाहिये, जिससे चित्तकी निर्मलता बढ़े और वही त्यागना चाहिये, जिससे दुःखकी वृद्धि होती हो। प्रायश्चित्त-तत्त्वमें कहा है कि विषयोंमें अत्यन्त राग मनका मल कहलाता है और विषयोंमें विराग निर्मलता कहलाती है। निर्मल बुद्धि सत्य-असत्यका निर्णय कर सकती है, विषया-सक्त बहिन-भाइयोंकी बुद्धि निर्मल नहीं होती, इस-लिये वे जडबुद्धि होनेसे दुःख-सागरको सामने आया हुआ देखकर भी नहीं देखते और शोक-सागरमें डूब-कर आत्मघात कर लेते हैं। ऐसे आत्मघाती, शोक-समुद्रमें डूबते हुओंका उद्धार करनेके लिये सत्पुरुषोंका सङ्ग और शुभ शास्त्रके सिवा कौन समर्थ है ? कोई समर्थ नहीं है, इसलिये मोक्षाभिलाषी बहिन-भाइयों-को संसार-बन्धनसे छूटनेके लिये और ईश्वरकी प्राप्ति-के लिये सज्जन और सत्-शास्त्रका यत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये। दुर्जन और कुशास्त्रसे दूर रहना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्यके विवेकरूप नेत्र खुल जाते हैं, विवेकरूप नेत्र खुल जानेसे उसे संसारकी असारता और ईश्वरकी सारता मालूम हो जाती है, फिर वह ईश्वरकी प्राप्तिके लिये अभ्यास और

संसारसे वैराग्य करने लगता है और ऐसा करनेसे देर-सबेर ईश्वरको प्राप्त करके सदाके लिये सुखी हो जाता है । हे बेटी ! सारांश सबका यह है कि ईश्वर-भजन सार और संसार असार है। ईश्वरके निर्गुण-सगुण-स्वरूपका ध्यान करना, ईश्वरावतारोंकी कथा सुनना, ईश्वरके नामका जप करना, ईश्वर-सम्बन्धी परस्पर वार्तालाप करना इत्यादि ईश्वर-प्राप्तिके लिये निरन्तर यत्न करना अभ्यास है और ईश्वर-भजनके विरोधी जितने व्यापार हैं, जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, परनिन्दा, विषयभोगकी इच्छा, संसारासक्त स्त्री-पुरुषोंके पास बैठना इत्यादिसे दूर रहना वैराग्य है ।

हे बहिन ! इसप्रकार मेरी माताने अभ्यास और वैराग्यके सम्बन्धमें बहुत कुछ समझाया था किन्तु मुझे जितना स्मरण हो आया है, उतना सुना दिया है । हे बहिन ! मनका हठसे रोकना कठिन है, हठसे मन नहीं रुक सकता। हाँ, क्रमसे मन रोका जा सकता है । मन रोकनेके अभ्यास और वैराग्य दो उपाय हैं। ईश्वर-सम्बन्धी किसी भी उपायका बारम्बार करना अभ्यास है और ईश्वरका जिसमें वर्णन न हो किन्तु संसारकी ही जिसमें चर्चा हो, ऐसा कोई व्यापार न करना, इसका नाम वैराग्य है । अथवा ईश्वरकी प्राप्तिमें जो गुण उपयोगी हैं, उनका धीरे-धीरे प्राप्त करना और ईश्वरकी प्राप्तिमें जो अवगुण विरोधी हैं, उनका त्याग करना वैराग्य है यानी शुभ गुणोंका बढ़ाना अभ्यास है और दुर्गुणोंका यत्नपूर्वक कम करना वैराग्य है । श्रेयाभिलाषीको धैर्य धारण करके शुभ गुण प्रतिदिन बढ़ाने चाहियें और अशुभ गुण दिन-प्रतिदिन घटाने चाहियें ।

हे बहिन ! ईश्वरावतारोंकी कथाओंके पठन-पाठनसे ये दोनों अभ्यास और वैराग्य एक साथ होते हैं और बहुत ही शीघ्र सिद्ध होते हैं, ऐसा मेरा अनुभव है। ईश्वरावतारोंमें शान्ति, सन्तोष, विवेक, शम, दम, तितिक्षा, उदारता, धैर्य, वीरता, वैराग्य आदि गुण स्वाभाविक होते हैं, जबतक ये ईश्वरीय गुण प्राप्त न हों, तबतक ईश्वरकी प्राप्ति नहीं हो सकती। ईश्वरीय गुण प्राप्त होनेपर ईश्वरकी प्राप्ति कठिन नहीं है। ईश्वरावतारोंकी कथा निरन्तर पाठ करनेसे अथवा श्रवण करनेसे धीरे-धीरे कल्याणकारक गुण आते रहते हैं और अकल्याणकारक गुण निवृत्त होते जाते हैं। इसप्रकार ईश्वरावतारोंकी और ईश्वरके भक्तोंकी कथा पढ़ने-पढ़ानेसे अधिकारी सहजमें ही भवसागरसे पार होकर अक्षय विष्णुके परमधामको प्राप्त कर लेता है।

हे बहिन ! सजातीय वृत्तिकी यानी 'मैं ब्रह्म हूँ', इस वृत्तिकी बारम्बार आवृत्ति करना अभ्यास है और विजातीय वृत्तिका यानी 'मैं देह हूँ' इस वृत्तिका तिरस्कार करना वैराग्य है, ऐसा विद्वानोंका कथन है, परन्तु हे बहिन ! मैं तो भगवान्‌की कथा कहने-सुननेमें और भगवान्‌का नाम प्रेमपूर्वक लेनेमें ही अभ्यास और वैराग्यकी सफलता समझती हूँ । मैंने तो सबका यही सार निकाला है ।

कुं०—हरि-चर्चा अभ्यास है, हरि-चर्चा वैराग्य।
हरि-चर्चा जो नित करें, तिनका अति सौभाग्य॥
तिनका अति सौभाग्य, शान्ति अक्षय हैं पाते।
तरते भवसे आप, तार साथिन ले जाते॥
जयदेवी ! सब छोड़, नहीं श्रम नाहीं खर्चा।
प्रेमसहित कर नित्य, शोकहारिणि हरि-चर्चा॥

प्रच्छन्न भक्त पुण्डरीक विद्यानिधि

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताऽथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥*

(श्रीमद्भा० २ । ३ । २४)

नके हृदयमें भगवान्‌के प्रति भक्ति उत्पन्न हो गयी है, जिनका हृदय श्याम-रङ्गमें रँग गया है, जिनकी भगवान्‌के सुमधुर नामों तथा उनकी जगत्-पावनी लीलाओंमें रति है, उन बड़-भागी भक्तोंने ही यथार्थमें मनुष्य-शरीरको सार्थक किया है । प्रायः देखा गया है, कि जिनके ऊपर भगवत्-कृपा होती है, जो प्रभुके प्रेममें पागल बन जाते हैं, उनका बाह्य जीवन भी त्यागमय बन जाता है, क्योंकि जिसने उस अद्भुत प्रेमासवका एक बार भी पान कर लिया, उसे फिर त्रिलोकीके समस्त संसारी सुख फीके-फीके-से प्रतीत होने लगते हैं । संसारी सुखोंमें तो मनुष्य तभीतक सुखानुभव करता है, जबतक उसे असली सुखका पता नहीं चलता । जिसने एक क्षणको भी सुख-स्वरूप प्रेमदेव-के दर्शन कर लिये, फिर उसके लिये सभी संसारी पदार्थ तुच्छ-से दिखायी देने लगेंगे । इसीलिये प्रायः देखा गया है, कि परमार्थके पथिक भगवत्-भक्तों तथा ज्ञाननिष्ठ साधकोंका जीवन सदा त्यागमय ही होता है । वे संसारी भोगोंसे स्वरूपतः भी दूर ही रहते हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी भक्त देखनेमें आते हैं, कि जिनका जीवन ऊपरसे तो संसारी लोगोंका-सा प्रतीत होता है किन्तु हृदयमें अगाध भक्ति-रस भरा हुआ होता है जो ज़रा-सी ठेस लगते ही छलककर आँखोंके द्वारा बाहर बहने लगता है । असलमें भक्तिका सम्बन्ध तो हृदयसे है, यदि मन विषय-वासनाओंमें रत नहीं है, तो कैसी भी परिस्थितिमें क्यों न रहें, हृदय सदा प्रभुके पाद-पद्मोंका ही चिन्तन करता रहेगा । यही सोचकर महाकवि केशव कहते हैं—

कहैं 'केशव' भीतर जोग जगै
इत बाहिर भोगमयी तन है ।
मन हाथ भयो जिनके तिनके
बन ही घर है घर ही बन है ॥

प्रायः देखा गया है, कि त्यागमय जीवन बितानेसे साधकके मनमें ऐसी धारणा-सी हो जाती है, कि बिना स्वरूपतः बाह्य त्यागमय जीवन बिताये भगवत्-भक्ति प्राप्त ही नहीं होती । भक्तिमार्गमें यह बड़ा भारी विघ्न है । त्यागमय जीवन जितना भी बिताया जाय उतना ही श्रेष्ठ है, किन्तु यह आग्रह करना कि स्वरूपतः त्याग किये बिना कोई भक्त बन ही नहीं सकता, यह एक प्रकारका त्यागजन्य अभिमान ही है । भक्तको तो तृणसे भी नीचा बनकर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेतकको भी मनसे नहीं, किन्तु शरीरसे दण्ड-की तरह पृथ्वीपर लेटकर प्रणाम करना चाहिये, तभी अभिमान दूर होगा । भक्तोंके विषयमें कोई क्या कह

* श्रीहरि भगवान्‌के मधुर नामोंके श्रवणमात्रसे जिनके हृदयमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न न हो, अथवा जिनके शरीरमें स्वेद, कम्प, अश्रु तथा रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावोंका उदय न होता हो, तो समझना चाहिये कि उन पुरुषोंका हृदय फौलादका बना हुआ है ।

सकता है, कि वे किस रूपमें रहते हैं ? नाना परिस्थितियोंमें रहकर भक्तोंको जीवन बिताते देखा गया है, इसलिये जिसके जीवनमें बाह्य त्यागके लक्षण प्रतीत न हों, वह भक्त ही नहीं, ऐसा कभी भी न सोचना चाहिये।

पुण्डरीक विद्यानिधि एक ऐसे ही प्रच्छन्न भक्त थे। उनके आचार-व्यवहारको देखकर कोई नहीं समझ सकता था, कि ये भक्त हैं। सब लोग उन्हें विषयी ही समझते थे। लोग समझते रहें किन्तु पुण्डरीक महाशय तो सदा प्रभु-प्रेममें छके-से रहते थे, लोगोंको दिखानेके लिये वे कोई काम थोड़े ही करते थे, उन्हें तो अपने प्यारेसे काम था। वैसे उनका बाह्य व्यवहार संसारी विषयी लोगोंका-सा ही था। उनका जन्म एक कुलीन वंशमें हुआ था, वे देखनेमें बहुत ही सुन्दर थे, शरीर राजपुत्रोंकी भाँति सुकुमार था, अत्यन्त ही चिकने और कोमल उनके काले-काले घुँघराले बाल थे, वे उनमें सदा बहुमूल्य सुगन्धित तैल डालते, शरीरको उबटन और तैल-फुलेलसे खूब साफ रखते। बहुत ही महीन रेशमी वस्त्र पहिनते। कभी गङ्गा-स्नान करने नहीं जाते थे। लोग तो समझते थे कि इनकी गङ्गाजीमें भक्ति नहीं है, किन्तु उनके हृदयमें गङ्गामाताके प्रति अनन्य श्रद्धा थी, वे इस भयसे स्नान करने नहीं जाते थे कि माताके जलसे पादस्पर्श हो जायगा। लोगोंको गङ्गाजीमें मल-मूत्र तथा अस्थि फेंकते, तैल-फुलेल लगाते और बाल फेंकते देखकर उन्हें बड़ा ही मार्मिक दुःख होता था। देवार्चनसे पूर्व ही वे गङ्गाजल पान करते, इसप्रकार उनकी सभी बातें लोकबाह्य ही थीं। इसीलिये लोग उन्हें घोर संसारी कहकर उनकी सदा उपेक्षा ही करते रहते।

एक दिन प्रभु भावावेशमें आकर जोरोंसे 'हा पुण्डरीक विद्यानिधि' 'ओ मेरे बाप विद्यानिधि' कहकर जोरोंसे रुदन करने लगे। 'पुण्डरीक' 'पुण्डरीक' कहते-कहते वे अधीर हो उठे और बेहोश होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। भक्त आपसमें एक-दूसरेकी ओर देखने लगे। सभीको विस्मय हुआ। पहले तो भक्तोंने समझा 'पुण्डरीक' कहनेसे प्रभुका अभिप्राय श्रीकृष्णसे ही है, फिर जब पुण्डरीकके साथ विद्यानिधि पदपर ध्यान दिया, तब उन्होंने अनुमान लगाया, हो-न-हो इस नामके कोई भक्त हैं। बहुत सोचनेपर भी नवद्वीपमें 'पुण्डरीक विद्यानिधि' नामके किसी वैष्णव भक्तका स्मरण उन लोगोंको नहीं आया। थोड़ी देरके अनन्तर जब प्रभुकी मूर्छा भङ्ग हुई तो भक्तोंने नम्रतापूर्वक पूछा—'प्रभु जिनका नाम ले-लेकर जोरोंसे रुदन कर रहे थे, वे भाग्यवान् पुण्डरीक विद्यानिधि कौन परम भागवत महाशय हैं ?'

प्रभुने गम्भीरताके साथ कहा—'वे एक परम प्रच्छन्न वैष्णव भक्त हैं। आप लोग उन्हें देखकर नहीं जान सकते कि वे वैष्णव हैं। उनके बाह्य आचार-विचार प्रायः सांसारिक विषयी पुरुषोंके-से हैं। वे चटगाँव-निवासी एक परम कुलीन ब्राह्मण हैं, उनका एक घर शान्तिपुरमें भी है, गङ्गासेवनके निमित्त वे कभी-कभी चटगाँवसे शान्तिपुर भी आ जाते हैं, वे मेरे अत्यन्त ही प्रिय भक्त हैं। वे मेरे आन्तरिक सुहृद् हैं, उनके दर्शनके बिना मैं अधीर हूँ! वह कौन-सा सुदिवस होगा जब मैं उन्हें प्रेमसे आलिंगन करके रुदन करूँगा ?' प्रभुकी ऐसी बात सुनकर सभीको परम प्रसन्नता हुई और सब-के-सब पुण्डरीक विद्यानिधिके दर्शनके लिये परम उत्सुकता प्रकट करने लगे। सबने अनुमान लगा लिया, कि जब प्रभु उनके लिये इसप्रकार रुदन करते हैं, तो वे शीघ्र ही नवद्वीपमें आनेवाले हैं। प्रभुके स्मरण करनेपर अपने घरमें ठहर ही कौन सकता है, इसीलिये सब भक्त विद्यानिधिके आगमनकी प्रतीक्षा करने लगे।

एक दिन चुपचाप पुण्डरीक महाशय नवद्वीप पधारे। किसीको भी उनके आनेका पता नहीं चला। बहुत-से भक्तोंने उन्हें देखा भी, किन्तु उन्हें देखकर कौन अनुमान लगा सकता था, कि ये परम भागवत वैष्णव हैं? भक्तोंने उन्हें कोई सांसारिक धनी-मानी पुरुष ही समझा, इसीलिये भक्त उनके आगमनसे अपरिचित ही रहे।

पाठकोंको मुकुन्द दत्तका नाम स्मरण ही होगा। ये चटगाँव-निवासी एक परम भागवत वैष्णव विद्यार्थी थे, इनका कण्ठ बड़ा ही सुमधुर था। अद्वैताचार्यके समीप ये अध्ययन करते थे और उनकी सत्सङ्ग-सभामें अपने मनोहर गायनसे भक्तोंको आनन्दित किया करते थे। जबसे प्रभुका प्रकाश हुआ है, तबसे वे इन्हींकी शरणमें आ गये हैं और प्रभुके साथ मिलकर श्रीकृष्ण-कथा और संकीर्तनमें ही सदा संलग्न रहते हैं। विद्यानिधि इनके गाँवके ही थे। दोनों ही समवयस्क तथा परस्परमें एक दूसरेसे भलीभाँति परिचित थे। मुकुन्द दत्त और वासुदेव पण्डित ही विद्यानिधिके भक्तिभावको जानते थे। प्रभुके परम अन्तरङ्ग भक्त गदाधरसे मुकुन्द बड़ा ही स्नेह करते थे। इसलिये एक दिन एकान्तमें उनसे बोले—'गदाधर! आजकल नवद्वीपमें एक परम भागवत वैष्णव ठहरे हुए हैं, चलो, उनके दर्शन कर आवें।'

प्रसन्नता प्रकट करते हुए गदाधरने कहा—'वाह! इससे बढ़कर और अच्छी बात क्या हो सकती है? भगवत्-भक्तोंके दर्शन तो भगवान्‌के समान ही हैं। अवश्य चलिये, जिनकी आप प्रशंसा करते हैं, वे कोई महान् ही भागवत वैष्णव होंगे!' यह कहकर दोनों मित्र विद्यानिधिके समीप चल दिये। विद्यानिधि नवद्वीपके एक सुन्दर भवनमें ठहरे हुए थे। उनका रहनेका स्थान खूब साफ था। उसमें एक बहुत ही बढ़िया शय्या पड़ी हुई थी, उसके चारों पाये व्याघ्र-मुखकी भाँति कई मूल्यवान् धातुओंके बने हुए थे, उसके ऊपर बड़ा ही सुकोमल विस्तर बिछा था। पुण्डरीक महाशय स्नान-ध्यानसे निवृत्त होकर उस शय्यापर आधे लेटे हुए थे। उनके विस्तृत ललाटपर सुन्दर, सुगन्धित चन्दन लगा हुआ था, बीचमें एक बड़ी ही बढ़िया लाल बिन्दी लगी हुई थी। सिरके घुँघराले बाल बढ़िया-बढ़िया सुगन्धित तैल डालकर विचित्र ही भाँतिसे सजाये हुए थे। कई प्रकारके मसालेदार पानको वे धीरे-धीरे चबा रहे थे, पानकी लालीसे उनके कोमल पल्लवोंके समान दोनों अरुण अधर और भी अधिक लाल हो गये थे। सामने दो पीकदान रखे थे। और भी बहुत-से बहुमूल्य सुन्दर बर्तन इधर-उधर रखे थे। दो नौकर मयूरपिच्छके कोमल पङ्खोंसे उनको हवा कर रहे थे। देखनेमें बिल्कुल राजकुमार-से ही मालूम पड़ते थे। गदाधरको साथ लिये हुए मुकुन्द दत्त उनके समीप पहुँचे और दोनों ही प्रणाम करके उनके बताये हुए सुन्दर आसनपर बैठ गये। मुकुन्द दत्तके आगमनसे प्रसन्नता प्रकट करते हुए पुण्डरीक महाशय कहने लगे—'आज तो बड़ा ही शुभ दिन है, जो आपके दर्शन हुए। आप नवद्वीपमें ही हैं, इसका मुझे पता तो था, किन्तु आपसे अभीतक भेंट नहीं कर सका। आपसे भेंट करनेकी बात सोच ही रहा था, सो आपने स्वयं ही दर्शन दिये। आपके जो ये साथी हैं, उनका परिचय दीजिये।'

मुकुन्द दत्तने शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए गदाधरका परिचय दिया—'ये परम भागवत वैष्णव हैं। बाल्यकालसे ही संसारी विषयोंसे एकदम विरक्त हैं, आप मिश्रवंशावतंस पं० माधवजीके सुपुत्र हैं और महाप्रभुके परम कृपापात्र भक्तोंमेंसे प्रधान अन्तरङ्ग भक्त हैं।'

गदाधरजीकी प्रशंसा सुनकर पुण्डरीक महाशयने

परम प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'आपके कारण इनके भी दर्शन हो गये।' इतना कहकर विद्यानिधि महाशय मुस्कुराने लगे। गदाधर तो जन्म-से ही विरक्त थे। वे पुण्डरीक महाशयके रहन-सहन और ठाट-बाटको देखकर विस्मित-से हो गये। उन्हें सन्देह होने लगा कि ऐसा विषयी मनुष्य किसप्रकार भगवत्-भक्त हो सकता है? जो सदा विषय-सेवनमें ही निमग्न रहता है, वह भगवद्भक्ति कर ही कैसे सकता है?

मुकुन्द दत्त श्रीगदाधरके मनोभावको ताड़ गये, इसीलिये उन्होंने पुण्डरीक महाशयके भीतरी भावोंको प्रकट करानेके निमित्त श्रीमद्भागवतके दो बड़े ही मार्मिक श्लोकोंका अपने सुकोमल कण्ठसे स्वर और लयके साथ धीरे-धीरे गायन किया। उनमें परम कृपालु श्रीकृष्णकी अहैतुकी कृपाका बड़ा ही मार्मिक वर्णन है। वे श्लोक सम्पूर्ण भागवतके दो परम उज्ज्वल रत्न समझे जाते हैं। वे श्लोक ये थे—

अहो बकीयं स्तनकालकूटं
जिघांसयाऽपाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥*
(श्रीमद्भा० ३।२।२३)

पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना।
जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाऽऽप सद्गतिम्॥†
(श्रीमद्भा० १०।६।३५)

मुकुन्द दत्तके मुखसे इन श्लोकोंको सुनते ही विद्यानिधि महाशय मूर्छित होकर शय्यासे नीचे गिर पड़े। एक क्षण पहले जो खूब सजे-बजे बैठे हँस रहे थे, दूसरे ही क्षण श्लोक सुननेसे उनकी विचित्र हालत हो गयी। उनके शरीरमें स्वेद, कम्प, अश्रु, विकृति आदि सभी सात्त्विक विकार एक साथ उदय हो उठे। वे जोरोंके साथ रुदन करने लगे। उनके दोनों नेत्रोंमेंसे निरन्तर दो जल-धारा-सी वह रही थी। घुँघराले कढ़े हुए केश इधर-उधर बिखर गये। सम्पूर्ण शरीर धूलि-धूसरति-सा हो गया। दोनों हाथों वे अपने रेशमी वस्त्रोंको चीरते हुए जोर-जोरसे मुकुन्दसे कहने लगे—'भैया, फिर पढ़ो, फिर पढ़ो। इस अपने सुमधुर गायनसे मेरे कर्ण-रन्ध्रोंमें फिरसे अमृत-सिञ्चन कर दो।' मुकुन्द फिर उसी लयसे स्वरके साथ श्लोक-पाठ करने लगे, वे ज्यों-ज्यों श्लोक-पाठ करते, त्यों-ही-त्यों पुण्डरीक महाशयकी बेकली और बढ़ती जाती थी। वे पुनः-पुनः श्लोक पढ़नेके लिये आग्रह करने लगे, किन्तु उनके साथियोंने उन्हें श्लोक-पाठ करनेसे रोक दिया। पुण्डरीक विद्यानिधि बेहोश पड़े हुए अश्रु बहा रहे थे।

इनकी ऐसी दशा देखकर गदाधरके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। क्षणभर पहले जिन्हें वे संसारी विषयी समझ रहे थे, उन्हें अब इसप्रकार प्रेममें पागलोंकी भाँति प्रलाप करते देखकर वे भौंचक्के-से रह गये। उनके त्याग, वैराग्य और उपरतिके भाव न जाने कहाँ विलीन हो गये, अपनेको बार-बार धिक्कार देने लगे, कि ऐसे परम वैष्णवके प्रति मैंने

* अहो, कितने आश्चर्यकी बात है, दुष्ट स्वभाववाली पूतना अपने स्तनोंमें कालकूट विष लगाकर, उन्हें मारनेकी इच्छासे आयी थी और इसी असद्विचारसे उसने भगवान्‌को स्तन-पान कराया था। उस ऐसे क्रूर-कर्मवालीको भी प्रभुने अपनी पालन-पोषण करनेवाली माताके समान सद्गति प्रदान की। ऐसे परम कृपालु भगवान्‌को छोड़कर और किसकी शरणमें हमलोग जायँ?

† पूतना लोगोंके बालकोंको मारनेवाली, रुधिरको पीनेवाली नीच योनिकी राक्षसी थी। वह मारनेकी इच्छा रखकर स्तन पिलानेसे भी सद्गतिको प्राप्त हो गयी। (अर्थात् दुष्टबुद्धिसे भगवत्-संसर्गका इतना माहात्म्य है फिर जो श्रद्धा-बुद्धिसे उनका स्मरण-पूजन करते हैं उनका तो कहना ही क्या!)

ऐसे कलुषित विचार रखकर घोर पाप किया है । वे मन-ही-मन अपने पापका प्रायश्चित्त सोचने लगे । अन्तमें उन्होंने निश्चय किया कि वैसे तो हमारा यह अपराध अक्षम्य है । भगवदपराध तो क्षम्य हो भी सकता है, किन्तु वैष्णवापराध तो सर्वदा अक्षम्य है । इसके प्रायश्चित्तका एक ही उपाय है । हम इनसे मन्त्र-दीक्षा ले लें, इनके शिष्य बन जायँ, तो गुरु-भावसे ये स्वयं ही क्षमा कर देंगे । ऐसा निश्चय करके इन्होंने अपना भाव मुकुन्द दत्तके सम्मुख प्रकट किया । इनके ऐसे विशुद्ध भावको समझकर मुकुन्द दत्तको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने इनके विमल भावकी सराहना की ।

बहुत देरके अनन्तर पुण्डरीक महाशय प्रकृतिस्थ हुए। सेवकोंने उनके शरीरको झाड़-पोंछकर ठीक किया। शीतल जलसे हाथ-मुँह धोकर वे चुपचाप बैठ गये । तब विनीत भावसे मुकुन्दने कहा—'महाशय, ये गदाधर पण्डित कुलीन ब्राह्मण हैं, सत्पात्र हैं, परम भागवत वैष्णव हैं । इनकी हार्दिक इच्छा है, कि ये आपके द्वारा मन्त्र ग्रहण करें। इनके लिये क्या आज्ञा होती है ?'

कुछ संकोच और नम्रताके साथ विद्यानिधि महाशयने कहा—'ये तो स्वयं ही वैष्णव हैं, हममें इतनी योग्यता कहाँ है, जो इन्हें मन्त्र-दीक्षा दे सकें ? ये तो स्वयं ही हमारे पूज्य हैं ।'

मुकुन्द दत्तने अत्यन्त ही दीनताके साथ कहा—'इनकी ऐसी ही इच्छा है । यदि आप इनकी इस प्रार्थनाको स्वीकार न करेंगे तो इन्हें बड़ा भारी हार्दिक दुःख होगा । आप तो कृपालु हैं, दूसरेको दुखी देखना ही नहीं चाहते । अतः इनकी यह प्रार्थना अवश्य स्वीकार कीजिये ।'

मुकुन्द दत्तके अत्यधिक आग्रह करनेपर इन्होंने मन्त्र-दीक्षा देना स्वीकार कर लिया और दीक्षाके लिये उसी दिन एक शुभ मुहूर्त भी बता दिया । इस बातसे दोनों मित्रोंको बड़ी प्रसन्नता हुई और वे बहुत रात्रि बीतनेपर प्रेममें निमग्न हुए अपने-अपने स्थानोंके लिये लौट आये ।

इसके दूसरे-तीसरे दिन गुप्तभावसे पुण्डरीक महाशय अकेले ही एकान्तमें प्रभुके दर्शनके लिये गये । प्रभुको देखते ही ये उनके चरणोंमें लिपटकर फूट-फूटकर रुदन करने लगे । विद्यानिधिको अपने चरणोंमें पड़े हुए देखकर प्रभु मारे प्रेमके बेसुध-से हो गये । उन्होंने पुण्डरीक विद्यानिधिका जोरोंके साथ आलिङ्गन किया । पुण्डरीकके मिलनेसे उनके आनन्दका पारावार नहीं रहा । उस समय उनकी आँखोंसे अविरल अश्रु प्रवाहित हो रहे थे । सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो रहा था । वे पुण्डरीककी गोदीमें अपना सिर रखकर रुदन कर रहे थे, इसप्रकार दो प्रहरतक विद्यानिधिके वक्षःस्थलपर सिर रक्खे निरन्तर रुदन करते रहे । पुण्डरीक महाशयके सभी वस्त्र प्रभुके अश्रुओंसे भीग गये थे । पुण्डरीक भी प्रेममें बेसुध हुए चुपचाप प्रभुके मुखकमलकी ओर एकटक दृष्टिसे देख रहे थे । उन्हें समयका कुछ ज्ञान ही नहीं रहा, कि कितना समय बीत गया है । दोपहरके अनन्तर प्रभुको ही कुछ-कुछ होश हुआ । उन्होंने उसी समय भक्तोंको बुलाया और सभीसे पुण्डरीक महाशयका परिचय कराया । पुण्डरीक महाशयका परिचय पाकर सभी भक्त परम सन्तुष्ट हुए और अपने भाग्यकी सराहना करने लगे । विद्यानिधिने अद्वैत आदि सभी भक्तोंकी पदधूलि लेकर अपने मस्तकपर चढ़ायी और सभीको श्रद्धा-भक्तिके साथ प्रणाम किया । इसके अनन्तर पुण्डरीकको बीचमें लेकर सभी भक्त चारों ओरसे संकीर्तन करने लगे । श्रीकृष्ण-संकीर्तनको सुनकर पुण्डरीक महाशय फिर बेहोश हो गये । भक्तोंने संकीर्तन बन्द कर दिया और भाँति-भाँतिके उपचारों-

द्वारा पुण्डरीकको होश कराया। कुछ सावधान होने-पर प्रभुकी आज्ञा लेकर पुण्डरीक अपने स्थानके लिये चले गये।

शामको आकर गदाधरने पुण्डरीकके समीप मन्त्र-दीक्षा लेनेकी अपनी इच्छा प्रभुके सम्मुख प्रकट की। इस बातको सुनकर प्रभु अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और गदाधरसे कहने लगे—'गदाधर, ऐसा सुयोग तुम्हें फिर कभी नहीं मिलेगा। पुण्डरीक-जैसे भगवत्-भक्तका मिलना अत्यन्त ही दुर्लभ है। तुम इस काम-में अब अधिक देरी मत करो। यह शुभ काम जितना भी शीघ्र हो जाय उतना ही ठीक है।'

प्रभुकी आज्ञा पाकर नियत शुभ तिथिके दिन गदाधरजीने विद्यानिधिसे मन्त्र-दीक्षा ले ली।

जिनके लिये महाप्रभु गौराङ्ग स्वयं रुदन करते हों, जिनकी प्रशंसा करते-करते प्रभु अधीर हो जाते हों, गदाधर-जैसे परम त्यागी और महान् भक्त जिनके शिष्य बननेमें अपना सौभाग्य समझते हों, ऐसे भक्ता-ग्रगण्य श्रीपुण्डरीक विद्यानिधिकी विशद विरुदावली-का बखान कौन कर सकता है? सचमुच विद्यानिधि-की भक्ति परम शुद्ध और सात्त्विक कही जा सकती है, जिसमें दिखावट या बनावटीपनका लेश भी नहीं था। ऐसे प्रच्छन्न भक्तोंकी पदधूलिसे पापी-से-पापी पुरुष भी परम पावन बन सकता है।*

द्वन्द्वातीत

(लेखक—काव्यरत्न पं० श्रीभगवत्प्रसादजी शुक्ल 'सनातन')

वह सर्वसम्पन्न था। सांसारिक भोग-उपभोगोंकी उसके लिये कोई न्यूनता न थी। उसकी छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी कोई भी उपभोग-आकांक्षा अतृप्त नहीं रहती थी। विशाल साम्राज्य-पर उसका एकछत्र शासन था। उसकी शासन-सत्ता स्थिर एवं प्रबल थी। उसके राज्यके स्वामी, कोष, सुहृद्, बल आदि सब अङ्ग विकाररहित, सबल एवं परिपुष्ट थे। वह प्रजा-वत्सल था और उसकी प्रजा थी विशुद्ध राजभक्त।

अपने उस स्वर्ग-सम साम्राज्यमें कभी शान्ति-भङ्ग एवं विद्रोहकी चिन्तनीय कल्पना करना भी उसके लिये कोरी कल्पनामात्र थी। प्रारम्भसे अन्ततक किसी अन्य राष्ट्रकी शक्तिने उसपर क्रियात्मक आक्रमण तो दूर, मानसिक आक्रमणका भी दुःसाहस नहीं किया था। उसके समीप जो आया, मित्र बनकर आया और बड़े सम्मानके साथ उसकी साम्राज्य-व्यवस्था एवं कर्मपरायणताका अनुकरणीय भाव लेकर लौटा। सारांश, उसका साम्राज्य भूलोकका इन्द्र-साम्राज्य था और वह था इस भूस्वर्गका इन्द्र।

उसकी पारिवारिक परिस्थिति भी उसके लिये सन्तोष, शान्ति एवं परमाह्लादसे परिपूर्ण थी। साक्षात् लक्ष्मीस्वरूपा गृहस्वामिनीको प्राप्तकर वह स्वयं लक्ष्मीपतिके समकक्ष था। उसके सर्वगुणसम्पन्न सुत विनीत एवं उसके वशवर्ती आज्ञापालक थे, जिनसे वह अपनेको अनन्य सौभाग्यशाली पिता अनुभव करता था। अन्य पारिवारिक परिचायक सेवक-सेविकाएँ उसके तनिक-से संकेतपर अपना तन, मन न्यौछावर करनेको सदा सहर्ष प्रस्तुत थे।

* गीताप्रेससे प्रकाशित श्रीश्रीचैतन्य-चरितावलीके द्वितीय खण्डसे।

मृदुता और मधुरता ही उसके जीवनकी चिर-अनुभूतिके विषय बने हुए थे। कठोरता और कटुता-की अनुभूतिका प्रसङ्ग उसके मनको स्पर्श भी न कर पाया था। इसप्रकार पूर्ण अनुकूल परिस्थिति एवं परिचारकोंसे अनुलालित, पालित एवं सेवित उसका कमनीय कलेवर और आन्तरिक हृदय सर्वातिशायी सौख्यपूर्ण साम्राज्यका सुखोपभोग कर रहा था।

× × × ×

समय किसीकी प्रतीक्षा नहीं करता, अपितु संसारके सञ्चालनके लिये समय ही सर्वथा अपेक्षित होता है। ठीक इसी समयचक्रके कारण उसके भाग्यने पलटा खाया। कर्मानुसार प्रकृतिकी नाटक-शालाका पट-परिवर्तन हुआ और रङ्गमञ्चपर अचानक एक-दूसरे ही कल्पनातीत दृश्यमें नायकका आविर्भाव हुआ जो पहलेकी अपेक्षा नितान्त विपरीत एवं महाभयङ्कर था।

सहसा उसके साम्राज्यके चारों ओर विद्रोहकी वह्नि उद्दीप्त हो उठी, जिसकी उसे कभी आशङ्का भी न थी। उसके साम्राज्यके बहिर्भूत अन्य राष्ट्रोंकी उसके प्रति स्वाभाविक ईर्ष्या जाग उठी। समय पाकर उसने सङ्गठनका रूप धारण किया और पारस्परिक सहयोगने उस सङ्गठनको परिपुष्ट बना दिया। विरोधियोंकी सङ्गठित शक्तिके कारनामोंसे साम्राज्यमें आतङ्क छा गया।

उसके साम्राज्यमें यह अश्रुतपूर्व घटना थी। दमनका दौर-दौरा प्रारम्भ हुआ। विप्लवकारियोंके प्रतिकारके लिये सेनाएँ भेजी गयीं पर फल वही हुआ जो दुर्दैवके सामने होनेपर हुआ करता है। साम्राज्यकी ओरसे ज्यों-ज्यों प्रतिपक्षियोंको दबानेकी चेष्टा की गयी, त्यों-ही-त्यों घृतकी आहुतियोंसे प्रदीप्त हुई होमाग्निके तुल्य प्रतिकूल बल बढ़ता ही गया।

अधिकारियोंने भयभीत हो इस भयङ्कर परिणामसे उसे सूचित किया। यह सब कुछ सुननेपर भी न उसे उद्विग्नता थी, न मनोमालिन्य! नाटकके कला-कुशल अभिनेताकी भाँति वह कर्तव्यपरायणताके साथ अपनी विपुल वाहिनी लेकर रणक्षेत्रमें कूद पड़ा। उसके उस कुसुम-शय्याशायी शरीरकी कोमलता कर्कशतामें परिणत हो गयी। प्रतीत होता था मानो उसे मृदुलताने कभी स्पर्श ही नहीं किया। कर्तव्यकी कराल मूर्ति बनकर वह कठोरताका चिर-अभ्यासी-सा दृष्टिगोचर हो रहा था।

रण-चण्डिका चेती और पक्षद्वयके उन्मत्त वीरोंके तप्त रुधिरसे अपना खप्पर भर-भर विकराल अट्टहासके साथ पान करने लगी। विजय-लालसामें अन्धी हुई पक्ष और प्रतिपक्षकी पारस्परिक शक्तियोंके संघर्षसे सुदूरवर्ती जनसमूह भी भयभीत हो उठा।

होनहार प्रबल होती है। उसके सामने अच्छे-अच्छे अनुभवियोंकी अनुमान-प्रणाली भी विफल हो जाती है। कार्यका कारण बनते कुछ भी देर नहीं लगती। उसके साम्राज्यका चिर-विलासाभ्यासी अधिकारी-वर्ग विपक्षमें अगणित राष्ट्रोंके शक्ति-सञ्चयको देख त्रस्त हो उठा। कुछने विपक्षियोंकी शरण ली और साम्राज्यका अन्तर्रहस्य विस्फोटनकर उसे विनाशके गहरे गर्तकी ओर बढ़ाया। आन्तरिक और बाह्य दोनों ओरकी चोटें पड़नेपर भला कौन शक्तिशाली साम्राज्य स्थिर रह सकता है? प्रति-द्वन्द्वी राष्ट्र-संघने उसके अन्तर्जर्जरित साम्राज्यपर अपनी विजय-पताका फहरा दी।

अब वह सम्राट् नहीं, बन्दी था; शासक नहीं, शासित था। उसकी अशन-वसन-क्रिया भी

विपक्षियोंके अधीन थी, पर अपने जीवनमें इतना पृथिवी-आकाश-सम विपर्यय होनेपर भी वह सर्वथा शान्त, अविचल था। उसकी शान्त और गम्भीर मुद्रामें कोई विकृति नहीं आ पायी। शोक और विषाद उसके सदानन्दपूर्ण हृदयका स्पर्शतक नहीं कर सके। वह गीताके *'समदुःखसुखं धीरं'* का मूर्तिमान् उदाहरण था। देहाध्यासी जनता उसे देख अवाक् रह गयी।

× × × ×

संसार संसृति-शक्ति है, सृजन और संहार इसके अध्यवसाय हैं। लीलामयके इस लीला-निकेतनमें नाटकशालाकी भाँति क्षण-क्षणमें दृश्य-परिवर्तन होते रहते हैं। विवेकी पुरुष इसे समझते हुए आनन्द और मुक्तिका अनुभव करते हैं और अविवेकी-समुदाय दुःख और बन्धनका।

परसोंका सम्राट् कल बन्दी था। आज वह बन्दी भी न रहा। नवीन शासन-सत्ताकी ओरसे उसे देश-निर्वासनका दण्ड दिया गया और जनताको उससे किसी भी प्रकारकी सहानुभूति न दिखानेका कठोर आदेश!

कलतक जिन राज-मार्गोंपर उसकी शाही शानसे सवारी निकलती थी, आज वह उन्हीं मार्गोंसे एकाकी और पदातिके रूपमें गमन कर रहा है! कल जिसके पथमें पाँवड़ोंके स्थानपर अपने नेत्र-कमल बिछा देनेको उद्यत रहनेवाले राजभक्तोंकी कमी न थी, आज उसकी ओर आँख उठाकर देखनेवाला भी कोई नहीं!

त्रिगुणमयी प्रकृतिका पुजारी संसार आश्चर्य, कौतूहल, उपहास और दयाके विभिन्न भावोंसे आवेशित हो उसकी आलोचनामें तल्लीन था। पर वह अथाह सागर-सम अन्तर्लीन था। उसे न लज्जा थी, न सङ्कोच, न मोह और न विषाद!

राजासे रङ्करूपमें परिणत कर देनेवाली विकट परिस्थितिका तूफान उसके मानस-सागरको तरङ्गित न कर सका। उसकी प्रज्ञा स्थिर थी। वह गीताके *'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः'* का प्रत्यक्ष उदाहरण था।

आजसे जनशून्य बीहड़ वन ही उसका असीम साम्राज्य था और त्रिगुण-मूर्ति जाङ्गलिक जीव-जन्तु ही उसकी प्रिय प्रजा। गिरि-गह्वरोंके उच्च राज-प्रासादोंमें प्राकृतिक राजसेवक वन-वृक्षोंसे सादर समर्पित कन्द-फल-पत्रादि अनुपम अशन-वसन-सामग्री ही उसके जीवन-यापनका साधन था। सम्राट्कालीन प्रत्येक समयके विभिन्न वाद्य-वादनका स्थान करि, केसरी आदि भयानक जीवोंके चीत्कार-रवने ले लिया था।

उसकी आन्तरिक राज-सभा आत्म-ज्योतिके अविरल प्रकाशसे प्रकाशित थी। वह हृदयके न्यायासनपर विराजमान था और प्रज्ञारूप मन्त्रीके सहयोगसे अपने अन्तर्जगत्के गुण-दोषरूप पारस्परिक शत्रु-मित्रोंके द्वन्द्वका यथावत् न्याय करता था।

बाह्य जगत्के प्राणियोंमें उसके बनने और बिगड़नेकी पर्याप्त चर्चा थी। उसके सुख और दुःख-की कल्पना एक नागरिक गाथा बन गयी थी, पर वह अपनी भूत और वर्तमान स्थितिमें कोई अन्तर नहीं देखता था।

उसे न गत-वैभवका पश्चात्ताप था और न वर्तमान-स्थितिमें असन्तोष। वह गीताके *'द्वन्द्वातीतो विमत्सरः'* का ज्वलन्त उदाहरण था।

मोक्षका सहज साधन

(लेखक—श्रीहरिस्वरूपजी जौहरी एम० ए०)

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

श्रीभगवान् कहते हैं कि 'ॐ जो एकाक्षर ब्रह्म है, उसको मुखसे बोलता हुआ और मुझको स्मरण करता हुआ जो व्यक्ति शरीर-त्याग करता है वह परमगति अर्थात् मोक्षको प्राप्त होता है।' यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या भगवान्ने मोक्षको इतना सुलभ कर दिया है? कहाँ तो यह कहते हैं कि, '*अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्*' अर्थात् अनेक जन्मोंकी संसिद्धिसे परमगतिकी प्राप्ति होती है और कहाँ यह कि, 'केवल मृत्युके समय ॐकारका जप करता हुआ शरीर-त्याग करनेवाला परमगतिको प्राप्त होता है।' दोनोंमें कितना अन्तर दीख पड़ता है?

परन्तु वास्तवमें इसमें रहस्य है और वह गूढ़ है। मृत्युका समय जीवनमें सबसे बड़ा भयानक समय होता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक संसारमें लिप्त होता है, मृत्युकालकी भयानकता भी उसके लिये उतनी ही बड़ी होती है। विचार कीजिये, एक कंजूस, जिसने जीवनपर्यन्त धन बटोर कर उसमें प्रगाढ़ आसक्ति कर ली है, उससे यदि कोई बलात्कार वह धन छीनने लगे तो उसे कितना दुःख होगा? ऐसे अवसरोंपर कहीं-कहीं तो ऐसा होता है कि मनुष्य जिस पदार्थमें आसक्त रहता है उससे वियोग होते ही उसका प्राणान्त हो जाता है। उसी प्रकार जब संसारमें कुछ समयतक रहकर मनुष्य एक नहीं अनेक बन्धनोंमें फँस जाता है, अनेक प्राणियोंसे गाढ़ अनुराग कर लेता है तथा अनेक वस्तुओंमें आसक्त रहता है, उस समय जब उसे अचानक संसारसे खाली हाथ कूच करनेकी आज्ञा मिलती है, सब प्रेमकी वस्तुएँ छोड़नी पड़ती हैं, सारे सम्बन्ध तोड़ने पड़ते हैं, तब उसको कैसा मर्मान्तिक दुःख होता होगा, उसका वर्णन करना लेखनीकी शक्तिके बाहर है।

कहा जाता है कि प्राण निकलते समय जीवको एक सहस्र बिच्छूके डंक मारनेके बराबर पीड़ा होती है। साथ ही पापी जीवोंके जन्मभरके पाप भी भयानक रूप धारणकर उसके सामने उपस्थित होते हैं। वस्तुतः जब मरणकालमें प्राणीकी ऐसी असहाय अवस्था हो जाती है और साथ ही वह शरीर, जिसका उसने जन्मभर लालन-पालन किया था, जवाब देने लगता है, कफ-वात-पित्त घोर शत्रुकी तरह अपना ज़ोर दिखाने लगते हैं, ऐसी वर्णनातीत मर्मान्तिक वेदनाकी अवस्थामें 'ॐ' शब्दब्रह्मका उच्चारण तथा मनमें भगवान्का स्मरण कैसे सम्भव हो सकता है? इसीलिये तो एक भक्त भगवान्से प्रार्थना करता है—

कृष्ण त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते॥

'अर्थात् हे कृष्ण! आपके चरणकमलरूपी पिञ्जरमें मेरा मनरूपी राजहंस आज ही प्रवेश कर जाय; क्योंकि प्राण निकलते समय कफ-वात-पित्तसे कण्ठ रुँध जानेपर आपका स्मरण कैसे हो सकता है?'

इससे यह विदित होता है कि प्राणोंके निकलते समय ॐका उच्चारण तथा भगवान्का स्मरण करना कोई सहज बात नहीं है, वरं असम्भव-सा है। यह केवल तभी सम्भव हो सकता है जब मनुष्यने जीवन-

भर इसका अभ्यास किया हो । आजीवन भगवान्का नाम-स्मरण होनेसे मृत्युकालमें भी उसका होना नितान्त सम्भव है, इसी कारण भक्तोंको निरन्तर भगवच्चिन्तन तथा भगवत्-स्मरणकी आज्ञा है ।

अच्छा, इस मोक्षप्रद साधनका रहस्य क्या है ? देखिये, भगवान् कहते हैं कि केवल उच्चारण ही नहीं, बल्कि एकाक्षर ब्रह्मका उच्चारण तथा मेरा स्मरण मोक्षके साधन हैं । ॐ (प्रणव) का कितना बड़ा महत्त्व है, इसे भगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे कह दिया है । '*प्रणवः सर्ववेदेषु*'—मैं सब वेदोंमें 'प्रणव' हूँ । बिना प्रणवके सब मन्त्र सम्पूर्ण वेद प्राणहीन हैं । 'प्रणव' का इतना महत्त्व क्यों है, यह रहस्य समझनेयोग्य है । इसका प्रत्येक अंश सारपूर्ण है । यह एकाक्षर होकर भी अ, उ, म्— इन तीन अक्षरोंसे बना हुआ है । इसे एकाक्षर इस अर्थमें कहा जाता है कि तीनों अक्षरोंके संयोगसे इसकी ध्वनि एक अक्षरके समान ही होती है । इसके प्रत्येक अक्षरपर किञ्चित् विचार करना चाहिये । यहाँ इन अक्षरोंकी व्युत्पत्ति अथवा व्याख्याके चक्करमें न पड़कर सीधा-सीधा अर्थ लिखा जाता है ।

अकारका अर्थ है जगत्का स्रष्टा तथा रक्षक परमात्मा, मकारका अर्थ है ज्ञानयुक्त, ज्ञानस्वरूप जीवात्मा, उकारका अर्थ है 'एव' ही । अर्थात् 'ज्ञानस्वरूप जीवात्मा मैं जगत्के रचयिता तथा रक्षक परमात्माका ही हूँ, अन्यका नहीं । मेरा एकमात्र सहाय केवल परमात्मा है ।'

इसप्रकार मेरा (भगवान्का) स्मरण करता हुआ यदि जीव देहत्याग करे तो परमगतिको प्राप्त होगा । वस्तुतः ॐकारका ऐसा चिन्तन होनेसे परमगतिकी प्राप्ति सुलभ ही है । क्योंकि अन्तकालमें जीव जैसा-जैसा चिन्तन करता है वैसी ही उसकी आगे गति होती है । फिर जो जीव अपनेको, 'परमात्माका ही हूँ' ऐसा चिन्तन करता है उसे परमात्माकी प्राप्ति हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं । परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मृत्युकालमें इसप्रकारका चिन्तन उसी जीवको हो सकता है, जिसने जीवनभर इसका अभ्यास किया है, यही इस उक्तिका रहस्य है । यह जैसा देखने-सुननेमें सहज है, वैसा ही करनेमें कठिन है ।

अतएव जिज्ञासुओंको उचित है कि भगवान्के बतलाये हुए इस मोक्षसाधनको सहज समझ 'खाओ, पीओ, मौज करो' का आचरण करते हुए इस आशामें न रहें कि अन्तकालमें ॐकारका उच्चारणकर परमगतिको प्राप्त कर लेंगे, क्योंकि इसप्रकारकी आशा आकाशपुष्पके समान असम्भव है । अतएव मुमुक्षुमात्रका यह कर्तव्य है कि भगवान्के इस मोक्षसाधनके रहस्यको गुरुद्वारा श्रवणकर उसका मनन करते हुए अभ्यासके द्वारा परमपदके पथपर अग्रसर हों ।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत !

जिनके मनमें रमि रह्यो भोगरूप रमनीय ।
तिनके मन प्रगटत नहीं कृष्णरूप कमनीय ॥
बिनु विराग उपजै नहीं कृष्ण-चरण अनुराग ।
हरि-पद-रति बिनु जगतमें जीवन निपट अभाग ॥
बड़भागी ते नर परम जिनके मन वैराग ।
श्याम-चरन बढ़तो रहै नित नव-नव अनुराग ॥

सौन्दर्यकी मीमांसा

(लेखक—श्रीप्रसन्नवदन छबीलारामजी दीक्षित)

सौन्दर्यका आदर्श क्या है ? वस्तुतः मनुष्यमात्रको अविनाशी और चिरन्तन सौन्दर्यके प्राप्त करनेकी तीव्र आकांक्षा होती है । किसीको भी अपनी सम्पादन की हुई अमूल्य सम्पत्तिका अपहरण सह्य नहीं होता। ऐसी अवस्थामें वह यथार्थ सौन्दर्य क्या है, जो अविनाशी और चिरन्तन बना रहता है ? वह सौन्दर्य बाह्य है या आभ्यन्तर ? यह मनुष्यका कलेवर, जो हड्डी, मांस, रुधिर प्रभृति अनेक अपवित्र, मलिन और दुर्गन्धयुक्त पदार्थोंसे बना हुआ है तथा जो बुद्बुदकी भाँति क्षणभरमें नष्ट हो जानेवाला है, इसको सुन्दर वस्त्र-आभूषण तथा बाह्य आडम्बरसे सजाकर सौन्दर्यकी प्राप्ति मानना कहाँकी बुद्धिमानी है ? इन्हीं प्रश्नोंके सम्बन्धमें यहाँ विचार करना है । हमारी समझसे आडम्बरहीन सौन्दर्य आडम्बरपूर्ण सौन्दर्यसे कहीं श्रेष्ठ है। इसी बातका समर्थन एक अंग्रेजीभाषाका कवि इसप्रकार करता है—

'Beauty unadorned is adorned the most.'

आभूषण-विमुक्त सौन्दर्य ही सबसे अधिक विभूषित होता है । कविकुलगुरु कालिदासने भी *'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्'*—इसप्रकारके स्पष्ट शब्दोंके द्वारा इसी आशयको परिपुष्ट किया है । भला प्रतिक्षण अभिनव रूप धारण करनेवाली, नवीनताका स्वाङ्ग रचनेवाली कृत्रिमता कभी अविनाशी नैसर्गिक सौन्दर्यका पराभव कर सकती है ? कदापि नहीं । भड़कीले वस्त्र और आभूषण तथा अन्यान्य बाह्य आडम्बर कृत्रिम और अगण्य सौन्दर्यसे युक्त होनेके कारण कभी मनुष्य-शरीरके यथार्थ अलङ्कार नहीं बन सकते । यही नहीं, बल्कि विलासमय और वैभवयुक्त होनेसे जीवनमें वासनाओंकी और भी अभिवृद्धि होती जाती है ।

इसी आशयको लक्ष्यमें रखकर अंग्रेजीभाषाके सुप्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथने सौन्दर्यकी इसप्रकार विशद व्याख्या की है—

'Handsome is that handsome does'

अर्थात् 'सुन्दर वही है जो सुन्दर काम कर दिखाता है ।' जिस मनुष्यके कर्म निर्मल और सुन्दर हैं, यथार्थमें वही सुन्दर कहा जा सकता है । सदा ही नवीन बनी रहनेवाली निर्मल और विशुद्ध हृदयकी दिव्य और सुसंस्कृत सद्बुद्धिमें ही यथार्थ सौन्दर्य—वास्तविक अविनाशी सुन्दरताका चिरन्तन निवास-स्थान हो सकता है। भर्तृहरिने भी इसी आशयका समर्थन करते हुए बाह्य और आभ्यन्तर सौन्दर्यका भेद स्पष्ट करते हुए सूत्ररूपसे कह दिया है कि उत्कृष्ट संस्कारयुक्त निर्मल वाणी और पुनीत सुसंस्कृत ज्ञान ही मनुष्यके लिये जन्म-जन्मान्तरमें हितकारक और श्रेयस्कर एकमात्र साधनरूप होनेके कारण संसारमें आदर्श सौन्दर्यरूप कहा जा सकता है ।

संसाररूप विषवृक्षके जो दो फल निरूपित किये गये हैं वे दोनों ही इस सुसंस्कृत, श्रेयस्कर ज्ञानके सम्पादन करनेमें विशेष सहायक होते हैं । ये फल अलभ्य किंवा दुष्प्राप्य नहीं हैं । अमृततुल्य सुसंस्कृत ज्ञान और सज्जनोंकी संगति—इन दोनोंके आदर्श और उज्ज्वल प्रकाशके सामने वस्त्रालङ्कारादिके बाह्य और कृत्रिम सौन्दर्य नगण्य और निस्तेज हो जाते हैं । साधक पुरुषको उत्कृष्ट सात्त्विक गुणोंकी सहायतासे ही चिरन्तन और अविनाशी सौन्दर्यकी

उपलब्धि होती है, क्योंकि शरीर और गुणोंके बीचमें महान् अन्तर होता है। शरीरके क्षणध्वंसी होनेके कारण तद्गत सौन्दर्य अविनाशी नहीं कहा जा सकता और उत्कृष्ट संस्कृतिको सुशोभित करनेवाले उदात्त सद्गुणोंका अस्तित्व कल्पान्ततक बना रहता है। इसी कारण भारतीय संस्कृति निरन्तर संशुद्ध-किल्बिष होनेके लिये प्रयत्नशील रहनेका उपदेश करती है।

गुर्जर-कविश्रेष्ठ कलापीने कहा है कि, 'सौन्दर्य पामतां पहेलां सौन्दर्य बनवुं पड़े।' अर्थात् 'सौन्दर्यकी उपलब्धि होनेके पहले ही उसकी प्राप्तिके लिये सौन्दर्यरूप बन जाना पड़ता है।' उपनिषद् भी 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' इस वाक्यके द्वारा इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। आदर्शके परिशीलन, स्थिर चिन्तन और एकाग्र मननद्वारा आदर्शमय, आदर्शरूपकी सिद्धि हो जानेपर यथार्थ और अविनाशी आदर्शकी प्राप्ति सहजसाध्य हो जाती है। परन्तु आदर्शकी प्राप्ति सहज वस्तु नहीं है, वह अत्यन्त दुर्लभ और दुःसाध्य है। अवश्य ही उसे असम्भव नहीं कह सकते। लार्ड बेकनने तो इस दुःसाध्यताके कारण यहाँतक कह डाला है कि—'An ideal is that which can never be fully realised'

अर्थात् 'जिसकी पूर्णतया प्राप्ति नहीं हो सकती उसी तत्त्वको आदर्श कहते हैं।' इसी आदर्शकी प्राप्तिके लिये भगवान् गीतामें कहते हैं—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

तथा—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

अर्थात् 'यत्नपूर्वक चेष्टा करता हुआ निर्धूतपाप योगी अनेक जन्मोंके अन्तमें परमगति (आदर्श) को प्राप्त होता है।' तथा—'ज्ञानी पुरुष अनेक जन्मोंके अन्तमें मुझको प्राप्त होता है।'

जिसप्रकार कीट अहर्निश भ्रमरके गुञ्जारको श्रवण करके स्वस्वरूपका त्याग करता हुआ भ्रमरके समान उदात्त, सुसंस्कृत शरीरको सम्पादन करता है, उसी प्रकार आदर्शके अहर्निश जागृत मनन, निदिध्यासनके द्वारा साधक, उपासक अपने आदर्श (साध्य, उपास्य) के यथार्थ स्वरूपको प्राप्त कर सकता है। इसप्रकारके आदर्श स्वरूपके सम्पादन करनेमें ही तत्त्वज्ञानी पुरुषोंने आदर्श सौन्दर्यकी अभिव्यक्ति मानी है। इसी प्रकार सुभाषितकार कहते हैं—

'क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे'

अर्थात् 'महान् पुरुषोंकी क्रियासिद्धि उनके सत्त्वमें ही रहती है, उपकरणमें नहीं।'

इसप्रकारके उत्कृष्ट सत्त्व (स्वरूप) के सम्पादन कर लेनेपर ही समस्त महत्कार्योंकी सिद्धि महापुरुषोंको सुलभ हो जाती है। अतः मानना पड़ेगा कि सौन्दर्यका फलितार्थ विभूतिमत्ता अर्थात् जीवनको आदर्श बनाना है और उसीके द्वारा आन्तरिक सत्त्वका यथेष्ट विकास हो सकता है। यही आन्तरिक सत्त्वका विकास मनुष्यकी महत्ताका द्योतक है। भवभूतिने भी कहा है—*'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु'*। इसी मूर्तिमान् आदर्शके कारण वीरपूजा, आदर्शोपासना-जैसी उन्नत भावनाओंका उदय होता है। वस्तुतः सौन्दर्यपूजाके ही यह सब रूपान्तर हैं, क्योंकि गौरव-गुणानुरागिता ही इसमें प्रधान कारण होती है।

सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेसे प्रतीत हो जायगा कि जिसप्रकार आत्मा अविनाशी है उसी प्रकार आत्माका सौन्दर्य—आन्तरिक ओजस्—भी उतना ही अचल और अमर है। इसी आशयको लक्ष्यमें रखकर भार-

तीय आर्योंने विवाहकी भावनाको पति-पत्नीके स्थूल देहके एकीकरणमात्रमें ही आबद्ध नहीं रक्खा; प्रत्युत उनके मन, प्राण, हृदय आदिके आध्यात्मिक ऐक्यको ही उन्होंने विवाहका स्वरूप दिया। सूक्ष्म आध्यात्मिक भावनाके सामने स्थूल पार्थिव भावनाका पराजय स्वतःसिद्ध है, क्योंकि पार्थिव सौन्दर्य नाशवान् है और एकमात्र आध्यात्मिक किंवा आन्तरिक सौन्दर्य ही अविनाशी है। अतएव यही सौन्दर्यका यथार्थ आदर्श सिद्ध होता है। श्रीभर्तृहरिजीने पार्थिव सौन्दर्यके नाशक अविनाशी कालका स्तवन करते हुए इसी सिद्धान्तकी पुष्टि की है—

भ्रातः कष्टमहो महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सापि राजपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः।
उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपदं कालाय तस्मै नमः॥

'हे भाई! कैसी दुःखकी बात है कि वह महाराजा, उनके चतुर्दिक बैठनेवाले वह सामन्तगण, पास रहनेवाले वह राज्यपरिषद्‌के सभासद, वह चन्द्रमा-सी सुन्दर मुखवाली ललनाएँ, वह सुन्दर राजपुत्र-समूह, वह वन्दीजन और वे कथाएँ; यह सब जिनके कारण आज स्मृतिके विषय हो रहे हैं उस काल-भगवान्‌को नमस्कार है।' कालका अर्थ '*कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः*' ही मानना पड़ेगा।

अतएव आदर्श सौन्दर्यको प्राप्त करनेके लिये विवेकशील साधकको उस सौन्दर्यके निधानरूप तथा परोपकार, दया, वात्सल्यादि उदात्त आदर्शोंके मूर्तिमान् स्वरूप भगवान् वासुदेवका ध्यान, भजन, स्थिर चिन्तन और निदिध्यासन करना परमावश्यक है। आदर्शका सतत परिशीलन करनेसे ही साधकको उसकी प्राप्ति हो सकती है। इसी हेतुको सामने रखकर भक्तके लिये शास्त्रोंने '*तस्यैवाहम्*' अर्थात् मैं उसका ही हूँ, '*ममैवासौ*' अर्थात् वह सौन्दर्य-निधान परमात्मा मेरा ही है—इसप्रकारकी क्रमिक कक्षाका विधान करके अन्तमें '*स एवाहम्*' अर्थात् मैं तद्रूप ही हूँ, उस अन्तर्यामी परमात्मासे भिन्न या अतिरिक्त तत्त्व नहीं हूँ—इसप्रकारकी उपास्य-उपासकमें सम्पूर्ण अभेद-भावकी उच्चतम स्थितिका निरूपण किया है। इससे यह सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि आदर्श सौन्दर्य-का उपासक सौन्दर्यके इसी आदर्शको सतत परिशीलन करते हुए अन्तमें हस्तामलकवत् परमपदको प्राप्त होता है।

भारी भूल

हुई थी कैसी भारी भूल!

हार बनाया जिसे समझ कर सुखसुषमामय फूल,
आह! हृदयमें चुभ-चुभ कर वह जान पड़ा अब 'शूल'।
जिसे मोह-वस मैं माना था निज रुचिके अनुकूल,
कितनी विषम वेदना सह कर जाना वह 'विष-मूल'॥१॥

भ्राता, पुत्र, कलत्र आदिका पाकर मिथ्या स्वाँग,
भूल गया उस सच्चे प्रियतमसे करना अनुराग।
हंस-निवास-योग्य मानसमें रहा बसाया काग,
यह विस्मृति है मुझे जलाती बन चिन्ताकी आग॥२॥

अन्तस्तल की किसी शक्तिने मुझको किया सचेत,
जान गया वह मेरे प्रियका ही था शुभ संकेत।
त्याग रसाल-डाल जब अबतक घेरे रहा बबूल
तो वह मधु-फल मिले कहाँसे की मैंने ही भूल॥३॥
हुई थी कैसी भारी भूल॥

—रामनारायण दत्त पाण्डेय 'राम' शास्त्री

श्रीश्रीजगन्नाथदेवका प्राकट्य-रहस्य

(लेखक—व्रजके एक महात्मा*)

श्रीमन् माध्वगौडेश्वराचार्यवर्य श्रीश्रीजीवगोस्वामिचरणके मतमें एक अद्वय ज्ञान-तत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् संज्ञामें संज्ञित हुआ है और भगवत्-तत्त्वने ही ब्रह्म एवं परमात्मा इन दोनों तत्त्वोंको क्रोडीकृत कर रक्खा है। इस अति विशाल भगवत्ताको समझनेके लिये सम्पूर्ण अपारगताप्रयुक्त अल्पबुद्धि जीव विशेष चेष्टा करते हुए भी कुछ भी धारण नहीं कर सकता। इसीलिये महाकरुणापारावार श्रीभगवान् स्वकरुणावश होकर स्वयं जीव-समुदायके समक्ष लीलामनुजविग्रहधारणपूर्वक अवतीर्ण होते हैं। श्रीभगवान् जब-जब जैसी-जैसी लीला प्रकट करनेकी इच्छा करते हैं, तब-तब तदनुयायी देशकालपात्र अवलेपनपूर्वक सांगोपांगास्त्रपार्षद स्वयं अवतीर्ण होते हैं। सर्वशास्त्रप्रसिद्ध है कि यद्यपि श्रीभगवान्के असंख्य अवतार हैं और प्रत्येक अवतार असमोर्ध्व रूपगुणमाधुर्यसम्पन्न हैं, तथापि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रस्वरूपमें ही यह रूपगुणलीलामाधुरी महाप्रेमरसमाधुरी महाभावसारसम्पुटसम्पुटित महामहारसराजत्व चरम अवधिको प्राप्त हुआ है। इसीसे तो श्रीमद्भागवतमें '*एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*' कहा गया है। श्रीभगवदवतारके सम्बन्धमें कहा गया है कि यद्यपि श्रीभगवान् असंख्य रूपमें अपनेको प्रकाशित करते हैं तथापि उन रूपोंमें श्रीनामी, नाम एवं अर्चाविग्रह रूप ही प्रधान हैं। श्रीभगवान्की मंगलविहारभूमि भारतवर्षमें अनेक मंगलस्थान श्रीअर्चाविग्रह-रूपी प्रभुके मंगलमय प्रकाशसे प्रकाशित हो रहे हैं। उन सबमें श्रीलीलापुरुषोत्तम स्वरूप श्रीश्रीजगन्नाथदेव विशेष प्रसिद्ध हैं। निविड़ निगूढ़ता एवं सुमहान् भावगाम्भीर्यप्रयुक्त अति चमत्कार रहस्यातिरहस्य श्रीश्रीजगन्नाथदेवके प्राकट्यकी कथा जनसाधारणको सुविदित नहीं है। अतएव सेवाकाम यह महापतित आज उसी सुमहान्, अति गोपनीय रहस्यको कल्याणकल्पद्रुमाश्रित कल्याणपाठकोंकी सेवामें उपस्थित करता है।

एक समय श्रीधाम द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी रात्रिकालमें श्रीरुक्मिणी, सत्यभामा प्रभृति प्रधाना षोडश राजमहिषियोंके मध्यवर्त्ती शयन कर रहे थे। स्वप्नावस्थामें आप अकस्मात् 'हा राधे !, हा राधे !' उच्चारण करते हुए क्रन्दन करने लगे। जब अन्य किसी प्रकार प्रभुका क्रन्दन नहीं रुका तो बाध्य होकर महारानी श्रीरुक्मिणीदेवीने अपने प्राणवल्लभको चरणसंवाहनपूर्वक जागृत किया। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र निद्राभंग होनेपर किञ्चित् लज्जित हुए और उन्होंने अति सन्तर्पणपूर्वक अपना भाव गोपन कर लिया। महारानियोंके द्वारा इसप्रकारके विषादका कारण पूछे जानेपर श्रीकृष्णचन्द्र यह कहते हुए कि, 'मुझे तो कुछ स्मरण नहीं' पुनः निद्रित हो गये। परन्तु इसका रहस्य जाननेके लिये महारानियोंके हृदयमें अत्यन्त व्यग्रता उत्पन्न हुई। सब परस्पर कहने लगीं, 'देखो, हम सब सोलह सहस्र महिषी हैं और कुल, शील, रूप एवं गुणमें कोई भी अन्य किसी रमणीसे न्यून नहीं हैं, तथापि हमारे प्राणवल्लभ किसी अन्य रमणीके लिये इतने व्याकुल हैं, यह तो बड़े ही विस्मय-

* इनके लेखक श्रीश्रीराधाकृष्णचरणरजसे पवित्र परम पावनी व्रजभूमिमें यदृच्छा विचरण करनेवाले श्रीगौडीयसम्प्रदायके एक प्रसिद्ध महात्मा हैं। आज्ञा न होनेसे नाम प्रकाशित नहीं किया जा सका।—सम्पादक

की बात है ! रात्रिमें स्वप्नावस्थामें भी जिस रमणीके लिये प्रभु इतने व्याकुल होते हैं वह रमणी भी न मालूम कितनी रूप-गुणवती होगी !' इसपर श्री-रुक्मिणीदेवी कहने लगीं, 'हमने सुना है कि वृन्दावनमें राधानाम्नी एक गोपकुमारी है, उसके प्रति हमारे प्राणेश्वर अत्यन्त आकृष्ट हैं, इसीलिये रूपलावण्यवैदग्धपुञ्ज नयनाभिराम श्रीप्राणनाथ हम-सबद्वारा परिसेवित होकर भी उस सर्व-चित्ताकर्षकचित्ताकर्षिणीके अलौकिक गुण-ग्राम भूल नहीं सके हैं ।' श्रीसत्यभामादेवी कहने लगीं, 'सब ठीक ही है, तो भी वह एक गोपकन्याके सिवा तो और कुछ नहीं; फिर उसके प्रति हमारे प्राणकान्त इतने आसक्त क्यों हैं ? अस्तु । जो कुछ भी क्यों न हो, हमारी सम्मतिमें तो इस सम्बन्धमें श्रीरोहिणीमाताको पूछनेपर ही इसका ठीक-ठीक पता लग सकेगा, क्योंकि उन्होंने स्वयं वृन्दावन-में वास किया है और उस समयकी सम्पूर्ण घटनाओं-को वे भलीभाँति जानती हैं ।' यह प्रस्ताव सबको रुचा । रात्रि बीती, प्रातःकाल हुआ । श्रीकृष्णचन्द्र प्रातःकृत्यसमापन करके राज-सभाको पधारे और यथासमय पुनः अन्तःपुर पधारकर स्नानादिसमा-धानपूर्वक भोजन करने बैठे । राजभोग सम्मुख आकर उपस्थित हुए, उद्धवादि सखावृन्दसहित प्रभुने भोजन किया और आचमन करके किञ्चित् विश्रामपूर्वक पुनः राजसभाको गमन किया । इस अवसरको पाकर महारानियोंने श्रीरोहिणीदेवीको पूर्व-रात्रिकी घटना सुनाकर उनसे व्रजवृत्तान्त पूछा । माताजी कहने लगीं, 'प्यारी पुत्रियो ! यद्यपि मैं व्रजलीलाकी सम्पूर्ण घटनाएँ जानती हूँ, किन्तु माता होकर पुत्रकी गुप्त लीलाओंका रहस्य किस प्रकार कह सकती हूँ ? यदि राम-कृष्ण यह कथा सुन लें तो फिर लज्जाकी सीमा न रहेगी ।' इसपर महिषी-गण कहने लगीं, 'माताजी ! जिस किसी प्रकारसे भी हो सके, हमें व्रजलीलाकी कथा तो आपको अवश्य ही सुनानी होगी ।' माताजीने कहा—'तब एक उपाय करो, सुभद्राको द्वारपर पहरेके लिये बैठा दो, कह दो, किसीको अन्दर न आने दे, फिर मैं निःसंकोच तुम्हारे निकट व्रजलीलाका वर्णन करूँगी ।' माता-जीने यह कहकर सुभद्राकी ओर देखा और कहा 'सुभद्रे ! यदि राम-कृष्ण आवें तो उन्हें भी कदापि भीतर मत आने देना ।' माताजीका आदेश पालन किया गया । सुभद्रा 'जो आज्ञा' कहकर द्वार-रक्षा करने लगीं । महिषीवृन्द माताजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गयीं और माताजीने सुमधुर व्रजलीला वर्णन करना आरम्भ किया ।

इधर राजसभामें राम-कृष्ण दोनों भाई चञ्चल हो उठे । जब किसी प्रकार भी राजसभामें नहीं ठहर सके तो उत्कण्ठितचित्त होकर अन्तःपुरकी ओर चल पड़े । आकर देखते हैं कि सुभद्रादेवी द्वारपर खड़ी हैं । उन्होंने सुभद्रादेवीसे पूछा, 'तुम आज यहाँ क्यों खड़ी हो ? द्वार छोड़ दो, हम लोग भीतर जायँ ।' श्रीमती सुभद्रादेवीने कहा, 'रोहिणी माँने इस समय तुम्हारा अन्तःपुरमें प्रवेश करना निषेध कर रक्खा है, अतः तुमलोग अभी भीतर नहीं जा सकोगे ।' यह सुनकर जब दोनों भाई आश्चर्यान्वित होकर इस निषेधका कारण ढूँढ़ने लगे तो माताजीकी वह रहस्यपूर्ण व्रजलीलात्मक वार्त्ता उन्हें सुनायी दी । वह वार्त्ता श्रीवृन्दावनचन्द्रकी परमकल्याणमय, परमपावन, अद्भुत, मङ्गलरासविहारात्मक थी । सुनते-सुनते दोनों भाइयोंके मङ्गल श्रीअङ्गमें अद्भुत प्रेमविकारके लक्षण दिखायी देने लगे । क्रमशः दोनों ही प्रेमानन्दमें विह्वल हो गये । अवि-श्रान्त प्रेमाश्रुकी मन्दाकिनीधारा प्रवाहित होकर दोनोंके गण्डस्थल एवं वक्षस्थलको प्लावित करने

लगी। यह देखकर श्रीमती सुभद्रादेवी भी एक अनिर्वचनीय महाभावावस्थाको प्राप्त हो गयीं। जिस समय माताजी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीजीकी अद्भुत प्रेमवैचित्यावस्था वर्णन करने लगीं, उस समय श्रीबलरामजी किसी प्रकार भी धैर्य धारण न कर सके। उनके धैर्यका बाँध टूट गया, श्रीअङ्गमें इसप्रकार महाभावका प्रकाश हुआ कि उनके श्रीहस्तपद संकुचित होने लगे और जब माताजी निभृत निगूढ़ विलास वर्णन करने लगीं तब तो श्रीकृष्णचन्द्रजीकी भी यही अवस्था हुई। दोनों भाइयोंकी यह अद्भुत अवस्था देखकर श्रीमती सुभद्रादेवीकी भी यही दशा हो गयी। तीनों मङ्गलस्वरूप ही महाभावस्वरूपिणी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीजीके अपारावार महाभावसिन्धुमें निमज्जित होकर ऐसी स्वसंवेद्यावस्थाको प्राप्त हो गये कि वे लोगोंके देखनेमें निश्चल-स्थावर प्रतिमूर्ति-स्वरूप परिलक्षित होने लगे। निश्चल, निर्वाक्, स्पन्दरहित महाभावावस्था! अतिशय मनोभिनिवेशपूर्वक दर्शन करनेपर भी श्रीहस्तपदावयव किञ्चित् भी परिलक्षित नहीं हो सकते थे। आयुधराज श्रीसुदर्शनजीने भी विगलित होकर लम्बिताकार धारण कर लिया। पाठक! महाभावमयी अशेषनायिकाशिरोमणि श्रीमती वृन्दावनेश्वरीजीके महाभावगौरवका तनिक विचार करें। कुछ कहनेको नहीं है, वाणी विराम प्राप्त होती है, सर्वात्मा गम्भीरतम महाभावजलधिमें डूब जाता है।

इसी समय स्वच्छन्दगति देवर्षि नारदजी भगवद्दर्शनके अभिप्रायसे श्रीधाम द्वारकामें आ उपस्थित हुए। उन्होंने राजसभामें जाकर सुना कि राम-कृष्ण दोनों भाई अन्तःपुर पधारे हैं। देवर्षिजीकी सर्वत्र अबाधगति तो है ही; अन्तःपुरके द्वारपर जाकर उन्हें जो अद्भुत दर्शन हुए, उससे देवर्षिजी स्तम्भित हो गये। इसप्रकारका दर्शन उन्होंने पूर्वमें कभी नहीं किया था। निज प्राणनाथकी ऐसी अद्भुत अवस्थाके कारणका विचार करते हुए प्रेमविवश स्तम्भ-भावको प्राप्त होकर देवर्षिजी भी वहीं चुपचाप खड़े रह गये। कुछ ही क्षण पश्चात् जब माताजीने पुनर्बार कोई एक रसान्तरका प्रसङ्ग उठाया तब उन सबको पूर्ववत् स्वास्थ्य लाभ हुआ। सिद्धान्ततः रसान्तरद्वारा रसापत्तिका विदूरित होना सङ्गत ही है। इसी अवसरपर महाभावविस्मित देवर्षि नारदजीने बहुविध स्तव-स्तुति करना आरम्भ कर दिया। करुणावरुणालय श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने देवर्षिद्वारा स्तुत होकर प्रसन्नतापूर्वक कहा, 'देवर्षे! आज बड़े ही आनन्दका अवसर है, कहिये मैं आपका क्या प्रीति-सम्पादन करूँ?' देवर्षिजीने करजोड़ प्रार्थना की, 'हे प्रभो! वर्तमानमें यहाँपर उपस्थित होकर आप सबका जो एक अदृष्टाश्रुतपूर्व महाभावावेश परिलक्षित हुआ है, स्वरूपतः वह क्या पदार्थ है और किसप्रकार उस महावस्थाका प्राकट्य हुआ? कृपया सविशेष उल्लेख करके दासको कृतार्थ कीजिये। सर्वप्रथम तो सेवामें यही एकान्त निवेदन है।' भक्तवत्सल श्रीभगवान् अमन्दहास्यचन्द्रिकापरिशोभित सुन्दर श्रीवदनचन्द्रमासे देवर्षि नारदजीके सर्वात्मा आप्यायित करते हुए इसप्रकार वचनामृत वर्षण करने लगे, 'देवर्षे! प्रातः तथा मध्याह्न-कृत्यसमापन पूर्वक जिस समय हम दोनों भाई राजसभामें समासीन थे, उसी समय महिषीगणद्वारा पूछे जानेपर माता श्रीरोहिणीदेवीने महाचित्ताकर्षिणी अपारमाधुर्यमयी व्रजलीला-कथाकी अवतारणा की। महामाधुर्यशिखरिणी व्रजलीला-वार्ताका ऐसा प्रभाव है कि हम जहाँ और जिस अवस्थामें भी हों, हमें वहींसे और उसी अवस्थामें ही आकर्षण करके वह कथास्थलपर खींच लाता है। हम दोनों भाई ऐसे ही आकर्षित होकर यहाँ उपस्थित हुए और देखा कि सुभद्राजी द्वारपालिकारूपमें द्वारपर खड़ी हैं।

उत्कण्ठावश अन्तःप्रवेशकाम हम दोनों श्रीसुभद्राद्वारा रोके जानेपर प्रवेशनिषेधका कारण ढूँढ़ते रहे, उसी समय श्रीमाताजीके मुखारविन्दविगलित अत्यद्भुत व्रज-लीलामाधुरीने कर्णपथगत होकर हमारे हृदय विगलित कर दिये । तत्पश्चात् जो अवस्था हुई उसका तो आपने प्रत्यक्ष दर्शन किया ही है । मेरी प्राणेश्वरी महाभावरूपिणी श्रीस्वामिनीजीके महाभावकर्तृक सम्पूर्ण भावसे ग्रसित होनेके कारण हम आपका पधारना भी नहीं जान सके ।' इतना कहकर भगवान्ने जब देवर्षिजीसे पुनः वरग्रहणका अनुरोध किया तो देवर्षिजी प्रार्थना करने लगे, 'भगवन् ! मैं और किसी वरका प्रार्थी नहीं हूँ, निजजनोंके सर्वाभीष्टप्रदाता चरणयुगलमें केवल यही प्रार्थना है कि आप चारोंकी जो एक अत्यद्भुत महाभावावेशमूर्त्ति मैंने प्रत्यक्ष दर्शन की है, वही भुवनमङ्गल चारों स्वरूप जनसाधारणके नयनगोचरीभूत होकर सर्वदा इस पृथिवीतलपर विराजमान रहें । माया-सन्निपातमें ग्रस्त जीवसमूह एवं तद्दर्शनविरहकातर भक्तजनके लिये वह महासञ्जीवनीरसायन स्वरूप-चतुष्टय सर्वोत्कर्षतासहित जययुक्त होवें ।' करुणा-यतन भक्तवाञ्छापूरणकारी श्रीभगवान्ने कहा, 'देवर्षे ! इस विषयमें मैं पूर्वसे ही अपने दो और परम भक्तोंके प्रति भी आपके प्रार्थनानुरूप ही वचनबद्ध हूँ— एक भक्तचूडामणि महाराज इन्द्रद्युम्न और द्वितीय परमभक्तिस्वरूपिणी श्रीविमलादेवी । निखिलप्राणि-कल्याणहित भक्तचूडामणि महाराज इन्द्रद्युम्नकी घोरतर तपस्यासे प्रसन्न होकर मैं नीलाचलक्षेत्रमें दारुब्रह्मस्वरूपमें अवतीर्ण होकर जनसाधारणको दर्शन देनेका वर प्रदान कर चुका हूँ; तथा महा-विद्यास्वरूपिणी श्रीविमलादेवीद्वारा अनुष्ठित महा-तपस्यासे प्रसन्न होकर उनकी प्राणिमात्रको अविचारमें महाप्रसाद वितरण करनेकी प्रतिज्ञाको उक्त स्वरूपसे ही पूर्ण करनेकी स्वीकृति दे चुका हूँ । अतएव इन तीनों उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये हम चारों इसी स्वरूपमें आगामी कलियुगमें लवणसमुद्रतटवर्त्ती नीलाचलक्षेत्र-में अवतीर्ण होकर प्रकाशमान रहेंगे ।' सर्वजीव-कल्याणव्रत देवर्षि श्रीनारदजीने मनवाञ्छित वर प्राप्त करके प्रभुचरणारविन्दमें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और मधुर वीणासे करुणावारिधि श्रीप्रभुके अमृतमय नामगुणमाधुरीका गान करते-करते यदृच्छा गमन किया । श्रीराम-कृष्णने भी माताजीके कथञ्चित् सङ्कोच-की आशंका करके उस स्थानसे प्रस्थान किया । ये ही मूर्त्तिचतुष्टय श्रीकृष्ण, बलराम, सुभद्रा एवं सुदर्शनरूपमें श्रीनीलाचलक्षेत्र विभूषित करके अद्यापि विराजमान हैं ।

सहृदय पाठकवृन्द ! दासका निवेदन तो समाप्त हो चुका । अब आप इस मूर्त्तिचतुष्टयके महा-गौरवशाली स्वरूपपर विचार करें । यदि कोई महानुभाव इस प्रसङ्गको किसी एक विशेष आख्या-द्वारा आख्यायित करनेको कहें तो मैं निवेदन करूँगा कि इसका नाम 'महाभावविजय' रखनेसे कुछ-कुछ सुसङ्गत हो सकता है ।

श्रीजगन्नाथदेव—श्रीराधामहाभावसम्पुटित श्री-नन्दनन्दन ।

संवित्शक्तिसार श्रीबलराम—दारुब्रह्मरूपमें प्रतीय-मान निकुञ्जभावविमुग्ध महाभावबलीयान श्रीबलराम ।

श्रीसुभद्राजी—पुरपरिजन श्रीसुभद्रा, व्रजभाव-संलुब्धा चिरभद्रा श्रीसुभद्रा ।

श्रीसुदर्शन—द्वारकापरिकर अस्त्रराज श्रीसुदर्शन, आज महाभावद्रवित सुखदर्शन सुदर्शन ।

पाठक महोदयगण ! अन्तमें श्रीमहाभावग्रसित श्रीमन्नन्दनन्दन श्रीजगन्नाथदेवको जीवनसर्वस्व करके

जो अद्वितीय रसराजमहाभावात्मकस्वरूप निज-कनकाचलकान्तिकन्दली-पराभवकारिणी महाप्रभासे अपने प्राणनाथको स्तम्भित एवं दशों दिशाओंको आलोकित करते हुए श्रीजगन्नाथक्षेत्रमें अचल-अटल विराज रहे हैं और श्रीनीलाचलधाममें व्रजमाधुरी-परिणतिको प्रकाशित करके निजजनोंको सुखातिशय्यसमुद्रमें निमज्जित कर रहे हैं, मैं उन श्रीश्रीकृष्ण-चैतन्य महाप्रभुके अभयचरणारविन्दयुगल हृदयमें धारणपूर्वक एवं जीवनसर्वस्व श्रीगुरुचरणनखचन्द्र-चन्द्रिकापिपासुचकोरायितभावधारणपूर्वक 'जय श्री-गुरुगौराङ्ग जय' उच्चारण करते हुए आप सबके श्री-चरणारविन्दमें कोटि साष्टाङ्ग प्रणिपात करता हूँ। क्या आप भी उस महाध्वनिको उच्चारण करते हुए इस महापतितको हृदयसे लगा लेंगे, अपना लेंगे?

जड और चेतन

(लेखक—श्रीओङ्कारानन्दजी परमहंस)

पुरुष एवेद॒ᳪ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

(यजु० ३१।२)

भूत, भविष्यत् और वर्तमान—सब कुछ परमात्मा ही है। एक वही अमरपद कैवल्यका विधाता है और जो अन्नके द्वारा पुष्ट होता है उसका स्वामी है अर्थात् उस परमात्मासे भिन्न कुछ भी नहीं है।

तस्मै स होवाच। एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतर-मन्वेति।

(प्रश्न० ५।२)

(उस) सत्यकाम ऋषिसे पिप्पलाद मुनिने कहा कि हे सत्यकाम! यह जो प्रसिद्ध प्रणव है यही पर और अपर ब्रह्म है, इसलिये इस प्रणवको ही आश्रय करके उपासक पर या अपर ब्रह्मको प्राप्त होता है।

ओङ्कार एवेद॒ᳪ सर्वमोङ्कार एवेद॒ᳪ सर्वम्॥

(छा० २।२३।३)

इसलिये यह सब जगत् ओङ्काररूप ही है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।

(छा० ३।१४।१)

सारा जगत् वास्तवमें ब्रह्म ही है क्योंकि ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है, ब्रह्ममें स्थित है और ब्रह्ममें ही लय होता है। शान्त होकर इसकी उपासना करे।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७।१९)

बहुत जन्मोंके अन्तमें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् भगवान् वासुदेव के सिवा अन्य कुछ है ही नहीं, इसप्रकार जानकर मुझको भजता है वह महात्मा अति दुर्लभ है। यही परमतत्त्व भगवान् वासुदेव सब कुछ हो रहे हैं, क्योंकि परमार्थावस्थामें जड, चेतन अलग-अलग नहीं हैं। दोनोंकी एक वृत्ति है, न कभी जड अलग-अलग देखा गया और न चेतन। व्यवहारावस्थामें ये द्वन्द्व हैं। जैसे वृक्ष और बीज दोनों एक ही चक्रके दो अंश हैं, वैसे ही जड और चेतन विशेष गुण और स्वरूप हैं। वास्तवमें दोनोंकी एक सत्ता है। ब्रह्माण्डमें केवल एक परमतत्त्व है, जो चेतन और जड दोनों है। क्योंकि दोनोंका मूल कारण ब्रह्म है, दोनोंका आधार परम सूक्ष्म है, जो दोनोंकी आत्मा है। उसके स्वभावका परिणाम ऐसी

सृष्टि है कि जिसमें जड और चेतन दोनों प्रकारके पदार्थ हैं, इन दोनोंको भगवान्ने गीतामें अपरा और परा प्रकृतिके रूपमें वर्णन किया है। जैसे अन्धकार और प्रकाश एक ही ज्योतिके दो विकास हैं और दोनोंका कारण सूर्य है, वैसे ही जड और चेतन एक ही परमतत्त्वके दो विकास हैं, अर्थात् एक ही पदार्थके दो भाव हैं, दो मूल रूप या गुण हैं और दोनोंका कारण एक परमतत्त्व है। जैसे सूर्यने अँधेरा कभी स्वप्नमें नहीं देखा। दिन और रात, अँधेरा और उजाला भूमिके लिये है। सूर्यमें न कभी रात होती है और न कभी दिन चढ़ता है। सूर्यमें प्रातः और सायं नहीं होता। परन्तु अँधेरा और उजाला दोनोंका कारण एक सूर्य ही है और अँधेरा तथा उजाला भी एक ही वस्तु है केवल मात्राका अन्तर है अर्थात् न्यून प्रकाशका नाम अन्धकार है। वैसे ही परमात्मावस्थामें जड, चेतन अलग-अलग नहीं हैं, जीव अवस्थामें ये द्वन्द्व हैं। दोनोंका कारण एक परमतत्त्व है और दोनोंकी एक ही सत्ता है। केवल मात्रा, गुण और दर्जेका अन्तर है, दोनोंका केन्द्र एक है और न्यून चेतन, सामान्य चेतनका नाम जड है। दोनों भगवान्के विभाव या प्रकारमात्र हैं। अर्थात् ब्रह्म, जीव और प्रकृति—ये तीनों एक ही परमतत्त्वके तीन भाव हैं। वास्तवमें पर-अपर, जीव-ईश्वर, जड-चेतन, प्रकृति-पुरुष इत्यादि सभी सापेक्ष शब्द या अवस्थाएँ हैं। और यह प्रसिद्ध नियम है कि सापेक्ष पदार्थ या अवस्थाएँ स्वतन्त्र नहीं होती हैं, वे अन्योऽन्याश्रित होती हैं। इनका आधार इन दोनोंसे भिन्न और इनमें ओतप्रोत होता है और इनका वास्तविक रूप एक निरपेक्ष पदार्थ होता है। जैसे शीत और उष्ण—ये दोनों सापेक्ष हैं, उष्णत्वकी अधिक मात्राका नाम उष्ण है और उष्णत्वकी कम मात्राका नाम शीत है। एक ही आधार उष्णत्वके ये दोनों आधेय हैं और भिन्न-भिन्न मात्राओंके कारण भिन्न-भिन्न नाम तथा रूप पाते हैं और इनका आधार उष्णत्व स्वयं निरपेक्ष इन दोनों रूपों या भावोंसे भिन्न तथा इनमें ओतप्रात और इनका वास्तविक स्वरूप होता है। इसी तरह यह जड-चेतन, पर-अपर इत्यादि सापेक्ष अवस्थाएँ हैं, वास्तवमें स्वतन्त्र नहीं। इनका आधारभूत इनका वास्तविक स्वरूप परब्रह्म है। वह इन सबमें ओतप्रोत तथा इनका वास्तविक प्राण एवं इनका परम आश्रय है, उससे परे कोई भी आश्रय नहीं है। क्योंकि बिना अन्धकारके प्रकाश और बिना प्रकाशके अन्धकार कहीं नहीं रहता, दोनों दोनोंमें अनुस्यूत होते हैं। इसलिये दोनों एकरूप माने जाते हैं। दोनों एक ही ज्योतिके दो विकास हैं। यदि अन्धकारमें प्रकाशका कुछ अंश न हो या न रहे तो अन्धकारका प्रत्यक्ष ही न हो सके। वैसे ही बिना जडके चेतन और बिना चेतनके जड कहीं नहीं रहता, दोनों दोनोंमें अनुस्यूत हैं। इसलिये दोनों एकरूप हैं, एक ही परम सत्ताके दो विकास हैं। यदि जडमें चेतनका कुछ अंश न रहे तो जडका प्रत्यक्ष ही न हो सके। अर्थात् यदि जड चेतनसे पूर्णतया विरुद्ध होता तो हम किसी जड आकार और रूपवाली वस्तुकी कल्पना नहीं कर सकते। भगवान्ने गीतामें कहा है—

> महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
> इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
> इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
> एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥
> (१३। ५-६)

पञ्चमहाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, महत्तत्त्व, मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (शरीर), चेतना (ज्ञानात्मक अन्तःकरणकी वृत्ति) और धैर्य—ये सब क्षेत्रके विकार

हैं अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, ज्ञान, धैर्य और प्रयत्नादि जो ज्ञानकी दूसरी अवस्थाएँ हैं, अचेतन जडसे कभी उत्पन्न नहीं हो सकतीं। जडमें जो चेतन है उसीसे ये उत्पन्न हुई हैं। अतः मानसिक और शारीरिक सब द्रव्यों और गुणोंका प्राणरूपी विशिष्ट चेतनयुक्त जो समुदाय है उसीको क्षेत्र कहते हैं। वह प्रत्येक जड तथा चेतन पदार्थमें अवतीर्ण है। इसीसे जड और चेतनमें कुछ-न-कुछ समानता है। वास्तवमें दोनों एक ही हैं, केवल नाम-का भेद है। मैं कुछ सोच रहा हूँ या स्मरण कर रहा हूँ। यह सोचना या स्मरण करना आत्माका व्यापार नहीं। आत्माको तो केवल यह ज्ञान है कि मैं यह सोच रहा हूँ या स्मरण कर रहा हूँ, शुद्ध चेतनका लक्षण यही है। केवल वृत्तिका नाम ज्ञान नहीं है और केवल चेतनका नाम भी ज्ञान नहीं है, किन्तु चेतनसहित वृत्तिका नाम ज्ञान है अथवा वृत्तिसहित चेतनका नाम ज्ञान है। दोनों मिलकर ब्रह्म कहलाता है। एक परमतत्त्वमें ज्ञानरूपी जो बल है वह चेतनका बोधक है और उसमें जो क्रिया है वह जड प्रकृतिका बोधक है और दोनों मिलकर एक परमतत्त्व, अपरिमित अपरिच्छिन्न तत्त्व है। चैतन्यमें परमार्थतः दर्जे नहीं हैं। मूल प्रकृतिके साथ अध्यस्त होनेसे उसकी दृष्टिसे दर्जे माने जाते हैं। अतः व्यवहारमें दर्जे अवश्य हैं और वह मूल-प्रकृति नानात्वके कारण हैं। जैसे आधिभौतिक शास्त्रकारोंने पूर्णतः सिद्ध कर दिया है कि मूलमें एक सूर्य प्रकाशका विकार है और सूर्यका प्रकाश स्वयं एक प्रकारकी गति है। गति मूलमें एक ही है पर कान उसे शब्द और आँख उसीको रंग बतलाती है। वैसे ही परब्रह्म एक परम-तत्त्व है जो बल और क्रिया अर्थात् चेतन और जडके द्वारा बोध हो रहा है, वास्तवमें तत्त्व सर्वथा एक ही है।

शुद्धाद्वैतवाद न तो वह भूतवाद है जो आत्माका अस्तित्व अस्वीकार करता और जगत्‌को जड परमाणुओंका ढेर बतलाता है और न वह अध्यात्मवाद है जो भूतोंका अस्तित्व नहीं मानता और जगत्‌को अभौतिक शक्तियोंके विधानका समाहारमात्र बतलाता है। सिद्धान्त यह है कि न तो द्रव्यकी स्थिति और क्रिया आत्माके बिना हो सकती है और न आत्माकी द्रव्यके बिना। द्रव्य (जड) और आत्मा (चेतन) दोनों विभु परमतत्त्वके दो मूलरूप या गुण हैं। ब्रह्माण्डमें केवल एक परमतत्त्व है जो ईश्वर और प्रकृति दोनों है। शरीर और आत्मा अथवा जड और चेतन परस्पर अभिन्न या अनवच्छेद हैं, दोनों आपसमें ओतप्रोत हैं, सर्ववादकी भावना विज्ञानके अनुकूल है। एक ही द्रव्य है जो विभु अपरिच्छिन्न और अद्वितीय है। वह जगत्‌में अन्तर्व्यापी तथा ओतप्रोतभावसे शक्तिरूपसे उसका सञ्चालन करने-वाला है। द्रव्यके नामके विषयमें कोई विवाद नहीं। सामान्यतः ईश्वर शब्दसे इसका बोध होता है। सर्वगत जो सामान्य सत्ता है वही ईश्वर है। इसका आधुनिक वैज्ञानिकोंके तत्त्वाद्वैतवाद या सर्ववादके साथ पूरा मेल हो जाता है। सच पूछिये तो ये दोनों एक ही हैं, केवल नामका भेद है। विज्ञान बतलाता है कि सर्दी, गर्मी दोनों हरारतके नाम हैं। केवल दर्जेका अन्तर है। अँधेरा और उजाला भी एक ही प्रकाशके अलग-अलग दर्जोंके नाम रक्खे हुए हैं। रात मनुष्योंके लिये अँधेरा है परन्तु बिल्ली, चमगादड़ आदिके लिये उजाला है।

वैज्ञानिकों और आत्मदर्शी महात्माओंके अनुभवमें जड और चेतनकी भिन्न सत्ता नहीं है और श्रुति भी कहती है कि—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव। (मा० १)

जो यह वाच्य-वाचक अथवा शब्द-शब्दार्थरूप है वह सब ओंकार ही है, उसी प्रणवके विशेष ज्ञान-द्वारा परब्रह्मकी प्राप्तिका कथन किया जाता है। जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान प्रत्यक्षका विषय कथन किया जाता है अर्थात् जो दृश्यमान प्रपञ्च जड-चेतन जगत् है, वह सब ओंकाररूप ही है और जो कालत्रयसे अलग अव्याकृति आदि मूल-प्रकृति है, वह भी ओंकाररूप ही है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्ममयम्।

यह सारा जगत् ब्रह्मरूप ही है। यह प्रपञ्च सारा ब्रह्मरूप ही है।

आत्मैवेदꣳ सर्वम्, ब्रह्मैवेदꣳ सर्वम्, पुरुष एवेदꣳ सर्वम्।

आत्मा ही यह सब है, ब्रह्म ही यह सब है, पुरुष ही यह सब है।

अब प्रश्न होता है कि जडमें चेतन विदित क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि जैसे आग-की लपटमें प्रकाश और गर्मी दोनों साथ-साथ हैं, दोनों एक जाति होकर लपटकी सूरतमें प्रकट होती हैं, वैसे ही सत्, चित्, आनन्द साथ-साथ हैं। अब आगके सम्मुख पत्थर रखिये तो गर्मी मालूम होगी, प्रकाश नहीं। परन्तु शीशेमें प्रकाश और गर्मी दोनों विदित होंगे। ठीक इसी तरह पत्थरादिमें सत्का, वनस्पतिमें सत्-चित्का, पशुओंमें सत्-चित् किञ्चित् आनन्दका और मनुष्योंमें सत्-चित्-आनन्द तीनोंका विकास होता है। अथवा जैसे काष्ठादिमें अग्निकी उष्णता और प्रकाश दोनों विदित नहीं होते हैं वैसे ही पाषाणादि-में चित् और आनन्द विदित नहीं होते। अर्थात् शान्त सत्त्वगुणवृत्तिमें सुख और चैतन्य दोनों ज्ञात होते हैं, सत्त्वगुणप्रधान पदार्थ और शान्तरूप बुद्धिकी वृत्तिमें सत्, चित्, आनन्द तीनों व्यक्त होते हैं। रजोगुणप्रधान पदार्थ और बुद्धिकी घोर और मूढ वृत्तियोंमें सत्ता (सत्) और चित् दो ही व्यक्त होते हैं और तमोगुणप्रधान पदार्थ मृत्तिका और पाषाणादिमें केवल सत्ता (सत्) मात्रकी प्रतीति होती है। जैसे सूर्यका प्रकाश सर्वत्र समान है परन्तु सब जगह प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता केवल जहाँ जल और दर्पणरूप उपाधिकी प्राप्ति होती है वहाँ बिम्बरूपमें प्रत्यक्ष होता है अथवा जैसे सूर्यका प्रकाश सर्वत्र समान है परन्तु वस्त्र-कपासादिको जलाता नहीं परन्तु जहाँ सूर्यकान्त-मणिरूप उपाधि प्राप्त होती है वहाँ विशेषतः अग्नि-रूपमें प्रकट होकर वस्त्र-कपासादिको जला डालता है, वैसे ही सामान्य चैतन्य अस्ति, भाति, प्रियरूपमें सर्वत्र समान है परन्तु उससे बोलना, चलना आदि विशेष व्यवहार नहीं होते और जहाँ अन्तःकरणकी उपाधि है वहाँ चिदाभासरूपसे विशेष चैतन्यके बोलना, चलना, कर्त्तापना, भोक्तापना, इहलोक-परलोकमें गमनागमन इत्यादि विशेष व्यवहार होते हैं। अन्तःकरण और अन्तःकरण-वृत्तिमें जो सामान्य चैतन्य ब्रह्मका प्रतिबिम्बरूप चिदाभास है सो विशेष चैतन्य है। यहाँ चिदाभास उसे कहते हैं जो चैतन्य ब्रह्मके लक्षणसे रहित हो और चैतन्यकी तरह भासित हो। जो अल्पदेशमें हो उसे विशेष कहते हैं।

पाषाणादि तमोगुणप्रधान पदार्थ हैं। उनमें अन्तः-करण नहीं है, इसीसे उन पदार्थोंमें चित् और आनन्द-का भान नहीं होता। जिसप्रकार चुम्बक लोहेको ही आकर्षण करता है, मिट्टीको नहीं आकर्षित करता, उसी प्रकार चित्त या जीवमें साक्षात् चेतनका बोध होता है, जडमें नहीं होता। इसप्रकार स्पष्ट हो जाता है कि जड और चेतन दो भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं, बल्कि एक ही परम सत्ताकी दो बुद्धिजन्य पर-स्पर सापेक्ष्य अवस्थामें हैं, जिसके विषयमें श्रुति कहती है—

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्, तदेषाऽभ्युक्ता सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।

(तैत्ति० २ । १)

ब्रह्मवेत्ता निरतिशय ब्रह्मको प्राप्त होता है अर्थात् स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है। उस ब्रह्मके ज्ञानमें यह ऋचा वेदने कही है कि वह ज्ञानस्वरूप त्रिविध परिच्छेद-शून्य अर्थात् काल, देश, वस्तुके अवधिसे रहित अनन्तस्वरूप ब्रह्म हृदयाकाशमें साक्षीरूपसे स्थित है।

द्वैतसिद्धान्तानुसार चेतनके अभावका नाम जड है अर्थात् दोनों विरुद्ध धर्मवाले पदार्थ हैं। एक साथ दो विरुद्ध धर्मवाले पदार्थ नहीं रह सकते। जड और चेतन एक द्वन्द्व है। अब प्रश्न होता है कि ये दोनों आपसमें अव्यक्तरूपसे एक स्वरूप करके हैं या भिन्न-भिन्न करके हैं? यदि एक स्वरूप करके हैं तो द्वैतके सिद्धान्तके प्रतिकूल हैं और यदि भिन्न-भिन्न करके हैं तो दो विरोधी पदार्थ एक साथ कैसे हैं? चेतन और जडको भिन्न-भिन्न माननेसे कुछ व्यवधान रहेगा अर्थात् दो भिन्न-भिन्न सत्ता माननेसे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अन्तर अवश्य होगा और अन्तर होनेपर ब्रह्म सर्वव्यापक, अनन्त, अखण्ड और सर्वरूप न रहेगा। जडके स्वरूपसे खण्डित हो जायगा अर्थात् कुछ स्थान ऐसा होगा कि जहाँ चेतन नहीं रहेगा, इससे देश और वस्तु-परिच्छेद-दोष भी होगा और ऐसा मानना श्रुतिविरुद्ध भी है। श्रुति कहती है कि—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्, आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति॥

(तैत्ति० ३ । ६)

ऐसा जानता हुआ कि आनन्द ही ब्रह्म है क्योंकि निश्चय करके आनन्दसे ही ये सर्वभूत उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुए आनन्द करके ही जीते हैं, बढ़ते हैं और विनाशकालमें आनन्दमें प्रवेश करते हैं एवं तन्मय हो जाते हैं ॥ ॐ शम् ॥

सुमरन

संपति प्रमाद, पद प्रभुता समात मद, ममता कुटुम्ब, मान रूप सुबरन मैं।
कहत 'कुमार' रोग-जोग होत भोगन मैं, भूमि भले भ्रातन लगावत लरन मैं॥
खाली हाथ जात एक पात हू न जात साथ, फलकी न बात इन बातन परन मैं।
एकौ उतपात नाहिं ताके जम-जातना न, जाके दिन-रात जात वाके सुमरन मैं॥

—शिवकुमार केडिया 'कुमार'

झाँकी

सखि! नंदके द्वारसिंगार-समै सब गोप-कुमार खरे हि तकै।
वह सूरत ईठ निहारन कों सब दीठि लगाइ रहे चित दै॥
पुनि खोलत ही पट, मोहनकी छबि देखत ही इक बार सबै।
चहुँ ओरतें ग्वार पुकारि उठे, ब्रज-दूलह नंद-किसोरकी जै॥

—अज्ञात कवि

तपस्वी अहमद हर्ब

(अ०—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

तपस्वी अहमद हर्ब महान् साधक, विरागी और ज्ञानी पुरुष थे । निशापुरमें ये अपना जीवन बिताते थे । महात्मा ईहाने एक बार कहा था कि मेरी मृत्युके समय मेरा मस्तक महात्मा अहमद हर्बके चरणोंमें झुका हुआ हो, ऐसी मेरी इच्छा है ।

निशापुरमें एक व्यापारीका नाम भी अहमद था । महात्मा अहमद हर्ब जहाँ परम धार्मिक थे, वहाँ व्यापारी अहमद संसारके झंझटोंमें डूबा हुआ था । धर्मपरायण अहमद हर्ब प्रभुके ध्यान और भजनमें इतने मस्त थे कि उनको अपने शरीरकी भी सुधि नहीं रहती थी । एक बार एक नाई उनकी हजामत बनानेको आया । महात्माजी सदा 'सुभान अल्लाह' का जप किया करते थे और उससे उनके दोनों होंठ हिला करते थे । हज्जामने विनती की—'आप थोड़ी देरके लिये अपने होंठोंको हिलनेसे रोकिये, ताकि मैं आपकी मूछोंके बाल कतर लूँ ।'

यह सुनकर तपस्वी बोले—'तू अपना काम किये जा, मैं अपना काम करता जाता हूँ । हजामतके लिये मैं प्रभु-नामका जप करना नहीं छोड़ दूँगा ।' आखिर ईश्वरका नाम जपनेमें उनके होंठ हिलते ही रहे, जिससे बाल काटते समय उनके होंठोंपर कई जगह टींचे पड़ गये ।

एक बार आपके एक मित्रने आपको पत्र लिखा । उसमें यह लिखा कि—'भाई ! मैंने आपको बहुत-से पत्र लिखे, पर आपने एकका भी उत्तर नहीं दिया । अब कृपा करके एक बार तो उत्तर लिखिये ।'

ऐसे पत्र-व्यवहारकी तरफ़ आपका ध्यान नहीं रहता था । एक दिन नमाज़ पढ़ते समय आपको इस पत्रकी याद आयी, जिससे ऐसे पत्र-व्यवहारके सम्बन्धको भी आपने प्रभुके मार्गमें विघ्नकारक समझा । इसी वजहसे एक दिन आपने अपने एक शिष्यके द्वारा उस मित्रको यह उत्तर लिखाया कि—'अब आप कृपा करके मुझे पत्र न लिखा करें; क्योंकि ईश्वरका स्मरण रोककर मैं आपको पत्रोत्तर देनेका अवकाश नहीं निकाल सकता । मैं चाहता हूँ कि आप भी ईश्वरके भजनमें ही लीन रहें । बस सलाम !'

एक दिन अहमदकी माता भोजन बनाकर उनके पास लायीं और कहा कि—'बेटा ! यह भोजन अपने घरका ही बना हुआ है, इसलिये बिना सन्देहके इसे खा ले ।'

अहमद बोले—'नहीं, एक दिन मैंने देखा था कि आपके अन्नमें पड़ोसीका अन्न भी मिला हुआ है । यह पड़ोसी अन्यायसे द्रव्य इकट्ठा करता है । अतः इसका अन्न इस अन्नमें मिला होनेसे इस भोजनके खानेमें मुझे बहुत सङ्कोच होता है !'

अब व्यापारी अहमदकी तरफ़ देखिये । धनपर उसकी अपार ममता थी । एक दिन उसने रसोई करनेवाली स्त्रीको बुलाकर कहा—'जीमनेका थाल एकदम ले आ ।' इतना कहकर वह पैसोंका हिसाब लगाने लगा । रसोईदारिन थाल लायी । देखा कि सेठ हिसाब जोड़नेमें लगे हुए हैं । उसने चार-पाँच बार कहा कि यह थाल ले आयी हूँ, पर सेठका चित्त पैसेमें इतना तल्लीन था कि इन शब्दोंपर उसका ध्यान ही नहीं गया । इससे बेचारी भोजनका थाल वापस ले गयी । थोड़ी देर बाद अहमदको भान हुआ । उसने रसोईदारिनको फिर पुकारा । वह थाल लेकर फिर आयी, पर इसी बीचमें सेठजी तो फिर हिसाबके

विचारमें डूब गये । सेठजीको इस तरह बाह्यज्ञानशून्य देखकर इस बार भी बेचारी थाल पीछा ले गयी। इस-प्रकार तीन बार हो चुका। चौथी बार भी सेठने आवाज़ दी। थाल लेकर दासी आयी और देखा कि इस बार भी सेठ हिसाबमें मशगूल हैं। इसलिये उसने सेठजीका ध्यान खींचनेके लिये थोड़ा-सा पतला पदार्थ उनके होंठों-पर लगा दिया । इतना होनेपर भी सेठजीका ध्यान नहीं फिरा । दासी वापस लौट गयी । थोड़ी देरके बाद जब सेठको चेत हुआ तो देखा कि होंठोंपर अन्न लगा हुआ है । समझा कि मैंने भोजन कर लिया है । यह समझकर वह उठा और मुँह धोकर पुनः हिसाब लगाने बैठ गया ।

एक बार निशापुरके कुछ इज्ज़तदार सज्जन महात्मा अहमदसे मिलनेको आये । महात्माके एक तूफानी और दुराचारी पुत्र था । इस समय वह सुरापानसे मस्त होकर गाता हुआ घरमेंसे निकला और उन सज्जनोंकी तरफ उसने ज़रा भी दृष्टिपात नहीं किया । महात्माके पुत्रकी यह हालत देखकर उन सज्जनोंने मनमें बड़ा अचरज माना । उनके मनो-भावको समझकर महात्मा बोले--

'एक दिन रात्रिके समय पड़ोसीके यहाँसे कुछ मिठाई आयी थी । हम दोनोंने उसको खाया था । खानेके बाद मालूम हुआ कि वह राजदरबारसे आयी थी । उसी रातको यह बालक पेटमें पड़ा था । राज्यके रजोगुणी अन्नसे इसकी उत्पत्ति हुई है, इसी-से यह पुत्र दुराचारी हुआ है ।'

बहराम नामक एक व्यक्ति महात्मा अहमदका पड़ोसी था । परदेशमें लाखों रुपयेका माल वह व्यापारके लिये भेजता था। एक बार उसका बहुत-सा धन लुटेरों-ने लूट लिया । यह बात सुनकर अपने मित्रोंके साथ महात्मा अहमद भी बहरामके घर आश्वासन देनेको गये । बहुत ही सत्कारपूर्वक बहरामने उनको बैठाया और सबके भोजनके लिये तैयारी करना शुरू किया। इस समय अकाल पड़ रहा था; इसलिये बहरामने सोचा कि 'यह महात्मा अकालके कारण सबको साथ लेकर मेरे यहाँ भोजन करने आये होंगे ।'

महात्मा अहमदने कहा--'भाई ! तुम इस बातकी फिकर न करके शान्त रहो । मैं जीमनेको नहीं आया हूँ । मैंने सुना है कि तुम्हारा धन जाता रहा है, इसलिये तुमको आश्वासन देनेके वास्ते आया हूँ ।'

बहराम बोला--'हाँ, ऐसा हुआ है, लेकिन उससे मुझको अफ़सोस नहीं हुआ । इसके लिये तो उलटा मुझे ईश्वरका उपकार मानना चाहिये; क्योंकि पहले तो मेरा धन दूसरे भले ही लूट ले जायँ पर मैंने किसी-का धन नहीं लूटा है । दूसरे, लुटेरोंने अभी मेरी आधी ही सम्पत्ति लूटी है, आधी बाक़ी बची है ! तीसरे, सांसारिक जो अनित्य धन है वही लुटाया है, धर्मरूपी सच्चा धन तो बाक़ी बचा है !'

यह बात सुनकर महात्मा बहुत ही प्रसन्न हुए और अपने साथियोंसे बोले कि--'सुनो, इन वाक्यों-में धर्म-प्रेमकी कितनी ज़्यादे सुगन्ध भरी हुई है !'

महात्मा अहमद रातको प्रभु-स्मरण किया करते थे । एक बार उनके एक मित्रने उनसे पूछा--'अगर आप बीच-बीचमें एकाध रात्रि सोवें तो क्या हर्ज है ?'

महात्माने जवाब दिया--'जिस मनुष्यके नीचे नरकाग्नि तेज़ीसे जल रही हो और जिसे ऊपरका स्वर्गराज्य बुलाता हो तो वह निद्राके पीछे क्यों अपना वक्त खोवे ?' *

---

* गुजराती 'मुस्लिम महात्माओ' से ।

भक्त-गाथा

भक्त परमेष्ठी दर्जी

कोई भी मनुष्य इस जन्ममें नीच वर्णसे उच्च वर्ण नहीं बन सकता परन्तु भक्तिके प्रतापसे भगवत्प्रेमको अथवा भगवान्‌को प्राप्तकर सर्वपूज्य महान् सन्त बन सकता है । सामाजिक सम्बन्ध दूसरी चीज है और भगवान्‌के साथ जीवका आत्मिक सम्बन्ध दूसरी । यह आत्मिक सम्बन्ध सभीका है, जो इस सम्बन्धको पहचानकर भगवान्‌को अपना परम सुहृद्, परम उपास्य, परम गति, परम आश्रय, परम धन, परम पिता जान लेता है वही भगवान्‌का जन है । ऐसा भगवज्जन किसी भी जातिका हो, कुछ भी पेशा करता हो, वह अपनी जातिमें रहता हुआ, अपने उसी पेशेके द्वारा भगवान्‌की पूजा करता है; न उसे जाति बदलनेकी आवश्यकता है और न पेशा बदलनेकी । जाति बदली भी नहीं जा सकती । भक्तका प्रत्येक कर्म भगवदर्थ होता है और भगवान्‌के प्रेममें मस्त हुआ वह उसीमें परम सन्तुष्ट और परम तृप्त रहता है । यह हरिभक्तिरूपी कल्पलता जाति, कुल, विद्या और वैभव आदि विषयोंमें अपनेको पहाड़से भी ऊँचा माननेवाले मनुष्यके हृदयको स्पर्श नहीं करती । यह उसीको प्राप्त होती है जो किसी भी बाहरी स्थितिमें रहकर भी अभिमानशून्य हो । अकिञ्चनताके निम्नप्रदेशमें ही इसे आनन्द मिलता है । यह वहीं अङ्कुरित होती और फूलती-फलती है । संसारमें ऐसे बहुत ही थोड़े मनुष्य हैं, जो इस भक्तिकल्पलताकी शोभा देखते और इसे प्राप्त करते हैं । अधिकांश प्राणी तो इसकी कल्पना नहीं कर सकते । आज एक भगवत्-रसिक दर्जीकी जीवन-कथा लिखी जाती है ।

अबसे प्रायः चार सौ वर्ष पहले दिल्लीमें परमेष्ठी नामका एक दर्जी रहता था । उसका शरीर कुबड़ा और काले रङ्गका था, पर गुणमें वह पूरा था । हृदयमें भगवद्भक्ति भरी थी और हाथमें कारीगरी । वह सिलायीका काम करता था । उसमें और भी अनेक सन्तोचित गुण थे । वह शूद्र होनेपर भी जितेन्द्रिय था, दरिद्र होनेपर भी उदार था, श्रमजीवी होनेपर भी सदा आनन्दमें रहनेवाला था । कभी झूठ नहीं बोलता था । जीवहिंसा भूलकर भी नहीं करता था और सारे जगत्‌में भगवान् वासुदेवको व्याप्त समझकर सबसे प्रेम करता था ।

परमेष्ठी भगवान्‌की अपार महिमापर विचार करता-करता कभी प्रेमावेशमें बेसुध हो जाता । कपड़े सीनेके समय ऐसी दशामें उसके हाथमें सूई, सूत और कपड़ा ज्यों-का-त्यों रह जाता । वह देहसे मर्त्यलोकमें रहनेपर भी आत्मासे पवित्र बैकुण्ठलोकमें विचरता । उसकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती । इसप्रकार, जलमें खिले हुए नवीन कमलकी भाँति घण्टोंतक वह निश्चल बैठा रहता ।

परमेष्ठीकी स्त्री विमला धर्मपरायणा, रूप-गुणसम्पन्ना तथा बड़ी ही पतिव्रता थी । उसके एक पुत्र और दो कन्याएँ थीं । पुत्र-कन्याओंमें भी माता-पिताके गुण उतर आये थे । इससे परमेष्ठीके मनमें तनिक भी सांसारिक अशान्ति नहीं थी । इसप्रकार यद्यपि उसे समस्त सांसारिक सुख प्राप्त थे तथापि वह उनमें आसक्त नहीं था । भगवान्, भगवद्भक्त तथा भगवन्नामस्मरणमें उसे अपार प्रीति थी । भगवान्‌का नाम-संकीर्तन तो उसे बहुत ही अच्छा लगता । उसे जब कभी कुछ समय मिलता, वह तुरन्त भगवान्‌के भजन-

में रत हो जाता। थोड़ा-सा अवसर पाते ही वह भगवान्‌का पवित्र कीर्तन करने लगता, गाते-गाते उसका गला रुँध आता, वह स्तम्भित होकर पसीने-पसीने हो जाता और उसकी आँखोंसे आनन्दाश्रुकी धारा बहने लगती। प्रेमके इन सात्त्विक भावोंसे उसका शरीर पूर्ण हो जाता। अहा! उस समय उसकी आनन्दमयी मूर्ति देखकर कोई नहीं कह सकता था कि वह दर्जी है। उस समय तो सभी लोग उसे धन्यवाद देते, उसकी प्रशंसा करते तथा उसका कृपा-पात्र बननेका प्रयत्न करते।

भगवद्भक्त होनेके साथ-साथ वह अपने जातीय धन्धेमें भी बड़ा दक्ष था। उसके तैयार किये हुए कपड़े जो कोई देखता, अवश्य प्रशंसा करता। वह सिलायीका काम इतना महीन और सफाईके साथ करता था कि उस समय उसकी बराबरीका कारीगर दिल्ली शहरमें दूसरा नहीं था। इससे शहरके सभी अमीर-उमरा तथा स्वयं बादशाह उससे हर एक प्रकारके कपड़े सिलवाकर उसे मन-चाहा इनाम देते थे।

एक बार ऐसा हुआ कि बादशाहके सुवर्ण-सिंहासनके ऊपर दोनों ओर दो गलीचे बिछाये गये। बादशाह अपने दोनों पैर उनके ऊपर रखकर बैठता। परन्तु वह उसको पसन्द नहीं आये। इसलिये उसने दो बढ़िया तकिये तैयार करानेके लिये बेशक़ीमती कपड़ा बनवाया तथा उसमें सोनेके तारे, हीरे, माणिक और मोती जड़वाये। बादशाहको वह कपड़ा बहुत पसन्द आया और वह उसे बारम्बार देखकर मन-ही-मन कारीगरकी प्रशंसा करने लगा।

पहले कहा जा चुका है कि परमेष्ठी एक सुनिपुण दर्जी था और स्वयं बादशाहका उसके ऊपर बहुत विश्वास था, इसलिये उसने शीघ्र ही उसे बुलवा भेजा। परमेष्ठी बादशाहके पास आया और सलाम करके सामने खड़ा हो गया। बादशाहने उससे कहा कि—'ओ दर्जी! तू यह बेशक़ीमत हीरे-मोतियोंसे जड़ा हुआ कपड़ा ले जा और इसका दो तकिये बना ला, देखना कारीगरीमें किसी तरहकी कमी न रहने पावे और इसके ऊपरका एक भी फूल दब न जाय। जा, इसे जल्दी तैयार करके ले आ, यदि मुझे तेरा काम पसन्द आया तो मैं तुझे निहाल कर दूँगा।'

परमेष्ठीने 'जहाँपनाह! जो हुक्म' कहकर झुककर सलाम किया और वहाँसे घर आया। स्नान-भोजनसे फुरसत पाकर वह बादशाहके तकिये सीने बैठा और थोड़े ही समयमें उसने दोनों खोल तैयारकर बढ़िया इत्रकी सुगन्ध-भरी रूई उसमें भर दी और तकिये तैयार कर दिया। बहुत ही बढ़िया इत्र होनेके कारण परमेष्ठीका सारा घर सुगन्धसे भर गया। उसके ऊपर जड़े हुए सोनेके तारे और जवाहिरात खिल उठे, हीरे-माणिकोंसे वह जगमगा उठे! ऐसे तकियोंको रखनेके लिये परमेष्ठीके घरमें स्थान कहाँ था? वह इन्हें शीघ्र बादशाहके यहाँ ले जानेके लिये उठा, परन्तु तुरन्त ही एक दूसरे नवीन विचारमें पड़ गया।

जैसे-जैसे तकियोंमें मनोहर सुवास आने लगी और जैसे-जैसे उनके ऊपरकी हीरे-माणिककी अपूर्व जगमगाहट उसकी आँखोंमें आने लगी, वैसे-ही-वैसे वह सोचने लगा—'अहा! क्या ऐसे अपूर्व तकिये एक सामान्य मनुष्यके उपभोगमें आने लायक हैं! इसके उपभोगके अधिकारी तो एकमात्र देवाधिदेव भगवान् वासुदेव ही हैं। अहा! ऐसी वस्तु जो उन्हें अर्पित न हो तो फिर कारीगरी ही किस कामकी! परन्तु हे प्रभो! यह मेरी अपनी चीज़ तो है नहीं, फिर मैं क्या करूँ?' इसप्रकार विचार करते-करते वह सुध-बुध भूल गया, उसकी देहात्मबुद्धि विलुप्त हो गयी। इन्द्रियाँ भी शान्त हो गयीं। अब वह न

तो कुछ देखता था, न कुछ सुनता था और न कुछ करता ही था। उसका शरीर इस लोकमें था परन्तु आत्मा इस मृत्युलोकके सुख-दुःखसे अतीत किसी और ही स्थितिमें पहुँच गयी थी। ऐसी अवस्थामें परमेष्ठीने एक चमत्कार देखा। कई वर्ष पहले एक बार वह जगन्नाथपुरीमें रथयात्रा देखनेके लिये गया था, उस समय उसने श्रीजगन्नाथजीके रथका दर्शन किया था। आज भी वह उसी दर्शनमें लीन हो गया। सेवकगण श्रीजगन्नाथजीको लेकर उल्लसित हो चले जा रहे हैं, चारों ओर 'जय-जय हरि' की ध्वनि छा रही है, आगे-आगे हजारों उजले घोड़े नाचते-कूदते चले जा रहे हैं। सेवकगण आनन्दपूर्वक एकके बाद एक वस्त्र बिछाते चले जा रहे हैं, श्रीजगन्नाथजी एक वस्त्रसे दूसरे वस्त्रपर पधारते हैं, कठिन आघातसे बिछाये हुए वस्त्र फटे जाते हैं।

दैवयोगसे इसी दिन रथयात्रा-उत्सवका दिन था और जिस समय परमेष्ठी दिल्लीमें बैठा-बैठा श्रीजगन्नाथजीकी रथयात्राका दर्शन कर रहा था, ठीक उसी समय श्रीजगन्नाथपुरीमें भी श्रीजगन्नाथजीकी उपर्युक्त रथयात्रा चल रही थी। भगवत्कृपासे भावनाके आवेशमें परमेष्ठी उस लीलामें इतना लीन हो गया था कि उस समय वह मानो नीलाचलमें बैठा हुआ ही प्रभुका दर्शन करता हो।

इतनेमें नीलाचलमें ऐसा हुआ कि श्रीजगन्नाथजीके नीचे बिछाया हुआ एक वस्त्र फट गया। सेवक दूसरा वस्त्र लानेके लिये मन्दिरकी ओर दौड़े, परन्तु उनको लौटनेमें बहुत विलम्ब हो गया। दिल्लीमें बैठे परमेष्ठीने इस दृश्यको देखा, उससे रहा नहीं गया, उसने शीघ्र ही अपने पासके दो तकियोंमेंसे एक श्रीजगन्नाथजीके अर्पण कर दिया। श्रीजगन्नाथजीने परम प्रीतिपूर्वक उसे स्वीकार किया, इसे देखकर परमेष्ठीके आनन्दका ठिकाना न रहा। वह प्रभुके पादपद्ममें दण्डवत् करके दोनों हाथ जोड़कर उठ खड़ा हुआ और उन्मत्तकी भाँति दोनों हाथोंको ऊपर उठा नाचने लगा। श्रीजगदीश्वरकी रथयात्रामें बहुत भीड़ हुई है। धक्का-मुक्की हो रही है। इसीमें परमेष्ठी लोगोंके झुण्डसे कुछ पीछे रह गया इससे उसे श्रीहरिका दर्शन नहीं हुआ और वह ऐसी भारी भीड़में आगे बढ़ भी नहीं सकता था। बस, इसी समय अचानक उसकी स्थिति पलट गयी और वह चैतन्यावस्थामें आ गया। चैतन्य होते ही आँखें खोलकर देखता है तो कुछ भी नजर नहीं आया। इससे वह गम्भीर विचारमें पड़ गया, उसे बहुत ही आश्चर्य हुआ! वह मन-ही-मन विचार करने लगा—'अहा! क्या यह स्वप्न था? नहीं, नहीं; ऐसा नहीं हो सकता, स्वप्न होता तो मेरे हाथका एक तकिया कहाँ चला जाता? अहा! सर्वान्तर्यामी जगन्नाथ! क्या तुमने मेरे हृदयकी बात जान ली थी? क्या तुमने मेरा एक तकिया स्वीकार कर लिया? अहो! मेरा कैसा भाग्य! कैसा सद्भाग्य है!!'

इसप्रकार विचार करते-करते कुछ समयके बाद जब उसको शरीरकी सुधि हुई तो उसे आनन्दके साथ-ही-साथ भय भी होने लगा। वह तुरन्त ही विचारने लगा—'अरे! मैंने यह क्या किया? यह तो बादशाहका तकिया था। अहा! उसे बादशाहको न देकर श्रीजगन्नाथजीको दे डाला। अरे, अब मैं बादशाहको क्या जवाब दूँगा?' दूसरे ही क्षण उसने सोचा—'छिः, भला श्रीजगन्नाथजीके सामने दिल्लीश्वर किस गिनतीमें है?'

इसप्रकार परमेष्ठी भय और अभयके संग्राममें झूल रहा था, उसी समय बादशाहके सिपाही उसके घरके सामने आकर पुकारने लगे—'अरे दर्जी! बादशाहके तकिये तैयार हुए कि नहीं? जहाँपनाहने दोनों तकिये लेकर जल्दी-से-जल्दी बुला लानेको कहा है, इसलिये चल, जल्दी कर।'

'हाँ, हाँ, हो गये हैं, चलो, चलो ।' कहता हुआ परमेष्ठी बाहर आया और सिपाहियोंके साथ एक तकिया लेकर दरबारमें आ पहुँचा और दूरसे ही बादशाहको सलाम करके बादशाहके पास जाकर एक तकिया वहाँ रख दिया और दोनों हाथ जोड़कर खड़ा हो गया । तकियेकी कारीगरी देखकर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ, परन्तु उसने एक ही तकिया क्यों दिया यह बात उसकी समझमें नहीं आयी । वह मुस्कराता हुआ बोला—'भाई ! तू एक ही तकिया क्यों लाया ? दूसरा क्या हुआ ? उसे क्या अबतक तैयार नहीं किया ? सच-सच बतला ।'

परमेष्ठी बादशाहके पैरोंपर गिरकर कहने लगा—'जहाँपनाह ! दोनों तकिये तैयार हुए थे, परन्तु उनमेंसे एक नीलाचलनाथ श्रीजगन्नाथने स्वीकार कर लिया है, इसलिये यह एक ही आपके पास ला सका हूँ । गरीबपरवर ! मैं कभी झूठ नहीं बोलता ।' इस बातको सुनकर बादशाह हँस पड़ा और कुछ रुष्ट-सा होकर बोला—'अरे ! पागलकी तरह क्या बक रहा है ! कहाँ वह नीलाचल और कहाँ यह दिल्ली । तूने यहाँसे तकिया कैसे दिया और उन्होंने वहाँसे उसे कैसे लिया ? अरे, क्या तुझे खबर नहीं कि मैं दिल्लीश्वर हूँ ? मेरी दिल्लीमें आकर मेरा तकिया ले जाय, ऐसा दूसरा कौन है ? यह ढोंग-ढाँग छोड़ दे और जो कुछ दूसरी बात हो सच-सच कह दे, नहीं तो तेरा बुरा हाल होगा ।'

बादशाहकी इस धमकीपर परमेष्ठी हाथ जोड़कर बोला—'जहाँपनाह ! मैं सच कह रहा हूँ । एक तकिया नीलाचलनाथ श्रीजगन्नाथजी ले गये हैं और दूसरा आपके लिये लाया हूँ । हुजूर ! मैं सच कहता हूँ । अब आप मुझे मारिये या जिलाइये, यह आपके हाथमें है । परन्तु हे गरीबपरवर ! जगन्नाथजीने वहाँसे ही तकिया ले लिया इसमें आपको आश्चर्य ही क्यों हुआ ? इसको आपने असम्भव क्यों समझा ? श्रीजगन्नाथजी इस अखिल विश्वके नाथ हैं । क्या आपकी यह दिल्ली जगत्के बाहर है ? वे विभु हैं, कोई स्थान नहीं, जहाँ वे न हों । उनका निवास और उनका धाम भी सर्वदा सर्वत्र है । तब दिल्लीमें उन्होंने तकिया ले लिया, इस बातको आप मिथ्या क्यों मान रहे हैं ? बल्कि हे बादशाह ! वे प्राणिमात्रके भीतर व्याप रहे हैं और सबके हृदयकी बातको जानते हैं । हम अपने मनमें जो कुछ सोचते हैं उसे भी वे जानते हैं । उसी प्रकार जो अपने शुद्ध अन्तःकरणसे मनके साथ जिस सामग्रीको उन्हें अर्पण करनेकी इच्छा करता है उसे वे परम आनन्दपूर्वक ग्रहण करते हैं । हे जहाँपनाह ! सच कहता हूँ, आपका तकिया देखकर मेरा मन बहुत ही व्याकुल हो गया था । उसे देखकर मैं उसे अपने प्रभुको अर्पण करनेके लिये अस्थिर हो उठा था, इसीलिये उन्होंने दया करके उसे स्वीकार कर लिया । हुजूर ! आपके मनमें जैसा रुचे वैसा कीजिये, परन्तु श्रीजगन्नाथजीने आपका तकिया स्वीकार किया, इससे आप बहुत ही भाग्यवान् हैं ।'

इसपर बादशाह अत्यन्त ही क्रोधित हो उठा । वह लाल-लाल आँखें किये अत्यन्त कर्कश स्वरमें बोला—'रे दर्जी ! मैं तुझे अब भी कहता हूँ कि तू सोच ले । मैं दिल्लीश्वर हूँ । क्या सारे मुल्ककी भक्ति एक तेरे-जैसे मलिन दर्जीमें ही आ गयी है ? अरे ! कोई है ? इस दुष्ट दर्जीको हथकड़ी-बेड़ी डालकर अँधेरी कोठरीमें डाल दो और मेरा हुक्म है कि इसे खानेके लिये भी मत दो और इसकी कोठरीका ताला भी मत खोलो । देखता हूँ कि कौन इसका बाप आकर इसे बचाता है ? जो जगन्नाथ आकर इसके पाससे मेरा तकिया ले गया है वही आकर इसे बचावेगा, और खाना-पीना भी देगा ।'

बादशाहके मुँहसे इतना निकलते ही पहरेदारोंने आकर परमेष्ठीको पकड़ लिया और हथकड़ी-बेड़ी देकर कैदखानामें ले जाकर एक अँधेरी कोठरीमें उसे डाल दिया और उसके बाहर ताला देकर वहाँ पहरा बैठा दिया। बेचारा परमेष्ठी इस विपदवस्थामें एकमात्र मधुसूदनका ध्यान करने लगा। उसके सामने न कोई दूसरी बात थी और न दूसरा विचार। चिन्तामणिके दरबारमें यह बात एक पलमें पहुँच गयी। भक्तवत्सल तुरन्त ही भक्तकी रक्षा करनेके लिये तैयार हो गये और नीलाचलसे दिल्ली शहरमें आ पहुँचे।

आधीरात बीत गयी है, कैदखानेके पहरेदार अभी जग ही रहे हैं, इसी समय महाप्रभु श्रीजगन्नाथजी परमेष्ठीके कैदखानेके दरवाजे पर आ पहुँचे। पहरेदारोंको मोह-निद्रामें डालकर भगवान्‌ने अन्दर प्रवेश किया। परमेष्ठीकी कोठरीका द्वार खुल गया परन्तु परमेष्ठीको इसकी क्या खबर? वह तो तन्मय हुआ भगवान्‌के नामका मनन करता हुआ रुदन कर रहा था। प्रभुने उस कोठरीमें प्रवेशकर अमृतमय स्वरसे परमेष्ठीको पुकारा।

अहाहा! कैसा मीठा, कैसा मधुर था वह स्वर! अहा! शिशुके कण्ठसे पहले-पहल निकला हुआ 'बा-बा, मा-मा' शब्द भी माता-पिताको उतना प्रिय नहीं लगता! उस सुमधुर स्नेह-सम्बोधनको सुनकर परमेष्ठी चकित हो उठा। वह आश्चर्यमें पड़ कह उठा—'अहा! इस दानवपुरीमें देवताओंके अमृतका सञ्चार कहाँसे हो गया?' वह आँखें खोलकर देखता है तो नीलकान्तमणिके दिव्य प्रकाशसे उसकी अँधियारी कोठरी प्रकाशमयी हो रही है। देखते ही उसके मुँहसे निकल पड़ा—'अरे अहा! यह क्या?' देखते-ही-देखते उस दिव्य प्रकाशमेंसे श्रीजगन्नाथजीकी मूर्ति दिखलायी देने लगी। परमेष्ठीने अपने चर्म-चक्षुओंसे देखा कि उसके प्राणाराध्य प्रभु प्रसन्नतासे अपने एक वरदहस्तके द्वारा अभयमुद्रासे उसे अभयदान दे रहे हैं और दूसरे हाथसे सुदर्शनचक्र फेर रहे हैं। सुदर्शनचक्र भी आज अतिशय घोर, भीषण स्वरूप धारण कर रहा है और जैसे-जैसे वह घूमता है जान पड़ता है कि प्रलयाग्नि बरस रही है। प्रभुकी कमनीय मूर्तिको देखकर परमेष्ठी परमानन्दमें निमग्न हो गया। सचेत होते ही वह भगवान्‌के चरणकमलोंमें लोटने लगा और उनके सामने करुणापूर्ण मुखाकृतिसे रोने लगा। प्रभुकी कृपादृष्टिसे परमेष्ठीके बन्धन टूट गये, आनन्द और विस्मयके तरङ्गोंमें वह तरङ्गायमान होने लगा। वह कौन है और यह क्या हो रहा है, इसकी उसे सुधि न रही। उसका शरीर स्तम्भित हो गया, उसकी सारी गति बन्द हो गयी। भगवान्‌से उसकी कोई बात छिपी नहीं थी। भगवान्‌के बिम्बोष्ठकी धारामें, कमल-नयनके कोनोंमें मिष्ट—मधुर हास्यके जो परमाणु खेल कर रहे थे, वह सब एकत्रित होकर मानो एक बड़े फव्वारेके रूपमें फूट पड़े। श्रीभगवान् एकाएक हँस पड़े और परमेष्ठीको सम्बोधित करते हुए बोले—'परमेष्ठी! जिसको मेरी सहायता है उसे क्या भय है? देख, देख, हे वत्स! जबतक मेरे हाथमें यह सुदर्शनचक्र है तबतक भक्तको लेशमात्र भी भय नहीं हो सकता। दूसरा कोई कितना ही बलवान् क्यों न हो पर याद रख कि मेरा भक्त सबसे बढ़कर बलवान् है। आ बेटा! आ, मेरे पास आ!!'

परमेष्ठी उनके पास क्या आता? वह तो उनकी करुणाकी विमल धाराके प्रवाहको देखकर अवाक् हो गया और बारम्बार प्रणाम करके रोने लगा। वह अपनी स्वाभाविक दीनताके वश हो मनमें विचार

करने लगा कि—'अहा ! मैं तो महापापी, महा-अधम हूँ । क्या मैं भगवान्‌के समीप जानेयोग्य हूँ ?'

भक्तकी दीनता देखकर भक्तवत्सलको विशेष आनन्द हुआ, इससे वे स्वयं उसके पास जाकर अपना वरदहस्त उसके मस्तकपर फेरने लगे । श्री-प्रभुके श्रीअङ्ग-स्पर्शसे परमेष्ठीका अङ्ग-प्रत्यङ्ग अत्यन्त सुन्दर और मनोहर हो गया । और वह आनन्द-सागरमें निमग्न होकर अपनेको और अपने प्रभुको भी भूल गया ।

इधर भगवान् भी परमेष्ठीको कृतार्थ और बन्धन-मुक्त करके बादशाहके शयनमन्दिरमें जाकर उसे स्वप्नमें ताड़न करके श्रीनीलाचल चले गये । तुरन्त ही बादशाह उठ बैठा । उसने चारों ओर देखा परन्तु कोई दिखायी नहीं दिया, इससे वह चकित हो विचारने लगा—'अरे ! क्या यह स्वप्न है ? नहीं, ऐसा किसप्रकार कहा जा सकता है ? मेरा अङ्ग अभीतक धूज रहा है, उसके किये प्रहारके चिह्न अबतक दिखायी देते हैं ! अहा ! यहाँसे वह क्या हो गया ? आश्चर्य ! आश्चर्य !! यह तो बड़ी ही विलक्षण घटना दीख पड़ती है !!'

क्रमशः प्रभात हुआ, बादशाहको चैन कहाँ ? उसने तुरन्त ही अपने विश्वासी मित्रोंको बुलवाया और उनसे अपने स्वप्नकी बात कह सुनायी । उसके बाद सभी कैदखाने पहुँचे । जाकर क्या देखते हैं कि सभी पहरेदार अभी निद्रामें पड़े हुए हैं और सभी दरवाजे खुले हुए हैं । परमेष्ठीके हाथ-पैरमें बन्धन नहीं है । उसका वह रूप भी नहीं है । उसके शरीरसे दिव्य प्रकाश चमक रहा है । मुख-मण्डलमें अपूर्व लावण्य झलक रहा है और वह प्रसन्नतापूर्वक अपने प्राणारामके ध्यानमें मग्न है ।

परमेष्ठीका जब ध्यान टूटा तो वह अपने प्रभुको न देखकर बहुत ही व्याकुल हो गया और प्रभुका नाम-रटन करने लगा ।

परमेष्ठीकी यह अवस्था देखकर दिल्लीपतिको बहुत ही आश्चर्य हुआ । उसके बाद वह उसे नाना प्रकारसे प्रसन्न करने लगा तथा अमूल्य वस्त्राभूषणोंसे उसे विभूषित कर अपने खास हाथीपर बैठाकर बाजे-गाजेके साथ शहरमें ले गया । पश्चात् बहुत-सा धन-रत्न देकर उससे क्षमा माँगी । इस अलौकिक घटनाको सुनकर सब मनुष्य आश्चर्यचकित हो उठे । भक्तकी जय-जय-ध्वनिसे सारा शहर गूँज उठा, परन्तु यह मान-सम्मान भक्त परमेष्ठीको बिल्कुल नहीं रुचा । उसे बहुत लज्जा हुई और प्रतिष्ठाके भयसे वह तुरन्त ही दिल्ली शहरको छोड़कर दूसरे देशको चला गया । एवं भगवान्‌के भजन-पूजनमें जीवन व्यतीत करता हुआ अन्तमें परमगति-को प्राप्त हुआ ।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !

श्रीभगवन्नाम

कल्याणमें प्रकाशित सूचनाके अनुसार अबकी बार बहुत स्थानोंमें नाम-जप-यज्ञ हुआ है। सूचनाएँ लगातार आ रही हैं । अबतक २८ करोड़से ऊपर मन्त्र-जपकी सूचनाएँ आ चुकी हैं । स्थानोंके नाम तथा अन्य विवरण आगामी वैशाखके अंकमें प्रकाशित करनेका विचार है ।

निवेदक

नाम-जप-विभाग

विवेक-वाटिका

परमात्मादेवको जान लेनेपर सारे बन्धनोंका नाश हो जाता है। क्लेशोंके क्षीण हो जानेसे जन्म-मृत्युका अभाव हो जाता है। परमात्माका ध्यान करनेसे तीनों देहोंका भेदन हो जाता है और वह केवल आप्तकाम विश्वके ऐश्वर्यको प्राप्त होता है। —उपनिषद्

❀ ❀ ❀ ❀

मैं ही सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी हूँ, लोग मुझ परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जाननेके कारण ही गिरते हैं। जो अनन्य भक्त मेरा निरन्तर चिन्तन करते हुए मुझे भजते हैं उन नित्य मुझमें लगे हुए पुरुषोंका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ। —भगवान् श्रीकृष्ण

❀ ❀ ❀ ❀

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन इन्द्रियोंके विषयोंमें कामनासे प्रवृत्त नहीं होना चाहिये और मनसे उनके विरुद्ध भावना करके यानी विषय मिथ्या हैं और परिणाममें नरकोंमें ले जानेवाले हैं, ऐसा विचार करके उनके अति प्रसंगको छोड़ देना चाहिये। —मनु महाराज

❀ ❀ ❀ ❀

यह समस्त विश्व भगवान्‌का ही विस्तृत रूप है अतएव बुद्धिमानोंको चाहिये कि सबको अभेद-दृष्टिसे अपने ही समान देखे। —भक्तराज प्रह्लाद

❀ ❀ ❀ ❀

रागके समान संसारमें दुःखका अन्य कोई कारण नहीं है। राग ही सबसे बढ़कर दुःख देनेवाला है और त्यागके समान कोई सुखदाता नहीं है। —देवर्षि नारद

❀ ❀ ❀ ❀

साधुओंके संगसे श्रीभगवान्‌के पराक्रमका यथार्थ ज्ञान करानेवाली, हृदय और कानोंको सुख देनेवाली कथाएँ सुननेको मिलती हैं, उन कथाओंसे मोक्षरूप भगवान्‌में श्रद्धा होती है, श्रद्धासे रति और रतिसे भगवान्‌में भक्ति होती है। —श्रीमद्भागवत

❀ ❀ ❀ ❀

बुद्धिमान् धीर पुरुषको चाहिये कि और सब कर्मोंको छोड़कर आत्माके विचारमें तत्पर रहकर संसार-बन्धनसे छूटनेका यत्न करे। —शंकराचार्य

❀ ❀ ❀ ❀

धन चुराया गया, रोता क्यों है? क्या चोर ले गये? रो अपनी इस समझपर। प्यारे! लेने-ले जाने-वाला दूसरा कोई नहीं है, वह एक ही है जो नये-नये बहानोंसे तेरा दिल लिया चाहता है। गोपियोंके इससे बढ़कर और क्या भाग्य होंगे कि श्रीकृष्ण उनका मक्खन चुरावें। धन्य है वह जिसका सब कुछ चुरा लिया जाय। मन और चित्ततक भी बाकी न रहे। —स्वामी रामतीर्थ

❀ ❀ ❀ ❀

हे प्रभो! तेरे सामने हाथ जोड़कर सच्चे हृदयसे मैं इतनी ही प्रार्थना करता हूँ कि मैं माँगूँ या न माँगूँ, मुझे ऐसी कोई चीज कभी न देना जो मुझे अच्छी लगनेपर भी मेरा बुरा करनेवाली हो और मेरी बुद्धिको कुमार्गपर ले जानेवाली हो। —साक्रेटीज़

❀ ❀ ❀ ❀

वैराग्यके तीन प्रकार हैं—(१) अपवित्र वस्तुओंका त्याग करना साधारण वैराग्य है, (२) आवश्यकतासे अधिक प्राप्त हुई पवित्र वस्तुओंका भी त्याग करना विशेष वैराग्य है और (३) ईश्वरसे दूर हटानेवाली वस्तुमात्रका त्याग करना सन्तोंका वैराग्य है। —इमाम अहमद

❀ ❀ ❀ ❀

जिसप्रकार पारसके साथ छूते ही लोहा सोना हो जाता है, समुद्रमें बूँद गिरते ही उसमें मिल जाती है और गंगामें कोई नदी मिलते ही वह गंगा हो जाती है उसी प्रकार सावधान, उद्योगी और दक्ष पुरुष सन्तोंकी संगति करते ही मोक्षको पा जाता है। —समर्थ रामदास स्वामी

* * * *

अहंकार करना व्यर्थ है। जीवन, यौवन कुछ भी यहाँ नहीं रहेगा। सब तीन दिनोंका सपना है। —रामकृष्ण परमहंस

* * * *

कृपालु लेखकों और चित्रकारोंसे प्रार्थना
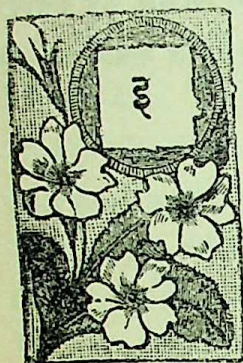
इस बार कल्याणका ईश्वराङ्क निकला था। ईश्वराङ्कको १८२५० प्रतियाँ छपी थीं परन्तु इसकी माँग इतनी अधिक रही कि प्रकाशित होनेके चार ही महीने बाद २५०० प्रतियोंका दूसरा संस्करण छापना पड़ा। इस समय साधारण अङ्कोंकी २०५०० प्रतियाँ छप रही हैं। हम लोगोंमें योग्यता, शक्ति और कार्य-सञ्चालन-पटुताका सर्वथा अभाव होनेपर भी कल्याणका जो इतना आशातीत प्रचार हो रहा है, इसमें भगवत्प्रेरणा ही प्रधान कारण है। अपनी क्षुद्र शक्ति और योग्यताका पता रहनेके कारण यह सत्य मुक्तकण्ठसे स्वीकार करना पड़ता है। इस समय भगवत्कृपासे कल्याणका प्रचार भारतके प्रायः सभी प्रान्तों और सभी क्षेत्रोंमें है। अन्य भाषा-भाषी अनेक भावुक सज्जन और देवियाँ 'कल्याण' पढ़नेके लिये ही हिन्दी सीखते हैं। जनता इससे थोड़ा-बहुत आध्यात्मिक लाभ भी प्राप्त कर रही है, यह बात भी सप्रमाण सिद्ध है। यह सब सर्वशक्तिमान् परम दयामय प्रभुकी दयासे ही हो रहा है। अपना पुरुषार्थ मानना तो मिथ्या अभिमानमात्र है।

अब इसके बाद तीन अंक और निकलनेपर आगामी आषाढ़में कल्याणका सातवाँ वर्ष पूरा हो जायगा। आगामी वर्षके प्रथमांकके लिये कल्याण-प्रेमी गण्य मान्य महानुभावोंने कई विषय बतलाये थे। अधिकांश सज्जनोंकी सम्मति श्रीशिवांक निकालनेके लिये रही। भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णसे सम्बन्ध रखनेवाले अंक निकल भी चुके थे, इससे भगवान् श्रीशिव-सम्बन्धी अंक प्रकाशित होनेकी आवश्यकता समझी गयी और तदनुसार आठवें वर्षका प्रथमांक—

श्रीशिवाङ्क

—प्रकाशित करना निश्चित किया गया है। 'कल्याण' भगवान् श्रीशिव, भगवान् श्रीविष्णु और भगवान् श्रीराम एवं श्रीकृष्णमें कोई खास भेद नहीं समझता। एक ही परमात्माके ये भिन्न-भिन्न नाम-रूप हैं। उनके इन विभिन्न महान् नाम-गुणोंका गुण गानेमें ही कल्याण और मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि शिवांक वैष्णवोंके कामका नहीं होगा या श्रीरामायणांक आदि शिव-भक्तोंके कामका नहीं था। शिवतत्त्व तो ऐसी चीज़ है, जो सबके कामकी और लाभकी चीज़ है। इससे शैव और वैष्णव दोनोंको लाभ होनेकी आशा है। अतएव इस बार सभीको विशेषरूपसे कल्याणके साथ प्रेम बढ़ाना चाहिये। पिछले विशेषांकोंकी भाँति इस अंकमें भी अनेक सन्त-महात्मा और सम्माननीय विद्वानोंके महत्त्वपूर्ण लेख संग्रह करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। इस अंकके लिये नीचे लिखे विषयोंमेंसे किसी विषयपर या अन्य किसी श्रीशिव-सम्बन्धी उपयोगी विषयपर निबन्ध लिखनेके लिये पूज्यपाद सम्मान्य सन्त-महात्मा और विद्वान् महानुभावोंसे प्रार्थना की जाती है। लेख आ रहे हैं। हम अपने पूज्य और प्रेमी सन्तों और विद्वानोंसे प्रार्थना करते हैं कि वे इस अंकके लिये निबन्ध भेजकर श्रीभगवान्‌की सेवामें सहायता करें। लेख या कविता यथासम्भव आगामी वैशाख शुक्ला १ तक भेजनेकी कृपा करें। लेख बहुत बड़ा न हो, लेखमें किसी सम्प्रदायके सिद्धान्तोंपर तथा आचार्योंपर आक्रमण न हो; तथा हासिया छोड़कर साफ अक्षरोंमें कागजकी एक पीठपर लिखा हुआ रहे। लेख हिन्दी, संस्कृत, मराठी, गुजराती, बंगला, अंगरेजी और उर्दूमेंसे किसी भी भाषामें भेज सकते हैं।

द्वादश ज्योतिर्लिंगोंके, श्रीशिवजीके खास-खास मन्दिरों तथा तीर्थोंके चित्रोंकी आवश्यकता है। जिन महाशयोंके पास ऐसे चित्र हों या जो फोटो लेकर भेज सकें वे कृपापूर्वक पत्र-व्यवहार करें। श्रीशिवजीकी लीला-सम्बन्धी सुन्दर, रंगीन चित्र किन्हीं योग्य चित्रकारके पास या किसी शिवभक्त महानुभावके पास हों और वह ब्लाक बनानेके लिये देनेकी कृपा करना चाहें तो कृपया पत्र लिखें। इस सहायताके लिये हम उनके बड़े ही कृतज्ञ होंगे। लेखके साथ भी चित्र भेज सकते हैं। श्रीशिव-सम्बन्धी किसी चमत्कारपूर्ण घटनाका विवरण और चित्र भी कोई भेज सकें तो बड़ी कृपा हो।

प्रार्थी,

हनुमानप्रसाद पोद्दार }
चिम्मनलाल गोस्वामी एम० ए० } सम्पादक

लेख-सूची

७३–भालचन्द्रकी कथा
७४–प्रदोष-व्रत
७५–शिवरात्रिकी कथा
७६–शिवपुराण
७७–लिंगपुराण
७८–शिवगीता
७९–शिवमहिम्नकी कथा और व्याख्या
८०–शिव-सहस्र-नाम
८१–श्रीराम और श्रीकृष्णोपासक शिव
८२–श्रीरामकी शिव-भक्ति
८३–श्रीकृष्णकी शिव-भक्ति
८४–श्रीकृष्ण-शंकर-युद्ध
८५–श्रीराम-शंकर-युद्ध
८६–शिव और गान्धर्ववेद
८७–शिव और धनुर्वेद
८८–शिव और आयुर्वेद
८९–शिव और अर्थ-शास्त्र
९०–शिव और संसार
९१–षडक्षर वा पञ्चाक्षर मन्त्र
९२–शैव-साहित्य
९३–शिवकृत रामायण
९४–शिव-भक्तमाल
९५–शिव-भक्तोंका महत्त्व
९६–रामचरितमानसमें शिवचरित
९७–शिवलोक
९८–शिव और भक्ति-सम्प्रदाय
९९–शिवनामकी महिमा
१००–रामनाम और शिव
१०१–शिव-निर्माल्य
१०२–शिवानुशासन
१०३–राक्षसोंकी शिवभक्ति
१०४–वासुकी और शिवका सम्बन्ध
१०५–काशीमरणान्मुक्ति और शिव-द्वारा तारक-मन्त्र-दान
१०६–त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्वपुण्ड्र-रहस्य
१०७–कलौ चण्डीमहेश्वरौ
१०८–'सेवक-सखा-स्वामि सियपीके'
१०९–शिवको महादेव क्यों कहते हैं ?
११०–काशी विश्वनाथकी कथा तथा इतिहास
१११–श्रीअमरनाथ, वैद्यनाथ, केदारेश्वर, रामेश्वर, द्वारकेश्वर, गोपेश्वर, कमलेश्वर, प्रभासेश्वर, महाकालेश्वर, भुवनेश्वर आदिकी कथाएँ और माहात्म्य
११२–शिवका कैलाश
११३–संहारमें कल्याण
११४–शिवपूजनके सम्बन्धमें विदेशियोंका अज्ञान
११५–शिवका स्वरूप
११६–शैव-सम्प्रदायोंके भेद
११७–बाबा भोलेनाथ
११८–शैव और वैष्णवोंका प्रेम
११९–भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें शिवके प्रधान-प्रधान मन्दिर
१२०–शिव और शंकराचार्य

सदुपदेश

दौलत पाय न कीजिये, सपनेमें अभिमान।
चंचल जल दिन चारिको, ठाँव न रहत निदान॥
ठाँव न रहत निदान, जियत जगमें यश लीजै।
मीठे बचन सुनाय, विनय सबहीसों कीजै॥
कह गिरधर कविराय, अरे यह सब घट तौलत।
पाहुन निशिदिन चारि, रहत सबहीके दौलत॥

पानी बाढ़ो नावमें, घरमें बाढ़ो दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥
यही सयानो काम रामको सुमिरन कीजै।
परस्वारथके काज शीश आगे धरि दीजै॥
कह गिरधर कविराय बड़ेनकी याही बानी।
चलिये चाल सुचाल राखिये अपनो पानी॥

—गिरधर कविराय

हे मेरे प्रभु !

(लेखक—स्वामी श्रीमित्रसेनजी महाराज)

मेरे प्रभु ! तुम्हारे साथ मेरा प्रेम और प्रीति है तो दूसरोंके साथ लड़ाई-झगड़ा क्यों हो जाता है ? हे प्रभु ! तुम मेरे प्रेम और प्रीतिके भूखे हो तो मेरे जीवनमें जो लड़ाई-झगड़ा है वह किसके अर्थ है और क्यों है ? परन्तु हे प्रभु ! मैं तो तुम्हारे सिवा दूसरेको देखता ही नहीं और न तुम्हारे सिवा दूसरेको जानता हूँ । अवश्य ही तुम मेरे प्रेमके भूखे हो और यह मेरा प्रेम तुम्हीं ले रहे हो । परन्तु हे मेरे प्रभु ! मेरे इस लड़ाई-झगड़ेको तो तुम्हींको सम्हालना है ! तो क्या मैं तुमसे ही लड़ता हूँ ? मेरे प्रभु ! तुम भी तो मुझसे लड़नेके लिये तैयार हो जाते हो और फिर मेरा और तुम्हारा द्वन्द्व-युद्ध आरम्भ हो जाता है ।

हे मेरे प्रभु ! तुम अच्छे आनन्दरूप हो ! मैं तुमसे प्रेमभावमें आता हूँ तो प्रेमभाव पाता हूँ और वैरभावमें आता हूँ तो वैरभाव पाता हूँ । परन्तु मैं तो यही चाहता हूँ कि चाहे मुझमें प्रेमभाव हो या वैरभाव, वह ऐसा दृढ़ हो कि उसके साथ मेरा तन-मन-प्राण सर्वस्व ही लग जाय । मैं अपनी किसी गतिको कैसे बचाऊँ और बचाकर उसे कहाँ रक्खूँ ? चाहे मैं किसी भी गति या अवस्थाको प्राप्त होऊँ सबमें तुम्हारे साथ रहूँ ।

हे मेरे प्रभु ! तुम तो रूठना भी जानते हो ! अहा ! तुम्हारे रूठनेमें भी कैसा आनन्द है ! तुम पीठ फेर लेते हो तो हे प्रभु ! मैं तुमको मनाता हूँ; तुम जिधर मुँह करते हो उसी ओर दौड़कर तुम्हारे सामने हो जाता हूँ । परन्तु मेरे प्रभु ! तुम जो अपना रूठना दिखलाते हो, तो मुझे भी रूठना सिखलाते हो । तो क्या मैं भी तुमसे रूठ जाऊँ ? यह देखो, अब तुम मुझे मनाते हो । तुम्हारा प्यार भी बड़ा गहरा प्यार है, मैं तुमसे कैसे रूठूँ ? क्योंकि तुम भी तो मुझसे नहीं रूठ सकते हो । जब मैं तुम्हारे सामने होता हूँ तो तुमको भी अपने सामने पाता हूँ । जब मुझे तुम्हारे दर्शनोंका आनन्द होता है तो देखता हूँ वही आनन्द तुझमें भी भर रहा है !

हे मेरे प्रभु ! कैसा आश्चर्य है ! जो कुछ मैं बनता हूँ वही तुम भी बन जाते हो । भला ऐसे गाढ़े प्रेमी (मित्र) होकर तुम अबतक कहाँ छिपे थे ? अहा ! मैं तुम्हारे साथ कैसे अच्छे-अच्छे खेल खेल रहा हूँ ! ओहो ! मुझमें क्या सामर्थ्य ? यह सब तो जो कुछ खेल बन रहा है, सब तुम्हारा ही खेल है । हे मेरे प्रभु ! कभी तो तुम मेरे प्यार और प्रेमका आनन्द लेते हो और कभी मुझमें प्यार और प्रेम भरकर मेरे प्रेमरसका पान करते हो । जब इस प्रेमसे कुछ तृप्ति तुम्हें मिल जाती है तो फिर लड़ाई-झगड़ेके रसके रसिक बन जाते हो और मुझमें उसे भरकर उसका आनन्द लेते हो । हे प्रभु ! मेरे और तुम्हारे बीचकी इस लड़ाई और प्रेमका उपाय ही क्या है ? हे मेरे प्रभु ! क्या मैं तुमसे प्यार करके देखूँ और फिर उस प्यारकी दृढ़ता रूठकर दिखलाऊँ ? परन्तु यदि रूठूँ तो रूठकर कहाँ जाऊँ ? तुमसे तनिक भी हटूँ तो कहाँ किसप्रकार हटूँ ? हे प्रभु ! तुम तो सर्वत्र परिपूर्ण हो । मैं तो यह कहता हूँ कि मैं तुम्हारा साथ ही नहीं छोड़ूँ, परन्तु तुम तो आप ही मेरे साथ लगे हुए हो । मैं

क्या करूँ ? जो कुछ करते हो वह सब तुम्हारा ही करना है और सब न करना भी तुम्हारा ही है ।

हे प्रभु ! तुम्हारे बिना क्या मैं, और क्या मेरा ? बस, सब कुछ तुम-ही-तुम, तू-ही-तू और तेरा-ही-तेरा ! और यह जो 'मैं, मेरा' बनाया है यह तो तुमने अपना एक खेल रचाया है । अब मैं तुम्हारे इस खेलमें तुम्हारे साथ ही खेलता रहूँ, अथवा मैं और करूँ ही तो क्या करूँ ? हे मेरे प्रभु ! तुम मेरा खेल बनाओ अथवा तुम मेरा रंग रचाओ, मैं तो तुम्हारे साथ-ही-साथ हूँ । संसारमें जो कुछ 'मैं, मेरा' है सब तेरा ही है । सब तेरे साथ है, सब तेरी गाथा है ।

हे मेरे प्रभु ! तुम-ही-तुम हो और तू-ही-तू है और तेरा-ही-तेरा है । हे मेरे प्रभु ! हे मेरे प्रभु ! प्रभु ही प्रभु ! हे प्रभु ! हे प्रभु !!

गंगा और नर्मदा-प्रेमियोंसे निवेदन

सम्मान्य मित्र पं० श्रीदयाशंकरजी दुबे एम० ए०, एल-एल० बी० महोदय श्रीगंगाजी और नर्मदाजी-पर दो बड़े ग्रन्थ लिख रहे हैं । ग्रन्थ महत्त्वके होंगे । अतएव श्रीगंगाजी और नर्मदाजीके प्रेमियोंसे नम्र निवेदन है कि—

(१) यदि वे इन नदियों तथा इनकी सहायक-नदियोंके किनारेके किसी ग्राम या महत्त्वपूर्ण स्थानोंसे परिचित हों तो उनका संक्षिप्त वर्णन नीचे लिखे पतेसे भेजनेकी कृपा करें । इस वर्णनमें प्राकृतिक दृश्यों, घाटों, देवस्थानों, प्राचीन और नवीन मन्दिरों तथा ऐतिहासिक बातोंको स्थान देना आवश्यक है । साथमें यह भी बतलाना आवश्यक है कि वह स्थान किस जिलेमें है, किसी बड़े नगरसे कितनी दूर है, नदीके किस किनारेपर है और रेलद्वारा तथा सड़कसे उस स्थानको किस-प्रकार पहुँच सकते हैं ।

(२) यदि उनके पास श्रीगंगाजी या नर्मदाजीके सम्बन्धमें कोई प्रकाशित या अप्रकाशित कविता या स्तोत्र हो तो उसे नीचे लिखे पतेपर भेज दें ।

(३) यदि उनके पास इन नदियों या इनकी सहायक नदियोंके किनारेके किसी दर्शनीय स्थान (मन्दिर, घाट, प्राकृतिक दृश्य) का फोटो या चित्र हो तो उसे अवश्य भेज देनेकी कृपा करें । फोटो या चित्रोंमें किनारेके दृश्योंका महत्त्व प्रकट होना आवश्यक है ।

(४) यदि उनके पास श्रीगंगाजी और नर्मदाजीके किनारे निवास करनेवाले किसी साधु, सन्त या वीर पुरुषका फोटो हो तो वे उसे भी उनके संक्षिप्त जीवन-चरित्रसहित भेजनेकी कृपा करें ।

(५) इन पुस्तकोंको उत्तम तथा और भी अधिक उपयोगी बनानेके लिये योग्य सम्मति भी देनेकी कृपा करें ।

श्रीदुबेजी महाराज लिखते हैं कि जो सज्जन इन पुस्तकोंके लिखनेमें उपर्युक्त किसी भी तरहसे सहायता देनेकी कृपा करेंगे उनका शुभनाम पुस्तकमें सधन्यवाद प्रकाशित कर दिया जायगा और प्रकाशित होनेपर पुस्तक भी उनको बिना मूल्य भेज दी जायगी । जो सज्जन फोटो या चित्र भेजनेकी कृपा करेंगे उनको, यदि वे लेना स्वीकार करेंगे, तो उसका उचित खर्च भी भेज दिया जायगा । यदि वे चाहेंगे तो ब्लाक बन जानेपर फोटो या चित्र सधन्यवाद वापस भी कर दिये जावेंगे ।

पता—

पं० दयाशंकर दुबे एम० ए०, एल-एल० बी०,
अर्थशास्त्र-अध्यापक, प्रयाग-विश्वविद्यालय, प्रयाग ।

सुन्दर सस्ते धार्मिक दर्शनीय चित्र

कागज-साइज १८×२२ इञ्चका बड़ा चित्र मूल्य ।)

विश्वविमोहन श्रीकृष्ण (रंगीन) ब्लाक-साइज १५ इञ्च चौड़ा, १९ इञ्च लम्बा

इतने बड़े रंगीन चित्र हिन्दुस्तानके छपे हुए प्रायः बहुत कम मिलते हैं। एक मँगानेपर मूल्य, डाकव्यय, पैकिंगसहित ॥।-) लगता है, २ का १-), ३ का ११-), इकट्ठे मँगानेमें और भी सुभीता रहेगा।

कागज-साइज १५×२० इञ्चके बड़े रंगीन चित्र, दाम प्रत्येकका =)॥ मात्र

सभी चित्र बढ़िया आर्ट पेपरपर सुन्दर छपे हुए हैं। चित्रोंके नाम ये हैं—

श्रीचैतन्यका हरिनाम-संकीर्तन
श्रीराम-चतुष्टय
श्रीनन्दनन्दन
सिंहासनारूढ श्रीराम
मोहन
वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण

१८×२२ और १५×२० के चित्रोंमें कमीशन ६ लेनेसे २५% (एक रुपयेमें चार आना), १२ लेनेसे ५०% (एक रुपयेमें आठ आना) पैकिंग, डाकखर्च आदि अलग।

कागज-साइज १०×१५ इञ्च

(छोटे ब्लाकोंसे ही केवल बड़े कागजपर बार्डर लगाकर छापे हैं)

सुनहरी दाम -)॥ प्रतिचित्र
युगलछवि
तन्मयता

बहुरंगा दाम -) प्रतिचित्र
कौशल्या-नारायण
अहल्योद्धार
भक्त-मनचोर
वृन्दावनविहारी
गोपाल-कृष्ण
मुरली-मनोहर
गोपीकुमार
जगद्गुरु श्रीकृष्ण
भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
व्रज-नव युवराज
कौरव-सभामें विराट् रूप
श्रीकृष्णार्जुन
श्रीशेषशायी भगवान् विष्णु
देवदेव भगवान् महादेव
शिवजीकी विचित्र बरात
शिव-परिछन
ध्रुव-नारायण
पवन-कुमार
श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु

दोरंगा और सादा चित्र, दाम)।।। प्रतिचित्र
राम-जटायु (दोरंगा)
कर नवनीत लिये (सादा)
रामसियाकी जोरी (सादा)

कागज-साइज ७॥×१० इञ्च

सुनहरी चित्र, दाम -) प्रतिचित्र

श्रीरामपञ्चायतन
श्रीराम-सीता पुष्प-वाटिकामें
चरणपादुका-पूजन
बँधे नटवर
वेणुधर
बाबा भोलेनाथ

बहुरंगे चित्र, दाम)।।। प्रतिचित्र

श्रीरामचतुष्टय (भगवान् श्रीरामरूपमें)
सदाप्रसन्न राम
कमललोचन राम
श्रीरामावतार
भगवान् श्रीरामकी बाललीला
भगवान् श्रीराम और काकभुशुण्डि
अहल्योद्धार
धनुषभंग
परशुराम-राम
श्रीसीताराम
कौशल्या-भरत
श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीका गंगा पार होना
श्रीरामके चरणोंमें भरत
कैकेयीकी क्षमा-याचना
अनसूया-सीता
श्रीराम-प्रतिज्ञा
राम-शबरी
श्रीसीताजीके गहने
सुवेल-पर्वतपर श्रीरामकी झाँकी
राम-रावण-युद्ध
सीताजीकी अग्नि-परीक्षा
पुष्पकारूढ श्रीराम
सिंहासनारूढ श्रीराम
मारुति-प्रभाव
श्रीसीताजीकी गोदमें लव-कुश
वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण
विश्व-विमोहन श्रीकृष्ण
श्रीश्यामसुन्दर

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीनन्दनन्दन
भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र
जगमोहन
गोपीकुमार
व्रज-नव युवराज
मोहन
भक्त-भावन भगवान् श्रीकृष्ण
साधु-रक्षक श्रीकृष्ण (वसुदेव-
देवकीको कारागारमें दर्शन)
दर्शन-भिक्षा
बालगोपाल
तृणावर्त-उद्धार
श्रीकृष्ण-कलेवा
वात्सल्य
माखन-प्रेमी बालकृष्ण
गो-सेवक श्रीकृष्ण
गो-प्रेमी श्रीकृष्ण
गो-वंश-प्रिय कन्हैया
भवसागरसे उद्धारक भगवान् कृष्ण
बकासुर-उद्धार
अघासुर-उद्धार
कृष्ण-सखा-सह वन-भोजन
राम-श्यामकी मथुरा-यात्रा
बन्धन-मुक्तकारी भगवान् श्रीकृष्ण

सेवक श्रीकृष्ण
जगत्-पूज्य श्रीकृष्णकी अग्रपूजा
शिशुपाल-उद्धार
समदर्शी श्रीकृष्ण
शान्ति-दूत श्रीकृष्ण
सारथि श्रीकृष्ण
मोह-नाशक श्रीकृष्ण
भक्त-प्रतिज्ञा-रक्षक श्रीकृष्ण
अश्व-परिचर्या
जयद्रथ-वध
संहार-लीला
श्रीकृष्णका अर्जुनको पुनः ज्ञानोपदेश
नृग-उद्धार
परमधाम-गमन
श्रीविष्णु
भगवान् मत्स्यरूपमें
भगवान् कूर्मरूपमें
भगवान् वराहरूपमें
भगवान् श्रीनृसिंहदेवकी
गोदमें भक्त प्रह्लाद
भगवान् वामनरूपमें
भगवान् परशुरामरूपमें
भगवान् बुद्धरूपमें
भगवान् कल्किरूपमें
भगवान् ब्रह्मारूपमें

भगवान् श्रीविष्णुरूपमें
भगवान् श्रीशिवरूपमें
भगवान् दत्तात्रेयरूपमें
भगवान् सूर्यरूपमें
भगवान् गणपतिरूपमें
भगवान् अग्निरूपमें
भगवान् शक्तिरूपमें
श्रीगायत्री देवी
दास भक्त हनुमान्जी
विश्वासी-भक्त ध्रुव
गुरु द्रोणाचार्य
भीष्मपितामह
अर्जुन शस्त्रागारमें
दानवीर कर्ण
अजामिल-उद्धार
सुआ पढ़ावत गणिका तारी
निमाई-निताई
प्रेमी भक्त सूरदासजी
गोस्वामी तुलसीदासजी
मीरा (कीर्तन)
मीराबाई (जहरका प्याला)
प्रेमी भक्त रसखान
ऋषि-आश्रम

एकरंगे चित्र, दाम)॥ प्रतिचित्र

विश्वामित्रकी राम-भिक्षा
अहल्योद्धार
सोहे राम-सियाकी जोरी
श्रीराम और केवट
भगवान् राम और सुतीक्ष्णका प्रेमोन्माद
राम-विलाप
शरणागत भक्त विभीषण
सीता-वनवास
रामायण-चित्र
सीताका पाताल-प्रवेश
आदर्श वैश्य नन्दजी
शिशु-लीला
शकटासुर-उद्धार
नल-कूबर-कृत स्तुति
नवनीत-वितरण

वन-भोजन
कालियनागपर कृपा
दावानल
गोवर्द्धन-धारण
श्रीकृष्ण-सुदामाकी गुरु-सेवा
श्रीलाडलीलालजी
कुवलयापीड-उद्धार
कंस-उद्धार
जिज्ञासु-भक्त उद्धव
श्रीकृष्ण-द्रौपदी
फल-पत्र-भोजी श्रीकृष्ण
धर्म-तत्त्वज्ञ श्रीकृष्ण
भक्त-भजन-कारी श्रीकृष्ण
उत्तरा-गर्भ-रक्षक श्रीकृष्ण
योगेश्वर श्रीकृष्ण

योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण
भगवान्की शरणागतिसे सबका उद्धार
भगवान् विभूतिमें
भक्तोद्धारक भगवान्
देवर्षि नारदको व्याध
(वाल्मीकि) बाँध रहा है
चक्रिक भीलको भगवद्दर्शन
भक्त सुधन्वा
श्रीश्रीनित्यानन्द-हरिदासका
नाम-वितरण
शरणागत भक्त सूरदासजी
परम भक्तिमती मीराबाई
सन्त तुकाराम
मालीसे (फूल-फूलमें भगवान्)

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

कागज-साइज ५×७॥ इञ्च

बहुरंगे चित्र, दाम)॥ प्रतिचित्र

श्रीविष्णु
शेषशायी
सदाप्रसन्न राम
कमल-लोचन राम
विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण
आनन्द-कन्द श्रीकृष्ण
भक्त-मनचोर श्रीकृष्ण
जगद्गुरु श्रीकृष्ण
मोहन
गोपीकुमार

व्रज-नव युवराज
श्याम-सुन्दर
सुदामा और श्रीकृष्णका प्रेममिलन
अर्जुनको गीताका उपदेश
अर्जुनको चतुर्भुजरूपका दर्शन
बालक नारदको भगवानका दर्शन
देवर्षि नारद (कीर्तनाचार्य)
ध्रुव-नारायण
समुद्रमें पत्थरोंसे दबे प्रह्लादका उद्धार
भगवान् नृसिंहकी गोदमें प्रह्लाद
पवन-कुमार

अजामिल-उद्धार
भगवान्‌की गोदमें भक्त चक्रिक
श्रीश्रीचैतन्य
भक्त धन्ना जाटकी रोटियाँ भगवान् ले रहे हैं
भक्त मोहन और गोपाल भाई
गोविन्दके साथ गोविन्द खेल रहे हैं
भक्त गोपाल चरवाहा
मीराबाई (कीर्तन)
भक्त जनाबाई और भगवान्
ऋषि-आश्रम

विशेष सुभीता

१०×१५ साइजके सुनहरे, रंगीन और सादे २४ चित्रोंकी कीमत १॥)।, पैकिंग ~)।॥, डाकखर्च ।≡) सब जोड़कर २~) होते हैं, जिनके १॥) लिये जायँगे।

७॥×१० के सुनहरे और रंगीन १०५ चित्रोंकी कीमत ५), पैकिंग ≡), डाकखर्च ॥≡) सब जोड़कर ५॥≈) होते हैं, जिनके ३॥≡) लिये जायँगे।

७॥×१० साइजके सादे ४२ चित्रोंकी कीमत १।~), पैकिंग ~)॥, डाकखर्च ।-)॥ सब जोड़कर १॥) होते हैं, जिनके १।) लिये जायँगे।

५×७॥ साइजके रंगीन ३२ चित्रोंकी कीमत १), पैकिंग ~), डाकखर्च ।~) सब जोड़कर १।≈) होता है जिसका प्रचारार्थ केवल ॥।=) लिया जायगा (इसमें ५०% कमीशन दी गयी है)

१०×१५ और ७॥×१० की तीनों सेट एक साथ लेनेवालोंको चित्रोंके मूल्यमें ५०% (रुपयेमें आठ आना) कमीशन दी जायगी अर्थात् छोटे-बड़े १७१ चित्रोंका मूल्य ७॥~)।, डाकखर्च-पैकिंग १≈) कुल मिलाकर ८॥≡)। होता है जिसका ५~) मात्र लिया जायगा।

कमीशन-नियम

१०×१५ और ७॥×१० या ५×७॥ साइजके सेट न लेकर खुदरा और बिक्रीके लिये एक साथ लेनेपर दो दर्जनसे १०० तक २५) सैकड़ा, १०० चित्रोंसे २५० तक ३७॥) सैकड़ा और २५० से ऊपर ५०) सैकड़ा कमीशन दिया जायगा। इसमें डाकखर्च ग्राहकका लगेगा, इससे ज्यादा कमीशनके लिये लिखा-पढ़ी न करें।

एक ही चित्र छोटे-बड़े साइजमें छपा हुआ होता है अतः समझकर मँगवाव।

एक ही चित्र १००० लेनेसे कुछ विशेष रियायत कर दी जायगी।

केवल २ या ४ चित्र पुस्तकोंके साथ या अकेले नहीं भेजे जाते, क्योंकि रास्तेमें टूट जाते हैं।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) यह प्रतिमासकी कृष्णा एकादशीके लगभग प्रकाशित होता है।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांक-सहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≡) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है। एक संख्याका मूल्य ।) है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता। नमूना ।) मिलनेपर भेजा जाता है।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते। ग्राहक प्रथम अंकसे १२ वें अंकतकके ही बनाये जाते हैं। एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्कतक नहीं बनाये जाते। 'कल्याण' का वर्ष श्रावणसे शुरू होता है।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कम-से-कम सात दिन पहलेतक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये। देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण-प्रतिपदाके पहले-पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो-महीनेके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्ट-मास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेप-रहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-नम्बर अवश्य लिखना चाहिये।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये, क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं। कभी-कभी तो डेढ़-दो महीनोंतक नहीं मिलते। इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं। रुपये न मिलनेतक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं। खर्चा दोनोंमें एक ही है, परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है। जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है।

(४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या और अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजनी चाहिये।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि 'व्यवस्थापक 'कल्याण' गोरखपुर' के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले लेखादि 'सम्पादक 'कल्याण' गोरखपुर' के नामसे भेजने चाहिये।

श्रीईश्वरांक

केवल २५०० पुनः छापा गया था

इसमेंसे लगभग १६०० नये ग्राहकोंको भेज दिया गया है। अब प्रायः ९०० अंक बाकी रहे हैं। जो सज्जन ग्राहक बनना चाहें, वे ४≡) शीघ्र मनिआर्डर-द्वारा भेज दें या हमें वी० पी० भेजनेकी आज्ञा दें। इनके कुछ ही महीनोंमें समाप्त हो जानेकी आशा है। अतः ग्राहक बननेके लिये शीघ्रता करें।

यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि 'श्रीईश्वरांक' में क्या है और उसकी उपयोगिता कैसी है। दूसरी बार छपना ही इसका अच्छा प्रमाण है।

कल्याणके तीसरे-चौथे वर्षकी फाइलें

लेनेवाले सज्जन ध्यान दें। समाप्त हो जानेपर मिलना कठिन है।

तीसरे वर्षकी फाइल—(प्रसिद्ध श्रीभक्तांकसहित) अनेक सुन्दर चित्र और उपादेय लेख एवं कविताओंका यह संग्रह आपकी पुस्तकोंमें स्थान पानेयोग्य है। सत्संग और पठन-पाठनकी अच्छी सामग्री है। धार्मिक विचारोंका सुन्दर संग्रह और स्थायी साहित्य है। भक्तोंकी कथाएँ विशेष मनोहर हैं। पूरी १२ अंकोंकी फाइलका मूल्य केवल ४≡) मात्र, डाकखर्च माफ। (भक्तांक अलग नहीं मिलता)

चौथे वर्षकी फाइल—(सुविख्यात श्रीगीतांकसहित) लगभग २०० चित्र और १४०० पृष्ठ। मूल्य केवल ४≡), डाकव्यय माफ। (गीतांक अलग नहीं मिलता)

जब श्रीगीतांक निकला तब कल्याणकी ग्राहक-संख्या ७५०० से लगभग १२००० हो गयी थी। यह गीताके सम्बन्धमें अपने ढंगका अनोखा ग्रन्थ है। बहुत थोड़ा बचा है। पहले-दूसरे या पाँचवें-छठे वर्षकी तरह ये फाइलें भी समाप्त हो जानेपर मिलनी कठिन हैं। भेंट आदिमें देनेके लिये भी यह उत्तम सामग्री है।

पता—**व्यवस्थापक—"कल्याण"**
गोरखपुर

Registered No. A. 1724.

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली खण्ड २ (सचित्र)
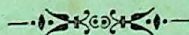
पृष्ठ-संख्या लगभग ४५०, एण्टिक कागज, बहुरंगे-दुरंगे-इकरंगे ९ चित्र, मूल्य १≠) सजिल्द १।=) मात्र।

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली प्रथम खण्डके प्रकाशित होनेके बादसे ही हमारे प्रेमी पाठकोंकी आगेके खण्डोंके लिये बराबर बहुत माँगें आ रही थीं। इसके चित्र बननेमें बहुत समय लग जानेके कारण प्रकाशनमें विलम्ब हो गया। इसके लिये हम सभी सज्जनोंसे क्षमा माँगते हैं। शेष तीन खण्ड धीरे-धीरे छपकर प्रकाशित हो सकेंगे। ग्राहक-गण धीरज रक्खें। इस दूसरे खण्डमें निम्नलिखित विषय हैं—

इनमेंसे एक प्रसंग इसी अंकमें छपा है, साथ ही इस अंकमें जो रंगीन चित्र है वह भी च[illegible]वलीके [illegible]का (बड़ा) नमूना है। इसकी पुण्य लीलाओंका आनन्द तो पढ़नेसे ही मिलेगा।

पहले खण्डपर अनेक सुन्दर-सुन्दर सम्मतियाँ आयी हैं। सभीने उसे पसन्द किया है। आशा है यह प्रकार लोकप्रिय होगा। आप एक प्रति आज ही लिखकर मँगवा लें!

पता—[illegible]ताप्रेस, गोर[illegible]

श्रीहरिः

कल्याणके ग्राहक बनानेवाले सज्जनोंसे

'कल्याण' पर जो सबका इतना प्रेम है, 'कल्याण' को अपने ही ऊँचे और सुन्दर धार्मिक भावोंका प्रचारक—अपनी ही चीज—समझकर जो इसके प्रचारमें सहायता करते हैं, उनका हमपर परम अनुग्रह है। यह निस्स्वार्थ लोकसेवा सबको अति प्रिय है। इसका प्रमाण 'कल्याण' का प्रचार है। अनेक धर्म-प्राण सज्जन इसके अधिकाधिक प्रचारका विचार करते हैं जो उनकी शुभ प्रेरणासे होता ही जा रहा है और न जाने कहाँतक होगा! हाँ, स्थान अभी बहुत है। अतः प्रेमियोंसे उत्साहपूर्वक ग्राहक बनानेकी प्रार्थना है।

निवेदक—व्यवस्थापक

विषय-सूची

कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) यह प्रतिमासकी कृष्णा एकादशीके लगभग प्रकाशित होता है।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांक-सहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≡) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है। एक संख्याका मूल्य ।) है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता। नमूना ।) मिलनेपर भेजा जाता है।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते। ग्राहक प्रथम अंकसे १२ वें अंकतकके ही बनाये जाते हैं। एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्कतक नहीं बनाये जाते। 'कल्याण' का वर्ष श्रावणसे शुरू होता है।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कम-से-कम सात दिन पहलेतक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये। देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण-प्रतिपदाके पहले-पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो-महीनेके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्ट-मास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेप-रहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-नम्बर अवश्य लिखना चाहिये।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये, क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं। कभी-कभी तो डेढ़-दो महीनोंतक नहीं मिलते। इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं। रुपये न मिलनेतक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं। खर्चा दोनोंमें एक ही है, परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है। जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है।

(४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या और अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजनी चाहिये।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि 'व्यवस्थापक 'कल्याण' गोरखपुर' के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध र[illegible] पत्रादि 'सम्पादक 'कल्याण' गोरखपुर' के नाम [illegible] भेजने चाहिये।

कल्याण

जबतक संसारके भोगोंकी चाह है तबतक मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता । जितनी चाह बढ़ती है उतना ही दुःखोंका विस्तार होता है, परन्तु ज्यों-ज्यों चाह पूरी होती है त्यों-त्यों चाह बढ़ती है ।

दुःखोंसे छूटना हो तो चाह छोड़ो, दुःखोंको कम करना हो तो चाह कम करो और चाह कम करनी हो तो चाहको पूरा करनेकी इच्छाका त्याग कर दो । चाहरूपी आगमें विषयरूपी घीकी आहुति मत दो, उसपर सन्तोषका शीतल जल छोड़कर उसे बिल्कुल बुझा दो ।

विषय-सुखसे निराश होना सच्चे सुखकी प्राप्तिकी ओर बढ़ना है, विषयोंकी चिन्ता छूटे बिना सच्चे सुखका चिन्तन नहीं हो सकता, वे पुरुष वास्तवमें भाग्यवान् हैं जो विषय-सुखसे वञ्चित हैं ।

जिसके सांसारिक विषय जितने अधिक होते हैं वह प्रायः भगवान्से उतना ही अधिक दूर रहता है, विषयी पुरुषका वातावरण ही ऐसा बन जाता है कि उसके मनमें भगवान्की ओर झुकनेकी अभिलाषा सहजमें उत्पन्न नहीं होती । भगवत्-प्राप्तिकी अभिलाषा, सत्संग और सद्ग्रन्थोंके द्वारा भगवान्का प्रभाव जाननेसे पैदा होती है । विषयी पुरुषोंको न तो सत्संगका अवसर मिलता है और न सद्ग्रन्थोंके पढ़ने-सुननेके लिये ही फुरसत मिलती है ।

उदाहरण देखना हो तो अधिकांश राजाओं, अफसरों, धनियों और अमीरोंकी दशा देख लो । यदि इनमेंसे आप कोई हों तो अपने हृदयपर हाथ रखकर सोचो । [illegible] कमाना, लोगोंपर प्रभाव बनाये रखना, मौज-शौक करना, खुशामदियोंसे घिरे रहना, चापलूस चन्दा माँगनेवालोंसे तंग रहना, महल-मकान बनवाना, सैर-सपाटा करना, नाटक-बायस्कोप देखना, विनोद करना, परनिन्दा और परचर्चाको कहना-सुनना, भोग-वासना पूर्ण करना, विरोधियोंको दबाना, समान सम्मान और कीर्तिवालोंको नीचा दिखाना आदि कितने ही परम आवश्यक प्रतीत होनेवाले प्रपञ्च पीछे लगे रहते हैं । सुबह उठनेसे लेकर रातको सोनेतक किसी समय भगवन्नामस्मरण और सद्ग्रन्थके अध्ययनकी कल्पना ही मनमें नहीं आती ।

यथार्थ सन्त-महात्मा लोभहीन होनेके कारण ऐसे लोगोंके दरवाजेपर जाते नहीं । कोई स्वाभाविक दयावश चला भी जाय तो ऐसे लोग उसे किसी कामनासे आया हुआ समझकर उससे लाभ नहीं उठाते, कोई-कोई तो तिरस्कारतक कर बैठते हैं । और स्वयं वे किसी सन्त-महात्माके पास जाते नहीं, प्रथम तो सन्त-महात्मा-सम्बन्धी चर्चा ही उनके कानोंतक नहीं पहुँचने पाती, यदि कहीं चर्चा होती है तो उनपर अपने मान, कल्पित स्वरूप अथवा पोजीशनका ऐसा भूत सवार रहता है जो मान-भंगका भय दिखलाकर उन्हें, अमीर-गरीबमें समानभाव रखनेवाले और सबके साथ प्रेमसे मिलनेवाले महात्माओंके पास जाने नहीं देता ।

खूब धन-दौलत, मान-सम्मान और पद-मर्यादामें रहते हुए भी भगवान्की ओर चित्त लगानेवाले पुरुष सदासे होते आये हैं और अब भी हैं पर उनकी संख्या बहुत ही थोड़ी होती है और पूर्वजन्मके विशेष साधनके बलसे ही वे प्रतिकूल वायुमण्डलमें रहकर अपनी स्थितिको सम्हाले रहते हैं और लक्ष्यको नहीं भूलते ।

सच्चा सुख भगवान् अथवा भगवान्के अनन्य प्रेमकी प्राप्तिमें ही है, और वह तभी प्राप्त हो सकता है जब मनुष्यका जीवन उस सुखकी ओर ले जानेवाले

साधनोंसे भर जाय। वे साधन विषयप्रेमसे सर्वथा विरोधी होते हैं। इसीलिये सन्तों और अनुभवी महात्माओंने विषयोंको विषवत् छोड़ देनेकी सलाह दी है। जो मनुष्य विषयोंसे चिपटा रहकर विषय-भोगको सुख-प्राप्तिका साधन समझकर उनमें रचा-पचा रहता है और अपनेको भगवत्-प्राप्तिका अभिलाषी भी बतलाता है वह या तो धोखेमें है या जान-बूझकर दम्भ करता है। जबतक मनुष्य अकिञ्चन नहीं बन जाता तबतक भगवान्को पानेका अधिकारी नहीं होता। अकिञ्चनता वस्तुतः मानसिक ही होती है परन्तु जो आसक्तिवश बाहरका त्याग ही नहीं कर सकता उसके लिये मानसिक अकिञ्चनता तो बहुत दूरकी बात है। त्यागका अभ्यास दोनों प्रकारसे करना चाहिये, बाहरसे भी और भीतरसे भी। जो लोग भोगोंको तुच्छ कहकर उन्हें भोगते हुए ही ब्रह्मज्ञानी बननेका दावा करते हैं वे भी धोखा खाते हैं और जो बाहरसे भोगोंका त्यागकर मनसे उन्हें निकाल देनेकी जरूरत ही नहीं समझते वे भी भ्रममें ही हैं।

जहाँतक बने, विषयोंका संग्रह न करे, विषयोंका चिन्तन न करे, विषयी पुरुषोंका संग न करे, विषयासक्ति बढ़ानेवाले दृश्य न देखे, बात न सुने और इस तरहके ग्रन्थ न पढ़े। मानका, धनका, रूपका लोभ उत्पन्न होता हो ऐसे हरएक संगसे भरसक दूर रहे। लोकमें मान न हुआ, धन न बढ़ा तो इससे मनुष्यकी कोई हानि नहीं होती। यदि संसारके सारे सुखोंसे वञ्चित रहकर भी, संसारके दुःख और कष्टोंसे सर्वथा पीडित रहकर भी मनुष्य अपने जीवनको भगवान्की ओर लगाये रख सके तो उसका जीवन सार्थक है, परन्तु जो सब प्रकारसे धन-सम्पत्ति, मान-यश और लौकिक विद्या-बुद्धिसे भरपूर है पर भगवत्-प्रेमसे रहित है उसका जीवन विषयी लोगोंकी दृष्टिमें चाहे जितना ऊँचा हो, गौरवका हो परन्तु असलमें वह व्यर्थ है। व्यर्थ ही नहीं, अगले जन्ममें आनेवाले महान् कष्टोंका कारण भी है।

"शिव"

मैले कपड़े

पावन बनाइ मन मीत! तू अभीत बन,
बासना-बिकारतें बिहीन जन तारे जात।
कहत 'कुमार' धौल धार पय-पारावार,
पेखिकै प्रभूके पाद-पदम पसारे जात॥
पावत मलीन तम-लीन-मनवारे मूढ़,
जातना जघन्य जबैं जीव जमद्वारे जात।
कारे पट मैलवारे मोगरीन मारे जात,
जारे जात ज्वालपै पषानपै पछारे जात॥*

—शिवकुमार केडिया 'कुमार'

* यह शेखसादीके इस शेरका भावानुवाद है—

'तू पाक बाश बिरादर! मदार अज़ कस बाक।
ज़नंद जामाये नापाक गाज़राँ बर संग॥'

हे भाई! तू साफ रह, (फिर) किसीका भय मत रख। (देख) मैले कपड़ोंको धोबी पत्थरपर मारते हैं।

ईश्वर और परलोक

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

ईश्वर, माया, जीव, सृष्टि, कर्म, मोक्ष और परलोक आदिके विषयमें कतिपय मित्रोंके प्रश्न हैं। प्रश्न बड़े गहन और तात्त्विक हैं। इन प्रश्नोंका वास्तविक उत्तर तो परमेश्वर ही जानते हैं तथा वे महान् पुरुष भी जानते हैं जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हैं। मुझ-जैसे व्यक्तिके लिये तो इन प्रश्नोंका उत्तर देना महान् ही कठिन है तथापि मित्रोंके अनुरोध करनेपर अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार मैं अपने भावोंको प्रकट करता हूँ। त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करेंगे।

प्र०—ईश्वर है या नहीं ?

उ०—ईश्वर निश्चय ही है।

प्र०—ईश्वरके होनेमें क्या प्रमाण है ?

उ०—ईश्वर स्वतः प्रमाण है। इसके लिये अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता ही नहीं है। सम्पूर्ण प्रमाणोंकी सिद्धि भी उसीकी सत्ता-स्फूर्तिसे होती है। तुम्हारा प्रश्न भी ईश्वरको सिद्ध करता है क्योंकि मिथ्या वस्तुके विषयमें तो प्रश्न ही नहीं बनता जैसे 'बन्ध्यापुत्र है या नहीं'—यह प्रश्न नहीं बनता।

प्र०—सन्दिग्धतामें भी प्रश्न बन सकता है। और मुझे शंका है इसलिये ईश्वरके विषयमें आप प्रमाण बतावें ?

उ०—यद्यपि ईश्वरकी सिद्धिसे ही हम सबकी सिद्धि है इसलिये प्रमाणोंद्वारा ईश्वरको सिद्ध करनेका प्रयत्न लड़कपन ही है तथापि सन्दिग्ध मनुष्योंकी शंका-निवृत्तिके लिये श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणादि शास्त्र ईश्वरकी सत्ताको स्थल-स्थलपर घोषित कर रहे हैं। ईश्वरको जाननेके लिये ही उन सबकी व्युत्पत्ति है। यथा—

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'

(गीता १५ । १५)

'ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'

(यजुर्वेद)

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'

(योग० १ । २३)

'आत्मा द्विविध आत्मा परमात्मा च'

(वैशेषिकदर्शन)

प्रमाणोंका विशेष विस्तार 'कल्याण' के 'ईश्वराङ्क' में देखना चाहिये।

प्र०—क्या आप युक्तियोंद्वारा भी ईश्वर-सिद्धि कर सकते हैं ?

उ०—यद्यपि जिस ईश्वरसे सब युक्तियोंकी सिद्धि होती है, उस ईश्वरको युक्तियोंद्वारा सिद्ध करना अनधिकार चेष्टा है तथापि संशययुक्त एवं नास्तिकोंको समझानेके लिये विभिन्न सज्जनोंने 'कल्याण' के ईश्वराङ्क और उसके परिशिष्टाङ्कमें बहुत-सी युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि पदार्थोंकी उत्पत्ति और नाना प्रकारकी योनियोंके यन्त्रोंकी भिन्न-भिन्न अद्भुत रचना और नियमित सञ्चालन-क्रियाको देखनेसे यह सिद्ध होता है कि बिना कर्ताके उत्पत्ति और बिना सञ्चालकके नियमित सञ्चालन होना असम्भव है। जो इनकी उत्पत्ति और सञ्चालन करनेवाला है, वही ईश्वर है। जीवोंके सुख, दुःख, जाति, आयु, स्वभावकी भिन्नताका गुण-कर्मानुसार यथायोग्य व्यवहार करना ज्ञानस्वरूप ईश्वरके बिना जड प्रकृतिसे

होना सम्भव नहीं है क्योंकि सृष्टिके प्रत्येक कार्यमें सर्वत्र प्रयोजन देखा जाता है। ऐसी प्रयोजनवती सृष्टिकी रचना एवं विभाग किसी परम चेतन कर्ताके बिना होना सम्भव नहीं है।

प्र०—ईश्वरका स्वरूप कैसा है ?

उ०—ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण गुणसम्पन्न, निर्विकार, अनन्त, नित्य, विज्ञान-आनन्दघन है।

प्र०—ईश्वर सगुण है या निर्गुण ?

उ०—वह चिन्मय परमात्मा सगुण भी है और निर्गुण भी। यह त्रिगुणमय सम्पूर्ण संसार उस परमात्माके किसी एक अंशमें है, जिस अंशमें यह संसार है उस अंशका नाम सगुण है, और संसारसे रहित अनन्त, असीम जो नित्य विज्ञान-आनन्दघन परमात्माका स्वरूप है उसका नाम निर्गुण है। सगुण और निर्गुण समग्रको ही ईश्वर कहा गया है।

प्र०—वह सगुण ईश्वर निराकार है या साकार ?

उ०—साकार भी है और निराकार भी। जैसे निराकार-रूपसे व्यापक अग्नि संघर्षण आदि साधनोंद्वारा साधकके सम्मुख प्रकट हो जाता है वैसे ही वह सर्वान्तर्यामी दयालु परमात्मा निराकाररूपसे चराचर सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें व्यापक रहता हुआ ही धर्मके स्थापन और जीवोंके उद्धारके लिये भक्तोंकी भावनाके अनुसार श्रद्धा, प्रेम आदि साधनोंद्वारा साकाररूपसे समय-समयपर प्रकट होता है। जहाँ साकाररूपसे भगवान् प्रकट हुए हों वहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि वे इतने ही हैं, निर्गुण और सगुणरूपमें सब जगह स्थित रहता हुआ ही अर्थात् सम्पूर्ण शक्ति-सम्पन्न समग्र ब्रह्म ही सगुण-साकार-स्वरूपमें प्रकट होता है। वह सगुण परमात्मा सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और विनाशकालमें सदा ही ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपसे विराजमान है।

प्र०—माया किसे कहते हैं ?

उ०—ईश्वरकी शक्तिका नाम माया है जिसको प्रकृति भी कहते हैं।

प्र०—प्रकृतिका क्या स्वरूप है ?

उ०—जो अनादि हो, प्राकृत हो, जिसकी किसीसे उत्पत्ति नहीं हुई हो और जो अन्य पदार्थोंकी उत्पत्तिमें कारण हो, उसको प्रकृति कहते हैं।

प्र०—यह माया स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?

उ०—परतन्त्र है।

प्र०—किसके परतन्त्र है ?

उ०—ईश्वरके।

प्र०—यह माया अनादि-अनन्त है या अनादि-सान्त है ?

उ०—अनादि-सान्त है।

प्र०—जो वस्तु अनादि हो वह तो अनन्त ही होनी चाहिये ?

उ०—यह कोई नियम नहीं है।

प्र०—ऐसा कोई दृष्टान्त बतलाइये जो अनादि होकर सान्त हो ?

उ०—सूर्य-चन्द्रादि सभी दृश्य वस्तुओंका अज्ञान अर्थात् उनका न जाननापन अनादि है, किन्तु मनुष्य जिस समय जिस वस्तुको यथार्थ जान जाता है उसी समय उस वस्तु-विषयका वह अज्ञान नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार यह माया भी अज्ञानकी तरह अनादि-सान्त है।

प्र०—यह माया सत् है या असत् ?

उ०—सत् भी है और असत् भी। अनादि होनेसे सत् है और सान्त होनेसे असत् है। वास्तवमें इसको सत् या असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि तत्त्वज्ञानके द्वारा सान्त हो जानेके कारण सत् नहीं कहा जा सकता और

सदासे इसकी प्रतीति होती चली आयी है इसलिये असत् भी नहीं कह सकते । इसीलिये मायाको सत्-असत् दोनोंसे विलक्षण एवं अनिर्वचनीय कहा गया है ।

प्र०—माया जड है या चेतन ?

उ०—जड है, क्योंकि जो वस्तु दृश्य और विकारी होती है वह जड ही होती है ।

प्र०—मायाका स्वरूप क्या है ?

उ०—जो कुछ देखने, सुनने और समझनेमें आता है वह सब मायाका कार्य होनेके कारण मायाका स्वरूप है ।

प्र०—माया कितने प्रकारकी है ?

उ०—दो प्रकारकी है । विद्या और अविद्या ।

प्र०—विद्या किसे कहते हैं ?

उ०—जिसके द्वारा ईश्वर सृष्टिकी रचना करते हैं और गुण-कर्मोंके अनुसार यथायोग्य ऊँच-नीच योनियोंका विभाग करते हैं तथा साकाररूपसे प्रकट होकर जिस विद्याके द्वारा धर्मकी स्थापना करके जीवोंका उद्धार करते हैं ।

प्र०—अविद्या किसे कहते हैं ?

उ०—अज्ञानको कहते हैं, जिसके द्वारा सब जीव मोहित हो रहे हैं अर्थात् अपने स्वरूप और कर्तव्यको भूले हुए हैं ।

प्र०—जीवका स्वरूप क्या है ?

उ०—जीव नित्य, चेतन और ईश्वरका अंश है । प्रकृति और उसके कार्यसे भिन्न एवं अत्यन्त विलक्षण होनेपर भी प्रकृतिके सम्बन्धसे कर्ता और भोक्ता भी है । (देखिये गीता अ० १३ श्लो० २०-२१)

प्र०—जीव ईश्वरका किसप्रकारका अंश है ?

उ०—वास्तवमें तो इसके सदृश संसारमें कोई उदाहरण ही नहीं है । यदि सूर्यके प्रतिबिम्ब-की तरह जीवको ईश्वरका अंश बताया जाय तो वह बताना युक्तियुक्त नहीं होगा, क्योंकि सूर्यमण्डल जड है और उसका प्रतिबिम्ब वस्तुतः कोई वस्तु नहीं है परन्तु जीवात्मा तो वस्तुतः नित्य और चेतन है । यदि घटाकाश और महाकाशका उदाहरण दिया जाय तो वह भी समीचीन नहीं, क्योंकि आकाश भी जड है और ईश्वर चेतन है । यदि स्वप्नकी सृष्टिके जीवोंका उदाहरण दिया जाय तो वह भी पूर्ण समीचीनरूपसे नहीं, क्योंकि स्वप्न-सृष्टिकी उत्पत्ति स्वप्न-द्रष्टा पुरुषके मोहसे हुई है और वह पुरुष उस मोहके अधीन है परन्तु ईश्वर स्वतन्त्र और निर्भ्रान्त है । ऊपर बताये हुए सब उदाहरणोंकी अपेक्षा तो योगीकी सृष्टिका उदाहरण सर्वोत्तम है, क्योंकि योगी अपनी योग-शक्तिसे अपनी सृष्टिकी रचना कर सकता है और उसकी सृष्टिमें रचित जीव सब उसके अंश एवं अधीन भी होते हैं, इसी प्रकार जीवको ईश्वरका अंश समझना चाहिये ।

प्र०—सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

उ०—शास्त्रोंमें जैसा वर्णन है ।

प्र०—शास्त्रोंमें तो अनेक प्रकारका वर्णन है ।

उ०—विचार करनेपर करीब-करीब सबका परिणाम एक-सा ही निकलता है ।

प्र०—महासर्गके आदिमें सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे होती है, संक्षेपसे व्याख्या कीजिये ।

उ०—महासर्गके आदिके समय सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन निराकार परमात्मामें सृष्टिके रचनेके लिये स्वाभाविक ऐसी स्फुरणा होती है कि 'मैं एक बहुत रूपोंमें होऊँ' तब उसकी शक्तिरूप प्रकृतिमें क्षोभ होता है अर्थात् सत्, रज, तम—तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामें न्यूनाधिकता हो जाती

है जिससे महत्तत्त्व यानी समष्टि-बुद्धिकी उत्पत्ति होती है। उस महत्तत्त्वसे समष्टि अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकारसे मन और पाँच सूक्ष्म महाभूत उत्पन्न होते हैं। इन महाभूतोंको योग और सांख्य आदि शास्त्रोंमें तन्मात्राओंके नामसे कहा है। वैशेषिक और न्यायशास्त्र इन्हींको परमाणु मानते हैं। उपनिषदोंमें इन्हींको अर्थके नामसे भी कहा है और इन्द्रियोंके कारणरूप होनेसे इन्द्रियोंसे परे बतलाया है। गीतामें इन पाँच सूक्ष्म महाभूतोंको मन, बुद्धि और अहंकारके सहित अपरा-प्रकृतिके नामसे कहा है। मूल-प्रकृतिसे उत्पन्न हुए इन आठ पदार्थोंसे ही संसारकी उत्पत्ति होती है। इसलिये इनको भी प्रकृति कहा जाता है। सांख्य और योग-शास्त्र मनको प्रकृति नहीं मानते।

प्र०—सूक्ष्म महाभूतोंकी उत्पत्तिका क्रम बतलाइये ?

उ०—समष्टि अहंकारसे सूक्ष्म आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे पृथिवीकी तन्मात्राएँ उत्पन्न हुईं।

प्र०—इन आठ पदार्थोंकी उत्पत्तिके बाद सृष्टिकी उत्पत्ति किसप्रकार हुई ?

उ०—आकाशादि सूक्ष्म महाभूतोंसे अर्थात् तन्मात्राओंसे श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण—क्रमशः इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई। तदनन्तर उन्हीं पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा—क्रमशः इन पाँच कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई। ऊपर बताये हुए अठारह तत्त्वोंमें अहंकारको बुद्धिके अन्तर्गत मानकर इन सतरह तत्त्वोंके समुदायको समष्टि-सूक्ष्म-शरीर कहते हैं। इसका जो अधिष्ठाता है उसीको हिरण्य-गर्भ, सूत्रात्मा एवं ब्रह्मा कहते हैं। उसी हिरण्यगर्भके द्वारा उसके समष्टि-अव्यक्त-शरीरसे जीवोंके गुण और कर्मानुसार सम्पूर्ण स्थूल लोकोंकी एवं स्थूल शरीरोंकी उत्पत्ति होती है।

> अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
> रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
> भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
> रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥
> (गीता ८। १८-१९)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेश-कालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेश-कालमें उस अव्यक्तनामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं और वह ही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेश-कालमें लय होता है और दिनके प्रवेश-कालमें फिर उत्पन्न होता है।'

कोई-कोई आचार्य पाँच सूक्ष्म भूतोंको इन्द्रियोंके अन्तर्गत मानकर पञ्चप्राणोंको सूक्ष्म शरीरके साथ और सम्मिलित करते हैं किन्तु वायुके अन्तर्गत भी पञ्चप्राणोंको मान लिया जा सकता है।

प्र०—कर्म कितने प्रकारके होते हैं ?

उ०—तीन प्रकारके होते हैं। सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण।

प्र०—इन तीनोंका स्वरूप बतलाइये ?

उ०—(१) अनेक जन्मोंसे लेकर अबतकके किये हुए सुकृत-दुष्कृतरूप कर्मोंके संस्कारसमूह, जो अन्तःकरणमें संगृहीत हैं उन्हें सञ्चित कहते हैं। (२) पाप-पुण्यरूप सञ्चितका कुछ अंश जो एक जन्ममें सुख-दुःखरूप फल भुगतानेके लिये सम्मुख हुआ है उसका नाम प्रारब्ध-कर्म है। (३) अपनी इच्छासे जो शुभाशुभ नवीन कर्म किये जाते हैं उन्हें क्रियमाण कर्म कहते हैं। इन तीनों कर्मोंका विशेष विस्तार गीताप्रेससे प्रकाशित 'तत्त्व-चिन्तामणि' नामक पुस्तकके प्रथम

भागके 'कर्मका रहस्य' शीर्षक लेखमें देख सकते हैं।

प्र०—मोक्ष किसे कहते हैं ?

उ०—सम्पूर्ण क्लेशोंसे एवं सम्पूर्ण कर्मोंसे छूटकर नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें स्थित होनेका नाम मोक्ष है।

प्र०—मुक्त हुए पुरुषोंका पुनर्जन्म होता है या नहीं ?

उ०—नहीं।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥
(गीता १४ । २)

'हे अर्जुन ! वे पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलय-कालमें भी व्याकुल नहीं होते।' भगवान् कहते हैं—

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥
(गीता ८ । १६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! मुझको प्राप्त होकर उसका पुनर्जन्म नहीं होता।'

न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।
(श्रुति)

'वह मुक्त पुरुष पुनः वापिस नहीं आता, पुनः वापिस नहीं आता।'

प्र०—नवीन जीव उत्पन्न होते हैं या नहीं ?

उ०—नहीं। क्योंकि बिना हेतु जीवोंकी नवीन सृष्टि होना युक्तिसंगत नहीं।

प्र०—इस तरह माननेसे फिर जीवोंकी संख्या कम हो जायगी।

उ०—हो जाय, इसमें क्या आपत्ति है ?

प्र०—इस न्यायसे तो सभीकी मुक्ति सम्भव है।

उ०—ठीक है, किन्तु मोक्षका अधिकारी केवल मनुष्य ही है। मनुष्योंमें भी लाखोंमें किसी एककी मुक्ति होती है। भगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥
(गीता ७ । ३)

'हे अर्जुन ! हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मेरेको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है।' इसलिये सभीका मुक्त हो जाना असम्भव-सा है।

प्र०—असम्भव-सा होनेपर भी न्यायसे किसी-न-किसी दिन सबकी मुक्ति हो तो सकती है, क्योंकि इसमें कोई रुकावट नहीं है ?

उ०—रुकावटकी क्या आवश्यकता है ? तथा न्याय भी नहीं है, क्योंकि सभीका समान अधिकार है।

प्र०—तब तो एक दिन सृष्टिकी समाप्ति भी हो सकती है ?

उ०—ऐसा होना असम्भव-सा है, क्योंकि जीव असंख्य हैं, तथापि सब जीवोंका मोक्ष हो भी जाय तो इसमें क्या आपत्ति है ?

प्र०—यदि ऐसा न्याय होता तो अबसे पहले ही सृष्टि समाप्त हो जानी चाहिये थी ?

उ०—नहीं भी हुई तो सिद्धान्तमें क्या हानि है ?

प्र०—इस सिद्धान्तसे सृष्टिकी समाप्ति हो तो सकती है ?

उ०—ठीक है, यदि हो जाय तो बहुत ही उत्तम है। इसीलिये महान् पुरुष सबके कल्याणके लिये कोशिश करते हैं।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

'सभी सुखी तथा सभी नीरोग होवें, सभी कल्याणका अनुभव करें, कोई भी जीव दुःखभागी न बनें अर्थात् दुःखी न हों।'

प्र०—यदि मुक्तिको प्राप्त जीव वापिस आता है यह बात मान ली जाय तो क्या हानि है ?

उ०—इसप्रकार माननेवालेकी नित्यमुक्ति नहीं होती क्योंकि वापिस आनेकी भावना रहनेसे साधक सदाके लिये मुक्त नहीं हो सकता।

प्र०—मुक्ति कितने प्रकारकी होती है ?

उ०—दो प्रकारकी। एक सद्योमुक्ति, दूसरी क्रम-मुक्ति। विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्ममें तद्रूप हो जाना सद्योमुक्ति है और अर्चिमार्गके द्वारा परमात्माके धामविशेषमें जाना क्रममुक्ति है।

प्र०—क्रममुक्ति कितने प्रकारकी है ?

उ०—चार प्रकारकी है। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य।

(क) नित्यधाममें जाकर वास करना सालोक्य-मुक्ति है।

(ख) सगुण भगवान्‌के समीप रहना सामीप्य-मुक्ति है।

(ग) भगवान्‌के सदृश स्वरूप धारणकर रहना सारूप्य-मुक्ति है।

(घ) सगुण भगवान्‌में लय हो जाना सायुज्य-मुक्ति है।

प्र०—मुक्तिका उपाय क्या है ?

उ०—तत्त्वज्ञान।

प्र०—तत्त्वज्ञान किसे कहते हैं ?

उ०—परमात्माको यथार्थ रूपसे जैसा है वैसा ही जाननेका नाम तत्त्वज्ञान है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८। ५५)

'हे अर्जुन! उस परा-भक्तिके द्वारा मेरेको तत्त्वसे भली प्रकार जानता है कि मैं जो और जिस प्रभाव-वाला हूँ तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रवेश हो जाता है।'

प्र०—तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके अनेक साधन शास्त्रोंमें वर्णित हैं। उनमें सच्चा मार्ग कौन-सा है ?

उ०—सभी सच्चे हैं।

प्र०—प्रधानतया कितने मार्ग हैं ?

उ०—तीन उपाय प्रधान हैं। भक्तियोग, सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग। यथा—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
(गीता १३। २४)

'हे अर्जुन! परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानयोगके द्वारा यानी भक्तियोगके द्वारा हृदयमें देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा देखते हैं और अपर कितने ही निष्काम कर्मयोगके द्वारा देखते हैं।'

प्र०—भक्तियोग किसे कहते हैं ?

उ०—परमेश्वरके स्वरूपको निष्काम प्रेमभावसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेका नाम भक्तियोग है।

प्र०—वह चिन्तन विज्ञान-आनन्दघन निर्गुण ब्रह्मका करना चाहिये या सगुणका ?

उ०—वास्तवमें तो निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन हो ही नहीं सकता, सगुणका ही होता है, किन्तु निर्गुणकी भावनासे उस विज्ञान-आनन्दघन निराकार ब्रह्म-का जो चिन्तन किया जाता है वह निर्गुणका ही समझा जाता है।

प्र०—सगुण ब्रह्मका ध्यान साकारका करना चाहिये या निराकारका ?

उ०—साधककी इच्छापर निर्भर है। निराकारका करे या साकारका करे, किन्तु निष्काम प्रेम-भावसे निरन्तर करना ही शीघ्र लाभदायक होता है।

प्र०—सांख्ययोग किसका नाम है ?

उ०—मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं—ऐसे समझकर तथा मन, इन्द्रिय और शरीर-द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्द

घन परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित रहनेका नाम सांख्ययोग है ।

प्र०—निष्काम कर्मयोगका क्या स्वरूप है ?

उ०—फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार केवल भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करनेका नाम निष्काम कर्मयोग है । यह दो प्रकारका होता है, एक भक्तिप्रधान, दूसरा कर्मप्रधान ।

प्र०—भक्तिप्रधानका क्या लक्षण है ?

उ०—निष्काम प्रेमभावसे हर समय भगवान्‌का चिन्तन करते हुए भगवत्-आज्ञानुसार केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही कर्म करनेका नाम भक्तिप्रधान निष्काम कर्मयोग है ।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
(गीता १८ । ५७)

'हे अर्जुन ! तू सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्बन करके निरन्तर मेरेमें चित्त-वाला हो ।'

प्र०—कर्मप्रधानका क्या स्वरूप है ?

उ०—कर्मप्रधानमें भी भक्ति रहती है किन्तु वह सामान्यभावसे रहती है । फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार समत्व-बुद्धिसे कर्म करनेका नाम कर्मप्रधान निष्काम कर्मयोग है ।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(गीता २ । ४८)

'हे धनंजय ! आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर ! यह समत्वभाव ही योग-नामसे कहा जाता है ।'

प्र०—परलोक है या नहीं ?

उ०—अवश्य है ।

प्र०—क्या प्रमाण है ?

उ०—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण स्थल-स्थलमें घोषित कर रहे हैं ।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥
(कठोपनिषद् १ । २ । ६)

'जो धनके मोहसे मोहित हो रहे हैं, ऐसे प्रमादी, मूढ, अविवेकी पुरुषको परलोककी प्राप्ति-विषयक शास्त्रका उपदेश आदि अच्छा नहीं लगता और यह लोक ही है परलोक नहीं है इसप्रकार माननेवाला मनुष्य मुझ मृत्युके वशमें बार-बार पड़ता है अर्थात् पुनः-पुनः जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है ।'

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥
(गीता १४ । १८)

'सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं और रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं एवं तमोगुण-के कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित हुए तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं' इत्यादि शास्त्रों-में कर्मानुसार परलोककी प्राप्तिके जगह-जगह प्रमाण मिलते हैं किन्तु लेखका कलेवर बढ़ जानेके संकोचसे तथा यह बात प्रसिद्ध ही है, इसलिये शास्त्रोंके विशेष प्रमाणोंका उल्लेख नहीं किया गया ।

प्र०—युक्तिप्रमाण दीजिये !

उ०—प्राणियोंके स्वभाव, जाति, आयु, सुख, दुःखादि भोगोंकी परस्पर भिन्नता देखनेसे भूत और भविष्यत्-जन्मकी सिद्धि होती है ।

(क) बालक जन्मते ही रोता है, जन्मनेके बाद कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी सोता है, जब माता मुखमें स्तन देती है तब दूधको खींचता है और भयसे काँपता हुआ भी नजर आता है इत्यादि—उस बालकके आचरण पूर्व-जन्मका लक्ष्य कराते हैं। क्योंकि इस जन्ममें तो उसने उपर्युक्त शिक्षाएँ प्राप्त की नहीं। पूर्व-जन्मके अभ्याससे ही यह सब बातें उसमें स्वाभाविक ही प्रतीत होती हैं।

(ख) एक ही कालमें कोई मनुष्य, कोई पशु, कोई कीट, कोई पतंग इत्यादि योनियोंमें जन्म लेते हैं, उनमें भी स्वभाव, आयु, सुख-दुःखादि भोग समान नहीं देखे जाते।

(ग) एक देश और एक जातिमें पैदा हुए बालकोंमें भी स्वभाव, आचरण, आयु, सुख-दुःखादि भोग एकके दूसरेकी अपेक्षा अत्यन्त भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं, जैसे एक माताके एक साथ पैदा हुए दो बालकोंमें।

—इत्यादि युक्तियोंसे पूर्व-जन्मकी सिद्धि होती है और पूर्व-जन्मके लिये यह जन्म परलोक है, इससे परलोककी सिद्धि हो चुकी। जबतक इस पुरुषको ज्ञान न होगा तबतक इसी प्रकार गुण, कर्म और स्वभावके अनुसार भावी जन्म होते रहेंगे।

प्र०—परलोक न माननेसे क्या हानि है ?

उ०—पशुओंकी अपेक्षा भी अधिक उच्छृङ्खलता आ जायगी और उच्छृङ्खल मनुष्यमें झूठ, कपट, चोरी, जारी, हिंसा आदि पाप-कर्मोंकी एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि अवगुणोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो जाता है जिसके परिणाममें वह महान् दुखी बन जाता है।

प्र०—परलोकको माननेसे लाभ क्या है ?

उ०—परलोक सत्य है और सत्य बातको सत्य माननेमें ही कल्याण है, क्योंकि आत्मा नित्य है, शरीरके नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता (गीता २ । २०) इसलिये इस जन्ममें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल अगले जन्ममें अवश्य ही भोगना पड़ता है। जब वास्तवमें इसप्रकारका निश्चय हो जायगा तब मनुष्य जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिके दुःखोंसे छूटनेके लिये निष्कामभावसे यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि उत्तम कर्मोंके तथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि ईश्वरकी उपासनाके द्वारा सम्पूर्ण दुराचार, दुर्गुण एवं दुःखोंसे मुक्त होकर उस विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जायगा, इसलिये परलोकको अवश्यमेव मानना चाहिये।

कैसे जाऊँ पार ?

कैसे जाऊँ पार प्रभू मैं कैसे जाऊँ पार ?
माया-नदी भयंकर बहती ममता-भँवर अपार।
बीहड़ बन अज्ञान-राशिका, काम क्रोध बटमार॥
दया करो अब इस दीनापर, हरो सकल दुख-भार।
'गोदावरी' दरस देकर प्रभु बेग उतारो पार॥

—बहिन गोदावरी

सेवा-रहस्य

(लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया)

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि जीवगण, दिशाएँ, वृक्षादि, नदी, समुद्रादि जो कुछ है, सब भगवान् श्रीहरिका ही स्वरूप है, भगवान्से भिन्न नहीं है, अतः सर्वरूप श्रीभगवान्को मैं प्रणाम करता हूँ।'

संसारमें उसी मनुष्यका जीवन धन्य है जो सेवासे युक्त है और जो हृदयमें अपनेको सेवक तथा जगत्में जो कुछ है, सबको अपने स्वामीकी मूर्ति मानता है। पूज्यपाद गोस्वामीजीने भी कहा है—

सो अनन्य जाकी अस मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूपरासि भगवन्त॥

क्या ही सुन्दर भाव है! सच्चे अनन्य भक्तकी यही पहचान है। अतएव मनुष्यमात्रको सच्चा सेवक बननेका यत्न करना चाहिये। प्रायः हमलोग सेवक-के स्थानमें स्वामी बननेको ही उत्सुक रहते हैं क्योंकि हमारी चाह ही ऐसी होती है। 'सब लोग हमें आराम पहुँचायें, हम सुखी बने रहें, दूसरोंके दुःखकी हमें कुछ भी परवा नहीं, सब हमारी सेवा करें, हम किसी-की सेवा करना नहीं चाहते, जगत्में सब भोग हमारे लिये ही बने हैं और सारा संसार हमारे लिये ही है, पर हम किसीके लिये नहीं हैं।' यही स्वामीपनके भाव हैं। सच्चे सेवकके भाव इससे बिल्कुल भिन्न होते हैं, वह किसीसे कभी सेवा करानेका भाव स्वप्नमें भी नहीं रखता। बलात्कार यदि कोई उसकी सेवा करे तो इससे उसे व्यथा होती है, पर वह स्वयं अन्यकी सेवा करके आनन्दका अनुभव करता है। ऐसे सेवक-को सेवा करनेमें चाहे कितने ही कष्टोंका सामना क्यों न करना पड़े, सेवाके हेतु प्राण-विसर्जन ही क्यों न करना पड़े, फिर भी उसे लेशमात्र भी कष्ट नहीं होता, बल्कि आनन्द-ही-आनन्द होता है। इसप्रकारकी सेवा वह निर्विशेषभावसे करता है, तात्पर्य यह है कि सेवा करते समय, 'अमुक हमारे सम्बन्धी हैं, प्रेमी हैं, अमुक व्यक्ति धनी है, साधु-महात्मा हैं' इत्यादि हेतु उसके सामने नहीं होते। मनुष्य-सेवाकी तो बात ही क्या, वह तो पशु-पक्षी आदिकी भी सेवा करके अपनेको धन्य मानता है। उसका हृदय सदा दयासे पूर्ण होता है। किसीका दुःख उससे सहन नहीं होता, अपनी शक्तिके अनुसार वह सदा दूसरोंके दुःख दूर करनेमें यत्नशील रहता है। पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासजीने जैसा सन्तके हृदयका वर्णन किया है, सच्चे सेवकका हृदय भी वैसा ही होता है—

सन्त हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन पै कहा न जाना॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। संत द्रवै पर ताप पुनीता॥

सेवासे क्या लाभ है?

कहा जाता है कि सेवा करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। अन्तःकरण शुद्ध होनेका अर्थ है सेवा-भावसे और सेवाकार्यसे अन्तःकरणमें दिनोंदिन उत्त-रोत्तर दया, निष्कपटता, प्रेम, उदारता, सरलता, निर्भीकता, तेज, त्याग, उत्साह आदिकी वृद्धि तथा पाप, पक्षपात, स्वार्थ, निर्दयता, छल, निन्दा, भय, आलस्य, प्रमाद, लोभ, मोह आदिका नाश होना। यही अन्तःकरणकी शुद्धि है। किसप्रकारसे उपर्युक्त सद्गुणोंकी प्राप्ति तथा दुर्गुणोंका नाश होता है इसका

स्पष्टीकरण विस्तारभयसे यहाँ नहीं किया जाता है, पाठक स्वयं ही विचार लें ।

साधारणतः लोग सेवाका अर्थ केवल दूसरोंको भोजन या वस्त्र देना, रहनेको स्थान देना, द्रव्य देना या शुश्रूषा करना इत्यादि समझते हैं । यद्यपि यह सभी सेवाके कार्य हैं तथापि सेवाके अनेक परदे हैं जो समझनेयोग्य हैं । उनका स्पष्टीकरण अपनी बुद्धिके अनुसार पाठकोंके सम्मुख उपस्थित किया जाता है ।

सच्ची सेवा

संक्षेपमें कहा जा सकता है कि जिस कार्यको करनेसे दोनोंका (अर्थात् जिसकी सेवा की जाय उसका तथा सेवकका) हित हो और उन्हें सुख मिले और जिसमें किसी प्रकारके स्वार्थकी गन्ध भी न हो तथा जिसमें कोई हेतु या अभिमान न हो, वही सच्ची सेवा है । सेवाकी ऐसी व्याख्या क्यों की जाती है ? बात यह है कि जिसकी सेवा की जाती है उसको उससे सुख न मिले बल्कि दुःख होता हो तो वह सेवा नहीं कही जा सकती, उसे तो पीडा पहुँचाना ही कहना ठीक होगा । इसी प्रकार जो सेवा सेवक कष्ट सहता हुआ दुःखपूर्वक करता है वह सेवा भी प्रशंसनीय नहीं होती क्योंकि ऐसी अवस्थामें सेवक किसी भी कारणसे बाध्य होकर बिना प्रेमके सेवा करता है । यदि वह प्रेमपूर्वक सेवा करता तो देखनेवाले दूसरेकी दृष्टिमें प्राणान्तक कष्टको सहते हुए भी वह स्वयं किञ्चिन्मात्र भी दुःखका अनुभव न करता, बल्कि परमानन्दको ही प्राप्त होता तथा सेवाके हित प्राणका बलिदान करनेमें अपना अहोभाग्य समझता । इस विषयमें एक आख्यायिका शास्त्रोंमें आती है—

राजा रन्तिदेव विख्यात दानी थे । वह सदा दानमें अपना धन देते रहते थे । वह इतने बड़े दानी थे कि स्वयं भूखों रहकर भी पासके अन्नको भूखेको दे डालनेमें तनिक भी नहीं हिचकिचाते थे । एक बार दान करते-करते राजा रन्तिदेवने अपना सब धन दानमें दे डाला और आप परिवारसहित भूखों मरने लगे । इसप्रकार अड़तालीस दिन व्यतीत हो गये, भूख-प्याससे उनका शरीर अवसन्न हो गया परन्तु उनके हृदयकी प्रसन्नतामें कोई कमी न आयी । उनचासवें दिन राजाको कुछ भोजनकी सामग्री मिली । वह भोजनकी तैयारी कर ही रहे थे कि एक भूखा ब्राह्मण अतिथि आ पहुँचा । राजाने प्रीतिपूर्वक उसे भोजन कराया और बचे हुए अन्नको अपने परिवारमें बाँटकर वह अपने हिस्सेका अन्न भोजन करनेके लिये बैठे । इतनेहीमें एक भूखा शूद्र अतिथि आ गया । राजाने अपने हिस्सेसे उसे भोजन कराया और वह तृप्त होकर चला गया । इसके पश्चात् एक दूसरा अतिथि बहुत-से कुत्तोंको साथ लेकर आया और बोला—'हे राजा, मैं और मेरे कुत्ते भूखे हैं, कुछ खानेको दीजिये ।' राजाने बचा हुआ अन्न उसे सम्मानपूर्वक देकर प्रणाम किया । अब राजाके पास केवल जलमात्र बच रहा, वह उसे पीकर अपनी प्यास बुझाना ही चाहते थे कि इतनेमें एक चाण्डाल वहाँ आ पहुँचा और गिड़गिड़ाकर कहने लगा कि 'महाराज ! मैं बहुत ही थका-माँदा हूँ, मुझे पीनेके लिये थोड़ा-सा जल दीजिये ।'

इस दीनतापूर्ण वचनको सुनकर राजाने वह बचा हुआ जल भी उसको पिला दिया और भगवान्‌से यह प्रार्थना की—

न कामयेऽहं गतिरीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्त्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥

अर्थात् 'मैं परमेश्वरके निकट अणिमादि अष्ट सिद्धियोंसे युक्त गति अथवा मुक्तिकी कामना नहीं

करता । मेरी यही प्रार्थना है कि मैं ही सब प्राणियों-के अन्तःकरणमें स्थित होकर दुःख भोग करूँ जिनसे उनका दुःख दूर हो जाय ।' इसके बाद राजाको त्रिभुवनपति भगवान्‌ने अपना दिव्य दर्शन दिया । भगवान् ही इसप्रकार विभिन्न रूप धारणकर रन्तिदेव-की परीक्षा कर रहे थे । इसप्रकार सच्चा सेवक सेवामें कष्ट नहीं मानता, बल्कि जितनी ही अधिक कष्टप्रद सेवा होती है उतना ही अधिक वह अपनेको धन्य समझता है ।

जो सेवा स्वार्थसे की जाती है वह सच्ची सेवा नहीं है, क्योंकि स्वार्थसे सेवा करनेवाला जहाँ स्वार्थ नहीं देखता वहाँ सेवामें तत्पर नहीं होता और स्वार्थ सिद्ध हो जानेके बाद उसका सेवाभाव भी नहीं रहता है । यह हमारे सम्बन्धी, कुटुम्बी हैं, या साधु-महात्मा हैं, अथवा यह काम पड़नेपर हमारी सहायता कर सकते हैं इसप्रकारके हेतु भी सेवामें प्रशंसनीय नहीं हैं । इसप्रकारकी सेवा संकुचित होती है । इसे निर्विशेष अहैतुकी सेवा नहीं कह सकते ।

सेवकके हृदयमें सेवाके उपरान्त यदि यह भाव उत्पन्न हो कि मैंने अमुककी सेवा की है अथवा उपकार किया है तो इसप्रकारका अभिमान सेवाको तुच्छ बना देता है । भक्त नरसीजी महाराज कहते हैं—

वैष्णवजन तो तेने कहिये जे पीड़ पराई जाणे रे ।
पर दुःखे उपकार करे तोये मन अभिमान न आणे रे ॥

सच्चा सेवक सेवा करके अपनेको उपकृत मानता है और जिसकी सेवा करता है उसको उपकारक मानता है । सेवाकार्यमें भी भाव ही प्रधान है । सेवककी भावना जितनी ही ऊँची होगी, सेवा भी उतनी ही उच्च कोटिकी समझी जायगी । यों तो संसारमें वेतन-भोगी सेवक अनेक प्रकारकी छोटी-बड़ी सेवा करते हैं पर उससे उनके हृदयमें उपर्युक्त दिव्य गुणोंका आविर्भाव नहीं होता और न उन्हें परमानन्द-की प्राप्ति ही होती है । सच्चे सेवककी निम्न-लिखित विशेषताएँ हैं—

१—वह अपनेको कभी स्वामी नहीं मानता ।
२—वह जीवमात्रकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझता है ।
३—सेवा करके पश्चात्ताप नहीं करता ।
४—सेवा करके दुखी नहीं होता ।
५—सेवा करके अभिमान नहीं करता ।
६—सेवा करके बदलेमें कुछ भी नहीं चाहता ।

सेवामें जितना ही अधिक त्याग होता है, सेवा भी उतनी ही अधिक मूल्यवान् होती है । किसीको प्रसन्न करनेके लिये जो सेवा होती है वह तो दिखौआ, नकली सेवा है ।

सेवा किसकी करनी चाहिये

जो किसी प्रकारसे आर्त्त या दुखी हैं, जिन्हें सहायता या सेवाकी आवश्यकता है, अथवा जो सेवा करनेसे असन्तुष्ट नहीं होते उनकी सेवा अवश्य ही करनी चाहिये । जो सेवा कराना नहीं चाहते पर सेवा करनेपर प्रसन्नता या अप्रसन्नता भी नहीं प्रकट करते उनकी भी सेवा करनी चाहिये ! पर जो सेवा नहीं कराना चाहता और बलात् की हुई सेवासे असन्तुष्ट होता है, वहाँ उसकी आज्ञाका पालन करना ही सेवा है । क्योंकि वह आदर्श पुरुष होता है, उसका व्यवहार जगत्‌के लिये शिक्षाप्रद अनुकरणीय होता है, उसे आदर्शसे हटानेका प्रयत्न करना अनुचित है । सेवक और सेव्यमें भाव-विलक्षणताके कारण कभी-कभी ऐसा होता है कि सेव्य ही सेवककी कोटिमें आ जाता है और सेवक सेव्य बन जाता है । जैसे कोई सत्पुरुष जो सेवा कराना नहीं चाहता और स्वयं सेवा करना अपना कर्तव्य समझता है, जो

सेवाके रहस्यको अच्छी तरहसे जानता है और अपने आवश्यक कार्योंको स्वयं ही करता है, उसे यदि कोई सेवक सेवा करानेके लिये विशेष आग्रह या हठ करे और सेवा न करानेसे इसके दिलमें दुःख हो तो (यद्यपि इसप्रकारका दुःख होना सर्वथा अनुचित है) केवल सेवककी प्रसन्नताके लिये ही अनिच्छासे भी उसकी सेवाको अंगीकार करना सेव्यको सच्चे सेवक-की कोटिमें ला देता है क्योंकि इसमें अन्यके सुखके लिये वह अपने सुखका त्याग करता है । ऐसे उदाहरणोंमें सेवक भी तत्त्वतः सेव्य बन जाता है क्योंकि वह अपनी प्रसन्नताके लिये आग्रहवश सेवा करता है । यही भाववैचित्र्य है ।

भगवद्भजन

(१)

देखो याते ऐसो समै फेरि ना मिलैगो कौन, कौन जानै कोनसे जठर-झूला झूलौगे ।
कहत 'किसोर' जोपै मानिहौ न मेरी कही, जैसे कछु ह्वैहौ तैसे नखन अरूलौगे ॥
फेरि आखिरीपै दुख तुम ही सहौगे, अघ-अनल दहौगे ये कहैंगे सो कबूलौगे ।
ऐसे तो न फूलौगे न बतियाँ वसूलौ हरि-भजन जो भूलौगे तो हर भाँति भूलौगे ॥

(२)

बैठे चटसारमैं कुमार हैं हजार जहाँ, बेदनको भेद भाँति-भाँतिनको रढ़िबो ।
कहै 'गुनदेव' कोऊ लिखत ललित अंक, कोऊ करै बाद कोऊ बैन गुन गढ़िबो ॥
तहाँ हरनाकुसको पुत्र मतिधीर जाके, दूजो और आखर सपथ मुख कढ़िबो ।
निरखि असार सब सार सुख जानि एक राम-मन्त्र सार प्रहलाद सीखो पढ़िबो ॥

(३)

हाथिनके दाँतके खिलौना बनै भाँति-भाँति, बाघनकी खाल तपी सिव-मन भाई है ।
मृगनकी खालनकों ओढ़त हैं जोगी जती, छेरिनकी खाल थोरा पानी भरि लाई है ॥
साबरकी खालनकों बाँधत सिपाहीलोग, गैंडनकी खाल राजा रायन सुहाई है ।
कहै कवि 'दयाराम' रामके भजन बिन, मानुसकी खाल कछू काम नहिं आई है ॥

(४)

ज्ञान घटै ठग चोरकी संगति मान घटै पर-गेहके जाएँ ।
पाप घटै कछु पुन्य किएँ अरु रोग घटै कछु ओषध खाएँ ॥
प्रीति घटै कछु माँगनतें अरु नीर घटै ऋतु ग्रीषम आएँ ।
नारि-प्रसंगतें जोर घटै जम-त्रास घटै हरिके गुन गाएँ ॥

(५)

पुत्र कलत्र सुमित्र चरित्र धरा धन धाम है बंधन जीको ।
बारहिं बार बिषै-फल खात अघात न जात सुधारस फीको ॥
आन औ सान तजौ अभिमान कही सुन कान भजो सिय-पीको ।
पाइ परंपद हाथ सौं जात गई सो गई अब राख रहीको ॥

—संकलित

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

हे अश्विनीकुमारो! जब तुमने अपने गुरु दध्यङ-ऋषिसे इसप्रकार कहा तो वे अपने मनमें नीचे लिखे अनुसार विचार करने लगे—

दध्यङ—(मनमें) यदि मैं इनको ब्रह्मविद्याका उपदेश करूँगा तो इन्द्र मेरा सिर काट लेगा और यदि मैं इनको ब्रह्मविद्याका उपदेश न करूँगा तो मेरी प्रतिज्ञा भङ्ग होगी। इन दोनोंमें मेरा सिर कट जाना ठीक है, वचन मिथ्या होना ठीक नहीं है। क्योंकि इस लोकमें जो प्राणी उत्पन्न होता है, वह अवश्य मरता है और मरण-कालमें दुःख भी अवश्य होता है। जब मरणका दुःख एक बार सहना ही पड़ेगा तब प्रतिज्ञा भङ्ग क्यों करनी चाहिये? मरणके भयसे प्रतिज्ञा भङ्ग करना उचित नहीं है। यदि मैं यह विचार करूँ कि रोगसे तो दुःख थोड़ा होता है परन्तु इन्द्रके वज्रसे तो महान् कष्ट होगा, तो यह बात भी ठीक नहीं है। ज्वरादि व्याधि, सर्प, चोर, सिंह, विष, अग्नि, जल, शत्रु, अजीर्ण अन्न ये सब मरणमें निमित्त हैं। इन निमित्तोंमेंसे किसी-न-किसी निमित्तसे प्राणी मरता है। इन्हींमें इन्द्रका वज्र भी है, क्योंकि वज्र अग्निरूप है। कोई अपूर्व निमित्त नहीं है, इसलिये मुझे वज्रका दुःख सहन करना चाहिये। यदि मैं अपना वचन मिथ्या करूँगा तो मुझे अनन्त कोटि कल्पतक नरकोंमें अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ेंगे। नरकमेंसे निकलनेका कोई उपाय भी नहीं है, क्योंकि उपाय तो अनजानमें किये पापका होता है, जानकर पाप करके उनसे बचनेका कोई उपाय नहीं है। तात्पर्य यह कि यदि कोई पुरुष पाप और पापका फल न जानकर पाप-कर्म करता है तब तो उसको अल्प दुःख होता है और पाप-कर्म और उसका नरकादि फल शास्त्र-प्रमाणसे जानकर भी पाप-कर्म करता है तो उस पाप-कर्मसे अधिक दुःखकी प्राप्ति होती है। मैं प्रतिज्ञा-भङ्गका दोष जानता हूँ और उसका फल भी जानता हूँ इसलिये मुझे अधिक पाप लगेगा। मिथ्यावादीकी इस लोकमें निन्दा होती है और परलोकमें उसे नरककी प्राप्ति होती है। कोई कहे कि पुण्य-पापका फल तो सकामी पुरुषको ही होता है, निष्कामीको तो विधिनिषेधका कोई बन्धन ही नहीं है तो यह बात ठीक नहीं है। सकामी पुरुषको 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधिवाक्यों-का और 'नानृतं वदेत्' इत्यादि निषेधवाक्योंका अधिकार है और निष्कामीको यद्यपि विधिवाक्यों-का अधिकार नहीं है तो भी 'असत्य न बोलना' इत्यादि निषेधवाक्योंका अधिकार है ही।

हे अश्विनीकुमारो! इसप्रकार मनमें विचार कर तुम्हारे गुरु दध्यङऋषि तुमसे कहने लगे—

दध्यङ—हे अश्विनीकुमारो! तुम जानते ही हो कि देव, असुर, मनुष्य और सम्पूर्ण प्राणियोंपर मैं उपकार करनेवाला हूँ। पूर्वके पुण्यकर्मसे प्राप्त होनेवाले प्रिय पदार्थोंका भोग मैं समाप्त कर चुका हूँ और पाप-कर्मका भोग भी समाप्त कर चुका हूँ। जैसे अज्ञानी पुरुषको प्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे हर्ष और अप्रियके मिलनेसे शोक होता है, इसप्रकार प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु प्राप्त होनेसे मुझको हर्ष या शोक नहीं होता। जैसे भेददर्शीको शत्रु, मित्र, उदासीन, बन्धु, द्वेष्य तथा मध्यस्थ, इनमें भेद-बुद्धि होती है, इसप्रकार मुझ समदर्शीको इनमें भेदबुद्धि नहीं होती। अपकार किये बिना ही

जो अपकार करे वह शत्रु, अपकारकी अपेक्षा न रखकर जो उपकार करे वह मित्र, उपेक्षा करनेवाला उदासीन, सम्बन्धसे उपकार करनेवाला बन्धु, अपकारकी अपेक्षासे अपकार करे वह द्वेष्य और विवाद करनेवाले दो पुरुषोंका जो हित चाहे वह मध्यस्थ कहलाता है। मैं ब्राह्मणके शरीरमें, स्थावर-जङ्गम-शरीरोंमें, श्वानमें तथा हिरण्यगर्भमें समानरूपसे स्थित हूँ, क्योंकि मैं सर्वरूप हूँ। पुरुष, स्त्री, नपुंसक, पाँच भूत, भौतिक प्रपञ्च, मनु, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, सम्पूर्ण ज्योति, भूर्, भुवर्, स्वर्, महर्, जन, तप तथा सत्य नामके ऊपरके सातों लोक तथा अतल, वितल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल ये नीचेके सात लोक, सब मैं ही हूँ। जैसे स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा पुरुषसे स्वप्नके पदार्थ भिन्न नहीं होते, इसी प्रकार सब स्थूल, सूक्ष्म प्रपञ्च मुझ परमात्मासे भिन्न नहीं हैं, सब मेरा ही स्वरूप है। ब्रह्माण्डके स्वेदज, अण्डज, जरायुज और उद्भिज्ज, इन चार प्रकारके जीवोंमें कितने ही श्रेष्ठ हैं और कितने ही कनिष्ठ हैं, उन सबका मैं आत्मा हूँ। सर्वभेदसे रहित ब्रह्मको मैंने आत्मारूपसे जाना है। मुझमें मायाका स्पर्श नहीं है, मायाका अभाव होनेसे काम, क्रोध, लोभ इत्यादि दोष भी मेरे स्वरूपमें नहीं हैं। मैं परमात्मा लीलामात्रसे जगत्‌की उत्पत्ति और संहार करता हूँ। जैसे मकड़ी किसीकी सहायताके बिना ही अपने शरीरमेंसे तन्तुओंको उत्पन्न करती है, उनका पालन करती है, और फिर अपनेमें लय कर लेती है, इसी प्रकार मैं परमात्मा सब जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय करता हूँ। मकड़ीसे मुझमें इतनी विशेषता है कि मकड़ी अवयवोंवाली और सम्बन्धवाली होकर तन्तुओंकी परिणामी उपादानकारण है और मैं परमात्मा निरवयव तथा असङ्ग होकर जगत्‌का विवर्त उपादानकारण मात्र हूँ।

अश्विनीकुमार—हे भगवन् ! यदि मकड़ीमें और आपमें विलक्षणता है तो उसके दृष्टान्तसे जगत्‌की कारणता आपमें सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि समान स्वभाववाली वस्तुओंका ही दृष्टान्त दिया जाता है, विषम स्वभाववाली वस्तुओंका नहीं।

दध्यङ—हे अश्विनीकुमारो ! समान स्वभाववाली वस्तुओंका ही दृष्टान्त दिया जाता है यह ठीक है। परन्तु दृष्टान्तमें सब अंशोंमें समानता नहीं होती, कुछ ही अंशमें समानता हुआ करती है। यहाँ भी एक अंशमें समानता है, क्योंकि जैसे मकड़ी तन्तुओंका उपादानकारण और निमित्तकारण दोनों है, इसी प्रकार परमात्मा भी जगत्‌का उपादान और निमित्तकारण है। अभिन्ननिमित्तोपादानकारणके अंशमात्रमें मकड़ीका दृष्टान्त है। जैसे स्वप्नके पदार्थ स्वप्नद्रष्टा पुरुषसे भिन्न नहीं होते इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय मुझ परमात्मासे भिन्न नहीं हैं। इसप्रकारका ब्रह्मनिष्ठ मैं अपने आश्रममें रहता था। एक बार देवराज इन्द्र मेरे आश्रममें आया और मैंने अतिथिके समान उसका पूजन किया, पीछे मैंने इन्द्रसे कहा कि मैं तुम्हें प्रसन्न करनेके लिये कौन-सा पदार्थ दूँ। तब देवराज इन्द्र बोला कि यदि तुम मुझे प्रसन्न करना चाहते हो तो मुझे ब्रह्मविद्याका उपदेश करो। जब उसने इसप्रकार कहा तो मैं उसको मधुकाण्डमेंसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करने लगा, क्योंकि ब्रह्मविद्या ही जगत्‌में दुर्लभ है। ब्रह्मविद्याको छोड़कर शब्द, स्पर्शादि विषय तो सब लोकोंमें सब जीवोंको सुलभ हैं। स्वर्गलोकमें जैसे कर्मी जीवोंको विषय मिलते हैं वैसे ही नरकमें रहनेवाले जीवोंको भी मिलते हैं। जैसे ब्रह्मलोकमें रहनेवालोंको विषयजन्य सुख मिलता है इसी प्रकार विष्ठामें रहनेवाले कृमि-कीटादि जीवोंको भी विषय-सुखकी प्राप्ति होती है। आनन्दस्वरूप आत्माके सिवा कर्म और उपासनासे सर्व विषयोंकी प्राप्ति होती है। केवल एक ब्रह्मविद्या ही अत्यन्त

दुर्लभ है क्योंकि यदि मुझे पूर्वजन्ममें ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई होती तो अब मुझे जन्म-मरणरूप संसार प्राप्त न हुआ होता। इससे सिद्ध होता है कि पूर्व-जन्ममें मुझे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति नहीं हुई थी।

अश्विनीकुमार—हे भगवन्! जैसे ब्रह्मविद्या दुर्लभ है इसी प्रकार ब्रह्मलोकादिकी प्राप्तिका साधन कर्मो-पासना भी तो दुर्लभ ही है।

दध्यङ—नहीं, कर्मोपासना दुर्लभ नहीं है क्योंकि बहुत-से ब्राह्मण कर्मोपासना यथार्थ जानते हैं, और कर्मोपासनाका अनुष्ठान करनेवाले बहुत-से ब्राह्मण हैं, श्रीकृष्ण भगवान्ने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

अर्थात् हजारों मनुष्योंमें कोई एक मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और यत्न करनेवाले सिद्धोंमेंसे कोई एक मुझको यथार्थरूपसे जानता है। जिसके समान कोई भी दूसरा पदार्थ न हो, वह दुर्लभ कहलाता है। सुखके साधन शरीरादिमें और विषयजन्य सुखमें दुर्लभता नहीं है, शरीररूप जातियोंसे सब शरीर समान जातिवाले हैं, इसी प्रकार सुखत्वरूप जातिसे सब विषयजन्य सुख समान जातिवाले हैं। इसलिये संसारसम्बन्धी किसी पदार्थमें दुर्लभता नहीं है। ब्रह्मविद्या कार्यप्रपञ्च-सहित अविद्याका नाश करनेवाली है, ब्रह्मविद्याके समान दूसरा पदार्थ नहीं है इसलिये ब्रह्मविद्या ही दुर्लभ है।

शरीरादि साधनोंकी समानता

हे अश्विनीकुमारो! स्थूल शरीर बिना सुख-दुःख-का भोग नहीं होता। ब्रह्मलोक और विष्ठामें रहनेवाले सब जीवोंके स्थूल शरीर समान हैं। आत्मज्ञान-रहित ब्रह्मलोकमें रहनेवाले जीवोंको विषय-इन्द्रियके सम्बन्धसे जैसा सुख होता है वैसा ही विष्ठामें रहने-वाले जीवोंको भी विषय-इन्द्रिय-सम्बन्धसे होता है, इसलिये सुख भी सर्वत्र समान ही है। हे अश्विनी-कुमारो! वाक्, पाणि, पग, उपस्थ और पायु ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ; श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार अन्तःकरण; और प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान ये पाँच प्राण—ये सब सूक्ष्म शरीरके अवयव हैं। ब्रह्मलोकमें और मनुष्यलोकमें रहने-वाले सभी जङ्गम जीवोंके उपर्युक्त वागादि अवयव समान हैं। यद्यपि कितने ही स्थानोंमें अभिव्यक्तिकी न्यूनता तथा अधिकताके कारण विषमता प्रतीत होती है तो भी सूक्ष्म शरीरके अवयव जैसे मनुष्यादि जंगम-शरीरोंमें हैं इसी प्रकार वृक्षादि स्थावर-शरीरोंमें भी हैं, भेदमात्र इतना ही है कि जैसे मनुष्यादि जंगम-शरीरोंमें वागादिकी अभिव्यक्ति है, वैसी वृक्षादि स्थावरोंमें स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं है, तो भी वृक्षादि स्थावर-शरीर मनुष्यादि जंगम-शरीरोंके समान ही हैं।

अश्विनीकुमार—हे भगवन्! अभिव्यक्त इन्द्रियों-वाले मनुष्यादिके साथ अनभिव्यक्त वृक्षादि स्थावर-शरीरोंकी समानता कैसे हो सकती है?

दध्यङ—हे अश्विनीकुमारो! अपने-अपने विषय ग्रहण करना, यह इन्द्रियोंका व्यापार है, ऐसे व्यापारयुक्त इन्द्रियोंको अभिव्यक्त कहते हैं और इस व्यापारसे रहित इन्द्रियोंको अनभिव्यक्त कहते हैं, मनुष्यादि जंगम-शरीरोंमें भी इन्द्रियोंकी अभिव्यक्ति कभी होती है और कभी नहीं होती। जैसे घरमें बैठा हुआ कोई पुरुष बाहरके अश्वके शब्दको सुनकर शब्दरूप हेतुसे बाहरके अश्वका मनसे अनुमान करता है, उस समय वागादि सब इन्द्रियाँ मनके कार्य करनेपर भी दूरके कारण अपने-अपने व्यापारसे रहित होती हैं। न्यून इन्द्रियोंवाले बहिरे, अन्धे तथा वृक्षादिको जो ज्ञान होता है, वह इन्द्रियोंके बिना नहीं होता किन्तु इन्द्रियोंसे ही होता है। बहिरे आदि

न्यून इन्द्रियवाले पुरुषोंकी नेत्रादि अभिव्यक्त इन्द्रियोंसे भिन्न श्रोत्रादि इन्द्रियाँ अपने व्यापारसे रहित होती हैं। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि बहिरे, अन्धे और वृक्षादिमें इन्द्रियोंका अभाव है, उनमें भी इन्द्रियाँ अवश्य हैं।

अश्विनीकुमार—हे भगवन्! सर्पमें कर्णरूप गोलक नहीं है, इसलिये सर्पमें श्रोत्र-इन्द्रियका अभाव क्यों नहीं है?

दध्यङ—हे अश्विनीकुमारो! गोलकका अभाव होनेसे इन्द्रियका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि कितने ही शरीरोंमें तो नेत्रादि इन्द्रियाँ अपने-अपने गोलकमें रहकर कार्य करती हैं और कितने ही शरीरोंमें एक गोलकमें दो इन्द्रियाँ रहकर अपना-अपना कार्य करती हैं। जैसे सर्पके चक्षु गोलकमें रहकर श्रोत्र तथा नेत्र-इन्द्रिय अपना-अपना कार्य करती हैं इसलिये सब शरीरोंमें वाक आदि सूक्ष्म शरीरके अवयव रहते हैं इसलिये सुख-दुःखके साधनरूप वागादि इन्द्रियोंकी सर्वत्र समानता है।

सुख-दुःखरूप फलकी सर्वत्र समानता।

हे अश्विनीकुमारो! वाक् आदि एक इन्द्रियकी अभिव्यक्तिवाले तथा सर्व वाक् आदि इन्द्रियकी अभिव्यक्तिवाले मनुष्यादि जंगम तथा वृक्षादि स्थावरको जो सुख-दुःख होता है, वह केवल मनमें होता है, मनके सिवा अन्य किसीमें सुख-दुःख नहीं होता। यह सुख-दुःख एक इन्द्रियके व्यापारसे होता है अथवा अनेक इन्द्रियोंके व्यापारसे होता है, इसमें कोई नियम नहीं है और सुख-दुःखमें स्वरूपसे कोई विशेषता भी नहीं है। सब शरीरोंमें सुख-दुःख समान ही होता है। इन्द्रियोंसे मिलने योग्य शब्द-स्पर्शादि विषयोंमें जिस पुरुषकी प्रीति होती है, उसको जब वह विषय प्राप्त होता है तो उस पुरुषके मनमें सुख उत्पन्न होता है और जिस विषयमें पुरुषका द्वेष होता है उस विषयकी जब प्राप्ति होती है तब उसके मनमें दुःख उत्पन्न होता है। आसक्तिरूप राग सुखका कारण है और द्वेष दुःखका कारण है। जैसे देवताओंको अपने शरीरमें प्रीति है इसी प्रकार विष्ठामें रहनेवाले कृमि आदि नीच जीवोंको अपने शरीरमें प्रीति होती है। इसी प्रकार दुःख देनेवाले अपकारी जीवोंपर देवता और कृमि आदि जीवोंके द्वेष समान हैं, इसलिये राग-द्वेषसे उत्पन्न हुआ सुख-दुःख सर्वत्र समान है। हरिनके मारनेमें प्रीतिवालेको हरिन मिलनेसे सुख होता है, गान सुननेमें प्रीतिवालेको गानकी प्राप्तिसे सुख होता है, स्त्रीकी कामनावालेको स्त्रीकी प्राप्तिसे सुख होता है, पुत्रकी कामनावालेको पुत्र मिलनेसे सुख होता है और भूखेको अन्नकी प्राप्तिसे सुख होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये। इस आसक्तिरूप रागसे सब शरीरोंमें समान सुख होता है।

हे अश्विनीकुमारो! अनिष्ट वस्तु प्राप्त होनेसे एक इन्द्रियके व्यापारसे अथवा अनेक इन्द्रियोंके व्यापारसे मनमें जो दुःख होता है, वह भी सुखकी भाँति समान ही है, विष्ठामें रहनेवाले कृमिको मरणकालमें जैसा दुःख होता है वैसा ही दुःख मरणकालमें ब्रह्मलोकमें रहनेवालेको होता है, ब्रह्मलोकमें रहनेवाले ब्रह्माको विषयइन्द्रियके सम्बन्धसे जैसा सुख होता है वैसा ही सुख विष्ठामें रहनेवाले कृमिके विषयइन्द्रियके सम्बन्धसे होता है। जैसे ब्रह्मलोकमें ब्रह्माको सुखके साधन स्त्री-पुत्र-अन्नादि पदार्थ हैं इसी प्रकार विष्ठामें रहनेवाले कृमिको भी विषय-सुखके साधन स्त्री-पुत्र-अन्नादि पदार्थ हैं, जैसे ब्रह्मलोकमें रहनेवाला ब्रह्मा जन्म-मरणको प्राप्त होता है, इसी प्रकार विष्ठामें रहनेवाला कृमि भी जन्म-मरणको प्राप्त होता है। जैसे ब्रह्माको सुख-दुःखकी प्राप्ति करानेवाला अभिमान है, इसी प्रकार विष्ठामें रहनेवाले कृमि आदिको भी अभिमान है, विषय-जन्य सुखके साधन कृमिसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त सब शरीरोंमें हैं। इसलिये उनमें दुर्लभता

सम्भव नहीं है, ब्रह्मविद्या जन्म-मरणको निवृत्त करनेवाली है इसलिये ब्रह्मविद्या ही दुर्लभ है, ऐसी ब्रह्मविद्याका मैंने इन्द्रको उपदेश किया था किन्तु वह ब्रह्मविद्याका अधिकारी नहीं था। इसलिये मेरा उपदेश सुनकर वह क्रोधमें भर गया और मुझे गुरु-दक्षिणा देने लगा कि 'तुम यह उपदेश किसीको मत करना, यदि स्नेहवश तुम ऐसा करोगे तो मैं तुम्हारा सिर काट डालूँगा।' इन्द्रकी यह आज्ञा मैंने मान रक्खी है इसलिये तुमको ब्रह्मविद्या उपदेश करनेमें मुझे चिन्ता होती है।

अश्विनीकुमार—हे भगवन्! यदि आपने इन्द्रको वचन दे दिया है तो आप हमको किसप्रकार उपदेश कर सकेंगे? यदि आप ब्रह्मविद्याका उपदेश करेंगे तो इन्द्रको दिया हुआ आपका वचन मिथ्या हो जायगा और यदि आप उपदेश करेंगे तो हमसे की हुई आपकी प्रतिज्ञा भंग हो जायगी।

दध्यङ—हे अश्विनीकुमारो! मैंने पूर्वमें तुमको ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेका वचन दिया था और अब मैंने इन्द्रको वचन दिया है कि मैं किसीको ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं करूँगा। परन्तु इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है। मैंने इन्द्रको यह नहीं कहा है कि मैं किसीको उपदेश ही नहीं करूँगा। यही कहा है कि यदि मैं किसीको उपदेश करूँ तो तुम मेरा सिर काट डालना। इसलिये तुमको उपदेश करनेमें मुझे कोई रुकावट नहीं है, मैं अपना वचन सत्य करनेके लिये तुमको अवश्य ब्रह्मविद्याका उपदेश करूँगा।

अश्विनीकुमार—हे भगवन्! क्या उपदेश करनेमें इन्द्रके वज्रसे मृत्यु होनेका आपको भय नहीं है?

दध्यङ—हे अश्विनीकुमारो! मरनेका मुझे भय नहीं है क्योंकि संसारमें जिसका जन्म हुआ है उसका किसी-न-किसी निमित्तसे मरण अवश्य होता है। मिथ्या बोलनेकी अपेक्षा धनका नाश होना, स्त्री-पुत्रादि बान्धवोंका त्याग कर दिया जाना और मृत्यु हो जाना कहीं श्रेष्ठ है, अतः मिथ्या वचन कभी नहीं बोलना चाहिये। मुझे मरनेका सोच नहीं है परन्तु मरणको तुच्छ माननेपर भी मैं तुम्हें उपदेश नहीं कर सकूँगा इसका मुझे सोच है क्योंकि मैं ज्यों ही तुम्हें उपदेश देनेको तैयार होऊँगा त्यों ही इन्द्र आकर मेरा सिर काट डालेगा और मेरी प्रतिज्ञा मिथ्या हो जायगी। तुम दोनों बुद्धिमान् हो, यदि तुम इसका कोई उपाय जानते हो तो कहो!

अश्विनीकुमार—हे भगवन्! आप इन्द्रसे भय न कीजिये, क्योंकि हम अङ्गोंको जोड़नेवाली सञ्जीवनी विद्या जानते हैं। हमारी विद्याके प्रभावसे इन्द्रका वज्र निष्फल हो जायगा। हम एक उपाय और भी कर सकते हैं, जिससे आपकी मृत्यु ही न हो और हमको ब्रह्मविद्या भी मिल जाय। यह जो घोड़ा पास खड़ा है, हम इसका सिर और आपका सिर काटकर इसका सिर आपके धड़पर रख देंगे और आपका सिर इसके धड़पर रख देंगे। जब इन्द्र आपका सिर काट डालेगा तो हम आपका सिर आपके धड़पर रख देंगे और घोड़ेका सिर अश्वके धड़पर रख देंगे और दोनोंको सजीव कर देंगे, ऐसा करनेसे न तो आपका मरण होगा, न घोड़ेका। इधर हमें ब्रह्मविद्या भी मिल जायगी और गुरु-हिंसा भी न होगी एवं आपका वचन भी मिथ्या न होगा।

ऋषि—हे अश्विनीकुमारो! इसप्रकार कहकर जैसे निर्दय पुरुष पशुका सिर काटता है इसी प्रकार तुमने अपने गुरुका और घोड़ेका सिर काटकर घोड़ेका सिर ऋषिके धड़पर रख दिया और ऋषि-का सिर घोड़ेके धड़पर रख दिया, इसप्रकार हयग्रीवसंज्ञाको प्राप्त हुए तुम्हारे गुरु चित्त-शुद्धिके साधनरूप कर्मोपासनाका तुमको उपदेश करने लगे।

दध्यङ—हे अश्विनीकुमारो! जबतक चित्त शुद्ध न हो तबतक कर्मोपासना करनी चाहिये, चित्त शुद्ध होनेके पश्चात् कर्मोपासनाकी अपेक्षा नहीं है। इसलिये चित्तशुद्धिके बाद कर्मोपासनाका त्याग कर

देना उचित है, फिर केवल वेदान्तशास्त्रका विचार ही करना योग्य है।

ऋषि—हे अश्विनीकुमारो! इतना कहकर तुम्हारे गुरुने जिस ब्रह्मविद्याका इन्द्रको उपदेश किया था, उसीका तुमको उपदेश किया और उपदेश समाप्त होनेपर वह यों कहने लगे—

दध्यङ--हे अश्विनीकुमारो! इसके बाद अब कोई भी ऋषि निःशङ्क होकर अपने शिष्योंको ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं करेगा। कौषीतक आदि ऋषि शङ्का-युक्त होकर अपने शिष्योंको ब्रह्मविद्याका उपदेश करेंगे क्योंकि हाथमें वज्र लिये इन्द्र मुझे मारनेके लिये आकाशमें खड़ा है और विचार कर रहा है कि यह ब्राह्मण मेरी आज्ञाका उल्लंघन करके समग्र ब्रह्मविद्याका उपदेश कर रहा है। जब यह उपदेश कर चुकेगा तो मैं इसका सिर काट डालूँगा। अब वह अवश्य मेरा सिर काटेगा और मेरा सिर कटा देखकर समस्त ब्राह्मण डर जायँगे। इन्द्रसे भय पाये हुए ब्राह्मण अपने प्रिय पुत्रोंको भी सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं करेंगे, केवल कौषीतकी आदि अर्ध विद्याका उपदेश करेंगे। जब कोई ऋषि तप करेगा तो वह तपसे परमात्माको प्रसन्न करके परमात्माके अनुग्रहसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करेगा। उसको भी इन्द्रका थोड़ा-सा भय तो अवश्य रहेगा अर्थात् सूर्यके समान तेजवाला सूर्यका शिष्य याज्ञवल्क्य मुनि है, उसके सिवा सब ऋषि भयको प्राप्त होंगे, केवल याज्ञवल्क्यमुनि इन्द्रसे भय न मानकर अपने शिष्योंको सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याका उपदेश करेगा।

ऋषि—हे अश्विनीकुमारो! इसप्रकार जब तुम्हारे गुरु दध्यङऋषि तुमको ब्रह्मविद्याका उपदेश कर चुके तब इन्द्रने आकर उसी क्षण तुम्हारे गुरुका सिर काट डाला, सिरको भूमिपर पड़ा देखकर तुमने उसको घोड़ेके धड़पर रख दिया और घोड़ेका सिर उतारकर ऋषिके धड़पर रख दिया। जिस विद्याके लिये तुमने गुरुका सिर काटने-सरीखा अनुचित कार्य किया था, उसी विद्याको मैं तुमसे संक्षेपसे कहता हूँ, सुनो—

हे अश्विनीकुमारो! जैसे कोई महाराजा अपने निवासके लिये पहले विशाल पुरी बसाता है इसी प्रकार जगत्के कारणरूप परमात्माने प्रथम समष्टि-शरीररूप महान् पुरी उत्पन्न की। पश्चात् व्यष्टि-शरीररूप अनन्त पुरियाँ रचीं। उनमेंसे कई शरीर (गाय आदि) चार पैरवाले बनाये, कई शरीर दो पगवाले (मनुष्यादि) बनाये, कितने ही अनेक पगवाले, कितने ही एक पगवाले और कितने ही बिना पगवाले (सर्पादि) बनाये। पश्चात् पक्षी जैसे अपने शरीरको सिकोड़कर घोंसलेमें घुसता है इसी प्रकार परमात्माने भी परिच्छिन्नताका अभिमानरूप अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप धारण करके शरीररूप पुरीमें प्रवेश किया। हे अश्विनीकुमारो! यह आनन्द-स्वरूप आत्मा सब शरीररूप पुरियोंमें निवास करता है इसीलिये आत्माको शास्त्रमें पुरुष कहते हैं अथवा परमात्मा अस्ति, भाति और प्रियरूपसे सर्व शरीर-रूप पुरियोंको पूर्ण करता है इसलिये आत्माको श्रुति पुरुष कहती है। जैसे सब घट-मठादि पदार्थ भीतर और बाहर आकाशसे व्याप्त हैं इसी प्रकार सम्पूर्ण स्थूल, सूक्ष्म प्रपञ्च भीतर और बाहर परमात्मारूप पुरुषसे व्याप्त है। जैसे तन्तुओंसे बना हुआ पट तन्तुओंमें रहता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् आत्मासे बना हुआ आनन्दस्वरूप आत्मामें रहता है। जिस आनन्दस्वरूप आत्माने पूर्वके सब शरीरोंमें प्रवेश किया था, वही आनन्दस्वरूप आत्मा अब भी तुम्हारे, हमारे और सब प्राणियोंके हृदयमें विशेषरूपसे जाननेमें आता है। जैसे, जो जल पूर्वके घटमें प्रवेश करता है, वही जल मध्यकालमें घटमें प्रवेश हुआ जाननेमें आता है। जल स्वभावसे एक रूपवाला है तो भी स्थूल घटमें रहा हुआ जल स्थूल कहलाता है, और सूक्ष्ममें रहा हुआ सूक्ष्म कहलाता है, अग्निसे तपा हुआ जल तप्त कहलाता

है, शीतल घटमें रहा हुआ शीतल कहलाता है धूलसे भरे घड़ेमें रहा हुआ मैला कहलाता है, सुगन्धवाले कलसमें सुगन्धित कहलाता है, दुर्गन्धवाले घड़ेमें दुर्गन्धवाला कहलाता है, वायुसे चलायमान हुए घटमें चलायमान कहलाता है, निश्चल घटमें रक्खा हुआ जल निश्चल कहलाता है, सूर्यसे प्रकाशित घटमें प्रकाशवाला कहलाता है और अन्धकारवाले घटमें अन्धकारवाला कहलाता है। इसप्रकार जिस-जिस उपाधिके साथ जलका सम्बन्ध होता है, उसी-उसी उपाधिके स्वरूपवाला जल प्रतीत होता है। इसी प्रकार यह आनन्दस्वरूप आत्मा भी स्थूल शरीरके तादात्म्य-सम्बन्धसे अपनेको स्थूल, सूक्ष्मके तादात्म्य-सम्बन्धसे सूक्ष्म, जडके तादात्म्य-सम्बन्धसे जड, बुद्धिमान् शरीरके संम्बन्धसे बुद्धिमान्, धनके सम्बन्धसे धनी, निर्धनके सम्बन्धसे निर्धनी, देवता आदि उत्कृष्ट शरीरके सम्बन्धसे उत्कृष्ट, नीच शरीरके सम्बन्धसे नीच और सुख-दुःखके सम्बन्धसे सुखी-दुखी मानने लगता है। यों अनन्त प्रकारकी शरीरादि उपाधियोंके धर्म अज्ञानसे मोहित हुआ आत्मा अपनेमें मानकर सुखी-दुखी होता रहता है।

जैसे विषयासक्त कामी पुरुष कामिनीके धर्मोंको अपनेमें मान लेता है यानी कामिनीको चिन्तातुर देखकर आप चिन्तातुर होता है, उसको दुखी देखकर आप दुखी होता है और उसको प्रसन्न देखकर आप प्रसन्न होता है, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा यद्यपि बुद्धि आदिके सुख-दुःखादि धर्मोंसे रहित है तो भी अज्ञानके किये हुए तादात्म्य-सम्बन्धसे बुद्धि आदिके सुख-दुःखादि धर्मोंको अपनेमें मानता है। परमात्मा आदिकालमें आकाशादि पञ्चभूतोंको, उन भूतोंके कार्यशरीरोंको और शब्दप्रपञ्चको उत्पन्न करता है और उन सब पदार्थोंके साथ तादात्म्य-सम्बन्धको प्राप्त होकर उनके भिन्न-भिन्न नाम करता है। परमात्मा वाक् आदि इन्द्रियोंके साथ और उनकी प्रेरक बुद्धिके साथ तादात्म्यभावको प्राप्त होकर वचन-उच्चारणादि नाना प्रकारके व्यवहार करके वाक् आदि रूप होता है और 'मैं' 'तू' अन्य प्राणी इत्यादि अनन्त रूपोंको प्राप्त होता है। वस्तुतः भेदरहित असंग आत्मा जो अनेक प्रकारके भेद उत्पन्न करता है, वह अपना स्वभाव बतलानेके लिये करता है यानी परमात्मा सब जगत्को उत्पन्न करके उसको अपने आत्मरूपसे देखता है। इसलिये परमात्मा इन्द्र संज्ञाको प्राप्त होता है। इन्द्र संज्ञा जगत्की उत्पत्ति बिना सम्भव नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तुतः भेदरहित परमात्मा अनेक प्रकारके भेद उत्पन्न करता है।

(क्रमशः)

चेतावनी

रुचिर रसना तू राम राम क्यों न रटत।
सुमिरत सुख सुकृत बढ़त अघ अमंगल घटत॥
बिनु स्रम कलि-कलुष-जाल, कटु कराल कटत।
दिनकरके उदय जैसे तिमिर-तोम फटत॥
जोग जाग जप बिराग तप सुतीर्थ अटत।
बाँधिबेको भव-गयन्द रेनु कि रजु बटत॥
परिहरि सुर-मुनि सुनाम गुंजा लखि लटत।
लालच लघु तेरो लखि 'तुलसि' तोहि हटत॥

भगवत्परा-भक्ति

(लेखक—पं० श्रीहरिचन्द्रजी शास्त्री)

संसारमें धन-दौलत, स्त्री-पुत्र और मान-सम्मानकी इच्छासे भक्ति करनेवाले जीव तो आपको बहुत मिलेंगे। पर भगवान्‌की निर्हैतुकी भक्ति करनेवाले भक्त विरले ही हैं। आज एक परम भक्तिमती देवीके उदाहरणद्वारा यथाशक्य उक्त परा-भक्तिका प्रतिपादन किया जायगा।

भक्ति-प्रतिपादक शास्त्रोंमें 'माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक सर्वतोऽधिक दृढ़ स्नेह' को ही भगवान्‌की परा-भक्ति कहा गया है। जबतक अपने सेव्यस्वरूपके माहात्म्यका ज्ञान न हो तबतक सेवामें नाना प्रकारके दोषोंका समावेश हो जाना सम्भव है। माहात्म्य-ज्ञान हो जानेके पश्चात् प्रभुमें स्नेहाङ्कुरकी उत्पत्ति होती है। उसकी परिपक्व दशाका नाम भगवत्परा-भक्ति है। जैसे भगवान्‌के प्राकट्य-समय श्रीदेवकीजीने भगवान्‌के माहात्म्यको समझकर उनकी स्तुति की थी। उसके पश्चात् स्नेहकी उत्पत्ति हुई। इसी कारण वात्सल्यसे उसे कहना पड़ा कि मैं अधीरबुद्धि आपके ही कारण कंससे डर रही हूँ। प्रातःस्मरणीया बड़भागिनी गोप-बालाओंने भी मानव-शक्तिसे बहिर्भूत अपने परम प्रिय बालमुकुन्दको बड़े भारी श्रीगोवर्द्धन उठाते और रखते देखा। इसलिये उन्हें वन्दन तथा अर्चनादि करना चाहिये था। परन्तु उन्होंने वैसा न करके उसके स्थानपर स्नेह-रस-पूर्ण हो दहीसे तिलक करके गौकी पूँछको फ़िराया।

माता जिसप्रकार सुख-मङ्गलके स्थान अपनी सन्तानका कल्याण चाहती है, उसी प्रकार भक्त भी अपने भगवान्‌का सुख-मङ्गल चाहते हैं। इसके सिवा अन्य किसी पदार्थकी उन्हें अभिलाषा नहीं होती। मुक्तिसे भी उन्हें घृणा है। क्योंकि मुक्तिकी दशामें प्रियके सुखकी सँभाल नहीं की जा सकती। श्रीउद्धवजीने जब गोपियोंसे कहा कि मनको एकाग्रकर जगदीशके ध्यानद्वारा मुक्ति प्राप्त करो, तब श्रीउद्धवजीको इन्हीं गोपियोंने कहा था—

> **ऊधो मन न भये दस-बीस।**
> **एक हुतो सो गयो स्याम सँग कौन भजे जगदीस॥**
> **भुक्ति-मुक्ति कछुवै नहिं जानैं नहीं ईससों नेह।**
> **नन्द-नँदनके कारन ऊधो तजै सकल सुखगेह॥**

बस यही भगवत्परा-भक्ति है।

संसारके भोगोंके लिये भजन करनेवालोंको अभिलषित वस्तुएँ तो मिल जाती हैं, पर उन्हें न ऐसी परा-भक्ति मिलती है और न भगवान्‌की प्राप्ति ही होती है। उन्हें यदि मनमानी लौकिक वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती तो वे भगवद्भजन भी त्याग देते हैं। ऐसे जीवोंकी स्वार्थ-भक्ति है।

तात्पर्य यह है कि उन विषय-प्रेमी मनुष्योंके भगवान्‌को कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े, उन्हें तो अपने मनमाने सुखसे प्रयोजन है। परन्तु स्नेही भक्तोंकी बात ही कुछ निराली है। उनपर चाहे कष्टोंके पहाड़ ही क्यों न टूट पड़ें पर वे अपने भगवान्‌को तनिक-सा भी परिश्रम नहीं देंगे। बल्कि वे इसी चाहमें रहेंगे कि यदि हमें प्राणेशके लिये अपना तन-मन सर्वस्व निछावर करना पड़ें तो हमारा अहोभाग्य है। और प्राणनाथ यह जानने भी न पावें कि यह कार्य किसने किया है।

ऐसा उच्च भक्ति-भाव विरले महात्मामें ही हुआ करता है। इसी प्रकारकी एक भावुका परम भाग्यवती वृद्धा देवीकी कथा सुनिये।

महाभारतका युद्ध समाप्त हो चुका है पाण्डव अभी कुरुक्षेत्रमें हैं। विजयलक्ष्मी पाण्डवोंकी अङ्क-लक्ष्मी बन चुकी है। इनके शिविरमें बजती विजय-दुन्दुभियाँ दिक्पालोंके हृदयोंको कम्पित कर रही हैं। ऐसे समय विजयी कपिध्वज अर्जुन अपने परमसखा श्रीकृष्णके सारथित्वमें सुरम्य रथपर आरूढ़ हो स्वच्छन्द वायु-सेवनार्थ बाहर निकले हैं। उनकी विजयतरणि-की किरणें आज प्रफुल्लित मुखसे उद्गत हो उष्णरश्मिकी रश्मियोंको भी पराजित कर रही हैं। जगन्नेत्र मित्र भी श्रीकृष्णमित्र पुत्र-शत्रुको विजयसे प्रसन्न देख लज्जावनतवदन हो अस्ताचलमें छिपनेकी चेष्टा कर रहे हैं। वनके विकसित, कमनीय कुसुमोंकी सुरम्य सुगन्ध लिये शीतल अनिलदेव भी रथके ऊपर आनन्दसे विराजमान निजनन्दन हनूमान्जीके लाल-भालको सस्नेह सूँघते हुए लाल ध्वजालतिकाको लहरा रहे हैं। खग-निकर भी कलकूजनसे विजयो-न्मत्त अर्जुनके गीत गाते, सर्वतः परिष्कृत मार्गके दोनों ओर पङ्क्ति-बद्ध हरित वृक्षावलियोंपर आ रहे हैं। रणबाँकुरे कौन्तेय अपने परम सुहृद् सहृदय गुणमन्दिर दामोदरके साथ समर-चातुर्यकी चर्चा कर रहे हैं। चतुर-शिरोमणि भगवान् भी सखा अर्जुनकी पेटभर प्रशंसा कर रहे हैं।

बातों-ही-बातोंमें अर्जुनको अपने सारथि विश्व-मोहन मोहनके विश्वरूपदर्शनका स्मरण हो आया। वह विचारने लगे। मुझ-जैसा भाग्यशाली और कौन हो सकता है, जिसके सारथि साक्षात् विश्वेश हृषी-केश हों। इन्हींके शौर्यसे मैंने भीष्म-द्रोण-कर्णादि महा-रथियोंको बात-ही-बातमें समर-सेजपर सदाके लिये सुला दिया। जिन प्रभुने जयद्रथ-वधके समय अद्भुत चमत्कार दिखाया, वही योगियोंको भी दुष्प्राप्य, प्रतापी, सर्वनियन्ता, अन्तकान्तक प्रभु मेरे भृत्य बनकर सर्व-कृत्य करनेको उद्यत हों, यह कोई कम भक्तिकी बात है? संसार जानता है कि अर्जुन-जैसा परम भक्त दूसरा कोई नहीं।

अपने मित्रके गर्वकलुषित अन्तःकरणको सर्वान्त-र्ज्ञाता, त्रिभुवनत्राता, भक्तोंके हृदयका दोषमल क्षणमें हरण करनेवाले, राधारमण बिहारीने जान लिया। सुरभूषणके निर्दूषण भक्तमें यह दूषित-दूषण क्यों? इसे हटाना चाहिये। यह विचारकर लीलाधारी गिरिधारीने एक लीला रची। तत्काल ही अर्जुनको जोरसे प्यास लगी। परन्तु जल कहीं नहीं दिखायी दिया।

प्यासे पार्थने कहा—जगद्वन्द्य! माधव! मैं तृषा-के मारे व्याकुल हो रहा हूँ। शीघ्र ही किसी जला-शयकी ओर चलिये।

गोविन्दने तुरन्त रथको रोक दिया और अंगुलीसे बताकर कहा—देखो, कुछ दूरपर उत्तरकी ओर सामने एक फूँसकी छोटी-सी झोंपड़ी दिखायी दे रही है। वहाँ मेरी एक निर्धन भक्ता रहती है। वहीं चले जाओ। तुम्हारी प्यास वहाँ शान्त हो जायगी। परन्तु स्मरण रहे, उसे अपना नाम-धाम न बताना। मैं रथ लिये यहीं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा।

अर्जुन प्यासके मारे घबड़ा रहे थे। दौड़े, और शीघ्र ही वहाँ पहुँच गये। जाते ही मन प्रसन्न हो गया। स्वच्छ भू-भागमें बड़ी कुशलताके साथ लगाये हुए सुन्दर, सुगन्धित, रंग-बिरंगे पुष्पोंसे सम्पन्न पादपाव-लियोंकी क्यारियोंके मध्य-प्रदेशमें स्थित हरे रंगके कागजपर चिपके स्वर्ण-लवङ्ग-जैसे सुरम्य-तृण-कुटीर-को निरीक्षणकर स्वर्गीय सुखका अनुभव करने लगे। और धीरे-धीरे झोंपड़ीके द्वारपर पहुँच गये।

आहट पाकर भीतरसे लगभग सत्तर वर्षकी एक वृद्धा बाहर निकली। उसके अद्भुत तेजको देख अर्जुन दङ्ग रह गये। स्नेह-भरी हँसी उसके होठोंपर थिरक-थिरक नाच रही थी। उसके झुर्रीदार चेहरेपर

दिव्य आत्म-ज्योति छिटक रही थी। रोबीली-चमकीली आँखे गड़ाकर वह बोली—क्या तुम अर्जुन हो ?

अपराधीकी भाँति काँपते हुए अर्जुनने भगवान्के आदेशका स्मरणकर कहा—मैया ! मैं तो एक प्यासा कृष्ण-भक्त पथिक हूँ।

'बहुत अच्छा, आओ, भीतर आकर इस दीनाकी कुटियाको अपने चरण-रजसे पवित्र करो। मैं भूली, तुम सचमुच मेरे कृष्णके भक्त हो ! मेरे श्यामके प्यारे हो ! आओ ! आओ ! मैं बलैया लूँ।' यह कहती हुई स्नेह-विह्वला देवी उन्हें भीतर ले गयी। उनके चरण धोये और एक उत्तम कुशासनपर बैठाकर स्वयं प्रिय अतिथिके आतिथ्यका आयोजन करने लगी।

सुखासीन किरीटीने कुटीरमें चारों ओर दृष्टि घुमायी। पूजा-अर्चाकी पवित्र सामग्रीके साथ ही कुटियामें दो-तीन चमचमाती नंगी तलवारें, परिष्कृत परिघ, तीक्ष्ण-से दो-एक कुल्हाड़े और बिजली-जैसी चमकदार कुछ बर्छियाँ आदि हथियार सजाकर रक्खे हुए देखकर अर्जुनको बड़ा आश्चर्य हुआ।

इतनेमें कदली-दलपर छिले हुए मधुर कदली-फल तथा जलका कमण्डलु लिये वृद्धाने भी दर्शन दिये।

कातर-दृष्टिसे विनयपूर्वक अर्जुन बोले—तुम-जैसी परम दयामयी, स्नेहमयी भगवद्भक्त देवीके आश्रममें ये तीक्ष्णतर शस्त्र क्यों माताजी ?

'तुम जल-पान करो। क्षमा करो, यह किसी विशेष कामके लिये रक्खे हैं। बताना उचित नहीं।'

'नहीं माँ ! मैं अवश्य पूछूँगा, नहीं बतलाओगी तो मैं प्यासा ही चल दूँगा। मेरी भी दृढ़ प्रतिज्ञा है।'

'अच्छा तो सुनो। मैं इन्हें यहाँ इसलिये रखती हूँ कि कहीं भक्तिके अभिमानमें प्रमत्त अर्जुन, द्रौपदी और उत्तरा आदि मुझे मिल जायँ तो इन तीक्ष्णधार शस्त्रोंके द्वारा उनके मांसकी बोटियाँ नोच-नोचकर कुत्ते और चीलोंके आगे डाल दूँ।'

अर्जुन विस्मय और भयमें डूब गये, पर सँभलकर बोले—'उन बेचारे भगवद्भक्तोंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो तुम इतनी क्रुद्ध होकर उनका जीव लेनेपर उतारू हो रही हो ?'

वृद्धाने रो दिया। वह व्यथित चित्तसे बोली-'बेटा ! उन स्वार्थियोंको भी तुम भक्त मानते हो ? जिस द्रौपदीने केवल नग्न हो जानेके भयसे मेरे नयनाभिराम श्यामको, मेरे प्राणप्यारे बिहारीको द्वारकासे नंगे पैर दौड़नेको बाध्य किया। क्या हो जाता यदि सभा-में वह नग्न कर दी जाती। क्या नग्न होकर नहीं आयी थी ? नंगी होकर न जायगी ? बड़ी भक्ति कर डाली।

और देखो ! आषाढ़-मासके दुपहरका समय हो, प्रचण्ड सूर्य ऊपरसे आग बरसा रहा हो, नीचे वसुन्धरा भी तपे लोहेके समान चिनगारियाँ उगल रही हो, ऐसे समय जरा बाहर तो निकलकर देखो, शरीर झुलस जाता है। पक्षी भी उस समय घोंसलोंसे बाहर नहीं झाँकते। हाय ! ऐसे समयमें उस दुष्टा द्रौपदी-के कारण मेरे प्यारे गोपालको, जिसके गो-चारणके समय परमभक्ता गोपियाँ वन-भूमिको कठिन समझ-कर प्रियतमके मार्गमें अपना हृदयपद्म बिछा देनेको तरसती थीं, उस कमलदलवत् कोमल चरणोंवाले नन्द-लालको केवल दुर्वासाके शाप-भयसे दौड़कर आना पड़ा। क्या इसीको भक्ति कहते हैं ?

अब उत्तराकी कथा सुनो। क्या हो जाता यदि उसका गर्भ ब्रह्मास्त्रसे दग्ध हो जाता। पर उसने मेरे मनोमन्दिरके सुन्दर ठाकुरको साग्रह बुलाकर अपने बच्चेकी तो रक्षा कर ली और हाय ! मेरे प्यारेको उसने धधकती आगवाले अस्त्रके आगे ढकेल दिया।'

अच्छा ! अब उस घमण्डी अर्जुनकी बात सुनो ! मैया यशोदाके स्नेह-नवनीतसे पालित कोमल कमनीय कलेवर, मन्मथमथन, विश्व-मन-मोहन मेरे श्यामको, हाय ! आनन्दकन्द व्रजचन्दको, जिसका मधुरतर वंशीरव सुनकर जड़-चेतन भी स्थिर होकर अपने आपको न्योछावर कर देते हैं, कठिन समर-भूमिमें रथके आगे निरस्त्र बैठाकर बड़े-बड़े महारथी भीष्म-द्रोणादि वीरोंके तीक्ष्ण तीरोंका लक्ष्य बनाया। केवल राज्यके लोभसे ! हाय ! मैं कौन-कौन-सा दुखड़ा रोकर सुनाऊँ ? मेरा कलेजा चलनी बन चुका है। मेरे प्राणधनको क्या-क्या कष्ट नहीं पहुँचाये गये। यह क्या भक्तोंका हृदय है ? ऐसे स्वार्थी भक्तिका दुरुपयोग करनेवाले पाषाणहृदय भक्ताभिमानियोंसे मैं क्योंकर बदला न लूँ ? मेरे ये आयुध क्यों न उनका रुधिर चाटें। कभी तो वे इधर आवेंगे ही।' यह कहकर वृद्धा सिसकियाँ भर-भरकर रोने लगी।

अर्जुन भी पश्चात्तापकी अनवरत अश्रुधाराओंसे अभिमानपङ्किल चित्तको धो रहे थे, उनके मर्मस्थलको अनुतापके सैकड़ों बिच्छू एक साथ डस रहे थे। वे गद्गद्-वाणीसे बीच-बीचमें केवल 'मेरी मैया ! हा मैया !' कह रहे थे।

रोती हुई वृद्धा आँसू पोंछकर फिर बोली—देखो, इसे भक्ति नहीं कहते। यह तो स्वार्थ है। भक्तोंका हृदय नवनीतसे भी अधिक कोमल होता है। अपने प्यारेके लिये सर्वदा सच्चा स्नेह हो। उसीके सुखसे सुखी होनेका सहज स्वभाव हो। उसके लिये सिर भी कुर्बान कर दिया जाय। अपने सुख-मङ्गलके लिये तो प्रभुके आगे प्रार्थनाकी इच्छा भी न होनी चाहिये। केवल उसीके सुखकी इच्छा हो। उसका सुख ही तो अपना परमसुख है। नश्वर देहादि पदार्थोंके लिये प्रियतमको कभी परिश्रम नहीं देना चाहिये। इन्हीं लक्षणोंवाला भक्त होता है। यही भगवत्परा शुद्ध भक्ति है।

सिसकते हुए अर्जुनने वृद्धाके चरण पकड़कर कहा—'धन्य हो माँ ! आपके इस अनुपम उपदेशसे मैं कृतार्थ हो गया। आशीर्वाद दो मैया ! मैं भी तुम्हारी तरह अपरिमित स्नेहसे अपने भगवान्‌को रिझा सकूँ।' इसप्रकार कुछ देर परस्पर बातें होती रहीं, तदनन्तर वृद्धाके आग्रहसे जल-पान करके अर्जुन चल दिये।

अर्जुनके अभिमानका नशा उतर चुका था। प्यास तो केवल प्रभुकी लीला ही थी। इस समय वह अपने आपको महानीच समझकर धिक्कार रहे थे। श्यामसुन्दरके पास पहुँचकर, उनके चरणोंको पकड़ लगे अपने आँसुओंसे धोने। अर्जुनने रोते हुए कहा—'क्षमा करो भगवन् ! मैं बड़ा पातकी हूँ, मेरे स्वामी ! मेरे हृदयके चन्द्र ! मेरे भाग्यसूर्य ! मैंने स्वार्थमें आकर तुमको बड़े-बड़े कष्ट दिये हैं। जिनका कोई प्रायश्चित्त नहीं। तुच्छ सेवकका कृपा-बलसे उद्धार करो प्रभो !'

मन्दस्मित दामोदरने अपनी विशाल भुजलतिकाओंसे परमसखाको उठाकर हृदयसे लगाते हुए कहा। 'क्यों पार्थ ! क्यों कौन्तेय ! इतने कातर क्यों ? कहो क्या हुआ भाई ! तुम-जैसे वीरोंको इतना खिन्न नहीं होना चाहिये।'

दोनों रथपर आरूढ़ हो चल दिये। अर्जुनने कहा 'धन्य प्रभो ! तुम्हारी बड़ी विचित्र लीला है। तुम्हारी अप्रमेय कृपा-शक्तिके बिना ऐसी दृढ़ स्नेह-भक्ति दुष्प्राप्य है। करुणा करो करुणावरुणालय दीनानाथ ! मेरी मनभूमिपर उगे हुए पाप-कण्टकोंको अपने कृपाबलरूपी हलसे निकालकर सच्ची भगवत्परा-भक्तिका बीज बोकर स्नेहाङ्कुरकी उत्पत्ति कर दो मेरे प्यारे दक्ष कृषक ! कृष्ण !'

बोलो लीलाधारी श्याममुरारीकी जय !

ईश्वर एक है

(लेखक—पं० श्रीबदरीदासजी पुरोहित 'वेदान्तभूषण')

अनन्त विश्वकी अनन्त शक्तियाँ हैं; पर उन सबपर शासन करनेवाला ईश्वर एक ही है। जैसे सम्पूर्ण साम्राज्यका सर्वोपरि शासक एक सम्राट् ही है; ठीक वैसे ही अखिल ब्रह्माण्डका सर्वश्रेष्ठ शासक एक ईश्वर ही है। कठोपनिषद्की षष्ठ वल्लीमें कहा है कि यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वरके नियमद्वारा सञ्चालित है। अतः उनके महान् भयसे भीत हुए सब देव अपने-अपने कार्यमें तत्पर रहते हैं। जैसे वज्र हाथमें लिये अपने स्वामीको सम्मुख देखकर सेवकगण अपने-अपने कार्यमें लगे रहते हैं और नियमानुकूल उनके शासनमें बर्तते हैं, ठीक वैसे ही ये चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारागणादि विश्वके समस्त देव एक ईश्वरके नियममें सदैव चलते रहते हैं। बिना उनकी आज्ञाके एक क्षण भी विश्राम नहीं ले सकते—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

'परमेश्वरके भयसे अग्नि प्रज्वलित होता है, ईश्वरके भयसे सूर्य तपता है, उन्हींके भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवीं मृत्यु दौड़ती रहती है।' यही कारण है कि आगका गोला-सा प्रतीत होनेपर भी सूर्य सदैव ठीक समयपर पूर्व और पश्चिम दिशामें दिखलायी पड़ता है। चन्द्रमा बराबर नियमसे घटता और बढ़ता रहता है। ग्रह अपनी चालसे बराबर चलते रहते हैं। अतः समझना चाहिये कि इन सबका सञ्चालन करनेवाली ईश्वरीय शक्ति उनमें अवश्य ही वर्तमान है। और उसी ईश्वरीय शक्तिद्वारा सब अपने-अपने कार्यको यथासमय करते रहते हैं।

जो ईश्वर अनन्त शक्तियोंका सञ्चालनकर संसारका नियमन करता है और जिसके भयसे सब देवता अपने-अपने कर्तव्योंका पालन करते हैं वह ईश्वर कौन है? उसका क्या स्वरूप है? वे किसप्रकारसे जाने जा सकते हैं? सम्पूर्ण विश्वमें वे किस रूपसे विराजमान हैं? और उन परमेश्वरके दर्शन कैसे किये जा सकते हैं? इत्यादि प्रश्नोंपर विचार करना इस लेखका उद्देश्य है, अतएव सर्वप्रथम 'ईश्वर कौन है और उनका क्या स्वरूप है?' इसपर विचार किया जाता है।

सबका शासन करनेवाले सच्चिदानन्दघन सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् नारायण हैं वही ईश्वर हैं। उनके स्वरूपको बतलाते हुए पञ्चदशीकार कहते हैं—

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म तद्वस्तु तस्य तत।
ईश्वरत्वं च जीवत्वमुपाधिद्वयकल्पितम्॥
शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्ववस्तुनियामिका।
आनन्दमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु॥
वस्तुधर्मा नियम्येरञ्छक्त्या नैव यदा तदा।
अन्योन्यधर्मसांकर्याद्विप्लवेत जगत्खलु॥
चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद्ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्॥

'जो सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म वस्तु है उसीकी पारमार्थिक लोकप्रसिद्ध ईश्वरत्व और जीवत्व दो उपाधियाँ कल्पित हैं। उनमें ईश्वरोपाधिभूत शक्तिको यहाँ बतलाते हैं। जो ईश्वरसम्बन्धिनी सदसत्त्वादिरूपसे निर्मुक्त, अशक्य तथा सर्व वस्तुकी नियामिका शक्ति है अर्थात् पृथिवी आदि सम्पूर्ण नियम्य वस्तुओंकी नियमन करनेवाली शक्ति है। वही ईश्वर है। यह आनन्दमयसे प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी वस्तुओंमें गुप्तरूपसे वर्तमान है।

यदि उपर्युक्त ईश्वरीय शक्ति पृथिवी आदि पदार्थोंके काठिन्यादि धर्मोंको व्यवस्थित करके न रक्खे तो उन वस्तुओंके धर्मोंका सांकर्य होना सम्भव है। और जहाँ सांकर्य हुआ कि जगत्‌में उथल-पुथल मचा, फिर जगत्‌का निश्चय ही अनियमित व्यवहार हो जाता है। इससे जगत्‌के पदार्थोंकी शक्तियोंका नियमितरूपसे सञ्चालन करनेवाली जो महती शक्ति है वही ईश्वरीय शक्ति है। चेतन-शक्तिके उपाधि-संयोगसे सच्चिदानन्द परब्रह्म ही ईश्वर अर्थात् सर्वज्ञत्वादि धर्मको प्राप्त होता है।' इसीसे पाणिनीय व्याकरणमें 'ईश्वर' शब्दको इसप्रकार सिद्ध किया है। यथा—

ऐश्वर्यार्थवाचकात् 'ईश' धातोः स्थेशभासपिसकसो वरच् (पा० सू० ३।२।१७५) इति सूत्रेण कर्तरि वरचि चकारस्येत्संज्ञालोपयोः कृतयोः 'ईश्वर'इत्यस्य कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वे 'कृत्तद्धित०' इत्यादिना सुबुत्पत्तिः सस्य रुत्वे, रस्य विसर्गे 'ईश्वरः' इति।

तात्पर्य यह है कि जो सम्पूर्ण ऐश्वर्यवान् हो और अनन्त शक्तियोंका सञ्चालक सर्वज्ञ हो वही 'ईश्वर' है।

श्रुतियोंने कहा है कि—'*मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्*' अर्थात् प्रकृतिको माया जानो और जो प्रकृतिका नियामक मायी है वही 'महेश्वर' है। अन्यान्य श्रुतियाँ भी ईश्वरका इसप्रकार प्रतिपादन करती हैं—

'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश इति'

गुणसाम्यावस्थारूप प्रकृति और क्षेत्रज्ञ—जीवके जो पति हैं वे ईश्वर हैं तथा जो सत्त्व, रज एवं तमोगुणके नियामक हैं वे ईश्वर हैं।

योगदर्शनमें कहा है—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'

जिनमें 'क्लेश' अर्थात् अविद्यासे उत्पन्न विषय-बन्धनसे राग-द्वेषकी सहायताद्वारा चित्तकी विकलता नहीं है। 'कर्म' अर्थात् वेदविहित या वेदनिषिद्ध मन और शरीरसे किये गये पाप-पुण्य जिनमें नहीं हैं। 'कर्मफल' अर्थात् किये हुए कर्मोंसे जब फलकी उत्पत्ति होती है वे कर्मफल जिनमें नहीं हैं और संस्कार अर्थात् कर्मोंका जो असर अन्तःकरणमें रहता है जिससे पुनः वासनाकी उत्पत्ति होती है वे आशय—वासनाके मूल कारण जिनमें नहीं हैं, वही पुरुषविशेष 'ईश्वर' हैं।

लोग अपने-अपने मतानुसार कोई 'हिरण्यगर्भ' यानी ब्रह्माको, कोई 'विराट्'को कोई 'विष्णु' और 'शिव'को, कोई 'गजानन'को 'ईश्वर' कहते हैं। और अपने-अपने मतकी पुष्टिके लिये प्रमाण भी देते हैं परन्तु वस्तुतः ईश्वर अनेक नहीं हो सकते। ईश्वर एक ही हैं। उन एक ही ईश्वरके अनेक नाम हैं, वास्तवमें वही सर्वज्ञ नारायण समस्त जगत्‌के सर्वोपरि शासक हैं। श्रुतिके कथनानुसार प्रकृति माया है और मायी महेश्वर हैं। इन्हीं दोनोंसे यह सब संसार व्याप्त है। अतः सिद्ध हुआ कि सच्चिदानन्द परब्रह्मकी चेतन शक्ति जो अनन्त विश्वशक्तियोंका सञ्चालन करती है, वही सर्वज्ञ सर्वनियामक 'ईश्वर' है।

वे ईश्वर किसप्रकारसे जाने जाते हैं? इसपर कहा जाता है कि जो वस्तु अचिन्त्य है, मन-वाणीसे अगोचर है एवं अनिर्वचनीय है, उसको जाननेके लिये साधारण ज्ञान या प्रमाणके अतिरिक्त असाधारण ज्ञान एवं प्रमाणकी आवश्यकता है। श्रुति कहती है कि उन परमात्माको अत्यन्त सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बुद्धिसे जानो। उन अनन्त विश्वशक्तियोंके नियामक जगदीश्वरको जाननेके लिये उनके कार्यको प्रथम जान लेना परमावश्यक है। कार्यके ज्ञानसे कारणका

ज्ञान हो जाता है । इस सिद्धान्तसे यह संसार जो कुछ देखने और सुननेमें आ रहा है सब 'ईश्वर' का रचा हुआ है । ऐसा निश्चय कर लेना चाहिये । इसमें चारों वेदोंकी श्रुतियोंका स्पष्ट प्रमाण है कि यह जगत् ईश्वरका रचा हुआ है । ईश्वरने किसप्रकार जगत्को रचा और उसे श्रुतियोंने कैसे वर्णन किया है, उन सबका कुछ संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है जिसके पढ़नेसे यह निश्चय हो जायगा कि ईश्वरका ज्ञान या ऐश्वर्य ही जगत् है ।

ऐतरेयोपनिषद्में कहा है कि—

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । स इमाँल्लोकानसृजत ।

'अद्वितीय परमेश्वरने ही जगत्को उत्पन्न किया है । कारण, सृष्टिके पहले यह एक ही आत्मा था, अन्य कुछ भी नहीं था । उसीने विचार किया कि मैं लोकोंको रचूँ ! ऐसा विचारकर उस ईश्वरने इन लोकोंको रच दिया ।' तैत्तिरीयोपनिषद्में लिखा है कि—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ब्रह्म सच्चिदानन्द है—इस श्रुतिसे प्रारम्भ करके *'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'* इत्यादि वाक्योंके अनन्तर *'अन्नात्पुरुषः'* इस अन्तिम वाक्यसे स्पष्ट बतला दिया कि—गुहामें छिपा हुआ प्रत्यग् अभिन्न परब्रह्म परमात्मा है, उसीसे आकाशादि देहपर्यन्त जगत्की उत्पत्ति होती है । फिर कहते हैं कि—

'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च ।'

इन वाक्योंपर ध्यान देनेपर यही सिद्ध होता है कि ईश्वरने जगत्की रचना की है और वे ही इसका शासन करते हैं ।

छान्दोग्योपनिषद्में कहा है कि—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'

हे सोम्य ! यह एक ही अद्वैत सत् ईश्वर आगे विद्यमान था—इस वाक्यसे प्रारम्भ करके—

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत'

अर्थात् उस ईश्वरने बहुत-सी प्रजाओंको रचनेका विचार किया और विचार करके अग्नि, जल और पृथिवीको उत्पन्न किया । ऐसा कहकर अन्तमें कहा है कि—

'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं जीवजमुद्भिज्जम् ।'

इससे अण्डजादि शरीर-निर्माण-कर्म भी ईश्वर है।

मुण्डकोपनिषद्में कहा है कि—

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ।

'हे प्रिय ! यह सत्य है कि जिसप्रकार प्रज्वलित अग्निसे हजारों चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं वैसे ही अक्षर—ईश्वरसे नाना प्रकारके ये जीवगण उत्पन्न होते हैं और उन्हींको प्राप्त हो जाते हैं ।'

बृहदारण्यकमें कहा है कि—

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौ नामाऽयमिदꣳ रूप इति ।

'यह सब जगत् पूर्वमें अव्याकृत अर्थात् स्थूल-रूपसे फैला हुआ नहीं था, अभी इसे ईश्वरने नाम-रूपसे फैलाया है ।' यथा—

तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौ नामाऽयमिदꣳ रूप इति ।

'वही यह नाम-रूपसे फैला हुआ जगत् है । उसीका यह नाम-रूप विराट् देह है ।' ऐसा कहकर अन्तमें कहा है कि—

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः । एवमेव यदिदं किञ्च मिथुनं पिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत।

पहले एक आत्मा ही था, वही पुरुषाकार यह विराट् हुआ। उसीने यह सब कुछ विश्वको अर्थात् विराट्, मनु, नर, गौ, खर, अश्व, अजा और पिपीलिका—चींटीपर्यन्त जगत्को उत्पन्न किया है।

उपर्युक्त श्रुतिवाक्योंसे ईश्वरका ऐश्वर्य स्पष्ट प्रकट हो जाता है। अब श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌के वाक्य सुनिये, वे ही अपना ऐश्वर्य देखनेकी आज्ञा देते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥
(९।४–१०)

'मेरे अव्यक्त रूपसे यह सारा जगत् व्याप्त है। सब भूत मुझमें स्थित हैं, पर मैं उनमें नहीं हूँ। सब भूत मुझमें व्याप्त नहीं हैं। मेरा यह ईश्वरीय योग देख। सब भूतोंको उत्पन्न और पालन करनेवाला मेरा आत्मा उनमें नहीं है। जैसे सर्वत्र विचरण करनेवाला महान् वायु समस्त आकाशमें व्याप्त है; उसी प्रकार समस्त भूतप्राणी मुझमें स्थित हैं। ऐसा जान। हे कौन्तेय! कल्पके अन्तमें सभी जीव मेरी प्रकृतिमें आ मिलते हैं और कल्पके प्रारम्भमें मैं उन्हें फिर उत्पन्न करता हूँ। मैं अपनी प्रकृतिको अपने अधीनकर उसके स्वभावके वश परतन्त्र भूतोंके समुदायको बार-बार रचता हूँ। तो भी हे धनंजय! वे कर्म मुझे बद्ध नहीं करते; क्योंकि मैं उनमें आसक्त नहीं होता; वरं सदा उदासीन-सा रहता हूँ। हे कौन्तेय! मुझ अध्यक्षका आश्रय ग्रहणकर प्रकृति चराचर जगत्को उत्पन्न करती है; इसीलिये यह बनता-बिगड़ता रहता है।' कहनेका तात्पर्य यह है कि ईश्वरको जगदीश्वर जानो और जो पुरुष ऐसा नहीं जानते हैं उनकी क्या दशा होती है, उसे बतलाते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
(गीता ९।११–१३)

'मेरे परम स्वरूपको न जाननेवाले मूढ़ लोग सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वर मुझको मनुष्यरूपधारी समझकर अवहेलना करते हैं। उनकी आशा, कर्म तथा ज्ञान व्यर्थ है और उनकी बुद्धि विक्षिप्त है। वे उस आसुरी स्वभावका आश्रय किये रहते हैं। परन्तु हे पार्थ! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्मागण मुझे भूतोंके आदिकारण और अव्यय जानकर अनन्य मनसे भजते हैं।' अतः ऐसा करनेसे ही ईश्वर जाने जा सकते हैं।

अतः एक ही ईश्वर सम्पूर्ण विश्वमें किस रूपसे

विराजमान हैं ? इसपर ईशावास्य और कठोपनिषद् एवं भगवद्गीताने लिखा है कि—

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

यह समस्त जगत् एक ईश्वरद्वारा आच्छादित—यानी व्याप्त है । जैसे चन्दन और अगर आदि जलके सम्बन्धसे क्लेदादिज दुर्गन्धको अपने स्वरूप-निघर्षणसे आच्छादित कर देते हैं वैसे ही 'ईश्वर' अपनी पारमार्थिक गन्धसे जगत्को सुगन्धित बना देते हैं । यही कारण है कि यह जगत् ईश्वरभावसे युक्त हुआ प्रिय और सत्य-सा प्रतीत होता है ।

एक ही ईश्वर जगत्में किसप्रकार व्याप्त है, उसको कठोपनिषद्में इसप्रकार कहा है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

'जिसप्रकार इस लोकमें एक अग्नि काष्ठादिके रूपमें प्रविष्ट होकर जैसा काष्ठ आदिका आकार हो उसी रूपका हो जाता है, वैसे ही एक ईश्वर सर्व-भूतान्तरात्मा जिसप्रकारके जीवोंके प्रत्येक देहमें प्रवेश करता है वैसा ही वह बाह्यरूपसे हो जाता है। परन्तु अपने स्वरूपको सदैव अविकृत रखता है। ऐसे ही जिसप्रकार एक वायु इस लोकमें प्राणादि-रूपसे देह-गेहादिमें प्रवेश होकर जिसप्रकारका उनका आकार हो वैसा बन जाता है, वैसे ही यह सर्व-भूतोंके अन्तरात्मा एक ईश्वर जिसप्रकारके प्राणीमें प्रवेश करते हैं वैसे ही बाह्यरूपसे बन जाते हैं। परन्तु अपने स्वरूपको सदैव अविकृत रखते हैं। जिसप्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण लोकका चक्षु है पर चक्षुसे ग्रहण करनेयोग्य बाह्य विषयोंमें लिप्त नहीं हो सकता है, वैसे ही यह सब भूतोंके अन्तरात्मा एक 'ईश्वर' बाह्य लोकोंके दुःखसे लिप्त नहीं हो सकते । सबको अपने वशमें रखनेवाले वशी अर्थात् जगन्नियन्ता ईश्वर एक ही सब भूतोंके अन्तरात्मा हैं। वही एकसे अनेक प्रकारके रूपको करते हैं, उस आत्माको जो धीर पुरुष अपने शरीरस्थ हृदयाकाशमें देख लेते हैं, उन्हींको सनातन-सुखकी प्राप्ति होती है, अन्यको नहीं ।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

'हे कौन्तेय ! जलमें रसरूप मैं हूँ, सूर्य और चन्द्रमें प्रकाश मैं हूँ, सब वेदोंमें प्रणव मैं हूँ, आकाश-में शब्द मैं हूँ, पुरुषोंमें पराक्रम मैं हूँ । पृथिवीमें पुण्यगन्ध मैं हूँ, अग्निमें तेज मैं हूँ, सब भूतोंमें जीवन मैं हूँ और तपस्वियोंमें तप मैं हूँ । हे धनंजय!

मेरे सिवा और कुछ नहीं है; सूतमें पिरोये हुए मणियोंके समान मुझमें यह सब संसार गुँथा हुआ है।'

उन ईश्वरके दर्शन कैसे किये जा सकते हैं, इसपर कहा जाता है—

जहाँ जाकर मनसहित वाणी भी लौट आती है, उन अतीन्द्रिय तत्त्वका दर्शन 'दिव्यचक्षु' या दिव्य दृष्टिके बिना नहीं हो सकते। अतः दिव्यदृष्टि प्राप्त करके ईश्वर-दर्शन करना चाहिये। दिव्यदृष्टि कौन-सी है? और उसे किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं? उसको श्रीमद्भगवद्गीतामें इसप्रकार कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(गीता ६। २९)

'जिसका मन योगमें स्थिर हो गया है, उसकी दृष्टि सर्वत्र समान रहती है। अर्थात् उसे सिवा परमात्माके अन्य कोई नजर नहीं आता। इसीका नाम 'दिव्यदृष्टि' है। दिव्यदृष्टिवाला पुरुष अपनेको सब भूतोंमें तथा सब भूतोंको अपनेमें देखता है।' या—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
(गीता ६। ३०-३१)

'जो सबमें मुझको अर्थात् ईश्वरको और मुझमें सबको देखता है उसके लिये कभी मैं नष्ट नहीं होता और मेरे लिये वह कभी नष्ट नहीं होता। जो अभेदभावसे रहता है और सभी भूतोंमें मैं हूँ—यह जानकर मेरा (ईश्वरका) भजन करता है वह पुरुष सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही रहता है अर्थात् उसे सदैव मेरे दर्शन होते रहते हैं।' इसप्रकार ईश्वरको जान लेनेपर मनुष्य सब पापोंसे छूटकर जीवन्मुक्त हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

जो पुरुष मुझे अर्थात् ईश्वरको अजन्मा, अनादि और सर्वलोकोंका महान् ईश्वर जानता है, मनुष्योंमें वह ज्ञानवान् पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

अतएव 'ईश्वर एक है' उन्हें सदैव सर्व प्रकारसे भजना चाहिये। अन्यथा हमारी महान् हानि है। कारण, वेद आज्ञा करता है कि—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
(केनोपनिषद् २। ५)

इस जन्ममें यदि ईश्वरको जान लिया तब तो अच्छा है, अन्यथा उसके जाने बिना महान् हानि है। इसवास्ते धीर पुरुषको प्रत्येक प्राणियोंमें परमात्माको जानकर या साक्षात्कार करके इस लोकसे मरकर जानेके पहले ही अमर हो जाना चाहिये।

गीता-सार

सब तज हरि भज

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

श्यामा—हे बहिन ! आज मैं आपके मुखसे गीताका सार सुनना चाहती हूँ। यदि आप कहें कि तू तो कई बार विस्तारसे गीता श्रवण कर चुकी है, फिर गीताका सार क्यों सुनना चाहती है, तो इसका उत्तर यह है कि जैसे आम्रवृक्षमें आम्रफल और आम्रफलमें आम्ररस गुप्त रहता है, इसी प्रकार शास्त्रमें शास्त्रका रस गुप्त होता है, तीक्ष्णबुद्धि बहिन-भाई ही उस रसको चख सकते और उसका स्वाद ले सकते हैं, सभी उसका स्वाद नहीं ले सकते। जब उस रसको कोई चतुर पुरुष प्रकट कर देता है, तो सभी उसका स्वाद ले सकते हैं। सिवा इसके थोड़ी-सी बात जल्दी समझमें आ जाती है और फिर उसका विस्तार भी समझमें आ जाता है, इसलिये मैं आज आपके मुखसे गीता-सार सुननेकी इच्छा रखती हूँ।

कोकिला—(प्रसन्न होकर) बहिन! वेद समुद्र हैं, उपनिषद् वेदोंके सार हैं और गीता उपनिषदोंका सार है। जैसे समुद्र खारी है, इसी प्रकार वेद भी खारी हैं, जैसे समुद्रमेंसे लाया हुआ मेघोंका जल मीठा होता है, इसी प्रकार वेदोंके सार उपनिषद् मीठे हैं। जैसे मेघोंका जल मेघोंके बरसे बिना किसीको प्राप्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार उपनिषदोंका सार भी सन्त-महात्माओंके बताये बिना किसीके हाथ नहीं लग सकता, इसीलिये भगवान्ने उपनिषदोंका सार गीता निकालकर मनुष्यमात्रके लिये उपनिषदोंका रस सुलभ कर दिया है। गीतामें भी बहुत-से श्लोक ऐसे हैं कि जिनमेंसे प्रत्येकमें सम्पूर्ण गीताका सार निकल आता है और उस सारका पान करके बहिन-भाई भगवत्परायण होकर कृतकृत्य हो सकते हैं। उन्हीं श्लोकोंमेंसे उपर्युक्त एक श्लोकका सार, जो श्रीमद्भागवतसे भी सम्मत है, आज मैं तुझे अपनी बुद्धि-अनुसार सुनाती हूँ।

हे बहिन ! समस्त कर्म दोषरूप हैं, कोई कर्म निर्दोष नहीं है। जैसे अग्नि धूमसे रहित नहीं है, इसी प्रकार कोई कर्म दोषसे रहित नहीं है। यद्यपि कोई प्राणी कर्म किये बिना नहीं रह सकता, फिर भी कर्मका संकोच हो सकता है, इसलिये वेद और गीताकी ऐसी सम्मति है कि अपने-अपने वर्णाश्रमका कर्म करनेमें दोष नहीं है। दोष न हो इतना ही नहीं, परन्तु स्वधर्मका सकाम पालन करनेसे पितृलोक आदि उच्चलोकोंकी प्राप्ति होती है और फलकी इच्छा बिना कर्म करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, इसीलिये भगवान् निष्काम कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं, क्योंकि कर्म जड होनेसे फल देनेमें समर्थ नहीं है, मनुष्यकी इच्छा ही कर्म-फलका कारण है, इससे सिद्ध हुआ कि कर्म बन्धनका कारण नहीं, इच्छा ही बन्धनका कारण है, इसलिये श्रेयाभिलाषियोंको फलकी इच्छा न रखकर ईश्वरकी प्रीतिके लिये अपने-अपने अधिकारके कर्म करने चाहिये, ऐसा करनेसे कर्म बन्धनके कारण नहीं होंगे प्रत्युत अन्तःकरण शुद्ध करके कर्मके कर्ताको ईश्वरका बोध करावेंगे, ईश्वरका बोध होते ही फिर उस बहिन अथवा भाईके कल्याण होनेमें देर नहीं है।

हे बहिन ! जैसे यहाँ इस लोकमें व्यापारादिसे कमाया हुआ धन कुछ कालमें खर्च हो जाता है, इसी प्रकार परलोकके लिये किये हुए कर्मोंके फलोंका भी कुछ कालमें अन्त हो जाता है, इसलिये स्वर्गादिकी इच्छा भी निष्फल है और स्वर्गादिकी प्राप्ति भी अन्तमें दुःख देनेवाली ही है। ऊँचे चढ़कर

गिरनेमें जितना दुःख होता है, उतना पहलेसे ही गिरे हुएको नहीं होता, यह बात सबके अनुभव-सिद्ध है। धनीको निर्धन होनेमें जो कष्ट होता है, वह कष्ट जन्मके निर्धनीको नहीं होता, यह बात छोटे-बड़े सब जानते हैं। गीतामें भगवान्‌का वचन है कि ब्रह्मलोकतक सब लोक पुनरावृत्तिवाले हैं, मुझ ईश्वरको प्राप्त होनेसे फिर जन्म नहीं होता। इस भगवद्वचनके अनुसार कल्याणाभिलाषियोंको स्वर्गादिको भी परम यानी मुख्य न मानना चाहिये, किन्तु ईश्वरको ही परम मानना चाहिये, क्योंकि सुख तो नित्य वस्तुसे ही होता है, अनित्य वस्तु, जो आप ही नाशवान् है, किसीको सुख नहीं दे सकती। ईश्वर नित्य है, ईश्वरकी प्राप्तिसे ही सुखी होना सम्भव है, इसलिये ईश्वरको ही परम उत्तम समझकर ईश्वर-भजनमें लगना चाहिये। यही कल्याणका मार्ग है।

हे बहिन! ईश्वरका भजन करनेवाले ईश्वरके भक्त कहलाते हैं। उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ-भेदसे भक्त तीन प्रकारके हैं। उत्तम भक्त चराचर जगत्‌में एक ईश्वरको ही पूर्ण देखते हैं, उनके लिये कोई अपना-पराया नहीं होता अथवा यों कहना चाहिये कि उनके लिये सब अपने ही होते हैं, पराया कोई नहीं होता। वे सबसे प्यार करते हैं, व्यवहार यथासम्भव करते हैं, न किसीसे राग करते हैं, न द्वेष करते हैं, सब भूतोंमें समदर्शी होते हैं, सब भूतोंमें अपने आत्माको और अपने आत्मामें सब भूतोंको देखते हैं। न उनका कोई शत्रु होता है, न कोई मित्र होता है। वे सबहीके सुहृद् होते हैं और उनके भी सभी सुहृद् होते हैं। सबको मान देते हैं, आप मानापमानसे रहित होते हैं। किसीको वे उद्विग्न यानी अप्रसन्न नहीं करते, न आप किसी-से अप्रसन्न होते हैं। किसी कर्मका कभी आरम्भ नहीं करते, जो कुछ आ जाता है, उसीको कर लेते हैं। सुहृद्, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु, असाधु, ब्राह्मण, गौ, कुत्ता, चाण्डाल, हाथी, बकरी उनकी दृष्टिमें समान होते हैं, क्योंकि वे किसी-को भी अपने आत्मासे भिन्न नहीं समझते। न वे कभी किसीसे झगड़ा करते हैं, न वाद-विवाद करते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि जैसे हम सुख चाहते हैं, वैसे सभी सुख चाहते हैं, और जैसे हम दुःख नहीं चाहते, ऐसे ही अन्य भी दुःख नहीं चाहते। फिर किसीको दुखी क्यों करना चाहिये, जहाँतक सम्भव हो, सबको सुखी करनेकी ही चेष्टा करनी चाहिये, ऐसा समझकर वे किसीको भय नहीं दिखलाते और न आप किसीसे भय खाते हैं। वे सबको अभय देते हैं और खुद भी निर्भय होकर विचरते हैं। घरको अपना घर नहीं समझते, पुत्रको अपना पुत्र नहीं समझते, सबको ईश्वरका समझते हैं। एक दिन मैंने अपने पड़ोसकी मुखबोली काकीसे इसप्रकार पूछा--

मैं—काकी! आप पीहरसे कब आयीं? आपके बाल-बच्चे अच्छे हैं? मेरा प्रश्न सुनकर काकी हँस-कर कहने लगी।

काकी—बेटी! अभी दो दिन हुए आयी हूँ, सब अच्छे हैं, सब ईश्वरके हैं, मेरा कोई नहीं है, मेरी तो देह भी नहीं है, फिर मेरे बाल-बच्चे कैसे? एक कोठरीमें अनेकोंके नाल गाड़े जाते हैं परन्तु कोठरी कभी यह अभिमान नहीं करती कि मेरे इतने बच्चे हैं, तब नौ मासतक पेटरूप कोठरीमें रखनेसे मैं अपने बच्चे कैसे मान सकती हूँ? मैं तो एक यन्त्र हूँ, मुझ यन्त्रका चलानेवाला ईश्वर है, जैसे वह मुझे चलाता है, वैसे ही चलती रहती हूँ, फिर 'मेरा' और 'मैं' व्यर्थ ही है। सब शरीर ईश्वरके यन्त्र हैं, यन्त्रमें जो 'मैं' 'मेरा' ऐसा अभिमान करते हैं, वे दुखी होते हैं। यन्त्रमें जो 'मैं' 'मेरा' ऐसा अभिमान नहीं करते किन्तु यन्त्रको चलानेवाले ईश्वरकी शरण लेते हैं, वे सुखी रहते हैं। मैं तो ऐसा समझती हूँ कि न मैं देह हूँ, न मेरा देह है, न मेरे बच्चे हैं, सब ईश्वरके हैं, यथाशक्ति उनका पालन-पोषण करना मेरा कर्तव्य है, उनमें आसक्ति करना

मेरा काम नहीं है, उनके लिये चिन्ता करना भी मैं व्यर्थ समझती हूँ। जैसी हरि-इच्छा हो, वैसा हो, मुझे इससे कुछ प्रयोजन नहीं है।

हे बहिन! हरि-इच्छा मुख्य मानना और यथा-प्राप्तमें सन्तुष्ट रहना यह भी उत्तम भक्तोंका एक लक्षण है। हे बहिन! ईश्वर परमानन्दस्वरूप है, परमानन्दस्वरूप ईश्वरका अपनी बुद्धिसे स्पर्श करके उत्तम भक्त परमानन्दस्वरूप और पवित्र हो जाता है, उसे ऐसा आनन्द आता है कि फिर उसे स्त्री, पुत्रादि कोई पदार्थ अच्छा नहीं लगता, वह सर्वदा ईश्वरानुसन्धानमें ही लगा रहता है। हे बहिन! जैसा आनन्द ईश्वरानुसन्धानमें है, वैसा ब्रह्माके लोकमें भी नहीं है। ऐसा वेद-वेत्ताओंका मत है और मुझे भी सम्मत है। जो भाई-बहिन उस आनन्दको ही अपना सर्वस्व समझकर उसीमें मग्न रहते हैं वे ही सच्चे और उत्तम भक्त हैं। भगवान् स्वयं अपने मुखसे उनकी प्रशंसा करते हैं और उनको अपना आत्मा ही मानते हैं। ऐसे भक्तोंके लिये ही भगवान् कहते हैं कि 'मैं भक्तके अधीन हूँ।' भगवान्ने सनकादिके वचनसे अपने द्वारपालोंको वैकुण्ठसे निकाल दिया, इससे यही बात सिद्ध होती है कि भक्तोंका कोप होनेसे भगवान्‌के लोकमें रहनेवाले भी वहाँसे गिर जाते हैं और भक्तोंका अनुग्रह होनेसे दैत्यकुलमें होकर भी भवसागरसे तर जाते हैं जैसे कि प्रह्लाद दैत्य-कुलमें होकर भी नारदजीके अनुग्रह-से परम भागवत हो गये हैं, जिनको भगवान् अपनी विभूति बताते हैं कि दैत्योंमें मैं प्रह्लाद हूँ।'

हे बहिन! उत्तम भक्तोंका मैंने तुझे दिग्दर्शन कराया। भक्तोंकी महिमा कहनेमें शेष-शारदा भी समर्थ नहीं हैं, फिर अल्पबुद्धि मनुष्य अथवा स्त्रीकी शक्ति ही कहाँ है, जो उसका वर्णन कर सके। जलरूप गङ्गामें स्नान करनेसे ही सब पाप धुल जाते हैं और जीव उत्तम गति पाता है, तो भक्तिरूपी गङ्गामें स्नान करनेसे प्राणीके पाप धुल जायँ और वह परम-शान्तिको प्राप्त हो जाय, इसमें आश्चर्य ही क्या है? भक्तिसे कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं है, सच्चे भक्त धर्म, अर्थ और कामकी तो बात ही क्या है, अपुनर्भवरूप कैवल्य-मुक्तिकी भी इच्छा नहीं करते, करें भी क्यों? भक्तोंको मुक्ति तो बासी रोटीके समान मिली हुई ही रक्खी है।

हे बहिन! मध्यम भक्तोंके लक्षण सुन। मध्यम भक्त सब प्राणियोंको प्यार नहीं करते किन्तु भगवत् और भगवत्‌के भक्तोंको ही प्यार करते हैं। सुखी पुरुषोंसे मित्रता करते हैं यानी सुखी पुरुषोंको देख-कर सुखी होते हैं, उनसे ईर्ष्या नहीं करते। दुखी पुरुषोंपर करुणा करते हैं यानी दुखी पुरुषोंको देखकर स्वयं दुःखी हो जाते हैं और उनका दुःख मिटानेका यथाशक्ति यथाधिकार प्रयत्न करते हैं, पुण्यात्मा पुरुषोंका सहवास करते हैं और दुष्ट पुरुषोंकी उपेक्षा करते हैं यानी न तो उनसे प्रेम ही करते हैं और न उनसे द्वेष ही करते हैं, यथा-सम्भव उनसे दूर ही रहते हैं। निर्वाहमात्र उनसे व्यवहार कर लेते हैं अथवा नहीं भी करते। ये मध्यम भक्त भी भगवत्-भक्तोंके संगसे उनकी रहन-सहन देखकर कुछ दिनोंमें उत्तम भक्त हो जाते हैं। 'जैसा संग वैसा रंग' यह बात प्रसिद्ध है।

हे बहिन! तीसरे प्रकारके कनिष्ठ भक्त केवल भगवत्‌की मूर्तिमें प्रेम करते हैं, भगवद्भक्तोंमें प्रेम नहीं करते। जब वे भक्तोंमें ही प्रेम नहीं करते, तो अन्यमें तो करें ही कहाँसे? षोडशोपचारोंसे भगवान्‌का पूजन करते हैं, उन्हींमें प्रेम करते हैं, थोड़े दिनोंमें भगवान्‌का पूजन करनेसे जब उनकी बुद्धि शुद्ध होने लगती है, तब वे भगवद्भक्तोंसे भी प्रीति करने लगते हैं और धीरे-धीरे सबमें प्रीति करने लगते हैं, इसप्रकार कनिष्ठ भक्त भी एक दिन उत्तम भक्त हो जाते हैं।

हे बहिन! तीनों प्रकारके भक्त उत्तम ही हैं, वे तो देर-सवेर अपना उद्धार कर ही लेंगे! शोक

तो उनके लिये है, जो किसी प्रकारकी भी भगवद्भक्ति नहीं करते, भोगोंमें ही रचे-पचे रहते हैं, भोगोंके लिये किसीको मित्र बनाते हैं, किसीको शत्रु मानते हैं, किसीसे राग करते हैं, किसीसे द्वेष करते हैं। न धर्मको समझते हैं, न अधर्म करनेमें भय मानते हैं, शास्त्रको अप्रमाण मानते हैं, ब्राह्मणों और भगवत्-के भक्तोंकी निन्दा करते हैं, अपनी बुद्धिको ही श्रेष्ठ मानते हैं, धन ही जिनका ईश्वर है, भोग ही जिनका ध्येय है, ऐसे पुरुषोंके लिये विद्वान् शोक करते हैं, क्योंकि ऐसे लोग अपनी हानि तो करते ही हैं, अपने साथियोंकी भी हानि ही करते हैं। न मालूम वे कबतक अन्धकूप संसारमें गिरते और मरते रहेंगे।

हे बहिन! पति, पुत्र, स्त्री, स्वजन, धन, धाम, धरा आदि सब ईश्वरके नातेसे ही प्यारे हैं, नहीं तो इन सबकी आसक्ति भगवद्भक्तिमें बाधारूप है। जबतक संसारके किसी पदार्थमें आसक्ति होगी, तबतक भगवद्भजनमें मन नहीं लग सकता, इसलिये श्रेयाभिलाषियोंको इन सबका संग त्याग देना चाहिये। संग बाहर और भीतरके भेदसे दो प्रकार-का है। बाहरका संग दुःखरूप नहीं है, प्रत्युत भगवद्भक्तिमें सहायक है, क्योंकि लौकिक, पार-लौकिक अथवा परमार्थका कोई कार्य सहायता बिना नहीं हो सकता, लौकिक कार्योंमें लोकव्यवहारके जाननेवालोंकी आवश्यकता है, पारलौकिक कार्योंमें परलोकके ज्ञाता मनुष्योंकी और परलोककी सूचना देनेवाले शास्त्रोंकी अपेक्षा है और परमार्थके साधनोंके लिये परमार्थको जाननेवाले गुरु-शास्त्रों-की सहायता लेनी पड़ती है, इसलिये बाहरका संग त्याज्य नहीं है, भीतरका संग ही त्यागने योग्य है। भीतरके संगका नाम ही आसक्ति है। अनुकूल वस्तुकी प्राप्तिमें हर्ष और अप्राप्तिमें शोक करना और प्रतिकूल वस्तुकी अप्राप्तिमें हर्ष और प्राप्तिमें शोक करना, इसीका नाम आसक्ति है और यथा-प्राप्तमें सन्तुष्ट रहनेका नाम अनासक्ति है। आसक्ति दुःखका कारण है और अनासक्ति सुखका हेतु है।

एक प्रौढा बहिनका एम० ए०, एल-एल० बी० पास किया हुआ जवान लड़का अचानक मर गया, बेचारी दो-चार आँसू बहाकर हरि-इच्छा समझकर सन्तोष करके चुप हो गयी, अपना काय करने लगी। एक युवती बहिन दूसरे-तीसरे दिन आकर उससे कहने लगी—

युवती—हे बहिन! मैंने सुना है कि आपके ऊपर बुढ़ापेमें ईश्वरने वज्र डाल दिया, यह बड़े शोककी बात है।

प्रौढा—हे बहिन! जो हो गया, सो हो गया, अब तू मुझे उसका स्मरण मत करा। स्मरण करने-से ही दुःख होता है, स्मरण ही संसार है, ईश्वर जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है, बुरा-भला जो कुछ होता है, हमारे कर्मोंसे होता है, ईश्वर तो न्यायी है, न्यायी होनेसे ही निर्दोष है। बहिन! शोक किस बातका है? जो जन्मता है, अवश्य मरता है, कोई दो दिन आगे, कोई दो दिन पीछे। यहाँ रहने तो कोई पाता नहीं। जब यहाँ कोई रहने ही नहीं पाता, तो फिर शोक कैसा? ईश्वरकी वस्तु थी, ईश्वरने दी थी, ईश्वरने ले ली। इसमें किसी-का क्या?

हे बहिन! प्रौढाकी युक्तियुक्त बात सुनकर और उसकी पुत्रमें आसक्ति न देखकर युवती बहिन आश्चर्य करने लगी। हे बहिन! यह आसक्ति ही सब अनर्थोंका कारण है, कुटुम्बमें आसक्ति करके ही अर्जुन शूर होकर भी कायर, धीर होकर भी अधीर और ज्ञानी होकर भी अज्ञानी हो गया था, और क्षत्रियके स्वधर्मरूप युद्धसे विमुख होता था। यह आसक्ति सूझतोंको भी अन्धा, सुनते हुओंको भी बहिरा और बुद्धिवालोंको भी अबुद्धि बना देती है, भगवान्‌ने अध्याय २ के ११ वें श्लोकसे लेकर ३० वें श्लोकतक आत्माका स्वरूप समझाया

है। जिसका सार यह है कि सब देहोंमें एक ही देही यानी आत्मा है, वह न जन्म लेता है, न मरता है, न कुछ करता है, न कुछ कराता है, न उसको पुण्य लगता है, न पाप लगता है। वह तो सर्वदा एकरस, अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है, देहोंके मरनेसे वह नहीं मरता। पश्चात् सात श्लोकोंसे भगवान्ने यह समझाया है कि स्वधर्मका पालन करनेसे पाप नहीं होता, उलटा पुण्य होता है और लोकमें भी कीर्ति होती है। पश्चात् असक्त होकर यानी आसक्ति छोड़कर कर्म करनेको भगवान्ने बारम्बार समझाया है। यह आसक्ति सूक्ष्म, स्थूलभेदसे कई प्रकारकी है। प्राणकी, इन्द्रियकी, देहकी, कुटुम्बकी और धनकी यह पाँच प्रकारकी आसक्ति है। धनमें आसक्ति करनेवाले सबसे मूढ हैं, कुटुम्बमें आसक्ति करनेवाले धनमें आसक्ति करनेवालोंसे कम मूढ हैं, इसी प्रकार देह, इन्द्रिय और प्राणमें आसक्ति करनेवाले पूर्वकी अपेक्षा पिछलोंमें आसक्ति करनेसे कम-से-कम मूढ हैं। जो कोई इनमेंसे किसीमें आसक्ति नहीं करता, वह विद्वान् है और वही सच्चा भक्त है। आसक्तिके कारण ही प्राणी परस्पर वैर करते हैं, जो आसक्तिसे रहित होता है, वह किसीसे वैर नहीं करता, वह निर्वैर होता है और निर्वैर पुरुषको ईश्वरकी प्राप्ति होनेमें देर नहीं है।

हे कल्याणी! जो ईश्वरकी प्रीतिके लिये कर्म करता है, ईश्वरको सर्वोत्तम सर्वोपरि जानता है, ईश्वरका भक्त होता है, संग यानी आसक्तिसे रहित होता है और निर्वैर होता है, वह ईश्वरको प्राप्त होता है। यही इस श्लोकका संक्षेपसे अर्थ है और यही गीताका सार है। एक विद्वान् इस श्लोकका अर्थ इसप्रकार करता है कि जो ईश्वरकी प्रीतिके लिये कर्म करता है, वह निर्मल अन्तःकरणवाला हो जाता है। अन्तःकरण निर्मल होनेसे वह ईश्वरको परम समझने लगता है। फिर वह कर्म नहीं करता किन्तु ईश्वरकी भक्ति ही करता है, जैसा कि भगवान्ने 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' इस अन्तके श्लोकसे कहा है। ईश्वरकी भक्ति करनेसे भक्त सर्व संगसे रहित हो जाता है और सबमें निर्वैर भी हो जाता है। निर्वैर होनेसे वह ईश्वरको प्राप्त होता है। यही गीताका सार है। हे बहिन! मैं तो 'सब तज, हरि भज' इतना ही गीताका सार समझी हूँ।

कुं०—काहूसे ना मित्रता, ना काहूसे वैर।
सबसे हिलमिल चालिये, क्या अपना क्या गैर॥
क्या अपना क्या गैर, सर्वमें कृष्ण निहारे।
सच्चे जाने कृष्ण, सर्व मिथ्या निर्धारे॥
जयदेवी! मृदु बोल, अमृदु बोले ताहूसे।
जीवन है दिन चार, वैर मत कर काहूसे॥

भरम भुलाना!

साधो सब जग भरम भुलाना।
राम-नामका सुमरन छोड्या मायाहाथ बिकाना॥
मात-पिता-भ्राता-सुत-बनिता तिन्हके रस लपटाना।
जोबन-धन-प्रभुताके मदमें दिनानिसि रहत दिवाना॥
दीनदयाल सदा दुखभंजन तासों मन न लगाना।
जन नानक कोटिनमें किनहूँ गुरुमुख होइ पहिचाना॥

—गुरु नानकदेव

वाल्मीकि-रामायण और भगवच्छरणागति

(लेखक--साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, भट्ट, कविरत्न)

(गताङ्कसे आगे)

[पहले प्रसङ्ग हो चुका है कि रावणके द्वारा तिरस्कृत विभीषण समुद्रके दूसरे तटपर भगवान् श्रीरामचन्द्रके सेना-सन्निवेशमें पहुँचे। सुग्रीवादिने जैसे ही उनपर सन्देहकी कठोर दृष्टि डाली, वह आकाशमें स्थित रहकर ही सुग्रीवादिके द्वारा अपनी प्रार्थना पहुँचाते हैं कि मैं भगवान् श्रीरामचन्द्रकी शरणमें उपस्थित हुआ हूँ, शीघ्र मेरी सूचना दीजिये ।]

विभीषणके इस वचनको सुनकर शिविररक्षाके नायक, शीघ्रगामी सुग्रीव भगवान् श्रीरामचन्द्रके समीप पहुँचे। उनकी भगवान् श्रीरामचन्द्रमें अत्यन्त प्रीति थी। अत्यन्त स्नेहीके हृदयमें अनिष्टकी शङ्का पद-पदमें हुआ ही करती है। इसलिये स्नेहातिशयसे रामकी अमोघ शक्तिको भूलकर 'पता नहीं, शत्रुपक्षसे आया हुआ यह क्रूरहृदय क्या अनिष्ट कर डाले' इस भय-व्याकुलताके कारण बड़ी हड़बड़ाहटसे वह निवेदन करने लगे।

महर्षिने यहाँ कहा है *'लक्ष्मणस्याग्रतः'* 'श्रीलक्ष्मणके सम्मुख।' तात्पर्य यह है कि श्रीराममें सुग्रीवकी जितनी प्रीति थी उससे कई गुनी अधिक श्रीलक्ष्मणकी थी। इसलिये रामहिताकाङ्क्षी श्रीलक्ष्मण अवश्य मेरी इस समय सहायता करेंगे, शत्रुपक्षसे आये हुए विभीषणको कभी नहीं आने देंगे, इसीलिये कहते हैं *'लक्ष्मणस्याग्रतः'* ।

१९ से लेकर २९ तकके ११ श्लोकोंमें सुग्रीवका वक्तव्य है। इसमें राजनैतिक दृष्टिसे उन्होंने जो कुछ कहा है, उसका सारांश यह है कि—'आपको राजनीतिके अनुसार मौकेकी सलाह करना, दूतोंका प्रेषण, सेनाका समुचित सन्निवेश इत्यादि कार्योंमें सावधान रहनेकी आवश्यकता है। इसीमें आपका और आपके सहायक वानरोंका हित है। राक्षसलोग बड़े मायावी होते हैं। नाना रूप बना सकते हैं। इनका विश्वास करना उचित नहीं। जहाँतक सम्भव है यह रावणका भेजा हुआ होगा, जो यहाँ भेद लेने आ रहा है। और यह भी कोई आश्चर्य नहीं कि यह स्वयं रावण ही हो, जो विश्वास पैदा करनेके बाद मौका देखकर घात करे। इसने जो कुछ अपने मुखसे कहा है उससे यह मालूम हुआ है कि यह विभीषण नामका रावणका छोटा भाई है, जिसके साथ चार राक्षस भी आये हैं। मेरी समझसे जरूर यह रावणका भेजा हुआ है, छलसे यहाँ आया है। अवसरपर दगा देगा। विभीषणके द्वारा शत्रुपक्षका कुछ भेद मालूम होनेसे आगे सहायता मिले, ऐसी आशा करनी भी उचित नहीं। क्योंकि नीतिका सिद्धान्त है कि अपने मित्र, भृत्य आदिके पक्षसे जो सहायता मिले वही ले। शत्रुपक्षवालोंसे किसी प्रकारका सम्पर्क न रक्खे। अतएव मेरी रायमें इसको ऐसा तीव्र दण्ड देना चाहिये कि जिसे यह भी याद रक्खे।'

भगवान् श्रीरामचन्द्रने संरम्भमें भरे हुए सुग्रीवका यह भाषण बड़े धैर्यसे सुना। समीपमें बैठे हुए श्रीमारुति प्रभृतिकी ओर दीनसञ्जीवनी स्निग्ध-दृष्टि डालते हुए आपने कहा—'कपिराजने रावणानुजके विषयमें जो कुछ कहा है वह *'भवद्भिरपि च श्रुतम्'* 'आपलोगोंने भी सुना ही है।' उनका वाक्य हेतुयुक्त है। उन्होंने अपने वक्तव्यमें नीतिके उपयुक्त ही सब

उपपत्तियाँ दी हैं। कर्तव्य और अकर्तव्यके संकट उपस्थित होनेपर मित्रोंको केवल समुचित सलाह ही नहीं, *'उपसन्देष्टुं युक्तम्'* 'उचित उपदेश भी देना आवश्यक है।' किन्तु इस विषयमें आप सब लोगोंका क्या-क्या अभिमत है, यह मैं जानना चाहता हूँ।' यों बड़े आदर और स्नेहके साथ जब आपने प्रश्न किया तो सभी समीपस्थितोंने सविनय यह निवेदन किया कि—'आपसे छिपा हुआ क्या है ? त्रिलोकीकी सब बात आप जानते हैं किन्तु *'आत्मानं सूचयन् राम पृच्छस्यस्मान् सुहृत्तया'* 'हमलोगोंके साथ अपना मित्रभाव सूचित करके हमारा सम्मान बढ़ाते हुए आप ऐसा पूछ रहे हैं।' कहीं *'आत्मानं पूजयन्'* ऐसा भी पाठ है। उसका अर्थ है *'आत्मानं आत्मस्वभावं पूजयन् पालयन्'* आपका स्वभाव है कि सभी आत्मीयोंको अन्तरङ्ग बनाते हुए आप उन्हें सम्मान दिया करते हैं। अतएव अपने दक्षिण स्वभावके अनुसार आपने ऐसा प्रश्न किया है। अथवा—*'सुहृत्तया शोभनहृदयतया आत्मानं पूजयन् ख्यापयन् पृच्छसि'* कार्याकार्य-विचारमें हम सबलोगोंकी अपेक्षा आप ही शोभनहृदय हैं अर्थात् आपके हृदयका ही लक्ष्य ठीक स्थानपर पहुँचता है, यह अपना प्रभाव प्रकट करनेके लिये आप ऐसा प्रश्न कर रहे हैं।

वानरोंके इस कथनमें भी बड़ा गूढ अर्थ भरा हुआ है। भगवान् श्रीरामचन्द्र राजनीति-चतुर, दक्षिण नायक हैं तो उनके पारिपार्श्विक भी उन्हींकी सेवाके समुचित मार्मिक सचिव हैं। वे इस कथनसे ध्वनित करते हैं कि आप हमलोगोंसे हमारे मत पूछकर उन्हें पूर्वपक्ष बनाते हुए अपने हृदयके अभिमतको सिद्धान्त करना चाहते हैं। अर्थात् इस समय जो कुछ कर्तव्य है वह तो आपने अपने हृदयमें पहलेसे ही स्थिर कर रक्खा है किन्तु हमलोगोंसे मत पूछकर उनके द्वारा उस कर्तव्यको सिद्धान्तित करना चाहते हैं। 'सब लोगोंके यह मत यद्यपि यहाँ उपस्थित हैं किन्तु यहाँ सिद्धान्त होना यही उचित है' यह दिखाना चाहते हैं, सो ठीक है। हमारे सब मत पूर्वपक्षकोटिमें रहकर दुर्बल सिद्ध होंगे और सिद्धान्त रहता हुआ आपका ही विचार यहाँ ठीक है, यों आपका गौरव सबपर प्रकट हो जायगा। अतएव यहाँ महर्षिके अक्षर हैं *'आत्मानं पूजयन्'* 'बाहर चाहे आप हमारी प्रतिष्ठा सूचित करते हों किन्तु वास्तवमें आप अपना ही प्रभाव प्रकट करते हुए ऐसा पूछ रहे हैं।' आप सत्यव्रत हैं, *'सुहृत्सु निसृष्टात्मा'* हैं, मित्रोंपर सब कुछ भरोसा रखते हैं, परीक्ष्यकारी हैं अर्थात् सब कुछ सोच-विचारकर करनेवाले हैं। यहाँ ध्वनिसे सूचित करते हैं कि 'हमको दृढ विश्वास है, शरणागतको आश्रय देनेके इस अपने व्रतको आप कभी शिथिल नहीं करेंगे, किन्तु अपने आत्मीयोंका भरोसा करते हुए अपने सिद्धान्तकी परीक्षा करके ही आप आगे कुछ करना चाहते हैं।'

अनन्तर प्रत्येक सचिव अपना-अपना मत कहने लगे। पहले युवराज अङ्गदने कहा—'शत्रुके पक्षसे यह आ रहा है इसलिये यह शङ्कनीय अवश्य है। नीतिके अनुसार इस समय सूक्ष्म विचार करना आवश्यक हो पड़ा है। मेरी रायमें आगत व्यक्तिके संग्रहमें गुण-दोषोंका विचार कर लेना चाहिये। यदि इसके लेनेमें गुण अधिक है तब यह चाहे शत्रुपक्षका ही क्यों न हो, लाभकी दृष्टिसे ले लेना चाहिये। और यदि दोष हैं तो फिर निःशङ्क त्याग कर देना चाहिये।'

शरभका मत हुआ कि—'पहले इसके पास गुप्त-दूत भेजना चाहिये, परीक्षा करके फिर स्वीकार करना उचित है।'

जाम्बवान्ने तो साफ कह दिया कि—'जिससे हमारा दृढ़ वैर बँध चुका और जो सर्वत्र पापकारी

नामसे प्रसिद्ध है उस रावणके पाससे यह आ रहा है और ऐसे समयमें जब कि उसपर सङ्कट है, तब अनवसरपर आये हुए इसपर हमें पूर्ण शङ्का ही होनी चाहिये।'

नीति-तत्त्वज्ञ मैन्दने कहा कि—'यह रावणका भाई बतलाया जाता है अतएव मेरी रायमें इससे शान्तिपूर्वक पहले बातचीत करनी चाहिये। बातचीतमें इसके मनका भाव विदित हो जायगा। यदि यह दुष्ट है तो त्याग देना चाहिये और यदि इसमें दोष साबित न हों तो इसका संग्रह होना उचित है।'

श्रीमान् मारुति सब बातें चुपचाप सुनते रहे। जब उनका अवसर आया तब बड़े धैर्यसे विचार-पूर्वक कहने लगे। महर्षि उनके लिये कहते हैं—*'संस्कारसम्पन्नः'*। अन्यान्य सचिवोंने तो नीति-शास्त्रके अनुसार जो कुछ बात ध्यानमें आयी वही कह दी थी, किन्तु इन्होंने उस नीतिका भी अपने विवेकके अनुसार संस्कार (परिष्कार) कर लिया था अर्थात् नीतिमें जो कुछ परिष्कृत उदार नीति थी उसके यह पक्षपाती थे, इसीलिये इनको विशेषण देते हैं *'संस्कारसम्पन्नः'*। श्रीहनूमान् बहुत अर्थवान् होनेपर भी स्वल्पाक्षर वचन कहने लगे—'मुझे निश्चय है कि इस विषयमें अनुकूल सम्मति देते हुए बृहस्पति भी आपसे आगे नहीं बढ़ सकेंगे। मुझे न किसीके मतकी स्पर्द्धा है और न मुझे विवाद ही अभीष्ट है। मेरी समझमें जो कुछ इस समय आया है वह निवेदन करना ही पड़ेगा, क्योंकि *'तव गौरवात्'*। आपने मुझे भी अपने सलाहकारोंमें सम्मिलित करके सम्मान दे रक्खा है। उस आपके दिये हुए गौरवके कारण जो कुछ इस समय सूझ पड़ा है वही निवेदन करता हूँ।' सचिवोत्तम हनूमान्ने यद्यपि प्रत्येकके मतकी आलोचना कर डाली थी किन्तु किसीका भी नाम निर्देश न कर वह अपने विचारानुसार उन-उन मतोंके गुण-दोष निवेदन करने लगे। कहा कि—'इस आगत व्यक्तिके स्वीकारमें इसके गुण-दोषोंकी परीक्षा करने-का इस समय अवकाश नहीं। क्योंकि जबतक किसी काममें किसीको नियुक्त नहीं किया जाता तबतक उसके सामर्थ्यकी, उसमें रहनेवाले गुण-दोषोंकी परीक्षा कैसे हो सकती है? और इसको किसी काममें सहसा विनियुक्त कर देना भी उचित नहीं प्रतीत होता। अतएव गुण-दोषकी परीक्षापूर्वक संग्रह करना यहाँ ठीक नहीं बनता।

[अङ्गदका मत था कि गुण-दोष जाँचकर इसको स्वीकार करना चाहिये। मारुति उस मतका चातुर्यसे खण्डन करते हुए कहते हैं कि इस मतमें अन्योन्याश्रय दोष है। जबतक गुण-दोष न जाँच लिये जायँ तबतक न तो इसको स्वीकार किया जा सकता है और न किसी कामपर मुकर्रर ही किया जा सकता है और जबतक किसी कामपर विनियुक्त न किया जाय तब-तक इसके गुण-दोषकी वास्तविक परीक्षा ही कैसे हो सकती है]।

अनवसरमें यह आया है इसलिये इसका विश्वास ही न किया जाय, यह बात भी नहीं जँचती। क्योंकि रावणमें इसने बहुत कालसे दोष-ही-दोष देखे हैं और आपके पराक्रम आदि गुण बाली-सदृश वीरोंके दमनसे सब जगह प्रसिद्ध हो चुके हैं। अतएव दोषीका त्याग करके आप जगद्विख्यात, पराक्रमीके पास इस समय इसका आ जाना क्या अनवसर कहा जा सकता है?

दूत भेजकर 'तुम कौन हो, कैसे आये हो' इत्यादि पूछा जाय यह भी ठीक नहीं मालूम होता। क्योंकि आते ही 'तुम कैसे आये हो?' इत्यादि प्रश्नोंसे बुद्धिमान् पुरुषको शङ्का हो जाती है। फिर शंकितचित्त पुरुष अपने हृदयका भाव सच्चा-सच्चा कहेगा ही कैसे? तब दूतद्वारा प्रश्नसे क्या फल हुआ? इस प्रश्नके पक्षमें और भी एक दोष है। यदि अपना मित्र हुआ तो

उससे आते ही 'तुम कैसे आये हो' यह प्रश्न करना उचित नहीं, क्योंकि मिलनेसे पहले 'तुम कैसे आये हो ?' इस प्रश्नसे मित्रको दुःख होता है । दूसरे यह भी तो कठिन है कि दूत जाते ही जान जाय कि यह मित्र है या शत्रु । किसीके मनके भावको जान लेना क्या इतना सहज है ? इसलिये हनूमान् कहते हैं कि मुझे तो इस आगत व्यक्तिपर बुरा सन्देह है ही नहीं । क्योंकि इसके कथनमें कोई दुष्टभाव नहीं पाया गया । स्वरमें भी कोई कपटका चिह्न नहीं प्रतीत हुआ और इसके मुखपर प्रसन्नभाव स्पष्ट दिखायी दे रहा है जो दगा करनेवालेके मुखपर कभी नहीं देखा जाता । दुष्ट भाववाला आदमी अपने मनके भावको चाहे जितना छिपावे, उसके आकार-प्रकारसे उसका वह प्रतीत हुए बिना नहीं रहता । मैं तो समझता हूँ कि इसके यहाँ आनेका यह अवसर भी है । जब इसने यह सुना कि बाली-सदृश पराक्रमीको श्रीरामने सहज ही मारकर उसके स्थानपर सुग्रीवको बैठा दिया है और सुग्रीवसे पूर्ण मित्रता भी कर ली है, तब निरन्तर दोषी और जगत्मात्रको पीड़ित करनेवाले रावणको छोड़कर यह किसी आन्तरिक आशासे यहाँ आया हो तो कोई नवीन बात नहीं । अतएव मेरी सम्मति तो इसके स्वीकारके पक्षमें है, आगे आप स्वामी हैं । आपसे बढ़कर नीति-तत्त्वज्ञ और कौन होगा ?' [श्लो० ६८, यु० का० १७ वाँ सर्ग]

भगवान् श्रीरामचन्द्र प्रसन्न होकर सबका मत सुन रहे थे । जब वायुतनय यह कह चुके तब आप बड़े विनयसे अपना अभिमत कहने लगे । महर्षिने यहाँ कहा है—*'आत्मनि स्थितं प्रत्यभाषत'* अर्थात् इस सलाह लेनेके पहले ही आपने अपना कर्तव्य अपने मनमें स्थिर कर लिया था । शरणागत विभीषणको आश्रय देना आपने उसी समय स्थिर कर लिया था जिस समय इसका प्रसङ्ग चला ही नहीं था । किन्तु सबसे सलाह लेना उनपर आपका अनुग्रह करना था । अतएव आप जब सबकी सलाह सुन चुके तब जो कुछ आपके अन्तःकरणमें पहलेसे निश्चित किया हुआ 'स्थित' था, उसे कहने लगे । आपके कहनेके प्रकार-पर भी भलीभाँति ध्यान देना होगा । आप सब सेनाके स्वामी हैं । सब आपके सेवक हैं, और तो क्या किष्किन्धाधिपति सुग्रीवपर भी आपका वह अहसान था जिसका प्रतीकार हो नहीं सकता । किष्किन्धाके राज्यकी तो क्या चलायी, वह बालीके डरसे पहले स्वच्छन्द घूम-फिर भी नहीं सकते थे । ऋष्यमूककी गुफामें मूक हुए पड़े रहते थे । आज यह श्रीरामचन्द्र-का ही अनुग्रह है कि इतनी बड़ी वानर और ऋक्ष-सेनाके वह सर्वप्रधान नायक हैं, किन्तु फिर भी भगवान् श्रीरामचन्द्र किस विनय और दाक्षिण्यसे अपना अभिमत कहते हैं, इसपर लक्ष्य देना चाहिये । आप कहते हैं—*'ममापि च विवक्षास्ति काचित्प्रति विभीषणम्'* 'विभीषणके प्रति अर्थात् विभीषणके विषयमें मुझे भी कुछ कहनेकी इच्छा है ।' तात्पर्य यह है कि 'आप-लोग तो सब कुछ कह ही चुके हैं परन्तु आपके पक्षोंके साथ गणना हो जाने योग्य मेरी भी कुछ कहनेकी इच्छा है । किन्तु *'तत्सर्वं भवद्भिः श्रोतुमिच्छामि'* 'आपलोगोंको सुनाकर उस सब वक्तव्यकी परीक्षा करा लेना चाहता हूँ ।' कहना चाहिये था *'भवतः श्रावयितुमिच्छामि'* 'आपलोगोंको सुना देना चाहता हूँ' किन्तु कहा है—*'भवद्भिः श्रोतुमिच्छामि'* इसमें गूढ ध्वनि यह है कि मैंने अपने विचारके अनुसार तो सब कुछ निश्चित कर रक्खा है किन्तु मुझसे आपलोगोंका अनुरोध टाला नहीं जा सकता । अतएव जबतक आपलोग उसपर सम्मति न कर दें, तबतक मैं उस वक्तव्यको कार्यरूपमें परिणत करने योग्य नहीं समझता । इसलिये वह मेरा कथन आप सबकी सम्मति होकर स्थिरीकृत हुआ कि नहीं, यह

आपलोगोंसे ही सुनना चाहता हूँ । अकेले मेरे कहने-भरसे क्या होता है ।' इसी आशयके कारण इतने चक्करसे महर्षि बोलते हैं कि *'तत्सर्वं भवद्भिः श्रोतुमिच्छामि ।'*

इसके आगे भगवान् श्रीरामचन्द्रका जो कुछ कथन है वह इस शरणागति-वर्णनमें सर्वप्रधान गिना जाने योग्य है । जिनके पास शरण ग्रहण करनेकी आशा लिये विभीषण बड़ी दूरसे आये थे और जिनकी सेवामें अपनी आर्त प्रार्थना बड़े आशाभरे अन्तःकरणसे सदैन्य पहुँचाकर उत्तरकी प्रतीक्षा कर रहे थे वह श्रीरामचन्द्र पक्ष-प्रतिपक्षका कथन सुनकर अब क्या आज्ञा देते हैं, यह प्रसंग यहींसे आरम्भ होता है । दयावतार भगवान् श्रीरामचन्द्रने एक श्लोकमात्रमें अपना सब कुछ वक्तव्य कह दिया । यद्यपि आगे फिर इसपर सुग्रीवादिके उत्तर-प्रत्युत्तर होंगे किन्तु भगवान्ने अपना स्वभाव, कर्तव्य, नीति, सिद्धान्त, सब कुछ केवल इन बत्तीस अक्षरोंमें इस दृढ़तासे कह दिया है जो आगेकी बड़ी-बड़ी लम्बी दलीलोंसे भी जरा नहीं हिल सका है । खण्डन-मण्डन बहुत कुछ हुआ परन्तु अखीरमें वही स्थिर रहा जो इन बत्तीस अक्षरोंमें कहा है । अथवा यों समझिये—महर्षि वाल्मीकिके यह बत्तीस अक्षर क्या थे मानो बत्तीस दाँत थे । इस बत्तीसीसे यहाँ जो कुछ निकल गया वही आगेतकके लिये सच्चा सिद्ध हो गया । सावधानीसे सुनिये, वे बत्तीस अक्षर ये हैं—

'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन ।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम् ॥'

इसका अक्षरार्थ है कि—'मित्रभावसे प्राप्त हुए पुरुषका मैं किसी तरह भी त्याग नहीं करता । यद्यपि उसका कुछ दोष भी हो तो भी मैं उसे नहीं छोड़ता । क्योंकि मित्र भावसे प्राप्त हुए दोषीका भी संग्रह करना सज्जनोंके मतसे गर्हित नहीं ।'

यहाँ प्रसङ्ग तो शरणागतिका चल रहा है, इसलिये कहना तो यों चाहिये कि *'शरणागतभावेन प्राप्तं न त्यजेयम्'* 'शरणागतिके भावको लेकर जो कोई आता है उसे मैं नहीं छोड़ सकता' परन्तु यहाँ कहते हैं *'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्'* 'मित्रभावसे प्राप्त हुएको ।' भगवान्का आगे प्रतिज्ञा-वाक्य है कि *'सकृदेव प्रपन्नाय अभयं ददामि'* 'एक बार भी जो 'प्रपन्न' अथवा 'शरणागत' हो जाता है उसे मैं अभय दे देता हूँ' । इस प्रतिज्ञावाक्यमें भी 'प्रपन्न' (शरणागत) शब्द आया है । उस हिसाबसे यहाँ भी *'शरणागतभावेन'* कहना चाहिये था । ठीक है, यह शङ्का हो सकती है । इसका कुछ लोगोंने तो यह उत्तर दिया है कि 'मित्रभावेन' यह उपलक्षणमात्र है । महर्षिका तात्पर्य है कि मित्रत्व, दासत्वादिकी भावनाको लेकर जो कोई आता है उसे मैं नहीं छोड़ता ।

दूसरे भक्त यह समाधान करते हैं कि यहाँ प्रसङ्ग चल रहा है शरणागतिका । विभीषण उस शरणागतिका आरम्भ करते हुए कहते हैं—*'राघवं शरणं गतः'* 'मैं श्रीराघवकी शरण आया हूँ ।' अन्तमें भी वह कहेंगे—*'शरण्यं शरणं गतः'* 'जो शरण जानेके योग्य हैं उनके शरणमें आया हूँ ।' यों आरम्भावसानमें जब शरणागतिभावका ही उपादान किया गया है तब मित्रभावका भी यहाँ तात्पर्य शरणागतिमें ही है । और जगह भी जहाँ-जहाँ रावणको समझाया गया है वहाँ आरम्भके अक्षर हैं—*'विदितः स हि धर्मज्ञः शरणागतवत्सलः'* 'वह श्रीरामचन्द्र धर्मज्ञ और शरणागतवत्सल प्रसिद्ध हैं ।' यों आरम्भ तो शरणागतिभावसे किया गया है किन्तु उपसंहारमें कहा है—*'तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि ।'* 'यदि तुम जीना चाहते हो तो उनके साथ मैत्री हो जानी चाहिये ।' आरम्भमें शरणागतिभावसे जिस तरह तात्पर्य है, वैसे ही अन्तमें 'मैत्री' पद कहते हुए भी

उनका तात्पर्य शरणागतभावसे ही है। उसी प्रकारसे यहाँ भी आरम्भ और अवसानमें जब विभीषणका तात्पर्य शरणागतभावसे ही है तब बीचमें आये हुए 'मित्रभावेन' इस पदका भी तात्पर्य यही होना चाहिये कि 'जो शरणागतिभावनाको लेकर मेरे पास आता है उसे मैं नहीं छोड़ सकता।'

किन्तु मेरे विचारसे शरणागतिके प्रसङ्गमें 'मित्रभावेन' कहनेका प्रयोजन कुछ दूसरा ही प्रतीत होता है। *'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्'* यह उक्ति भगवान् श्रीरामचन्द्रकी है। दैन्यभावके कारण शरणागत तो अपनेको दयापात्र शरणागतमात्र ही जानता है किन्तु अपने भक्तोंको गौरव देनेवाले भगवान् उसको बड़ी ऊँची दृष्टिसे देखते हैं। आप कहते हैं कि 'जब मैंने प्राणिमात्रको अभय दे देनेका व्रत ले लिया है तब मेरा ही यह कर्तव्य है कि सङ्कटमें पड़े हुएके पास मैं ही जाऊँ और उसे सङ्कटसे छुड़ाऊँ। किन्तु यहाँ जब शरणागत मेरे पास स्वयं कष्ट सहकर आ रहा है तब अवश्य वह मेरा हितैषी है। वहाँतक जानेके कष्टसे मुझे बचाना चाहता है। अतएव वह दयाका भिखारी नहीं, वह मेरा मित्र है। मैं उससे छाती-से-छाती लगाकर मिलता हूँ।' इसी आन्तरिक विचारसे महर्षि भगवान् श्रीरामचन्द्रकी उक्तिमें कहते हैं—

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।

भगवान् श्रीरामचन्द्रकी यह उक्ति उस समयकी है जब सुग्रीव, शरभ आदि सलाहकार अपना-अपना वक्तव्य कह चुके थे। सुग्रीवादिने जो कुछ कहा है इस समय आप उसका उत्तर दे रहे हैं। सुग्रीवादिने विभीषणको स्वीकार करनेमें जो कुछ विरोध उपस्थित किया था वह सामयिक था, नीतिके अनुसार था, स्नेहके अनुकूल था, भगवान् श्रीरामचन्द्रमें जो उनकी भक्ति थी उसके योग्य था। प्रत्येकने युक्ति देकर अपने-अपने कथनको समञ्जस बनानेमें कोई कसर न रख छोड़ी थी। अब भगवान् भी जब उनका उत्तर देने बैठे हैं तब समञ्जसहेतु दिये बिना उन उक्तियोंका निराकरण नहीं हो सकता। हेतुवादमें—हेतु देकर जब कोई पक्ष सिद्ध किया जाता है तब प्रतिपक्षी भी वादीके दिये हुए हेतुको ही दुष्ट सिद्ध करके अपने पक्षका स्थापन करता है। इसी दृष्टिकोणसे सुग्रीवादिकी उक्तिको देखते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्र भी अपना पक्ष स्थापन कर रहे हैं। आपका पक्ष है शरणागत विभीषणको स्वीकार करना। सुग्रीवादि इसके विरोधमें हैं। श्रीहनूमान्ने विभीषणके स्वीकार करनेमें अवश्य सम्मति दी है परन्तु उस स्वीकारमें जो कारण दिया है उसको आप ठीक नहीं बताते।

सुग्रीवादिका कथन है कि विभीषण शत्रुपक्षीय होनेसे दोषी है, अतएव स्वीकार्य नहीं। यहाँ 'ग्रहण करने योग्य नहीं है' यह साध्य, और 'सदोषत्व' यह हेतु दोनों ही आपके मतसे दुष्ट हैं। श्रीमान् मारुतिके पक्षमें 'यह स्वीकार करने योग्य है' यह साध्य तो ठीक है, किन्तु *'न त्वस्य ब्रुवतो जातु लक्ष्यते दुष्टभावता'* 'बोलते समय इसका कोई दुष्टभाव नहीं मालूम होता' यों स्वीकार करनेमें निर्दोषत्वरूप जो हेतु दिया है वह ठीक नहीं। आप कहते हैं कि शरणागतके स्वीकारमें *'शरणागतोऽहम्'* 'मैं शरणागत हूँ' यह वाक्यप्रयोगमात्र ही प्रधान हेतु है। निर्दोषत्वादि हेतुओंकी ओर तो मेरी दृष्टि ही नहीं पड़ती। इसी अभिप्रायको लेते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्र अपने पक्ष-समर्थनमें हेतु देते हैं—*'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्।'* 'अभय देनेके लिये जाना तो मुझको चाहिये था परन्तु 'मैं शरण आया हूँ' यों कहता हुआ मुझे परिश्रमसे बचानेकी कृपा करके जो मेरे पास आ जाता है, उसका मैं त्याग नहीं

करता।' यहाँ 'मित्रभावेन' यही प्रधान हेतु दिया है। मित्र-भावका अर्थ यहाँ शरणागत-भाव है यह पहले कह आया हूँ।

'मित्रत्वेन' न कहकर यहाँ कहा गया है 'मित्रभावेन' वास्तवमें मित्रत्व न होनेपर भी जो कोई मित्रका-सा भाव ऊपरसे दिखाता हुआ भी आ जाता है उसका भी मैं त्याग नहीं करता। भगवान् तो अपनी तरफ एक बार आ जानेमात्रकी प्रतीक्षा किया करते हैं। उसमें भी जब वह मित्रका-सा भाव दिखला रहा है, चाहे ऊपरसे ही सही, परन्तु किसी तरहका मित्र-भाव तो है, फिर स्वीकार करनेमें सन्देह कैसा? पूतना जिस समय भगवान्को स्तन-पान कराने आयी, उस समय उसके हृदयमें कौन-सा स्नेहभाव था? वह तो चाहती थी कि भगवान्का अनिष्ट हो जाय। परन्तु प्राणिमात्रका उद्धार करनेवाले दयालु भगवान्ने देखा कि इसके हृदयमें चाहे कुछ भी हो, ऊपरसे तो यह स्तन पिलाकर माताका कार्य कर रही है। बस, आपने उसको वह गति, वह गौरव दिया जो साक्षात् माताको भी दुर्लभ था। भगवान्की इस दयालुतापर परमहंसचूड़ामणि श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'*ततोऽन्यं, कं वा दयालुं शरणं प्रपद्ये।*' 'जो दीनोद्धारक भगवान् विष पिलानेवालेको भी यह उच्च पदवी देते हैं, उनसे बढ़कर और कौन-सा दयालु होगा जिनकी शरणमें हुआ जाय।'

अथवा—'मित्र जो स्नेही उसके भावसे अर्थात् मुझमें द्वेषभावको हटाकर (स्नेहसे) जो कोई मेरे पास आता है उसे मैं नहीं छोड़ता।' इससे भगवान्ने यह सूचित किया कि 'मेरे स्वीकार करनेमें यह आवश्यक नहीं कि उस पुरुषकी मुझमें पूर्ण भक्ति हो। केवल मेरे अभिमुख होना ही मेरे स्वीकार करनेमें पर्याप्त है। आहा क्या अच्छा कहा है—

त्वामामनन्ति कवयः करुणामृताब्धे
ज्ञानक्रियाभजनलभ्यमलभ्यमन्यैः।
एतेषु केन वरदोत्तरकोसलस्थाः
पूर्वं सदूर्वमभजन्त हि जन्तवस्त्वाम्॥

'पण्डितलोग आपको ज्ञान-यज्ञ-यागादि क्रिया और भक्ति, इनके द्वारा प्राप्त होने योग्य बताते हैं परन्तु हे करुणासागर! उत्तरकोसलके प्राणियोंने इन तीनोंमेंसे किसके द्वारा आपका भजन किया था जिससे उन सबका आपने उद्धार कर दिया?' अयोध्या-प्रान्तके रहनेवाले हीनातिहीन कीड़ेतकको भगवान्ने मुक्ति दे दी थी। अब कहिये, उनके पास ज्ञानादिमेंसे कौन-सा उद्धारका साधन था? वह केवल भगवान्के अभिमुख हुए थे, इतनेमात्रसे दयासागर भगवान्ने उन्हें अपनालिया था। इसी आशयसे महर्षि कहते हैं 'मित्रभावेन'।

अथवा—यहाँ 'मित्रभाव' पदसे भगवान्का मित्र-भाव ही लिया गया है। अर्थात् जो मुझको '*सुहृदं सर्वभूतानाम्*' प्राणिमात्रका मित्र समझकर अपनी रक्षाकी आशासे मेरी शरणमें आता है उसको मैं नहीं छोड़ता। श्रीप्रह्लाद दैत्य-बालकोंको उपदेश करते हुए कहते हैं—

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे-
रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत्सतः।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां
सामान्यतः किं विषयोपपादनैः॥

'हे असुरबालको! भगवान्की उपासनामें कौन-सा बड़ा भारी परिश्रम है। भगवान् तो आकाशकी तरह सर्वदा प्राणिमात्रके हृदयमें ही रहते हैं। भगवान् केवल मनुष्य ही नहीं, प्राणिमात्रकी आत्माके स्वभावसे ही मित्र हैं।' इसी भव्यभावनाको हृदयमें रखते हुए भक्तशिरोमणि प्रह्लाद भगवान्में एकतान थे। प्रह्ला-दादि भक्तोंको ही यह केवल विश्वास था सो नहीं,

स्वयं भगवान्‌ने भी इस विचारकी लिखावटपर हस्ताक्षर करके इसे दृढ कर दिया है । जिस समय दैत्यराज हिरण्यकशिपु भरी सभामें खड्ग लेकर प्रह्लादको मारनेके लिये तैयार हुआ और उसने कहा कि बता, तेरा यहाँ कौन सहायक है ? उस समय स्वयं भगवान्‌को सहायताके लिये स्तम्भसे उत्पन्न होना पड़ा । श्रीशुकदेवजीके यहाँ अक्षर हैं—*'सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितम्'* 'अपने सेवकके वचनको सत्य करनेके लिये (अद्भुत रूप धारणकर आप स्तम्भमें दिखलायी दिये) । इसके अनुसार प्राणिमात्रपर मेरे सहज सौहार्दका भरोसा करके जो मेरे पास आता है उसे मैं नहीं छोड़ सकता । इसी अभिप्रायसे महर्षिने कहा है—*'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्'* 'मुझको प्राणिमात्रका मित्र समझकर भरोसेसे जो कोई आता है उसे मैं नहीं छोड़ सकता ।'

किंवा—*'मित्रभावेनानुकूल्यसंकल्पादिपूर्वकम् ।'* अर्थात् अनुकूल रहनेकी प्रतिज्ञा, प्रतिकूलताका त्याग इत्यादि शरणागतिके नियमानुसार जो कोई मेरे पास आता है उसका मैं त्याग नहीं करता । अर्जुनने *'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'* 'मैं आपकी शरण आया हूँ, मुझे शिक्षा दीजिये,' यों जब 'प्रपत्ति' स्वीकार की और शंका-समाधानपूर्वक भगवान्‌से पूर्ण उपदेश प्राप्त करके जब *'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव'* 'अब मुझे कोई सन्देह नहीं रहा, आपकी आज्ञापालन करूँगा' यों आनुकूल्यादिका संकल्प अपने हृदयमें दृढ कर लिया तब भगवान्‌ने भी अर्जुनका वह दृढ संकल्प स्वीकार किया है जो आजतक जगत्‌में प्रसिद्ध है । भगवान्‌ने स्वयं अनन्त संकट सहे परन्तु अपने अनुगत अर्जुनपर जरा भी आपत्ति न आने दी । साधारण-से-साधारण पुरुषको भी अपने वचनका बड़ा अभिमान रहता है कि 'मैं पहले यह कह चुका हूँ । इसका उल्लङ्घन करनेपर लोग मुझे क्या कहेंगे' फिर बड़े आदमियोंका तो कहना ही क्या है वह तो अपनी बातके लिये मर मिटते हैं । किन्तु भगवान्‌को अपने भक्तकी बात रखनेके लिये अपनी प्रतिज्ञातक छोड़नी पड़ी है । महाभारतके भयंकर समरमें भीष्मपितामहकी प्रतिज्ञा थी कि 'मैं भगवान् श्रीकृष्णको शस्त्र ग्रहण कराके छोड़ूँगा । जबतक वह अपने हाथमें शस्त्र न ले लेंगे मैं युद्धसे न हटूँगा ।' इसके विरुद्ध भगवान्‌का वचन था कि 'मैं इस युद्धमें स्वयं शस्त्र कभी हाथमें न लूँगा ।' किन्तु जिस समय भीष्मपितामहने अपने बाणोंसे वह भयंकर प्रलयकाण्ड उपस्थित कर दिया उस समय पाण्डवोंके छक्के छूट गये । बाणोंकी उस बौछारके आगे ठहरनेकी किसकी ताक़त थी । अर्जुन घबरा उठे । भगवान्‌से कहने लगे—'बस, अब इस महाभारतकी समाप्ति समझिये । अब ठहरा नहीं जाता । देवातिशायी इस वृद्ध वीरके बाणोंको सहनेकी अब शक्ति नहीं ।' यह तो कैसे कहते कि 'आप अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दीजिये, शस्त्र हाथमें ले लीजिये, किन्तु भगवान्‌ने जब देखा कि दरअसल अब भारत-युद्ध समाप्त होता है । अब यह वृद्ध या तो सबको रणभूमिमें सुलाये देता है या युद्धसे विमुख किये बिना न छोड़ेगा, तब भगवान्‌से न रहा गया । रथके पहियेको लेकर युद्धमें उतर ही तो पड़े । बस, भीष्मपितामहने विजयसूचक सिंहनाद किया और हँसकर युद्ध छोड़ दिया । भक्तकी बात रही, भगवान्‌ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी ।

जयद्रथ-वधमें अर्जुनने प्रतिज्ञा की थी कि मैं सूर्यास्त होनेके पहले-पहले जयद्रथको मारूँगा । किन्तु जिस समय कौरवोंकी तरफसे व्यूह-रचना की गयी और उसके भीतर द्रोणाचार्य-भीष्मपितामह-सदृश महाग्राह सामने ही आ डटे, उस समय अर्जुन घबरा उठे । आधा दिन समाप्त हुए बहुत समय बीत चुका था किन्तु व्यूहकी पहली बाड़ ही अभी नहीं लाँघ पाये थे । भगवान्‌ने कहा—'तुमने क्रोधके आवेशमें बहुत

जल्दी प्रतिज्ञा कर डाली । इन महाग्राहोंके सामने भीतर घुसकर जयद्रथको मार लेना क्या सहज है ? अर्जुनने कहा—'अब तो जो कुछ है सो है । मेरी रक्षा अब आपके ही हाथ है । अन्यथा प्रतिज्ञानुसार सायंकालके अनन्तर मुझे अपना शरीर छोड़ना पड़ेगा ।' उस समय भी भगवान्‌को माया रचनी पड़ी । कृत्रिम बादल पैदा करके सूर्यास्तका दृश्य दिखा देना पड़ा । कौरव हर्षसे उछल पड़े । युद्ध छोड़ दिया । अब क्या है, बाज़ी मार ली । किन्तु जैसे ही बादल हटा और सूर्यके दर्शन हुए, उसके पहले ही अवसर पाकर अर्जुन जयद्रथका मस्तक बाणसे काट चुके थे । अर्जुन भी इस लीलाको देखते ही रह गये । इसी शरणागतवत्सलताकी दृढ़ताको सुझाते हुए भगवान् कहते हैं—'*मित्रभावेन सम्प्राप्तम्*' मेरे आनुकूल्यादिका संकल्प करके जो आता है, उसे मैं नहीं छोड़ता ।'

अथवा—'मित्र अर्थात् जो विश्वासपात्र हो, उसके भावसे आये हुएको' क्योंकि कहा है—'*तन्मित्रं यत्र विश्वासः*' 'मित्र वही है जिसपर विश्वास किया जाय ।' तो इस पक्षमें अर्थ हुआ कि—'मेरे ऊपर पूरा विश्वास करके जो आता है उसको मैं नहीं छोड़ सकता ।' कंसके भेजे हुए अक्रूर श्रीकृष्ण और बलराम-को लानेके लिये जिस समय मथुरासे चले थे उस समय उनके भी हृदयकी विचित्र दशा थी । वह भगवान् श्रीकृष्णमें नैसर्गिक प्रीति रखते थे । उनके चरणारविन्दोंके दर्शनके लिये उनकी अहर्निश उत्कण्ठा रहती थी, परन्तु लाचार थे । कंसके आश्रित थे । भगवान्‌के पास आना-जाना तो कैसा, उनकी चर्चा करना भी राजविद्रोहके अपराधमें उनको फँसाने-के लिये काफ़ी था । अतएव वह जैसे-तैसे मुख मूँदे हुए क्लेशके दिन किसी तरह काट रहे थे । जब राजसज्जासे सजा हुआ राजसी रथ देकर कंसने आज्ञा दी कि वृन्दावन जाकर राम और कृष्णको लिवा लाइये, तब आपके मनमें बड़ा हर्ष हुआ । 'आज मेरा बड़ा सुदिन है, चिरकालसे परिचिन्तित भगवान् श्रीकृष्णका आज दर्शन मिलेगा, इससे बढ़कर मेरा और क्या सौभाग्य होगा ? मैंने ऐसे कौन-से पुण्य किये हैं, कैसी तपस्याएँ की हैं, जो मुझे योगिदुर्लभ भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन मिलेंगे ।' फिर अपने आप ही समा-धान करते हैं 'मालूम होता है मेरे पूर्व-पुण्योंका अभ्युदय आरम्भ हो गया है, मेरे सब पूर्वकृत अमङ्गल नष्ट हो चुके हैं, तभी तो भगवान्‌के उन चरणपङ्कजोंको प्रणाम करनेका सौभाग्य मिल रहा है जिन्हें योगी भी बड़े परिश्रमके अनन्तर प्राप्त कर पाते हैं । मन-ही-मन भगवान्‌का ध्यान करते जा रहे हैं । भगवान्‌की मनोहर मूर्तिका ध्यान करते-करते आपको रोमाञ्च हो रहा है । अक्रूर मनमें विचारते हैं—'जिस समय उत्कण्ठाके कारण चरणकमलोंमें टकटकी बाँधे हुए मैं भगवान्‌को प्रणाम करूँगा और आप मन्द मुसकान करते हुए दीनसञ्जीवनी उस दयार्द्र दृष्टिसे मुझे देखेंगे, अहा ! उस समय मेरे आनन्दका कोई पार न रहेगा । भगवान् प्रणाम करते हुए मुझसे छाती-से-छाती लगाकर जिस समय मिलेंगे, 'अक्रूर' यों मेरा नाम लेकर जिस समय प्रेम-सम्भाषण करेंगे, उस समय यह मेरा मनुष्य-जन्म सफल होगा । अहा ! यह वही तो देवदुर्लभ वृन्दावनका मार्ग है जिसमें भगवान् गोचारण-के लिये गोपबालकोंके साथ पधारते हैं ।' इस तरह आनन्दमें मग्न अक्रूरको मार्गमें ही सूर्यास्त हो गया । अक्रूरकी दृष्टि मार्गकी धूलिपर लगी हुई थी । अहा ! यह धूलि शततीर्थाधिक है, जिसपर भगवान्‌के चरणपङ्कज पड़ते हैं । चलते-चलते अक्रूरने कुछ चरणचिह्न देखे, जिनमें कमल, यव, अंकुश आदिके चिह्न उभड़े हुए थे । अक्रूर पहचान गये, अवश्य यह भगवान्‌के चरण-चिह्न हैं । अब उनसे न रहा गया । रथके जूड़ेसे कूद पड़े । उन चरण-चिह्नोंपर लोटने लगे । रोमाञ्च हो

रहा था । आँखोंसे आँसू बह रहे थे । अहा ! यह प्रभुके चरणोंका रज है !

फिर ध्यान हुआ—'मैं तो भगवत्-विद्रोही कंसका भेजा हुआ जा रहा हूँ । मेरे ऊपर भगवान्‌की कृपादृष्टि किस तरह हो सकेगी ?' अपने आप ही समाधान भी करते हैं—'भगवान् किसीसे अप्रसन्न नहीं होते । उनका कोई भी द्वेष्य नहीं । मुझे दृढ़ विश्वास है कि भगवान्‌को मुझपर वैरबुद्धि कभी नहीं होगी । यद्यपि मैं कंसका भेजा हुआ दूत बनकर जा रहा हूँ, किन्तु आप विश्वदृक् हैं । भीतर-बाहर सब जगहकी जानते हैं । आप प्राणिमात्रके हृदयमें रहनेवाले हैं, इसलिये किसीका भी भाव आपसे छिपा नहीं । भगवान् श्रीशुकदेवजीके अक्षर हैं—

न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः
कंसस्य दूतः प्रहितोऽस्मि विश्वदृक् ।
योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं
क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा ॥

'यद्यपि मैं कंसका दूत बनकर जा रहा हूँ परन्तु भगवान्‌को मुझपर वैरबुद्धि नहीं होगी, जो विश्वदृक् भगवान् अपने निर्मल नेत्रोंसे चित्तके भीतर-बाहरके सब वृत्तान्तोंको देखते हैं ।'

अक्रूरजीका भगवान्‌पर जब यह दृढ़ विश्वास है तब भगवान् भी उसी विश्वाससे उनका ग्रहण कर रहे हैं । आप प्रेमगद्गद् होकर बड़ी उतावलीसे उन्हें खींचकर छाती-से-छाती लगाकर मिलते हैं । अक्रूरको यह पूरा भरोसा था कि भगवान्‌के यहाँ कभी मेरा तिरस्कार न होगा । मैं चाहे जैसा हूँ, आप मेरा अवश्य स्वीकार करेंगे । उसीका यह फल है कि ब्रह्मादि देवताओंसे सेवनीय चरणपङ्कज साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण उनका यहाँतक आदर करते हैं कि आप स्वयं उनके पैर दबाते हैं और कहते हैं कि 'काकाजी ! दूरसे आनेके कारण आप थक गये होंगे ।' श्रीवेदव्यासजी कहते हैं—

'संवाह्य श्रान्तमादृतः' 'आदर करनेवाले श्रीकृष्ण थके हुए अक्रूरका पदसंवाहन करके ।' इसी विश्वासके आशयको लेकर यहाँ भी कहा है कि—'मित्रभावेन' 'दृढ़ विश्वासीके भावको लेकर जो कोई आता है, मैं उसे नहीं छोड़ सकता ।'

भक्तवत्सल भगवान् अपने सभी भक्तोंका पूर्ण आदर करते हैं, चाहे वह कितने ही तुच्छातितुच्छ हों । भावुक भक्त भगवान्‌को इष्टदेव, स्वामी, वन्दनीय चरण, शरण्य, प्राणश्रेष्ठ मानते हैं किन्तु भगवान् उन्हें बराबरका दरजा देते हैं । उन्हें मित्रभावसे ही देखते हैं । भगवद्भक्त सुदामा भगवान्‌के साथ एक गुरुके यहाँ पढ़े थे । बरसों साथ खेले-कूदे थे परन्तु वह सदा भगवान्‌में भगवद्‌बुद्धि ही रखते थे । उन्हें त्रैलोक्यनाथ और अपनेको सदा तुच्छ समझते थे । वह गृहस्थ होनेपर भी दरिद्र थे किन्तु उन्हें इसकी कुछ भी परवा न थी । वह इन्द्रियार्थोंमें विरक्त और प्रशान्तात्मा थे । उनकी पतिव्रता पत्नीने उनसे जब कई बार अनुरोध किया कि 'यादव-नरेन्द्र भगवान् श्रीकृष्ण आपके सहाध्यायी मित्र हैं । वह आजकल द्वारकापुरीमें ही आये हुए हैं । आप उनके पास क्यों नहीं जाते ? वह अपने इस सब दारिद्र्‌य-सङ्कटको दूर कर देंगे ।' यों उनकी पत्नी ही भगवान्‌को अपने पतिके मित्र कहकर व्यवहार करती है किन्तु विवेकी सुदामाका विचार दूसरा ही था, पत्नीके आग्रह करनेपर वह सोच रहे थे 'तुच्छ धन-दौलतकी क्या बिसात है । *'अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम्'* 'यही सबसे बड़ा लाभ होगा कि उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन होंगे ।'

भगवान् श्रीकृष्णने मित्रकी ही तरह क्या, पूजनीयतम इष्टदेवकी जिस तरह की जाती है, उसी प्रकार उनकी पूजादि करके, उनका चरणोदक मस्तकपर चढ़ाकर, बड़े प्रेम-भावसे गुरु-गृह-निवासके

समयकी पुरानी बातें उन्हें याद दिलायीं। उस समयके सङ्कटोंमें, उस समयके कौतुकोंमें, दोनोंने साथ रहकर जो कुछ सुख-दुःखानुभव किये थे उनको आपने फिरसे हरा कर दिया। भगवान् उस समयकी कथा छेड़कर सुदामाका संकोच हटा रहे थे। सुदामा अपनेको हीन समझते हुए भगवान्‌को जिस ऊँची दृष्टिसे देख रहे थे भगवान् उसमें संशोधन करना चाहते थे। आपकी इच्छा थी कि यह सब भाव दूर करके सुदामा मुझे अपने बराबरका मित्र समझे। परन्तु सुदामा ज्ञानी थे। भगवान्‌की महिमाको जानते थे। वह अपने उसी स्थिरभावसे उत्तर देते हैं—

किमस्माभिरनिर्वृत्तं देवदेव जगद्गुरो।
भवता सत्यकामेन येषां वासो गुरावभूत्॥

'हे जगद्गुरो! हमने क्या नहीं किया? सब कुछ सुकृत हमने कर लिये जो सत्यकाम आपके साथ हमारा गुरुगृहमें निवास हुआ।'

भगवान् मित्र-भावनासे बराबरका दरजा देकर सुदामाको राजमहलमें अपने साथ सुलाते हैं। प्रातःकाल घर जाती बार उन्हें रास्तेतक पहुँचाने आते हैं। व्यासजीके अक्षर हैं—*'पथ्यनुव्रज्य नन्दितः'* 'मार्गमें अनुगमन करके अभिनन्दित किया।' किन्तु भगवान्‌के माहात्म्यको जाननेवाले भक्त सुदामा अपने स्वरूपको नहीं भूलते। मार्गमें वह सोचते आते हैं—अहा! मेरे ऊपर भगवान्‌के अनुग्रहकी कोई सीमा नहीं। मेरा आपने कैसा आदर किया है। फिर गद्गद होकर कहते हैं—*'सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्'* 'भाई! भगवत्-चरणारविन्दका सेवन सब सिद्धियोंका मूल है।' यों भगवान् अपने भक्तोंको मित्रताका गौरव देते हैं किन्तु भक्तगण अपना विनयभाव नहीं छोड़ते। बहुतोंका विचार है कि सुदामा भगवान्‌के मित्र ही थे। उनको भक्तके रूपमें चित्रित नहीं किया गया है, किन्तु यह बात नहीं। भगवान् व्यासने उन्हें स्थान-स्थानपर भक्त कहा है—*'इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या भक्तोऽतीव जनार्दने।'* बात यह है कि भगवान् दयाके अवतार हैं। उनकी स्वभावसे ही प्राणिमात्रपर दया रहती है। फिर जिस समय वह भगवान्‌का अनुगत भक्त हो जाता है उस समय फिर भगवान्‌के अनुग्रहकी सीमा नहीं रहती। उसे वह बड़े प्रेम-भावसे देखते हैं। मित्र समझकर आदर करते हैं। इसी भगवान्‌के हार्दिक भावसे यहाँ कहा गया है कि—*मित्रभावेन सम्प्राप्तम्'* 'मित्र-भावसे जो कोई मेरे पास आता है, उसे मैं नहीं छोड़ता।'

'मित्रभावेन' के आगे है 'सम्प्राप्तम्' ('आगतम्' 'आये हुएको')। जो शरणागत हो रहा है उसको 'शरण्य' की स्तुति-अर्चनादि तो न सही कम-से-कम प्रणाम तो अत्यावश्यक है परन्तु 'सम्प्राप्तम्' पदसे शरणागतवत्सल भगवान् सूचित कर रहे हैं कि शरणमें आनेवालेके लिये मेरे यहाँ स्तुति आदि किसीकी अपेक्षा नहीं, केवल प्राप्तिमात्र अपेक्षित है। जहाँ मुझे मालूम हुआ कि शरणार्थी कोई आया है वहीं उसका कर्तव्य समाप्त होकर मेरे ऊपर सम्पूर्ण भार आ पड़ता है कि अब इसका जल्दी-से-जल्दी सर्व सङ्कटोंसे उद्धार करना उचित है। इसी आशयसे 'प्रणतम्' 'नमस्कार करते हुए' आदि न कहकर महर्षि कहते हैं 'सम्प्राप्तम्' 'आये हुएको।'

शरणागतिमें प्राप्ति अर्थात् अपने समीप आगमनमात्रकी अपेक्षा भगवान् ऊपर बता चुके हैं। इस हिसाबसे 'प्राप्तम्' (आया हुआ) ही कहना पर्याप्त था, किन्तु यहाँ 'सम्' उपसर्ग और जोड़कर 'सम्प्राप्तम्' कहा है। इससे भगवान्‌का तात्पर्य यह है कि मैंने तो व्रत ले रक्खा है कि जो कोई मेरी 'प्रपत्ति' मात्र ही स्वीकार करेगा अर्थात् मेरे पास केवल आ जायगा, उसे ही मैं स्वीकार कर लूँगा। परन्तु विभीषणकी 'प्रपत्ति' सामान्य नहीं। मानस,

वाचिक, कायिक तीनों प्रकारकी प्रपत्ति हो चुकी है। जिस समय रावणको समझानेमें विभीषणके मुखसे उसके अपकर्षकी बातें निकल गयी थीं और रावण क्रुद्ध हो चुका था उस समय 'इस सङ्कटसे बचानेमें अब यदि कोई समर्थ है तो श्रीभगवान् रामचन्द्र ही हैं' यों उसी समय 'मानस' प्रपत्ति आरम्भ हुई थी। 'वाचिक' प्रपत्ति तो डिण्डिमघोषके साथ हो चुकी है। विभीषण आकाशमें खड़ा रहकर कह चुका है कि *'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः'* 'स्त्री-पुत्रादिको छोड़कर श्रीरामचन्द्रकी शरणमें आया हूँ।' इस वाचिक प्रपत्तिके तो प्रायः सब ही शिविरके वीर साक्षी होंगे, क्योंकि सबको सुनाकर गर्जनाके साथ उसने कहा था कि 'राघवं शरणं गतः' और 'कायिक' प्रपत्ति तो प्रत्यक्ष ही है कि वह लङ्काको छोड़कर यहाँ स्वयं आया है। ऐसी दशामें उसने 'प्रपत्ति' पूर्णरूपसे स्वीकार कर ली है, यह स्पष्ट है। अतएव अब मैं उसे कैसे छोड़ सकता हूँ। इसी अभिप्रायसे 'सम्' उपसर्गको जोड़कर महर्षिने कहा है 'सम्प्राप्तम्'।

अथवा—'सम्प्राप्तम्' 'सम्यक् प्राप्तम्. अच्छी तरह आये हुए।' अर्थात् अन्य विषयोंसे चित्त हटाकर मुझमें अनुरागपूर्वक आये हुएको। जबतक और-और स्थानोंसे चित्त हटा नहीं लिया जाता तबतक भगवान्में एकाग्रता नहीं हुआ करती। भगवद्ध्यानादि-के समय मन एकतान होकर जबतक भगवान्में नहीं लगता तबतक जैसी चित्त-शुद्धि होनी चाहिये नहीं होती। हम जिस समय दुनियावी कामोंमें फँसे होते हैं, किसीसे बातचीत करते होते हैं, उस समय हमारा मन प्रायः अन्यत्र नहीं जाता। किन्तु जिस समय हम चुपचाप आसनपर बैठकर जप अथवा ध्यान करने लगते हैं तब हमारा मन आगे किये जानेवाले कामों-की ओर ज़बरदस्ती दौड़ पड़ता है। हम ध्यान करते हैं गायत्रीका, किन्तु कचहरीमें जो आजकी तारीख़ मुक़दमेकी दी हुई है उसका चित्रपट अपने आप सामने आ जाता है। सोचते हैं 'वकीलने आशा तो बहुत दी है, देखें आज कैसी बहस करता है।' कई बार विनियोगोंमें लोम-विलोम हो जाते देखा है। मन्त्र बोल रहे हैं उपस्थानका, जैसे ही ध्यान और तरफ़ गया कि आगे-पीछेका मन्त्र बोलने लगे। फिर आगे चलकर जैसे ही ध्यान आया, वापस फिर दुबारा उपस्थान करना पड़ा। लिखती बार तो अधिक मनुष्योंको यह दोष होता है। लिख कुछ रहे थे परन्तु दूसरे लोग जो कुछ पासमें बातचीत कर रहे थे उसकी तरफ़ जैसे ही ध्यान गया कि उन शब्दोंके आदिके दो-चार अक्षर लिख गये। फिर लिखावटपर जब ध्यान पहुँचा और वाक्यको अद्भुत बना पाया तो उन अक्षरोंपर काली फेरनी पड़ी। यों या तो अक्षरमाला-को विरूप करना पड़ा या दूसरे कागजपर फिरसे लिखना पड़ा। कहनेका प्रयोजन यह है कि जबतक चित्त एकतान नहीं किया जाता तबतक साधनीय कार्यका निष्कण्टक फल हमें नहीं मिल पाता।

मन्दिरके दरवाजेपर चरणदासियोंको खोलकर जिस समय हम देवदर्शनको जाते हैं उस समय नेत्र तो हमारे देवदर्शन करते हैं किन्तु मनीराम जूतोंपर मँडराया करते हैं—'ऐसा न हो उन्हें कोई ले जाय। अभी नये-नये ही पहने हैं।' कई होशियार पुरुष तो देवमन्दिरके बीचके दालानमें खड़े-खड़े ही दर्शन कर लेते हैं, जिससे दोनों तरफ़ नजर बराबर बनी रहे। देवमूर्तिके आगे स्तुति-पाठ करते समय 'त्वमेव माता च' कहते हुए एक बार देवमूर्तिपर दृष्टि डालते हैं तो पीछे फिरकर 'पिता त्वमेव' कहते हुए जूतेपर दृष्टि डालते हैं। भगवान् दयालु हैं। उनकी तरफ़ उपसर्पणमात्रसे भी फल होता ही है, परन्तु जो चित्त-शुद्धि एकान्तभावसे देवदर्शन करनेमें होती है

वह इस खींचातानीमें कहाँ ? मन और बुद्धिका स्वभाव ही यह है कि हम जब कर्मेन्द्रियोंके कामसे खाली रहते हैं उस समय ये दोनों भीतर-ही-भीतर अपनी दौड़ लगाने लगते हैं। भक्त भगवान्से यही प्रार्थना किया करते हैं कि हे भगवन् ! आपमें हमारा मन एकतान होकर लग जाय। क्योंकि यदि मन भगवान्में एकाग्रतासे लग गया तो फिर क्या है ? फिर कोई साधनीय नहीं रहता। कुन्ती भगवान्से याचना करती है कि—

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत्।
रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति॥

'गङ्गा जिस तरह अपने प्रवाहको समुद्रमें पहुँचाकर ही विश्राम लेती है, इस तरह हे भगवन् ! मेरी मति अनन्य विषय (एकतान) होकर आपमें प्रीति करे।' यहाँ गङ्गाके दृष्टान्त देनेका यह तात्पर्य है कि हिमालयके उच्च शिखरसे प्रवाहित हुई भगवती गङ्गाका स्रोत प्रखररूपसे आगेकी ओर बढ़ता है। उसे स्वाभाविकरूपसे रोकनेकी किसीकी शक्ति नहीं। उसके बीचमें जो कोई वृक्ष, पाषाणादि आ जाते हैं उन्हें भी वह बहाकर ले जाता है और समुद्रमें मिलकर ही ठहर पाता है। इसी तरह हे भगवन् ! मेरी प्रीतिका प्रवाह भी एकाग्र होकर आपकी ओर इस प्रबलतासे अभिमुख हो जाय कि उसको रोकनेवाले बाह्य विषय उसको तो क्या रोकें प्रत्युत उस बहावमें पड़कर स्वयं भी अपनी सत्ता खो बैठें।'

ठीक है, जबतक विरोधी भावोंकी निवृत्ति नहीं हो जाती, तबतक चित्त स्थिर नहीं हो पाता और चित्त स्थिर हुए बिना कार्यका फल नहीं। किन्तु यहाँ विभीषणने विरोधी भावोंकी आरम्भसे ही निवृत्ति कर दी है। वह कहते हैं—*'परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च'* 'मैंने लङ्का, धन-दौलत, मित्र आदि सबका त्याग कर दिया है।' जब चित्त बँट जानेका सामान ही नहीं रक्खा तो अब चित्त डुलेगा किसपर ? जब बैठनेकी छतरी ही नहीं रही, तब कबूतर बैठेगा किसपर ? अतएव विभीषण सब कुछ ठुकराकर एकान्त-चित्ततासे भगवान्की तरफ़ आये हैं। इसी आशयसे महर्षि कहते हैं—'सम्-सम्यक् प्राप्तम्।'

अथवा—'सम्प्राप्तम्' 'अच्छी तरह प्राप्त हुए।' 'मेरे अब माता, पिता, भ्राता, निवास, सुहृद्, गति, जो कुछ हैं सब भगवान् हैं।' इसप्रकार मुझमें ही सब प्रकारके बन्धुभावका स्थापन करके अनन्यतासे मुझे प्राप्त हुए। श्रीलक्ष्मण जिस समय अयोध्यासे भगवान् श्रीरामचन्द्रके साथ वनके लिये चलनेको तैयार हुए, उस समय आपने लक्ष्मणको बहुत समझाया। कहा—'अभी तुमने देखा क्या है ? तुम्हारा चित्त उस घोर वनमें कैसे लगेगा ? वहाँ तुम्हें पिताजीकी याद आयेगी। जिस समय माताके लिये तुम्हारा चित्त व्यग्र होगा उस समय वे कहाँसे आयेंगी ?' श्रीलक्ष्मणजीने निवेदन किया कि 'मैंने सब कुछ आपको ही समझ लिया है। माता, पिता, भ्राता जो कुछ कामना योग्य वस्तु हैं मेरे सर्वस्व आप हैं। मुझे अब यहाँ किसके लिये ठहरना है ? अहा ! अकेले श्रीलक्ष्मणके ही ये विचार हों सो नहीं। उनकी भाग्यवती जननी सुमित्रा भी लक्ष्मणके योग्य ही माता थीं। जिस समय लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रके साथ वन जानेके लिये मातासे अनुमति लेने गये उस समय सुमित्राने उन्हें छातीसे लगा लिया। कहा—'बेटा ! तुमसे बढ़कर और कौन भाग्यवान् होगा, जो श्रीरामचन्द्रसदृश बड़े भ्राताकी सेवाका तुम्हें अवसर मिल रहा है। दूसरी माता होती तो कहती कि 'वनवास रामको हुआ है। तुम मेरी गोदीको सूनी करके क्यों जा रहे हो ?' किन्तु सुमित्रा कहती है

कि–'देखो बेटा ! श्रीराम और सीताकी सेवामें कभी त्रुटि मत करना । सदा सावधानीसे उपचरण करना । पिता-माताकी भी याद करके कभी अन्यमनस्क न होना । आप कहती हैं—

रामं दशरथं विद्धि मां चैव जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ॥

'श्रीरामको पिता समझना और माताके स्थानापन्न जानकीको जानना । वनको ही अयोध्या समझना, हे पुत्र ! तुम प्रसन्नचित्त होकर वनको जाओ ।' इसी भाँति विभीषण भी मुझमें सब प्रकारसे बन्धुभाव स्थापन करके शरण आया है । इसी आशयको लेकर महर्षिने कहा है—'सम्प्राप्तम् ।'

अथवा—'सम्प्राप्तम्' 'उत्तम प्रकारसे आये हुए ।' शरणमें आनेके जो कुछ नियम हैं उनके अनुसार आये हुए । हम किसी बड़े आदमीसे मिलने जाते हैं तो वहाँ हमें कैसी-कैसी कवायद करनी पड़ती है । कहीं तो बरामदेमें बैठे-बैठे प्रतीक्षा किया करते हैं कि अब कोई आदमी आवे तो खबर भेजें । कहीं नामका कार्ड भेजकर कमरेपर टकटकी लगाये रहते हैं कि अब उधरसे बुलाहट हो । किसी जगह यही प्रतीक्षा करनी पड़ती है कि किसी कामसे वही बाहर निकल आवें तो स्वयं हम ही जा मिलें । साधारण आदमीसे मिलनेमें भी जब कुछ उसका छन्दानुवर्तन करना ही पड़ता है फिर बड़े आदमियोंकी तो कथा ही क्या है ? यदि वहाँ अभिमानादिसे कुछ भी गलती हो गयी तो फिर किया-कराया सब परिश्रम व्यर्थ हो जाता है । भगवान् श्रीकृष्णको महाभारतके युद्धका निमन्त्रण देने कौरव-पक्षसे दुर्योधन और पाण्डवोंकी तरफसे अर्जुन यह दोनों ही गये थे । सेवकोंके द्वारा मालूम हुआ कि भगवान् इस समय सुखशयन कर रहे हैं । भृत्योंकी क्या शक्ति थी कि इन्हें रोकते । फिर भगवान्के दरबारमें ? दोनों ही भगवान्के अन्तरङ्गोंमें थे । दोनों ही शयनागारमें जा पहुँचे । आप रत्न-जटित शय्यापर निर्भर शयन कर रहे थे, लाचार दोनोंको ठहरना पड़ा । दुर्योधनको पहले तो प्रतीक्षा करना ही बुरा मालूम हुआ । तथापि जबतक आप जगें तबतक बैठे कहाँ ? अभिमानोन्मत्त वह भगवान्के सिरहानेकी तरफ बैठा, किन्तु भगवान्के अनुगत अर्जुन भगवान्के चरणोंके पास जा बैठे । जैसे ही आपकी नींद खुली और आप शय्यापर उठकर बैठे, वैसे ही सामने अर्जुनपर दृष्टि पड़ी । अर्जुनने भगवान्की दृष्टि पड़ते ही झट पहले निमन्त्रण कर दिया । सिरहाने बैठे दुर्योधनपर पीछे दृष्टि पड़ी । उनका भी निमन्त्रण तो स्वीकार करना ही पड़ा, परन्तु पहले निमन्त्रणमें भगवान् स्वयं पधारे और दूसरे नम्बरके निमन्त्रणमें अपने यहाँकी सेना भेजी । परन्तु *'यत्र कृष्णस्ततो जयः'* जिस तरफ श्रीनिकेतन भगवान् हों भला वहाँ पराजय हो सकता है ? देखिये, मिलनेके विषयकी थोड़ी-सी गलतीमें सब कुछ नाश हो गया ।

हम किसी कार्यके लिये मिलने तो गये परन्तु वहाँके जो अन्तरङ्ग हैं उनके द्वारा न मिले तो पद-पदमें संकट हैं । अन्तरङ्गके तटस्थ होनेपर प्रथम तो मिलनेका अवसर ही कहाँ ? यदि मिले तो भी हम तो विस्तारसे सब कुछ समझा गये परन्तु वह (अन्तरङ्ग) किसी एक ही बातसे कार्यको ऐसा ढहा देंगे कि आपका वहाँ आनातक व्यर्थ हो जायगा । किन्तु यहाँ विभीषण श्रीरामचन्द्रके दरबारमें रीतिके अनुसार पहुँचे हैं । वे जानते थे यदि स्वयं भी मैं चला जाऊँगा तो भी श्रीरामके यहाँ मेरी रुकावट नहीं होगी । परन्तु अन्तरङ्गोंके द्वारा पहुँचनेमें किसी प्रकारका खटका ही नहीं । इसीलिये पहले शिविर-सेनाधिपति, भगवद-न्तरङ्ग सुग्रीवके द्वारा ही उन्होंने खबर पहुँचायी कि 'शरणार्थी कोई खड़ा है ।' सुग्रीवको अपना द्वार

बनाकर उचित प्रकारसे वह श्रीरामकी शरणमें आ रहे हैं। इसी आशयसे यहाँ कहा गया है कि 'सम्प्राप्तम्' अन्तरङ्गोंको आगे करनेसे स्वामीको यह भी तो विचार होता है कि इसके सिफ़ारिश करनेवाले मेरे ही अन्तरङ्ग पुरुष हैं। अब यदि इस प्रार्थनाको स्वीकार न करूँगा तो इन अगुआओंका भी तो एक प्रकारसे अपमान होता है, अतएव अन्तरङ्गोंद्वारा पहुँचनेमें सिद्धि अवश्यम्भाविनी होती है। इसी आशयसे आप आज्ञा करते हैं—'सम्प्राप्तम्' (अन्तरङ्गानुचरोंको आगे करके, उचित रीतिके अनुसार आये हुएको)।

अथवा—'सम्प्राप्तम्' *'सम् साधु यथा स्यात्तथा प्राप्तम्।'* अर्थात् भगवान् चित्तमें हर्षित होकर विभीषणके आनेका अभिनन्दन करते हैं कि 'भले पधारे!' अहा! भगवान्‌की भक्त-वत्सलताका तो विचार कीजिये। आप आज्ञा कर रहे हैं कि यदि विपक्ष-त्राससे संत्रासित कष्टमें पड़ा हुआ विभीषण लङ्कामें बैठा-बैठा ही यदि मेरा स्मरण करके मुखसे कहता कि *'राघवं शरणं गतः'* 'मैं अब भगवान् श्रीरामचन्द्रकी शरण हूँ' तो क्या मुझसे यहाँ स्वस्थ बैठा रहा जाता? कष्टमें पड़ा हुआ शरणार्थी तो मेरे आश्रयके लिये पुकार रहा है और मैं यह सोचूँ कि इसे जरूरत होगी तो यह अपने आप यहाँ आ जायगा, भला यह उचित है?

पुत्र स्वेच्छाचारी है, माता-पिताकी आज्ञा बिल्कुल नहीं मानता। कुपूत है, माता-पिता भी उससे तरह दिये रहते हैं। किन्तु वही पुत्र जिस समय रोग-शय्यापर पड़ा-पड़ा छटपटाता है, एक घूँटभर पानीके लिये पुकारता है, उस समय क्या जननीसे यह कष्ट देखा जाता है? हजार स्वच्छन्द हो, हजार कुपूत हो, किन्तु जिस समय माता पुत्रको कष्टमें पड़े हुए देखती है, उसके गुण-अवगुण उसे कुछ याद नहीं रहते। वह विह्वलचित्तसे उसके पास दौड़ी जाती है। सम्मुख देखनेकी तो बात ही दूसरी है परन्तु देश-देशान्तरोंसे खबर मिलनेपर भी माता-पिता वहीं दौड़े जाते हैं। फिर भला, करुणावतार भगवान् कष्टमें पड़े हुए शरणार्थीकी उपेक्षा कर सकते हैं? साधारण रास्ता चलता हुआ आदमी भी अपरिचित एक दीन बालकको दुःखमें पड़ा हुआ देखकर अपना काम छोड़ देता है, उसकी सहायता पहले करता है, फिर भला भगवान् कष्ट-पतितको यों ही देखा करेंगे? क्या अच्छा कहा है—

> **अयि गर्तमुखे गतः शिशुः**
> **पथिकेनापि जवान्निवार्यते।**
> **जनकेन पतन् भवार्णवे न**
> **निवार्ये भवता कथं विभो॥**

'किसी गड़हेमें पड़ते हुए बालकको रास्ता चलता बटोही भी बड़ी हड़बड़ाहटसे बचा लेता है। फिर हे भगवन्! पिता होकर आप इस भवसागरमें पड़ते हुए मुझे क्यों नहीं निवारण करते हैं।'

भगवान् चाहे जहाँ हों, चाहे जैसे कार्यमें व्यग्र हों, परन्तु सब काम छोड़कर आप पहले वहाँ पधारते हैं जहाँ आपका शरणार्थी आपको पुकार रहा हो। आजतकके दृष्टान्त देख लीजिये—प्रह्लाद जिस समय कष्टमें पड़े और उन्होंने आपको हृदयमें याद किया, पाषाणका हृदय चीरकर आपको तुरन्त वहाँ प्रकट होना पड़ा। गजेन्द्रने याद किया तब वैकुण्ठसे दौड़ना पड़ा। यहाँतक कि शीघ्रताके मारे गरुड़तकको पीछे छोड़ना पड़ा। राजमदसे सतायी हुई अबला द्रौपदीने जिस समय आँसूभरे दीन नेत्र ऊपर किये, गद्गद् कण्ठसे आपको पुकारा उस समय उस जुआरियोंके अड्डेमें आपको हाजिर होना पड़ा। चीरकी खींचातानीमें आपको उलझना पड़ा। एक क्या, अनन्त ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जहाँ कष्टमें पड़े हुए शरणार्थीके

लिये स्वयं भगवान्‌को दौड़ना पड़ा है। फिर विभीषण लङ्कामें बैठकर जिस समय भगवान्‌को पुकारते तो क्या भगवान्‌को वहाँ नहीं जाना पड़ता? नहीं-नहीं, उसी पापपुरीमें, राक्षस-विक्षोभित उसी लङ्कापुरीमें, सब शङ्काओंको छोड़कर जाना पड़ता। इस समय तो समुद्रोल्लङ्घनके लिये कई बाँधन बाँधे जाते हैं परन्तु उस समय आनन-फाननमें वहाँ पहुँचना पड़ता। राक्षस-सन्तरियोंके चाहे जैसे कड़े पहरे होते उन्हें लाँघकर तत्काल ही आपको वहाँ हाजिर होना पड़ता। किन्तु भगवान् यहाँ देखते हैं कि शरणार्थी स्वयं सामने आ खड़ा हुआ है, इससे बढ़कर भला और कौन-सा (प्रहर्षण) अलंकार ढूँढ़ने जायँ। पर्वके दिन सब लोग गंगाजीमें स्नान करनेके लिये दौड़े जाते हैं। श्रद्धालुओंकी भीड़ चली जा रही है। सब अपने-अपने उद्धारके लिये व्यस्त हैं। किन्तु बेचारा पङ्गु पैरोंसे लाचार है। स्नानके लिये कैसे जाय। अश्रु-गद्गद् हुआ वहीं बैठा भगवती गङ्गाका स्मरण कर रहा है। उस समय यदि गङ्गा स्वयं उसके सम्मुख ही आ पहुँचें तो क्या उसके हर्षकी सीमा रहेगी? भगवान् श्रीरामचन्द्र भी कह रहे हैं कि पङ्गुके ऊपर गङ्गा-निपतनसे जो आनन्द होता है वही आनन्द, वही भाग्यका सौभाग्य मेरा भी है जो विभीषण स्वयं सामने उपस्थित है। अतएव उसका अभिनन्दन करते हुए आप कह रहे हैं—'सम्प्राप्तम्' 'सौभाग्यसे भले ही आये हुएको।'

(क्रमशः)

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[गतांकसे आगे]

८५२–चञ्चल चित्तपर सङ्गीतका विलक्षण सुखद प्रभाव पड़ता है। अमेरिकामें डाक्टर अनेकों रोगोंका—विशेषतः स्नायुसम्बन्धी रोगोंका इलाज सङ्गीतद्वारा करते हैं। सङ्गीत मनको विकसित भी करता है। नवधा-भक्तिमें कीर्तन भी एक है। इसके द्वारा भावसमाधि प्राप्त होती है। सम्पूर्ण भारतमें इसका पूर्ण प्रचार है। यह ईसाईलोगोंके प्रार्थना-सङ्गीतके तुल्य है। बङ्गालके रामप्रसादने कीर्तनके द्वारा ब्रह्मका अनुभव किया था। उसके सङ्गीत बङ्गालमें बहुत ही प्रसिद्ध हैं। इस कलिमें कीर्तन ही भगवान्‌के प्राप्त करनेका सरल मार्ग है। हरिनामका सतत कीर्तन करो, सतत उसका गुणगान करो, तुम्हें हरिका दर्शन प्राप्त होगा। जो अच्छा गा सकते हैं उन्हें एकान्त स्थानमें चले जाना चाहिये और शुद्ध भावसे प्रेमपूर्वक गाना चाहिये। यथासमय वे भाव-समाधिमें प्रवेश करेंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

८५३–मनका विश्लेषण करते जाओ, अन्तमें तुम उस सूक्ष्मतम अवस्थाको पहुँचोगे जिसे परमाणु या तन्मात्रा कहते हैं, जिसकी परमाशक्तिसे इन्द्रियाँ और उसके विषयोंका उद्भव होता है।

८५४–'अमन' एक शब्द है जिसका अर्थ है मनरहित। अमनस्कता एक अवस्था है जिसमें मन रहता ही नहीं। यह मनरहित दशा होती है। जीवन्मुक्त पुरुषोंमें यह अवस्था पायी जाती है।

८५५–मन और प्रकृति एक ही अखिल पूर्णब्रह्मके दो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप हैं, जो स्वयं इन दोनोंमेंसे एक भी नहीं, परन्तु यह दोनों उसमें निहित हैं।

८५६–मन केवल इसी अर्थमें अप्राकृतिक कहा जा सकता है कि इसमें चिन्मय-तत्त्व नहीं। इसे उस अर्थमें भी अप्राकृतिक नहीं कह सकते हैं कि यह ब्रह्मके समान है। मन सूक्ष्म-तन्मात्रिक द्रव्योंसे बना है।

८५७-मानसिक आकृति केवल दृष्ट वस्तुओंका पूर्वाभ्यासमात्र है, जैसे पहले प्राप्त की हुई और चखी हुई एक

नारङ्गीके रूप, रङ्ग, आकृति, स्वाद, गन्ध प्रभृतिकी तुम मानसिक सृष्टि करते हो।

८५८—शुद्धताके पश्चात् ईश्वरमें मनको जमानेसे तुम्हें यथार्थ आनन्द और ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है। तुम केवल इसी उद्देश्यके लिये उत्पन्न हुए हो। केवल राग और मोह तुम्हें बाह्य विषयोंकी ओर ले जाते हैं। हृदयमें भगवान्‌का ध्यान करो। हृदय-गुफामें प्रवेश करो और जितना गहरे जा सको, जाओ। अपनी चेतनाके समस्त बिखरे हुए सूत्रोंको सञ्चित करो और उनको लपेटे हुए एक डुबकी लगाओ और खूब गहरे पैठो। हृदयकी गहरी गुफाके सन्नाटेमें अग्नि जल रही है। वही तुम्हारे भीतर दैवी छटा है, वही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। उसकी आवाज़ सुनो और उसका अनुसरण करो। केन्द्रिय शक्ति हृदयमें निहित है और हृदयसे समस्त केन्द्रिय गतियाँ होती हैं, जो ब्रह्मानुभवके लिये शक्ति तथा सुधारकी आकांक्षा प्रकट करती हैं।

८५९—सबसे पहले तुम्हें अपने एक अप्रधान अंशका ही भान होता है, अधिकांशसे तो तुम अनभिज्ञ ही रह जाते हो। इसी अनभिज्ञतासे तुम तुच्छ स्वभावमें पड़े रहते हो तथा विकास और आत्म-सुधारसे वञ्चित रह जाते हो। इसी अनभिज्ञताके कारण आसुरी शक्तियाँ तुम्हारे अन्दर प्रवेशकर तुम्हें अपना दास बना डालती हैं। मन ही माया है। यह सदा तुम्हें प्रलोभन देते रहता है, तुम्हें धोखा देता है तथा नीचा दिखलानेके लिये, तुम्हें विषयोंमें आसक्त करनेके लिये अपनी शक्तिभर चेष्टा करता है। तुम्हें स्वयं सचेत होना है। तुम्हें अपने स्वभाव और गतिविधिके लिये अवश्य सचेत होना होगा। तुम्हें जानना चाहिये कि क्यों और किसलिये तुम कोई काम करते हो, अनुभव करते हो तथा चिन्तन करते हो। तुम्हें अपनी प्रवृत्ति और भावों-को तथा गुप्त और प्रकट शक्तियोंको जो तुम्हें परिचालित करती हैं अवश्य ही समझना होगा। वस्तुतः तुम्हें एक-एक करके अपने जीवनके समस्त यन्त्रको समझ लेना होगा। तुम एक बार सचेत होते ही वस्तुओंको पहचान सकते हो और उन्हें तौल सकते हो। तुम्हें ज्ञात हो सकता है कि कौन-सी शक्तियाँ तुम्हें गिरा रही हैं और कौन-सी ऊपर उठनेमें सहायता प्रदान कर रही हैं और जब तुम्हें सत्यासत्य, शुभाशुभ, दैवी तथा आसुरी सम्पत्तियोंका ठीक ज्ञान हो जायगा तब तुम अपने ज्ञानके अनुसार कार्य करने लगोगे अर्थात् दृढ़तापूर्वक सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग करोगे। द्वन्द्व प्रतिपल तुम्हारे सामने उपस्थित होते हैं और तुम्हें उनमेंसे एकको चुनना पड़ता है। तुम धृति और धीसे युक्त हो जाते हो और गीताके—

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।'

—के समान तुम्हारी स्थिति हो जाती है। तुम्हें सदा दैवी गुणोंके सामने आसुरी गुणोंके प्रवेशको रोकना पड़ेगा। अन्तमें मनपर तुम विजय प्राप्त करोगे। तुम अपने निज-स्वरूप, सत्-चित्-आनन्दमें विश्राम करोगे।

८६०—योग शुचिताकी क्रियाके द्वारा तुम्हारे आन्तरिक गुप्त भावों और अभिलाषाओंको प्रत्यक्ष करके दूर फेंकता है। तुम्हें किसी बातको छिपाने तथा किनारे रख छोड़ने-की आदत नहीं लगानी चाहिये। तुम्हें उनका सामना करके उनपर विजय प्राप्त करना तथा उनको सुधारना होगा। योगका प्रथम प्रभाव इसप्रकार मानसिक शासन-को दूर करना है और इसप्रकार बुभुक्षा जो सुप्त पड़ी है अचानक जाग्रत हो जाती है। वह उठकर झटपट आत्म-तत्त्वको व्याप्त कर देती है। जबतक मानसिक शासनके स्थानमें दिव्य शासन उपस्थित नहीं किया जाता तबतक एक ऐसा परिवर्तनकाल रहता है जब तुम्हारी श्रद्धा-शीलता तथा आत्मसमर्पण परीक्षणीय दशामें रहते हैं। भोग-वासनाकी शक्तियोंका जो प्रभाव देखनेमें आता है उसका कारण यही है कि लोग उसपर अत्यधिक ध्यान देते हैं। लोग बलपूर्वक उनका सामना करते हैं और बलात्कार ही उनपर अधिकार करनेका प्रयत्न करते हैं, उन्हें वशीभूत करके उनपर अवस्थित होते हैं। परन्तु जितना ही अधिक तुम किसी वस्तुके लिये सोचते हो और कहते हो कि—'मुझे इसकी आवश्यकता नहीं, मैं इसकी प्रतीक्षा नहीं करता।' उतना ही अधिक तुम उससे बँधे जाते हो। तब तुम्हें करना यही चाहिये कि उस वस्तुको अपनेसे दूर रक्खो जिससे तुम्हारा उससे सम्पर्क न हो, और जहाँतक सम्भव हो उसपर कम ध्यान दो और यदि तुम्हें उसके विषयमें सोचना ही पड़े तो तुम्हें तटस्थ और अनासक्त रहना चाहिये।

८६१—योगके दबावसे उत्पन्न हुई कामनाओं और वासनाओंका सामना बड़ी ही शान्ति और अनासक्त भावनासे करना चाहिये और उन्हें अपनेसे अतिरिक्त

बाह्य जगत्की वस्तु समझना चाहिये । उन्हें प्रभुको समर्पित कर देना चाहिये, जिससे भगवान् उन्हें ग्रहण करके दूसरे रूपमें बदल दें ।

८६२-आत्मज्ञाननिष्ठ मनके द्वारा तुम्हें विषयगामी मनका संयमन करना चाहिये, और ऊँचे उठकर, हृदयके नैराश्यको दूर हटाते हुए उस अमर परमपदकी प्राप्तिके लिये तपोधनका सञ्चय करना चाहिये । जिसप्रकार सम्राट् सब राजाओंको अपने वशमें रखता है उसी प्रकार चञ्चल चित्तको निश्चल मनके पूर्ण अधिकृत करना चाहिये, तभी वह निश्चल मन परमपदकी निजावस्थाको प्राप्त होगा ।

८६३-इस संसाररूपी समुद्रमें कामनाएँ मगरके समान हैं, मनके सतहपर जैसे ही वे उठें वैसे ही उन्हें मार डालो, उन्हें उत्तेजित करनेकी चेष्टा न करो, अपने प्रयत्नोंसे निराश मत बनो, पूर्ण सात्त्विक मनके साथ मैत्री स्थापित करो, और शुद्ध मनके द्वारा अशुद्ध मनको नष्ट करो । अपने मनको आनन्दस्वरूप आत्मामें विश्राम करने दो । कामनाएँ जैसे ही मनमें उठें वैसे ही विवेक और अथक अटूट प्रयत्नके द्वारा उन्हें नष्ट कर दो ।

८६४-सविकल्प-समाधिमें ध्याता, ध्यान और ध्येय-की त्रिपुटी बनी रहती है । निर्विकल्प-समाधिमें यह त्रिपुटी नहीं रहती । मन पूर्णतया ब्रह्ममें लीन हो जाता है । सविकल्प-समाधिमें जो आनन्द तुम्हें मिलता है वह रसास्वाद कहलाता है, यह आध्यात्मिक उन्नतिके लिये प्रतिबन्धस्वरूप है । वह तुम्हारी गतिको निरुद्ध कर देता है, वह तुम्हें छोड़ नहीं सकता । तुम्हें आगे बढ़कर निर्विकल्प-अवस्थाको प्राप्त करना होगा जहाँ तुम्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होगी ।

८६५-ध्यान करते समय आँखें क्यों मूँद लेते हो ? आँखें खोलकर ध्यान करो । शहरके शोर-गुलमें रहनेपर भी तुम्हें मनको समाहित रखना होगा । तभी तुम पूर्ण होते हो । प्रारम्भमें जब तुम नवीन अभ्यासी रहते हो उस समय मनकी चञ्चलताको दूर करनेके लिये तुम आँखें मूँद सकते हो क्योंकि तब तुम बहुत ही कमज़ोर रहते हो । परन्तु पीछे तुम्हें आँखें खोलकर, यहाँतक कि चलते-चलते भी ध्यान करना चाहिये । खूब दृढतापूर्वक चिन्तन करो कि जगत् है ही नहीं, केवल आत्मा ही है । जब तुम आँखोंके खुले रहते हुए भी आत्माका ध्यान कर सकोगे तभी तुम बलवान् बनोगे । और तभी सहज ही विघ्नोंके वशमें न हो सकोगे । ज्ञानी जगत्में बिल्कुल ही प्रवेश नहीं करते, परन्तु हम सदा देखते हैं कि वे लोक-संग्रहके लिये संसारमें आते हैं ।

८६६-समय एक प्रकारका मन ही है, यह काल-शक्ति है । विषयोंके समान यह भी भ्रमात्मक है । जब तुम्हारा मन खूब एकाग्र हो जाता है तो दो घण्टेका समय पाँच मिनट-सा मालूम होता है । जब मन क्षुब्ध और भ्रान्त रहता है तो आधा घण्टा कई घण्टेके समान जान पड़ता है । यह प्रत्येकका अनुभव है । स्वप्नमें भी बहुत-सी घटनाएँ जो पचासों वर्षकी जान पड़ती हैं केवल दस मिनटमें हो जाती हैं । मन कल्पको क्षण और क्षणको कल्प बना देता है ।

८६७-अज्ञानीका मन अव्यवस्थित होता है, उसमें अनेकों सङ्कल्प तथा बहुत ही चञ्चलता होती है । उनका मन सङ्कल्पके द्वारा सदा ही क्षुब्ध रहता है । परन्तु ज्ञानी सङ्कल्पोंसे मुक्त होते हैं । वे सदा अपने आत्म-ज्ञानमें लीन रहते हैं जिससे उन्हें परमतृप्ति और परम-शान्ति मिलती है ।

८६८-ध्यान दो, किसप्रकार एक सङ्कल्पका विस्तार नाना प्रकारके सङ्कल्पोंमें होता है । मान लो तुम्हें अपने मित्रोंको चाय-पार्टी देनेका सङ्कल्प हुआ । चायका विचार होते ही चीनी, दूध, प्याला, टेबल, कुर्सी, टेबलक्लाथ, तौलिया, चमचा, मिठाइयाँ, नमकीन आदि नाना वस्तुओं-का विचार हो जाता है । इसी प्रकार यह जगत् सङ्कल्पके विस्तारके अतिरिक्त कुछ नहीं है । मानसिक विचारोंका विषयोंकी ओर बढ़ना ही बन्धन है । सङ्कल्पोंका त्याग ही मोक्ष है । सङ्कल्पोंको मूलमें ही नष्ट कर देनेके लिये तुम्हें सदा सचेष्ट रहना चाहिये । तभी तुम यथार्थ सुखी हो सकते हो । मन धोखा देता है और खेल खेलता है । तुम्हें इसके स्वभाव, ढंग और आदतोंको समझना चाहिये । तभी तुम आसानीसे इसको वशमें कर सकोगे ।

८६९-मनकी भ्रान्तिसे एक फर्लांगकी दूरी बहुत बड़ी जान पड़ती है और तीन मीलकी दूरी बहुत ही समीप मालूम होती है । तुम्हें अपने नित्यके जीवनमें इसका विचार करते रहना चाहिये ।

८७०–यह जगत्‌का छायाचित्र मनका ही निर्मित किया हुआ है। मनोमात्र जगत् 'मनःकल्पित जगत्'—यह जगत् स्वयं मनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परब्रह्मका आत्म-प्रकाश ही मन या जगत्‌के रूपमें प्रकट हो रहा है। मन प्राज्ञ-शक्ति है, प्रकृति भूत-शक्ति है और प्राण ब्रह्मकी क्रिया-शक्ति है। प्रत्येक वस्तु ब्रह्मकी ही है। यथार्थमें जीव है ही नहीं, केवल ब्रह्म ही है।

८७१–विचार ही यथार्थ कर्म है। मनकी क्रियाशक्ति ही यथार्थ कर्म है। यदि मनका विक्षेप दूर हो जाय तो तुम्हें आत्म-निष्ठाकी प्राप्ति होगी। तब मन निश्चय ही शान्त हो जायगा। मनके विकारोंसे बचो, मनको वशमें करो, तब जन्म-मृत्युके साथ-साथ समस्त सांसारिक दुःखोंका अन्त हो जायगा। यदि तुम मनके पञ्जेसे अपनेको छुड़ा सको तो मोक्ष स्वयमेव आ उपस्थित होगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। विचार, साधन, निदिध्यासन, सत्-शास्त्र-विचार, सत्सङ्ग यह समस्त मनके संयमन और मुक्तिकी प्राप्तिमें अत्यन्त सहायक होते हैं।

८७२–मन माया है। जब मन सरगर्मीसे विषयोंकी ओर दौड़ता है तब माया मनुष्यके ऊपर अपना अधिकार जमाती है। माया मनके द्वारा ही विनाश करती है। माया अपनी शक्तिसे मनमें असंख्य सङ्कल्प उत्पन्न करती है। जीव सङ्कल्पोंका शिकार बन जाता है। इच्छाओं, सङ्कल्पों और विषयोंका त्याग करो। वैराग्यशील बनो। इस तुच्छ 'अहं' को त्याग दो। समस्त सङ्कल्प इसी 'अहं' को घेरे और लिपटे रहते हैं। वे इसी 'अहं' से उत्पन्न होते हैं। शरीरका विशेष ध्यान न रक्खो। जहाँतक कम हो सके, शरीर और इसकी आवश्यकताओंका विचार करो। गुरुके पास जाओ, उपनिषद्, गीता, विवेक-चूडामणि, आत्मबोध, पञ्चदशी आदिका और अन्तमें योगवाशिष्ठका अध्ययन करो। बारम्बार चिन्तन करो। ब्रह्मभावनाको एकत्रितकर उसे अभ्यसितकर उसमें लीन हो जाओ। मनकी अन्तर्मुखी वृत्ति हो जायगी और अन्तमें तुम्हें कैवल्यनिष्ठा प्राप्त होगी। डरो मत हे सौम्य!

८७३–जिसप्रकार तुम एक पत्थरके द्वारा दूसरे पत्थरका ढाँचा बनाते हो उसी प्रकार अशुद्ध मनको शुद्ध मनके द्वारा यत्नपूर्वक सुधारो।

८७४–तुम केवल अपने अथक परिश्रम और निर्भय शक्तिके द्वारा ही ब्रह्मज्ञानको प्राप्त कर सकते हो। गुरु और शास्त्र तुम्हें मार्ग दिखा सकते हैं और तुम्हारे संशयोंका निवारण कर सकते हैं। अपरोक्ष अनुभव तो तुम्हें अपनी चेष्टासे ही होगा। भूखे आदमीको स्वतः ही भोजन करना पड़ता है। जिसे खुजली हुई होती है उसे ही बदन खुजलाना पड़ता है।

८७५–सङ्कल्प न करो। चञ्चल मन स्वयमेव नष्ट हो जायगा, वह ब्रह्ममें मिल जायगा और तब तुम्हें साक्षात्कारकी प्राप्ति होगी। जब मनका नाश होता है 'मैं' 'तू' 'यह' 'वह' 'समय' 'देश' 'जीव' 'जगत्' सबका अभाव हो जाता है। भीतर और बाहरकी भावना जाती रहती है। केवल एक अखण्ड चिदाकाशका अनुभव रह जाता है, जो परिपूर्ण है। हृदयमें ज्ञान होनेसे समस्त संशय और भ्रम निवृत्त हो जाते हैं।

(क्रमशः)

यार नन्दके कुमारको

कहा रसखान सुखसम्पति सुमारमहँ, कहा महायोगी ह्वै लगाये अंग छारको।
कहा साधे पंचानल, कहा सोये बीच जल, कहा जीत लीन्हें राज सिंधु वार-पारको॥
जप बार-बार तप संजम अपार व्रत, तीरथ हजार अरे बूझत लबारको।
सोई है गवाँर जिहि कीन्हों नहीं प्यार, नहीं सेयो दरबार यार नन्दके कुमारको॥

—रसखान

गुरु-अन्वेषण

(लेखक—चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)

कलकत्तेमें एक विद्वान् बंगाली ब्राह्मण हाईकोर्टके वकील थे। उन्होंने वकालत छोड़कर आजन्म ब्रह्मचारी रहकर केवल भगवत्-सेवामें अपने जीवनको व्यतीत करनेका निश्चय किया। उस समयतक उन्होंने किसीको अपना गुरु नहीं बनाया था। उनके इस सत्सङ्कल्पको सुनकर उनके पास कई संन्यासी आये और उनसे कहा कि 'अब तुम्हारा समय हो गया है, हमसे दीक्षा लो।' इसके उत्तरमें वह कहते थे कि 'मुझमें तो यह सामर्थ्य नहीं कि मैं योग्य गुरुकी पहचानकर उनसे दीक्षा लूँ, अतएव मैं स्वयं किसीको गुरु न चुनकर इस महान् कार्यको ईश्वरपर ही छोड़ता हूँ, वे ही जिसके लिये अनुमति देंगे उन्हें गुरु बनाऊँगा।' इसप्रकार वह ईश्वरपर ही गुरु-प्राप्तिके लिये निर्भर हो गये। परिणाम यह हुआ कि एक दिन एक बड़े सद्गुरुने स्वयं आह्वान करके उनको दीक्षा दी। वह सद्गुरु किसीको आह्वानकर दीक्षा नहीं देते थे परन्तु इनके विषयमें उन्होंने यह असाधारण कार्य किया। जिसप्रकार चुम्बकके द्वारा लोहा आकर्षित होता है उसी प्रकार आह्वान आनेपर ब्रह्मचारीने स्वयं आकर्षित हो उनके पास जाकर दीक्षा ली और इससे उनको शान्ति मिली।

आजकल गुरु-वरण एक बड़ी ही विषम समस्या है क्योंकि ऐसे यथार्थ गुरु बहुत कम मिलते हैं जो शिष्यके अविद्यान्धकारको हर लें। ऐसे गुरुओंकी ही आजकल अधिकता है जो या तो शिष्यके द्रव्यको हरण करते हैं अथवा दूकानदारीके समान अपने महत्त्वकी ख्याति ही जिनका प्रधान उद्देश्य होता है, इसके लिये वे बहुतेरी अयोग्य नीतिका व्यवहार भी करते हैं। इसप्रकारके गुरुओंके फन्देमें बेचारे भोले-भाले शिष्य सहज ही फँस जाते हैं। उनमेंसे कितनोंका जीवन व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। कितने ऐसी साधनामें लग जाते हैं जिनसे उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है अथवा जिनसे वह अदृश्य जगत्के मायिक दृश्यों और चमत्कारोंको देखकर तथा क्षुद्र शक्तियोंको प्राप्तकर अधिकाधिक मायाके जालमें फँस जाते हैं और इसप्रकार मुक्तिके बदले अधिकाधिक बन्धनमें ही उलझ जाते हैं। आजकलके कलियुगी नामधारी गुरुओंका प्रायः यही कथन होता है कि 'केवल मैं ही एक सत्यपन्थ और सत्य सिद्धान्तको जानता हूँ, अन्य सब पन्थ अधूरे अथवा नकलमात्र हैं। जो कोई मेरा शिष्य होगा, केवल वही लाभ उठा सकता है। बिना शिष्य हुए और गुरु माने गुह्य उपदेश नहीं दिया जाता' इत्यादि।

अच्छे गुरु सदा लोकहितमें तत्पर रहते हैं और जिज्ञासुओंकी योग्यताके अनुसार उन्हें उपदेश देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। विवेक-चूडामणिमें सद्गुरुका लक्षण इसप्रकार लिखा गया है—

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥३९॥

अयं स्वभावः स्वत एव यत्पर-
श्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम्।
सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कश-
प्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल॥४०॥

शान्त प्रकृतिके महात्मा वसन्त-ऋतुके समान केवल संसारका हित करते रहते हैं, वह बिना स्वार्थके अन्य लोगोंको इस कठिन संसारसागरसे तारते

हुए स्वयं भी तर जाते हैं। दूसरोंके कष्टका नाश करनेमें तत्पर रहना ही महात्माओंका स्वयंसिद्ध स्वभाव है। जिसप्रकार चन्द्रमा सूर्यकी कर्कश प्रभासे अभितप्त पृथ्वीको शान्ति प्रदान करता है।

साधकोंको गुरुकी आवश्यकता अनिवार्य है। प्रारम्भिक साधनाके हो जानेपर अथवा प्रारम्भिक साधनाका यथार्थरूप जाननेके लिये और उसमें विशेषरूपसे प्रवृत्ति होनेके लिये गुरुका होना अत्यन्त आवश्यक है। जो सच्चे श्रद्धालु साधक हैं और भगवान्‌का भरोसा करते हैं उनको भगवान् किसी-न-किसी प्रकार सद्गुरुसे सम्बन्ध करा ही देते हैं।

सद्गुरुकी प्राप्तिका एक उपाय है। एकादशीके दिन पूर्ण निराहार उपवास करे और सन्ध्याको स्नान करके जप-ध्यानादि करनेके बाद सोनेके समय लिपी हुई जमीनपर जलसे पवित्र की हुई कुशकी चटाईपर सोवे और नींद आनेके पूर्व गीताके निम्न श्लोकको मन-ही-मन रटता रहे और रटन करते समय इसके अर्थकी भी भावना करता रहे—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

अर्जुन श्रीभगवान्‌से कहते हैं कि 'मैं ममता-जनित शोक-मोहसे अभिभूत और धर्माधर्मके विषयमें अनिश्चित हूँ। मैं अत्यन्त दीन और ज्ञानविहीन आपके शरणागत हूँ, आपका शिष्य हूँ। जिसमें मेरा कल्याण हो वह उपाय मुझको आप निश्चय-पूर्वक कहिये।'

इस विषयमें यह भी याद रखना चाहिये कि यह प्रार्थना उसीके लिये सार्थक हो सकती है जो अर्जुनकी भाँति कल्याणके मार्गका जिज्ञासु होकर उसके न मिलनेसे व्याकुल हुआ हो और परम-विनीत भावसे श्रीभगवान्‌को परमगुरु मानकर उनसे प्रार्थना करता हो कि वह कृपाकर उसके लिये कल्याणका ठीक मार्ग बतलावें। इस भावसे भावित साधक यदि कातर होकर इस श्लोकके जप-द्वारा श्रीभगवान्‌से अपने पारमार्थिक कल्याणके मार्गको जाननेकी प्रार्थना करेगा, श्रीभगवान् स्वप्नमें कभी-न-कभी उसको उचित उत्तर अवश्य प्रदान करेंगे। यदि एक एकादशीको स्वप्नमें कोई उत्तर न मिले तो अगली एकादशियोंमें ऐसा ही व्रत करना चाहिये। यह एक महात्माका कथन है और एक साधकको (जिज्ञासुको) कुछ दिन हुए स्वप्नमें उचित उत्तर मिला है। प्रायः उत्तर स्पष्ट न होकर सांकेतिक होता है जिसके भावको समझनेसे वह स्पष्ट हो जाता है।

हाँ, यह स्मरण रखना चाहिये कि सांसारिक कामनाकी पूर्तिके लिये इस श्लोकके जपद्वारा प्रार्थना करनेसे जापकको प्रायः लाभ नहीं होता।

नट

सोहत ओढ़े पीतपट, स्याम सलोने गात।
मनो नीलमनि-सैलपर, आतप परयो प्रभात॥
लटकि लटकि लटकत चलत, डटत मुकुटकी छाँह।
चटक भरयो नट मिलि गयो, अटक अटक बट माँह॥

—बिहारीलाल

श्रीवृन्दावन-धामका बाहरी और भीतरी दृश्य

(लेखक—श्रीदुर्गाप्रसादजी त्रिवेदी)

कुल-सागरको श्रीनन्दराय और यशोदारानीने तप-मेरु-रईसे भक्तिरज्जुद्वारा बाँधकर मथा जिससे श्रीकृष्णचन्द्र प्रकट हुए। वे वृन्दावन-आकाशमें आकर उदित हुए, उनकी ज्योत्स्नाकी शुभ्र छटासे यह पृथिवी प्रकाशमान हो गयी तथा मनुष्योंके हृदय-मन्दिर आलोकित हो उठे। इन श्रीकृष्णचन्द्रकी चन्द्रिकासे सहृदय सज्जनोंके अन्तःकरण देदीप्यमान, मन-कुमुद प्रफुल्लित, कान्ति उज्ज्वल और नयन चकोर बन गये। तब सम्मिलित भावकी स्वर-लहरि एक साथ गूँज उठी—

तेरो मुख चन्द्र चकोर मेरे नयना

—और वह रसनाद्वारा रसिकजनोंके कर्ण-कुहरमें प्रवेशकर श्यामघन बन आनन्द बरसाने लगी। इसप्रकार श्रीकृष्ण-चरित्र स्वाति-बूँदके लिये कृष्ण-जन-कर्ण चातक हो गये। वह उससे तर होकर पुलकित हो उठे, स्पर्शके लिये उनकी त्वगिन्द्रिय आकर्षित होने लगी, श्वास-श्वासपर श्रीकृष्ण-स्मरणकी धार बह उठी। इसप्रकार प्रथम रसना, कर्ण, त्वक् आदि ज्ञानेन्द्रियोंका और तत्पश्चात् कर्मेन्द्रियोंका भी झुकाव श्रीहरिकी ओर होने लगता है।

कालान्तरमें श्रीकृष्ण-जनोंकी हृदय-भूमिमें वृन्दावन झलकने लगता है। वहाँ भक्तिरूप यमुना बहती है और उसके निकट ही श्रीकृष्णानुरागरूप गोवर्द्धनका दर्शन होने लगता है। इस यमुना-पुलिनमें भी विहार करते हुए श्रीकृष्ण निजजनोंको मिलते हैं। व्यासजीने इस वृन्दावनका चित्र श्रीमद्भागवतमें खींचा है—

वृन्दावने गोवर्द्धनं यमुनापुलिनानि च।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप॥

(दशम स्कन्ध)

'वृन्दावनमें गोवर्द्धन और यमुना-पुलिनके दृश्यका अवलोकनकर श्रीबलराम और श्रीकृष्ण मारे प्रेमके आनन्दमें गद्गद् हो गये।' वृन्दावनमें भावुकोंको श्रीकृष्णका दर्शन कभी नटवर-वेशमें ग्वाल-बालोंके संग यमुना-तट गोवर्धनपर गो चराते हुए होता है और कभी वह यमुना-पुलिनपर गोपियोंसे सेवित वंशी बजाते हुए दर्शन देते हैं तथा कभी निकुञ्जवनमें सशक्ति—राधामाधवरूपमें दीख पड़ते हैं।

जब इन्द्रियोंका झुकाव, जैसा ऊपर वर्णन किया जा चुका है, हरिकी ओर होने लगता है तब वह 'गो' (इन्द्रियाँ) भक्तियमुनातटस्थ श्रीअनुराग-गोवर्द्धनपर कृष्ण ग्वालेकी देख-रेखमें आनन्दपूर्वक 'तृणवीरुधम्' चरती हैं तथा प्यास लगनेपर यमुना-नीर पीती हैं। इसका अष्टछापके छीतस्वामीने अपने पदोंमें बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। व्यासजीने वृन्दावनकी शोभा और उसके पदार्थोंका चित्र इसप्रकार खींचा है—

वनं वृन्दावनं नाम यशस्यं नवकाननम्।
गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्यादितृणवीरुधम्॥

गोपी क्या है ? इसका वर्णन बहुधा लोग विपरीत ही किया करते हैं। उन बेचारोंको ज्ञान नहीं कि जिस ग्रन्थके रचयिता वेदोंके सङ्कलन करनेवाले वेदव्यास, व्याख्याता बाल-ब्रह्मचारी बालरूप शुकदेवजी, श्रोता मृत्युशय्यापर अन्तिम कालकी प्रतीक्षामें पड़ा हुआ सम्राट्—श्रीकृष्णके भानजेका पुत्र और पाण्डवोंका पौत्र, तथा जिस ग्रन्थका चरित्रनायक बालकृष्ण, उसकी कथामें

संसार-सागरसे पार उतारनेके बदले उसमें फँसानेवाली काम-कला-युक्त वस्तु कहाँसे आ सकती है? कितने बड़े आश्चर्यकी बात है कि लोगोंने गोपियोंको तो व्यभिचारिणी, जारवृत्ति-अवलम्बिनी तथा श्रीकृष्णको जार-चातुरीकला-चञ्चरीक बना डाला।

गोपीजन वस्तुतः वेदकी ऋचाएं और 'प्रेमकी ध्वजा' हैं। गोपीनाथकी लीलाका रहस्य अगम्य है। वह सांसारिक बन्धनोंको जकड़नेवाला नहीं बल्कि उनको ढीला करनेवाला है। भगवद्वाणी, ब्रह्मवाणी, वेद-ऋचाओंने गोपीवेशमें जीवोंके कल्याणार्थ अनेक भावनाओंमें अपने रूप और तात्पर्यको प्रकट किया है। इसलिये मानसिक वृन्दावनमें भावनाएँ ही गोपियाँ मानी गयी हैं। भावनाओंके चित्र देखिये-

राधा मेरी लाडिली मेरि ओर तू देख।
मैं तोय राखूँ नयनमें काजलकी-सी रेख॥
गोरे मुखपर तिल बन्यो जाहि करौ परनाम।
मानो चन्द्र बिछायकै पौढ़े सालिगराम॥

यहाँ भगवान् आराधकोंकी आराधनापर अपना लाड-प्यार प्रकट करते हैं और सचेत हो उनपर दृष्टि रखनेका वचन देते हुए उन्हें नयनमें स्थान प्रदान करते हैं। गोरे मुखका अर्थ शुद्धात्मा है और उसमें सांसारिक मायाकी कालिमा ही काला तिल है जिसे वह शालग्राम मानकर प्रणाम करते हैं। इसप्रकार चन्द्ररूपी बिछौनेपर शालग्राम-मूर्तिकी भावना कर भक्तको तार देते हैं।

इसी प्रकार भावरूप गोपवृन्दको भी जानना चाहिये। गोप भगवान्‌की ओरके भाव हैं, यथा—पूज्यभाव, दास्यभाव, वात्सल्यभाव, सख्यभाव, आत्मभाव, दाम्पत्यभाव, अनुरागभाव और शत्रुभाव। यही भगवान्‌के प्यारे अष्ट सखा हैं। इनका उदय समयान्तरमें मानवहृदयमें होने लगता है।

मनुष्यके हृदयमें अनेक आवरण पड़े रहते हैं। उनके कारण प्रभुका दर्शन मनुष्यको दुर्लभ हो जाता है। उनको क्रमशः हटाना पड़ता है। इन आवरणोंके कुछ ही हटनेपर भीतरी आभा झलक मारने लगती है। इस अलख झलकके प्रभावसे शेष आवरण आप-ही-आप विलीन हो जाते हैं। तब भीतरी ज्ञानचक्षु अन्तःकरणमें वृन्दावनका अवलोकन करने लगते हैं। वहाँ 'वृन्दावने गोवर्द्धनं यमुनापुलिनानि च' दृष्टिगोचर होने लगते हैं तथा 'गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्यादितृणवीरुधम्' का स्पष्ट दर्शन होने लगता है। इसी वृन्दावनमें भावुकोंको श्रीकृष्ण-दर्शन सुलभ है—

दिलके आईनेमें है तस्वीरे यार।
जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली॥

ऐसे दर्शन रसिकजनोंको अनेक बार हुए हैं। देखिये—

रूपबेलि प्यारी बनी प्रीतमप्रेम तमाल।
दोउ मन मिलि एकै भये राधावल्लभलाल॥
निकसि कुञ्ज ठाढ़े भये भुजा परस्पर अंस।
राधावल्लभ मुखकमल निरख नयन 'हरिवंस'॥

दृढ संकल्प

कोऊ करै कितनो ही उपाय, बिहाय इन्हैं पग एक न धारौं।
मान घटै, कुलकान घटै, एहि आननसों नहिं आन पुकारौं॥
या मुरलीधुनिको सुनिकै, घरबार तजौं सब राग बिसारौं।
मोहन मैनते मोहनरूप, निहारि निहारि निहारि निहारौं॥

—भगवतीप्रसाद त्रिपाठी विशारद, एम० ए०, एल-एल० बी०

भक्त-गाथा

भक्त सालबेग

ड़ीसा-प्रान्तके कटक-शहरमें लालबेग नामक एक शक्तिशाली मुगल रहता था। उस समय उड़ीसामें गजपति-वंशका एक राजा शासन करता था। परन्तु उसका तेज क्षीण हो चला था। लालबेगने सुअवसर देखकर अपना बल बढ़ाया और विशाल सैन्य लेकर उसपर धावा बोल दिया। लालबेग विजयी हुआ, उसके नामसे सारा प्रान्त थर्रा उठा। तबसे उसका प्रभाव फैल गया। इस लालबेगके कई पुत्र थे, उनमेंसे एकका नाम सालबेग था। सालबेगने बाल्यावस्थासे ही युद्ध-कला सीखना प्रारम्भ किया और युवा होते-होते वह उसमें निपुण हो गया। उसे अपनी बहादुरीपर बड़ा गर्व था। वीरत्वके मदमें चूर हुआ वह जमीनपर पैर भी नहीं रखना चाहता था।

एक बार सालबेग अपने पिताके साथ किसी युद्धमें गया और वहाँ उसने ऐसा रणकौशल और पराक्रम दिखलाया कि सभी लोग दङ्ग रह गये। भगवान् किसीका भी मद नहीं रहने देते, मद उतारकर उसे अपनाया करते हैं। सालबेग बड़ी बहादुरीसे लड़ रहा था परन्तु दैवगतिसे अचानक शत्रुपक्षकी एक तलवार उसके सिरपर आ पड़ी, सिर फट गया और वह अचेत होकर तुरन्त जमीनपर गिर पड़ा। सेवकगण उसको रणस्थलीसे अलग शिविरमें ले गये। कई दिनोंतक मरहमपट्टी करनेपर जब कोई लाभ नहीं दिखायी दिया तब पिता लालबेगने उसको घर भेजवा दिया। घरपर माता उसकी तन-मनसे सेवा करने लगी। बहुत दिन बीत गये परन्तु जरा भी आराम नहीं मालूम हुआ। कुछ दिनोंतक तो लालबेगने पुत्रकी बीमारीपर बहुत ध्यान रक्खा, परन्तु ज्यों-ज्यों उसके रोगकी अवधि बढ़ती गयी, त्यों-ही-त्यों लालबेगका मन भी हटने लगा। अन्तमें उसको निकम्मा समझकर लालबेगने उकताकर खोज-खबर रखना भी छोड़ दिया। संसारमें स्वार्थका सम्बन्ध ऐसा ही हुआ करता है। जबतक हमारा काम निकलता है, स्वार्थ-साधनमें सहारा मिलता है तबतक हम ममत्व रखते हैं, जहाँ स्वार्थ नहीं दिखायी देता, वहाँ कोई बात भी नहीं पूछता। सारी ममता मिनटोंमें हवा हो जाती है। अस्तु।

लालबेगकी उदासीनता देखकर घरके और लोग भी उसकी ओरसे उदासीन हो गये। केवल एक माता बची जो आहार-निद्रा भुलाकर दिन-रात पुत्रकी रोग-शय्याके पास बैठी रहती और प्राणपणसे सेवा-शुश्रूषा करती। एक दिन सालबेगका कष्ट बहुत बढ़ गया, तब उसने निराश-हृदयसे बड़े ही क्षीण स्वरसे कहा—

'माँ ?'

'क्यों बेटा ?'

'माँ, अब मैं नहीं बचूँगा।'

'न बचे तेरी बीमारी, बेटा, यों क्यों बोल रहा है?'

'नहीं माँ, मैं सच कहता हूँ, अब मैं नहीं बचूँगा। मेरी बचनेकी इच्छा भी नहीं है। दिन-रात यों दुःख-भोग करनेकी अपेक्षा एक बार मरनेका कष्ट कहीं कम है।'

'यों पागलपन क्यों करता है ? मरे तेरा शत्रु! बेटा! उसकी उम्र पाकर तू सौ वर्ष जी!'

'नहीं, अब मुझे बचनेकी बिल्कुल आशा नहीं है। मौत नहीं आवेगी तो मुझे आत्महत्या करनी पड़ेगी। अब मुझसे यह दुःख नहीं सहा जाता। माँ, माँ, तू मेरे अपराधोंको क्षमा कर और इस अपने कृतघ्न सन्तानको भूल जा।'

पुत्रकी बातें सुनते ही माताने एक लम्बी साँस ली। उसके पीड़ाके मार्मिक उद्गारोंने माताका हृदय विदीर्ण कर दिया। उसकी आँखोंमें आँसू भर आये। बड़ी कठिनतासे आँसुओंको रोककर स्नेहपूर्वक पुत्रको छातीसे लगाकर उसने कहा—'बेटा! तेरे चले जाने-पर मैं किसका मुँह देखकर जीऊँगी! यदि मेरे बलिदानसे तेरी रक्षा होती हो तो मैं तैयार हूँ परन्तु ऐसा क्यों होने लगा? मुझे अपने कर्मका फल भोगना ही पड़ेगा। हाँ, निरुपायके लिये एक उपाय है, वह मैं तुझसे कहती हूँ परन्तु क्या तू उसे कर सकेगा?'

माताकी बात सुनकर सालबेगने कहा—'क्यों नहीं, माँ, मैं तेरा कहा न मानूँगा तो और किसका मानूँगा! बोल, बोल, तुझे जो कहना है खुशीसे कह, मैं जरूर तेरे कहे मुताबिक करूँगा।'

माताने कहा—'बेटा, तुझसे वह नहीं होगा, कभी नहीं होगा। बचपनसे ही तुझमें जो संस्कार पड़ गये हैं—तुझे जैसी शिक्षा मिली है, उसके विपरीत आचरण तू कैसे कर सकेगा?' माताके इस वचनसे सालबेगको सन्देह हुआ। उसने व्याकुल होकर पूछा—'माँ, तू क्या कह रही है, कुछ भी समझमें नहीं आता। मेरी शिक्षा-दीक्षासे प्रतिकूल तू क्या कहना चाहती है?'

इसके उत्तरमें माताने कहा—'वत्स, मैं सदासे ही तेरी उस शिक्षा-दीक्षाके बिल्कुल विरुद्ध हूँ, क्या इस बातको तू नहीं जानता? बेटा, मैं एक हिन्दू ब्राह्मणकी लड़की हूँ!' माताके इस वचनको सुनते ही साल-बेग विस्मित होकर कहने लगा—'हैं, यह तू क्या कह रही है? तू हिन्दू है तो फिर मेरी माता किस-प्रकार हुई?'

माताने कहा—'बेटा, तू यदि पूछता है तो आज मैं लाज-शरम छोड़कर सब तुझसे कह डालती हूँ। दाँतमुकुन्दपुर गाँवका नाम तो तूने सुना होगा, वह गाँव किसी दिन बड़ा ही समृद्धिशाली था। उसी गाँवमें मेरी ससुराल थी। मेरे पति बचपनमें ही मर गये। सासु और ससुर भी पुत्र-वियोगसे दुखी होकर परलोक सिधार गये। उसी समय तेरे पिताके अत्या-चारसे बहुतेरे परिवार अपने घरबार तथा धन-दौलत-को छोड़कर उस गाँवसे भाग गये थे। गाँव उजाड़ हो गया। उस समय मैं एक दिन नदीमें स्नान करने गयी थी। दैवयोगसे उसी समय तेरे पिता कहींसे युद्ध करके अपनी सेनाके साथ लौट रहे थे। उस समय मैं पूर्ण युवावस्थाको प्राप्त हो गयी थी, रूप-लावण्य भी भरपूर आ गया था, मुझे देखते ही तेरे पिताको मुझपर मोह हो गया और मुझ अकेली असहायाको वह बलात्कार अपने घोड़ेपर बैठाकर यहाँ ले आये। बेटा! मैं स्त्री-जाति अबला थी। मुझे वश करनेमें उन्हें अधिक देर न लगी, थोड़े ही दिनोंमें वस्त्र, आभूषण और मधुर सम्भाषणसे उन्होंने मुझे अपना बना लिया। उसीके फलस्वरूप तू पुत्ररूपमें मुझे प्राप्त हुआ। परन्तु मालूम होता है, मुझ हतभागिनी-के भाग्यमें यह सुख भी नहीं बदा है।'

यों कहते-कहते भावावेशसे उसका हृदय भर आया और कण्ठ रुक गया। सालबेगको सब समझते देर न लगी। माताकी अवस्थापर उसे बड़ी दया आयी और अन्तमें धैर्य धारणकर अपनी जन्मदायिनी माताको आश्वासन देते हुए उसने कहा, 'माँ! तूने मुझे

गर्भमें धारण किया है। मेरी यह देह तेरी ही है। बोल, बोल माँ, तुझे जो कहना हो कह। तुझे जो उपाय बतलाना हो बतला दे। तू जो कुछ कहेगी, मैं उसीके अनुसार करूँगा।'

माँ बोली—'अच्छा तो कहती हूँ सुन, परन्तु पहले तेरे पिताके व्यवहारकी बात भी तुझे जना देती हूँ। हाय! वह मेरा और तेरा त्यागकर अपने अन्य स्त्री-पुत्रादिके साथ कैसे निश्चिन्त हो गये हैं, इसे तू देखता है न? जिसके लिये तूने यह दुःख सिरपर लिया, जिसके लिये अपनी जिन्दगीको जोखिममें डाला, वह आज इस अवस्थामें तेरी खबर भी नहीं लेता! उससे इतना भी नहीं होता कि एक आदमी भेजकर तेरी हालत तो पूछ ले! बेटा, तू इसका कारण जानता है? दूसरा कोई कारण नहीं है, एक-मात्र यही कारण है कि मेरा यौवन जाता रहा और तू भी बेकाम हो गया। तुझमें उनका काम करनेकी शक्ति नहीं रही। अब तुझसे या मुझसे उनका कोई स्वार्थ नहीं सधता, इसीसे यह अनादर है, यह तिरस्कार है। बेटा, यदि भगवान् तेरी रक्षा करे तो तू ही मेरे जीवनका सुख है और तभी मेरा जीवन किसी कामका है। बेटा! तू दासीपुत्र है, इसीसे तेरे पिता तुझे याद नहीं करते। परन्तु तेरे बिना मैं तो एक क्षणभर भी नहीं रह सकती! तू ही मेरे जीवनका कारण—जीवनका धन है। तेरे बिना सारा संसार मेरे लिये सूना है। तू ही मुझ अन्धीकी आँख है, तेरे बिना मैं कैसे जीऊँगी? परन्तु यदि तू मेरे कहे अनुसार चलनेका मुझे विश्वास दिला दे तो मैं तुझे वह उपाय बतला दूँ। नहीं तो निश्चय जान कि तेरा और मेरा यह पापी शरीर एक ही साथ नष्ट हो जायगा।'

सालबेग आँसूभरे नेत्रोंसे बोला—'माँ, माँ, मैं तुझसे एक बार नहीं, हजार बार प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि मैं तेरे वचनका अवश्य पालन करूँगा; बल्कि एक दूसरी और प्रतिज्ञा करता हूँ कि अच्छा होते ही मैं तेरे आँसू पोंछ दूँगा, फिर तुझे रोनेका कभी अवसर ही न रहेगा। माँ, अब तू रो मत, रो मत! मुझे वह उपाय शीघ्र बतला। मैं वचन देता हूँ कि उसका पालन जरूर करूँगा।'

पुत्रके वचन सुनकर माताके तप्त हृदयको कुछ शीतलता मिली। पश्चात् आँसू पोंछकर वह कहने लगी—'बेटा, अब तू कपट छोड़कर पूर्ण विश्वास और श्रद्धापूर्वक आनन्दकन्द नन्दनन्दन वृन्दावनचन्द्र भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका भजन कर। अहा! वह अनन्त कोटि ब्रह्माण्डके नाथ हैं। सब देवोंके राजा हैं। उनकी आज्ञाको सभी अवनत मस्तक हो सिरपर चढ़ाते हैं। वही निरुपायके एकमात्र उपाय हैं, महौषधि हैं। उनका भजन करनेसे निश्चय ही तेरे सारे रोग-दोष दूर हो जायँगे। बेटा, यही एक उपाय है, इसलिये अब तू उस विश्वपिताका ही भजन कर, उसीका स्मरण कर!'

पुत्र बोला—'माँ, वैसा ही करूँगा। उन्हींका भजन करूँगा। परन्तु मैं तो उनके विषयमें कुछ जानता नहीं। वह क्या हैं? कैसे हैं? कहाँ राज्य करते हैं, उनके माता-पिता कौन हैं तथा उनका भजन किस तरह किया जाता है, यह तो मैं जानता ही नहीं। इसलिये माँ! तू मुझे उनकी पहचान करा दे जिससे मैं उनका भजन करूँ!'

लालबेगके घरमें आनेके पश्चात् सालबेगकी माता-को कभी किसीके भी मुखसे श्रीकृष्ण-कथा सुननेका संयोग नहीं मिला था। आज पुत्रके पास अपने प्राणप्रिय प्रभुकी चर्चाका अवसर मिलनेसे उसके आनन्दका पार न रहा। वह मृदु-हास्य करती हुई बोली—'भाई, मैं एक-एक करके सब बतलाती हूँ,

तू ध्यान देकर सुन। उनके पिताका नाम नन्दजी है, माताका नाम यशोदाजी है। उनकी प्रियाका नाम श्रीमती राधिकाजी है। उनका रूप बहुत ही मनोहर है। वह वृन्दावनके राजा हैं। उनके राज्यमें उनकी सारी प्रजा खूब सुखसे दिन बिताती है। अहा! उनका कैसा सुन्दर स्वरूप है! उनको देखकर कामदेवका मन भी मोहित हो जाता है। अहा! उनकी श्यामल कान्ति कैसी सुन्दर है! नवीन जलधर अथवा नीलकान्तमणिके साथ भी तुलना नहीं की जा सकती। अहा! उनके मस्तकपर कुञ्चित केशकलाप कैसे सुशोभित हो रहे हैं, वह कानोंमें मकरकुण्डल धारण किये हुए हैं, उनके नयन खिले कमलके समान हैं, भृकुटी कामदेवके बाणके समान कमनीय है, नासिकाके अग्रभागमें सुरम्य मोतीकी लटकन लटक रही है, श्रीहरिके दाँत अनारके दानेसे भी बढ़कर सुन्दर हैं, लाल अधरोंमें सुधा स्रवित करता मन्द-मन्द हास्य दीख पड़ता है। अहा! मेरे प्रभुके इस सुन्दर श्रीमुखको देख चन्द्र भी लज्जित हो जाता है। प्रभुकी गर्दन भी वैसी ही सुन्दर है, उसमें प्रभुने सुन्दर वनमाला धारण कर रक्खी है। उनके बाहु बहुत ही विशाल हैं तथा नाना प्रकारके रत्नालङ्कारोंसे विभूषित हैं। प्रभुने अपनी अंगुलिमें सोनेकी अंगूठी पहन रक्खी है। पीताम्बर धारण किया है। चरणोंमें नूपुर बाज रहे हैं। उनके पदतलमें ध्वजा और वज्र आदिके चिह्न सुशोभित हो रहे हैं। इन सबसे बढ़कर उनकी मधुरी मुरली सबको अत्यन्त ही प्रिय लगती है। इसी मुरलीने व्रज-वनिताओंको पगली बना दिया था। भाई, प्रभुका यथार्थ वर्णन कभी हो ही नहीं सकता। शेषनाग अपने सहस्र मुखसे अभीतक उनके सारे गुण गाकर पार नहीं पा सके तो मेरी तो बिसात ही क्या है?

भाई, श्रीत्रिभुवनपतिके इस विश्वविमोहन रूपका आँखें मूँदकर ध्यान कर। ब्रह्मादि देवता, महर्षि, देवर्षि, साधु और सज्जन सदा उनका ही ध्यान करते हैं। अखिल ऐश्वर्यकी अधिष्ठात्री कमलादेवी भी उनके श्रीचरणोंकी सेवा करनेके लिये सदा तैयार रहती है। बेटा! भक्त भी उसी चरण-सेवाकी इच्छा करते हैं। तू भी उन्हींकी शरण ले, उन्हींका ध्यान धर। मेरे भक्त पिताने मुझको बाल्यावस्थामें ही इस परममंगल दिव्य स्वरूपका उपदेश देकर कहा था कि, 'बेटी, जब कभी कर्मफलके वश तुझे कोई भी सन्ताप हो, तेरे ऊपर कोई विपत्ति आवे तब तू एक बार आँखें मूँदकर इस श्यामसुन्दर मुरलीधरकी मूर्तिका ध्यान करना। इससे जरूर तेरे सब सन्ताप जाते रहेंगे।' बेटा! मैं क्या कहूँ? मैं इस राक्षसपुरीमें अबतक जो सुस्थिर रह सकी हूँ, यह इसी भगवद्ध्यानका ही प्रभाव है। तू भी उसी श्यामसुन्दरके स्वरूपका ध्यान कर, इससे तेरे सब दुःख जाते रहेंगे।

इसप्रकार बोलते-बोलते भावकी प्रबलतासे जननीका मुखमण्डल एक अपूर्व लावण्यके विकाससे जगमगा उठा। सालबेग उसे देखकर स्तब्ध हो गया। उसी समय उसके मनका मैल धुल गया और उसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। थोड़ी देर बाद उसने अपनी मातासे आग्रहपूर्वक पूछा—'माँ, तुम्हारे वृन्दावनचन्द्रका रूप तो मालूम हुआ, परन्तु वे मिलेंगे कहाँ?' माँ बोली—'बेटा! उनकी लीला बहुत ही विचित्र है, तू जहाँ कहीं भी उनका चिन्तन करेगा वे वहींपर वैसे ही प्रकट होंगे—आ विराजेंगे। भाई, अब तू समस्त भय और भ्रान्तिको छोड़कर उनका ही चिन्तन कर, उन्हींका ध्यान कर।'

सालबेगने माँसे फिर पूछा—'अच्छा, माँ! मैं उनका ध्यान तो करूँगा, पर यह तो बता कि मुझे कितने दिनोंमें उनका दर्शन होगा? कितने दिनोंमें

मैं इस दारुण पीड़ासे मुक्त होऊँगा ?' माताने कहा—'बेटा, श्रीकृष्ण-भजनका मूल विश्वास है, तू किसी भी प्रकारके संशयको मनमें न आने देकर दृढ़ विश्वाससे उनका ध्यान करेगा, तो केवल बारह दिनोंमें ही तुझे श्रीप्रभुके दर्शन होंगे। परन्तु याद रखना कि यदि तू 'प्रभुके दर्शन होनेसे मेरा दुःख दूर होगा कि नहीं अथवा इसप्रकार ध्यान करते-करते मुझे दर्शन होगा कि नहीं' इसप्रकारका सन्देह और सङ्कल्प-विकल्प उठावेगा तो बारह दिन तो क्या बारह वर्षोंमें भी उनका दर्शन न होगा। इसलिये सब प्रकारके सन्देह और सङ्कल्प-विकल्पका सर्वथा त्यागकर दृढ़ विश्वास और अचल श्रद्धासे उनका ध्यान कर, चिन्तन कर, इससे अवश्य ही बारह दिनमें अथवा उसके पहले ही उनकी श्रीमूर्तिका तुझे दर्शन होगा।'

सालबेग बोला—'अच्छा, मैं ऐसा ही करता हूँ। अब इसी क्षणसे मैं अपने दोनों पलकोंको बन्दकर श्रीप्रभुके मंगलमय रूपके सिवा दूसरे किसी भी रूपका विचार अपने अन्दर प्रवेश न करने दूँगा। परन्तु माँ, तू भी मेरे लिये उनको जना दे कि मेरी बहुत जाँच न करें, दर्शन देनेमें देर न करें। परम-प्रभु, हँसते मुखसे वंशी बजाते हुए मुझ-से अविश्वासीके गलेमें अपनी विमल प्रेमकी माला पहना दें और उसके आकर्षणसे मैं उनका भजन कर सकूँ। माँ, अब यदि उन परम प्रभुका दर्शन नहीं हुआ तो यह नेत्र फिर खुलनेवाले नहीं हैं। यह अन्तिम बार इस सृष्टिको देख लेते हैं यह निश्चय मान। परन्तु माँ! मुझे तुझसे एक बात पूछनी है, क्या उस परम प्रभुके स्मरण करनेका कोई मन्त्र-तन्त्र भी है ?'

पुत्रके वचन सुन हर्षभरे गद्गद् कण्ठसे माँ बोली—'हाँ, है बेटा, मन्त्र है। उनका मनोहर नाम ही उनको प्राप्त करनेका महामन्त्र है। उसी श्रीकृष्ण-नामका जप कर, उन्हें इसी नामसे पुकार, इसके आकर्षणसे ही वे अपने आप तेरे पास चले आवेंगे।'

'अच्छा माँ, ऐसा ही करता हूँ, ऐसा ही करता हूँ।' इतना कहकर सालबेग उच्च कण्ठसे 'कृष्ण-कृष्ण' कहने लगा। श्रीकृष्ण-नामकी ऐसी अपार महिमा है कि उसकी एक बार रटन करनेसे बारम्बार रटन करनेका मन होता है। श्रीकृष्ण-नामकी रटन करनेसे रसना नाच उठती है, और इतनेहीसे वह तृप्त नहीं होती, उसके मनमें पुनः ऐसा विचार उठता है कि—'अरे, मैं अकेली उनके नामका कितना कीर्तन कर सकूँगी ? अहा ! इस समय मेरे-जैसी हजारों जिह्वाएँ होतीं तो अपने प्राणारामके नामकी अविराम घोषणा की जा सकती।' सालबेगकी जिह्वा भी केवल एक बार कृष्ण-कृष्ण कहकर विराम नहीं हो गयी, वह उच्च स्वरसे श्रीकृष्ण-नामका कीर्तन करने लगी। भगवन्नामकी अतुल शक्तिसे सालबेगका बाह्य ज्ञान जाता रहा। नामरटनमें वह लीन हो गया और उसके मनके साथ-साथ उसकी सारी इन्द्रियाँ भी उस परम प्रभुके पवित्र नामका रटन करने लगीं।

उसी समय उसके अन्तःकरणमें मदनमोहन, मुरलीधरके रूपकी प्रभा प्रकटित हुई। उसे देखते ही सालबेग परम आनन्दमें नाच उठा। और जैसे-जैसे उसे भावग्राही भगवान्‌की हृदयग्राही मूर्तिका दर्शन होता गया, वैसे-वैसे वह मन-ही-मन फूलता गया। धीरे-धीरे उसको श्रीमूर्तिके सम्पूर्ण रूपका दर्शन हुआ। सालबेगने प्रभुका, उनके वस्त्राभूषण इत्यादिका सूक्ष्मदृष्टिसे दर्शन कर लिया। श्रीकृष्णस्मरणके अप्रतिहत प्रभावसे वह श्रीकृष्णभगवान्‌की मानसिक पूजा करने लगा। इसके बाद उसके भीतरसे एक विचित्र वन्दना स्वयमेव निकल पड़ी और उसके प्रभावसे वह मन-ही-मन बोलने लगा—'हे वृन्दावन-

चन्द्र ! तुम्हारी जय हो, हे संसारतरुके मूलकन्द मुकुन्द ! तुम्हारी जय हो, जय हो । हे यमलार्जुनभञ्जन-कारी, तृणावर्त और शकटासुरके गर्वगञ्जनकारी श्रीहरि ! तुम्हारी जय हो, जय हो । हे वृषरूपी अरिष्टासुरके नाश करनेवाले, श्रीगोकुलकी शोभा बढ़ानेवाले प्रभु ! तुम्हारी जय हो, जय हो । हे बकासुरके विदारक ! हे अघासुर और प्रलम्बासुरके प्राणनाशक ! तुम्हारी जय हो, प्रभुकी जय हो ! हे प्रभु ! तुमने वृन्दावनमें वन-वन गैया चरायी हैं, अनेकों अनल-सम दैत्य-कुलोंका नाश किया है । हे प्रभु ! तुम दुर्जनोंका दमन और सज्जनोंका पालन करते हो । हे प्रभु ! तुम परम दयालु हो । हे प्रभु ! तुमने कालिन्दीके विषमय जलमें कूद कालियनागको नाथ सब गोप-गोपिका और गौवोंकी रक्षा की है । हे प्रभु ! तुमने कदम्बपर चढ़कर मधुरी वंशी बजा सब व्रज-गोपिकाओंको पागल कर दिया है । हे दीनदयालो ! प्रणतप्रतिपाल ! तुम्हारे मस्तकपर गुञ्जाकी माला सुशोभित हो रही है । प्रभु ! प्रभु ! नाथ ! तुम्हारी जय हो, जय हो ।' प्रभु अन्तर्धान हो गये ।

सालबेगने भावके आवेगमें इसप्रकार कितनी ही देर स्तुतिकर अपनेको भगवान्‌का दास समझ दृढ़ विश्वास करके उनके श्रीचरणमें आत्मसमर्पण कर दिया । उस समय उसके शरीरमें आनन्द-ही-आनन्द व्याप रहा था, नेत्रोंसे अनिमेष-प्रेम-अश्रु-धारा बह रही थी । परन्तु उसी समय वह चमक उठा और उसकी आत्माने बाह्यजगत्‌में प्रवेश किया । उसको अबतक अपने शरीरका बिल्कुल ही भान न था, परन्तु अब शरीरका ज्ञान हो गया । इससे उसके मनमें यह विचार आया—'अहा ! इतना भजन करनेपर भी देहका दुःख तो दूर हुआ ही नहीं ।' ऐसा विचार-कर वह अपनी मातासे कहने लगा—'माँ, तेरे श्रीकृष्णकी उपासना की तो भी मेरी पीड़ा तो नहीं गयी । जान पड़ता है यह तो उलटी बढ़ती ही जाती है ।' सालबेगके वचन सुनकर माँने कहा—'भाई, घबरा मत । उन नरहरिकी लीला बहुत ही विचित्र है । जब बड़े-बड़े कष्ट सहते हैं तभी उन्हें दया आती है । अहा ! तुम्हारा कष्ट बढ़ाकर वे देख रहे हैं कि तू कष्टमें भी उनका मङ्गलमय नाम भूलता है या नहीं । इसीलिये उन्होंने तेरी पीड़ा बढ़ा दी है परन्तु तू उन्हें भूल मत । उन्हें नहीं भूलनेमें ही कल्याण है । बेटा ! अब भी किसी प्रकारका भी सन्देह मनमें न लाकर दृढ़ विश्वाससे उन मुरलीधर-का भजन कर ।'

माता कहती है कि 'संशय न कर, संशय न कर' परन्तु संशयका त्याग करना क्या खेल है ? देखते-ही-देखते ग्यारह दिन बीत गये तथापि पीड़ा ज्यों-की-त्यों रही, तब सालबेग कितना धीरज धरे ? अब उससे सहन न हुआ, वह बहुत उकताकर मातासे बोला—'माँ ! मालूम होता है कि प्रभुको भी यही अच्छा लगता होगा कि मेरी मृत्यु हो जाय । इसीसे उन्होंने मेरे ऊपर दया नहीं दिखलायी ! इसीसे शायद उन्होंने मुझे इस दारुण दुःखसे नहीं छुड़ाया ।'

पुत्रको इसप्रकार कलपते देखकर सालबेगकी माताने उसे कोई दूसरा उपदेश न दिया । उसने दूसरा उपचार भी नहीं बतलाया । वह अपने पुत्रके मनमें दृढ़ विश्वास उत्पन्न करनेके लिये यही सलाह देने लगी कि—'बेटा धीरज धर । मनके सब सन्देह निकाल दे । सारे संशयोंको छोड़ केवल श्रीहरिका ही स्मरण कर ।'

रातके समय सालबेग श्रीकृष्णभगवान्‌का चिन्तन करते-करते निद्रादेवीके अधीन हुआ । यदि श्रीकृष्ण-भगवान्‌ने कृपा करके रातको रोगमुक्त न किया तो

प्रातःकाल होते ही आत्मघातका निश्चय करके वह सोते समय रातको कहने लगा कि—'हे प्रभु! यह मेरा अन्तिम निश्चय है। मेरी माताके कहनेके अनुसार कल सवेरे बारह दिन पूरे होते हैं। बस, आजकी रात बीचमें है। इसमें यदि तुम्हारी कृपा न हुई तो अवश्य मैं आत्महत्या करके अपने देहका त्याग करूँगा। ऐसा होनेसे पीछे मेरी माताकी भी मृत्यु होगी। इसप्रकार कल सवेरा होते ही हम दोनों इस लोकसे बिदा हो जायँगे।'

माता भी सालबेगके पास ही सोयी है। वह भी विचारमें ही है, परन्तु उसका विचार जुदा है। वह भी श्रीकृष्ण-भगवान्‌का चिन्तन करती है। पर उसके चिन्तनमें सन्देह या शङ्काकी गन्ध भी नहीं। वह तो केवल शुद्ध भावसे निःशङ्क हो श्रीहरिका स्वाभाविक स्तवन करती है। वह कालक्षेप कर रही है, उसे विश्वास है कि पुत्रपर श्रीहरिकी कृपा होगी ही। हुआ भी वैसा ही, रातके दो पहर व्यतीत हो गये हैं। माता-पुत्र दोनों गाढ़ी निद्रामें पड़े हैं। उसी वक्त श्रीहरि आ पहुँचे। सालबेगको एक अद्भुत स्वप्न हुआ, स्वप्नमें उसने देखा कि श्रीहरि उसके सिरहाने बालमुकुन्द-वेषमें विराजमान हैं और हँसते-हँसते कहते हैं 'सालबेग! अब फिक्र मत कर, उठ बैठ, और मेरे हाथसे यह विभूति लेकर अपने घावपर लगा दे, इससे तेरा घाव सूख जायगा और तू स्वस्थ हो जायगा। इसके बाद तेरा जीवन सुखमें ही व्यतीत होगा परन्तु देख पीछे मुझे भूल न जाना। अरे निश्चय जान तेरा भवरोग भी दूर हो गया। जो किसी भी उद्देश्यसे सरल विश्वास और श्रद्धाके साथ मुझे सच्चे मनसे भजता है उसको इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण दुःखोंसे छुड़ाकर मैं अपना निज जन बना लेता हूँ।' यह सुनकर सालबेग उठ बैठा और प्रभुके हाथसे विभूति लेकर अपने सब अङ्गोंमें लगाने लगा। थोड़ी-सी विभूति सिरपर धारणकर वह एकटकसे मधुसूदनकी मधुमय मूर्तिका दर्शन करने लगा। देखते-देखते वह दिव्य मूर्ति हँसती हुई वहाँसे अदृश्य हो गयी। सालबेग भी निद्रावश हो गया। सवेरा होते ही वह जाग उठा। उसके मनमें आनन्दकी तरङ्गें उछलने लगीं। उठकर देखता है कि माँ अभीतक सोयी है। अपने शरीरकी ओर देखता है तो अत्यन्त विस्मित हो जाता है। उसके मस्तकका घाव सर्वथा मिट गया है और उसका केवल चिह्नमात्र रह गया है। अब उसके शरीरमें किसी प्रकारकी व्यथा नहीं, क्लेश नहीं, शोक नहीं। उसे ग्लानि भी नहीं। वह उठकर अपनी माताको पुकारने लगा—'माँ, माँ, देख, देख, तेरे करुणामय श्रीकृष्णभगवान्‌ने मुझपर करुणा की है। उठ, उठ, देख मेरा घाव सूख गया है। और मैं कृतार्थ हो गया।'

माता तो श्रीकृष्णका ध्यान करती-करती कृष्णमय बनी सोयी थी। पुत्रके आनन्द-आवाहनको सुनते ही वह सारी बात समझ गयी। वह तुरन्त उठ बैठी और स्नेहपूर्वक पुत्रको देखने लगी। अहा! पुत्रको देख उसके आनन्दकी सीमा न रही। पुत्र रोगसे मुक्त हुआ है, इसीका आनन्द नहीं, बल्कि वह श्रीकृष्ण-भक्त—श्रीकृष्ण-विश्वासी बन गया है, इसीका उसे महान् आनन्द हुआ।

माताको जगा देखकर सालबेग हर्षित हो बोला—'माँ, माँ, देख मेरे शरीरमें वह घाव नहीं है और वह व्यथा भी नहीं है, मेरा समस्त शरीर दिव्य आनन्दसे परिपूर्ण हो गया।' माताने कहा—'बेटा! श्रीकृष्ण-भगवान्‌की महिमा ऐसी ही है। उनके समान दुःखियोंके दुःखको दूर करनेवाला दूसरा कोई नहीं। अब दृढ़ चित्तसे तू उनका भजन कर।

सालबेग बोला—'हाँ, माँ! सत्य है। उनके समान दुःखका नाश करनेवाला देवता दूसरा नहीं।

माँ, माँ, तेरी कृपासे, तेरी शिक्षासे मेरा जीवन सफल हो गया। माँ, मुझे अब तू प्रसन्न चित्तसे आज्ञा दे। अब मैं यहाँ नहीं रहूँगा। मैं संन्यासी होकर देश-देश घूमकर इस अनन्त, दयासागर भगवान्‌की महिमाका प्रचारकर जन्मको सफल करूँगा।'

सालबेगकी माता भी सामान्य माता न थी। उसकी साधन-अवस्था सालबेगसे भी कहीं उन्नत थी। मन भी वशीभूत था। वह पुत्रकी इच्छासे बिल्कुल ही उदास न हुई। उलटे हँसते-हँसते उसने संन्यासी होनेकी आज्ञा उसे दे दी। पुत्र प्रभुकी महिमाका विस्तार करेगा इससे बढ़कर आनन्दकी बात और क्या होगी? परन्तु उस समय उसने सालबेगसे कहा—'बेटा, जा तेरी इच्छा पूर्ण हो। परन्तु सुन, चाहे मुझको भूल जाना, सब कुछ भूल जाना पर मेरे श्रीकृष्णभगवान्‌को कभी न भूलना। उनके नामकी रटनसे जिह्वाको और चिन्तनसे मनको सदा जागृत रखना। यह बात कभी न भूलना।'

सालबेगने भक्तिपूर्वक माताके चरणोंमें दण्डवत् की और उसके चरणरजको मस्तकपर चढ़ाकर मुक्तकण्ठसे कहा—'माता! प्रभुके ऐसे समर्थ और दयासागर होते हुए जो दूसरेकी शरण लेता है और उस प्रभुको नहीं भजता उसका मानव-जन्म व्यर्थ ही जाता है। माँ, तेरी कृपासे, तेरे आशीर्वादसे मैं परम प्रभुको कभी न भूलूँगा, तू भी उसे न भूलना।'

इतना कहकर सालबेग घरसे बाहर निकला और फिर कभी न लौटा। वहाँसे वह सीधा श्रीजगन्नाथजी गया और वहाँ कुछ दिनोंतक श्रीदीनबन्धुका दर्शनकर दक्षिणकी ओर चला गया। बहुत दिन हो गये, परन्तु उसका समाचार किसीको न मिला। उसके चले जानेके बाद उसकी माताको भी किसीने लालबेगके घरमें नहीं देखा। उसके बाद माता-पुत्रका परस्पर यहाँ मिलन न हुआ। हाँ, कितने ही दिनोंके बाद दोनों मिले अवश्य, परन्तु इस लोकमें नहीं, परलोकमें—परमात्माके उस मधुमय परमधाममें जहाँ किसी प्रकारकी विपत्ति और शोक नहीं आता और जहाँ जानेपर किसीका एक दूसरेसे वियोग नहीं होता।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!
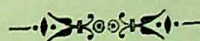
अनूठा उपदेश

कली भली दिन चार, जब लगि मुख मूँद्यौ रहै।
देत डारतें डार, फूल्यौ सहै न फूलको ॥ १ ॥

लख चौरासी घूमिकै, पौ मैं अटकी आइ।
यह बारी पौ नाँ परै, फिर चौरासी जाइ ॥ २ ॥

चाह चमारी चूयड़ी, सब नीचनकी नीच।
मैं तो पूरन ब्रह्म था, तू नहिं होती बीच ॥ ३ ॥

'भीखा' भूखा कोइ नहीं, सबकी गठरी लाल।
गिरह खोल नहिं जानते, इहिं बिधि रहे कँगाल ॥ ४ ॥

'भीखा' बात अगम्मकी, कहन सुननकी नाहिं।
जो जानै सो कहै नहीं, कहै सो जानै नाहिं ॥ ५ ॥

श्रीयमकरामायण

(लेखक—श्रीअमृतलालजी माथुर)

[बालकाण्ड]

परसुधार[1] ! सुधार सुधा[2]-मती
वरसु धार-सुधारसु भारती !
हरि-कथा कवि जो जमका[3] करै
कुपित ह्वू तिनको जम का करै ! ॥१॥

अघ-खपावन पावन नामते
जहरको हरको भय ना भयो।
भजनमें जनमें नहि भाव जो
सु रसना रस नाहिन जानई ॥२॥

कवि न सो विनसो विन सो कहे
विरथ ही कविताइ विताइ जो।
रस-सुधा वरसी वर-सीयको
वह विसारद[4]-सारद सार-दा[5] ॥३॥

सु हर-मानस[6]- मानस[7]-हंसिनी
उर वसी वर सी-वरकी कथा।
जु अविराम[8]-विराम विधायिनी
अगतिकी गति कीरति रामकी ॥४॥

अगुनके[9] गुन केतिक भाँतिके
निज निवेदन वेदन[10] ने किये।
भजनके जनके बस ह्वै अहो !
वह निरंजन रंजन-रूप भो ॥५॥

सु सुरभी, सुर-भीति निवारवे
बहुर भू-सुर, भू सुख हेतु को
सुत हुवे अज वे अज-नंदके
रखत संतत संतन राम हैं ॥६॥

सकल लोक अलोक अनन्द भो
अनदियाँ[11] नदियाँ उमगी महा
सब चराचर राच रहे सुखी
रस अपूरब पूर बसंतमें ॥७॥

अटति अंगिन्-अंग उमंग नां
मनु कुबेर भए कउ मंगना
सुर सुखी दुख ते अब तार हैं
अवध भो प्रभुको अवतार है ॥८॥

सिव विरंचि सुरेसुर सोभने
जस-कथा मधुरे सुरसो भने
महिप-पास गई तब धाइयाँ
बँटति भाँतहि भाँत बधाइयाँ ॥९॥

हर विरंचिहु पावत पार ना
जननि ताहि झुलावत पारना
सुख किये हरि हैं पलनानमें
लखत नैननपैं पल ना नमें ॥१०॥

छबि कही कछु वैनन जातना
हरत हेरत ही मन-जातना
जिन लिये हितसों गहि वारना
हरि उधारत की तिहि वार ना ॥११॥

सुभग अंगन[12] अंगन[13] राजके
विहरते हरते मन राजके
हिय-तमोहनि मोहनि चालमें
मन फसे न फसे जग-जालमें ॥१२॥

वह विलोकनि लोकनि मोहनी
मधुर हास-रहास[14] सुधा-सनी
सु-रस[15] बोलनि-बोलनि[16] जो सुनी
सु परवीन न बीनन कों सुनी ॥१३॥

सिसु-चरित्र किये भुवि सार[17] हैं
सु न भुसुण्डिहु संभु विसार हैं
छबिछके पुरके नर ती रहैं
धन भये भव-सागर तीर हैं ॥१४॥

दृगनको मनको धन और ना
उर धरें तिन सो धन और ना
हरि बसे हिय, तो टुक ठोर ना
तजत ता सम चेत कठोर ना ॥१५॥

रमत औध, तरंगनि-तीर हैं
धरत चाप, निखंगनि तीर हैं
गवर साँवर दो बर जोर हैं
मन लगैं हठि ना बरजो रहै ॥१६॥

---

१ गणेशजी ! २ अमृत (कविनाम) ३ यमकालंकार-युक्ता ४ बुद्धिमान् वक्ताकी वाणी ५ सार देनेवाली ६ हृदय ७ मानसरोवर ८ थके हुओंको ९ निर्गुण ईश्वरके १० वेदोंने ११ आनन्दमयी १२ अंगोंसे १३ आँगनमें १४ रहस्य १५ रसीले शब्दोंके साथ बोल (शब्द) १६ बोली १७ पृथ्वीपर

धर्मपद

(अनु०—श्रीप्रभाकरजी)

(गतांकसे आगे)

२–अप्रमादवर्ग

२१–अप्रमाद अमृतका मार्ग है और प्रमाद मृत्युका मार्ग है। अप्रमत्त नहीं मरते। प्रमत्त तो मर ही चुके हैं।

२२–अप्रमादकी इस विशेषताको जानकर, पण्डित अप्रमादमें आनन्द पाते हैं और आर्योंके मार्गमें रमते हैं।

२३–वे धीर पुरुष ध्यानसे, सतत अभ्याससे, दृढ़ पराक्रमसे निर्वाण पाते हैं, जो सबसे श्रेष्ठ योगक्षेम है।

२४–जो उठनेवाला, स्मृतियुक्त, पवित्र और सोचकर काम करनेवाला, धर्मसे आजीविका चलानेवाला, संयमी और अप्रमत्त है, उसीका यश बढ़ता है।

२५–उत्थानसे, अप्रमादसे, संयमसे और दमसे बुद्धिमान् अपनेको द्वीप बना ले, जिसको प्रवाह तोड़ नहीं सकता।

२६–दुर्बुद्धि, मूर्खलोग प्रमादमें लगे रहते हैं; बुद्धिमान् पुरुष अप्रमादका श्रेष्ठ धनके समान रक्षण करता है।

२७–अप्रमादमें मत लग; कर्त्तव्यमें प्रेम मत रख; अप्रमत्त, ध्यानी विपुल सुख पाता है।

२८–जब पण्डित प्रमादको अप्रमादसे हटा देता है, तब वह ज्ञानके महलपर चढ़कर स्वयं शोकहीन हो शोक करनेवाली प्रजाको देखता है।

२९–जो प्रमत्तोंमें अप्रमत्त और निद्रितोंमें जागृत हैं, वे सुबुद्धिवाले पुरुष आगे बढ़ते हैं, जैसे जोरसे चलनेवाला घोड़ा कमजोर घोड़ेको पीछे रखकर आगे निकल जाता है।

३०–अप्रमादसे इन्द्र देवताओंमें श्रेष्ठ हुआ। लोग अप्रमादकी प्रशंसा करते हैं; प्रमाद सर्वदा निन्द्य है।

३१–अप्रमादमें रमनेवाला और प्रमादमें भय देखनेवाला भिक्षु छोटे-बड़े बन्धनोंको आगके समान जलाता हुआ आगे बढ़ता है।

३२–अप्रमादमें रमनेवाले और प्रमादमें भय देखनेवाले भिक्षुका पतन नहीं हो सकता। वह निर्वाणके समीप ही है।

३–चित्तवर्ग

३३–उछलनेवाले और चपल चित्तका रक्षण या निवारण करना कठिन है। जिसप्रकार तीर बनानेवाला तीरको सीधा करता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् चित्तको सीधा बनाता है।

३४–पानीमेंसे बाहर निकालकर जमीनपर डाली हुई मछलीके समान मारका राज्य छोड़नेके लिये चित्त छटपटाता है।

३५–जिसको काबूमें रखना कठिन है और जो चाहे जहाँ चला जाता है, ऐसे चपल चित्तका भलीभाँति दमन करो। दमन किया हुआ चित्त सुखप्रद होता है।

३६–जिसके ऊपर नजर रखना मुश्किल है, और जो चाहे जहाँ चला जाता है, ऐसे चालाक

चित्तका बुद्धिमान् रक्षण करें। रक्षण किया हुआ चित्त सुखावह है।

३७–दूर जानेवाला, अकेला घूमनेवाला, जिसके शरीर नहीं और जो गुहामें रहता है, ऐसे चित्तका जो संयम करते हैं, वे मारके बन्धनसे छूटते हैं।

३८–जिसका चित्त स्थिर नहीं, जो सद्धर्मको नहीं जानता और जिसकी प्रसन्नता नष्ट हो गयी है, उसकी प्रज्ञा परिपूर्ण नहीं होती।

३९–जिसका चित्त काममें आसक्त नहीं, जिसके मनपर आघात हुआ नहीं और जिसने पुण्य और पाप छोड़ दिये हैं, उस जाग्रत् मनुष्यको भय नहीं होता।

४०–इस देहको घड़ेके समान जानकर और चित्तको किलेके समान मजबूत रखकर, प्रज्ञारूपी आयुधसे मारके साथ लड़ो; जीतकर उसकी रक्षा करो। विश्राम मत करो।

४१–हाय! थोड़े ही समयमें यह शरीर, फेंकी हुई लकड़ीके समान ज्ञानहीन हो अकेला जमीनपर सोयेगा।

४२–द्वेष करनेवाला द्वेषीका या वैरी वैरीका जो घात करता है, उससे भी कहीं बढ़कर वह चित्त मनुष्यका घात करता है, जो असत्में लगाया हुआ है।

४३–माता-पिता या दूसरे जाति-भाई जितना कल्याण करते हैं उससे भी कहीं बढ़कर वह चित्त मनुष्यका कल्याण करता है, जो 'सत्' में लगाया हुआ है।

ज्ञान क्या है ?

(लेखक—श्रीदेवीचरणजी निगम एम० ए०)

संस्कृतकी 'ज्ञा' धातुसे 'ज्ञान' शब्द बना है। पाणिनीय धातुपाठमें ज्ञा धातु 'अवबोधन' अर्थमें पढ़ी गयी है। अवबोधनके माने हैं सम्यक् प्रकारसे ठीक-ठीक बोध हो जाना। बस, इसी ठीक-ठीक बोधहीको ज्ञान कहते हैं।

श्रीगीताजीमें ज्ञानका वर्णन इसप्रकार है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

(१३। ७-११)

'किसी प्रकारका मान न रखना, ढोंग-पाखण्ड आदि न करना, प्राणिमात्रको किसी प्रकार कष्ट न देना, क्षमा, सीधा निष्कपट स्वभाव रखना, अपने आचार्यकी सेवा करना, बाहर और भीतरकी शुद्धि रखना, चित्तको स्थिर रखना, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखना, संसारके भोगोंमें वैराग्य, अहङ्कार न करना, जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा रोग, इन चारोंमें बारम्बार दुःख और दोषोंहीका विचार करना, (संसारके प्रत्येक पदार्थमें ये चारों हैं) घर, स्त्री तथा पुत्रमें बहुत आसक्ति और ममता न रखना, प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा समचित्त रहना, मुझ (परमात्मा) में अनन्य योगसे अव्यभिचारिणी भक्ति रखना, एकान्त-

वासकी आदत, बहुत भीड़भाड़का नापसन्द होना, अध्यात्मज्ञानमें सदा स्थिर रहना, तत्त्व-ज्ञानके असली ध्येय परमात्माको समझ लेना—बस, इन्हीं बातोंका नाम ज्ञान है। इसके अलावा और जो कुछ है वह सब अज्ञान है। ज्ञानके झण्डेके नीचे वह नहीं आ सकता।'

और यह वर्णन समुचित भी है। किसी भी मनुष्यमें ठीक-ठीक बोध हो जानेपर ये सब बातें न होंगी तो और क्या होंगी ?

भगवान् श्रीकृष्णने एक जगह सूक्ष्मरूपसे भी ज्ञानका दिग्दर्शन कराया है। आप फरमाते हैं—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।
(गीता १३। २)

'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका अच्छी तरह समझ लेना ही मेरी रायमें ज्ञान है।'

यहाँपर शिक्षितसमुदाय सतर्क हो सकता है। यह प्रश्न उठ सकता है कि ऐसे ज्ञानको लेकर हम क्या करेंगे, जिससे हमारा संसार, हमारा घर-द्वार सभी कुछ छूट जाय, हमारे काम-काज न हो सकें। परन्तु गीतामें ऐसी बात नहीं है। गीता कहती है—

'संसारके विषयोंको, वशमें किये हुए अन्तःकरण-वाला पुरुष राग और द्वेषसे शून्य होकर अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंसे भोग करे। ऐसे भोगसे प्रसन्नता आवेगी और उस प्रसन्नताकी बदौलत बुद्धि स्थिर होगी। (जिससे ज्ञानका प्रादुर्भाव होगा)।'

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
(गीता २। ६४। ६५)

ज्ञान तो मन-इन्द्रियोंको वशमें करके स्त्री-पुत्रादिकी ममता छोड़नेको कहते हैं। स्त्री-पुत्र छोड़नेको थोड़े ही। रही कामकी बात, तो स्वार्थभावसे शून्य होकर भगवदर्थ सभी काम-काज किये जा सकते हैं। भगवदर्थ कर्मोंकी कहीं मनाही नहीं है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥
(३। ९)

'हे अर्जुन! इस संसारमें भगवदर्थ किये जाने-वाले कर्मोंके अतिरिक्त और जितने कर्म होते हैं वे ही जीवको बाँधनेवाले होते हैं। तू सङ्ग छोड़कर भगवदर्थ परोपकारके लिये कर्म कर।'

ज्ञानकी दशामें निष्कामभावसे परोपकार-सम्बन्धी कर्म ही प्रायः बनते हैं। स्वार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले कर्मकी तो उसके हृदयमें कल्पना भी नहीं होती।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

'हे अर्जुन, यह कर्मोंकी भागा-दौड़ी ज्ञान हो जानेपर स्वयं ही शान्त हो जाती है।'

यथार्थमें साधनकालका ठीक-ठीक बोध या ज्ञान तभी कहा जा सकता है, जब मनुष्य अपने मनुष्य-शरीरका चरम लक्ष्य समझे और समझकर उसे प्राप्त करनेके लिये उद्योगी बने। जबतक यह नहीं तबतक ज्ञान कहाँ।

इस चरम लक्ष्यको समझाते हुए, वशिष्ठ मुनि कहते हैं—

वैराग्याभ्यासवशतस्तथा तत्त्वावबोधनात्।
संसारस्तीर्यते तेन तेष्वेवाभ्यासमाहर॥
(योगवाशिष्ठ, निर्वाणप्रकरण)

'हे प्यारे राम! वैराग्य और अभ्याससे तत्त्वको समझ लेनेपर ही इस संसारको पार किया जा सकता है। इसलिये तुम इन्हीं तीनोंका बारम्बार अभ्यास करो।'

यह है ज्ञानका स्वरूप। इस दिग्दर्शनको ध्यान-में रखकर विचारनेसे मालूम होता है कि आजकल ज्ञानका अर्थ नहीं, प्रत्युत अनर्थ किया जाता है। जिसे लोग ज्ञान समझते हैं वह ज्ञानसे दूर ही नहीं बल्कि उसका बिल्कुल उलटा है।

महात्मा लालदास

(लेखक—विद्यावाचस्पति पं० श्रीगणेशदत्तजी शर्मा गौड 'इन्द्र')

महात्मा लालदासजीका जन्म अलवर-राज्यान्तर्गत धौलीधूब नामक ग्राममें वि० सं० १५९७ (ई०सन् १५४०) में हुआ था। लालदासजीके जीवन-चरित्रका विशेष आधार उनके पद्य हैं। इनका जन्म मेवा-जातिमें हुआ था। मेवा नाममात्रके मुसलमान होते हैं क्योंकि उनके रीति-रिवाज, रहन-सहन और आचार-विचार बिल्कुल हिन्दुओंके समान ही होते हैं।

महात्मा लालदासका जन्म एक गरीब घरमें हुआ था। उनका बाल्यकाल धौलीधूबमें ही गुजरा। यह धौलीधूब अलवर (राजपूताना) से उत्तर दिशामें दो कोस दूरीपर पहाड़ोंमें बसा हुआ एक रम्य ग्राम है। जब लालदासने किशोरावस्थामें पदार्पण किया तब वे पहाड़ोंमें जाकर लकड़ियाँ काट लाने और उन्हें बेचकर अपना निर्वाह चलानेका कार्य करने लगे। इस कार्यसे जो समय बचता उसमें वे प्रभु-नाम-स्मरण करते रहते। भगवद्भक्तिके कारण कुछ ही दिनोंमें वे प्रसिद्ध हो गये और उनके चमत्कार लोगोंको आश्चर्य-में डालने लगे। तिजारा नामक स्थानके रहनेवाले एक फकीर चिश्तीगदनने लालदासकी कीर्ति सुनकर उनसे भेंट की और उन्हें हिन्दू-मुसलमान दोनोंको ही शिक्षा देनेकी सम्मति दी।

कुछ दिनों बाद महात्मा लालदास रामगढ़ परगनेके बाँदोली नामक गाँवमें जा रहे। यह गाँव अलवरसे उत्तर-पूर्व आठ कोसकी दूरीपर है। यहाँ वे परोपकार-में अपना अधिक समय व्यतीत करने लगे। वे एक पहाड़ीकी चोटीपर रहते थे और भयानक गर्मीके मौसममें भी वे कड़ी-से-कड़ी धूपमें पड़े रहते थे। उन्हें जङ्गलके हिंस्र प्राणी, सर्प, सिंह आदि कोई नहीं सताता था और न कोई शारीरिक व्याधि ही उन्हें होती थी। धीरे-धीरे सभी जातिके लोग उनका शिष्यत्व स्वीकार करने लगे। परन्तु एक तेली शिष्यने उनसे अद्भुत शक्ति आशीर्वाद-रूपमें प्राप्त की। जब वह तेली अपनी उस शक्तिका दुरुपयोग करने लगा तब लालदासने उस शक्तिको निष्फल बना दिया। इसके बाद लालदासने झूठे और स्वार्थी शिष्योंको अपने पाससे दूर हो जानेकी आज्ञा दी। उनमें कुछ मुसलमान भी थे, उन्होंने वहाँके हाकिमको लालदासके विरुद्ध बहकाकर उन्हें कष्ट पहुँचानेमें कुछ उठा न रक्खा, किन्तु उस महापुरुषका कुछ भी बिगाड़ नहीं सके।

एक यवनने किसी परस्त्रीकी इज्जत बिगाड़ी, दैवयोगसे उसकी मृत्यु हो गयी। लालदासके विरोधियों-ने इसका दोषी उन्हें ठहराया। बहादुरपुरके मुसलमान हाकिमने लालदासको शिष्योंसहित अपने यहाँ बुलाया। जब उसने उनके साथ मुसलमान और हिन्दू दोनों जातिके शिष्योंको देखा तो वह अचम्भेमें हो गया। लालदाससे उस मुसलमानकी मृत्युका कारण पूछा गया तो उन्होंने कहा कि मुझे इस विषयमें कुछ भी पता नहीं। हाकिमने उनपर और उनके शिष्यों-पर पाँच-पाँच रुपये जुर्माना किया। महात्मा लालदास-ने जुर्माना देनेसे स्पष्ट इन्कार कर दिया, तब एक जहरीले कुएँका पानी मँगवाकर उन सबको पिलाया गया, परिणाम यह हुआ कि उन लोगोंका तो बाल भी बाँका न हुआ बल्कि वह कुआँ ही अच्छे पानीका हो गया। वह कुआँ आज भी 'मीठा कुआँ' नामसे प्रसिद्ध है।

एक बार मुसलमानोंने फिर लालदासको विपत्तिमें

डालना चाहा, परन्तु उनके तपोबलने सब विघ्न-बाधाओंको नष्ट कर डाला। जब बाँदोलीमें उन्हें सताया जाने लगा तो वे वहाँसे चल दिये और टोड़ी नामक गाँवमें आ रहे! दुष्टोंने यहाँ भी उनका पीछा न छोड़ा और कष्ट पहुँचाने लगे तो वे वहाँसे भी चल दिये। जब वे नारोली गाँवमें आये तो उन्होंने वहाँके निवासियोंसे पीनेको पानी माँगा, किन्तु लोगोंने उन्हें पानी नहीं पिलाया। इस अनादरका परिणाम यह हुआ कि नारोलीके सब कुएँ उसी साल सूख गये।

नारोलीसे चलकर वे रसगन (रामगढ़) में आये। यहाँके निवासियोंने उनका अच्छा स्वागत-सत्कार किया। कुछ दिनोंतक महात्मा लालदासने यहाँ निवास किया। जैसी महात्माओंके सम्बन्धमें कुछ-न-कुछ चमत्कारपूर्ण अद्भुत बातें कही जाती हैं वैसी ही इनके सम्बन्धमें भी कही जाती हैं। हम उनमेंसे कुछेक पाठकोंके मनोविनोदार्थ यहाँ लिखते हैं।

१–कहते हैं तिजाराके मुसलमान हाकिमने लालदासको अपने घर निमन्त्रितकर अच्छा स्वागत-सत्कार किया। भोजनमें पका हुआ मांस भी उनके आगे ला रक्खा। महात्मा लालदासने मांस खानेसे इन्कार कर दिया। इसपर हाकिमने कहा 'आप मुसलमान हैं और मांस मुसलमानोंके लिये जायज़ है।' यह सुन लालदासने कहा—'भाई! जो दूसरोंका गला काटता है वह स्वयं अपना गला काटता है। खुदा ऐसे लोगोंको दोज़खमें डालता है। इतना कहकर उन्होंने मांस हाथमें उठा लिया जो उनके छूते ही भात बन गया। उस हाकिमने उन्हें जादूगर समझकर शिष्योंसहित गिरफ्तार करके जेलमें भेज दिया। जब उसने सुबह जाकर जेलखाना देखा तो वहाँ न तो महात्मा लालदासको पाया और न उनके शिष्योंको ही। इसपर हाकिमने पहरेदारोंको क़ैद कर लिया। उसी समय महात्मा लालदास शिष्योंसहित जेलखानेमें दिखायी पड़े। उनका यह चमत्कार देखकर हाकिम बड़ा ही शर्मिन्दा हुआ और उन्हें शीघ्र ही जेलसे छोड़ दिया।

२–आगरेके एक कायस्थको कोढ़ हो गया था। वह इलाज करके थक चुका था। जब उसने महात्मा लालदासकी कीर्ति सुनी तो वह उनकी शरण आया। लालदासने कहा कि 'तू अपनी सारी सम्पत्ति दान करके फकीर बन जा और अपना मुँह काला करके गधेपर सवार हो प्रयागमें जा, वहाँ त्रिवेणीपर स्नान कर। उसने ऐसा ही किया। उसका कोढ़ जाता रहा।

३–महात्मा लालदासने संवत् १८८४ के दुर्भिक्षकी भविष्यवाणी की थी।

४–मथुराके नागचरणदासको जो अपने सात सौ शिष्योंसहित लालदासके आश्रममें आया था, झोंपड़ीमें कुछ भी न होनेपर मनोवाञ्छित भोजन करा तृप्त किया। इत्यादि।

महात्मा लालदासके एक पुत्र पहाड़ नामक और एक लड़की स्वरूपा नाम्नी थी। ये दोनों सन्तानें भी अपने पिताकी तरह भक्त और चमत्कारी हुईं। महात्मा लालदासने पूर्णायु प्राप्त की। वि० सं० १७०५ (ई० सन् १६४८) में १०८ वर्षकी अवस्थामें उनका स्वर्गवास हुआ। अलवर-राज्यकी सीमापर भरतपुर-राज्यान्तर्गत नगला नामक गाँवमें उनके शरीरको विधिपूर्वक गाड़ा गया। आज भी यह स्थान तीर्थोंकी भाँति पूजा जाता है।

महात्मा लालदास कवि थे, उनकी वाणीको भक्तलोग बड़ी श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक गाते हैं। यहाँ उनमेंसे कुछ उद्धृत किये जाते हैं–

१-लालजी भगत भीख न माँगिये, माँगत आवे शरम।
घर-घर हाँडत दुःख है, क्या बादशाह क्या हरम॥
२-लालजी साधू ऐसा चाहिये, धन कमाकर खाय।
हिरदे हरकी चाकरी, पर घर कभूँ न जाय॥
३-साधू ऐसा चाहिये, चौड़े रहे बजाय।
की टूटे की फिर जुड़े, मनका धोका जाय॥
४-लालजी हक खाइये हक पीइये, हककी करो फरोह।
इन बातों साहिब खुशी, बिरला बरते कोय॥
५-लालजी घर करो तो हल करो, सुनो हमारी सीख।
दोज़ख वे ही जायँगे, घरबारी माँगें भीख॥
६-क्या मँगतेका मान है, माँगे टुकड़ा खाय।
कुत्ता ज्यों हाँडत फिरै, जनम अकारथ जाय॥
७-सूरा वोही जानिये, लड़े धनीके हेत।
पुरजा-पुरजा हो पड़े, तो ना छोड़े खेत॥
८-सो धन लाल न साँचरो, सो आगेका होइ।
कन्धा पीछे गाँठड़ी, जा तन देखे कोइ॥

पुनर्जन्म

(लेखक—श्रीशिवबालकजी)

हिन्दू-धर्ममें पुनर्जन्मका सिद्धान्त सर्वमान्य है। त्रिकालज्ञ और योगके प्रभावसे परम शक्तिको प्राप्त ऋषियोंने सब बातोंको, लोक-परलोकको प्रत्यक्ष करके इस सिद्धान्तकी घोषणा की थी। समय-समयपर इसके प्रत्यक्ष उदाहरण भी पाये जाते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि शुभ कर्म करनेसे प्राणी उत्तरोत्तर उच्च गतिको और अशुभ कर्मोंसे नीच गतिको प्राप्त होता है। यहाँ दो-तीन सच्ची घटनाएँ लिखी जाती हैं।

(१)

बीना-इटावा बस्तीमें, जो बीना जंक्शन जी० आई० पी० रेलवेसे लगी हुई है, आठ वर्ष पूर्व प्यारे काछी नामक एक किसान रहता था। इसके तीन लड़के मरदन, कलुआ और हल्का अभी मौजूद हैं और शाक-भाजीकी किसानी कर अपनी गुजर करते हैं। समय आनेपर प्यारे काछीका शरीरपात हुआ और इसने खुरईनिवासी जानकी असाटी (वैश्य) के गृहमें पुत्ररूपसे जन्म लिया।

जानकी असाटीका घर प्रभु-कृपासे सन्तति-सम्पत्तिसे भरपूर है। स्वयं जानकीप्रसाद वैष्णव-धर्ममें निष्ठा रखते और प्रतिवर्ष कुछ-न-कुछ धर्मकृत्य (यथा श्रीमद्भागवतकी कथा कहलाना, ब्राह्मण-भोजन आदि) किया करते हैं। इस नवजात पुत्रका नाम बालमुकुन्द रक्खा गया। जब बालककी वाणीमें स्फुरणा उत्पन्न हुई, तब वह बहुधा कलुआ और हल्काका नाम लेता और अपने घरकी याद करता। सुननेवालोंको इस विषयके तथ्य जाननेकी उत्सुकता हुई। तब एक दिन बालकका पिता तथा कई मित्र उसे बीना-इटावा ले आये। लड़का जब बस्तीमें पहुँचा, तब वह सीधा अपने घरकी ओर भागा। पिता तथा अन्य लोग साथ थे। पिताने कहा कि 'अपने लड़कोंको बुलाओ।' बालक मरदन, कलुआ, हल्का आदि नाम ले-लेकर उन्हें पुकारने लगा। घरकी स्त्रियाँ भी बाहर निकल आयीं। बालकने उन्हें देखकर प्रसन्नता प्रकट की। घरमें कुछ द्रव्य उसके हाथका कहीं गड़ा था, बालकने पता बताकर कहा उसे निकाल लेना और अपना काम चलाना।

प्यारे काछीका जीवन अत्यन्त सरल और विनयशील था। गाढ़े पसीनेकी कमाईसे वंश-पालन करना और लोगोंके साथ मैत्रीभावसे बर्ताव करना उसका मरण-पर्यन्त ध्येय रहा। फलस्वरूप उसे पुनः अच्छे घरमें मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ। अब बालमुकुन्द पिछली बातें भूल गया है।

(२)

खुरई तहसीलमें लाखनखेरा नामका मौजा है। यहाँ धारुसिंह नामक एक किसान रहते हैं। धारुसिंहके जब पुत्र उत्पन्न हुआ, तब उसकी जाँघमें एक फोड़ा दिखायी दिया। मालूम हुआ वह पेटमें ही हो गया था। खुरईके वैद्य भवानी नेमाके यहाँसे जब मलहम आयी तब उसके लगानेसे फोड़ा कुछ दिनोंमें आराम हो गया। लड़केका नाम रघुवर रक्खा गया। इस समय लड़केकी उम्र आठ सालकी है। एक दिनकी बात है कि मालथौननिवासी कन्छेदी नामका लढ़िया (राज) लाखनखेरेमें आया। लड़केकी दृष्टि ज्यों ही इस लढ़ियापर पड़ी, त्यों ही वह कहने लगा कि यह मेरे पहले जन्मका शत्रु है, इसने मेरी जाँघमें गोली मारी थी।

पहले तो कन्छेदीको आश्चर्य हुआ, पर दो-चार बार जब लड़का वही बात कहता गया तब कन्छेदीको स्मरण आया। कन्छेदीने कहा कि एक बार ग्राम बरखेड़ा, रियासत कोरवाईमें डाका पड़ा था, मैंने डाकुओंके ऊपर कई फैर किये थे और उस समय एक डाकूकी जाँघमें गोली लगी थी। लड़केने अपना पूर्वजन्मका नाम नहीं बतलाया।

(३)

लालजूप्रसाद यादव हिन्दी मिडिल स्कूल बीना-इटावाके हेडमास्टर हैं। इनकी धर्मपत्नीके गलेमें कण्ठमालका रोग उत्पन्न हुआ। अनेक आयुर्वेदिक तथा ऐलोपैथिक ओषधियाँ लगायी गयीं, पर कुछ भी लाभ न हुआ। निदान खबर मिली कि जरुआखेड़ामें एक मनुष्य इस रोगको झाड़ता है, (जरुआखेड़ा बीना जंक्शनसे चौबीस मीलकी दूरीपर बीना-कटनी लाइनपर रेलवे स्टेशन है) हेडमास्टर साहब अपनी धर्मपत्नीको वहाँ ले गये। झाड़नेवाले महाशयने एक मटका और एक काँसेकी थाली मँगायी और लकड़ीकी एक पटियापर सर्पोंके चित्र बनाकर और स्त्रीको उसके सम्मुख बिठाकर प्रयोग करना शुरू किया। ये भाई जिस समय झाड़ा-फूँकी करते थे, उस समय रामायणके पद गाते थे। पासमें मटकापर काँसेकी थाली रक्खी रहती थी। ज्यों-ज्यों गान होता था। त्यों-त्यों थाली पात्रपर आप-ही-आप उछलती रहती थी। एक-दो दिन तो कुछ न हुआ पर पीछे रोगीको बेहोशी होने लगी। वह सिर घुमावे, पर बोले कुछ नहीं। मन्त्र-प्रयोग होनेपर जब शान्ति होवे, तब मास्टर साहब नित्य पूँछें कि क्या हुआ था, कैसा मालूम होता था, पर रोगी यही कहे कि मुझे एकाएक बेहोशी हो जाती है और कुछ मालूम नहीं रहता।

झाड़नेवाले महाशय हताश न हुए। उन्होंने कहा कि रोगी अवश्य बोलेगा। आप एक महीनेकी छुट्टीका प्रबन्ध कर लें। मास्टर साहबने एक माहकी छुट्टी ली। यह बात जरूर हुई कि जिस दिनसे झाड़ना शुरू हुआ था रोग क्रमशः क्षीण होता जाता था।

सतरहवें दिन रोगीकी बेहोशीका रूप बदला और उस शरीरमें वह आत्मा जो रोगरूपमें कष्ट दे रही थी, बोली कि 'मैं इस स्त्रीके प्राण लेकर छोड़ूँगा। बहुत कुछ कहने-सुननेपर उसने कहा कि 'यह लड़की पूर्वजन्ममें भेलसाकी रहनेवाली एक ब्राह्मणी थी, इसका नाम मुला था (भेलसा-रियासत ग्वालियरमें जी० आई० पी० रेलवेका स्टेशन है।) इसके कई

लड़के थे। मैं सर्प हूँ, मेरा भेलसामें चबूतरा है जो ठाकुरबाबाके नामसे प्रसिद्ध है। एक दिन मैं इसके घरमें घूम रहा था, कि यह दूध लगाने पौरमें आयी, मैं एक सूराखमें घुस गया, पर इसने अपने लड़कोंको इशारा किया और उन्होंने सूराखमें लकड़ी डाल-डालकर मुझे घायल कर दिया। आखिर मैं एक घासके ढेरमें जा घुसा और इसने उसमें आग लगवा दी।'

बहुत कुछ अनुनय-विनय करने और साठ गरीब मनुष्योंको भोजन देनेके वादेपर सर्पने वचन दिया, कि मैंने स्त्रीको छोड़ दिया। उसी दिन कण्ठकी सारी फुन्सियाँ सूख गयीं।

मास्टर साहब इस पूर्वजन्मके सुने हुए वृत्तान्तका मिलान करनेके लिये स्वयं भेलसा गये और वहाँ ठाकुरबाबाका चबूतरा पाया। ब्राह्मणीका घर जरूर रहा, पर वहाँ कोई न मिला।

भगवान् श्रीरामजीने बाली-बधके पूर्व सुग्रीवके कहनेपर सप्त-ताल-वृक्षका एक बाणसे भेदन किया था। ये सप्त-ताल नागकी अस्थिमेंसे फूट निकले थे और श्रीरामजीकी दयासे उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ था।

झाड़नेवाले महाशय इसी राम-नाम या राम-भजनसे झाड़ा-फूँकी करते हैं। इस युगमें कण्ठके आस-पास एड़ी-टेढ़ी पंक्तिमें ग्रन्थि निकलना तथा ऊपरकी प्रत्यक्ष भोगी हुई विधिका मिलान, सर्पको सतानेसे कण्ठमालसे ग्रस्त होना तथा एक या कई जन्मका शत्रु या मित्रभाव बराबर प्राप्त होते रहना सिद्ध होता है।

संसारकी असारतापर कुछ प्राचीन दोहे

तनकी तनक सरायमैं, तनक न पायौ चैन।
स्वास नगारे कूचके, बाजत हैं दिन-रैन॥ १॥
नदी-किनारे देखिये, 'सम्मन' सब संसार।
कोइ उतरे कोइ चढ़ि रहे, (कोइ) बगुचा बाँधि तयार॥ २॥
बैठि-बैठि बहुतक गये, जग तरवरकी छाँहि।
सहज बटाऊ बाटके, मिलि-मिलि बिछुरत जाँहि॥ ३॥
तात मात तुम्हरे गये, तुम भी भये तयार।
आज कालमैं तुम चलौ, 'दया' होंहु हुसियार॥ ४॥
बड़ो पेट है कालको, नेक न कहूँ अघाय।
राजा राना छत्रपति, सबकों लीले जाय॥ ५॥
'सम्मन' रोवैं कौनकों, हँसै सु कौन बिचार।
गये सु भावनके नहीं, रहे सु जावनहार॥ ६॥

विवेक-वाटिका

सब ओर फैले हुए चित्तको खींचकर एक स्थानमें स्थिर करे और फिर कुछ भी चिन्तन न करता हुआ मेरे मधुर मुसुकानयुक्त मुखके ध्यानमें ही उसे लगा दे।

—भगवान् श्रीकृष्ण

❀ ❀ ❀

परमात्मा निश्चय ही हमें सुख देते हैं। यदि हमारे पीछे पाप न लगे तो हमारे सामने सदा कल्याण ही होता रहे।

—ऋग्वेद

❀ ❀ ❀

महर्षियोंने प्रतिष्ठाको शूकरी-विष्ठाके समान अत्यन्त हेय बतलाया है अतएव त्यागीको सदा कीटकी तरह प्रतिष्ठाहीन होकर विचरण करना चाहिये। —उपनिषद्

❀ ❀ ❀

जो कोई मनुष्य दोषबुद्धिसे रहित होकर श्रद्धावान् हो मेरे (भगवान्के) मतके अनुसार चलते हैं, वे पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं। —श्रीमद्भगवद्गीता

❀ ❀ ❀

सब इन्द्रियोंमेंसे यदि एक भी इन्द्रिय विचलित हो जाती है तो उससे इस मनुष्यकी बुद्धि ऐसे चली जाती है जैसे मशकमें जरा-सा छेद होनेपर तमाम जल निकल जाता है। —मनु महाराज

❀ ❀ ❀

चैतन्यरूप वस्त्रसे युक्त महाभाग्यवान् पुरुष वस्त्रहीन, वस्त्रयुक्त अथवा मृगचर्मादि धारणकर उन्मत्तके समान, बालकके समान अथवा पिशाचादिके समान स्वेच्छानुसार भूमण्डलमें विचरते रहते हैं। —शंकराचार्य

❀ ❀ ❀

भगवान्की भक्ति करना ही मनुष्यका परमपुरुषार्थ है। उन्हींकी भक्ति करके परमशान्तिको प्राप्त करो।

—श्रीचैतन्य महाप्रभु

❀ ❀ ❀

मेधावी और बहुश्रुत सत्पुरुषोंका संग करो, क्योंकि अर्थको न जानकर जो महापुरुषोंकी शरण लेता है वह उसको जानकर सुख प्राप्त करता है। —बुद्धदेव

❀ ❀ ❀

जब एक रामके शरण लेनेसे ही स्वार्थ और परमार्थ सहजमें ही सिद्ध हो जाते हैं तब दूसरेके द्वारपर जाकर अपनी हीनता दिखलाना उचित नहीं।

—गो० तुलसीदासजी

❀ ❀ ❀

मनुष्य, उस दिनको याद रख जिस दिन तेरी देह छूट जायगी और जंगलमें ले जाकर जला दी जायगी यहाँका न कुछ संग जायगा और न वहाँ कोई सहायक होगा। --चरनदासजी

❀ ❀ ❀

व्याकुल होकर उसके लिये रोनेसे वह मिलता है। लोग लड़के-बालेके लिये, रुपये-पैसेके लिये कितना रोते हैं, किन्तु भगवान्के लिये क्या कोई एक बूँद भी आँसू टपकाता है? उसके लिये रोओ, आँसू बहाओ, तब उसको पाओगे। —रामकृष्ण परमहंस

❀ ❀ ❀

मूर्ख समझता है कि वह इन्द्रियोंके सुख लूटता है किन्तु वह यह नहीं जानता कि अस्वच्छ विचार या कार्यके बदलेमें उसकी जीवन-शक्ति ही बिक जाती अथवा नष्ट हो जाती है। —स्वामी रामतीर्थ

❀ ❀ ❀

हृदयकी सरलता और निर्मलता ईश्वरीय ज्योति है। यह ज्योति ही ईश्वरका मार्ग दिखलाती है। प्रभुसे क्षमाकी आशा इन साधनोंकी ओर खींचती है, प्रभुका भय ही पापसे निवृत्त करता है और प्रभुमहिमाका स्मरण ही इस सत्यके मार्गपर आगे बढ़ाता है।

—तपस्वी अबुलकासिम

❀ ❀ ❀

भगवान्के दास कहलाकर जगत्की आशा मत रक्खो। जब समर्थ स्वामीको प्राप्त कर लिया तब किसीके सामने दीन क्यों होते हो? —पलटू साहेब

❀ ❀ ❀

गीता-प्रचारक पं० श्रीनरहरिविष्णु शास्त्री गोडसे

इस संसारसे अच्छे-अच्छे पुरुष बड़ी तेजीसे उठे जा रहे हैं। अभी उस दिन बम्बई गीतापाठशालाके प्रसिद्ध परम लोकप्रिय, प्रभुके प्रियपात्र पं० नरहरिजी शास्त्री गोडसे महोदय यहाँसे चल दिये। इस समय आपकी उम्र ६५ वर्षकी थी, आपका गीता-स्वाध्याय अन्ततक चालू था। गोडसेजी महाराज गीताके अद्भुत वक्ता और ज्ञाता थे। जिन लोगोंको आपके मुखसे निकले हुए गीतामृतको पान करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे ही आपके प्रगाढ़ पाण्डित्यको जानते हैं। विद्या प्राप्त करके पहले आपने कुछ साल आर्य-समाजमें काम किया था, परन्तु कई कारणोंसे वह कार्य छोड़कर आपने अबसे २६ वर्ष पूर्व गीता-पाठशाला स्थापित की थी। गीताका अध्ययन अध्यापन, प्रवचन तो वहाँ प्रतिदिन ही होता था, परन्तु प्रत्येक एकादशीके दिन रातको बड़े समारोहके साथ आप गीताके एक श्लोकपर प्रवचन करते थे। हजारों पुरुष और स्त्री आपका मधुर प्रवचन सुनकर लाभ उठाते थे। आपके श्रोताओंमें बड़े-बड़े उच्च शिक्षित और उच्च पदस्थ सज्जन थे। गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायणके प्रति भी आपकी बड़ी श्रद्धा थी। आपके द्वारा बम्बईमें गीताके प्रचारका जो महान् कार्य हुआ, लाखों मनुष्य जो गीता-प्रेमी बन गये, वह सर्वथा स्तुत्य है। प्रभुकृपासे ही इसप्रकारके कार्य करनेका सौभाग्य मिलता है। आपका जीवन गीताके अनुसार निरन्तर ज्ञानयज्ञद्वारा प्रभुकी पूजा करनेमें ही बीता। आपकी-सी निस्पृहता और त्यागवृत्ति बहुत कम लोगोंमें मिलती है! ललचानेवाले सैकड़ों अवसर आये, परन्तु आप कभी न डिगे। भोजन, वस्त्र और रहन-सहन सबमें आपने सादगीको सदा समानरूपसे निबाहा। आप बड़े ही मधुरभाषी थे और सदा हँसमुख रहते थे। ऐसे पुण्य-जीवन पुरुषका वियोग अवश्य ही कष्टप्रद होता है परन्तु ऐसे गीता-भक्तके लिये शोकका कोई स्थल नहीं। शोक तो उसके लिये करना चाहिये, जिसका जीवन भगवद्विमुख होकर केवल विषय-सेवनमें बीतता है। आपका जीवन तो पवित्र और आदर्श था। आनन्दकी बात है कि आपके पीछेसे आपके द्वारा बनाये हुए आपके सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र पं० श्रीअप्पाजी शास्त्री और भानजे पं० श्रीबैजनाथजी शास्त्री आपके परमप्रिय गीताप्रचारका कार्य बड़ी ही योग्यतासे चला रहे हैं।
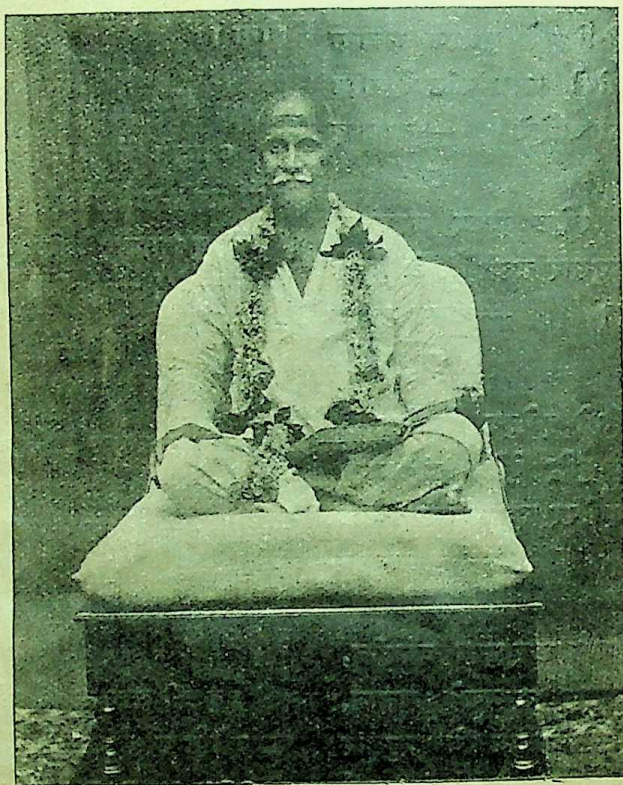
श्रीरामो जयति

श्रीरामायण-प्रसार-समिति, गोरखपुर, परीक्षा-फल संवत् १९८९ वि०

उत्तमा (द्वितीय खण्ड)

द्वितीय श्रेणी

क्रम संख्या	नाम उत्तीर्ण परीक्षार्थी	केन्द्र	पुरस्कार
४	बैजनाथप्रसाद वकील बी० ए० एल-एल बी०	सागर ...	१३)
१	चन्द्रदीप पाण्डेय ...	बाँसडीह ...	४)
३	रामलाल बड़ौनियां बी० ए० डिप्टी-इन्स-पेक्टर आफ स्कूल्स ...	सागर ...	
६	घनश्यामप्रसाद 'विशारद'	,, ...	

तृतीय श्रेणी

क्रम संख्या	नाम उत्तीर्ण परीक्षार्थी	केन्द्र	पुरस्कार
५	भैयालाल कन्हौआ ...	सागर ...	

उत्तीर्ण-श्रेणी

क्रम संख्या	नाम उत्तीर्ण परीक्षार्थी	केन्द्र	पुरस्कार
२	शालिग्राम रावत ...	धरमपुरी ...	
७	दुर्गाप्रसाद भार्गव ...	सागर ...	

उत्तमा (प्रथम खण्ड)

द्वितीय श्रेणी

क्रम संख्या	नाम उत्तीर्ण परीक्षार्थी	केन्द्र	पुरस्कार
५	हीरालालसिंह ...	उ. प्र. का. काशी	१३)
६	रामधारीसिंह ...	,, ...	४)

तृतीय श्रेणी

क्रम संख्या	नाम उत्तीर्ण परीक्षार्थी	केन्द्र	पुरस्कार
३	रामचन्द्रसिंह ...	उ. प्र. का. काशी	
४	ब्रह्मदेवसिंह ...	,, ...	
७	यंत्रीप्रसादसिंह ...	,, ...	
८	कुलदीपनारायणसिंह	,, ...	
९	मृत्युञ्जयसिंह ...	,, ...	

उत्तीर्ण-श्रेणी

क्रम संख्या	नाम उत्तीर्ण परीक्षार्थी	केन्द्र	पुरस्कार
२	लखराजसिंह ...	लक्ष्मीपुर ...	
२२	विश्वनाथ मिश्र ...	खोपापार ...	
२४	श्रीकान्त द्विवेदी ...	गोरखपुर ...	

मध्यमा

प्रथम श्रेणी

क्रम संख्या	नाम उत्तीर्ण परीक्षार्थी	केन्द्र	पुरस्कार
९४	बैजनाथ पाण्डेय ...	हिराजपट्टी ...	१२)
१५२	सिद्धगोपाल अग्निहोत्री	लखनऊ ...	१०)

द्वितीय श्रेणी

क्रम संख्या	नाम उत्तीर्ण परीक्षार्थी	केन्द्र	पुरस्कार
५२	रामजन्मसिंह	उ. प्र. का. काशी	६)

प्रथमा

प्रथम श्रेणी

क्रम संख्या	नाम उत्तीर्ण परीक्षार्थी	केन्द्र	पुरस्कार
२३	मंगलमहतो ...	बादी ...	८)
४७३	रामकृष्ण अरोड़ा ...	दिल्ली ...	५)
५०६	रामशंकर ...	स्लीमनाबाद	३)
५०५	रामसेवक पाण्डेय ..	,, ...	२)
३२८	बब्बनप्रसाद मिश्र ...	रिगौली ...	२)
३७०	बाबूराम ...	संवरा ...	२)

बालिका-परीक्षा

द्वितीय श्रेणी

क्रम संख्या	नाम उत्तीर्ण परीक्षार्थी	केन्द्र	पुरस्कार
२५	प्रेमधारी देवी ...	हिराजपट्टी ...	५)
१३	उमा देवी ...	देवघर ...	३)
१०३	रामदुलारी देवी ...	जहानाबाद	३)
१०६	मनोरमा देवी ...	भोपाल ...	३)
३	कमलाकुमारी ...	चमनपुरा ...	२)
८३	विद्याबाई ...	बख्तगढ़ ...	२)
५२	इन्दुमती ...	सा० वि० कलकत्ता	२)

प्रथम श्रेणी*

क्रम संख्या	नाम उत्तीर्ण परीक्षार्थी	केन्द्र	पुरस्कार
९६	वसन्तीबाई ...	सागर ...	२)
९७	दीपाबाई ...	,, ...	२)

शिशु-परीक्षा

प्रथम श्रेणी

क्रम संख्या	नाम उत्तीर्ण परीक्षार्थी	केन्द्र	पुरस्कार
३७१	रघुराज मिश्र ...	बरहज ...	८)
३४९	मंगलानन्द पंड्वै ...	देवघर ...	५)
३७३	दीपराज त्रिपाठी ...	बरहज ...	३)
६५	हरिराम वर्मा ...	शिकारपुर ...	३)
७४६	राममिलन त्रिपाठी ...	विजयराघवगढ़	३)
६२४	आनन्दकिशोर ...	अयोध्या ...	२)
२७७	गूडनप्रसाद यादव ...	लक्ष्मीपुर ...	२)
२६४	बनारससिंह ...	इसलामपुर	२)
७२४	केशवप्रसाद मिश्र ...	स्लीमनाबाद	२)
३५३	संग्राम दुइ ...	देवघर ...	२)

* ये शिशु-परीक्षामें सम्मिलित हुई थीं।

पुरस्कार अप्राप्त

मध्यमा

द्वितीय श्रेणी

५, ७, ३५, ४४, ४६, ४८, ५०, ५१, ५४, ५६, ५७, ५८, ६२, ६५, ६७, ६९, ७८, ८५, ८६, ८७, ८८, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०७, १०९, ११०, १११, ११३, १२३, १३९, १५३, १५४, १५७, १७०, १७१, १७२, और १७३।

तृतीय श्रेणी

४, ८, १०अ, ३६, ४५, ४७, ५५, ५९, ७२, ७४, ८२, ८३, ८९, ९१, ९७, १०६, ११२, ११४, १२०, १२६, १२७, १२८, १३०, १३१, १३२अ, १३४, १३५, १४०, १५५, १५६, १६१, १६३, और १६७।

उत्तीर्ण-श्रेणी

३, १९, २२, ३२, ३८, ३९, ४०, ४२, ६०, ७१, ७३, ८१, ९२, ९३, ९५, ९८, ९९, १०५, १०८, १२२, १२४, १३६, १३७, १४८, १४९, १६२, १६४, १६५, और १६८।

प्रथमा

प्रथम श्रेणी

१९, २१, २२, ८७, ८९, ११८, १२४, १७०, १७१, १७३, १८१, १८३, १८६, १८९, १९०, १९४, १९६, १९७, २६६, २८३, २८४, २९९, ३०४, ३०५, ३०६, ३१०, ३१६, ३२०, ३२२, ३२३, ३२४, ३३२, ३३३, ३३६, ३४३, ३४३अ, ३४७, ३४८, ३६२, ३६६, ३६८, ३७१, ३७२, ३७४, ३७८, ३८५, ४३०, ४६२, ४६६, ४७२, ४७४, ४८४, ४९४, ५०२, ५०७, ५११, ५१२, ५१३, ५१५, ५१६, ५१७, ५१८, ५१९, ५२०, ५२१, ५२२, ५२६, और ५३१।

द्वितीय श्रेणी

१, १५, १६, १७, १८, २०, २४, ३७, ४७, ५१, ५३, ६४, ७४, ८१, ११७, १२०, १२१, १२३, १२६, १४०, १५७, १५९, १६३, १६४, १६५, १६६, १७५, १७७, १७८, १८४, १८५, १८८, १९१, १९२, १९३, १९५, १९८, २००, २०१, २११, २१३, २१४, २२६, २३१, २३२, २३५, २४४, २६४, २६५, २६७, २६८, २७९, २८६, २८७, २९०, २९१, २९२, २९५, २९७, ३०३, ३०८, ३११, ३१२, ३१४, ३१५, ३१९, ३२५, ३२६, ३२९, ३३५, ३३८, ३३९, ३४६, ३४९, ३५०, ३५१, ३५२, ३५३, ३५७, ३५८, ३६०, ३६७, ३६९, ३७९, ३८०, ३८१, ३८४, ३८८, ३८९, ३९०, ३९१, ३९५, ३९८, ४०७, ४११, ४१२, ४२५, ४२८, ४३२, ४३३, ४३५, ४५१, ४५२, ४५६, ४५८, ४५९, ४६३, ४६४, ४७१, ४७६, ४७८, ४९१, ५०४, ५२५, ५२८, ५३०, ५३४, ५४५, ५६४, ५६५, ५६६, ५६९, ५७०, ५७१, ५७४, ५७७, और ५८२।

तृतीय श्रेणी

६, ९, ३८, ६८, ८८, ९४, ९९, १०२, १०४, १०५, ११४, ११६, १३०, १३३, १४५, १५१, १५३, १८७, २०२, २०७, २१५, २२०, २२२, २३४, २५५, २७१, २७६, २८०, २८१, २८२, २९४, २९८, ३००, ३०७, ३३०, ३४४, ३५४, ३५६, ३६३, ३८६, ३९४, ४०२, ४०३, ४१०, ४१३, ४२२, ४२४, ४३४, ४४७, ४५०, ४६७, ४८८, ४९०, ४९५, ५०३, ५५५ और ५७५।

उत्तीर्ण-श्रेणी

१४, ३५, ३६, ४४, ४५, ५६, ८३, १०१, १०३, १०६, ११६, १२२, १२८, १४६, १४७, १४८, १५०, १६७, २०३, २०६, २०८, २१७, २१८, २१६, २२५, २३६, २७२, २७७, २८८, २९३, ३१७, ३५३अ, ३७७, ३९३, ४०८, ४१६, ४४६, ४४८, ४४६, ४५३, ४५४, ४५५, ४५७, ४६०, ४६१, ४६८, ४७५, ४८०, ४९६, ४९७, ५२७, ५२६, ५३६, ५३८, ५४०, ५४३, ५४६, ५५१, ५५२ और ५७३।

बालिका-परीक्षा

द्वितीय श्रेणी—२०, ९५ और ९९।

तृतीय श्रेणी

१४, १६, १७, १८, १९, २२, २४, २९, ३३, ३५, ५३, ५४, ५९, ६२, ६६, ७३, ७६, ७९, ८१, १००, १०२, १०५ और १०७।

उत्तीर्ण-श्रेणी

५, ११, १२, २१, ७०, ८७ और १०१।

शिशु-परीक्षा

प्रथम श्रेणी

८६, ९१, १३४, २४९, २७८, ३०२, ३२८, ३६७, ३७४, ३९१, ४२९, ४६४, ४६६, ४७१, ४७८, ४८५, ४८७, ४९६, ४९९, ५१४, ५४९, ५५४, ५९२, ५९३, ६०५, ६१०, ६१३, ६६४, ६७१, ६९०, ७२३, ७२५, ७३२, ७३९, ७४५, ७७१ और ७७२।

द्वितीय श्रेणी

१७, २४, २७, ३३, ४४, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७६अ, ८९, ९०, ११९, १३२, १३३, १४०, १६०, १६३, १६५, १६८, १६९, १७३, १७४, १७५, १७७, १७८, १८६, १८७, १९६, २००, २०१, २०६, २१७, २२६, २२७, २२८, २२९, २५१, २५३, २५५, २५६, २५७, २५९, २६५, २६९, २७४, २७५, २८४, २८७, २८९, ३०१, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७, ३१२, ३१३, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२४, ३२९, ३३६, ३४१, ३५०, ३५७, ३५८, ३६०, ३६१, ३६३, ३६५, ३६६, ३६८, ३७९, ४०१, ४०७, ४०८, ४०९, ४१०, ४१८, ४२०, ४२४, ४२६, ४३२, ४३३, ४४६, ४४९, ४५०, ४५१, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४५९, ४६०, ४६२, ४६३, ४६५, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०, ४७२, ४७३, ४७४, ४७५, ४७६, ४७९, ४८१, ४८३, ४८४, ४८६, ४८८, ४९२, ४९३, ४९४, ४९५, ५०१, ५०४, ५०५, ५१२, ५१६, ५१७, ५१८, ५२२, ५२८, ५७३, ५८८, ५९०, ५९५, ५९६, ६०६, ६११, ६१४, ६१५, ६१७, ६२५, ६३६, ६४३, ६४४, ६४७, ६४८, ६४९, ६५३, ६५४, ६५५, ६५७, ६५८, ६५९, ६६२, ६६६, ६७०, ६७२, ६७९, ६८३, ६८६, ६८८, ६८९, ७२६, ७२८, ७३३, ७३४, ७३५, ७४१, ७४२, ७४३, ७५१, ७५५, ७६८ और ७७०।

तृतीय श्रेणी

२१, २५, २६, ३०, ३८, ४३, ७८अ, ८२, ८४, ९७, ११२, ११३, १७०, १७२, १८१, १८३, १९३, १९५, १९९, २०४, २०७, २१०, २२०, २३०, २३४, २३५, २३६, २३७, २५२, २६६, २६७, २६८, २७०, २७६, २७९, २८०, २८५, २९०, २९१, २९४, २९५, २९८, ३००, ३०३, ३०९, ३१०, ३३१, ३३३, ३३४, ३४२, ३५४, ३५९, ३६४, ३७०, ३७७, ३८१, ३८३, ३८४, ३९३, ३९७, ४०३, ४०४, ४११, ४१६, ४१७, ४२१, ४२५, ४२७, ४३४, ४३५, ४३७, ४३९, ४५४, ४९१, ५००, ५०२, ५०३, ५०९, ५१०, ५१३, ५३४, ५४०, ५४१, ५४२, ५४५, ५५१, ५५८, ५६२, ५६६, ५६७, ५६८, ५६९, ५७१, ५७४, ५७५, ५७७, ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५८२, ५८७, ५८९, ५९४, ५९७, ५९९, ६००, ६०१, ६०९, ६१८, ६२०, ६३४, ६५२, ६६३, ६६७, ६६८, ६७४, ६७५, ६७७, ६८४, ६८५, ६८७, ७१४, ७२७, ७२९, ७४०, ७६७ और ७७३।

उत्तीण-श्रेणी

१६, १९, २६, ७७, १०६, १२१, १३५, १५६, १५७, १६४, १८८, १६७, १९८, २०५, २०८, २०६, २१२, २२५, २३२, २३३, २८२, ३६६, ३६५, ४०५, ४०६, ४१२, ४१४, ४१५, ४१६, ४२८, ४३०, ४४३, ४४४, ४८६, ४६०, ५०६, ५०७, ५२५, ५२७, ५३३, ५३६, ५५०, ५५६, ५७६, ५८३, ६२१, ६२६, ६२७, ६३२, ६४५, ६६९, ६७३, ६७६, ६६३, ६६४, ६६६, ६६७, ६६६, ७०८, ७२१ और ७३०।

इस वर्षके परीक्षक—

पं० श्रीश्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज, श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा एम० ए०, एल-एल० बी० एडवोकेट, श्रीकविसम्राट् पं० श्रीअयोध्याप्रसादसिंहजी 'हरिऔध,' श्रीरामदासजी गौड़ एम० ए०, श्रीयादवशंकरजी जामदार पेंशनर सबजज, श्रीवियोगी हरिजी, श्रीशीतलासहायजी बी० ए०, एल-एल० बी०, श्रीजयरामदासजी दीन 'रामायणी', श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, श्रीलक्ष्मीधरजी वाजपेयी, प्रो० श्रीलौटूसिंहजी गौतम एम० ए० एल० टी० एम० आर० ए० एस० काव्यतीर्थ, पं०श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी, महात्मा श्रीबालकरामजी विनायक, श्रीबिन्दुब्रह्मचारीजी, श्रीशेषमणिजी त्रिपाठी बी० ए० एल० टी० 'साहित्यरत्न,' पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी 'साहित्यरत्न,' श्रीशिवरत्नजी शुक्ल, श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी एम० ए० एल-एल० बी० 'विशारद,' श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी, पं० श्रीसत्यव्रतजी ब्रह्मचारी, श्रीमहावीरप्रसादजी श्रीवास्तव (बजरंगबली), श्रीमती गान्धारीजी, श्रीबद्रीप्रसादजी आचार्य, श्रीमोहनलाल गुप्ता, श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारी, श्रीमथुराप्रसादसिंहजी 'विशारद', श्रीशिवप्रसादजी द्विवेदी, श्रीलक्ष्मीदेवजी, श्रीपलकधारीजी त्रिपाठी 'विशारद,' श्रीलक्ष्मीनारायणसिंहजी 'विशारद' बी० ए०, पं०श्रीछेदीलालजी झा 'विशारद', श्रीरोहणप्रसादसिंहजी 'विशारद', श्रीरामबलीजी मिश्र 'विशारद', श्रीयमुनासिंहजी रावत 'विशारद', श्रीलालसिंहजी 'विशारद', श्रीफूलचन्दजी अधिपाठक, श्रीजगन्नाथप्रसादजी पचौली पेंशनर पोस्ट इन्सपेक्टर, श्रीदुर्गाप्रसादजी गुप्त 'हिन्दी-प्रभाकर,' श्रीरामदुलारेजी त्रिपाठी, श्रीरामनारायण दत्तजी पाण्डेय शास्त्री, श्रीबिहारीप्रसादसिंहजी, श्रीशिवलालजी, श्रीमुनिलालजी, श्रीबच्चारायजी, श्रीशिवप्रसादजी पाण्डेय और अध्यापकगण सहजनवाँ।

ज्येष्ठ बदी ११ सं० १९९०
गोरखपुर

संयोजक
श्रीरामायण-प्रसार-समिति

सूचना—पूरा नामसहित परीक्षाफल अलग प्रकाशित हो रहा है। पुरस्कारके रुपये और प्रमाणपत्र तीन महीने बाद केन्द्रव्यवस्थापकोंके पास भेज दिये जायँगे।

श्रीमद्भगवद्गीता (मराठी अनुवाद सहित)

सचित्र पृष्ठ ५७०, मूल्य १।) मात्र, डाक-खर्च-सहित १।।।=)

इसपर सम्मतियाँ

बलवंत—ज्याला संस्कृतचें सामान्य व्याकरण अवगत आहे, अशा कोणत्याही भांडारकरांचीं दोन पुस्तकें जेमतेम शिकलेल्या विद्यार्थ्यांस तर याचा उपयोग होईलच; परंतु संस्कृत न जाणणाऱ्या वाचकासही गीतेचा अर्थ लावण्यास या ग्रंथाचा फार चांगला उपयोग होईल·········ग्रंथाच्या आकाराच्या व व्यवस्थित मुद्रणाच्या मानानें सव्वा रुपया ही किंमत फारच अल्प आहे.

किर्लोस्कर—मोठा टाईप व स्पष्ट छपाई यामुळें अगदीं नवख्या अभ्यासूला स्वतः च गीतेचा परिचय करून घेण्यास हें पुस्तक छान झालें आहे.····किमतीच्या मानानें पुस्तक फारच स्वस्त दिसतें.

नवाकाळ—···डेमी हें आकाराचें पुस्तक असूनहि किंमत सवा रुपया ही अगदीं माफक आहे. गीतेच्या अर्था कडे लक्ष मुख्न पारायण करणारांना ही प्रत संग्राह्य वाटल्याशिवाय रहाणार नाहीं.

गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याणके तीसरे-चौथे वर्षकी फाइलें

लेनेवाले सज्जन ध्यान दें। समाप्त हो जानेपर मिलना कठिन है।

तीसरे वर्षकी फाइल—(प्रसिद्ध श्रीभक्तांक-सहित) अनेक सुन्दर चित्र और उपादेय लेख एवं कविताओंका यह संग्रह आपकी पुस्तकोंमें स्थान पानेयोग्य है। सत्संग और पठन-पाठनकी अच्छी सामग्री है। धार्मिक विचारोंका सुन्दर संग्रह और स्थायी साहित्य है। भक्तोंकी कथाएँ विशेष मनोहर हैं। पूरी १२ अंकोंकी फाइलका मूल्य केवल ४≡) मात्र, डाकखर्च माफ। (भक्तांक अलग नहीं मिलता)

चौथे वर्षकी फाइल—(सुविख्यात श्रीगीतांक-सहित) लगभग २०० चित्र और १४०० पृष्ठ। मूल्य केवल ४≡), डाकव्यय माफ। (गीतांक अलग नहीं मिलता)

जब श्रीगीतांक निकला तब कल्याणकी ग्राहक-संख्या ७४०० से लगभग १३००० हो गयी थी। यह गीताके सम्बन्धमें अपने ढंगका अनोखा ग्रन्थ है। बहुत थोड़ा बचा है। पहले-दूसरे या पाँचवें-छठे वर्षकी तरह ये फाइलें भी समाप्त हो जानेपर मिलनी कठिन हैं। भेंट आदिमें देनेके लिये भी यह उत्तम सामग्री है।

पता—व्यवस्थापक "कल्याण"
गोरखपुर

सस्ते मूल्यमें सुन्दर चित्र

देवमन्दिर, सार्वजनिक स्थान और आपके घर सजानेके लिये।

साइज १८×२३ इञ्चका विश्वविमोहन श्रीकृष्णका सुन्दर चित्र, बढ़िया आर्टपेपरपर छपा हुआ। मूल्य घटाकर।) चार आना कर दिया है।

साइज १४×२० इञ्चके चित्र, सभी बढ़िया, मोटे आर्टपेपरपर छपे हुए थोड़े-थोड़े मार्जिनसहित मू० =)॥ प्रति चित्र।

१—श्रीराम-चतुष्टय
२—सिंहासनारूढ राम
३—श्रीनन्दनन्दन
४—वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
५—मोहन
६—ध्रुव-नारायण
७—श्रीचैतन्यका हरि-नाम-संकीर्तन-दल
(पैकिंग, डाक-खर्च अलग)

इन ८ चित्रोंमेंसे कोई भी ६ चित्र लेनेसे कमीशन चार आना रुपया, १२ चित्र लेनेसे आठ आना रुपया। यही कमीशन १००-२०० या ५००-१००० लेनेवालोंके लिये भी है। एक दर्जन चित्रोंमें इतना अधिक कमीशन केवल इनके अधिक प्रचारके उद्देश्यसे रक्खा गया है। हमारा अनुमान है कि ऐसे सुन्दर चित्र इतने सस्ते दामोंमें आपको और कहींके भी नहीं मिलेंगे। एक दर्जन चित्र अवश्य मँगवा देखें। छोटे-बड़े अन्य चित्रोंका सूचीपत्र अलग मिलता है।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

Registered No. A. 172

तत्त्व-चिन्तामणि भाग २

(सचित्र)

पृष्ठ ६३२, मोटा एण्टिक कागज, सुन्दर छपाई-सफाई, मूल्य प्रचारार्थ केवल ।।।=) और सजिल्द १=) मात्र।

इसके पहले भागके ८००० के दो संस्करण हो गये । यह भाग उससे बहुत बड़ा और सस्ता है । ऐसी उपयोगी सुन्दर और ज्ञानप्रद पुस्तकें इतनी सस्ती क्वचित् ही मिलती हैं ।

इसमें ४८ निबन्धोंका संग्रह है, जो समय-समयपर 'कल्याण' में प्रकाशित हुए हैं । 'कल्याण' के सम्पादक इस पुस्तकके निवेदनमें लिखते हैं—'तत्त्व-ज्ञानके बहुत ऊँचे सिद्धान्तोंका सरल भाषामें बोध करा देनेवाले लेख तो इसमें हैं ही, साथ ही कुछ ऐसे लेख हैं जिनमें भ्रातृ-धर्म और पातिव्रत्य-धर्मपर भी विस्तारसे प्रकाश डाला गया है । इससे यह पुस्तक तत्त्व-विचारपूर्ण होनेके साथ-साथ सरल, व्यावहारिक शिक्षा देनेवाली और सस्ती होनेके कारण सबके कामकी वस्तु हो गयी है । मेरी प्रार्थना है कि इस ग्रन्थको पाठक-पाठिकागण मननपूर्वक पढ़ें और इससे पूरा लाभ उठावें ।'

यह पुस्तक अभी छपी है । इससे और विद्वानोंकी सम्मतियाँ अभी प्राप्त नहीं की जा सकी हैं, परन्तु पहले भागपर आयी हुई सम्मतियोंसे इस भागकी उपयोगिताको भी जान लेना सहज है । जिनको परमार्थ-तत्त्वकी चाह है, जिनको संसारमें सुख-शान्तिकी आवश्यकता है, उनके लिये यह पुस्तक मार्गदर्शक है । जो भगवत्-पथके पथिक हैं, जो भजनके आनन्दको जानते हैं, उनके लिये यह परम मित्र है । इसमें सिद्ध महात्माओंके सच्चे स्वरूपका वर्णन है, प्रेम और प्रेमी भक्तोंके गुणगान हैं । ईश्वर और ईश्वरके अवतारोंकी महिमा, मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम और आनन्द-कन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी कुछ लीलाओंका वर्णन है । कई प्रश्नोंके उत्तर, कई शंकाओंका समाधान एवं तत्त्वका विचार है। श्रीगीताजीके अनेक विषयोंपर सुलेख हैं, जिनको पढ़नेसे गीताजीका भाव समझनेमें बड़ी सहायता मिलती है । भगवत्-प्राप्ति और मुक्तिके विविध उपाय बताये गये हैं । इस प्रकार सभी लेखोंमें अत्यन्त उपयोगी और पठनीय-मननीय सार बातोंका वर्णन है । अधिक क्या लिखा जाय ?

लेखक, सम्पादक और प्रकाशक सबका यही निवेदन है कि आप कृपापूर्वक इस पुस्तकको मन लगाकर पढ़ें।

यह पुस्तक बालक-वृद्ध, युवा-प्रौढ़ और माता-बहिन सबके पढ़ने योग्य है । प्रत्येक पुस्तकालयकी शोभा है।

इसको लेनेवालेको गीता-निबन्धावली और श्रीमद्भगवद्गीताके कुछ जानने योग्य विषयनामक पुस्तकें लेनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अनेक लेख इसमें आ गये हैं।

भगवान् शिवजीद्वारा [illegible]ित

श्रीअध्यात्मरा[illegible]यण

(सातों काण्ड—मूल और हिन्दी-अनुवाद-सहित)

प्रत्येक काण्डमें असली आर्ट पेपरपर छपा एक-एक अति सुन्दर चुना हुआ चित्र । कुल चित्र ८, साइज २२×२९ आठ पेजी, कागज चिकना, पृष्ठ-संख्या [illegible]४०२, मूल्य साधारण जिल्द १।।।) कपड़ेकी जिल्द २) मात्र ।

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली खण्ड २

(सचित्र)

पृष्ठ-संख्या लगभग ४५०, एण्टिक कागज, बहुरंगे-दुरंगे-इकरंगे ९ चित्र, मूल्य १=) सजिल्द १।=) मात्र ।

दिनचर्या

लेखक—श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल, पृष्ठ २३०, सचित्र, एण्टिक कागज, मूल्य केवल ।।) मात्र ।

ज्ञानयोग

प० श्रीभवानीशंकरजी महाराजके उपदेशके आधारपर एक दीनजनद्वारा सम्पादित । पृ० १२५, मूल्य ।) एक मानचित्र।

रामगीता

मूल और हिन्दी-अनुवाद-सहित, छोटा साइज, मूल्य केवल)।।। मात्र । यह प्रसिद्ध पुस्तक है । छपाई अच्छी है।

पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर**